

# शाहीरत श्री पुष्यवती आभिनन्दन ग्रन्थ





साधवीरत्न  
पुष्पवती जी

अभिनन्दन  
ग्रन्थ

दिशा निर्देशन :

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि 'शास्त्री'

सम्पादक :

दिनेश मुनि

आशीर्वाचन

राष्ट्रसत्त आचार्य समाप्त श्री आनन्द ऋषिजी म.  
उपाध्याय पण्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म.

निदेशक

उपाचार्य श्री देवेंद्र मुनिजी महाराज  
पं० दलसुख भाई मालवणिया

प्रधान सम्पादक

दिनेश मुनि

सम्पादक मंडल :

श्री राजेन्द्र मुनि एम. ए.  
महासती श्री चन्द्रावती जी म.  
महासती श्री प्रियदर्शनाजी म०  
महासती श्री किरणप्रभाजी म०

महासती श्री रत्नज्योति जी म.  
डा० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया (अलीगढ़)  
डा० नरेन्द्र भानावत (जयपुर)  
डा० ए० डी० बत्तरा (पूना)

सुश्री मधुकान्ता एम० दोशी (बम्बई)

प्रबन्ध सम्पादक

श्रीचन्द्र सुराणा "सरस"

मूल्य—१२५—एक से पच्चीस रुपया मात्र

प्रेस निष्काण मबर ०५१४, अखण्ड मबर ००४८ ई. सं. १९६०

व्याजक

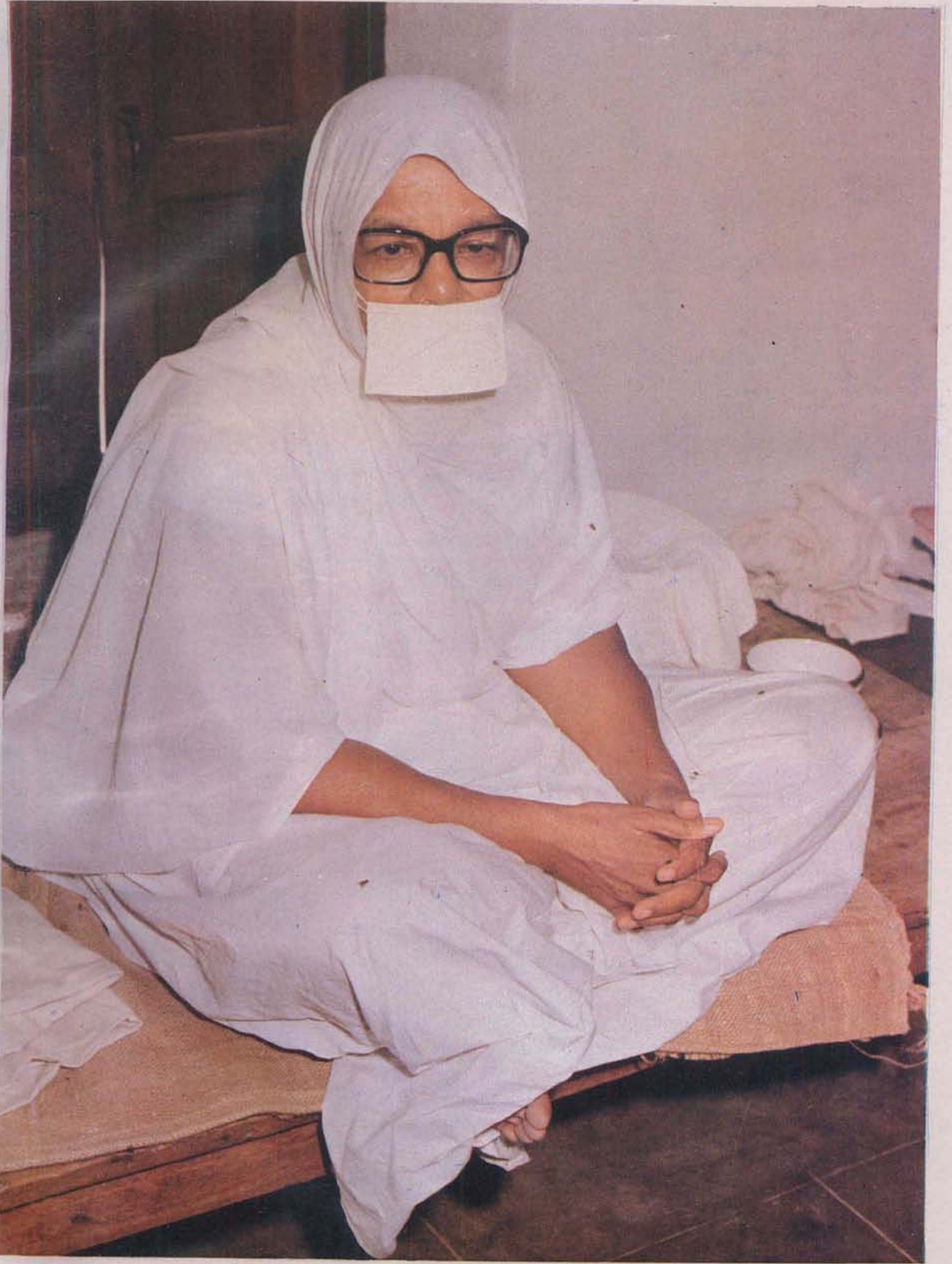
श्री वाचक मठ जैन ग्रन्थालय जामखो सर्वेस्व,  
जयपुर ३२०००१

मदर

श्रीचन्द्र सुराणा निदेशक म

जयपुर जयपुर ३२०००१ अखण्ड मबर ००४८





परमविदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी महाराज



# समर्पण-नुमन

जिनका जीवन, सूर्य की तरह तेजस्वी है, और चन्द्र की तरह सौम्य है ।

जिनका जीवन अगरवत्ती की तरह सुगन्धित और मोमवत्ती की तरह प्रकाशित है ।

जिनका जीवन अंगूर की तरह रसमय और बादाम की तरह स्निग्ध है ।

जिनका जीवन मिश्री-सा मधुर और फूल-सा कोमल है ।

जिनका जीवन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य त्रिवेणी का संगम है ।

जिनके जीवन में तप की तेजस्विता एवं अध्यात्म-साधना का दिव्य आलोक जगमगा रहा है ।

उन्ही परम श्रद्धेया सद्गुरुणी जी श्री पुष्पवतीजी महाराज

के पवित्र कर कमलों में

सादर सविनय, समर्पित

—दिनेश मुनि

( ३ )





# आशीर्चन

जीवन, पुष्प की तरह होना चाहिए,  
पुष्प, साधारण एवं सामान्य उपादानों से भी  
मन मोहक सौन्दर्य-सुषमा,  
अद्भुत परिमल-पराग प्राप्त कर  
संसार को प्रसन्नता और प्रफुल्लता प्रदान करता रहता है ।

महासती श्री पुष्पवतीजी अपने जीवन-पुष्प को  
ज्ञानादि सद्गुणों की सौरभ तथा  
संयम-शील के विरल सौन्दर्य से मंडित कर  
जिनशासन के श्रमण संघीय उपवन में  
सुरभि और सुषमा का विस्तार कर रही हैं,

उनके दर्शन-प्रवचन-श्रवण आदि से  
भव्यजनों का मन प्रफुल्लित हो रहा है ।

उनके जीवन-सुमन की सुरभि का विस्तार कर  
सबको प्रीणित करने वाला यह अभिनन्दन ग्रन्थ  
त्याग-शील-संयम-श्रुत की गौरव-गाथा बने  
यही हार्दिक शुभ भावना है ।

--आचार्य आनन्द ऋषि

( ४ )

-

शुभकामनाएँ :

सन्देश

I am glad to learn that a commendatory volume is being brought out to commemorate the religious services rendered by Sadhvi Shree Pushpavati on the occasion of her attainment of 50th year of her ascetic life.

GOVERNOR GUJRAT

The spiritual life of religious persons like Sadhvi Shree Pushpavati based on the principles of non-violence and self denial helps those who come near them to break the shackle of materialism and to lead a purer and peaceful life.



I convey my greetings to Sadhvi Shree Pushpavati on this occasion and wish her a long spiritual life.

—R. K. Trivedi

Raj Bhavan Gandhi Nagar-382020

प्रिय महोदय,

अ० भा० कांग्रेस (इ)  
उपाध्यक्ष

यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि परम विदुषी साधवीरत्न श्री पुष्पवती जी की ५०वीं दीक्षा तिथि पर अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। ईश्वर से प्रार्थना है कि उनके जीवन में यह दिन बारम्बार आए तथा वह उत्तरोत्तर इसी तरह देश की सेवा कर यश की भागीदार बनें।

अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन हेतु हार्दिक शुभकामनाएँ।

नई दिल्ली  
७-१०-८६

आपका  
—अर्जुनसिंह

शुभकामनाएँ : सन्देश

५



संसद सदस्य  
(राज्य सभा)

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। मैं साध्वी जी के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनके जीवन और व्यवहार से प्रेरणा लेकर अपरिग्रह के आधार पर समाज के परिवर्तन के कार्य को नई गति प्राप्त होगी।

शुभकामनाओं के साथ,

नई दिल्ली  
३१ अक्टूबर १९८६

भवदीय,  
— अटलबिहारी वाजपेयी

मुझे यह जानकर हादिक प्रसन्नता हुई कि साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी जैन समाज की विदुषी साध्वी ५०वें दीक्षा वर्ष में प्रवेश कर रही हैं। इन्होंने भारत का पैल भ्रमण कर देशवासियों को अहिंसा, सत्य एवं संयम का संदेश दिया है।

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन से देश के हर क्षेत्र व धर्म के लोगों को नैतिक चरित्रवान जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त होगा। इस प्रकाशन की सफलता की शुभकामनाएँ।

— श्रीरामलाल देवपुरा

जयपुर  
२५ अक्टूबर, १९८६

जिज्ञासा नन्वी

राजस्थान



संसद सदस्य  
(लोकसभा)

साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी की ५०वें दीक्षा वर्ष में प्रवेश पर अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। साध्वीजी का त्याग तथा समाज व देश को उनके द्वारा दिया गया सन्देश अहिंसा तथा अन्य स्थापित सिद्धान्तों के बारे में सर्वविदित है। साध्वीजी के तेजस्वी व्यक्तित्व की जानकारी आम आदमी को मिलनी ही चाहिए। ग्रन्थ द्वारा यह कार्य होगा तथा आप सब इस कार्य में सफल होंगे। ऐसी मेरी कामना है।

भवदीय  
--शान्ति धारीवाल

राजस्थान हाउस  
नई दिल्ली

मुझे बहुत प्रसन्नता है, आप साध्वीरत्न पुष्पवतीजी के ५०वें दीक्षा-दिवस पर एक विराट अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। जैन धर्म की भारतवासियों के दिलों में एक अमिट छाप है। अहिंसा का पालन करना, अपने को कष्ट देकर दूसरों को व समाज को सही रास्ता दिखाना, तपस्या का जीवन में महत्त्व, इन सब बातों के लिए जैन मुनि सारे विश्व में प्रसिद्ध हैं।

मैं इन महान पुरुषों के आगे अपना सिर झुकाता हूँ और आपके ग्रन्थ के लिए शुभकामनाएँ।

---जयप्रकाश अग्रवाल

६-१०-८६

संसद सदस्य  
(लोकसभा)

चांदनी चौक दिल्ली

I am glad to learn that you propose to bring out an Abhinandan Grantha on the occasion of the 50th Birthday anniversary of the noted Sadhwiratna Shri Pushpawati ji.

Sadhviratna shri Pushpawatiiji has accomplished a noble mission in her life by travelling on foot from one corner to the other corner of the country and preaching the ideals of Ahimsa, Aparigraha and universal love.

I send my hearty felicitations and best wishes for her long life.

I also send my good wishes for the success of your venture.

Yours sincerely,

New Delhi  
oct 4 1986

—J. K. Jain



Member of Parliament (Rajya Sabha)  
**SECRETARY**  
Congress (I) Party  
in Parliament



विद्युत राज्यमन्त्री  
के  
विशेष निजी  
सचिव

आपका विद्युत राज्य मन्त्री जी के नाम लिखित पत्र साधवीरत्न श्री पुष्पवती जी जैन समाज की परम विदुषी साध्वी पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने सम्बन्धित प्राप्त हुआ ।

मन्त्री जी की ओर से ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए शुभकामना प्रेषित है ।

८ अक्टूबर १९८६

—डी. डी. अरोड़ा

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर एक सार्वजनिक अभिनन्दन समारोह में उनका अभिनन्दन किया जा रहा है।

अध्यक्ष

राजस्थान

विधानसभा

मैं अभिनन्दन समारोह एवं अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूँ।

—गिरिराज प्रसाद तिवारी

जयपुर  
६ अक्टूबर १९८६

मुझे यह जानकर खुशी हुई है कि परम विदुषी साध्वी श्री पुष्पवती जी की ५०वीं दीक्षा तिथि के पावन अवसर पर उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व को उजागर करने वाला एक विराटकाय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण

राज्य मन्त्री भारत



मेरी शुभकामना है कि आपका यह आयोजन सफल हो।

नयी दिल्ली

सरोज खापड़ें

२० अक्टूबर, १९८६

शुभकामनाएं : सन्देश

६

## प्रकाशक के बोल

श्रमणी-परम्परा के इतिहास में साध्वीरत्न महासतीजी श्री पुष्पवतीजी का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। क्योंकि उनके जीवन के कण-कण में श्रमण भगवान् महावीर के दिव्य और भव्य सिद्धान्त मुखरित हैं। वे श्रमणियों की शृंगार हैं। मानवता के दिव्यहार हैं। ज्ञान और सेवा की दिव्य-ज्योति से उनका जीवन आलोकित है। वस्तुतः इस प्रकार की श्रमणियाँ आलोक-स्तम्भ की तरह आती हैं जो भूले-भटके जीवनराहियों को मार्ग-प्रदर्शन करती हैं।

महासतीजी श्री पुष्पवतीजी का जीवन एक समर्पण का जीवन है। वे जन-जन में सुख, शान्ति स्नेह और सद्भावना का अमृत वांटती रहती हैं। उन्हें आदान में नहीं, प्रदान में आनन्द आता है। ग्रहण में नहीं, समर्पण में उनका विश्वास है। तथापि श्रद्धा और भक्ति-भावना से उत्प्रेरित होकर हम उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने जा रहे हैं। वे अभिनन्दन ग्रन्थ स्वीकार करेंगी या नहीं, यह प्रश्न हमारे अन्तर्मानस में समुत्पन्न हो रहा है।

सतवर्ष अर्द्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० का वर्षावास 'पाली' में था। मैं श्री देवेन्द्र मुनिजी के पास बैठा हुआ था, अन्य साहित्य प्रकाशन के सम्बन्ध में विचार-चर्चाएँ चल रही थीं, उसी विचार-चर्चा में 'साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ' के सम्बन्ध में भी चर्चा चली, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने मुझे यह दायित्व प्रदान किया, मैं गहराईसे विचार-मन्यन करता रहा और मुझे यह अनुभूति हुई कि 'अभिनन्दन ग्रन्थ' किसी विशिष्ट व्यक्ति के माध्यम से निकाले जाते हैं, जिस व्यक्ति के माध्यम से निकाले जाते हैं, उनका तो अभिनन्दन होता ही है, साथ ही ऐसी विशिष्ट सामग्री उस माध्यम से संकलित हो जाती है, जो जनता जनार्दन के लिए अतीव उपयोगी होती है। अभिनन्दन ग्रन्थ एक प्रकार से धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के ऐसे अक्षयकोष होते हैं, जिनकी तुलना करना कठिन है, उसमें मूर्धन्य मनीषियों के विचारों का नवनीत होता है।

अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से मूर्धन्य मनीषी ऐसे उत्तम साहित्य की सर्जना करते हैं, जो ज्ञान-पिपासुओं के लिए वरदान रूप होता है। ग्रन्थ का समर्पण श्रमणीरत्न के लिये नहीं, अपितु उन आत्माओं के लिए है, जो ज्ञान और विचार की प्यासी हैं। महासती पुष्पवतीजी जन-जन की श्रद्धा केन्द्र हैं। इसलिए उनके माध्यम से हम प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा वह उत्कृष्ट और मौलिक सामग्री जन-जन तक पहुँचाने के लिए तत्पर हुए।

प्रकाशक के बोल

महासती पुष्पवतीजी का जन्म उदयपुर में हुआ। उन्होंने दीक्षा भी उदयपुर में ग्रहण की और शिक्षा भी। इसलिए उदयपुर निवासियों का यह दायित्व है कि वे 'दीक्षा स्वर्ण जयन्ती' के मुनहरे अवसर पर एक ऐसी अद्भुत भेंट उनके कर-कमलों में समर्पित करें, जो चिन्तन से लबालब भरी हुई हो।

हमें यह लिखते हुए अपार आह्लाद है कि महासती पुष्पवतीजी ने सर्वप्रथम दीक्षा की पहल की और उसके पश्चात् उनके लघु भ्राता श्री देवेन्द्र मुनिजी ने भी दीक्षा ग्रहण कर श्रमण संघ की गरिमा में अभिवृद्धि की। और आज वे श्रमण संघ के उपाचार्य पद पर आसीन हैं। उसके पश्चात् मातेश्वरी प्रभावतीजी ने भी संयम-साधना स्वीकार कर संघ की गरिमा में चार चाँद लगाये। उसके बाद अन्य ११ पारिवारिकजनों ने भी साधना के पथ पर कदम बढ़ाकर संयमी जीवन की महत्ता प्रदर्शित की।

महासतीजी के अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से हमने सर्वप्रथम यह पहल की है कि श्रमणसंघ में जो गरिमा सन्त की है, वही गरिमा एक श्रमणी की भी है। श्रमणियाँ जिनशासन की ऐसी जगमगती ज्योतियाँ रही हैं, जिन पर हमें नाज है। वे जिनशासन रूपी भव्य-भवन की नींव की ईंटें हैं। जो भूमि में रहकर भव्य-भवन को चिरस्थायी बनाये हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन का उत्तरदायित्व श्री उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी ने वहन किया, उन्होंने अपने कलम के जादुई-स्पर्श से प्रत्येक निबन्ध को संजाने और सँवारने का प्रयास किया है। उन्हीं की प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर मूर्धन्य मनीषियों ने मौलिक और उत्कृष्ट लेख प्रकाशनार्थ प्रदान किए। लेखों की संख्या अत्यधिक हो जाने से और ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या सीमित होने से हमें अनेक महत्वपूर्ण लेख भी छोड़ने पड़े हैं। मैं उन सभी लेखकों का आभारी हूँ, जिन्होंने हमें इतनी उत्कृष्ट सामग्री इतने स्वल्प समय में प्रदान की। जिन लेखकों के लेख हम न दे सके हैं, उनसे हम हार्दिक क्षमाप्रार्थी हैं।

हम आशीर्वाददाता, शुभेच्छुक, सम्पादक-मण्डल, निदेशक आदि सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थरत्न को सर्वाधिक सुन्दर बनाने का उपक्रम किया है। मुद्रणकला की दृष्टि से ग्रन्थ को चित्ताकर्षक बनाने का सम्पूर्ण श्रेय स्नेह सौजन्यसृष्टि श्रीचन्द सुराना जी को है, जिन्होंने स्वल्पावधि में ग्रन्थ को तैयार कर हमारे भार को हल्का किया। मैं किन शब्दों में उनका आभार सानूँ, क्योंकि वे हमारे ही हैं।

भक्तिभावना से विभोर होकर जिन उदारमना महानुभावों ने आर्थिक सहयोग प्रदान कर अपनी अनन्त श्रद्धा का परिचय दिया है, उन सभी के प्रति हम आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

मुझे पूर्ण आत्म-विश्वास है कि अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में हमारी भक्ति का यह जीवन्त श्रद्धा-भुजन है, जो आने वाली पीढ़ी के लिए मार्गदर्शक होगा।

उपाचार्य श्री के मार्गदर्शन में श्री दिनेश मुनिजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन आदि कार्य के लिए जो कठिन श्रम किया है, वह भी भुलाया नहीं जा सकता।

--सम्पतीलाल बोहरा

अध्यक्ष

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०)

## आदिवचन

चीन के महान दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने नारी को संसार का सार कहा है तो भारत के मूर्धन्य महामनीषियों ने नारी की महिमा और गरिमा का उत्कीर्तन करते हुए लिखा है कि जहाँ पर नारी की पूजा-अर्चा होती है, वहाँ पर देवताओं का निवास है। भारतीय साहित्य में नारी नारायणी के रूप में सदा प्रतिष्ठित रही है। ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, ह्यो, श्री, धृति, कीर्ति-शक्ति, सरस्वती, बुद्धि प्रभृति जितने भी शब्द हैं वे व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग हैं। कोई भी शब्द पुलिग नहीं है। जब नारी शक्ति को जीवन में प्रबल प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तब विश्व की जितनी भी दिव्य और भव्य विभूतियाँ थीं, उसका मूल आधार नारी में माना गया। परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए बल, बुद्धि और धन इन तीन महान शक्तियों की आवश्यकता है। अन्याय, अत्याचार-अनाचार-भ्रष्टाचार और दुराचार से जूझने के लिए बल की आवश्यकता है। उसके लिए भारतीय चिन्तकों ने देव की नहीं, अपितु काली, महाकाली, दुर्गा आदि देवी की कल्पना की है। जब गुरु गम्भीर बौद्धिक प्रश्नों के समाधान का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसके लिए भी देवी की ही कल्पना की गई। सरस्वती देवी बौद्धिक शक्ति का प्रबल प्रतिनिधित्व करती है और जब दरिद्रता के दैत्य को नष्ट करने का प्रश्न समुपस्थित हुआ तब लक्ष्मी के रूप में नारी को ही प्रतिष्ठा संप्राप्त हुई।

इस धरती पर सबसे अधिक ज्येष्ठ-श्रेष्ठ और पूज्या माता मानी गई है। वह वन्दनीया और अर्चनीया है। मानव जाति पर उसके अगणित उपकार हैं; मानव जाति में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण प्राणी जगत में मातृ जाति की विशिष्ट गरिमा है। समस्त जीव सृष्टि माता के उपकारों का ही जीवन्त निदर्शन है। सन्तान को जन्म देकर उसका पालन-पोषण-संरक्षण-संवर्द्धन और संस्कार देकर बाह्य एवं अन्तर व्यक्तित्व के निर्माण में माता का अद्वितीय स्थान है। उसे प्राणियों का प्राण माना गया है। और उसे सृष्टि की सर्वाधिक गरिमा मण्डित शक्ति के रूप में अंकित किया गया है। उसके असीम उपकारों का बदला कभी भी चुकाया नहीं जा सकता। तीर्थंकर जैसे अध्यात्मयोगी को और चक्रवर्ती जैसी संसार विभूति को जन्म देने वाली नारी ही है। तीर्थंकर देव का जन्ममहोत्सव मनाने हेतु जब दिव्य देव शक्तियाँ धरती पर आती हैं तो सर्वप्रथम 'नमो रयणकुक्खधारिणी' सम्बोधन से माता की वन्दना करती हैं। मातृ शक्ति ममता, उदारता, करुणा वत्सलता, कोमलता की अधिष्ठात्री है। धर्म और अर्थ की दात्री है। वैभव और सौभाग्य की वरदायिनी है।

मानव सभ्यता के विकास और उत्थान में कला संस्कृति के शिक्षण और प्रशिक्षण में जहाँ नारी अग्रपदा रही हैं वहीं साधना, सेवा और आध्यात्मिक विभूति की उपलब्धियों में भी नारी ही प्रथम है।

प्रत्येक युग में उन्मुक्त भाव से वह संसार को प्रमामृत प्रदान करती रही है। माया की छाया में रहकर भी वह उसे त्यागने में गौरव का अनुभव करती रही है। उसमें अधिकार लिप्ता नहीं पर समर्पण की भावना प्रमुख रही। वह अपनी उदारता, उदात्तता और मधुरता से मानव मन में दिव्य तेज और ओज का संचार करती रही है। चाहे कान्ति हो, चाहे शान्ति हो, वह भ्रान्ति के चक्कर में न उलझकर दोनों ही क्षणों में शानदार दायित्व निवाहती रही है। जब हम अतीत के इतिहास को उठाकर देखते हैं तो प्रत्येक युग में कुछ ऐसा विशिष्ट नारियाँ हुई हैं जिन्होंने अपने ओजस्वी-तेजस्वी और वर्चस्वी व्यक्तित्व से युग को नया मोड़ दिया, नई दिशा दी। नया चिन्तन दिया, नया दर्शन दिया। वैदिक युग में अदिति, भारती, रम्भा और श्रद्धा का नाम गौरव के साथ ले सकते हैं। उपनिषद् काल में मैत्रयी और मार्गी के नाम उल्लेखनीय हैं। रामायण युग की सीता, महाभारत युग की द्रौपदी, पुराण युग की सावित्री ने भारतीय संस्कृति की गरिमा में अभिवृद्धि की है। बौद्ध साहित्य में मुजाता, सुभा, यशोधरा, गौतमी आदि के नाम गौरव के साथ अंकित हैं। जैन साहित्य में मां मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी, भगवती मल्लो, शिवा, सीता, अम्बना, चन्दनवाला, जयन्ती, रेवती आदि हजारों नाम मानव जाति के मुकुट में मणि की तरह चमक रहे हैं। राजपूत युग में राजस्थान की वीर नारियों की वीर गाथाओं की स्याही अभी तक सूखी नहीं है। आधुनिक युग में कस्तूरबा, सरोजिनी नायडू, कमला नेहरू, विजया लक्ष्मी और इन्दिरा गाँधी ने भारतीय नारी की अजेय शक्ति का परिचय प्रदान किया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने नारी को सभी क्षेत्रों में पूर्ण विकास करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की। उनकी प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर नारी ने पुरुषों की तरह ही सत्याग्रह और असहकारिता आन्दोलन में भाग लिया। एतदर्थ ही एक पाश्चात्य चिन्तक ने भारतीय नारी के सम्बन्ध में चिन्तन करने हुए बहुत ही सुन्दर लिखा है—नारी का इतिहास आँसू का भी है और फूलों का भी है। उसका अतीत चाहे कैसा भी रहा हो, परन्तु उसका वर्तमान सुन्दर है। तो भविष्य बहुत ही मधुर और आशावादी है।

भारतीय नारी का समूचा इतिहास नारी के ज्वलंत त्याग-प्रेम-निष्ठा-सेवा तप और आत्म-विश्वास के दिव्य आलोक से जगमगा रहा है। यह परखा हुआ सत्य है कि भारतीय नारी में जब तक शील, सदाचार, लज्जा, दया, सेवा आदि सद्गुण चमकते रहेंगे तब तक उसकी महिमा बढ़ेगी। उसकी आँखें जमीन पर और उसका मन परमात्म भाव में लीन रहेगा तब तक उसकी गरिमा को कोई चैलेन्ज नहीं दे सकता। पर खेद है कि भौतिकवाद की आँधी ने भारतीय नारी को विलासिता के चंगुल में फँसा दिया है जिससे वह मर्यादा को विस्मृत कर चन्द्र चाँदी के टुकड़ों के पीछे दीवानी बन रही है। एक दार्शनिक ने सत्य ही लिखा है—पुरुष नारीत्व को जब प्राप्त करता है तो भगवान बन जाता है और जब नारी पुरुषत्व को प्राप्त करती है तो पिशाचिनी बन जाती है। उस दार्शनिक ने नारी में रहे हुए सद्गुणों को प्रगट करने की प्रेरणा दी है। क्योंकि नारी का हृदय कोमल होता है। वह पर दुःख-कातर होती है। किन्तु पुरुष का हृदय कठोर/पुरुष होता है। जब कठोरता का विकास होगा तो नारी, नारी नहीं रहेगी, वह चण्डी के रूप में उग्र बन जायेगी।

जब हम भारतीय इतिहास को गहराई से निहारते हैं तो हमें यह सहज ही अनुभूति होती है कि वैदिक परम्परा में कुछ तेजस्वी नारियाँ अवश्य हुई हैं किन्तु वैदिक महर्षि नारी के प्रति अपेक्षित रहे। उन्होंने नारी को न वेदों के अध्ययन के लिए छूट दी और न स्वतन्त्र रूप से अध्यात्मिक समुत्कर्ष करने और न पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई योग साधना करने का ही विधान किया। तथागत बुद्ध भी अपने सघ में नारी को स्थान देने के लिए कतराते रहे। जब आनन्द ने अत्याग्रह किया तो नारी को बुद्ध



संघ में स्थान मिला। किन्तु जैन तीर्थंकर नारी के समुत्कर्ष हेतु सदा पक्षधर रहे हैं। उन्होंने अपने संघ में पुरुष के समान ही नारी को स्थान दिया और उसे मोक्ष की अधिकारिणी माना।

यह भी सत्य है कि प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं। हमें भारतीय साहित्य में नारी के दोनों ही पक्ष मिलते हैं। एक पक्ष शुभ है तो दूसरा पक्ष अशुभ है। शुभ पक्ष में नारी के गुणों का उत्कीर्णन है तो अशुभ पक्ष में नारी की निन्दा है। उसे वासना की प्रतिमा माना है। उसमें माया की प्रधानता होती है। पर जब हम शान्त मस्तिष्क से तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो निन्दा का मूल कारण वैराग्यवाद है। जिससे पुरुष उसके प्रति आकर्षित न हो, किन्तु जिन दुर्गुणों का चित्रण नारी के लिए है, वे ही दुर्गुण पुरुष में भी रहे हुए हैं। पुरुष भी उन दुर्गुणों से मुक्त नहीं है। किसी ने नारी को कोसा है तो किसी ने उसकी प्रशंसा के गीत गाये हैं। किसी ने उसे जीवन को बर्बाद करने वाली माना है तो किसी ने उसे नव-निर्माण की प्रेरिका कहा है। प्रशंसा और निन्दा कुछ तो लेखक के कटु या मधुर अनुभवों के आधार पर हुई है। पर अध्यात्म मनीषियों ने नारी और पुरुष के शरीर में भेद होने पर भी आत्मा में किसी भी प्रकार का भेद नहीं माना है।

पूर्व पंक्तियों में हम यह लिख चुके हैं कि साधना की दृष्टि से, आत्म-उपलब्धि की दृष्टि से नारी और पुरुष में भेद नहीं है। वहाँ तो सिर्फ चेतन सत्ता का महत्त्व है। जीवन के ऊर्ध्वमुखी आरोहण-यात्रा में नारी एक विशिष्ट उपकारी चेतना रही है। उसके अन्तर में कुछ ऐसे सहज गुण हैं जो पुरुष के लिए प्रेरणा और जागरण का सन्देश स्फुरित करते हैं।

नारी के असीम और अगणित उपकार पुरुष जाति पर हैं। तथापि आश्चर्य है कि पुरुष जाति ने नारी को उपेक्षित कर द्वितीय स्थान पर बिठा दिया है। इसके ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक दोनों ही कारण रहे हैं। पर यह निश्चित है कि जब नारी जगेगी तभी पुरुष जगेगा। नारी वह चन्द्रक्रान्त मणि है जिसकी शीतल रश्मियों के आलोक में पुरुष न केवल अपना पथ खोजता रहा है, अपितु अपनी दिव्य शक्तियों को जागृत कर जन से जिन पद तक पहुँचता रहा है।

यह महिमा नारी शरीर की नहीं, नारी शक्ति की है, आत्मा की है। हम नारी को एक प्रबुद्ध आत्मा के रूप में देखते हैं। उद्बोधिनी शक्ति के रूप में जानते हैं। ब्राह्मी-सुन्दरी ने बाहुवली को जगाया। राजीमति ने रथनेमी को प्रबोध दिया। कमलावती ने ईषुकार को सम्बोधि दी। चेलना ने श्रेणिक को सम्यक् पथ दिखलाया। भृगावती ने चण्डप्रद्योत को महावीर के चरण शरण में पहुँचाया। याकिनी महत्तरा ने हरिभद्र को सही मार्ग बताया। रत्नावली ने तुलसी को सन्त तुलसी बनाया। इस प्रकार नारी ने हजारों-लाखों प्राणियों को आत्म-स्वरूप का दर्शन कराकर अपूर्व शक्ति प्रदान की।

जैन तीर्थंकरों का यह वचन आघोष रहा है कि आध्यात्मिक समुत्कर्ष जितना पुरुष कर सकता है उतना नारी भी कर सकती है। चतुर्विध संघ में दो संघ नारी से सम्बन्धित हैं। यदि यह कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पुरुषों की अपेक्षा भी नारी के कदम आगे रहे हैं। तप-त्याग सेवा और साधना की वह जीवन्त प्रतिमा है, उसने तप और साधना के क्षेत्र में जो कीर्तिमान स्थापित किया है वह बहुत ही अद्भुत है, अनूठा है। उसी दिव्य परम्परा की पवित्र लड़ी की कड़ी में साध्वीरत्न पुष्पवती जी का नाम सहज रूप से लिया जा सकता है।

साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी एक विदुषी श्रमणी हैं, एक साधिका हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रत्नत्रय की आराधिका हैं। उनका जीवन तप एवं जप योग की उपासना से आभसित है। आपके जीवन में

हजारों-हजार विशेषताएँ हैं। उन असीम विशेषताओं को ससीम शब्दों में अभिव्यक्त करना बहुत ही कठिन है। आपका चिन्तन गहरा है, आपकी वाणी में मधुरता और ओज है। आपके प्रवचनों में सुप्त सात्विक संस्कारों को उद्बुद्ध कर जन-जीवन में सत्य, शील, सेवा सदाचार की पावन प्रेरणा है। आपके जीवन में भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग का अद्भुत समन्वय है।

आपके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है समर्पण। जन-जीवन में सुख-शान्ति का सरसब्ज बाग लहलहाए, स्नेह सद्भावना के सरस सुमन ग्विले इसके लिए आप प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रयास करती रहती हैं। आपका विश्वास आदान में नहीं प्रदान में है, ग्रहण में नहीं समर्पण में है। तथापि जन-जन की श्रद्धा और भक्ति का पुनोत् प्रतीक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का उपक्रम श्रद्धालुओं के लिए आत्मतोष एवं आह्लाद का विषय है।

यों तो अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण एक सम्माननीय परम्परा बन गई है। इसमें अभिनन्दनीय व्यक्ति एक प्रतीक के रूप में रहता है। उस प्रतीक के परिपार्श्व में हम समस्त सम सामयिक कला, साहित्य, संस्कृति समाज एवं अन्य विधाओं को उपस्थापित करते हैं। इस प्रकार जो एक ग्रन्थ निर्मित होता है वह अभिनन्दनीय की परम्परा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम होता है। इस प्रकार के ग्रन्थों में अभिनन्दनीय व्यक्तित्व की गुण गौरव गाथा का गान तो कम होता है किन्तु एक उच्चस्तरीय मौलिक चिन्तन धारा का सुन्दर सरस प्रवाह हमारे समक्ष आता है। साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी का अभिनन्दन ग्रन्थ भी इसी परम्परा का प्रतीक है।

साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी के प्रति अनन्य भक्ति, श्रद्धा और सद्भावना रखने वाले अनेक श्रमण-श्रमणियाँ तथा सद्गृहस्थों की उत्कट भावना थी कि आपश्री के अभिनन्दन को माध्यम बनाकर इस प्रकार का ग्रन्थ समर्पण होना चाहिए। जिसमें हजारों श्रद्धालुओं को श्रद्धाभिव्यंजना का दुर्लभ अवसर प्राप्त होगा। और साथ ही उसके माध्यम से एक स्थाई साहित्यिक सम्पदा का निर्माण भी होगा। उनकी यह मनोभिलाषा भूतिमन्त हो रही है, प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा।

अभिनन्दन ग्रन्थ के आयोजन की प्रस्तुत प्रक्रिया में मेरा स्वयं का भी दुहरा मानसिक सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। पहली बात साध्वी पुष्पवतीजी मेरी ज्येष्ठ भगिनी हैं। गृहस्थाश्रम में उनका अपार स्नेह और सद्भावनाएँ मुझे मिली। मेरे से पहले उन्होंने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। मेरे साहित्यिक व्यक्तित्व-निर्माण में भी उनका प्रत्यक्ष और वरोक्ष असीम योगदान रहा है। उपकारी के प्रति कृतज्ञ भावना व्यक्त करना मेरा सहज स्वभाव है। दूसरी बात मन्तों के अनेक अभिनन्दन ग्रन्थ निकले हैं और निकल रहे हैं। पर साध्वियों का अभिनन्दन ग्रन्थ इसके पूर्व नहीं निकला है। जब मैंने अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने का निर्णय लिया और उसकी रूपरेखा मूर्धन्य मनीषियों के पास और अन्य व्यक्तियों के पास पहुँची तो उसकी दुहरी प्रतिक्रिया हुई। कुछ व्यक्तियों को साध्वी का अभिनन्दन ग्रन्थ निकालना पसन्द नहीं आया, और उन्होंने मुझे अपनी प्रतिक्रिया भी सूचित की तो दूसरी ओर जैन समाज के प्रज्ञा पुरुष विद्वदरत्न श्री दत्तसुख भाई जी मालवणिया विद्यावारिधि डॉ० महेंद्र सागरजी प्रचंडिया आदि अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने मेरे साहस की मुक्त कंठ से प्रशंसा की और लिखा कि "आपने प्रथम पहल कर अपने साहस का परिचय दिया है। श्रमणी वर्ग का भी उतना ही महत्त्व और आदर है। समाज में उसकी गरिमा बढ़े यह आवश्यक है। आपने यह आयोजन कर श्रमणी वर्ग का जो ऐतिहासिक महत्त्व जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है, एतदर्थ हार्दिक बधाई!" मेरे नम्र निवेदन पर मूर्धन्य मनीषियों ने अपना अनमोल सहयोग प्रदान

कर अपने स्नेह और सद्भावना का परिचय दिया। मुझे इसकी हार्दिक प्रसन्नता है कि मैं एक असीम आत्मवृष्टि का अनुभव कर रहा हूँ।

इस प्रसंग पर परम श्रद्धास्पद आचार्य सम्राट राष्ट्रसंत श्री आनन्द ऋषिजी म० मेरे परम उपकारी सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० के असीम कृपा अनुग्रह का स्मरण करता हूँ। जिनके आशीर्वाद और मार्गदर्शन से ही मैं अपनी जीवन यात्रा को गतिमान बना रहा हूँ। साथ ही पूज्यनीया स्वर्गीया मातेश्वरी श्री प्रभावतीजी म० का भी पुण्य स्मरण इस प्रसंग पर हुए बिना नहीं रहता। उनका उपकार मेरे जीवन के कण-कण में 'पयसि घृतं यथा' की भांति व्याप्त है।

श्री दिनेश मुनि ने मेरे मार्गदर्शन में प्रस्तुत ग्रन्थ को सम्पन्न करने के लिए पूर्ण प्रयास किया है, एतदर्थ साधुवाद; मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ से जहाँ हमारे श्रमणी वर्ग की गरिमा का दर्शन उजागर होगा वहाँ जैन दर्शन, साहित्य इस प्रकार 'एका क्रिया व्यर्थकरी प्रसिद्धा' की उक्ति चारितार्थ होगी। संस्कृति तथा योग आदि विधाओं पर भी मननीय सामग्री प्राप्त कर पाठक वर्ग को संतुष्टि अनुभव होगी।

मैं पुनः अतीव आत्म-तोष की अनुभूति करता हुआ, त्याग-सेवाभूति साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी का हार्दिक अभिवादन करता हूँ।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि







अभिनन्दनग्रन्थ की प्रथम प्रति का विमोचन कर जनता को ब्रता रहे हैं, सेठ रसिकलालजी धारीवाल । मंच पर विराजित हैं—(क्रमशः) उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म० श्री दिनेशमुनि जी (ग्रन्थ के सम्पादक), सिंहासन पर विराजित हैं आचार्यसम्राट श्री आनन्दऋषिजी म० तथा पार्श्व में श्री प्रवीण ऋषिजी म० ।



मंच पर—प्रवर्तक श्री रूपचन्दजी म० उपाध्यायश्री जी, उपाचार्यश्री जी, आचार्य श्री जी आदि । आचार्य श्री को ग्रन्थ समर्पित कर रहे हैं सेठ रसिकलालजी धारीवाल ।



ग्रन्थ की द्वितीय प्रति का विमोचन करते हुए सेठ रसिकलालजी धारीवाल। पास में खड़े हैं घोड़नदी संघ के अध्यक्ष श्री भवंरीलालजी फुलफगर, दीक्षा समिति के अध्यक्ष बाबू सेठ बोरा।



साध्वीरत्न महासती श्री पुष्पवतीजी को ग्रन्थ समर्पित करते हुए धारीवालजी। पास में विराजित हैं—महासती श्री प्रियदर्शनाजी, महासती श्री संयमप्रभाजी, महासती श्री कौशल्याजी। पीछे खड़े हैं—महासती श्री रत्नज्योतिजी डॉ० महासती धर्मशीलाजी महासती पमोदमभाजी आदि साध्वीवन्द।



# सम्पादकीय

जब हम आगम-साहित्य का गहराई से अनुशीलन परिशीलन करते हैं, तो हमें कुछ ऐसे महत्त्व-पूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं जो साधक-जीवन के लिये वरदान रूप हैं। श्रमण-श्रमणियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूचन यह किया गया है कि वह वन्दना—अर्चना की अभिलाषा न करें। “वन्दनं नावकं खेज्ज ।”

जब तक साधक निस्पृह व निरकाक्ष नहीं बनता, तब तक वह आत्म-साधना के कठोर कंटका-कीर्ण महापथ पर अपने मुश्तैदी कदम नहीं बढ़ा सकता। निस्पृह और निरकाक्ष जीवन ही श्रमण जीवन का ज्वलंत आदर्श है।

आगम-साहित्य में जहाँ श्रमण जीवन की महत्ता के सम्बन्ध में प्रस्तुत संकेत है, वहाँ पर शिष्य के कर्तव्य के सम्बन्ध में भी सुन्दर निदर्शन है। वहाँ पर स्पष्ट रूप से कहा गया है—जैसे अग्निदेव की ज्योति प्रतिपल, प्रतिक्षण प्रज्वलित रखने वाला ब्राह्मण विविध आहुतियाँ एवं मन्त्रों के द्वारा अग्नि का अभिषेक करता है, उसकी पूजा और अर्चा करता है, वैसे शिष्य अनन्त ज्ञान के दिव्य आलोक से भी आलोकित हो जाय, तथापि आचार्य की, गुरुजनों की विनयपूर्वक सेवा करें, संस्तुति करें, वन्दना और अभिनन्दना करें। कहा है—

जहाहियग्गो जलणं नमंसे नाणाहुईमंत-पयाभिसित्तं ।  
एवायरियं उवच्चिट्ठइज्जा, अणतनाणोवगओ वि संनो ॥

साधक के जीवन में समर्पण, कृतज्ञता, विनम्रता का अनूठा स्थान है, उसका विनम्र होना बहुत ही आवश्यक है। जो साधक गुरुजनों के प्रति समर्पित है, एक निष्ठा के साथ अपने आपको अर्पित कर देता है, उसके जीवन में शान्ति का महासागर ठाठें मारने लगता है।

सद्गुरुणी जी श्री पुष्पवतीजी इस शताब्दी की एक विशिष्ट स्मरणीया, वर्णनीया, वन्दनीया श्रमणी रत्न हैं। उनमें ऐसी दुर्लभ और अद्भुत विशेषताएँ हैं, जो अन्य श्रमणियों में निहारी नहीं जा सकतीं। दीप्तिमान, निर्मल, गेहुँआ वर्ण, दार्शनिक मुख-मण्डल पर खेलती निश्छल स्मितरेखा, उत्फुल्ल नीलकमल की भाँति स्नेह-स्निग्ध विहँसती आँखें, सुवर्णपत्रसा चमकता-दमकता सर्वतोभद्र भाल पट्ट, कर्मयोग की ज्वलंत प्रतिमा रूपी सुगठित, संतुलित देह्यष्टि, यह है—सद्गुरुणी जी का बाह्य व्यक्तित्व। वे जितनी बाहर से सुन्दर हैं, अन्दर से उससे भी अधिक मनोभिराम हैं। उनकी भव्य मुखाकृति पर बालक की भाँति सरलता है, उनके नेत्रों में सहज उदारता, सहज स्नेह सुधा छलकती है। वार्त्तालाप में अत्यन्त



शालीनता है, उसमें विवेक, विचार और उदात्तता सहज रूप से प्रतिबिम्बित है, जो दर्शक को प्रभावित करती है। एक क्षण में दर्शक श्रद्धा से नत हो जाता है। सतीत्व के अपूर्व तेज का सत्त्व आपके जीवन के कण-कण में व्याप्त है। आपमें जहाँ गम्भीर विद्वत्ता है, वहाँ नम्रता की भी प्रमुखता है। आपकी प्रवचन कला वेजोड़ है, आपका व्यक्तित्व जादुई है। साधना के महपथ पर निस्पृह और निरकाँक्ष भाव से आप सरिता की सरस धारा की तरह बह रही हैं, आपका जीवन धर्म, सदाचार, सत्य, अहिंसा, विश्व-प्रेम और विश्व मानवता का पावन प्रतिष्ठान है। इसीलिए आप जन-जन की वन्दनीया हैं।

सूर्य का कार्य है— विश्व को प्रकाश देना, जन-जन को ऊष्मा प्रदान करना, जल का कार्य है— शीतलता का संचार करना, पृथ्वी का कार्य है—सभी को धारण करना और अनन्त आकाश का कार्य है—सभी को आश्रय देना। इसी तरह आपके जीवन का संलक्ष्य है—जन-जीवन को जागृत करना, जन-जीवन में रही अनन्त गुप्त-शक्तियों को जागृत करना। नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा, इन्सान से भगवान बनाने का मार्ग बताना।

जैसे ये प्राकृतिक सम्पदाएँ उपकार के बढ़ने में आभार की अपेक्षा नहीं करतीं, पर अतीतकाल से ही मानव सूर्य की वन्दना करता रहा है, पृथ्वी, जल और आकाश की स्तुतियों में उसकी स्वर-लहरियाँ अंकृत होती रही हैं, इसी तरह गुरुजनों के असीम एवं अनन्त उपकार के प्रति विनम्रता ज्ञापन करना हमारा परम कर्तव्य है। हम अपने उपकारी के प्रति मौन रहते हैं तो वह वाणी की चोरी है, उनके सद्गुणों को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करना शिष्य का कर्तव्य है।

प्रस्तुत उपक्रम उसी कृतज्ञता का अहसास है, इसमें हमारे हृदय की भक्तिभावना का सहज प्रस्फुटन है, इसमें प्रदर्शन नहीं, अन्तःस्फुरित भावना है। सर्वप्रथम यह कल्पना मेरे मस्तिष्क में उद्बुद्ध हुई और मैंने यह कल्पना सद्गुरुणीजी के सामने प्रस्तुत की, पर वे स्पष्ट रूप से इन्कार हो गई। और कहा—मुझे कहीं सद्गुण हैं, यदि अभिनन्दन ग्रन्थ निकालना ही है तो सद्गुरुणी जी श्री सोहनकुँवर जी म. का निकालें। वे गुणों की साक्षात् प्रतिमा थीं। उनका तप, उनका त्याग, उनकी क्षमा, निर्लोभता सभी सद्गुण अनूठे थे। पर मेरा मन आपश्री के अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने के लिए ललक उठा। जो महान आत्माएँ होती हैं वे सदा दूसरों के गुणों को निहारती हैं, और अपने दुर्गुणों को देखती हैं। किन्तु मेरा ही नहीं, जितने ही व्यक्ति आपके सम्पर्क में आये हैं वे आपके सद्गुणों के सौरभ से गमक उठे हैं। जहाँ एक ओर आप परम विदुषी हैं, तो दूसरी ओर पहुँची हुई साधिका हैं। आपका व्यक्तित्व ज्ञान की गरिमा और साधना की महिमा से अच्छी तरह कसा हुआ है। जहाँ एक ओर आपमें विनम्रता की प्रधानता है, तो दूसरी ओर सिद्धान्त-निष्ठा भी गजब की है। जहाँ आप में आचार-निष्ठा है, वहाँ अनुशासन की कठोरता भी है। आपके जीवन में सद्गुणों का ऐसा मधुर संगम है, जो देखते ही बनता है।

अभिनन्दन ग्रन्थ की परिकल्पना जब मस्तिष्क में उद्बुद्ध हुई तो सर्वप्रथम मैंने वह योजना सद्गुरुवर्य उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी के समक्ष प्रस्तुत की, उन्होंने उसी समय मेरी नम्र प्रार्थना को सम्मान देकर रूप-रेखा तैयार कर दी, मुझे लिखते हुए अपार आल्हाद हो रहा है कि उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए जो प्रयास किया, उनका मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ, उन्होंने ही सभी मूर्धन्य मनीषियों से पत्राचार किया, लेख मँगवाये, और उन सभी का सम्पादन कर मेरे श्रम को वहन कर अपनी ज्येष्ठ भगिनी के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है।

श्रमणों के अनेक अभिनन्दन ग्रन्थ समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं, पर महासतीजी का अभिनन्दन ग्रन्थ यह सर्वप्रथम है। श्वेताम्बर समाज में इसके पूर्व किसी भी महासती का अभिनन्दन ग्रन्थ नहीं निकला है। उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने ही नारी जागरण के युग में प्रथम पहलकर अन्य श्रमणी-रत्नों के अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में सात खण्ड हैं। प्राचीन युग में सप्त खण्ड के भव्य भवन बहुत ही शुभ और प्रशस्त माने जाते थे। सप्त अंक साता का प्रतीक है। संघ में शान्ति की अभिवृद्धि हो, इसी कमनीय कल्पना को संलक्ष्य में रखकर यह ग्रन्थ सात खण्डों में विभक्त किया गया है।

प्रथम खण्ड में श्रद्धार्चना के साथ आर्शीवचन, वन्दना, अभिनन्दना, संस्मरण, और समर्पण है। द्वितीय खण्ड में सद्गुरुणीजी का व्यक्तित्व दर्शन है। उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी की सजी हुई लेखनी से सद्गुरुणी परम्परा की जीवन छवि चित्ताकर्षक रूप से प्रस्तुत की गई है। सद्गुरुणीजी का जीवन वृत्त उनकी विदुषी शिष्या प्रिय दर्शना जी ने प्रस्तुत किया है।

तृतीय खण्ड में सद्गुरुणी जी के साहित्य-परिचय के साथ ही माताजी महाराज प्रतिभामूर्ति स्व० प्रभावती जी म० की कृतियों का भी समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ खण्ड में जैन दर्शन, जैन इतिहास और जैन साहित्य के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन है। दर्शन जैसे गुरु भग्नीर विषय को सरल एवं सरस शब्दों में विविध विज्ञों ने चिन्तनपूर्ण निबन्धों में प्रस्तुत किया है। पांचवें खण्ड में सांस्कृतिक मौलिक सामग्री का संकलन हुआ है। छठे खण्ड में नारी समाज के विकास के सम्बन्ध में ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है, जो अत्यन्त उपयोगी है। सातवें खण्ड में ध्यान और योग पर उच्चकोटि की सामग्री देने का प्रयास किया गया है।

मैं सोचता हूँ प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में जो सामग्री गई है, वह बहुमूल्य हीरों से भी अधिक मूल्यवान है, यह सामग्री ज्ञानवर्द्धक, उपयोगी और जीवन मूल्यों का उद्घाटन करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यह ग्रन्थ रत्न पुस्तकालयों की शोभा के लिए ही नहीं, किन्तु जीवन को सजाने के लिए है/संवारने के लिए है।

इस विशालकाय अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन करना, वच्चों का खेल नहीं था। परमवन्दनीय परमश्रद्धेय महामहिम आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषिजी महाराज जो श्रमण संघ के नायक हैं, जिनकी छत्र छाया में श्रमण संघ फल रहा है, फूल रहा है, वह ऐसा विराट और मधुर व्यक्तित्व है, जिसके स्नेह सागर में अवगाहन कर कौन अपने आपको धन्य अनुभव नहीं करता। उनका आशीर्वाद भी प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में सजीवनी शक्ति का कार्य करता रहा है। परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य पूज्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त नहीं होता तो मैं इस भगीरथ कार्य को कदापि नहीं कर सकता था। उनका हार्दिक आशीर्वाद मेरा संबल रहा, और श्री देवेन्द्र मुनिजी जो वर्तमान में श्रमण संघ के उपाचार्य पद पर आसीन हैं, उनके स्नेहस्निग्ध श्रम का ही मूर्त्त रूप है। साथ ही पंडित श्री रमेश मुनि जी म० श्री राजेन्द्र मुनि जी M. A. महासती श्री चन्द्रावती जी, बहिन महासती श्री प्रिय दर्शनाजी, महासती श्री किरणप्रभा जी और महासती श्री रत्नज्योतिजी का आभार मानना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उनका मधुर सहयोग मुझे समय-समय पर प्राप्त हुआ है। स्नेह मूर्त्तिमीषी डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डियाजी ने मुझे अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक लेख प्राप्त कराने में हार्दिक सहयोग दिया है। जिसे ज्ञापित करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। डॉ. ए. डी. बत्तारा, डॉ. नरेन्द्र भानावत और मधुकान्ता, एम. दोशी आदि का स्नेहपूर्ण मार्गदर्शन ग्रन्थ के लिए बहुत उपयोगी रहा है।

भुला नहीं सकता, जो प्रस्तुत ग्रन्थ के निदेशक रहे हैं। जिनका प्रबुद्ध चिन्तन हमारे प्रस्तुत कार्य के लिए आलोक-स्तम्भ का कार्य करता रहा है।

सम्पादन एवं मुद्रण-कला की दृष्टि से ग्रन्थ को सजाने और सँवारने का महत्वपूर्ण दायित्व, स्नेह सौजन्यमूर्ति श्रीचन्द्रजी मुराना ने स्वीकार कर अपनी हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त की है, मुरानाजी के श्रद्धा-पूर्ण श्रम से ही ग्रन्थ स्वल्प समय में मुद्रित हो सका।

प्रस्तुत कार्य के लिए परम श्रद्धालु-उदारमना दानी महानुभावों ने उदारता के साथ अनुदान देकर अपनी हार्दिक भक्ति अभिव्यक्त की, तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। ज्ञात और अज्ञात रूप में जिन-जिन का सहयोग प्राप्त हुआ है, वे सदा स्मृत्याकाश में चमकते रहेंगे।

मैं अन्त में अपने प्रबुद्ध पाठकों से यह नम्र निवेदन करना चाहूँगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वाध्याय कर अपने जीवन को चमकावें।

—दिनेश मणि  
७

श्री तिलोक रत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड

अहमदनगर

आचार्य श्री आनन्द ऋषि दीक्षा-हीरक जयन्ती

दि० २६-११-८७



# क्या?..कहाँ?

प्रथम खण्ड

१-१३६

**स ष्ढे श शु भ का म ना ँ**  
**अ भि न ष्ढ न ! अ भि व ष्ढ न !**

आशीर्वचन	आचार्यसम्राट श्री आनन्द ऋषिजी महाराज	२
विकास की कहानी, गुरु की ज्ञानी	उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी	४
चमकता सूरज दमकता जीवन	प्रवर्तक श्री कल्याण ऋषिजी म०	६
गुणों की खान	उपप्रवर्तक तपस्वो श्री सुदर्शनमुनि	६
महासती श्री पुष्पवतीजी की साधना	अ० प्र० मुनि कन्हैयालालजी 'कमल'	७
का क्रमिक विकास		
पट्टिठ वरेज्ज तुट्टिठ	प्रवर्तक श्री उमेश मुनि 'अणु	८
प्रबल प्रतिभा की धनी	प्रवर्तक भण्डारी पद्मचन्द्रजी महाराज	९
तप और त्याग की जीती जागती प्रतिभा	उपाध्याय विशाल मुनिजी म०	११
एक बहुमुखी व्यक्तित्व का अभिनन्दन	श्री हीरामुनिजी म०	१२
एक महकता पुष्प	साध्वी सुधाकुमारी	१३
अनन्त आस्था के मुमन	राजेन्द्र मुनि शास्त्री	१४
बहुमुखी प्रतिभा की धनी	महासती कौशल्याजी	१६
एक तेजोमय व्यक्तित्व	महासती चारित्रप्रभाजी	१६
युग-युग जीवे सती	विपिन जारोली	१७
मेरी जीवन सर्जक सद्गुरुणीजी	दिनेश मुनि	१८
यह है पारदर्शी व्यक्तित्व	महासती त्रियदर्शनाजी	२१
गुणों के आगार	महासती किरणप्रभा शास्त्री	२४
अन्तर साधना की एक सफल यात्री	श्री कुन्दन ऋषिजी	२६

क्या ? कहाँ ?

२९

बहुमुखी प्रतिभा—श्रीपुष्पवतीजी	उदयमुनि 'जैन सिद्धान्ताचार्य'	२८
अभिनन्दन के बोल	श्री अजितमुनि 'निर्मल'	२८
विविधताओं का संगम	महासती प्रमोद सुधाजी	२६
प्रज्ञा की ज्योतिर्मय मूर्ति	महासती रतनज्योतिजी	३१
विराट् मनोवृत्ति की धनी	महासती चन्द्रावतीजी	३३
सफलता का रहस्य	महासती श्रीमतीजी महाराज	३५
शुभाशिषः	मदनमुनि 'पथिक'	३५
श्रद्धा-स्निग्ध हृदय से अभिनन्दन	श्री गिरीश मुनिजी	३७
चरणों में वन्दन	साध्वी दिव्यज्योति 'अर्पण'	३७
	साध्वी ज्ञानप्रभा 'सरल'	३७
परम ज्ञान साधिका	मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'	३८
कमल की तरह निर्लिप्त	नरेश मुनि	३६
युग-युग जीवो मेरे गुरुणीजी	महासती हर्षप्रभाजी	४०
शत-शत वन्दनः अभिनन्दन	महासती प्रीतिसुधाजी	४०
महासती पुष्पवतीजी एक प्रकाश स्तम्भ	साध्वी मंजूश्री	४२
प्रबुद्ध समन्वय साधिका	महासती श्री सत्यप्रभाजी	४२
अन्त हृदय का अभिनन्दन	महासती संघमित्राजी	४७
	महासती सुजाताजी	४७
आलोक-स्तम्भ	महासती सुप्रभाजी	४८
श्री पुष्प-पञ्चीसी	श्री चन्दनमुनि (पंजाबी)	४६
स्वच्छमति है महासती	प्रवैतक श्री रूपचन्द जी म० 'रजत'	५१
भावों के सुमन	गणेश मुनि शास्त्री	५२
बधाई गीत	मगन मुनि 'रसिक'	५२
सम्मान सुमन	जिनेन्द्र मुनि 'काव्यतीर्थ'	५४
शासन ज्योति	श्री सुरेश मुनि शास्त्री	५५
मंगल एकादशी	उपप्रवैतक श्री सुकन मुनिजी	५६
शत-शत सुमन	महेन्द्र मुनि 'कमल'	५७
पुष्प के चरणों में भाव पुष्प	दिनेश मुनि	५८
दो मुक्तक	उदय मुनि 'जैन सिद्धान्ताचार्य'	५६
सहस्रजीवी आप हों	सुव्रत मुनि एम. ए. 'सत्यार्थी'	६०
शत-शत वर्ष जीओ सतीजी	महासती श्री शीलकुंवरजीम०	६०
सती शिरोमणि का अभिनन्दन	महासती कौशल्याजी म०	६१
हर्ष से मनाइये	साध्वी सुदर्शनप्रभा	६१
वन्दन अभिनन्दन	महासती श्री सिद्धकुंवरजी	६१
श्रद्धा सुमन गीत	महासती विमलवतीजी	६२
श्रद्धा सुमन	महासती ज्ञानप्रभा	६२

वन्दन अभिनन्दन स्वीकारो  
 गुण-गान  
 स्वर्ण जयन्तो मनावा हर्ष सु रे  
 पुष्पवत्यष्टकम्  
 वन्दना के इन स्वरोँ में एक स्वर....  
 जिन शासन की गरिमा  
 बोलता हुआ भाष्य  
 दो कदम आगे  
 सेवा का प्रेरक प्रतिबिम्ब  
 वन्दनीया महासतीजी  
 मैं दानव से मानव बना  
 प्रेरक-संस्मरण  
 एक संस्मरण  
 शुभाकांक्षा  
 साध्वी संघ की शोभा  
 तत्त्वमसि, श्री पुष्पवती  
 साधनारति महासती पुष्पवती  
 एक महान् जीवन गौरव  
 अध्ययन ज्योति  
 जीवन का कायाकल्प  
 हृदयोद्गार  
 जैनधर्म की विभूति  
 स्वर्णिम अवसर  
 शत-शत तुम्हें प्रणाम  
 हमारे कुल का नाम रोशन किया  
 आध्यात्म साधना की सफल साधिका  
 भावना के सुमन  
 हम हैं खुश नसीब  
 जन-जीवन की आधार  
 सागरवर गम्भीरा  
 जन-जन का आकर्षण केन्द्र  
 चुम्बकीय आकर्षण  
 शासन प्रभाविका  
 एक सुलझी हुई साधिका  
 प्रेरक जीवन का दर्शन  
 श्रद्धा के दो बोल

साध्वी मधुबाला 'सुमन' ६३  
 साध्वी रत्नज्योति ६४  
 महासती किरणप्रभा ६४  
 राजेन्द्र मुनि शास्त्री एम. ए. ६५  
 आर्या चन्द्रावती ६७  
 श्री संचालाल जी बाफणा ६८  
 श्री रतनचन्द राँका (सिकन्दराबाद) ६९  
 श्री चम्पालाल कोठारी बम्बई ७०  
 श्री जवाहरलाल मुनोत (बम्बई) ७१  
 चाँदमल मेहता (मदनगंज) ७१  
 मोहनलाल सिन्धी, ब्यावर ७३  
 डॉ० ए० डी० बतरा (पूना) ७४  
 डॉ० फैयाज अली खाँ. (किशनगढ़) ७६  
 डॉ० एम० पी० पटैरिया (चुरारा) ७८  
 श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल ७९  
 पं० जनार्दनराय नागर ८०  
 कमला जैन 'जीजी' ८१  
 मनोहरसिंह बरड़िया (उदयपुर) ८५  
 दलपतसिंह बाफणा (उदयपुर) ८६  
 हस्तीमल लोढ़ा (उदयपुर) ८७  
 श्रीमती राजबाई कन्हैयालाल लोढ़ा ८७  
 श्रीमती धापुबाई, भगवतीलालजी खिवसरा ८८  
 श्री भंवरलाल एडवोकेट (उदयपुर) ८९  
 सुश्री संगीता ९०  
 मदनलाल जी बरड़िया (पाली) ९२  
 आनन्द स्वरूप जैन (गुडगाँव) ९३  
 विकास जैन दिल्ली ९४  
 श्रीमती पुष्पा जैन (दिल्ली) ९५  
 श्री ज्ञानचन्द तातेड (दिल्ली) ९५  
 शान्तिलाल तलेसरा (सूरत) ९६  
 महेन्द्रकुमार लोढ़ा (अजमेर) ९७  
 रणजीत सिंह लोढ़ा (अजमेर) ९८  
 धनराज चुन्नीलाल बाँठिया (पूना) ९९  
 सम्पत्तीलाल बोहरा (उदयपुर) १०१  
 श्री चुन्नीलाल धर्मावत (उदयपुर) १०२  
 रत्नलाल मोदी, १०३

मधुर व्यवहार  
 मैं महासतीजी के गुणों पर मुग्ध हूँ  
 तेजोमय व्यक्तित्व की धनी  
 आराध्य के चरणों में  
 एक महान तत्त्व दर्शी महासती  
 योग्यता का अभिनन्दन  
 मेरी सद्गुरुणी  
 महासती की सफलता  
 निर्मल मन की धनी  
 यह महान् जीवन  
 यथानाम तथागुण  
 गुरुणीजी, मेरा शत-शत प्रणाम  
 शत-शत अभिनन्दन  
 प्रकाश पुञ्ज  
 संकल्प के धनी  
 प्रेरणा स्रोत  
 विलक्षण व्यक्तित्व की धनी  
 श्रद्धा-सुमन  
  
 ख्याता सर्वत्र लोकेऽस्मिन्  
 हृदयोद्गाराः  
 वन्दना के स्वर  
 वन्दना के फूल  
 महिमा मंडित मणि  
 पुष्पाष्टक  
 पुष्प-पराग  
 गुरुणी-महिमा  
 अभिनन्दन श्रद्धार्चना द्वादशी  
 दुर्लभ है वह पथ  
 गंगा की जब धार बनी  
 महिमा छाई चारों ओर

धनपतसिंह पन्नालाल बरडिया (मदनगंज) १०४  
 रतनलाल मारू १०५  
 वियोगी श्री राधे-राधे १०५  
 कन्हैयालाल सुराणा (नाथद्वारा) १०६  
 सुभाष ओसवाल १०७  
 अम्बालाल सिधवी (यशवन्तगढ़) १०८  
 अशोक जैन, (उदयपुर) १०८  
 सोहनलाल जैन (सा० रत्न० नाथद्वारा) १०९  
 डालचन्द परमार (उदयपुर) १०९  
 रोशनलाल झगड़ावत (उदयपुर) ११०  
 भंवरीलाल फुलफगर (घोड़नदी) ११०  
 राजेन्द्रकुमारमेहता (सूरत) १११  
 श्रीमती अ० सौ० आनन्दीबाई ११२  
 जवाहरलाल विनायकिया ११३  
 केसरीमल मोहनलाल साकरिया ११३  
 खुमानसिंह कागरेचा ११४  
 हरकचन्द पालरेचा ११४  
 भेरूसिंह सिशोदिया (रिछावड़) ११६  
  
 पं० अमृतलाल जैन (अहमदनगर) ११७  
 पं० रमाशंकरजी शास्त्री (अजमेर) १२०  
 कवि सम्राट निर्भय हाथरसी (हाथरस) १२७  
 फूलचन्द बोरुन्दिया 'जसनगर' १२९  
 श्रीचन्द सुराना 'सरस' १३०  
 कंवरचन्द्र जैन बोधरा (मंडी गीदड़बाहा) १३०  
 सौ० विजयकुमारी बोधरा ,, १३१  
 वैरागिन नीतू जैन १३१  
 जयसिंह छाजेड़ 'रत्नेश' १३२  
 श्रीमती माया जैन (उदयपुर) १३३  
 श्रीमती माया जैन (उदयपुर) १३४  
 वैरागी संजय जैन (वर्तमान श्री सुरेन्द्र मुनि) १३५

## ठयत्तित्त्व दर्शन

जैन शासन-प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुरुणी परम्परा	उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि	१३७
एक बूँद, जो गंगा बन गई	साध्वी प्रियदर्शना	१६३
शिष्या-परिवार	(संकलन)	२०२
वर्षावास-सूची	(संकलन)	२०३

## कुत्तित्त्व दर्शन

सृजनधर्मी प्रतिभा की धनी : महासती पुष्पवतीजी	राजेन्द्र मुनि शास्त्री साहित्य-महोपाध्याय	२०५
प्रेरणा का निर्झर : संस्मरण	साध्वी रत्नज्योति	२१५
चिन्तन के सूत्र : जीवन की गहन अनुभूति	दिनेश मुनि	२१६
स्फुट विचार	दिनेशमुनि	२३४
आगम-सम्पादन	दिनेशमुनि	२३७
अहिंसा पंचकम् : सत्य पंचकम्		२३६
महासती प्रभावती जी द्वारा प्रणीत	डा० महेन्द्रसागर प्रचडिया	२४१
सा हित्य और उसका शास्त्रीय मूल्यांकन		
साहस का सम्बल : समीक्षण	डा० नित्यानन्द शर्मा	२४७
साध्वीरत्न पुष्पवतीजी की प्रचवन शैली	डा० नरेन्द्र भानावत	२४६
अमर साहिगा पुष्पवई	डा० उदयचन्द्र जैन	२५७



## जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य

भारतीय दर्शनों में आत्म-तत्त्व	डा० एम० पी० पटैरिया	१
आगम साहित्य में पूजा शब्द का अर्थ /	श्री दलमुख मालवणिया	२३
पुण्य : एक तात्त्विक विवेचन	डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	२७
जैन प्रमाणवाद का पुनर्सूत्र्यांकन	डा० संगमलाल पाण्डेय	३४
जैन वाक्य-दर्शन	डा० सागरमल जैन	४०
जैन न्याय में अनुमान-विमर्श	डा० दरवारीलाल कोठिया	५२
आचार्य जिनसेन का दार्शनिक दृष्टिकोण	डा० उदयचन्द्र जैन	७२
'तत्त्वमसि' वाक्य	डा० दामोदर शास्त्री	७६
तपः साधना और आज की जीवन्त	राजीव प्रचण्डिया	६०
समस्याओं के समाधान		
श्रमण आचार-मीमांसा	डा० भागचन्द्र जैन	११०
कवाय-कौतुक और उससे मुक्ति :	डा० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	१२०
(साधना और विधान)		
प्रायश्चित्त : स्वरूप और विधि /	डा० पुष्पलता जैन	१३२
जैन सन्त और उनकी रचनाएँ	डा० तेजसिंह गौड़	१३२
भगवान् महावीर एवं बुद्ध :	डा० विजयकुमार जैन	१४६
एक तुलनात्मक अध्ययन		
त्रैन-भू-गोल-विज्ञानम्	स्व० मुनि अभयसागरो गणी	१५०
धर्म और विज्ञान	साध्वी मंजूश्री	१५६
आर्ष ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक	डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'	१६१
शब्दावलि और उसका अर्थ अभिप्राय		
अभाव प्रमाण : एक चिन्तन	रमण मुनि शास्त्री	१७१
अनुसंधान की कार्य-प्रणाली विदेशी	डा० जगदीशचन्द्र जैन	१७५
जैन विद्वानों के सन्दर्भ में		
सोमदेवसूरिकृत-यशस्तिलकचम्पू में	जिनेन्द्रकुमार जैन	१८२
प्रतिपादित दार्शनिक मतों की समीक्षा		

## सांस्कृतिक सम्पदा

धर्म और जीवन मूल्य	डा० महेन्द्र भानावत	१८६
अहिंसा : वर्तमान सन्दर्भ में	श्री मदन मुनि 'पथिक'	१९३
प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावलि	डा० प्रेमसुमन जैन	१९६
जैन पर्व और उसकी सामाजिक उपयोगिता	कुंवर परितोष प्रचण्डिया	२०५
राजस्थान के मध्यकालीन प्रभावक जैन आचार्य	श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'	२११
आज के जीवन में अहिंसा का महत्त्व	डा० हुकमचन्द जैन	२१८
जैन परम्परा में काशी इर्यासमिति और पदयात्रा	डा० सागरमल जैन	२२२
जैन विचारधारा में शिक्षा	संजीव प्रचण्डिया सोमेन्द्र	२२६
	डा० शान्ता भानावत	२३२

## नारी समाज के विकास में जैन साहित्यों का योगदान

नारी के मुक्ति दाता भगवान महावीर भारतीय संस्कृति और परम्परा में नारी	डा० शान्ता भानावत	२३७
नारी का उदात्त रूप : एक दृष्टि नारी जीवन जागरण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रोत्थान की धुरी : नारी	प्रो० कल्याणमल लोढा	२४०
नारी की भूमिका : विश्व शान्ति के सन्दर्भ में	मुनि प्रकाशचन्द्र 'निर्भय'	२४५
विश्व शान्ति में नारी का योगदान	सौभाग्यमल जैन	२५५
जैन नारी-समाज में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावलि और उसमें व्यंजित धार्मिकता	डा० श्रीमती निर्मला एम. उपाध्याय	२६०
	डा० कु० मालती जैन	२६५
	मुनि नेमिचन्द्रजी	२७०
	श्रीमती डा० अलका प्रचण्डिया	२७६

मानवीय विकास में नारी का स्थान,  
महत्त्व और मूल्यांकन  
जैन शासन में नारी का महत्त्व  
मन कहता है नारी को पूजो....  
प्राचीन जैन कथाओं में विहार की  
जैन नारियाँ  
नारी : प्रेरणा और शक्ति

प्रो० डा० इन्दिरा जोशी २८१  
श्री रतन मुनिजी २८७  
निर्भय हाथरसी २९०  
डा० रंजन सूरिदेव २९३  
साध्वी मधुबाला 'सुमन' २९७

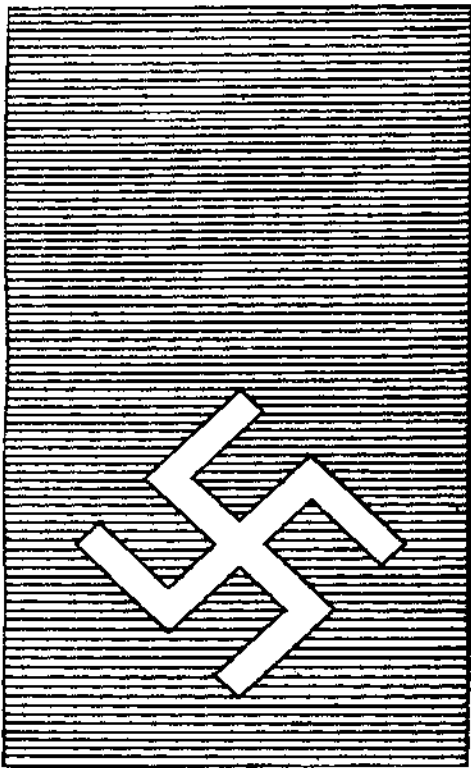
सातवाँ खण्ड

३०१-३७६

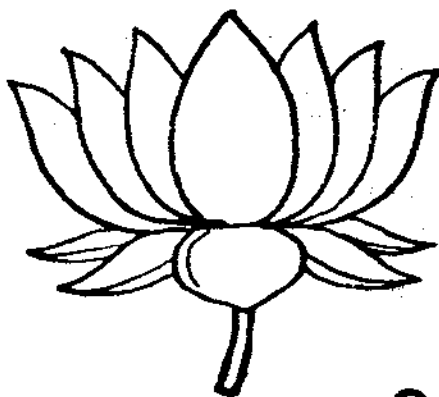
## भारतीय संस्कृति में योग

कुण्डलिनीयोग : एक विश्लेषण ३०१  
प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र साधना ३०८  
कुण्डलिनीयोग : एक चिन्तन ३२२  
भारतीय वाङ्मय में ध्यान-योग : ३२६  
एक विश्लेषण  
नाम-साधना का मनोवैज्ञानिक त्रिवेचन ३६०  
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः की जैन दर्शन ३६३  
सम्मत व्याख्या  
धर्म ध्यान : एक अनुचिन्तन ३६६  
युवाचार्य महाप्रज्ञ ३०१  
डा० म० म० ब्रह्ममित्र अवस्थी ३०८  
डा० हर्द्रदेव त्रिपाठी ३२२  
डा० साध्वी प्रियदर्शना ३२६  
डा० ए० डी० बतरा (पुणे विश्वविद्यालय) ३६०  
राजकुमारी सिंघवी ३६३  
कन्हैयालाल लोढा ३६६

प्रथम खण्ड	१२० श्रद्धा सुमन	पृष्ठ १३६
द्वितीय खण्ड	२ बृहद् निबन्ध	पृष्ठ ६८
तृतीय खण्ड	३ निबन्ध	पृष्ठ ५६
चतुर्थ खण्ड	२० विशिष्ट निबन्ध	पृष्ठ १८८
पंचम खण्ड	८ विशिष्ट निबन्ध	पृष्ठ ४८
षष्ठ खण्ड	१२ विशेष निबन्ध	पृष्ठ ६४
सप्तम खण्ड	७ विशिष्ट निबन्ध	पृष्ठ ७६
		कुल पृष्ठ ६३६



सौजन्य—सहकार के  
सुरभित-सुमन



## सम्माननीय सहयोगी

साध्वोरत्न महासती श्री पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में  
श्रद्धा व उद्वृत्तापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान करने वाले  
सम्माननीय सहयोगी बन्धुओं के

### शुभ नाम व चित्र

श्रीमान् धनराजजी चुन्नीलालजी बांठिया,  
बांठिया इन्टर प्राइजेज ८६/१ भवानी पेठ  
पूना-२ (महा०)

श्रीमान् रतनलालजी मारू,  
मारू ब्रदर्स, अजमेर रोड,  
मदनगंज (अजमेर) राज०

श्रीमान् शान्तिलालजी लक्ष्मीलालजी तलेसरा  
अमर शांति सिल्क मिल्स, ४-३३६ दूसरी मंजिल  
सूरत टैक्स टाईल मार्केट, रिंग रोड  
सूरत (गुजरात)

अखण्ड सौ. श्रीमती सरलादेवी  
द्वारा—श्रीमान् बस्तीमलजी खटोड़  
खटोड़ भवन, टांगा स्टैण्ड,  
पो०—किशनगढ़ (अजमेर) राज०

श्रीमान् चांदमलजी मेहता,  
ओसवाली मोहल्ला  
पो०—मदनगंज (अजमेर) राज०

लाला आनन्दस्वरूप जैन,  
नवकार आथरन स्टोर; सदर बाजार,  
गुडगांव (हरियाणा)

श्रीमान् रतनलालजी धोका,  
जी. आर. शंलेशकुमार एण्ड कम्पनी  
काटन मर्चेन्ट, राजेन्द्र गंज, रायचूर (कर्नाटक) ●

श्रीमान् राजेन्द्रकुमारजी लालचन्दजी मेहता  
सायरा (उदयपुर) राज० ●

श्रीमान् ज्ञानचन्दजी माणकचन्दजी तातेड  
२०४५ किनारी बाजार, दिल्ली-६ ●

श्रीमान् सोहनलालजी बोहरा,  
विमल ट्रेडर्स मेनरोड  
पो० सिन्धनुर  
जि० रायचूर (कर्ना०) ●

श्रीमान् केसरीमलजी मोहनलालजी  
साकरीया ज्वेलर्स  
पो० कोसंबा जि० सूरत, (गुज०)

श्रीमान् रणजीतमलजी महेन्द्रकुमारजी लोढा  
ओवरसिज ट्रेड ऐजेन्सीज, स्टेशन रोड,  
अजमेर, (राज०)

श्री देवराजजी अशोककुमारजी बागमार  
क्लोथ मर्चेन्ट  
पो० गजेन्द्रगढ़, जि० धारवाड़ (कर्नाटक)

श्रीमान् तेजराजजी, रूपराजजी बम्ब  
कपड़े के व्यापारी  
इचलकरंजी, जि० कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

महावीरचन्दजी, गौतमचन्दजी बागमार  
एवन्त साडी सेन्टर मैन रोड,  
सिन्धनूर, जि० रायचूर (कर्नाटक)

श्रीमती धर्मानुरागिनी विद्यावती जैन  
दीपचन्दजी जैन, आर० एस० ट्रेडर्स  
३७ ब्रिनियान रोड, पायधुनि, बम्बई ३

श्रीमान् इन्दरचन्दजी मेहता  
एच.चन्दनमल ११६ नैनप्पा नाईक स्ट्रीट  
मद्रास (तामिलनाडु)

श्रीमान् सम्पतीलालजी बोहरा एण्ड कम्पनी  
३६/४० अश्विनि बाजार  
उदयपुर (राजस्थान)

श्रीमान् जवाहरलालजी शेषमलजी विनाकिया  
पो० खण्डप, जि० बाड़मेर (राजस्थान)

श्रीमान् हंसमुखलाल, प्रदीपकुमार  
१५, क्लोथ कॉमर्शियल सेन्टर  
साकर बाजार; अहमदाबाद (गुजरात)

श्रीमान् हरकचन्दजी पारलेचा (बारी वाले)  
पो०—नया वास, जि० बाड़मेर (राजस्थान)

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन संघ  
पो०—नील कुण्ड, श्रीनाथद्वारा (उदयपुर) राजस्थान

श्रीमान् गुलाबचन्दजी दीपचन्दजी बागमार  
मु० पो० गदग, जि० धारवाड़ (कर्नाटक)

श्रीमान् चान्दमलजी रमेशचन्द्र बागमार  
गजेन्द्रगढ़, जि० धारवाड़ (कर्नाटक)

श्रीमान् सम्पतराज खट्टि  
राजेश्वरी पान ब्रोकर  
देवर जीवन हल्ली, बेंगलोर ४५

श्रीमान् सम्पतराजजी जैन  
द्वारा—दलीचन्द जुगराज जैन  
१६५/१६७ जवेरी बाजार, बम्बई २

श्रीमान् नाथूलालजी पन्नालालजी सेठ  
ठाकुर द्वारा के पास  
पो० गोगुन्दा, जि० उदयपुर (राजस्थान)

श्रीमान् स्व० हरीशकुमारजी,  
श्रीचाँदमलजी माद्रेचा  
माद्रेचा ज्वेलर्स, हरियाली विलेज,  
दु० नं० ५, डिसोजा चाल  
विक्रोली (पूर्व) बम्बई ८३

श्रीमती सौ० फतेहकुंवर, गौतम आंचलिया  
खेतर पाली चक्रतरा, जोधपुर (राजस्थान)

श्रीमती सौ० भागवन्तीबाई, रोशनलालजी अगहावत  
प्रकाश एण्ड ब्रादर्स  
न्यू कृषि मण्डी, दु० नं० ६३, पो.—उदयपुर (राज०)

श्रीमान् गहरीलालजी कोठारी, कोठारी ज्वेलर्स  
१६७, कमल कुंज, सायन (ईस्ट) बम्बई २२

श्रीमान् फूलचन्दजी गोखर  
मु० बनेड़ा, जि० भीलवाड़ा (राजस्थान)

श्रीमान् पारसमल मिश्रीमलजी विनाकिया  
मु० पो० खण्डप, वाया समदड़ी  
जि० बाड़मेर (राजस्थान)

श्रीमान् घीसालालजी कोठारी  
कमल फायनेन्स कारपोरेशन  
ओल्ड पीलखाना, अशोक मार्केट पहली मंजिल  
हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

श्रीमान् छोटामलजी  
उगमचन्द-पवनचन्दजी मेहता,  
पो० गोरेगाँव, ता० माणगाँव  
जि० रायगढ़ (महाराष्ट्र)

श्रीमान् बलवन्तराजजी खाँटेड  
६६२, ट्रंक रोड, पुन्नमल्ली, मद्रास ५६

टी० चम्पालाल आँचलिया  
शान्ति काइन कार्पोरेशन, सेकण्ड यूनिट,  
फर्स्ट फ्लोर हाउस नं० १७, राष्ट्रपति रोड  
हैदरबस्ती, सिकन्द्राबाद-३ (आन्ध्र प्रदेश)

शाह पारसमलजी तेजराजजी जैन (जालौर निवासी)  
पुत्र शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी हसमुख  
१५६/२ तम्हाने बिल्डिंग, सेकेण्ड फ्लोर  
प्रभु आली, मांडा भिवण्डी, जि० थाणा (महा०)

धर्मानुरागिणी राजबाई कन्हैयालालजी लोढा  
भादवियों की षोल, उदयपुर (राजस्थान)

श्रीमान् जवरीलालजी शान्तिलालजी मुक्षा  
लोहारवाड़ी, रायचूर (कर्नाटक)

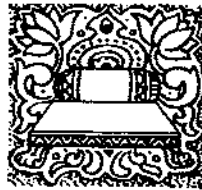
श्रीमान् सीभाग्यसिंहजी माण्डावत  
साधना कैमीकल्स  
ई० १००६ मादड़ी इण्डस्ट्रियल एरिया  
पुराना स्टेशन रोड, सेवाश्रम के पास  
उदयपुर (राजस्थान)

श्रीमती मनोहरबाई हीरालालजी वेद मुथा  
रमेश डूँसेज, नेताजी रोड  
रायचूर (कर्नाटक)

श्रीमान् सोहनलालजी जैन  
जैन ट्रान्सपोर्ट कम्पनी, बस स्टेशन  
पो० नाथद्वारा, जि० उदयपुर (राजस्थान)

श्रीमती सीताबाई ख्यालीरामजी बरड़िया  
ओसवाली मोहल्ला,  
पो० मदनगंज-किशनगढ़, जि० अजमेर (राज०)

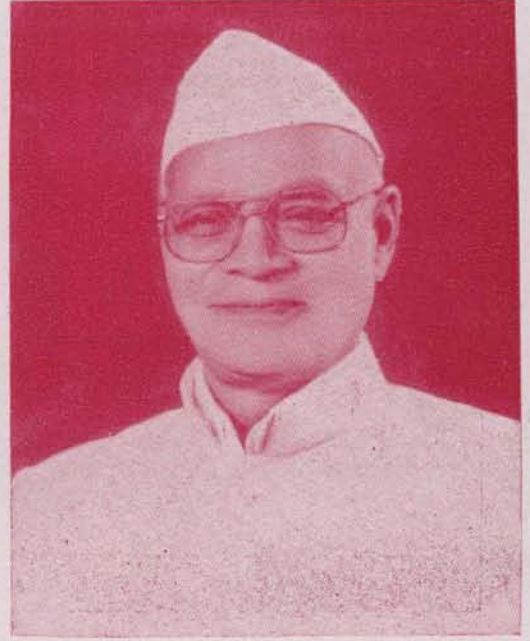
श्रीमान् सुखराजजी महावीरचन्दजी बागमार  
पो० गजेन्द्रगढ़, जि० धारवाड़ (कर्नाटक)



पूना निवासी श्रीमान् धनराजजी बांठिया जैन समाज के विख्यात दानवीर सज्जन पुरुष हैं, जो मुख से बोलते बहुत कम हैं किन्तु मौका आते ही दान की वर्षा करने में सबसे आगे रहते हैं ।

आपका जन्म पूना जिले के औंध ग्राम में दिनांक २ मार्च १९२२ को हुआ । हाईस्कूल तक अध्ययन करने के बाद आपने टेलरिंग कोर्स किया और रेडीमेड कपड़े का व्यवसाय भी प्रारम्भ किया । प्रारम्भ में बीज रूप में अंकुरित व्यवसाय आज विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है । आपके कारखाने में सैकड़ों व्यक्ति कार्य करते हैं । रेडीमेड व्यवसाय तथा विन्नी मिल आदि की एजेन्सी के रूप में आपका व्यापार दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त है ।

आपका स्वभाव बहुत ही मधुर व मिलनसार है । साथ ही आप सच्चरित्रनिष्ठ व्यक्ति हैं । जैन धर्म के प्रति गहरी निष्ठा है और अन्य सम्प्रदायों के प्रति मन में सहा-नुभूति है । अनेक सामाजिक, धार्मिक कार्यों के प्रति आपकी रुचि है और यथाशक्ति आप सहयोग भी देते रहते हैं ।



उदारहृदय, परमगुरुभक्त, दानवीर

## सेठ श्री धनराजजी बांठिया

आपकी धर्मपत्नी धर्मानुरागिनी अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती झमकावाई भी धर्मपरायण सुश्राविका हैं । पति की भाँति आप में भी धार्मिक भावना का साम्राज्य है, आप दोनों ही श्रावक जीवन के आदर्श रूप हैं ।

वर्तमान में आपके तीन सुपुत्र हैं—गुलाबचन्दजी, फूलचन्दजी और सुहासजी । यह तीनों विभूति की तरह हैं तथा तीनों भाइयों की धर्मपरायणा क्रमशः धर्मपत्नियाँ हैं—अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती राजश्री, अखण्ड सौभाग्यवती चंचलावाई, अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती कान्तावाई । गुलाबचन्दजी के एक पुत्र और एक पुत्री है—प्रशान्तकुमार, मनीषा । फूलचन्दजी की तीन पुत्रियाँ हैं—नूतनकुमारी, राखी-कुमारी, स्वीटीकुमारी । सुहासजी के दो पुत्र हैं और एक पुत्री—रूपेशकुमार, प्रीतिशकुमार और रीना-कुमारी ।

आपश्री के ज्येष्ठ पुत्र खींवराजजी थे । जो बहुत ही विवेकी व धर्मनिष्ठ थे, उनका स्वर्गवास हो गया है । उनकी धर्मपत्नी धर्मभूति श्रीमती कान्तावाईजी बहुत ही समझदार सुश्राविका हैं । आपके एक पुत्र है हर्षकुमार । आपका सम्पूर्ण परिवार परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी महाराज, उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी महाराज आदि श्रमण वृन्द के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हैं ।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन में आपका स्मरणीय सहयोग प्राप्त हुआ है, धन्यवाद !

आपके प्रतिष्ठित व्यापारिक प्रतिष्ठान का नाम है—

के० जी० बांठिया ब्रादर्स

८६/१, भवानी पेठ, पूना-४११ ००२





श्रीमान् धर्मप्रेमी गुरुभक्त

रतनलालजी सा० मारू; मदनगंज



धर्मशीला सुश्राविका

सौ० सोनी देवी रतनलालजी मारू

श्रीमान् रतनलालजी सा० मारू अत्यन्त उदारमना धर्मनिष्ठ और परम गुरुभक्त सुश्रावक हैं। वि० सं० १९८० मृगसिर वदी १३ को नरवर ग्राम में आपका जन्म हुआ। आपके पूज्य पिताश्री का नाम भंवरलालजी मारू और मातेश्वरी का नाम श्रीमती गोपीदेवी और आपकी धर्मपत्नी का नाम सौ० सोनी देवी है।

आप मदनगंज श्रावक संघ के अध्यक्ष हैं, सेवा, शिक्षा, चिकित्सा आदि परोपकारी प्रवृत्तियाँ आपको विशेष प्रिय रही हैं और समय-समय पर अपने धन का सदुपयोग इन कार्यों में करते रहते हैं। आपका बीड़ी का व्यवसाय है। आपके तीन भाई और तीन बहिनें हैं।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी, उपाचार्य श्री जी और साध्वी रत्न पुष्पवती जी म० के प्रति आपकी व परिवार की अपार निष्ठा है। उपाध्याय श्री जी के तथा महासती जी के मदनगंज-किशनगढ़ वर्षावास में आपने जो सेवा भक्ति का आदर्श उपस्थित किया, वह सभी के लिए अनुकरणीय है।

श्री वर्धमान जैन पुष्कर सेवा समिति मदनगंज के भी आप अध्यक्ष हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद !

आपके फर्म का नाम है—

मारू ब्रादर्स, डागा गली, मदनगंज, (राजस्थान)



श्रीमान् धर्मप्रेमी परम गुरुमत्त  
चाँदमलजी सा० मेहता (मदनगंज)



श्रीमती धर्मानुरागिनी

सौ० चन्द्रकला देवी चाँदमलजी मेहता (मदनगंज)

श्रीमान् चाँदमलजी मेहता एक ओजस्वी-तेजस्वी और वर्चस्वी कर्मठ कार्यकर्ता हैं। आपका जन्म किशनगढ़ के सन्निकट पिगलोद में हुआ और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में आपने अध्ययन किया। सन् १९४१ में जनगणना का प्रशंसनीय कार्य करने के कारण किशनगढ़ नरेश ने स्वर्णाभूषण से आपको सम्लंकृत किया। गांधी की आंधी ने आपको स्वतन्त्रता संग्राम में जुझने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की और आप राजनीति में कूद पड़े। पहले किशनगढ़ राज्य प्रजा मण्डल के अध्यक्ष बने, फिर जयपुर जिला कांग्रेस के उपाध्यक्ष बने। सन् १९५२-५४ में विधान सभा के सदस्य भी बने और उस समय निष्ठा के साथ आपने जो कार्य किया वह किसी से छिपा हुआ नहीं है।

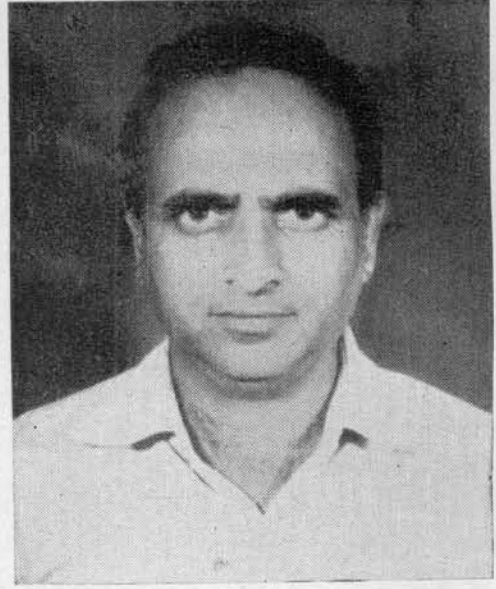
व्यापारिक संस्थाओं के भी आप सम्माननीय अध्यक्ष हैं। चेम्बर आफ कामर्स मदनगंज व्यापार मंडल, अजमेर जिला व्यापार संघ के आप महामन्त्री रहे हैं, संस्थापक भी रहे हैं। इसी तरह राजस्थान खाद्य व्यापार संघ, अनाज व्यापारी संघ आदि अनेक व्यापारी संस्थाओं के आप सदस्य आदि रहे हैं। इसके साथ ही श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ किशनगढ़ के वर्षों तक अध्यक्ष रहे। राजनीति, व्यापार नीति और धर्म-नीति के आप अगुआ हैं। आपके जीवन में पूर्ण नैतिकता और प्रामाणिकता है।

आपश्री के वीरेन्द्रकुमारजी, सुरेन्द्रकुमारजी, नरेन्द्र कुमारजी, जितेन्द्रकुमारजी, सतेन्द्रकुमारजी आदि पुत्र हैं और प्रेमजी, विजेशजी, महेन्द्रजी, दिनेशजी, नरेशजी, राकेशजी, सुनीलजी, विनयजी, प्रसन्नजी, मुकेशजी, नीरजजी आदि पौत्र-प्रपौत्र हैं। आपका पूरा परिवार श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी, उपाचार्य श्री जी व महासती पुष्पवतीजी के प्रति पूर्ण समर्पित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में भी आपका हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है।



श्रीमान् धर्मप्रेमी गुरुभक्त  
रणजीतमलजी लोढा “अजमेर”



श्रीमान् धर्मप्रेमी गुरुभक्त  
महेन्द्रकुमारजी लोढा “अजमेर”

राजस्थान की पावन पुण्य धरा में समय-समय पर नर-रत्नों ने जन्म लेकर उस धरती को अपनी आन-वान और शान से चमत्कृत किया। कितने ही ऐसे नररत्न हुए हैं जिनके जीवन की चमत्कृति हजारों-हजार वर्षों तक रही है। नागौर एक ऐतिहासिक भूमि है जिसका सांस्कृतिक इतिहास बहुत ही उज्ज्वल और गौरवपूर्ण रहा है। नागौर के इतिहास में लोढा परिवार का योगदान अपूर्व है।

श्रीमान् चंचलमलजी सा० लोढा नागौर के एक जाने-माने मेधावी व्यक्ति थे। आपकी धर्मपत्नी का नाम उमराव कुंवर था। श्रीमान् धर्मप्रेमी रणजीतमलजी और श्रीमान् महेन्द्रकुमारजी आदि आपके सुपुत्र हैं। आप दोनों भाइयों में राम और लक्ष्मण की तरह परस्पर प्रेम-स्नेह और सद्भावनाएँ हैं। आप दोनों भाइयों का व्यवसाय अजमेर में ओव्हरसीज ट्रेड एजेन्सीज के नाम से है। पहले व्यवसाय में व्यस्त रहने के कारण धार्मिक साधना के प्रति दोनों ही भ्राताओं में रुचि कम थी।

सन् १९८३ में परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० और उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म० तथा साध्वीरत्न महासती पुष्पवती जी म० का वर्षावास मदनगंज-किशनगढ़ हुआ। उस वर्षावास में आपका परिचय उपाध्याय श्री जी और महासती जी से हुआ। जिससे आपकी धार्मिक भावनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहीं।

श्रीमान् धर्मप्रेमी रणजीतमलजी सा० के धर्मपत्नी का नाम धर्ममूर्ति पवनदेवी है और आपके सुपुत्र का नाम रवीन्द्र कुमार और महेश कुमार है। श्रीमान् महेन्द्र कुमारजी की पत्नी का नाम धर्मानु-रागिनी मुशीलादेवी है और सुपुत्र का नाम ललितकुमार और सुपुत्री कु० प्रीतू है। इस प्रकार आपका सम्पूर्ण परिवार श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी और महासती पुष्पवतीजी म० के प्रति समर्पित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपने आर्थिक अनुदान प्रदान कर अपनी भक्ति का परिचय दिया है।



श्रीमान् धर्मप्रेमी  
भीमराजजी हजारीमलजी साकरिया  
सांडेराव (राज०)



श्रीमती धर्मानुरागिनी  
सौ० बाबू बाई भीमराजजी साकरिया

राजस्थान की पावन पुण्य धरा जहाँ वीर भूमि के रूप में विश्रुत है वहाँ धर्मभूमि के रूप में भी उसकी ख्याति कम नहीं है। राजस्थान के वीर जहाँ रणबाँकुरे रहे हैं वहाँ धर्म के क्षेत्र में भी उनके कदम पीछे नहीं रहे। यही कारण है कि जब भी ऐसे पावन प्रसंग आये तब राजस्थानियों ने अपनी आन-वान और शान को इस तरह कायम रखा कि देखने वाले विस्मय से मुग्ध हो गये।

सांडेराव राजस्थान का एक सुन्दर कस्बा है, जिस कस्बे पर चमत्कार केसरी श्री वक्तावरमलजी म० की अपूर्व कृपा रही, जिसके फलस्वरूप आज सांडेराव में अमन-चैन है। शाह भीमराजजी हजारी-मलजी साकरिया सांडेराव के निवासी हैं। आप बहुत ही धर्मनिष्ठ सुश्रावक हैं। आपकी धर्मपत्नी का नाम सौ० बाबूबाई साकरिया है। जो बहुत ही धर्मपरायणा सुश्राविका हैं। बाबू बाई ने अनेक बार वर्षी तप किये हैं और समय-समय पर तप की साधना करती रहती हैं। आपके दो सुपुत्र हैं श्रीमान् मोहन-लालजी, श्रीमान् केसरीमलजी। दोनों भाइयों में अपार स्नेह है।

आपका व्यवसाय गुजरात में कोसंबा जिला सूरत में है।

आपके फर्म का नाम है—मेसर्स चौकसी केसरीमल मोहनलाल एण्ड कं०,  
स्टेशन रोड, कोसंबा।

सांडेराव राजस्थान प्रांतीय सन्त सम्मेलन में सांडेराव के साकरिया परिवार ने जो अपूर्व सेवा का लाभ लिया है, वह बहुत ही अद्भुत है। परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० व उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी के प्रति आपका पूरा परिवार पूर्ण समर्पित है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है वह आपके हार्दिक भक्ति को उजागर कर रहा है।



श्री आनन्दस्वरूप जैन, गुड़गांवा

कुछ व्यक्ति बाह्य दृष्टि से देखने में बहुत सीधे-सादे होते हैं किन्तु उनका हृदय बहुत उदार, सरल और स्नेह से सराबोर होता है। वे सद्गुणों के आगार होते हैं और अपने सद्गुणों के कारण ही जन-जन के स्नेह के पात्र बन जाते हैं।

श्रीमान् लाला आनन्दस्वरूपजी जैन बहुत ही उदारमना सुश्रावक हैं। आपश्री के पूज्य पिताजी का नाम विश्वेशरदयालजी था और माताश्री का नाम मिश्रीदेवी था। माता-पिता के धार्मिक संस्कार सहज ही आपको प्राप्त हुए। उन संस्कारों को पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय है, आगम मर्मज्ञ महानिपी धर्मोपदेष्टा श्री फूलचन्दजी म० 'पुपफभिक्षु' को। श्रद्धेय फूलचन्दजी म० की पारखी दृष्टि जब आप पर गिरी तो आपने इस रत्न को पहचाना। आप श्रद्धेय गुरुदेव के चरणों में तन-मन-धन से समर्पित हो गये। उनकी लम्बी विहार-यात्राओं में महीनों तक आप साथ रहे और वृद्धावस्था में जब पुपफभिक्षुजी म० रुग्ण हो गये तो आपने सच्चे श्रावक की तरह उनकी सेवा-सुश्रूषा की और उनका हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त किया।

आप उदारमना महानुभाव है। आपका विश्वास विज्ञापन में नहीं, कार्य में है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रकान्ता बहन भी धर्मपरायणा हैं। आपके सुनीलकुमार, प्रवीणकुमार, नवीनकुमार—ये तीन पुत्र हैं और शशिबालाजी, निर्मला ये दो सुपुत्रियाँ हैं।

नवकार आयरन स्टोर, सदर बाजार गुड़गांवा में आपकी फर्म है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म० सा० व उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी म० के प्रति आपकी निष्ठा है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है। एतदर्थं हार्दिक धन्यवाद।



श्रीमान धर्मप्रेमी परम गुरुभक्त  
ज्ञानचन्दजी माणकचन्दजी तातेड़  
दिल्ली



श्रीमती धर्मानुरागिनी सौ० प्रसन्नकुंवर  
ज्ञानचन्दजी तातेड़,  
दिल्ली

दिल्ली भारत की राजधानी है। राजधानी होने के कारण उसकी महिमा और गरिमा अतीत काल से हो रही है। ऐतिहासिक सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से उसका स्थान सदा अग्रगण्य रहा है। स्थानकवासी समाज के ज्योतिर्धर आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज ने वहाँ जन्म लेकर जहाँ अपने जीवन को धन्य बनाया, वहाँ उस परिवार को भी गौरवान्वित किया है। श्रीमान् ज्ञानचन्दजी सा० तातेड़ आचार्य श्री अमरसिंह जी म० के परिवार के एक जाने-माने सदस्य हैं।

दिल्ली का तातेड़ परिवार सामाजिक और धार्मिक तथा व्यावसायिक क्षेत्र में सदैव अगुआ रहा है। जो परिवार कोठीवाल के नाम से जाना और पहचाना जाता है। श्रीमान् ज्ञानचन्द जी के पूज्य पिताजी का नाम श्री माणकचन्दजी सा० तातेड़ व मातेश्वरी का नाम श्रीमती सर्वती देवी था। आप तीन भाई हैं—फूलचंदजी, कमलचंदजी, ज्ञानचंदजी तथा दो बहिनें—पदमाबाई और विमला देवी है।

श्रीमान ज्ञानचन्दजी का पाणिग्रहण व्यावर निवासी हीरालाल जी बोहरा की सुपुत्री सौ० धर्मानुरागिनी प्रसन्न कुंवर जी के साथ सम्पन्न हुआ। प्रसन्न कुंवर बहुत ही उदार हृदया महिला हैं। आपके दो सुपुत्र हैं—राजीव और भास्कर। दोनों भाइयों में राम और भरत की तरह परस्पर में प्यार है। और आपके चार सुपुत्रियाँ हैं—मन्जु, प्राची, नवरंग, बबीता।

उपाध्याय श्री जी और उपाचार्य श्री जी के दिल्ली वर्षावास में तन, मन, धन से सेवा की, और प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में भी आपका हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है।

आपकी फर्म का नाम है

मानकचन्द जैन गोटेवाल

२०४५ किनारी बाजार दिल्ली—६



श्रीमान धर्मप्रेमी रिखबचन्द जी सा०  
बोहरा सिन्धनूर; (कर्नाटक)

श्रीमती धर्मानुरागिनी स्व० देवीबाई  
रिखबचन्दजी बोहरा, सिन्धनूर

भारत के तत्त्वदर्शी महर्षियों ने जीवन की परिभाषा करते हुए कहा कि जीवन वह है जिसमें उदारता हो, धर्म के प्रति सद्भावना हो। प्रस्तुत कसौटी पर जब हम श्रीमान रिखबचन्द जी बोहरा के जीवन को कसते हैं तो लगता है उनका जीवन एक सद्गृहस्थ का जीवन है। उस जीवन में धर्म के प्रति अपूर्व निष्ठा है। सादा जीवन उच्च विचार उनके जीवन का मूलमन्त्र हैं।

श्रीमान रिखबचन्द जी सा० बोहरा श्रीमान केसरीमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपकी मातेश्वरी बहुत ही धर्म परायणा महिला थी। आप राजस्थान में गिरीनावना के निवासी हैं। जब आपकी उम्र आठ-नौ वर्ष की थी, तब आप कर्नाटक में सिन्धनूर शहर के निवासी श्रीमान चन्दनमल जी बोहरा के वहाँ पर दत्तक रूप में आये। वहाँ पर श्रीमती माता मनोहर बाई और पिता चन्दनमल जी का हार्दिक स्नेह प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करने लगे।

सिन्धनूर निवासी श्रीमान माणकचन्द जी सकलेचा की सुपुत्री देवीबाई के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। देवीबाई बहुत ही धर्मपरायण महिला थी। जिन्होंने अनेक मासखमण आदि तप की आराधना कर अपने जीवन को धन्य बनाया। आपके चार सुपुत्र हैं—श्रीमान सोहनलालजी, चम्पालालजी, सूरजमलजी, दिलमुखराजजी। चारों भाइयों में धार्मिक संस्कार माता-पिता से विरासत के रूप में मिले हैं। श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० और उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म० के प्रति आप में अपार श्रद्धा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका सुन्दर योगदान प्राप्त हुआ है।

आपके फर्म का नाम—

- (१) महावीर इण्डस्ट्रीज (राईस मिल) सिन्धनूर (कर्नाटक)
- (२) आर० एस० एण्ड कम्पनी रायचूर (कर्नाटक)



श्रीमान् धर्मप्रेमी गुरुभक्त  
शान्तिलालजी तलेसरा, सूरत

मेवाड़ अपनी आन-वान और शान के लिए सदा विश्रुत रहा है, वहाँ पर दानवीर, धर्मवीर रणवीर नर सदा पैदा होते रहे हैं। वीर सेनानी की तरह कर्त्तव्य के महापथ पर निरन्तर बढ़ने में गौरवानुभूति करते रहे हैं। मेवाड़ में शताधिक व्यक्तियों ने साधना-मार्ग को स्वीकार कर अपने जीवन को चमकाया है। कितने ही ज्ञानी-ध्यानी जपी-तपी महात्मा सन्त वहाँ हुए हैं तो सन्तों के प्रति अपार निष्ठा रखने वाले श्रावक और श्राविकाओं की भी वहाँ कमी नहीं है।

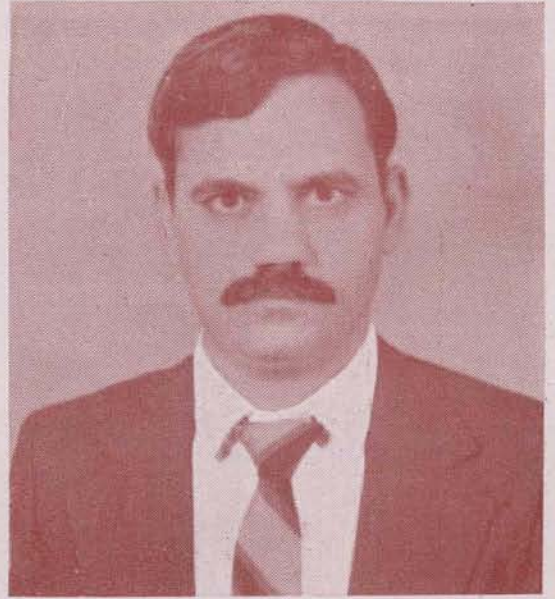
श्रीमान् शान्तिलालजी लक्ष्मीलालजी तलेसरा ऐसे ही गुरुचरणों में समर्पित व्यक्ति हैं। आप मेवाड़ में यशवन्तगढ़ के निवासी हैं। आपके पूज्य पिताश्री का नाम शिवलालजी और मातेश्वरी का नाम नवल-बाई था। दोनों ही सुश्रावक और सुश्राविका थीं। श्रीशान्तिलालजी जीवन के उपाकाल से ही कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति रहे हैं। कोई भी कार्य हो, सामाजिक-धार्मिक पूर्ण मन से करते रहे हैं जिससे सफलता देवी सदा आपका वरण करती रही।

आपका पाणिग्रहण बगडुन्दा निवासी गेहरीलालजी सा० लोढ़ा की सुपुत्री धमनिरागिनी भँवरदेवी के साथ सम्पन्न हुआ। आपके तीन सुपुत्र कुन्दनलाल, महेन्द्रकुमार और तरुणकुमार तथा चार सुपुत्रियाँ सुश्री रतनकुमारी, लीलाकुमारी, लक्ष्मीकुमारी, जसमाकुमारी हैं।

आपके लघु भ्राता लक्ष्मीलालजी हैं। उनकी धर्मपत्नी का नाम भाग्य से लक्ष्मीदेवी है। आपके एक पुत्र और चार सुपुत्रियाँ हैं। पुत्र का नाम गौरवकुमार है। सुपुत्री पुष्पाकुमारी, सुमित्राकुमारी, अनौखा कुमारी, नीताकुमारी हैं।

आपके दो बहिनें देवीबाई, कमलादेवी हैं। दोनों का पाणिग्रहण हो चुका है। आपके फर्म का नाम इस प्रकार है—अमर तारा कार्पोरेशन, अमर शान्ति सिल्क मिल्स ३० ए, एम. जी. मार्केट, राजकुमार पेट्रोल पम्प के पास, थर्ड फ्लोर, रिंग रोड, सूरत।

आपका पूरा परिवार पूज्य उपाध्याय श्रीजी, उपाचार्य श्रीजी और साध्वीरत्न पुष्पवतीजी म० के प्रति निष्ठावान है। आपने भक्ति भाव से विभोर होकर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उदारता के साथ अनुदान प्रदान किया है।



श्रीमान् धर्मप्रेमी  
लक्ष्मीलालजी तलेसरा, सूरत





### श्रीमती शांता बेन मोहनलाल दोशी

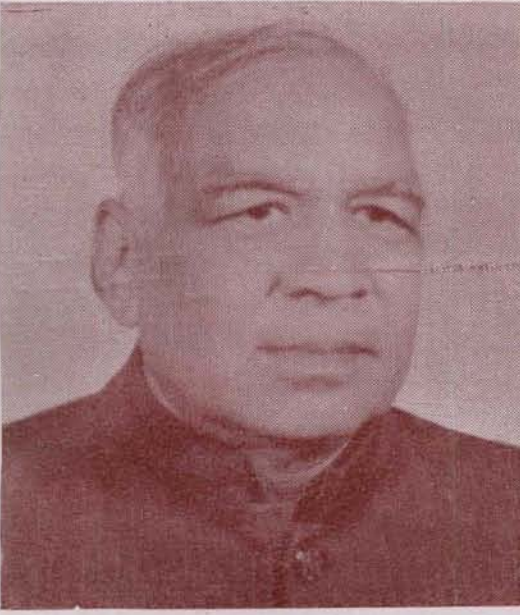
सौराष्ट्र की पावन पुण्य भूमि अतीत काल से धर्मपरायण रही है। भगवान् अरिष्टनेमि के पावन उपदेशों से वहाँ के जन-जीवन में अहिंसा की उदात्त भावना आज भी लहलहा रही है और कर्मयोगी श्रीकृष्ण के कर्मयोग की स्वर लहरियाँ आज भी झनझना रही हैं। यही कारण है कि उस धरती में श्रीमद् राजचन्द्र जैसे अध्यात्मयोगी पैदा हुए तो राष्ट्रपिता जैसे राष्ट्रनायक पैदा हुए। जहाँ पर सैकड़ों त्यागियों ने जन्म लेकर त्याग और वैराग्य की सुरसरिता प्रवाहित की, उसी पावन पुण्य धरा में श्रीमती शांता बहेन का जन्म हुआ।

श्रीमती शान्ता बहेन के पिताश्री का नाम सेठ दलपतराय लीलाधर था और मातेश्वरी का नाम मंशा बहेन था। जब आप बहुत ही छोटी थीं तब माता का साया आपके सिर से उठ गया। अतः आपकी नानी उजम बा ने आपमें धार्मिक संस्कारों के बीजारोपण किये।

१६ वर्ष की लघुवय में शांता बहेन का पाणिग्रहण मोहनलाल कपूरचन्द दोशी के साथ सम्पन्न हुआ। राजकोट सौराष्ट्र से आप व्यवसाय हेतु बम्बई आये। बम्बई में आप शान्ताकृज में रहने लगे। मोहनभाई और शान्ताबहेन के सुप्रयास का ही मधुर फल है। शान्ताकृज में नव्य-भव्य स्थानक का निर्माण हुआ। दोनों पति-पत्नी में धर्म के प्रति अपार निष्ठा रही और गुप्त दान देना अधिक प्रिय रहा। ७० वर्ष की उम्र में भी शान्ता बहेन निरन्तर धार्मिक अभ्यास में संलग्न हैं और उन्होंने उच्चतम परीक्षाएँ भी समुत्तीर्ण की हैं। आपकी धार्मिक भावना को निहारकर ही आपको उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने धर्ममाता के रूप में गौरवान्वित किया है।

श्रीमती शांता बहेन के तीन पुत्र और चार सुपुत्रियाँ हैं। श्रीमान् धनसुखभाई, अरुणभाई, रश्मिकान्त भाई और सुपुत्रियाँ—मधुकान्ता बहेन, ज्योति बहेन, भारती बहेन ये तीनों बाल ब्रह्मचारिणी हैं और सबसे बड़ी बहिन का पाणिग्रहण हो चुका है। आपका पूरा परिवार उपाध्याय श्रीजी, उपाचार्य श्रीजी के प्रति समर्पित है।

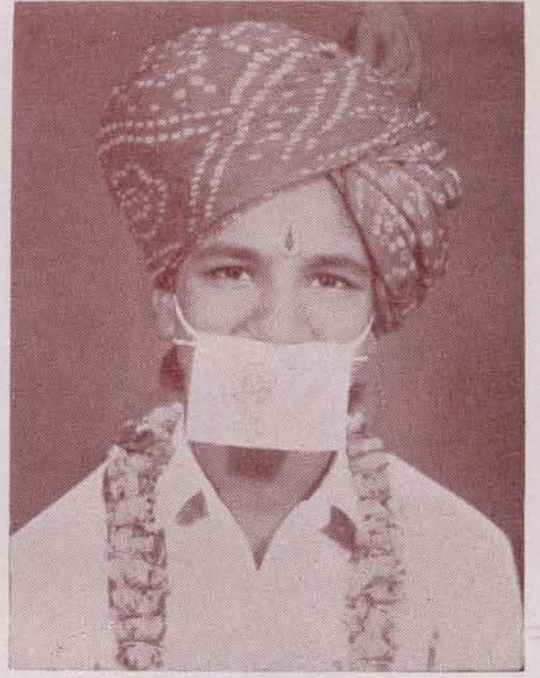
प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका अपूर्व योगदान रहा है। जो आपकी धार्मिक भावना का पावन प्रतीक है।



श्रीमान् परमगुरुभक्त  
सम्पतिलालजी बोहरा  
उदयपुर (राज०)

आप एक ओजस्वी-तेजस्वी और कर्मठ कार्य-कर्ता और परम गुरुभक्त हैं। आपके पूज्यपिताश्री का नाम खेमराजजी बोहरा और मातेश्वरी का नाम श्रीमती सुन्दरबाई था। आपका पाणिग्रहण जयपुर निवासी उमरावचन्दजी जरगड़ की सुपुत्री नगीनादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। आपके राज-कुमार और विनयकुमार दो पुत्र हैं। चन्द्रकला, रीता, नीता ये तीन सुपुत्रियां हैं।

आप अनेक संस्थाओं के सम्माननीय अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और सचिव भी हैं और आप प्रत्येक कार्य बहुत ही निष्ठा व लगन के साथ करते हैं। जिस से सहज ही सफलता देवी आपका वरण करती है। आप का पूरा परिवार उपाध्याय श्रीजी, उपाचार्य श्रीजी के प्रति समर्पित हैं। आप वर्षों से श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय के अध्यक्ष हैं। आपने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना अनुदान प्रदान कर सहज निष्ठा का परिचय प्रदान किया है।

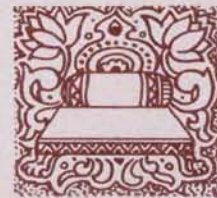


वैरागी संजय कुमार  
[सुरेन्द्र मुनि]

साधवीरलन पुष्पवतीजी के त्याग वैराग्य के छलछलाते उपदेश से प्रभावित होकर संजय कुमार के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। आपश्री के पूज्य पिताश्री का नाम श्रीयुत चाँदमलजी बम्ब व मातुश्री का नाम प्रेम बाई है।

आपकी २६-११-८७ को अहमदनगर में आचार्य सम्राट, उपाध्याय श्रीजी, उपाचार्य श्रीजी आदि मुनि प्रवर्षों के सान्निध्य में दीक्षा सम्पन्न हुई और आपका नाम सुरेन्द्र मुनि है। जो उप प्रवर्ष श्री राजेन्द्र मुनिजी म. के शिष्य हैं।

भागवती दीक्षा की खुशी में आपके परिवार ने ग्रन्थ प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है।





श्रीमान् धर्मप्रेमी गुरुभक्त  
जवाहरलालजी शेषमलजी  
विनाकिया, खंडप (राज०)



श्रीमान् धर्मप्रेमी गुरुभक्त  
स्व. तेजराजजी बम्ब इचलकरंजी  
स्वर्गवास २४-६-६२

आपका जन्म वाडमेर जिले में खंडप ग्राम में हुआ है। जहां पर श्रमण संघ के उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म० ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। श्री जवाहरलालजी के पिताश्री का नाम शेषमलजी विनाकिया और मातेश्वरी का नाम बक्सुबाई है। जवाहरलालजी में युवकोचित्र जोश है। सामाजिक, धार्मिक कार्य करने की उत्कट भावना है। परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० और उपाचार्य श्रीजी के प्रति गहरी आस्था है।

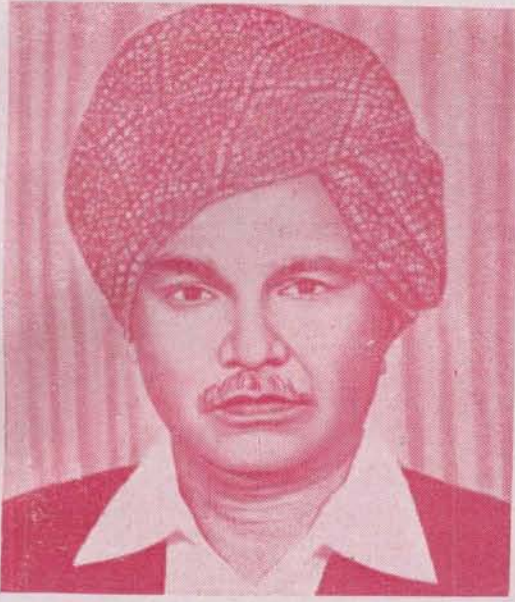
आपका व्यवसाय आंध्र प्रदेश में पुष्कर एजेन्सीज कर्नूल, क्वीक सेल्स कार्पोरेशन करनूल, महावीर होजयरीज करनूल, प्लायवुड एण्ड लेमिनेट एन्टरप्राइजेज करनूल के नाम से है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है। यह आपके उदार भक्ति का ज्वलंत प्रतीक है।

श्रीमान् स्व० तेजराजजी सा० बम्ब राजस्थान में भादवा ग्राम के निवासी थे और आपका व्यवसाय इचलकरंजी में है। सन्त-सतियों की सेवा में आपकी विशेष निष्ठा थी। आपके सुपुत्र का नाम रूपराजजी सा० बम्ब है। पिता के धार्मिक संस्कार आपमें पूर्ण रूप से उभर कर आये हैं। आप भी पूज्य पिता की तरह ही सामाजिक, धार्मिक कार्य में सदा अग्रसर रहते हैं। आपने भादवा ग्राम में स्थानक व स्कूल का निर्माण करवाया। आपकी प्रबल प्रेरणा और हार्दिक सहयोग के कारण इचलकरंजी में भी महावीर भवन का शानदार निर्माण हुआ और वर्षों तक सम्माननीय अध्यक्ष के रूप में समलंकृत रहे।

श्रीमान् रूपराजजी सा० के चेतनराजजी और महावीरजी ये दो सुपुत्र हैं। आपकी कर्म का नाम शाह तेजराज रूपराज बम्ब, क्लायथ मर्चेन्ट, कमीशन एजेंट, मेन रोड, इचलकरंजी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीमान् रूपराजजी सा० ने अनुदान प्रदान किया है। एतदर्थ धन्यवाद !



श्रीमान धर्मप्रेमी गुरुभक्त  
स्व. मांगीलालजी आसूलालजी रांका,  
गढ़सिवाना (राज.)

गढ़सिवाने का रांका परिवार हर क्षेत्र में बांका रहा है। स्व० श्रीमान मांगीलालजी सा० रांका एक धर्मनिष्ठ परम गुरुभक्त सुश्रावक थे। उनके जीवन के कण-कण में देव, गुरु और धर्म के प्रति अपार निष्ठा थी। जब उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० दावनगिरी पधारे तब आपने जो सेवा का अपूर्व लाभ लिया वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। दावनगिरी संघ की ओर से श्रवणवेल गोला में जो वर्षीतप के पारणे हुए वह दृश्य बहुत ही अद्भुत था। श्वेताम्बर समाज का इतना विराट कार्यक्रम वहाँ पहली बार हुआ था। आपके सुपुत्र का नाम मदनलालजी है जिनमें पिता के पवित्र संस्कार और माताजी की धार्मिक भव्य भावना दोनों एक साथ पल्लवित और पुष्पित हुए हैं।

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान का नाम—मांगीलाल मदनलाल रांका, शाह आसूजी मांगीलाल, हंसमुखलाल प्रदीप कुमार, १५ क्लायथ कमर्शियल सेन्टर, साखर बाजार, अहमदाबाद है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है। एतदर्थ धन्यवाद !



धर्मानुरागिनी

बक्सुबाई, धर्मपत्नी—

स्व. श्री लक्ष्मीचन्दजी पारलेचा समदड़ी

समदड़ी बाडमेर जिले का एक सुन्दर कस्बा है जहाँ पर चमत्कार केसरी अध्यात्मयोगी श्री ज्येष्ठ मलजी म० सा० ने जन्म, दीक्षा, स्वर्गवास प्राप्त किया। जिनकी साधना के पावन परमाणु आज भी वहाँ बिखरे पड़े हैं।

उसी धरती की निवासी हैं धर्मानुरागिनी सुश्राविका बक्सुबाई। जो स्व० श्रीमान लक्ष्मीचन्दजी पारलेचा की धर्मपत्नी हैं और श्रीमान धर्मप्रेमी सुश्रावक परम गुरुभक्त हरकचन्दजी सा० पारलेचा की मातेश्वरी हैं।

माता के पवित्र संस्कार श्रीमान हरकचन्दजी में मूर्त रूप लिए हुए हैं। आपकी गुरु भक्ति सराहनीय है। आपने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में हार्दिक अनुदान प्रदान किया है। एतदर्थ धन्यवाद !

आपका व्यापार—

रूपम स्टोर्स क्लायथ मर्चेन्ट, बैंक रोड, गदग में शानदार चल रहा है।

□

## स्व० श्री शेषमल जी बागमार

श्रीमान् शेषमल जी बागमार बहुत ही धर्मपरायण सरलमना एक सुश्रावक थे। आपकी के पूज्य पिताश्री का नाम गेवरचन्द जी और माता का नाम पतासीबाई था। दोनों ही धर्म निष्ठ थे। माता-पिता के धार्मिक संस्कार शेषमलजी में पूर्ण रूप से साकार हुए। शेषमलजी के चांदमलजी और सूरजमल जी ये दो लघु भ्राता थे। शेषमलजी के धरमीचन्दजी, सुभाषचन्दजी, महावीरचन्दजी, महेन्द्रकुमार जी और रतनचन्द जी पाँच सुपुत्र हैं। इन पाँचों भाइयों में पाण्डवों की तरह परस्पर स्नेह और सद्भावकी गंगा बहती है।

आपके पूर्वज राजस्थान से व्यवसाय हेतु कर्नाटक में पहले गजेन्द्रगढ़ में काफी समय तक रहे। उसके पश्चात् सिधनूर और सोरापुर में व्यवसाय हेतु रहने लगे हैं। आपकी दोनों स्थानों पर कपड़े की दुकानें हैं। आप पाँचों भाइयों में अच्छे धार्मिक संस्कार हैं। परम श्रद्धेय उपाध्यायश्री और उपाचार्यश्री के प्रति आप में गहरी निष्ठा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपने अपना उदार अनुदान प्रदान कर अपनी हार्दिक भक्ति को मूर्त रूप प्रदान किया है।

आपके फर्म का नाम है—एवन्त साड़ी सेन्टर, मेन रोड, सिन्धनूर (कर्नाटक)



## श्रीमान् इन्द्रचन्द जी मेहता

श्रीमान् इन्द्रचन्दजी सा० मेहता राजस्थान में सन्त सम्मेलन नगरी सादडी के निवासी हैं। जहाँ पर यज्ञस्वी सम्मेलन हुआ और श्रमणसंघ का गठन हुआ। आपका व्यवसाय मद्रास में है।

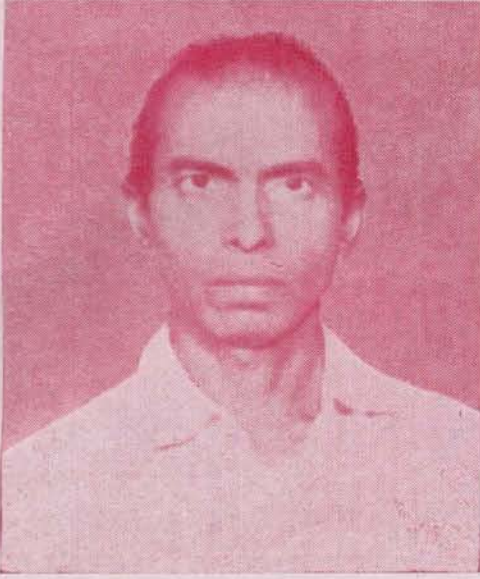
आपके फर्म का नाम है—एच० चन्दनमल, ११६ नैनप्पानाईक स्ट्रीट मद्रास (तमिलनाडू)

श्रीमान् इन्द्रचन्दजी सा० धर्मप्रेमी परम गुरु भक्त सुश्रावक हैं। आपके जीवन में युवकोचित तेजस्विता है। उदारता, स्नेह और सद्भावनाएँ ऐसे सद्गुण हैं जिसके कारण आप जन-जनप्रिय हैं, अनेक संस्थाओं के सम्माननीय पदाधिकारी हैं। और जिस संस्था को आपने अपने हाथ में लिया वह संस्था आर्थिक दृष्टि से पूर्ण समृद्ध बन गई। क्योंकि व्यक्ति के कार्य करने की क्षमता ही संस्थाओं में प्राणों का संचार करती है।

आपने मद्रास में उपाध्याय श्री के वर्षावास में तन-मन से सेवा की थी।

आपका प्रस्तुतग्रन्थ के प्रकाशन में भी अनुदान प्राप्त हुआ है। यह आपकी धर्मनिष्ठा को उद्योतित करता है।



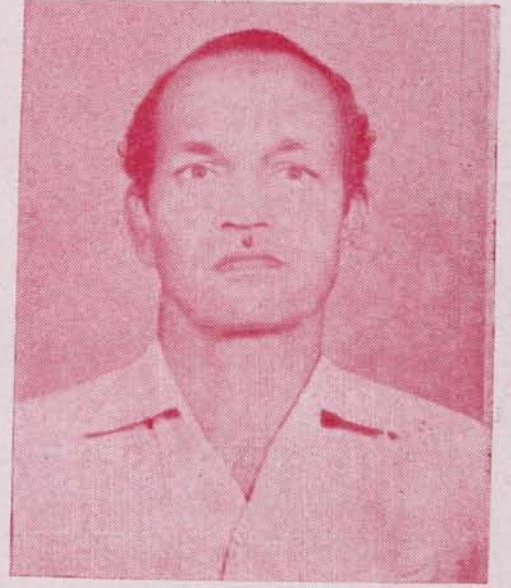


**श्रीमान दलपतसिंहजी बाफणा**  
उदयपुर (राज.)

श्रीमान दलपतसिंहजी बाफणा एक सरलमना युवक हैं। आपके पूज्य पिता श्री चन्द्रमोहन सिंह जी एक मुलझे हुए विचारक थे। आपके मातेश्वरी का नाम कृष्णा कुमारी था। जो महासती पुष्पवती जी म० की आप सगी मौसी थी। आप पर उनका अपार स्नेह था। मां की तरह आपने उनका पालन-पोषण भी किया था और जब पुष्पवतीजी ने दीक्षा ग्रहण की थी उस समय भी उनका हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ था।

आपका पूरा परिवार उपाध्यायश्री जी, उपाचार्य श्रीजी व महासती पुष्पवतीजी म० के प्रति पूर्ण समर्पित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है, एतदर्थ साधुवाद !

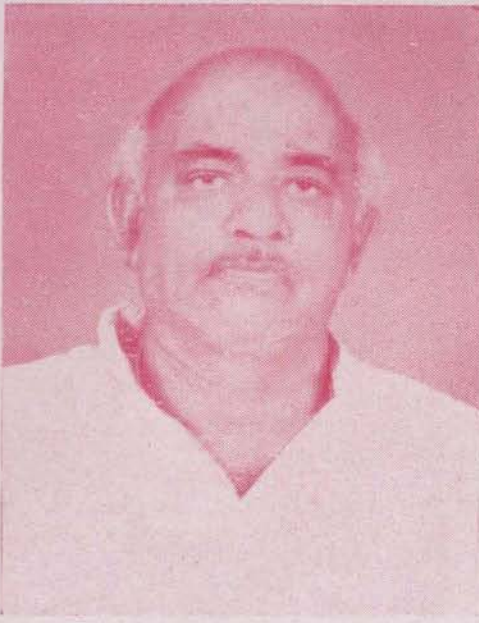


**श्रीमान नाथूलालजी**  
**पन्नालालजी सेठ**  
गोगुन्दा (राज.)

श्रीमान नाथूलालजी सेठ एक सरलमना व्यक्ति हैं। आपके पूज्य पिताश्री का नाम पन्नालालजी सेठ था। जो महासती श्री पुष्पवतीजी म. के सांसारिक मामा थे। उनका अपार स्नेह महासती पुष्पवतीजी पर था। श्रीमान नाथूलालजी और उनका पूरा परिवार श्रद्धेय उपाध्याय श्रीजी, उपाचार्य श्रीजी व महासतीजी के प्रतिपूर्ण समर्पित है।

आप राजस्थान में गोगुन्दा के निवासी है जहाँ महाराणा प्रताप को राजतिलक हुआ। और आपका व्यवसाय सूरत में वस्त्र का और कोटा में दवाइयों का है।

आपका प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है। एतदर्थ हार्दिक धन्यवाद !



### श्रीमान बलवन्तराजजी कांठेड मद्रास

श्रीमान बलवन्तराजजी कांठेड उदारमना धर्म-परायण मुश्रावक हैं। आप राजस्थान में बगड़ी ग्राम के निवासी हैं। आपकी धार्मिक भावना प्रशंसनीय है। आप सन्त-सतियों की सेवा करने के अतिरिक्त स्वधर्मी बन्धुओं की सेवा करने में अगुआ रहे हैं। वर्तमान में आपका व्यवसाय मद्रास में है।

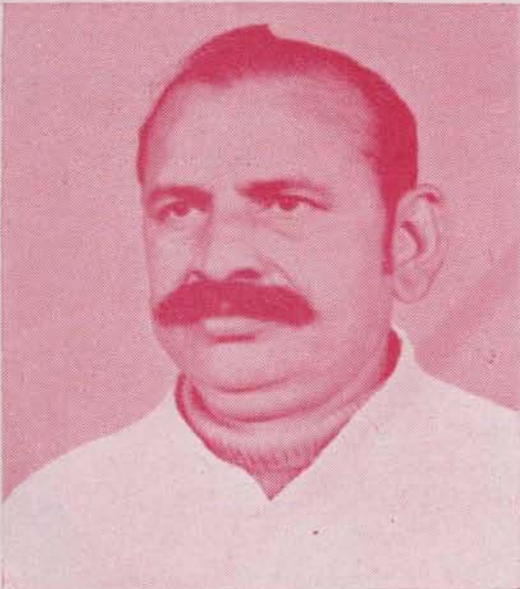
प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है। एतदर्थ धन्यवाद !



### श्रीमान फूलचन्दजी गोखरू बनेड़ा (राज.)

श्रीमान फूलचन्दजी सा० गोखरू एक तेजस्वी कर्मठ कार्यकर्ता हैं। आपकी भक्ति भावना को ही निहारकर महासती पुष्पवतीजी ने बनेड़ा वर्षावास किया था। आप प्रतिवर्ष सन्त-सतियों की सेवा व दर्शन का लाभ लेते रहते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपने हार्दिक सहयोग प्रदान किया। एतदर्थ साधुवाद !



### श्रीमान छोटमलजी मुन्नीलालजी मेहता जालौर (राज०)

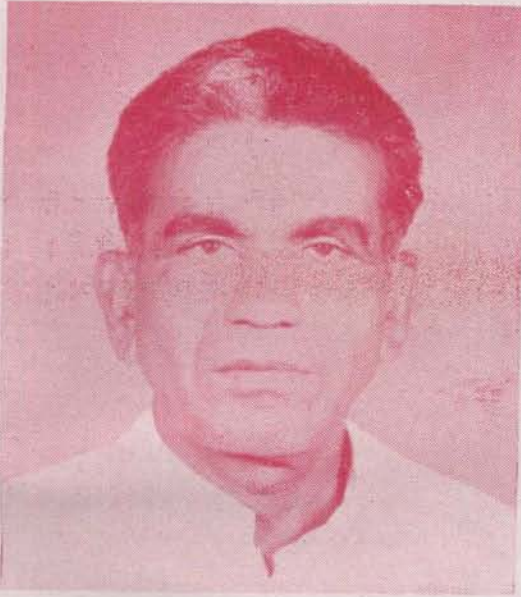
श्रीमान छोटमलजी सा० मुन्नीलालजी मेहता गढ़ जालौर के निवासी हैं। गढ़ जालौर एक ऐतिहासिक स्थल है। जहाँ पर आचार्य श्री पूनमचन्द जी म० ने जन्म ग्रहण किया और उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० ने दीक्षा ग्रहण की। उसी स्थान पर आपका जन्म हुआ। आप परम गुरुभक्त हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपने अपना हार्दिक अनुदान प्रदान किया है। एतदर्थ साधुवाद !

श्रीमान गेहरीलालजी मेवाड़ में सेमा ग्राम के निवासी हैं। आप में धार्मिक भावना विशेष है और सन्तों के प्रति अपार निष्ठा है। आप वर्षों से वर्षीतप की आराधना कर रहे हैं। आपके मांगीलाल, मूलचन्द, कान्तिलाल, वर्धमान ये चार सुपुत्र हैं। आपकी तरह अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती लेहरीबाई भी धर्म-परायणा तपस्विनी महिला हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रद्धापूर्ण अनुदान प्राप्त हुआ है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद !



श्रीमान गेहरीलालजी, सौ. लेहरीबाई कोठारी

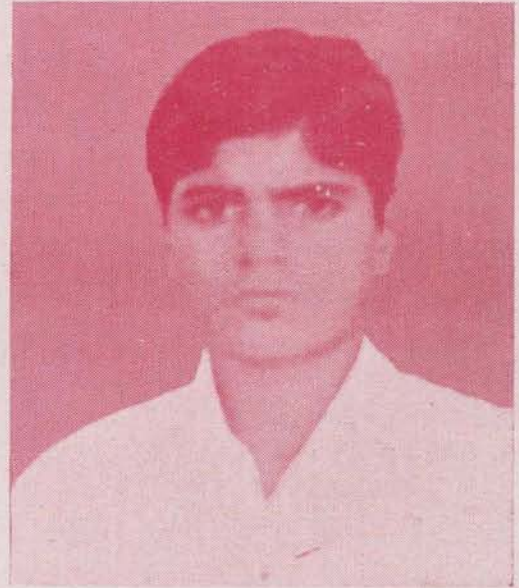


श्रीमान सोहनलालजी जैन  
नाथद्वारा (राज०)

श्रीमान सोहनलालजी सा० जैन नाथद्वारा के निवासी हैं। परम विदुषी साध्वीरत्न पुष्पवतीजी म. के वर्षावास में अपने सेवा भक्ति कर अपनी हृदय की संपूर्ण भक्ति प्रदर्शित की थी।

आप उपाध्याय श्रीजी, उपाचार्य श्रीजी व महा-सती पुष्पवतीजी म. के प्रति गहरी निष्ठा रखते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है। एतदर्थ धन्यवाद।



स्व० हरीशकुमार चांदमलजी मादरेचा,  
ढोल (उदयपुर राज०)

स्व. हरीश कुमार ढोल निवासी चांदमलजी मादरेचा के सुपुत्र थे। आप एक होनहार बालक थे आपका १८ वर्ष के लघुवय में स्वर्गवास हो गया। आपकी पुण्य स्मृति में पूज्य पिताश्री ने अपना हार्दिक अनुदान प्रदान किया है। एतदर्थ साधुवाद।

□

( १७ )





श्रीमती सौ० रतनबाई संग्रामसिंहजी मेहता  
उदयपुर (राज०)

श्रीमती सौ० रतनबाई मेहता एक धर्मपरायण सुश्राविका है। आपके पूज्य पिता श्री का नाम कन्हैयालाल जी लोढ़ा और मातेश्वरी का नाम राजबाई है। आपके आजाद, भगवती दो भाई हैं तथा शकुन्तला देवी, कंचन देवी और श्री प्रियदर्शना ये तीन बहिनें हैं। उसमें से प्रियदर्शना जी ने महासती श्री पुष्पवती जी का शिष्यत्व स्वीकार किया है।

आपका पाणिग्रहण श्री संग्रामसिंहजी मेहता के साथ सम्पन्न हुआ। संग्रामसिंहजी बहुत ही भद्र-प्रकृति के सज्जन हैं।

आपका पूरा परिवार उपाध्यायश्रीजी उपाचार्य श्री जी व महासती श्री पुष्पवतीजी के प्रति समर्पित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपने हार्दिक अनुदान प्रदान किया। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद !



श्रीमती सौ० भागवन्ती बाई धर्मपत्नी  
श्री रोशनलालजी झगड़ावत  
उदयपुर (राज०)

श्रीमती भागवन्ती बाई श्री रोशनलालजी सा. झगड़ावत डबोक निवासी की धर्मपत्नी हैं। आप बहुत ही धर्मपरायणा है। आपकी गुरु भक्ति धर्म भावना बहुत ही प्रशसनीय है। आपका पूरा परिवार श्रद्धेय उपाध्याय श्री और उपाचार्य श्री के प्रति पूर्ण समर्पित है।

आपकी अपार निष्ठा महासती श्री पुष्पवतीजी के प्रति है। आपकी अनाज की दुकान उदयपुर में है।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन में आपने अतीव श्रद्धा पूर्वक अनुदान प्रदान किया है।

एतदर्थ साधुवाद !

---

---

प्रथम खण्ड

---

---

सन्देश  
शुभ कामनाएं  
अमिनन्दन  
अमिवन्दन





# आशीर्चन

नाणेणं दंसणेणं च,  
चरित्तेण तहेव य ।  
खंतीय मुत्तीए,  
वड्ढमाणो भवाहि य ॥

तुम ज्ञान, दर्शन चारित्र क्षान्ति-क्षमा और मुक्ति निर्लोभता के द्वारा आगे बढ़ो ।

—उत्तराध्ययन सूत्र २२/२३

जय जय नन्दा ! जय जय भद्रा ! भद्रं ते !

अभग्गेहि नाण—दंसणचरित्तेहि

अजियाइं जिणाहि इंदियाइं

जियं च पालेहि समणधम्मं ॥

हे नन्द ! आपकी जय हो ! विजय हो ! हे भद्र ! आपकी जय हो ! जय हो ! आपका भद्र (कल्याण) हो । निरतिचार ज्ञान-दर्शन और चारित्र से तुम नहीं जीती हुई इन्द्रियों को जीतो, जीते हुए श्रमण धर्म का पालन करो ।

—कल्पसूत्र ११२

## आशीर्वचन

--आचार्य सम्राट श्री आजठदत्तभिजी म.

श्रमणसंघ स्थानकवासी जैन समाज का एक विशिष्ट संघ है। इस संघ में जहाँ अनेकों मूर्धन्य मनीषीगण हैं, अनेकों तत्त्व-चिन्तक, सन्तगण हैं, अनेकों प्रखर प्रवक्ता मुनिराज हैं तो अनेक प्रताप-पूर्ण प्रतिभा की धनी साध्वियाँ भी हैं। जिनमें चिन्तन की गहराई है और विरोधी विचारों का समन्वय करने की अद्भूत क्षमता है। अनेकों प्रवचन विशारदा साध्वियाँ भी हैं। जिनकी वाणी में जादू है। जब वे बोलती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि सरस्वती पुत्रियाँ बोल रही हैं। उन विद्वान सन्त और सतियों पर जो जिनशासन की प्रबल प्रभावना करती है, उन पर मुझे सात्विक गौरव है।

परम विदुषी साध्वियों में महासती पुष्पवतीजी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। वे एक प्रतिभा सम्पन्न साध्वी हैं। मेरा उनका परिचय जब श्रमणसंघ नहीं बना था, उसके पूर्व का है। मैं उस समय पाँच सम्प्रदाय का आचार्य था। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज एक बने। इसी भव्य भावना से उत्प्रेरित होकर मैं महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज के पास सन् १९५० में पहुँचा। उस समय साध्वीरत्न महासती श्री पुष्पवतीजी भी महास्थविरजी म० की सेवा में ही विराज रही थी।

प्रारम्भ से ही मेरी रुचि ज्ञान-साधना की ओर रही है। "पढमं नाणं तओ दया" के सिद्धान्त के अनुसार पहले ज्ञान आवश्यक है क्योंकि "नाणं पयासयं" ज्ञान प्रकाशक है। बिना ज्ञान के क्रिया सम्यक् नहीं हो सकती। अतः श्रमण एवं श्रमणियों को पहले ज्ञान-साधना में आगे बढ़ना चाहिए। मुझे उस समय यह जानकार हार्दिक आह्लाद हुआ कि महासती पुष्पवतीजी ने संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के उच्चतम ग्रन्थों का अध्ययन किया है। मैंने परीक्षा की दृष्टि से अनेक प्रश्न किये। सन्तोषप्रद उत्तर सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। मुझे यह जानकर उस समय भारी आश्चर्य हुआ कि राजस्थान; जो एक रूढ़ि चुस्त क्षेत्र है, जहाँ का महिला वर्ग अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही पिछड़ा हुआ है, वहाँ पर महासतीजी ने संस्कृत-प्राकृत की उच्चतम परीक्षायें समुत्तीर्ण की हैं।

उसके पश्चात् सन् १९५३ में सोजत मंत्रिमंडल की बैठक में पुनः महासतीजी को देखने का अवसर मिला। मैं उस समय श्रमणसंघ का प्रधानमंत्री था। प्रधानमंत्री होने के नाते मेरा उत्तरदायित्व था कि मैं सभी सन्त-सतियों से पूछूँ कि उनका संयमी जीवन प्रगति पर तो है न? ज्ञान-ध्यान की आराधना सम्यक् प्रकार से तो हो रही है न? मैंने



महासतीजी से वार्तालाप के प्रसंग में नय और निक्षेप के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की। महासतीजी ने बहुत ही मधुर शब्दों में कहा—अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विवक्षित धर्म का ग्रहण करना और अन्य धर्मों का खण्डन न करने वाला विचारनय है। वस्तु में अनन्त धर्म हैं। जब किसी एक धर्म का प्रतिपादन किया जाता है तब उन अनन्त धर्मों के सम्बन्ध में कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि वाणी में उन अनन्त धर्मों की अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं है। वाणी के द्वारा कुछ धर्मों का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। जो कुछ कहा जाता है अथवा बचन की सारी विवक्षाएँ नय हैं। अपर शब्दों में कहा जाय तो प्रमाण से परिग्रहीत वस्तु के एक देश में जो वस्तु का निश्चय होता है वह नय है। द्रव्यायिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का विषयभूत जो तत्त्वार्थ के ज्ञान का हेतु है वह निक्षेप है। निक्षेप का प्रयोजन है प्रस्तुत की व्याख्या करके संशय को दूर करना। नय के सात और निक्षेप के चार प्रकार हैं।

सन् १९६४ में अजमेर में शिखर सम्मेलन का आयोजन था। मैं भी घाटकोपर बम्बई का वर्षावास सम्पन्न कर अजमेर पहुँचा। महासती पुष्पवती जी उस समय अपनी सद्गुरुणी श्री सोहनकुँवरजी महाराज के साथ वहाँ पर विराज रही थी। महासती सोहनकुँवरजी एक तपी-तपायी प्रतिभा की धनी साध्वी थी। उनका जीवन बहुत ही तेजस्वी था। वे महास्थविरा थी। इस सम्मेलन में मुझे श्रमणसंघ का आचार्य बनाया गया। चतुर्विध संघ का अपार स्नेह मुझे प्राप्त हुआ। इस सम्मेलन में

जब भी मुझे समय मिला तब मैं सभी सन्त-सतियों को उनके आध्यात्मिक समुत्कर्ष के सम्बन्ध में पूछता रहा। एक दिन साध्वियों की संगोष्ठी भी रखी गई थी। उस संगोष्ठी में महासती पुष्पवतीजी ने अनेकान्तवाद पर अपने विचार अभिव्यक्त किये थे।

मैं चाहता हूँ कि हमारे संघ में साध्वियाँ ज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ें। यदि वे ज्ञान में आगे बढ़ेंगी तो श्राविका समाज को नया दिशा दर्शन दे सकेंगी। उन्हें रूढ़ियों से मुक्त करा सकेगी। बालकों में धार्मिक संस्कार समुत्पन्न कर सकेंगी। श्री देवेन्द्र मुनि हमारे संघ के एक तेजस्वी संत हैं जिनके सद् प्रयास से महासती पुष्पवतीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व को उजागर करने वाला अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। स्थानकवासी समाज में यह एक पहला प्रयास है। इस प्रयास में आशा करता हूँ स्थानकवासी समाज का जो साध्वियों का अज्ञात इतिहास है वह उजागर होगा और अनेक नये तथ्य प्रकाश में आयेंगे।

मैं महासती पुष्पवतीजी को हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करता हूँ, कि वे सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यग्चारित्र के क्षेत्र में प्रतिपल, प्रतिक्षण प्रगति करें। पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न रहकर जिन शासन की प्रभावना में चार चाँद लगावें। भगवान महावीर के शब्दों में—

नाणेणं दंसणे णं च,  
चरित्तेण तहेव य।  
खंतोय मुत्तीए,  
वड्ढमाणो भवाहि य ॥

● ● ●



सन् १९३७ का यशस्वी वर्षावास मनमाड़ महाराष्ट्र का सानन्द सम्पन्न कर श्रद्धेय गुरुवर्य महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज मालव की पुण्य भूमि को पावन करते हुए सन् १९३८ में उदयपुर पधारे। उस समय उदयपुर में हमारी सम्प्रदाय की महास्थविरा महासती श्री मदनकुंवरजी महाराज विराज रही थी। उनकी सेवा में परम विदुषी साध्वीरत्न तपोमूर्ति महासती श्री सोहनकुंवरजी महाराज थी। महासती श्री सोहनकुंवरजी बहुमुखी प्रतिभा की धनी अध्यात्मयोगिनी साध्वी थी। उन्होंने अपनी माता व दो भाइयों के साथ नौ वर्ष की उम्र में संयम मार्ग स्वीकार किया था। उनमें अपूर्व तेज था तथा संघ-संचालन की अद्भुत कला थी। वे पूज्य गुरुदेव के सामने पधारी। उस समय अन्य शिष्याओं के साथ ही दो लघु शिष्याएँ भी थी। उन शिष्याओं का परिचय प्रदान करती

डिया की सुपुत्री है। जो उदयपुर के निवासी हैं। इसकी माताजी तीज कुंवर और इसके छोटे भाई धन्नालाल को भी उत्कृष्ट भावना है। इसके माताजी का हाथ जल जाने से वे दोनों इस समय उपचार के लिए हिंमतनगर अपने भाई के पास गई हुई हैं। जो वहाँ पर सर्जन हैं।

गुरुदेव श्री ने पूछा—इन दोनों की अभी बहुत छोटी उम्र है। ये क्या अध्ययन कर रही हैं ?

महासती सोहनकुंवरजी ने बताया कि उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और विषाक सूत्र आदि कण्ठस्थ किये हैं तथा ७०-८० श्लोक भी याद किये हैं। अभी मैं इन्हें शास्त्रों की वाचना दे रही हूँ।

गुरुदेव श्री ने मुझे अपने पास बुलवाया और कहा—कि युग बदल चुका है, इस युग में विना अध्यायन के न स्वयं को स्वावलम्बी बना सकते हैं और न दूसरों के प्रश्नों का समाधान ही कर सकते हैं। इसीलिए मैंने पुष्कर को व्याकरण, न्याय और साहित्य का अध्ययन करवाया। अब यह जैसा मार्ग दर्शन दें वैसा इन दोनों का अध्ययन करवाओ। ये दोनों प्रतिभासम्पन्न लगती हैं। ये समाज का उत्थान भी करेंगी।

गुरुदेव के आदेश को पाकर मैंने महासतीजी श्री सोहनकुंवरजी से कहा—सबसे पहले भाषा की विशुद्धि आवश्यक है और वह विशुद्धि व्याकरण के द्वारा ही हो सकती है। धातु और प्रत्यय के संश्लेषण और विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन का विचार व्याकरण में होता है। लक्ष्य और लक्षणों के द्वारा सुव्यवस्थित वर्ण न करना ही व्याकरण का समुद्देश्य है। व्याकरण शब्दों की उत्पत्ति और उनके निर्माण की प्राणवन्त प्रक्रिया का रहस्य भी

## विकास की कहानी,

### गुरु की जुबानी

-उपाध्याय श्री पुष्कर मुजिजी म.

हुई, उन्होंने बताया कि इस साध्वी का नाम कुसुमवती है। ये देलवाड़ा के निवासी गणेशलालजी कोठारी की सुपुत्री हैं और इसका नाम गृह स्थाश्रम में नजरबाई था। यह अपनी माताजी कैलाशकुंवर के साथ सन् १९३६ में मेरे पास दीक्षित हुई है और दूसरी महासती है पुष्पवती। यह जीवनसिंह वर-



व्याकरण से ही परिज्ञात होता है। ये शब्दों के जो विविध रूप हैं उसके अन्दर जो मूल संज्ञा और धातु रहते हैं, उसके स्वरूप का निश्चय और उन शब्दों में प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया भी व्याकरण से ही ज्ञात होती है। धातु और प्रत्यय के द्वारा अर्थों का निश्चय भी व्याकरण के द्वारा ही होता है। व्याकरण भाषा का अनुशासन करता है। इसलिए सर्वप्रथम व्याकरण का अध्ययन करवाया जाय और साथ ही साहित्य का भी। हमारा जो मूल आगम साहित्य है उन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी है और उन आगमों का व्याख्या-साहित्य प्रायः संस्कृत में है। इसलिए सर्वप्रथम संस्कृत और प्राकृत का ज्ञान आवश्यक है। पल्लव-ग्राही पाण्डित्य नहीं, मूलग्राही पाण्डित्य अपेक्षित है। अतः आप इन्हें व्याकरण का अध्ययन करवाएँ।

मुझे यह लिखते हुए अपार हर्ष है कि विदुषी महासती सोहनकुंवरजी ने मेरे सुझाव को सुना ही नहीं, किन्तु उसे मूर्त रूप देने के लिए वे कटिबद्ध हो गईं। उन्होंने एक सुयोग्य पण्डित की व्यवस्था की और उनसे संस्कृत व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भ करवाया।

वह युग था। जब राजस्थान में महिलाएँ बहुत कम पढ़ती थीं। उनकी यह मान्यता थी कि एक घर में दो कलम नहीं चलनी चाहिए। फिर स्थानक-वासी परम्परा तो क्रियानिष्ठ रही। उसका मूल आधार ही क्रिया थी। क्योंकि स्थानकवासी परम्परा का उद्भव ही ज्ञान को लेकर नहीं अपितु क्रिया को लेकर हुआ था। इसलिए वे महापुरुष क्रियोद्धारक के रूप में विश्रुत हुए। जब सन्त भी व्याकरण के अध्ययन से कतराते थे। तो सतियों का अध्ययन समाज को चौंकाने वाला था। कुछ सज्जनों ने तथा सन्त भगवन्तों ने भी इसका विरोध किया। किन्तु विरोध के वातुल से महासतीजी घबराने वाली नहीं थी। वे वीरांगना थी। उन्होंने सभी को सटीक जवाब दिया। अध्ययन के पश्चात् शिष्याओं को क्विस-कालेज, वाराणसी की सम्पूर्ण काव्य मध्यमा और सम्पूर्ण व्याकरण मध्यमा परीक्षाएँ

दिलवाईं। जैन न्याय और दर्शन का अध्ययन करने हेतु कुछ साध्वियों के साथ उन्हें ब्यावर जैन गुरुकुल में भी रखा। लगभग एक वर्ष तक वहाँ रहकर उन्होंने न्याय आदि का अध्ययन किया। उसके पश्चात् पुष्पवतीजी ने उदयपुर केन्द्र से साहित्य रत्न की परीक्षा भी समुत्तीर्ण की। और जैन सिद्धान्ताचार्य का अध्ययन किया। इस प्रकार राजस्थानी सतियों में इन दोनों साध्वियों ने सर्वप्रथम व्यवस्थित अध्ययन कर परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की।

सन् १९४० में महासती पुष्पवतीजी के लघु भ्राता धन्नालाल ने नौ वर्ष के लघु वय में हमारे पास दीक्षा ग्रहण की और उसकी दीक्षा के चार माह पश्चात् मातेश्वरी तीजकुंवर ने भी महासती श्री सोहनकुंवरजी के पास दीक्षा स्वीकार की।

महासती पुष्पवतीजी के अनेक वर्षावास मेरे सान्निध्य में हुए हैं। मेरे से उन्होंने आगम और टीका ग्रन्थों का अध्ययन किया है। मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता है कि अध्ययन के साथ उसमें नम्रता है, सरलता है, स्वभाव में कोमलता है। कभी भी वे निरर्थक वार्तालाप नहीं करती हैं। उसके जीवन में श्रद्धा और विवेक का अमूठा संगम है। वह चिन्तन-मनन स्वाध्याय और ध्यान में सदा लीन रहती है। वह उदारचित्त, समन्वय-साधिका हैं। मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ भाव उसमें आत्मसात् कर लिया है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे प्रसंग पर मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि वह खूब अध्ययन करें, चिन्तन करें, आगमों का स्वाध्याय करें। जप और तप की साधना करें। खूब सेवाभावी, विद्वान् जिध्याएँ बनें तथा भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमणकर अपने ओजस्वी, तेजस्वी मौलिक प्रवचनों से जन-जीवन को प्रेरणा प्रदान करें। गुरु और गुरुणी के नाम को अधिकाधिक रोशन करें और उनकी प्रतिभा दिन-दूनी और रात चौगुनी विकसित हो।





गुणवान आत्मा का सम्मान करना गुणशों का कार्य है, यूँ तो संसार में लाखों और करोड़ों मानव है पर जिनके जीवन में प्रकाश होता है उन्हीं की ओर जन मानस का ध्यान केन्द्रित होता है। सूर्य और चन्द्र ये दोनों प्रकाशमान हैं, सूर्य के प्रकाश में

उसे पृथक करता है। वैसे ही जिनमें ज्ञान की चमक हो, दर्शन की दमक हो और चारित्र्य की प्रभा हो वे ही सतियाँ रत्न कहलाती हैं। महासती पुष्पवतीजी साध्वी रत्न हैं उनके जीवन में अनेक सद्गुणों का साम्राज्य है।

## चमकता सूरज : दमकता जीवन

--प्रवर्तक श्री कल्याण ऋषिजी म.



तेज होता है, इस कारण उसकी ओर कोई व्यक्ति देख नहीं पाता, उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं जबकि चन्द्र के प्रकाश में सौम्यता होती है, जिसको निहारने से नेत्रों को शान्ति मिलती है। प्राचीन साहित्य में यह भी लिखा है कि चन्द्रमा से अमृत भी झरता है, सन्त पुरुषों का जीवन भी चन्द्र की तरह सौम्य होता है, उनके गुणों का उत्कीर्ण करने से जीवन में शान्ति का अनुभव होता है और उनके दर्शन करने से जीवन में अभिनव चेतना का संचार होता है।

महासती पुष्पवतीजी हमारे श्रमणवंश के उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी की ज्येष्ठ भगिनी हैं पूना सन्त सम्मेलन के सुनहरे अवसर पर आपको देखने का सुखद अवसर मिला, आपको सरलतानम्रता-सौम्यता आदि सद्गुणों को देखकर मैं प्रभावित हुआ। आपने लघु वय में भोगों का परित्याग कर वीरांगना की तरह संयम साधना की ओर अपने सुदृढ़ कदम बढ़ाए और आज आप साध्वीरत्न के पद पर पहुँची हैं।

केवल दीक्षा लेना ही पर्याप्त नहीं है, दीक्षा लेकर शिक्षा प्राप्त करना और सद्गुणों से जीवन को चमकाना आवश्यक है। सामान्य पत्थर रत्न नहीं कहलाते, रत्न वे कहलाते हैं जिनमें चमक-दमक होती है। ऐसा पानी होता है जो अन्य पत्थरों से

## गुणों की खान

--उपप्रवर्तक तपस्वी

श्री सुदर्शन मुनि

नारी समाज की अद्भुत शक्ति है—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' जहाँ पर नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता वास करते हैं। यह एक पुरातन सांस्कृतिक सूत्र है जिसमें पुण्यशीला नारियों के प्रति हार्दिक श्रद्धा व्यक्त की गई है। नारी ऐसी दिव्य शक्ति है जो पुरुष में क्षमता और सहनशीलता का संचार करती है, स्वयं जागृत रहकर अपने ध्येय की ओर बढ़ती है। नारियों के आदर्श बलिदानों से भारतीय इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं। उनकी कठोर तपस्या, उनकी सेवा, संवेदना उनका त्याग, उनकी साहस की गाथाएँ जन-जीवन को प्रेरणा प्रदान करती हैं वे राष्ट्र की थाती हैं उनका आदर्श अप्रतिहत है, वह प्रेरणा की उर्वरा भूमि है। पुरुष समाज का मस्तिष्क है तो नारी हृदय है। हृदय का योगदान मिलने से मस्तिष्क का ताप शान्त होता है और कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।



इतिहास के विद्यार्थियों को ज्ञात है कि जिन-शासन को विकसित करने में साध्वियों का अपूर्व योगदान रहा है। साध्वियों ने जिनशासन की गरिमा में सदा चार-चाँद लगाए हैं। उन्हीं गुण नधि साध्वियों में महासती पुष्पवतीजी का नाम बिड़े गौरव के साथ लिया जा सकता है। वे गुणों की खान हैं। उनका सरल, उदार एवं धुर स्वभाव लोकप्रियता का प्रमुख कारण है। आपकी कर्त्तव्य-निष्ठा और धर्म परायणता आपके अद्भुत व्यक्तित्व को निखारने में प्रमुख रही है। आप में जो सद्गुण हैं वे सद्गुण पूज्यनीया माता महासती प्रभावती

जी और अध्यात्मयोगिनी सद्गुरुणी श्री सोहन कुंवर जी से विरासत में मिले हैं। उन सद्गुणों को आपने अधिकाधिक विकसित करने का प्रयास किया है। आप अनुशासन में रहकर संयम और चारित्र के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन कर रही हैं और जन-जन को प्रेरणा दे रही हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के मंगलमय अवसर पर मेरी शुभ कामनाएँ और भावनाएँ हैं आप दीर्घायु बनें और शारीरिक मानसिक-बौद्धिक-अध्यात्मिक दृष्टि से स्वस्थ बनी रहकर जैन समाज का उत्कर्ष करती रहें।

ॐ

## महासती श्री पुष्पवती जी की साधना का क्रमिक विकास

—अ० प्र० मुनि कन्हैयालाल “कमल”

सतीजी की संयम-साधना के विकास क्रम की रूपरेखा—

उनकी सर्वप्रथम स्त्री पर्याय है, तदनन्तर श्रमणी पर्याय और साध्वी पर्याय है।

स्त्री शब्द में तीन हलन्त व्यंजन है और एक दीर्घ स्वर है।

प्रथम हलन्त व्यंजन “स” सतोगुण का व्यंजक है।

द्वितीय हलन्त व्यंजन “त” तमोगुण का व्यंजक है।

तृतीय हलन्त व्यंजन “र” रजोगुण का व्यंजक है।

एक दीर्घस्वर “ई” ईश्वरीयभाव/स्वामित्व का सूचक है।

स्त्री जब सतोगुण धारण करती है तो वह उसमें पूर्ण हो जाती है, इसी प्रकार वह रजोगुण, तमोगुण में भी परिपूर्ण हो जाती है।

सतोगुणी “सती” जैसी अनेक स्त्रियाँ हुई है, और होंगी,

तमोगुणी “चामुण्डा” चण्डिका आदि अनेक हुई है, और होंगी,

रजोगुणी “अनंगसेना” आदि अनेक हुई है, और होंगी,

सती पुष्पवती स्त्री पर्याय से जब “श्रमणी” पर्याय में आई तो उनने श्रमणीति स्वीकार की। स्वाध्याय ध्यान आदि में निरन्तर लगी रह कर संयमसाधना की सिद्धि के लिए उनने अथक श्रम किया।

सदा सतोगुणी रहकर जो बाल्यकाल, युवाकाल और वृद्धत्व इन तीनों अवस्थाओं को निर्विघ्न पार कर लेती है वही “सती” होती है।

चंचल तन, मन, वचन के स्थैर्य के लिए वह “साध्वी” पर्याय में आई।

सात्विक चर्या से कर्मरज को ध्वस्त करती हुई और वीतराग प्ररूपित पथ का अनुसरण करती हुई ग्रामानुग्राम विहार कर रही है।

शासनेश की अनवरत आराधना से उसे अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी।

□

महासती श्री पुष्पवतीजी की साधना का क्रमिक विकास | ७





निश्चय ही मोक्ष-मार्ग में स्थित उन (साध्वी) के महाव्रतों की ओर चरण-करण रूप गुणों की सदा ही मेरी अनुमोदना है।

माण्ड्याणं गुणा चैव, जहत्थ-वाइ सासणे ।

श्रीणं वा पुरिसाणं वा, पक्खवाओ न कम्हिवि ॥७॥

यथार्थवादी (जिनेश्वरदेव) के शासन में स्त्री या पुरुष के गुण ही आदर के कारण या स्थान है। (इस विषय में) किसी के भी प्रति पक्षपात नहीं है।

धम्मन-पहावणा ताए, जण-उद्धारणा तथा ।

चराभिणंदणिज्जा हि, बुद्धिग्गा होउ सासणे ॥८॥

उसी प्रकार उन (साध्वी जी) की धर्म-प्रभावना और लोकोद्धार की क्रिया श्रेष्ठ और अभिनन्दन के योग्य है। वास्तव में (उनकी वे क्रियाएं) (श्री जिन) शासन में वृद्धि करने वाली होंगी।

जिण-संध-पुंडरीए, सा य महुपरी पिवेज्ज सुगुणरसं ।

पुदिंठ वरेज्ज तुदिंठ, लभेज्जओ सासय-सिव-पुहं ॥९॥

वे (साध्वी रूरी) मञ्जुकी जिनशासन रूपी पुण्डरीक-कमल में श्रेष्ठ गुणरूपी मकरंद का पान करें, जिससे (वे) (आत्म-गुणों की) पुष्टि और परम तुष्टि का वरण करें। तथा मोक्ष के शाश्वत मुख को प्राप्त करें।

## प्रबल प्रतिभा की धनी

### ● प्रवर्तक भंडारी श्री पद्मचन्द जी महाराज

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी श्रमणसंघ की एक ज्योतिर्मय व्यक्तित्व की धनी साध्वी हैं। सन् १९६४ में अजरामरपुरी अजमेर में शिखर सन्त सम्मेलन का भव्य आयोजन था। इस सन्त सम्मेलन में भारत के विविध अंचलों से सन्त भगवन्त पधारे थे। मैं भी उस सम्मेलन में प्रतिभा र्गनि उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज के साथ अपने शिष्य अमर मुनि के साथ पहुँचा।

इसके पूर्व जितने भी सम्मेलन हुए उसमें नहीं पहुँच सका था। प्रथम बार पूज्य भगवन्तों के दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला। इस सम्मेलन में अनेक तेजस्वी सन्त पधारे थे। उनमें एक उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज भी थे। पुष्कर मुनि

जी महाराज और कविजी महाराज सम्मेलनों में अनेक बार साथ रह चुके थे। तथा जयपुर में सन् १९५५ में एक साथ वर्षावास भी कर चुके थे। कवि श्री के साथ बहुत ही गहरा उनका स्नेह सम्बन्ध था। कविश्री ने उनका परिचय दिया और कहा ये मंत्री पुष्कर मुनिजी महाराज हैं। ये इनके शिष्य देवेन्द्र मुनि हैं। उसी समय कुछ साध्वियाँ दर्शन हेतु वहाँ पर पधारीं। कविश्री ने कहा ये देवेन्द्र मुनिजी की माता प्रभावतीजी हैं और ये देवेन्द्र मुनिजी की बहिन पुष्पवतीजी हैं। प्रथम परिचय में ही मैं उनके सौम्य और तेजस्वी चेहरे को देखकर प्रभावित हुआ।

वार्तालाप में मुझे यह अनुभव हुआ कि महासती



प्रभावतीजी स्तोक (थोकड़े) साहित्य का गम्भीर अध्ययन हैं। जैन आगम के गम्भीर रहस्यों को समझने के लिए स्तोक साहित्य कुंजी के समान है। महासती पुष्पवतीजी को आगम व्याकरण न्याय और दर्शन का महारा परिज्ञान है। मैंने सहज ही महासती से पुष्पवतीजी पूछा—व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि किसे कहते हैं? महासतीजी ने कहा—निगोद के जीव जो निगोद को छोड़कर अन्य किसी भी गति या स्थान पर उत्पन्न न हुए हों, वे जीव अव्यवहार राशि कहलाते हैं। और व्यवहार का अर्थ भेद-विभाग है। जो जीव अनेक भेदों में विभक्त हैं वे व्यवहार राशि के जीव कहलाते हैं। व्यवहार का दूसरा अर्थ उपभोग भी है जो जीव हमारे व्यवहार में यानि उपयोग में आते हैं वे व्यवहार राशि के जीव हैं। निगोद के सूक्ष्म जीव अव्यवहार राशि के जीव कहलाते हैं। वे सभी जीव समान हैं। उनकी अवगाहना स्थिति, आहार, उच्छ्वास निःश्वास, आदि में कोई अन्तर नहीं होता। इन जीवों के जन्म और मृत्यु भी साथ-साथ ही घटित होते हैं। अव्यवहार राशि के जीवकाल लब्धि के योग से व्यवहार राशि में संक्रात होते हैं। अव्यवहार राशि से जीवों का निर्यात होता है, पर आयात नहीं। जैन दार्शनिकों का यह मन्तव्य है कि अव्यवहार राशि के जीव कभी समाप्त नहीं होते। व्यवहार राशि से जितने जीव मुक्त होते हैं, उसकी अति पूर्ति अव्यवहार राशि से होती है। व्यवहार राशि के जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त है। पर वे अव्यवहार गत राशि जीवों के अनन्तवें भाग में भी नहीं आते। वह ऐसा अक्षयकोष है जो कभी भी समाप्त नहीं होता। वहां पर चैतन्य का विकास नहीं होता। अव्यवहार राशि में केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

मैं इतनी स्पष्ट व्याख्या सुनकर प्रभावित हुआ। मैंने दूसरा प्रश्न किया। अशून्यकाल क्या है?

महासतीजी ने बताया—साल नरकभूमियों में जितने जीव वर्तमान में हैं। उन जीवों में से कोई भी जीव नरक से न निकले और न नया उत्पन्न हों।

अर्थात् जितने जीव में वर्तमान हैं उतने ही बने रहें वह काल उन नरक जीवों की अपेक्षा अशून्य काल है।

मैंने पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की—शून्यकाल किसे कहते हैं?

उन्होंने समाधान करते हुए कहा—सातों नरक-भूमियों में से एक जीव वहाँ से निकलकर पुनः वहाँ पर पैदा होता है। तब तक पूर्ववर्ती सभी जीव वहाँ से निकल जाते हैं। एक भी जीव शेष नहीं रहता। वह काल शून्यकाल कहलाता है।

मैंने महासतीजी से पूछा—अपवर्तनकरण और उद्वर्तनकरण किसे कहते हैं?

महासतीजी ने कहा—जीव का वह प्रयत्न जिससे कर्मों की स्थिति में हास होता है, वह अपवर्तनकरण है। तथा जीव का वह प्रयत्न जिससे कर्मों की स्थिति और रस में वृद्धि होती है वह उद्वर्तनकरण है। अपवर्तनकरण और उद्वर्तनकरण इस विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं कि आबद्धकर्म की स्थिति और उसका अनुभाग एकान्त रूप से नियत नहीं है। उनमें अद्यवसायों की प्रबलता से परिवर्तन भी हो सकता है। कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि प्राणी ने अशुभ कर्म का वन्ध किया। उसके पश्चात् वह शुभ कार्य में लग गया। जिसका असर पहले बांधे हुए अशुभ कर्मों पर गिरता है। फलस्वरूप जो लम्बी काल मर्यादा है और विपाक शक्ति की प्रबलता है। उसमें न्यूनता आ जाती है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति ने शुभ कार्य किया और उससे उसने पुण्यकर्म का बन्धन किया। उसके पश्चात् वह पाप कृत्य करता है तो पूर्व बद्ध पुण्यकर्म की स्थिति और अनुभाग में मन्दता आ जाती है।

इस प्रकार मैंने अनेक प्रश्न महासतीजी से किए और उनसे सटीक समाधान सुनकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। मुझे यह अनुभव हुआ कि महासतीजी प्रबल प्रतिभा की धनी हैं।

श्री देवेन्द्र मुनिजी से अजमेर सम्मेलन के पश्चात् सन् १९८४ और १९८५ में देहली, बड़ौत व



मेरठ में लम्बे समय तक साथ रहने का अवसर मिला। उनके द्वारा लिखित और सम्पादित साहित्य को भी मैं पढ़ता रहा हूँ। उनका अपार स्नेह और सद्भावना व श्रद्धा मुझे मिलती रही। उनसे मुझे यह ज्ञात हुआ कि साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी दीक्षा के पच्चास वसन्त पार कर रही हैं। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ का आयोजन हो रहा है। यह पढ़कर मुझे अतीत की सारी स्मृतियाँ चलचित्र की तरह स्मृति-पटल पर चमकने लगी। मेरी इस पावन प्रसंग पर यही मंगल कामना है कि महासतीजी पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न रहकर जिनशासन की खूब प्रभावना करें। ऐसी प्रतिभासम्पन्न साध्वियों पर ही समाज को गौरव है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि वे खूब अपना आध्यात्मिक विकास करें। तथा समाज को सतत् मार्गदर्शन देती रहें।

महावीर के युग में हजारों महिलाएँ भिक्षुणी बनकर तप और त्याग के क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया। नारी का जीवन अतीत काल से ही उच्च आदर्श उपस्थित करता रहा है। भौतिकवाद की आँधी ने नारी की स्वर्णिम छवि को धूमिल कर दिया है, चलचित्रों में नारी का विकृत रूप प्रस्तुत किया जाने लगा है। चाहे कोई भी विज्ञापन हो वहाँ नारी का अर्ध नग्न चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है। जो उसकी गौरव गरिमा के प्रतिकूल है।

प्रसन्नता है जैन धर्म में नारी का एक विशिष्ट रूप अंकित है। वह नारायणी है तप और त्याग की जीती-जागती प्रतिमा है। आधुनिक युग में भी जैन श्रमणियों का स्थान उच्चतम रहा है। परम विदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी नारी की महिमा को बढ़ाने वाली साध्वी हैं उन्होंने संयम साधना और तप: आराधना कर अपने जीवन को चमकाया है।

तप और त्याग की :

जीती जागती प्रतिमा

—उपाध्याय विशाल मुनिजी म.

भारतवर्ष की महान संस्कृति एवं उज्ज्वल परम्परा में नारी का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वह परिवार-समाज और धर्म के क्षेत्र में अपनी महकती भूमिका निभाती रही है, उसमें विविध गुण है, वह ममतामयी माँ है, सहज स्नेह बिखेरती हुई भगिनी है। श्रद्धा स्निग्ध कन्या है, और तनमन को समर्पित करने वाली सहधर्मिणी भी है। वैदिक काल में गार्गी और मैत्रेयी ऐसी विशिष्ट नारियाँ रही हैं जिन्होंने जीवन के सभी सुखों का परित्याग कर एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया था। तो भगवान

मैंने सर्व प्रथम आपको नासिक में देखा। पूना सन्त-सम्मेलन की ओर हमारे कदम तेजी से बढ़ रहे थे। जब हम नासिक पहुंचे तब हमें यह समाचार प्राप्त हुआ कि उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० अपने शिष्य समुदाय सहित नासिक पधार रहे हैं। उपाध्याय श्री जी के दर्शन हम पहले मेरठ में कर चुके थे, उनके चरणों में अनेक बार बैठ चुका था। उनकी हमारे पर असीम कृपा रही है इसलिए हम उनके दर्शन हेतु वहाँ रुक गये। दूसरे दिन महासती पुष्पवतीजी भी वहाँ पर पधार गयी। मुझे ज्ञात हुआ कि आप उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी की ज्येष्ठ भगिनी हैं तो बहुत ही प्रसन्नता हुई। आप से वार्तालाप कर हृदय बहुत ही आल्हादित हुआ।

पूना सन्त सम्मेलन में पुनः आपसे मिलने का अवसर मिला। मैंने देखा, महासतीजी ज्ञान गरिष्ठ और वरिष्ठ हैं, उनमें आगम, दर्शन और तत्त्व सम्बन्धी गम्भीर ज्ञान है किन्तु ज्ञान का उनमें अहंकार नहीं है।

तप और त्याग की जीती जागती प्रतिमा | ११



मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि महासती पुष्पवती जी का अभिनन्दन ग्रन्थ मुद्रित हो रहा है। उन्होंने दीक्षा के ५० बसन्त यशस्वी रूप से संपन्न किए हैं। मैं अपनी ओर से और अपने गुरुदेव तपस्वी रत्न श्री सुमतिप्रकाश जी म० की ओर से यह मंगल कामना करता हूँ कि आप पूर्ण स्वस्थ रहें और खूब धर्म की प्रभावना करें।

□

## • एक बहुमुखी व्यक्तित्व

### का अभिनन्दन

—श्री हीरा मुनिजी म.

स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के पुष्पों का वर्णन है। कितने ही पुष्प दिखने में बड़े ही सुन्दर दिखलाई देते हैं किन्तु उन पुष्पों में गन्ध नहीं होती, उनमें सुगन्ध का पूर्ण अभाव रहता है। कितने ही पुष्प दिखने में सुन्दर नहीं दिखलायी देते, पर उनमें भीनी-भीनी मधुर महक होती है। कितने ही पुष्प न दिखने में सुन्दर होते हैं और न उनमें गंध ही होती है और कितने ही पुष्प दिखने में भी सुन्दर होते हैं और उसकी भीनी महक भी दिल और दिमाग को ताजगी प्रदान करती है। परम विदुषी साध्वीरत्न पुष्पवतीजी चतुर्थ प्रकार के पुष्प है। उनकी आकृति सुन्दर है तो प्रकृति भी उतनी ही मधुर है। वे यथानाम तथागुण हैं। आपका जीवन नम्रता, सरलता, सादगी, स्नेह और सद्भावनाओं से ओत-प्रोत है।

कहा जाता है—काला कलूटा लोहा भी पारस के सम्पर्क से सोना बन जाता है। वैसे ही सामान्य मानव भी सन्त और सतियों की कृपा से महामानव बन जाता है। सन्त और सती वृन्द का जीवन सद्गुणों का पावन प्रतिष्ठान है। वे केवल उपदेशों के

द्वारा ही मार्ग दर्शन नहीं करते पर उनका आदर्श जीवन ही जन-जन के लिए मूक प्रेरणादायी होता है। उनके तप, त्याग का असर सुदूर प्रान्तों में रहने वाले साधकों को भी मार्ग दर्शन प्रदान करता है। प्राणी मात्र के मन में प्रेम का संचार करता है। और उनके सन्निकट पहुंचने पर कर्तव्य की प्रेरणा प्रदान करता है। जो भी उनके प्रति श्रद्धा से नत होता है, वह भव बन्धन से मुक्त होता है।

मुझे महासती जी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य कब मिला? वह तिथि तो स्मरण नहीं है पर जब भी मिला, मैं उनके दिव्य प्रभाव से प्रभावित हुआ। सद् गुरुणीजी श्री शीलकुंवरजी म. के पावन उपदेश को श्रवण कर मेरे में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और मैंने महास्थविर श्री ताराचन्द्र जी म. के चरणारविन्दों में आर्हती दीक्षा अंगीकार की, दीक्षा लेने के पश्चात् गुरुदेव श्री के साथ जब हम उदयपुर पहुँचे; तब वहाँ पर परम विदुषी महासती श्री सोहनकुंवरजी म. अपनी शिष्याओं के साथ विराज रही थी। मेरे से पहले पुष्पवतीजी म० की दीक्षा हो चुकी थी। गुरुदेव श्री उन्हें अपनी मधुर वाणी में हित शिक्षा प्रदान करते थे और मैं भी पास में बैठा-बैठा उस शिक्षा को सुनता था।

महासती पुष्पवती जी के लघु भ्राता श्री देवेन्द्र मुनि जी ने पूज्य गुरुदेव श्री के पास सन् १९४० में दीक्षा ग्रहण की। देवेन्द्रमुनिजी का और मेरा अध्ययन साथ-साथ में चलता रहा, देवेन्द्र मुनि जी के दीक्षा के पश्चात् उनकी पूजनीया मातेश्वरी ने भी दीक्षा ग्रहण की और वे महासती प्रभावती जी के नाम से विश्रुत हुई। महासती प्रभावतीजी को आगम, साहित्य और थोड़े-थोड़े साहित्य का गहरा ज्ञान था। इस प्रकार एक ही घर से माता, वहिन और भाई की दीक्षा सम्पन्न हुई।

महासती पुष्पवतीजी ने छोटी उम्र में दीक्षा लेकर प्रतिभा की तेजस्विता से उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी भाषाओं का गहरा अध्ययन किया। आगम, न्याय, व्याकरण, दर्शन आदि उच्चतम परी-



क्षाएँ समुत्तीर्ण की उनका अध्ययन जितना गहरा है उतनी ही उनमें नम्रता है।

“विद्या ददाति विनयं”

यह युक्ति उनके जीवन में पूर्ण रूप से चरितार्थ हुई है।

बहुत सारे व्यक्ति अध्ययन करने के पश्चात् सेवा से जी चुराते हैं। वे सोचते हैं सेवा करना सामान्य व्यक्तियों का कार्य है पर उन्हें यह पता नहीं कि सेवा का कार्य सामान्य व्यक्तियों का नहीं किन्तु विशिष्ट व्यक्तियों का कार्य है। सेवा एक ऐसा विशिष्ट धर्म है जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का भी अनुबन्धन हो सकता है। मैंने देखा है कि महासती पुष्पवती जी जहाँ ज्ञानी और ध्यानी हैं वहाँ सेवा में भी पीछे नहीं हैं। उन्होंने माताजी प्रभावती जी आदि की खूब सेवा कर एक आदर्श उपस्थित किया है। महासती पुष्पवती जी ने दशवैकालिक पुष्प पराग, सती का शाप, किनारे-किनारे आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और अनेक ग्रन्थों का शानदार

सम्पादन भी किया है। उनकी तेजस्वी प्रतिभा के संदर्शन उन ग्रन्थों में सहज रूप से किया जा सकता है।

हमें हार्दिक प्रसन्नता है कि उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म० सा० के मंगलमय आशीर्वाद से आपके लघु ध्याता श्री देवेन्द्र मुनिजी म० ने साहित्य के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया और पूना सन्त सम्मेलन में आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी म० ने उपाचार्य पद प्रदान कर संघ में सर्वत्र प्रसन्नता का संचार किया, यह हमारे लिए बहुत ही गौरव की बात है।

महासती पुष्पवती जी ने दीक्षा के ५० बसन्त यशस्वी रूप से सम्पन्न किए हैं, उस उपलक्ष्य में अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। मैं इस सुनहरे अवसर पर मंगल कामना करता हूँ कि महासतीजी युग-युग तक स्वस्थ और प्रसन्न रहकर जैन धर्म की ज्योति को जगमगाती रहें।



## एक महकता पुष्प

— साध्वी सुधाकुमारी

अहा ! कितना सुन्दर उद्यान है ! कितनी रमणीयता है। कितना नयनाभिराम आराम है। सर्वत्र सुखद एवं शान्त वातावरण ! भीनी-भीनी मधुर सुवास सुरभित हो रही है। उद्यान का कण-कण महक रहा है। मनमोहक सुन्दर से सुन्दरतर फल-फूलों से लदे हुए वृक्ष हैं। कहीं चमेली, कहीं केवड़ा और कहीं गुलाब आदि चित्ताकर्षक पुष्प

खिल रहे हैं। महक रहे हैं। उद्यान की शोभा को द्विगुणित कर रहे हैं—ये पावन पुष्प !

आखिर यह उद्यान है किसका ? क्या कोई किसी धनी श्रेष्ठी का है अथवा किसी अन्य मनुष्य का ?—अरे ! किस उद्यान की बात है ? क्या यह जो बाहर में खिल रहा है, दमक रहा है ? नहीं.... नहीं ! यह तो कृत्रिम बगीचा है। यहाँ तो प्रतिपल, क्षण-क्षण में पुष्प सौंदर्यहीन होते जा रहे हैं, अपनी सुवास से हीन बनकर भूमिसात् हो रहे हैं। चार दिन इठलाकर अपनी चमक-दमक को छोड़ते हुए, जीवन साथी से बिछुड़ते जा रहे हैं। इनसे क्या शोभा हो रही है उद्यान की ?—तो फिर किसका उद्यान है ?

एक महकता पुष्प | १३





यह उद्यान है, विश्व ज्योति, जन-जन के आराध्य, वीतराग प्रभु महावीर का। यह निर्मल बगीचा जहाँ उच्चकोटि के प्रसून खिल रहे हैं। सम्पूर्ण उद्यान हरा-भरा बना हुआ है। कितने ही श्रमण एवं श्रमणी वर्ग के जीवन पुष्प अश्रिमित सौन्दर्य तथा अनुपम सौरभ से महक रहे हैं। महान् सद्गुणों की सुमधुर सौरभ को लुटा रहे हैं, जिसे पाकर सभी आनन्दित एवं प्रमुदित हैं।

इन्हीं उद्यान में एक पुष्प खिल रहा है—वह है—सरलमना, संयम—साधना की निर्मल ज्योति, परम विदुषी श्री पुष्पवती जी म. सा.। यह पुष्प अल्पायु से ही जनता को सौरभ प्रदान करता रहा है। महासती श्री पुष्पवती जी म. सा. ने इतने वर्ष की संयम-साधना के द्वारा अपने जीवन को सचमुच एक खिलते व महकते हुए पुष्प की भाँति चमकाया है। और इस खिलते हुए पुष्प ने ५० वें संयम साधना के सोपान पर चढ़कर महक लुटाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया है, आपके जीवन को निकट से देखने का सौभाग्य मिला है, और जहाँ तक अनुभव किया है—आपका जीवन महान् है। पुष्पवत् सुकोमल तथा रमणीय तथा कमनीय है। निःसंदेह आप सरलमना, भद्र तथा अध्यात्म—साधिका हैं। मन-मन्दिर में ज्ञान का अखण्ड दीप प्रज्वलित करने के लिए ही आपने छोटी उम्र में ही ज्ञानाभ्यास प्रारम्भ कर दिया था। ज्ञानार्जन करके अपने जीवन को अनन्त बना लिया। प्रज्ञा की प्रखरता, विद्वत्ता से मण्डित आपने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनके पीछे एक मात्र कारण था कि आप बचपन से ही सुसंस्कारी थे, सच्चरित्रता से भूषित जीवन था। बचपन से ही दिये जाने वाले संस्कारों से जीवन का निर्माण होता है। क्योंकि बचपन जीवन का उषाकाल होता है, अभिभावक—माता-पिता ही नवीन लता के समान चाहे जिधर अपनी संतान को मोड़ दे सकते हैं। वे चाहे तो उत्तम मार्ग की प्रेरणा भी दे सकते हैं और चाहे तो अधम मार्ग की ओर! जो जिधर अभिमुख होगा

तदनु रूप ही उसका ढलता जाएगा। आपके जीवन की भी यही विशेषता रही। आपकी मातेश्वरी स्व. महासती प्रभावती जी, जो कि अत्यन्त सरल तथा नम्रता की मूर्ति थी, आप उस सुसंस्कारी माता की गोदी में पली हैं, जहाँ विराग भरा वातावरण था। उन्हीं की महान् प्रेरणा पाकर भ्राता-भगिनी ने संयम जैसा असिधाराव्रत अपनाया, तथा जो स्वयं भी संसार से विरक्त होकर उत्तम वीतराग प्रणीत संयम मार्ग पर बढ़ चली थी।

आपके भ्राता साहित्य वाचस्पति, साहित्य मनीषी विद्वदरत्न उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. सा. हैं, जो उच्चकोटि के लेखक, प्रज्ञासम्पन्न सन्तरत्न हैं। जिनकी सुन्दर लेखनी ने सर्वत्र आदर तथा सम्मान पाया है। उन्हीं भ्राता की आप भगिनी हैं। आपका यशस्वी जीवन सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत बने।

\* दीक्षा स्वर्णजयन्ती की पुनीत वेला में आपका हार्दिक अभिनन्दन। शत-शत वन्दन! एवं नमन के साथ यह उज्ज्वल धवल मनोरम पुष्प अधिक से अधिक महकता रहे, खिलता रहे, तथा अपने महान् सद्गुणों की सुमधुर सौरभ विकीर्ण करता रहे, इसी उज्ज्वल भावना तथा मंगल कामनाओं के साथ....

卐

अ न न्त आ स्था के सु म न

—राजेन्द्र मुनि

(एम. ए. महामहोपाध्याय)

जिन्दगी न केवल जीने का बहाना,  
जिन्दगी न केवल सांसों का खजाना।  
वह सिन्दूर है पूर्व दिशा का,  
उसका काम है, सूरज उगाना ॥  
परम आदरणीया, पर श्रद्धेया, सद्गुरुणी जी  
महाराज का मेरे जीवन पर महान् उपकार है। सन्



१९६३ में मेरी पूजनीया मातेश्वरी धापकुंवर डोसी रायला (मेवाड़) में राजकीय चिकित्सालय में चिकित्सिका थी। जिससे मेरी पूजनीया दादीजी आदि सप्तिवार हम वहाँ रहते थे। पूज्य पिता श्री पूनमचन्द जी डोसी के स्वर्गवास के पश्चात् मातेश्वरी ने नौकरी कर ली थी। सन् १९६३ में वर्षावास के पश्चात् अनेक मुनिराजों का व महासती वृन्द का आगमन रायला में हुआ। क्योंकि सभी पूज्य भगवन्त अजमेर शिखर सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए वर्षाती नदी की तरह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे थे। रायला में स्थानकवासी समाज के घर नहीं थे। अतः सभी के सेवा करने का सुअवसर हमें प्राप्त हो रहा था।

एक दिन हमारे यहाँ पर परम विदुषी महासती श्री पुष्पवती जी तथा प्रतिभाश्रुति प्रभावतीजी महाराज आदि सती वृन्द का शुभागमन हुआ। वे हमारे संसार में बहुत सन्निकट के रिश्तेदार हैं वे वहाँ पर नौ दिन विराजी। उनके पावन सान्निध्य को पाकर हमारे अन्तर्मानस में धर्माकुर प्रस्फुटित हो उठा। उनके स्नेह पूर्ण सद्व्यवहार से हमारा रोम-रोम पुलकित हो उठा। महासतीजी ने वहाँ से विहार किया। हम उनके दर्शन हेतु गुलावपुरा पहुँचे। वहाँ पर पूज्य गुरुदेव श्री भी पधार गए थे। सद्गुरुणी जी महाराज ने गुरुदेव का परिचय कराया। तथा माताजी महाराज ने कहा मेरे भाई नाथुलालजी सामर की यह पुत्री है। और रमेश और राजेन्द्र ये दोनों इनके सुपुत्र हैं। यह राम लक्ष्मण की जोड़ी बहुत ही होनहार हैं। गुरुदेव श्री से और देवेन्द्र मुनिजी से बहुत से ज्ञानवर्द्धक बातें सुनने को मिली। उसके पश्चात् अजमेर शिखर सम्मेलन में हम पुनः गुरुदेव श्री के और गुरुणीजी महाराज के दर्शन हेतु पहुँचे। पूज्य गुरुदेव श्री और गुरुणीजी महाराज अजमेर से विहार कर जब कुचेरा पहुँचे। तो हम भी माताजी के साथ वहाँ पर पहुँचे।

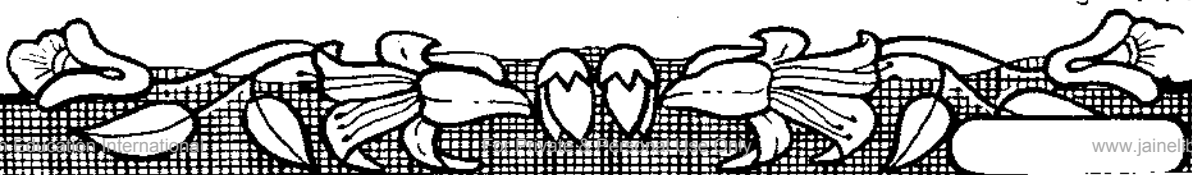
गुरुणीजी महाराज ने हम दोनों भाईयों को

संसार का स्वरूप समझाया। और विविध दृष्टान्तों के द्वारा हमारे मन में संसार के प्रति विरक्ति की भावना पैदा हुई। गुरुणीजी महाराज ने प्रारम्भिक धार्मिक अध्ययन करवाया। उन्होंने जो हमारे मन में धर्म का बीजवपन किया जिसके फलस्वरूप ही हम आर्हती दीक्षा ग्रहण कर सके। हमारे में वैराग्य भावना सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने गुरुदेव श्री के सान्निध्य में सन् १९६४ का वर्षावास पीपाड़ में सम्पन्न किया। इस वर्षावास में गुरुणीजी महाराज के चरणों में बैठकर धार्मिक अध्ययन किया और वर्षावास के पश्चात् गढ़सिवाना में हम दोनों भाईयों की दीक्षा पूज्य गुरुदेव श्री के चरणों में सम्पन्न हुई। हमारी दीक्षा का महत्वपूर्ण कार्य गुरुणीजी महाराज तथा पूजनीया मातेश्वरी के कारण सानन्द हुआ। यदि गुरुणीजी महाराज-माताजी को तैयार नहीं करते तो हमारी दीक्षा होना कठिन था। हमारी माताजी बहुत ही वीरांगना होने से सारा कार्य निर्विघ्न रूप से हो सका।

सन् १९७३ में अजमेर में गुरुदेव श्री का वर्षावास हुआ। इस वर्षावास में गुरुणीजी महाराज का भी वर्षावास अजमेर में हुआ। इस वर्षावास में भी सद्गुरुणी जी महाराज और माताजी महाराज (नानीजी महाराज) हमें बहुत ही हित शिक्षा प्रदान करती और ज्ञान-ध्यान की प्रेरणा प्रदान करती। वस्तुतः गुरुणीजी महाराज का उपदेश हमारी जीवन-निर्माण की नींव के रूप में रहा है।

उसके पश्चात् सन् १९८०, सन् १९८२ और सन् १९८३ में क्रमशः उदयपुर, जोधपुर और मदनगंज-किशनगढ़ में साथ-साथ वर्षावास हुए। इन वर्षावासों में सद्गुरुणी महाराज ने जो हमें शिक्षाएँ प्रदान की हैं वे हमारे जीवन के लिए थाती हैं।

सद्गुरुणीजी महाराज के गुणों का किन शब्दों में वर्णन करूँ? शब्दों के बाट इतने हल्के हैं जो उनके जीवन को और गुणों को माप नहीं सकते—हमारे अनघड़ जीवन को उन्होंने घड़ा है। उनके जीवन में सरलता, सरसता और पवित्रता है। वे





नहीं कर सकीं। निराशा के कुहरे में भी वे सदा आशा के दीप संजोये रहती हैं। चारों ओर अभिनव आलोक की रश्मियाँ बिखेरती रहती हैं।

महासतीजी के जीवन में सत्यं शिवं और सुन्दरम् का मधुर संगम हुआ है। वे तत्त्वद्रष्टा हैं, एक सफल साधिका हैं और कलाकार हैं। पाश्चात्य मनीषियों ने साधना और कला में विरोध माना है। उनका मन्तव्य है कि वे दोनों पूर्व और पश्चिम की तरह हैं। उनमें कभी समन्वय सम्भव नहीं। पर आपने कला के लक्ष्य को आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत कर यह सिद्ध कर दिया है कि कला साधना में बाधक नहीं, अपितु साधक है। साधना भी कला ही है जिस साधना में कला नहीं वह साधना नहीं, विराधना है।

आपका जीवन बड़ा अद्भुत जीवन है। आपका मस्तिष्क चिन्तन की ऊर्वरस्थली है। आपके हृदय में साधना की सरस सरिता प्रवाहित है। और आपके हाथ, पैर अङ्गोपाङ्ग विविध कला की उपासना में संलग्न हैं। इस तरह आपके जीवन में चिन्तन, साधना और कला का त्रिवेणी संगम हुआ है।

आज समाज में प्राचीनता और नवीनता का ज्वलन्त प्रश्न चल रहा है। कुछ लोग प्राचीनता के पक्षधर हैं तो कुछ लोग नवीनता के उपासक हैं। पर आपके मन में न प्राचीनता के प्रति द्वेष है और

न नवीनता के प्रति आकर्षण है। आप समीचीनता को महत्त्व देती हैं आपका मन्तव्य है कि जो समीचीन हैं उसे हमें अपनाना चाहिए। प्राचीनता के नाम पर जो रूढ़ियाँ पनप रही हैं वे ठीक नहीं हैं। और आधुनिकता के नाम पर जो भौतिकता की आंधी आ रही है, वह भी उचित नहीं है।

महासती पुष्पवतीजी मेरी सद्गुरुणी जी की लघु गुरु वहिन हैं। मैंने अनेक बार आपश्री के दर्शन किये। आपश्री के चरणों में रहने का अवसर भी मिला, मैंने बहुत ही निकटता से आपश्री को देखा। आपका जीवन पुष्प के समान ही खिला हुआ है। आपके जीवन में सादगी है संजीदगी है और सभी के प्रति स्नेह सद् भावना है। समय-समय पर मुझे हित शिक्षाएँ दी हैं। आपका मेरे जीवन पर महान उपकार है।

आपकी साधना बहुत ही यशस्वी रही है। आपने अपने जीवन में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। आपने सैकड़ों श्रद्धालुओं को धार्मिक अध्ययन करवाया सैकड़ों को प्रतिबोध देकर सम्यक्त्व और व्रत दीक्षाएँ प्रदान की है। आप का जीवन सभी के लिए प्रेरणा दायी रहा। हमारी साधना आपके नेतृत्व में पल्लवित और पुष्पित हो। हम इस मंगलमय बेला में अपने हृदय की अपार श्रद्धा आपके चरणों में समर्पित करते हैं।

## युग-युग जीवे सती

— विपिन जारोली

साध्वी श्री पुष्पवती, विदुषी औ महासती, मेदपाट गौरव की, अनमोल पूती है। न्याय नीति आगम की, भक्ति-ज्ञान संयम की शील सदाचार सेवा, जीवन में युति है। उपाध्याय पुष्कर की, अनमोल शिष्या रान वसुमती चन्दना के शासन की दूती है। संयम की अर्द्धशती, युग-युग जीवे सती जन सेवा जिसकी तो आसमाँ को छूती है।



## मेरी जीवन सर्जन सद्गुरुणी जी

—दिनेश मुनि

सामान्य मानव कहाँ पर जन्म लेता है उसका पालन पोषण किस प्रकार से होता है यह जानने की जिज्ञासा किसी में नहीं होती, पर वही सामान्य व्यक्ति जब अपना जीवन सर्वजनहिताय, सर्वजन सुखाय समर्पित कर देता है तो उसके जीवन का प्रत्येक पहलू जानने के लिए जन-मानस आतुर रहता है। उसका प्रत्येक क्रिया-कलाप जन-जन के लिए प्रेरणादायी होता है। वह प्रकाश स्तम्भ की तरह सभी को मार्ग दर्शन देता है। पथ प्रदर्शन करता है।

जिन का जीवन महान् होता है उनके जीवन को शब्दों की फ्रेम में बाँधना बहुत ही कठिन है। वे शब्दों की फ्रेम में बाँधे नहीं जा सकते। उनमें एक नहीं अनेक विशेषताएँ होती हैं, वे सारी विशेषताएँ शब्दों की पकड़ में नहीं आतीं। जब मैं सद्गुरुणी जी परम विदुषी साध्वीरत्न महासती पुष्पवती जी म० के विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व को शब्दों में बाँधने का उपक्रम करता हूँ तब मेरे सामने यही समस्या समुपस्थित होती है। मैं जितना अधिक उन्हें शब्दों में बाँधना चाहता हूँ उससे कहीं अधिक वे बाहर रह जाती हैं। शब्दों के हल्के बाट उनके गुरुतर व्यक्तित्व को किस प्रकार बाँध सकते हैं ? ।

मुझे सद्गुरुणी जी के सम्बन्ध में लिखना है पर कठिनता यह है कि जो व्यक्ति जितना अधिक निकट होता है उसके सम्बन्ध में लिखने में उतनी ही कठिनता है। मैं गुरुणीजी महाराज को अपने वचन से ही जानता हूँ। दीक्षा के पूर्व सर्व प्रथम उन्होंने मुझे अपने सन्निकट बिठाकर बहुत ही प्रेम से दीक्षा के महत्त्व को समझाया और कहा-कि जो तुम्हें जीवन मिला है वह प्रबल पुण्यवानी के पश्चात् मिला है। यह जीवन खेल और कूद में बिताने के लिए नहीं है। जीवन के अनमोल क्षण है यदि तुमने इन क्षणों का सदुपयोग कर लिया तो तुम निहाल हो जाओगे। उन्होंने विविध दृष्टान्तों और रूपकों के माध्यम से मुझे यह रहस्य हृदयंगम करा दिया, कि जीवन कूकर और शूकर की तरह गली और कूच-में भटक कर बिताने के लिए नहीं है। इस जीवन का उद्देश्य है, नर से नारायण बनना, आत्मा से परों मात्मा बनना और इन्सान से भगवान बनना। सद्गुरुणीजी के उपदेश की छाप मेरे मन पर बहुत गहरी हुई। मैंने मन ही मन में यह दृढ़ संकल्प किया कि पूज्य गुरुदेव उषाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म० के पास दीक्षा अवश्य लेनी है।

मेरी उम्र उस समय बारह-तेरह वर्ष की थी। मेरे पूज्य पिता श्री रतनलालजी मोदी तो पूज्य गुरुदेव के प्रति पूर्ण समर्पित ही थे/हैं। उन्होंने अपने जीवन के उषाकाल में ही यह नियम ले रखा था कि यदि कोई भी पारिवारिक सदस्य दीक्षा लेना चाहेगा तो मैं इन्कार नहीं होऊँगा। पिता श्री मेरे विचारों के अनुकूल थे। पर मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्री हीरालाल जी और ख्यालीलाल जी दीक्षा दिलवाने के पक्षधर नहीं थे। अन्य पारिवारिकजन भी दीक्षा दिलवाने के लिए अन्तरायभूत ही थे। एक पारिवा-



रिक जन ने तो मुझे भड़काने का प्रयास किया और अनेक उल्टी सीधी बातें बताकर मेरे मस्तिष्क को भरमाने का प्रयास करने लगा। मेरा मस्तिष्क अस्थिर हो गया। मेरे सामने एक गम्भीर समस्या उपस्थित हो गई, कि मैंने जो मन में संकल्प किया है वह ठीक है? या जो यह व्यक्ति कह रहा है वो ठीक है? मैं अपने हृदय की बात पूज्य गुरुदेव के सामने कह नहीं सकता था। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के कारण उनके सामने जाने से कतराता था। मैं गुरुणी जी के पास पहुँचा, उन्होंने मेरे उदास चेहरे को देखा, वे समझ गई कि कुछ न कुछ इसके मन में बात है, उन्होंने बहुत ही प्यार के साथ वार्तालाप के दौरान में मेरे हृदय की बात निकलवाही ली। और मुझे समझाया कि अच्छे कार्य में विघ्न आते हैं, ये विघ्न हमारी परीक्षा करते हैं। सोने को आग में तपाया जाता है ज्यों-ज्यों उसे तपाया जाता है त्यों-त्यों वह अधिक चमकता है। अगरवती को ज्यों-ज्यों जलाते हैं त्यों उसमें से मधुर सुगन्ध फूटती है। मोमबत्ती को जलाते हैं तो प्रकाश होता है वैसे ही हमारे जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं तो हमारे वैराग्य की कसौटी होती है परीक्षा होती है। यदि उस दिन गुरुणी जी महाराज मुझे प्रतिबोध नहीं देते तो मैं इस महामार्ग को शायद ही स्वीकार कर पाता।

गुरुणी जी महाराज का वर्षावास गुरुदेव श्री के साथ ही अजमेर पुरी अजमेर में था। मैं प्रतिदिन गुरुणी जी महाराज के पास जाता और उनसे धार्मिक अध्ययन करता। मेरे मन में दीक्षा लेने की तो भावना थी, पर कब लेनी यह निश्चय नहीं था। मैं एक दिन गुरुणी जी के पास बैठा था, गुरुणी जी ने मुझे पूछा—तेरी दीक्षा लेने की इच्छा कब है? मैंने कहा—जब भी आप फरमायेंगी तभी, मैं प्रस्तुत हूँ। मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं, आपकी इच्छा है। आपने ही तो फरमाया था कि शिष्य और शिष्याओं की अपनी इच्छाएँ नहीं होनी चाहिए। उन्हें गुरु और गुरुणी के चरणों में समर्पित होना चाहिए। मैं तो आपके चरणों में समर्पित हूँ। आप जो भी निर्णय लेंगी, वह मेरे हित के लिए ही होगा। मेरी बात को सुनकर गुरुणीजी महाराज प्रसन्न हुई। उन्होंने गुरुदेव से निवेदन किया—और उल्लास के क्षणों में मेरी दीक्षा सन् १९७३ में अजमेर में सानन्द सम्पन्न हुई।

अजमेर से विहार कर गुरुदेव श्री राजस्थान के विविध अंचलों में विचरते हुए अहमदाबाद वर्षावास हेतु पधारे। वहाँ से पुना, रायचुर, बैंगलोर, मद्रास और सिकन्दराबाद वर्षावास सम्पन्न कर गुरुदेव श्री उदयपुर पधारे। पुनः गुरुणी जी म० के दर्शनों का सौभाग्य मिला। मैं छः वर्ष के बाद दर्शन पाकर आनन्द से झूम उठा। उस वर्ष सन् १९८० में गुरुदेव श्री के साथ ही उदयपुर में चातुर्मास हुआ। उदयपुर वर्षा वास में मैंने गुरुणीजी महाराज से उत्तराध्ययन सूत्र पढ़ा। गुरुणी जी महाराज आगमों को इतना बढ़िया पढ़ाती हैं कि जिसे आगम का तनिक मात्र भी परिज्ञान न हो, वह भी आगम के रहस्य को सहज रूप से समझ लेता है। रूपक और दृष्टान्त के द्वारा विषय का जो विश्लेषण करती हैं वह बहुत ही अनूठा होता है। साथ ही आप इस प्रकार की हित शिक्षाएँ देती है। जो भार रूप नहीं होती। आप मुझे सतत यही शिक्षा प्रदान करती रहीं कि तुम साधु बने हो तो तुम्हें सांसारिक प्रपंचों से सदा अलग-थलग रहना है। जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आ सकते हैं जो तुम्हें साधना के मार्ग से विचलित करने वाले हों। पर तुम्हें उन प्रसंगों में सदा सर्वदा जागरूक रहना है और अपने नियमोपनियम का सम्यक् प्रकार से पालन करना है। कभी भी विचलित नहीं होना है। तुम उस गुरु के शिष्य हो, जो महान् हैं। जिनका जीवन तप और त्याग का पावन प्रतीक है। तुम उस माता-पिता की सन्तान हो जो वेदांग हैं। हम श्रमण बने हैं तो हमें श्रमणत्व का उज्ज्वल आदर्श सदा प्रस्तुत करना है। वीर और कायर में यही अन्तर है कि कायर व्यक्ति पीछे हटता है, तो वीर के कदम सदा आगे की ओर बढ़ते हैं।



उठो विरादर ! कस कमर, तुम धर्म की रक्षा करो ।

धीर के तुम पुत्र होके, गौदड़ों से क्या डरो ॥

उदयपुर वर्षावास में पूजनीया गुरुणी जी म. और पूजनीया प्रतिभामूर्ति माता जी म. श्री प्रभावती जी म. ने मुझे समय-समय पर सद्शिक्षाएँ दी हैं वे कभी भुलाई नहीं जा सकती ।

सन् १९८२ में परमादरणीया माताजी म. के स्वर्गवास हो जाने से गुरुणी जी म. का वर्षावास जोधपुर में गुरुदेव के साथ हुआ । उस वर्षावास में आपने मुझे अन्तकृतदशांग सूत्र, विपाक सूत्र आदि आगमों का अध्ययन कराया । जब कभी भी मैं गुरुणीजी म. की सेवा में बैठा तब वे मुझे ज्ञान की ही दात वताती रहीं । कभी भी निरर्थक बात करना उन्हें पसन्द नहीं । वे चाहती हैं कि प्रत्येक क्षण का उपयोग किया जाय । व्यापारी वही महान् बनता है जो एक-एक पाई का हिसाब रखता हो । जो व्यापारी पैसे का दुरुपयोग करता हो जिसे आवक व जावक का पता ना हो, वह महान् नहीं बन सकता । जो एक समय का सदुपयोग करता है वही श्रेष्ठ और ज्येष्ठ बन सकता है ।

सन् १९८३ का वर्षावास गुरुदेव श्री का मदनगंज किशनगढ़ में हुआ । उस वर्ष भी भाग्य से आपका वर्षावास भी वहाँ पर हुआ । उस वर्षावास में मैंने आपसे दशवैकालिक सूत्र, तन्वार्थ सूत्र आदि का अध्ययन किया । ज्यों-ज्यों आपका निकट सम्पर्क हुआ, त्यों-त्यों मेरी श्रद्धा आपश्री के प्रति दिन प्रति दिन बढ़ती ही चली गई । इसका मूल कारण है आप में सहज सरलता है, सौम्यता है और अपार वात्सल्य भावना है । आपमें सदा हित की बुद्धि रही होने से जो भी बात आप फरमाती है वह बात सीधी हृदय में बैठ जाती है ।

गुरुणी जी महाराज का ज्ञान अगाध है । वे आगम की गम्भीर ज्ञाता हैं । आगम के रहस्यों को वे जिस खूबी से समझाती हैं कि वह विषय सहज समझ में आ जाता है । आपश्री ने दशवैकालिक सूत्र का बहुत ही गानदार सम्पादन किया है । उस पर आपने जो विवेचन लिखा है वह बहुत ही सुन्दर है ।

गुरुणी जी महाराज के मैंने अनेक बार प्रवचन सुने हैं । उनके प्रवचन बहुत ही मार्मिक होते हैं । उनके प्रवचनों को सुनते समय ऐसा सहज अनुभव होता है कि हम भीष्म-ग्रीष्म ऋतु में उपवन में बैठे हुए शीतल मन्द, सुगन्धित समीर का आनन्द ले रहे हैं । वे प्रवचन को धीरे से प्रारम्भ करती हैं और विषय की गहराई में श्रोताओं को इस प्रकार ले जाती हैं श्रोता मंत्र मुग्ध हो जाते हैं । और फिर रूपक के द्वारा उस विषय को इस तरह प्रतिपादित करती हैं कि श्रोता अपने आप को धन्य-धन्य अनुभव करने लगता है । गम्भीर विषय को भी सरल रूप में प्रस्तुत करने की कला में आप पूर्ण दक्ष हैं । आपके प्रवचनों की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें वैराग्य का सम्पुट रहता है । साथ ही मौलिक चिन्तन और मौलिक उद्भावनाओं की प्रचुरता होती है ।

आपके जीवन में क्षमा, शान्ति निर्लोभता आदि सद्गुणों का प्राधान्य है । यदि यह कह दूँ कि आपका जीवन गुणों का आगार है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । आप में नाम की चाह नहीं है । जब मैंने "अभिनन्दन ग्रन्थ" निकालने के सम्बन्ध में आपके लघु भ्राता, उपाचार्य गुरुदेव श्री देवेन्द्र मुनि जी म. से कहा—उस समय आप वहीं पर विराजमान थीं । आपने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में निषेध किया और कहा कि मेरे में कहां गुण हैं ? मैं एक छोटी साध्वी हूँ । यदि ग्रन्थ निकालना है तो सद्गुरुणी जी म. के या माता जी म. के नाम से निकालें । वे बिल्कुल ही निर्लिप्त रहीं हैं । उनकी निर्लिप्तता से मैं और अधिक प्रभावित हुआ ।



सन् १९८५ का देहली का वर्षावास सम्पन्न कर पूज्य गुरुदेव श्री राजस्थान पधारे । पुनः आपके मदनगंज में दर्शन प्राप्त हुए । अजमेर और व्यावर में कुछ समय पुनः सन्निकट रहने का अवसर मिला । आचार्य सम्राट आनन्द ऋषि जी म. के आदेश को शिरोधार्य कर पाली वर्षावास सम्पन्न कर पूना पधारे और गुरुणी जी म. भी नाथद्वारा का वर्षावास पूर्ण कर पूना पधारीं । इस सम्मेलन में श्री देवेन्द्र मुनि जी म. को उपाचार्य पद प्रदान किया और आचार्य प्रवर के आदेश से गुरुदेव श्री का और आप श्री का वर्षावास आचार्य श्री के सान्निध्य में अहमदनगर में हुआ । आपकी समय-समय पर हित शिक्षाएँ मुझे मिली । इस समय भी मैं आपसे आगमों का अध्ययन करता रहा । गुरु और गुराणी वही है जो शिष्य और शिष्याओं पर चोट भी करते हैं और रक्षा भी । उनकी चोट निर्माण के लिए होती है । उनकी शिक्षाएँ जीवन निर्माण के लिए होती हैं । गुरुणीजीम. की असीम कृपा मुझ पर रही है । उनकी असीम कृपा के फलस्वरूप ही मैं साधना के पथ पर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ा सका । उनकी निर्मल छत्र छाया हम पर सदा बनी रहे । इसी मंगल आशा के साथ मैं अपने श्रद्धा स्निग्ध सुमन समर्पित कर रहा हूँ ।

□

य ह है पा र दर्शी व्य क्ति त्व ....

□ महासती प्रिय दर्शनाजी

व्यक्ति जन्म से नहीं, अपने कर्तव्य से महान् बनता है । सद्गुरुणीजी महाराज के सम्बन्ध में भी यही बात है । जिस दिन उनका जन्म हुआ, परिवार के लोगों के लिये भी कोई अनहोनी बात नहीं थी । उस समय किसी को यह कल्पना भी नहीं थी कि एक महान् आत्मा हमारे यहाँ पर जन्मी है । पर आज आपके अद्भुत कृतित्व को देखकर भारत के विविध अंचलों में रहने वाले श्रद्धालुओं ने आपके दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का निर्णय लिया है । जब यह निर्णय लिया गया तो अनेकानेक श्रद्धालुओं के हृदय-कमल खिल उठे ।

आज संसार ध्रुणोन्माद का शिकार हो रहा है । लोभ, लिप्सा, भ्रम और क्रोध का दुनिवार बोलवाला है । भ्रष्टाचार और पतन के युग में जब हम महासती श्री पुष्पवतीजी का शान्त चेहरा निहारते हैं, उनके शान्त चेहरे की ओर जरा-सा दृष्टिनिक्षेप करते हैं तो दर्शक को शान्ति का अनुभव होता है । उनकी आकृति मंगलमयी है । उनका चौड़ा ललाट और ज्योतिर्मय नेत्र आशा और शान्ति का आश्वासन देते हैं । और उनके सन्तुलित व्यवहार से तो प्रत्येक व्यक्ति मुग्ध हो जाता है । लगता है साक्षात् महासती चन्दनबाला है । 'बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय' के असीम मानवता का सन्देश लेकर पद यात्रा करती हैं । और जहाँ भी जाती हैं वहाँ पर नई भावना और नया वातावरण तैयार हो जाता है ।

मैंने सर्वप्रथम आपके दर्शन उदयपुर में किये । आपके सम्बन्ध में मुझे मातेश्वरी श्रीमत

यह है १।रदर्शी व्यक्तित्व | २१





राजबाई और पिता श्री कन्हैयालालजी लोढा और मेरी बड़ी बहन रतनबाई ने बहुत कुछ बताया था। उन्होंने कहा—कि महासती पुष्पवतीजी तेरह वर्ष की उम्र में जब साधना के पथ पर कदम बढ़ाने का निश्चय किया। तब सारे पारिवारिकजन विरोध में थे। कठिन परीक्षाओं में गुजरने के पश्चात् उनकी दीक्षा हुई। और उनके तीन वर्ष पश्चात् तुम्हारे भाई देवेन्द्र मुनि ने दीक्षा ग्रहण की। और उनकी दीक्षा के चार माह पश्चात् तुम्हारी मौसी ने दीक्षा ग्रहण की। मैंने मन ही मन में यह निश्चय किया कि मैं भी संयम को स्वीकार करूंगी। बहन, भाई और मौसी के कदमों पर चलूंगी। पिताजी से मुझे भय लगता था। पर माँ के सामने तो हृदय खुला हुआ था। मैंने माँ से कहा—माँ मैं भी दीक्षा लूंगी। मेरी माँ धार्मिक संस्कारों वाली भद्र प्रकृति की सुशील महिला हैं।

माँ ने कहा—यदि तुम दीक्षा लोगी तो हम तुम्हें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देंगे। मैं तुम्हारे पिताजी को कहकर आज्ञा भी करवा दूंगी। मैंने सोचा—माँ, मजाक कर रही है। क्योंकि मेरे आस-पास में कहीं भी वैराग्य नहीं था। खेलना, कूदना और पढ़ना, लिखना ही कार्य था। मैं साधु, सन्त, सतियों के पास भी नहीं जाती थी।

सन् १९५६ में उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्करमुनिजी म० का वर्षावास उदयपुर में हुआ। गुरुदेव के साथ ही भाई महाराज श्री देवेन्द्र मुनिजी भी थे। भाई होने के नाते मैं यदा-कदा दर्शनार्थ जाती। पहली बार मेरा सन्तों से विशेष सम्पर्क हुआ। उस सम्पर्क में मेरे मन पर एक विशेष छाप पड़ी। वह छाप यह थी कि जैन श्रमणों का जीवन कितना त्यागमय है। वार्तालाप के प्रसंग में भाई म० मुझे यह प्रेरणा प्रदान करते रहे कि तुम्हें यह जो जीवन मिला है। इस जीवन का लक्ष्य भौतिक वैभव प्राप्त करना नहीं है। इस जीवन का उद्देश्य है—अपने जीवन को महान बनाना। अपने माता-पिता के नाम को रोशन करना। मैंने मौसी महाराज व बहन म० के दर्शन भी नहीं किये थे। पर मन में यह निश्चय किया—मैं भी साधना पथ पर बढ़ूंगी।

जब मैंने मौसी म० व बहन म० के दर्शन किये, मेरा हृदय आनन्द विभोर हो उठा। मौसी म० ने मुझे प्रेरणा दी और मैंने भी उन्हें आश्वासन दिया कि मेरी भावना है। मैं गोगुंदा अपने ननिहाल पहुँची। उस समय आप वहाँ पर पधारी हुई थी। ननिहाल में और तो कोई काम था ही नहीं, सारे दिन महासतीजी के ही सानिध्य में ज्ञान, ध्यान सीखना प्रारम्भ किया और वह सानिध्य मेरे लिये वरदान रूप में बना। मेरी भावना उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। मेरे बहुत अनुनय-विनय करने पर मुझे गुरुणीजी महाराज की सेवा में रहने की आज्ञा मिल गई। मैंने उनके सानिध्य में रहकर धार्मिक अध्ययन विकसित किया।

पूज्य पिता श्री की इच्छा थी कि मैं कुछ दिन रुककर बाद में दीक्षा लूँ। धार्मिक अध्ययन करते-करते मुझे बारह महिने से अधिक समय हो गया था। अतः मैं चाहती थी कि मेरी दीक्षा जल्दी हो जाय। मेरी दीक्षा के प्रावन प्रसंग पर गुरुदेव श्री को भी बुलवाना चाहता थी। पर उस समय भाई देवेन्द्र मुनिजी महाराज अत्यधिक अस्वस्थ थे। वे स्वास्थ्य के कारण दीक्षा पर नहीं पधार सके। मेरी दीक्षा जैन जगत के ज्योतिर्धर नक्षत्र आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के द्वारा सन् १९६२ में उदयपुर में सम्पन्न हुई और मैंने बहिनजी महाराज का शिष्यत्व स्वीकार किया।

मेरा अध्ययन बहिनजी महाराज के ही नेतृत्व में हुआ। अध्ययन की अपेक्षा अध्यापन कार्य अधिक कठिन होता है। अध्ययन में विद्यार्थी अपने आपको खपाता है। पर अध्यापन में पर के लिये अपने आपको खपाना पड़ता है। अध्यापक की योग्यता का परीक्षण होता है। अध्यापक



अध्यापन कर्ता की योग्यता को देखकर संक्षेप और विस्तार से विषय का विश्लेषण और प्रतिपादन करता है। अध्यापन में अनेक कठिनाइयाँ हैं। फिर भी इस कठिन कार्य को आप सहज रूप से सम्पन्न करने में कुशल हैं।

आपकी देख-रेख में अनेक साध्वियों ने अध्ययन किया और अनेक छात्राओं ने धार्मिक अध्ययन किया। आपका अनुशासन कठोर नहीं अपितु मृदु है। आप अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को विशेष उलाहना नहीं देती। डाँट-डपट में आपका विश्वास ही नहीं है। फिर भी श्रेष्ठ साध्वियों पर इतना नियन्त्रण होता है कि आपके बिना पूछे कोई भी कार्य नहीं करती। आत्मीयता में ऐसा अद्भुत आकर्षण है कि उतना आकर्षण डाँट-डपट में नहीं होता।

जितनी तत्परता से आप अध्ययन कार्य करती हैं, उतनी ही तत्परता से आप अध्यापन का कार्य भी करती हैं। वे अध्यापन के कार्य को अपना ही कार्य समझती हैं। इसलिये आपको उस कार्य में बड़ा ही आनन्द आता है।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान कराने हेतु दशवैकालिक सूत्र को कंठस्थ कराया जाता है। मेरे को पाठ देते समय आपने राजस्थानी कहावत "ज्ञान कण्ठाँ और दाम अण्ठा" को सुनाते हुए कहा—इस उम्र में जितना ज्ञान तुम कंठस्थ करोगी। उतना ही तुम्हारे लिये लाभप्रद रहेगा।" जब मैंने लघु सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन प्रारम्भ किया। तब आपने एक दोहा फरमाया था वह दोहा इस प्रकार है—

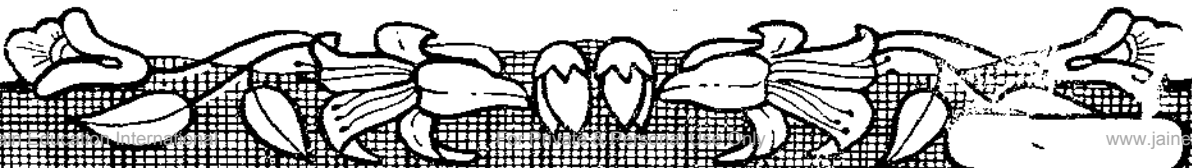
खान पान चिन्ता तर्ज, निश्चय माँडे मरण।

घो-ची-पू-ली करतो रहै, जद आवै व्याकरण ॥

जब कोई व्यक्ति खान-पान की चिन्ताओं से मुक्त होकर केवल व्याकरण के पीछे अपने आपको झोंक देता है, जो व्याकरण को घोटने में, चितारने में, पूछताछ करने में और लिखने में अपना समय लगाता है वही संस्कृत व्याकरण को पढ़ सकता है। अध्ययन करने वाले विद्यार्थी का संकल्प जितना सुदृढ़ होगा, वह उतना आगे बढ़ सकेगा। मैं जो कुछ भी अध्ययन कर सकी हूँ, वह सब गुरुणीजी म० की ही कृपा का प्रतिफल है। गुरुणीजी महाराज का अध्ययन बहुत ही विशाल है और अध्यापन कराने की कला तो बड़ी अद्भुत है, अनूठी है।

गुरुणीजी महाराज की एक बहुत बड़ी विशेषता है कि वे अपना असूत्य समय निरर्थक नहीं खोती। निरर्थक वार्तालाप करना आपको बिल्कुल ही पसन्द नहीं है। स्वास्थ्य जितना चाहिये उतना अनुकूल नहीं रहता तथापि नियमित समय पर आप जप करती हैं, ध्यान करती हैं और स्वाध्याय करती हैं।

प्रायः यह देखा जाता है जो विद्वान होते हैं, उनमें सेवा का गुण बहुत ही कम होता है। वे प्रायः यह समझते हैं कि सेवा करना समय का अपव्यय करना है। पर गुरुणीजी महाराज इस बात के अपवाद रही हैं। मैंने अपनी आँखों से देखा है। मेरी दाद गुरुणीजी तप और त्याग की ज्वलन्त प्रतिमा महासती श्री सोहनकुंवरजी महाराज जब रुग्ण हुई थी तब आपने दिन-रात की परवाह किये बिना खूब सेवा की। मौसी महाराज प्रतिभा सृति श्री प्रभावतीजी महाराज जब अस्वस्थ थी तब आप इस रूप से सेवा करती रही। उनकी सेवा भावना को देखकर मैं विस्मय भुग्ध थी। एक बार मेरे को अपेन्डिस साइटिस का दर्द हो गया। जिसका ऑपरेशन करवाना पड़ा। उस समय आपकी सेवा-भावना देखकर तो मैं दंग रह गई। आप अपने आवश्यक कार्यों को छोड़कर मेरी सेवा में लगी रही। चाहे कोई छोटी सती



हों चाहे बड़ी हों, उनकी सेवा आप अग्लान भाव से करती हैं। सेवा का जब भी अवसर आया तब आप पीछे नहीं हटती। आपके जीवन में अनेकों विशेषताएँ हैं। मेरी लेखनी उन विशेषताओं का वर्णन करने में कहीं सक्षम हैं ?

मैं अपनी अनन्त आस्था सद्गुरुणी के चरणों में समर्पित कर रही हूँ। मैं यह मंगल कामना करती हूँ कि सद् गुरुणीजी की छत्र-छाया सदा हमारे पर बनी रहें। हम आपकी छत्रछाया में निरन्तर आध्यात्मिक उत्कर्ष की साधना करती रहें। और आपका वरदहस्त सदा हमारे पर रहे जिससे हम ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में प्रगति कर आपके नाम को अधिक से अधिक रोशन करें। जिन शासन की प्रभावना कर सकें।

मुझे आपके पारदर्शी व्यक्तित्व में जो गुण पहली बार दिखाई दिये वे ही गुण मैंने सदा आपमें पाये हैं। उन्हीं विशेषताओं के कारण आप महान् बनी हैं।



गु णों के आ गार

□ महासती किरणप्रभा शास्त्री

गंगा में अवगाहन करने से, ज्यों तन पावन बन जाता है।

सद् गुरुणीजी के दर्शन करने से, त्यों मन भावन बन जाता है ॥

जीवन में सद्गुरु या सद्गुरुणी का मिलना बहुत ही कठिन है। सद्गुरु या सद्गुरुणी एक विलक्षण आध्यात्मिक शक्ति है। जो मानव को नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा और इन्सान से भगवान बना देती है। सद्गुरुणी जीवन की एक श्रेष्ठ कलाकार हैं जो जीवन रूपी अनघड़ पत्थर को सुघड़ प्रतिमा का रूप देकर उसकी गौरव-गरिमा में अभिवृद्धि करती हैं।

हमारा परम सौभाग्य है कि हमें परम विदुषी साध्वी रत्न पुष्पवतीजी जैसी सद्गुरुणी प्राप्त हुई हैं। उनका जीवन गुणों का आगार है। जैसे गुलदस्ते में रंग-बिरंगे फूल अपनी मधुर सौरभ से जन-मन को ताजगी प्रदान करते हैं, वैसे ही सद्गुरुणीजी के सद्गुणों की सुमन नई दिशा प्रदान करती हैं। हमारे जीवन में अभिनव क्रान्ति पैदा करती है।

सद्गुरुणीजी महाराज में कृतित्व शक्ति अपूर्व है। वे जिस कार्य को अपना लक्ष्य बना लेती हैं उस पर निर्भीक होकर बढ़ती हैं। बाधाएँ और आपत्तियाँ आती हैं। पर पुरुषार्थियों के सामने सभी स्वयमेव निरस्त हो जाती है। और उनका पथ निर्विघ्न और निर्विवाद हो जाता है। एतदर्थ ही तो एक शायर ने लिखा है—

बहादुर कब किसी का, आसरा, अहसान लेता है।

उसी को कर गुजरते हैं, जो दिल में थाम लेते हैं ॥

निरुत्साही व्यक्ति किसी भी कार्य को करने के लिये अवसर की प्रतीक्षा करता है। पर उत्साही और कर्मठ व्यक्ति हर परिस्थिति को अपने आप में ढालकर कार्य साध लेते हैं। अवसर उनके



सामने सदा नत रहता है। गुरुणीजी महाराज की यह विशेषता है, वे अपने प्रण की पक्की हैं, वे जिस कार्य को करने का निर्णय लेती हैं उस कार्य को समापन करके ही विराम लेती हैं। न बीच में वे रुकती हैं, न अटकती हैं और न भटकती हैं। किन्तु कठिनाइयों की कठोर चट्टानों को चीरती हुई आगे बढ़ जाती हैं। एक कवि के शब्दों में कहें तो इस प्रकार कह सकती हूँ—

प्रण के पक्के, कर्मठ मानव, जिस पथ पर बढ़ जाते हैं।

एक बार तो शैव को भी, स्वर्ग बना दिखलाते हैं॥

अस्तु के शब्दों में "Life is movement" सक्रियता ही जीवन है। सक्रिय व्यक्ति ही साधना के सर्वोच्च शिखर को छू सकता है। किन्तु निष्क्रिय व्यक्ति साधना के पथ पर सफलता के साथ नहीं बढ़ पाता। सक्रियता सजीवनी शक्ति है, ऑक्सीजन है, जो जड़ता की कार्बन हटाकर जीवन को गतिमान बनाता है।

महासती पुष्पवतीजी धुन की धनी, तप और त्याग की साकार मूर्ति हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने लिखा है—“त्याग एक सात्त्विक आनन्द है। त्याग के बिना मानव का विकास नहीं हो सकता। गुरुणीजी महाराज स्वयं तो साधना का सात्त्विक आनन्द अनुभव करती हैं। और जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते हैं उन्हें भी अध्यात्म आनन्द का अमृत पान कराती हैं। साधना के सुरसरिता में वे स्वयं तो स्नान करती ही हैं और जो संपर्क में आते हैं उन्हें भी उत्प्रेरित करती हैं। किसी ने बहुत ही मुन्दर लिखा है—

बातों से कुछ नहीं होता, काम करने वाले बढ़ते हैं।

खड़े रहने से कुछ नहीं, आगे चलने वाले शिखर चढ़ते हैं॥

नाम का यह संक्रामक रोग, बहुतों को परेशान कर बैठा।

विरले ही बच्चे जो अरमानों को सही ढाँचे में मढ़ते हैं॥

सद्गुरुणीजी विनम्रता की साक्षात्मूर्ति हैं। अहंकार उनके आस-पास में कहीं पर भी नहीं है। चाहे निर्धन हो, चाहे धनी हो, बाल हो, चाहे वृद्ध हो, चाहे सन्त हो, चाहे गृहस्थ हो। सभी के साथ उनका वही उदारभाव है। हृदय और वाणी के विलक्षण माधुर्य के कारण वे सभी का सम्मान करती हैं। चाहे भले ही कोई उम्र या दीक्षा में भी छोटा हो, वे उनको बहुत ही आदर के साथ पुकारती हैं। धर्म का मूल विनय है, वह नियम उनके जीवन में, व्यवहार में मूर्तिमान है। यही कारण है कि आपका अभिन्नानन्दन अभिन्नानन्दन समाज कर रहा है।



पुष्प-सूक्ति कलियाँ

अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ संगीत है। जब वह संगीत जन-जन के मन में झंकृत होता है, तब मानव-मन आनन्द में झूमने लगता है।

अहिंसा दया का अक्षय कोष है। दया के अभाव में मानव-मानव न रहकर दानव हो जाता है।



## वि वि ध गु णों का सं ग म

—श्री कुन्दन ऋषिजी

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी का व्यक्तित्व बहुत ही विलक्षण है, इनका अध्ययन गम्भीर है। चिन्तन गहरा है सन् १९६४ अजमेर में शिखर सम्मेलन का भव्य आयोजन था, उस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए महामहिम पूज्य गुरुदेव बम्बई घाटकोपर से विहार कर तेजी से उस दिशा में कदम बढ़ाते हुए विजय नगर पधारे। उस समय गुलाबपुरा में सर्व प्रथम महासती पुष्पवतीजी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय मेरी दीक्षा को सिर्फ दो ही वर्ष हुए थे। प्रथम दर्शन में ही मैंने यह अनुभव किया कि महासती पुष्पवती जी एक प्रताप पूर्ण प्रतिभा की धनी साध्वी हैं। अजमेर गुलाबपुरा की यात्रा में दो तीन-बार महासती जी से मिलने का अवसर मिला। अजमेर में पूज्य गुरुदेव श्री को आचार्य पद प्रदान किया गया और उसकी जो चद्दर रश्म हुई वह बहुत ही दर्शनीय थी। अजमेर से आचार्य प्रवर पंजाब, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश को स्पर्शते हुए राजस्थान में पधारे किन्तु महासतीजी से पुनः मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ।

सन् १९८७ में पूना सन्त सम्मेलन का नव्य-भव्य आयोजन पुण्य भूमि पूना में हुआ। इस सम्मेलन में दूर-दूर से सन्त और सती वृन्द का पदार्पण हुआ। गम्भीर विचार चर्चाएँ हुईं। श्रमणसंघ को सुदृढ़ बनाने का उपक्रम किया गया। साहित्य मनीषी श्री देवेन्द्र मुनिजी उपाचार्य पद और डॉ. शिव मुनि जी को युवाचार्य पद देकर श्रमणसंघ की गरिमा में अभिवृद्धि की गई। इस सम्मेलन में हमारे उपा-

चार्य श्री जी की ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी भी पधारी और आचार्य श्री के सानिध्य में उनका वर्षावास भी अहमदनगर में हुआ। चार माह तक महासतीजी को बहुत ही निकट से देखने का सुनहरा अवसर मिला। और अनेक बार आप श्री के प्रवचनों को भी सुनने का सौभाग्य मिला। आप जब कभी भी किसी भी विषय पर बोलती हैं तो उस विषय के तल-छट तक पहुँचती हैं। सूक्तियाँ-युक्तियाँ और रूपक के माध्यम से विषय को इतना सरल-सरस बनाकर प्रस्तुत करती हैं कि श्रोता सहज ही विषय को हृदयंगम कर लेता है।

मैंने महासती जी को, स्वाध्यायी बन्धुओं को पढ़ाते हुए भी देखा है। वे एक-एक बात को बहुत ही सरल रीति से समझाती हैं। पहले मूल पाठ पर अर्थ करती हैं, फिर विषय का विवेचन इस प्रकार करती हैं कि कठिन से कठिन विषय भी समझने में कठिनता नहीं होती।

मैंने वर्षावास में यह अनुभव किया कि महासती जी का हृदय मक्खन से भी अधिक मुलायम है। किसी भी दुःखी व्यक्ति को देखकर उनका कोमल हृदय द्रवित हो जाता है। साथ ही उनका हृदय सरल भी है। इस कारण उनके जीवन में विविध गुणों का मधुर संगम हुआ है। मैं अभिनन्दन के पावन प्रसंग पर अपनी ओर से श्रद्धा सुमन समर्पित कर रहा हूँ।

पुष्प सूक्ति कलियां

□ असत्याचरण मनुष्य को परमात्मा से दूर कर देता है, और मानव समाज जो बहुत हानि पहुँचाता है।

□ असत्य परलोक के लिए दुःखदाय है। इस लोक में भी असत्यवादी की निन्दा ही होती है, कोई उसकी सच्ची बात पर भी विश्वास नहीं करना।



## अन्तर साधना की एक सफल यात्री

--महासती कुसुमवतीजी महाशय

जैन धर्म की साधना अन्तःपरिमार्जन की साधना है, आत्म-परिष्कार की उपासना है। वह बाह्य वेश-भूषा और कर्मकाण्ड की चमक-दमक में समाप्त नहीं होती। उसका मार्ग बाहर की अपेक्षा अन्तरंग अधिक है यही कारण है, कि स्त्री-पुरुष आदि का बिना भेद-भाव के कोई भी व्यक्ति आन्तरिक साधना से जीवन को साधकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

परम विदुषी साध्वीरत्न महासती श्री पुष्पवती जी इसी अन्तरंग साधना की एक प्रशस्त यात्री हैं, वाल्यकाल में उन्होंने श्रमणधर्म की निर्मल साधना को स्वीकार किया और तब से सतत बिना किसी प्रकार का शोरगुल मचाए, विज्ञापनबाजी से दूर रहकर मौन भाव से सद्गुरुणी निदिष्ट अध्यात्म पथ पर सिंहनी की भाँति निरन्तर गति और प्रगति करती रहीं। आँधी आई, तूफान आए और भयंकर झंझावात भी आये पर न कहीं भटकी न रुकी, किन्तु विवेक और वैराग्य की जगमगाती मशाल लेकर निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती रही; उनकी साधना सभी के लिए एक मूर्तिमान आदर्श है।

साधना की सर्वप्रथम कसौटी है सरलता, निष्कपटता, अदम्भता बिना सरलता के आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती। द्रव्य-काल-भाव की दृष्टि से बाह्याचार में कुछ परिवर्तन हो सकता है पर यदि उसका हृदय सरल है, तो उसकी साधना घृत-सिक्त पावक के समान सहज, सरल और निर्धूम होगी, निर्मल होगी। महासती पुष्पवतीजी सरलता की ज्योतिर्मय मूर्ति हैं, यदि साहित्यिक भाषा में कहा

जाय तो वे नख-शिख सरल हैं, निर्दम्भ हैं, मैंने उन्हें बहुत ही निकट से देखा है वर्षों तक मैं उनके सतत् साहचर्य में रही हूँ। कितनी ही बार मैंने उन्हें परखा है। वे शत-प्रतिशत सरल हैं - अनेकों बार अदम्भ भाव की कसौटी पर वे खरी उतरी हैं। उनका आचार सरल है, विचार निर्मल है, और परस्पर व्यवहार स्नेह और सौहार्द से तरल है। जो भी किया वह साफ और जो भी कहा वह भी साफ उन्हें लुकाव और छिपाव पसन्द नहीं।

पुष्पवतीजी के दीक्षा के कुछ माह पूर्व मेरी दीक्षा हुई। हम दोनों एक ही सद्गुरुणी की शिष्या रही हैं। हम दोनों में अपार स्नेह और सद्भावना रही, हम दोनों ने साथ-साथ अध्ययन किया और परीक्षाएँ दी। उनकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी, प्रत्येक विषय के तल छट तक वे पहुँचती थी तथापि उनमें नम्रता कूट-कूटकर भरी थी। अहंकार और ममकार का नाग उन्हें कभी डंसा नहीं। उनकी वाणी और व्यवहार में सदा मुझे नम्रता के संदर्शन होते रहे हैं।

अध्ययन के पश्चात् वे लम्बे समय तक उदर व्यथा, सिर व्यथा आदि से परेशान रही, किन्तु कभी भी हताश और निराश न होकर वीरबाला की तरह संकटों को परास्त करती हुई वे आगे बढ़ी हैं। वे एक सफल लेखिका हैं, उन्होंने दशवैकालिक जैसे आगम ग्रन्थरत्न का सम्पादन और विवेचन किया है तो किनारे-किनारे, सती का शाप, कंचन और कसौटी, फूल और भंवरा जैसे श्रेष्ठ उपन्यासों की लेखिका भी हैं। लेखिका के साथ कुशल प्रवचन कर्त्री भी हैं।



दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर मैं अपनी लघु बहन पुष्पवती जी का हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ और यह मंगल भावना भाती हूँ कि वे पूर्ण स्वस्थ रहकर सद्गुरुणी जी के नाम को अधिकाधिक रोशन करें। उनका नाम सर्वत्र और सर्वदा चमकता रहे और उनके काम की महिमा सदा गाई जाय।

□

बहुमुखी प्रतिभा--श्री पुष्पवतीजी

—उदय मुनि 'जैन सिद्धान्ताचार्य'

भारतीय पश्च्यता एवं संस्कृति में नारी शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने विविध रूपों में नारी ने प्रेम, त्याग, करुणा व धर्म की ऐसी मिशालें प्रस्तुत की हैं कि सारा जग आज भी इसके सामने नतमस्तक सा है। सीता, अंजना, चंदनबाला, लक्ष्मीबाई, रजिया सुल्तान आदि ऐसी अनेक महान् नारियाँ इस धरा पर हुई हैं जिन्होंने भारत का नाम सारे विश्व में रोशन किया है।

जैन धर्म परम्परा में भी ऐसी अनेक सतियाँ-श्राविकाएँ हुई हैं जिसके कारण यह धर्म अपने आप को गौरवान्वित महसूस करता रहा है। महासती दनबाला, मैनासुन्दरी, मृगावती आदि अनेकों महासतियाँ जहाँ भूतकाल में हुई हैं वहीं वर्तमान में भी यह शृंखला अबाध रूप से जारी है। आज भी जैनधर्म में ऐसी अनेकों महासतियाँ विद्यमान हैं जो कठोर संयमी पथ पर चलते हुए अपनी आत्मा का कल्याण करने के साथ-साथ भवीजनों को भी धर्म का सुमार्ग बता रही हैं। परम विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी म० सा० एक ऐसी ही महासती हैं जो संयमी जीवन के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में प्रवेश करने जा रही हैं।

उदयपुर (राज०) में पिता श्री जीवनसिंह बर-

ड़िया एवं माता प्रेम देवी के घर १८ नवम्बर १९२४ को जन्मी सुन्दर कुमारी ने मात्र १४ वर्ष की अल्पायु में संयमपंथ अंगीकार कर वैराग्यमय जीवन अपना लिया। गुरुणी महासती श्री सोहनकुंवरजी म० सा० एवं गुरु उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० सा० आदि के सांनिध्य में रहकर आपने अनेक जैन ग्रंथों व आगमों का गहन अध्ययन किया। चारित्रिक दृढ़ता एवं ज्ञान-सम्पन्नता के साथ-साथ आपकी लेखनी भी सुसाहित्य सृजन में लग गई। जहाँ आपने अनेक; रचनाओं का सर्जन किया वहीं अनेक कृतियों का सफल सम्पादन भी किया। अपने दीर्घ संयमी जीवन में आपने भेवाड़, मारवाड़ और म० प्र० आदि क्षेत्रों में पैदल विहारकर हजारों-लाखों धर्मात्माओं को आत्म-कल्याण के सत्य धर्म पथ का ज्ञान कराया। आप श्री के बहुमुखी व्यक्तित्व से प्रेरित, प्रभावित होकर अनेक भगव्य आत्माओं ने भगवती दीक्षा अंगीकार की।

महासती जी म० सा० अपने संयमी जीवन के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में प्रवेश कर रही हैं। इस शुभ-अवसर पर हम सब मिलकर उनका सादर अभिनन्दन करते हुए उनके शतायु होने की कामना करते हैं। आप श्री अपने ज्ञान-ध्यान, संयम-साधना से आत्म-कल्याण के साथ-साथ जन-जन को सुपथ के लिए सदा प्रेरित करते रहे, इन्हीं शुभ भावों के साथ कलम को विराम देता हूँ।

□

अ श्रि न तद न के बो ल

—श्री जजित मुनि 'निर्मल'

श्रमण भगवान महावीर के धर्म शासन में जैन नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चतुर्विध संघ में दो संघों का सम्बन्ध नारी से है, एक साध्वी और दूसरी श्राविका। साधु और श्रावक की भांति साध्वी और

श्राविका का महत्त्व भी कम नहीं है। वे भी संघ के आधार हैं, जो अपने आप में एक ऐसी मिशाल है जो अयन्त्र ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकती।

जहाँ तक आध्यात्मिक उत्कान्ति का प्रश्न है, नारी पुरुष से किसी भी प्रकार कम नहीं है। वह केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त कर सकती है। नारी तप और त्याग की, संयम और साधना की ज्वलन्त प्रतिमा हैं, अदभुत है उसकी महिमा अनुपम है उसकी गरिमा। ऐसा कोई काल नहीं रहा, जिसमें जैन नारी पुरुषों से आगे न रही हों। प्रत्येक तीर्थङ्कर के समय श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियों की संख्या अधिक रही। श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाएँ अधिक रहीं। जब हम आगमों में उनका तप और त्याग से जगमगाता जीवन पढ़ते हैं तो हृदय उनके चरणों में नत हो जाता है, सिर श्रद्धा से झुक जाता है।

अतीतकाल में अगणित जैन नारियाँ हुई हैं, जिनके तप और त्याग की कमनीय कहानियाँ जन-जन की जिह्वा पर अंकित हैं। आज भौतिकवाद के युग में नारियों का बीभत्स रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। सत्य और शील की पावन प्रतीक नारी को

जिस घटिया स्तर से प्रस्तुत किया जा रहा है। वहाँ जैन नारी एक आदर्श नारी के रूप में अपनी आन-बान और शान बनाये हुए है। उसका उज्ज्वल और समुज्ज्वल जीवन आलोक स्तंभ की तरह पथ प्रदर्शक है।

साध्वी श्री पुष्पवतीजी जैन संसार की एक परम विदुषी साध्वीरत्न हैं, जो सर्वदा निस्पृह और निर्वेक्ष भाव से साधना के पथ पर अविराम गति से बढ़ती रही हैं। उन्होंने न्याय, व्याकरण, काव्य, आगम आदि दर्शन तथा नीति ग्रन्थों का तल स्पर्शी अध्ययन कर अपने जीवन को चमकाया है। वे साधु-जीवन और मर्यादा के साक्षात् प्रतिभूति हैं। ऋजुता समता एवं करनी-कथनी की एकरूपता उनकी सहज वृत्ति है। वस्तुतः गुण गम्भीर एवं शान्त प्रकृति की साध्वीरत्ना पुष्पवतीजी मानव समाज की गौरव हैं।

ऐसी साध्वीरत्न का अभिनन्दन। तप-त्याग-संयम, समता, सत्य, शील, सेवा, सदाचार का अभिनन्दन है। मैं अभिनन्दन की इस मंगल वेला में अभिनन्दन करते हुए अपने आपको धन्य अनुभव कर रहा हूँ। यह जैन नारी का अभिनन्दन है।

□

## वि वि ध ता ओं का सं ग म

---महासती प्रमोदसुधा जी

महासती पुष्पवती जी के जीवन में विविधताओं का मधुर संगम है। उनमें श्रद्धा की प्रमुखता है तो तर्कशक्ति भी कम नहीं है। उनमें समता की प्रधानता है तो शासक का मनोभाव भी है। उनमें हृदय की सुकुमारता है, वहाँ चरित्र पालन के प्रति पूर्ण कठोरता भी है। वे किसी भी व्यक्ति में गुणों की अपेक्षा करती हैं। और उसके दुर्गुणों की अपेक्षा करती हैं। उनमें जहाँ धर्म के प्रतिराग है, वहाँ संसार के प्रति विराग है। इस प्रकार उनका जीवन विविध विरोधी युगल का सरस संगम है।

एक दिन उन्होंने राजस्थान की पावन पुण्य धरा उदयपुर में जन्म ग्रहण किया। अभिभावक गणों के प्यार को ठुकरा कर साधना के महामार्ग पर कदम बढ़ाये। आत्मा में जो अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने साधना का पथ स्वीकार किया।

विविधताओं का संगम | २६



जैसे मिट्टी में गंध होती है। वह अव्यक्त गंध पानी का योग मिलते ही व्यक्त हो जाती है। अगर में गंध होती है, वह गंध अग्नि का सम्पर्क पाते ही व्यक्त हो जाता है। वैसे ही आत्मा को अपूर्व शक्ति भी दीक्षा का संयोग पाते ही व्यक्त होने लगती है। दीक्षा वह संस्कार है जो आत्मा को असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती है।

यह एक परखा हुआ सत्य है—तपे बिना कोई भी व्यक्ति ज्योति नहीं बनता और खपे बिना कोई भी व्यक्ति मोती नहीं बनता। आत्मोपकार के बिना परोपकार नहीं हो सकता। परोपकार का उत्स आत्मोपकार ही है। जो अपने आप को गंवाकर दूसरों के निर्माण का स्वप्न देखता है वह दूसरों को बना नहीं पाता और वह अपने आपको भी गंवा देता है। दूसरों का वही निर्माण कर सकता है, जो पहले-पहले अपने आपका निर्माण करता है। महासती जी ने पहले अपने आपको साधना में, ज्ञान में, ध्यान में खपाया। इसलिए आज वे हमारा पथ प्रदर्शन करने में सक्षम हुई हैं।

महासती जो सत्य की उपासिका हैं। बिना सत्य के व्यक्ति का जीवन अभय नहीं हो सकता। जहाँ पर सत्य नहीं होता, वहाँ पर अभय विकसित नहीं हो सकता। सत्य और अभय की समन्विति ने महासती जो को यथार्थ कहने की अपूर्व शक्ति प्रदान की। यही कारण है कि वे अपनी दुर्बलताओं को भी सहज रूप से स्वीकार कर लेती हैं। उनका मन्तव्य है कि अपनी भूलों को छिपाना, भूलों को प्रोत्साहन देना है। भूल को स्वीकार करने में संकोच किस बात का।

लम्बे समय तक महासती पुष्पवती जी सिर की व्यथा से व्यथित रहीं। भयंकर वेदना होती थी। डॉक्टर भी निदान नहीं कर सके कि किस कारण से व्यथा है। पर आपका मनोबल, आत्मबल इतना प्रबल रहा कि आप कभी भी पराजित नहीं हुईं। आपका यह मन्तव्य है—तन की व्याधि उतनी खतरनाक नहीं है, जितनी मन की व्याधि-तन की बीमारी से भी मन की बीमारी भयंकर है। यदि मन स्वस्थ है तो मन की व्यथा उतनी परेशान नहीं करेगी ?

महासती जी सर्व धर्म समन्वय की समर्थक हैं, उनका मन्तव्य है कि सम्प्रदाय बुरे नहीं है, सम्प्रदायवाद बुरा है। विभिन्न सम्प्रदायों विभिन्न रचि के प्रतीक हैं। सम्प्रदाय सद्भाव को नष्ट नहीं करती, विचार भेद भले ही हों, पर मनभेद नहीं होना चाहिए। हमें दूसरों के विचारों के प्रति सदा सहिष्णु रहना चाहिए। दूसरे के प्रति वृणा और तिरस्कार की भावना नहीं होनी चाहिए। श्रमण भगवान महावीर ने हमें अनेकान्तवाद का उदार दृष्टि-कोण दिया है। फिर हम एकान्त दृष्टि-कोण को अपना कर परस्पर क्यों लड़े, क्यों आपस में झगड़े।

अग्नि का संस्पर्श पाकर काला-कलूटा कोयला भी सोने की तरह चमकने लगता है। उसका जीवन परिवर्तित हो जाता है। वैसे ही महासती जी के सानिध्य से अनेक भव्य जीवों के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ है। उनकी महान् विशेषताओं का अंकन करना हमारी शक्ति से परे है।

पूना सन्त सम्मेलन के पावन प्रसंग पर आप श्री के दर्शन हुए। आपकी महिमा और गरिमा हमने बहुत पहले भाई श्री देवेन्द्र मुनि जो से सुन रखी थी, पर साक्षात् दर्शन कर हमें यह अनुभूति हुई कि जितना सुना था उससे अधिक आपको देखा। उपाचार्य चद्वर महोत्सव पर हमने अपने प्यारे भाई महाराज का अभिनन्दन किया, और अब आपका अभिनन्दन कर रही है।

इस मंगल बेला में हमारी यही मंगलकामना है कि वे पूर्ण स्वस्थ रहकर समाज को सतत मार्गदर्शन करती रहें।



## प्रज्ञा की ज्योतिर्मय मूर्ति

---महासती रत्नज्योति जी

साध्वी रत्न महासती श्री पुष्पवती जी स्थानकवासी समाज की साध्वियों में अग्रगण्य हैं। महासती जी प्रज्ञा की एक ज्योतिर्मय सजीव मूर्ति हैं। उनका सरल स्वच्छ, सहज, सद्ब्यवहार, प्रत्येक सहृदय को सहसा आप्यायित कर देता है। उनका गहरा अध्ययन और सूक्ष्मचिन्तन कठिन से कठिन विषय को भी अन्तरतल तक स्पर्श करके सरल रूप में प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने ज्ञान को आत्म-साध्य भाव से निहारा है और उसे अपने आचरण में उतारा है। यही कारण है कि ज्ञान की उष्मा ने उन्हें केवल ताकिक नहीं बनाया अपितु श्रद्धा के दिव्य आलोक से आपूरित किया है। महासती जी केवल दार्शनिक ही नहीं हैं अपुति उनके पास साधना और संयम का विशेष बल है। जो भी रिक्त साधन उनके पास जाता है वह भरा हुआ आता है।

सन् १९७६ में पुज्य उपाध्याय विश्व सन्त पुष्कर मुनि जी महाराज का महाराष्ट्र से कर्नाटक पदार्पण हुआ। गुरुदेव के आगमन को सुनकर जन-जन के मन में अपूर्व उत्साह का संचार हुआ। मेरे नाना जी देवराजजी बाघमार और मेरे पुज्य पिताजी गुलाबचन्द जी बरडिया और माताजी आनन्दी बाई जो धर्म के जीवन्त रूप हैं। उन्होंने अत्यन्त आत्हावित होते हुए कहा कि हमारा कितना सद्भाग्य है कि गुरुदेव श्री राजस्थान से कर्नाटक में पधार रहे हैं। मैं अपने अभिभावक गणों के साथ दर्शनार्थ पहुँची। प्रथम दर्शन में ही मुझे यह अनुभूति हुई कि गुरुदेव के साथ जन्म-जन्म का सम्बन्ध है। मैंने इन महापुरुषों को कभी न कभी देखा है, पर कब देखा यह स्मृति पर जोर देने पर भी मुझे स्मरण नहीं आ रहा था। इस भव में तो नहीं, किसी न किसी भव में तो अवश्य ही देखा है। गुरुदेव श्री गजेन्द्र गढ़ पधारे। प्रवचन के पश्चात् मैं माता जी के साथ दर्शन हेतु पहुँची। मेरी भूआ सद्गुरुणी जी श्री पुष्पवती जी महाराज के पास कुछ समय से धार्मिक अध्ययन कर रही थी। मैंने गुरुदेव से पूज्य महासती जी के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की और देवेन्द्र मुनिजी से यह भी पूछा—आपने दीक्षा कैसे ली? दीक्षा के सम्बन्ध में महाराज श्री ने जानकारी दी। और मेरी सहज भावना को निहारकर मुझे प्रतिबोध भी दिया कि संसार असार है, कि यह आत्मा अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। दीक्षा एक ऐसा उपक्रम है जिसमें साधक अधिक से अधिक अन्तर्मुखी होकर अपने आपको निहारता है। दीक्षा बुभुक्षु नहीं, मुमुक्षु लेता है। गुरुदेव के उपदेश का असर मेरे पर हुआ। मेरी माँ के संस्कारों का असर मेरे पर पहले से ही था गुरुदेव के उपदेश से वे संस्कार अधिक प्रभावित हो गये। गुरुदेव वर्षा-वास हेतु रायचुर पधारे और वहाँ का यशस्वी वर्षावास सम्पन्न कर गदग पधारे। उधर उदयपुर में मेरी सांसारिक भूआ आशा जी जो साध्वी बनने के बाद किरण प्रभाजी के नाम से विश्रुत हैं। उनकी दीक्षा होने वाली थी, उस सुनहरे अवसर पर मैं उदयपुर पहुँची। गुरुणी जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मिला, मेरा हृदय कमल खिल उठा और मन मयूर नाच उठा। मैंने अपनी माँ से यह निवेदन किया कि

मैं तो गुरुणी जो महाराज की सेवा में रहकर धार्मिक अध्ययन करूँगी। माँ की अनुमति से मैं उदयपुर गुरुणी जी महाराज की सेवा में रह गई। गुरुणीजी महाराज की सेवा में रहने पर मुझे अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई।

उस समय माता जी महाराज विराज रही थीं, वे वातजल्यमूर्ति थीं। उनका अगार स्नेह मेरे पर था। उनका सम्पूर्ण जीवन तप और त्याग का पावन प्रतिष्ठान था! उनके जीवन में ज्ञान और क्रिया की ऐसी समन्विति थी कि जो देखते ही बनता था। मेरे मन में यह दृढ़ संकल्प था। जब दक्षिण भारत की यात्रा कर गुरुदेव श्री इधर पधारेगें, तभी मैं दीक्षा ग्रहण करूँगी। मैंने अपने हृदय को वात मद्रास वर्षावास में और सिकन्दराबाद में गुरुदेव श्री को निवेदन की। गुरुदेव श्री ने मेरे पर अपार कृपा कर सिकन्दराबाद से विहार कर उदयपुर पधारे। दो हजार से भी अधिक किलो मीटर का विहार पाँच-छः महीने में करना कोई बच्चों का खेल नहीं, गुरुदेव पधारे और बहुत ही उत्साह के क्षणों से सन् १९८० में मेरी दीक्षा उदयपुर में सम्पन्न हुई। मेरा सांसारिक नाम सुन्दर कुमारी था। इसके स्थान पर मेरा नाम रत्न ज्योति रखा गया।

यह एक नियम है, जो वस्तु बहुत ही सन्निकट होती है उसे देखना बहुत ही कठिन होता है। जो महापुरुष सन्निकट होते हैं उनके सम्बन्ध में लिखना और कहना बहुत ही कठिन है। क्योंकि सभ्य शब्द असीम व्यक्तित्व का उद्गार नहीं कर सकते। सद्गुरुणी जी महाराज के सम्बन्ध में मैं क्या लिखूँ!

वे विलक्षण प्रतिभा के धनी हैं। इस संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें प्रतिभा का अभाव होता है पर वे प्रतिभा का विज्ञापन करते हैं। कितने ही व्यक्ति वो होते हैं जिनमें प्रतिभा होती है किन्तु प्रतिभा का विज्ञापन नहीं करते। गुरुणीजी महाराज में प्रतिभा है पर वे अपनी प्रतिभा का कभी प्रदर्शन नहीं करती। उन्हें स्वदर्शन में विश्वास है, प्रदर्शन में नहीं। गुरुणी जी महाराज के जो भी सम्पर्क में आता है, वह उनकी तेजस्वी प्रतिभा से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

आप श्री का आगमों का अध्ययन बहुत ही गहरा है। आगम के रहस्यों को जिस सरलता और सुगमता से आप समझाती हैं। वह कठिन से कठिन विषय भी सहज रूप से समझ में आ जाता है। मैंने आप श्री से अनेक आगमों का अध्ययन किया। वस्तुतः आपका प्रतिभा को देखकर सिर नत हो जाता है। आगम ही नहीं जैन दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन जब आप कराती हैं तो उस विषय की एक-एक कली आप स्पष्ट कर देती हैं। अद्भुत है आप में अध्ययन करने की कला।

आपकी प्रवचन कला भी बहुत ही अनूठी व चिन्ताकर्षक है। प्रवचन तो सभी करते हैं पर प्रवचन की कला किसी-किसी में होती है। जो शब्द हृदय की गहराई से निकलते हैं। उसमें स्वाभाविकता, सहजता, सरलता होती है। जो उपदेश आत्मा से निकलता है; वह आत्मा को स्पर्श करता है जो शब्द केवल जीभ से ही निकलते हैं वे शब्द कानों तक पहुँच कर ही अटक जाते हैं वे शब्द हृदय को छू नहीं पाते, हृदय को स्पर्श नहीं कर पाते। गुरुणी जी महाराज के प्रवचनों की यह विशेषता है कि वे उनके प्रवचनों में गहरा चिन्तन मनन और अपने अनुभवों का और सत्य का प्रकृत बल है। उनकी वाणी में मधुरता है, नदी की धारा की भाँति उसमें गति है। अग्नि की ज्योति की तरह उसमें तेज है, प्रकाश है, उसमें आपके चिन्तनशील मस्तिष्क का स्पष्ट प्रतिबिम्ब निहारा जा सकता है। आपकी भाषा में माधुर्य के साथ ही चुटीलापन भी है और विचार प्रवणता भी।

आपका हृदय पवित्र है। इसलिए आपकी वाणी में पवित्रता का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है। जिस घर में गन्दगी का अम्बार लगा हुआ हो वहाँ पर कितनी ही अगर बत्तियाँ जलाई जाय तो भी सुगन्धी महक नहीं सकती। जीवन में अपवित्रता है तो वहाँ पर धर्म का तेज प्रकट नहीं हो सकता

मन में यदि अपवित्रता है तो धर्म की तेजस्विता प्रकट नहीं हो सकती। गुरुणीजी महाराज के हृदय में पवित्रता है और वही पवित्रता वाणी के रूप में अभिव्यक्त होती है। आप देखेंगे, वे अपने विषय का प्रतिपादन करने हेतु आगमों की सूक्तियों का प्रयोग करते हैं। जहाँ वे नीतिशास्त्र की उक्तियों का भी प्रयोग करती हैं। ती महापुरुषों की सूक्तियाँ भी प्रस्तुत करती हैं। रूपक, आगम कथाएँ व लोक कथाएँ, भी सुनाती हैं। जिससे श्रोताओं को गहन और गम्भीर विषय भी सहज रूप से समझ में आ जाता है।

गुरुणी जी महाराज सदा समन्वयात्मक भाषा का ही प्रयोग करती हैं। वे समन्वय की दृष्टि से सोचती हैं और समन्वय की दृष्टि से ही वे लिखती भी हैं। समन्वय मूलक नीति के कारण ही वे जन-जन की आदरपात्र बनी हैं। वे जो भी बात कहती हैं चन्दन के शर्वत की तरह गले के नीचे उतर जाती हैं। उनकी वाणी में ओज है, तेज है, हृदय की पवित्रता है और साधना का उत्कर्ष है। आपके प्रवचनों से जहाँ वृद्ध व्यक्तियों को आगम के रहस्य जानने को मिलते हैं। वहाँ युवकों को चिन्तन और अनुभव का अमृत मिलता है।

आपके विराट् व्यक्तित्व, चिन्तन को गहराई और आत्मीयता की प्रवाहित सरिता को निहारकर मैं मन ही मन श्रद्धानत हूँ। आपके स्नेह पूर्ण सद्व्यवहार से मेरे अन्तर्मानस की कई उलझी हुई ग्रन्थियाँ सुलझ गई। आपके सम्बन्ध में मैं क्या लिखूँ, यह एक प्रश्न चिन्ह मेरे सामने है। मैं कवि के शब्दों में इतना ही निवेदन कर सकती हूँ कि—

“तुम एक गुल हो, तुम्हारे जलवे हजार हैं।  
तुम एक साज हो, तुम्हारे नगमें हजार हैं।



## विराट् मनोवृत्ति की धनी

—महासती चन्द्रावतीजी

शब्द परिमित है और व्यक्तित्व की रेखाएँ अपरिमित हैं। परिमित शब्दों में अपरिमित व्यक्तित्व को बांधना गागर में सागर भरने के समान कठिन ही नहीं, अति कठिन है। पर विवशता है, यथार्थता अभिव्यक्ति पाने के लिए ललक रही है। इसीलिए यह प्रयास है सद्गुरुणी जी के व्यक्तित्व का लेखा-जोखा जितना अनुभूति परक है उतना अभिव्यक्ति परक नहीं। क्योंकि अनुभूति चेतन है, तो अभिव्यक्ति के शब्द जड़ है तथापि संसार शब्दों के सहारे की अपेक्षा करता है। इसलिए उस विराट्

व्यक्तित्व के चित्र को शब्दों के फ्रेम में मढ़ने का प्रस्तुत उपक्रम है।

प्रसन्न मन, सहज ऋजुता, जन-जन के प्रति समभाव आत्मीयता की तीव्र अनुभूति गहन चिन्तन परोपकार परायण व्यक्तित्व, वात्सल्य का उमड़ता सागर जो एक बार भी आप श्री निकट सम्पर्क में आता है उस पर आपके तेजस्वी व्यक्तित्व की छाप सदा-सदा के लिए अंकित हो जाती है।

चिन्तन के क्षणों में बैठी हुई मैं सोच रही हूँ कि मैं क्या लिखूँ सद्गुरुणीजी के अगणित संस्मरण मेरे स्मृति पटल पर रह-रहकर आ रहे हैं। किस संस्मरण को लिखूँ और किसे न लिखूँ यह समझ में नहीं आ रहा है।

सन् १९४६ फरवरी मास में उदयपुर की रमणीय भूमि में सद्गुरुणी जी महाराज विराज रही थी। मैं अपनी पूज्यनीया माता लहरीबाई के साथ

दर्शनार्थ पहुँची। वन्दनकर मैंने निवेदन किया कि मैं कानोड़ निवासी पद्मालालजी मेहता की पुत्री हूँ। गुरुणीजी महाराज ने मुझे बताया कि ये सद्गुरुणीजी सोहनकुंवरजी म० हैं। और ये तपोमूर्ति मदन कुंवर जी म० हैं। और ये माताजी श्री प्रभावती जी महाराज हैं। प्रथम दर्शन में ही मैं सद्गुरुणी जी से प्रभावित हुई। अपने स्थान पर पहुँची पर मेरे आँखों के सामने वही छवि रह-रहकर आने लगी। मैं प्रतिदिन दर्शनार्थ जाने लगी।

एक दिन मैंने अपने हृदय की बात मां से कही। मां ने कहा—दीक्षा लेना कोई हंसी खेल नहीं है तू अभी बहुत छोटी है मैं पहले देखूंगी कि तेरा वैराग्य कितना पक्का है। उसके बाद ही अगली बात....। माताजी को जब यह पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरी वैराग्य भावना अन्तर्हृदय से उद्बुद्ध है तो वे स्वयं भी दीक्षा के लिए कटिबद्ध हो गईं। सन् १९४७ में मैंने कपासन में दीक्षा ग्रहण की, और सद्गुरुणी जी पुष्पवती जी का शिष्यत्व स्वीकार किया। और माताजी ने महासती श्री प्रभावतीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। मैंने सद्गुरुणी जी के चरणों में बैठकर संस्कृत-प्राकृत हिन्दी आदि भाषाओं का अध्ययन किया। आगम साहित्य का परिशीलन किया।

मैंने यह अनुभव किया कि सद्गुरुणी महाराज का जीवन सद्गुणों का आगार है। वे ज्ञानी हैं पर उनमें ज्ञान का अहंकार नहीं है। वे त्यागी हैं, पर उनमें त्याग का घमंड नहीं है। वे बहुत ही सहज हैं, सरल हैं। उनका अन्तर्हृदय विल्कुल विशुद्ध है। उसमें स्नेह का सागर सदा ठाटे मारता रहता है। उसमें अपना और पराये का कोई भेद नहीं है। जो पराये हैं वे भी उनके अपने हैं। जो अपने हैं वे तो अपने हैं ही। एक बार मैं अस्वस्थ हो गई और ऐसी अस्वस्थ हो गई कि सभी मेरी अस्वस्थता देखकर घबरा गये, मेरे मस्तिष्क का संतुलन विगड़ गया। जिससे मैं एक क्षण रोती तो दूसरे क्षण खिल-खिलाकर हंस पड़ती। एक क्षण मैं ऐसी बात

करती कि सभी लोग मुझे बुद्धिमान समझते, तो दूसरे क्षण ऐसी बेतुकी बात कहती कि सभी दंग रह जाते कभी नाचती तो कभी गाती यह थी मेरे पागलपन की स्थिति ऐसी विषम स्थिति में अन्य लोग सेवा करने से कतराते किन्तु सद्गुरुणी जी ने मेरी जो सेवा की उसे मैं किन शब्दों में अंकित करूँ। उनकी सेवा भावना बहुत ही अद्भुत और अनूठी है। जब-जब भी मैं बीमार हुई तब-तब उन्होंने जो सेवा का आदर्श उपस्थित किया। वह सभी के लिए अनुकरणीय है।

आपमें अध्ययन करवाने की कला भी अद्भुत है। जब आप अध्ययन करवाती हैं तब हमें सहज ही आपकी प्रकृष्ट प्रतिभा के संदर्शन होते हैं। जिन विषय को आप पढ़ाती हैं उसे सरल और सुबोध शैली में प्रस्तुत करती हैं जिससे विद्यार्थी को अध्ययन भार रूप न होकर सहज होता है। वह अध्ययन करते हुए बोर नहीं होता। वह उन गुण गंभीर रहस्यों को सहज ही हृदयगम कर लेता है।

सद्गुरुणी जी की एक बहुत बड़ी विशेषता है, वे बहुत ही सरल हैं, उनके जीवन में पोज नहीं, किन्तु सत्य की खोज है। बनावटी और दिखावटीपन उन्हें पसन्द नहीं है। उनकी प्रकृति बहुत ही मधुर है, जो उनके चरणों में रहता है उसे अपार आनन्द की अनुभूति होती है।

मैं इस पावन प्रसंग पर यह मंगल कामना करती हूँ कि सद्गुरुणी जी सदा स्वस्थ रहकर धर्म की प्रबल प्रभावना करती रहें और मैं भी उनके श्री चरणों में रहकर अपना जीवन धन्य बनाती रहूँ।

पुष्प सूक्ति कलियाँ—

असत्य का पर्दा जब मनुष्य की बुद्धि पर पड़ता है तो उसके अन्तर्नेत्रों के आगे अन्धकार आ जाता है।

असत्य का पाप समस्त पापों से बढ़कर भयंकर है।

## संभलता का रहस्य

—महासती श्रीसतीजी महाराज

महिमामयी पुण्य भूमि राजस्थान नर रत्नों की जन्म भूमि है, इस पावन पुण्य भूमि में आध्यात्मिकता और त्याग के बीज कण-कण में समाये हुए हैं । यहाँ का जन-जीवन सांस्कृतिक-आध्यात्मिक आदर्शों से सदैव अनुप्राणित रहा है । यहाँ के अनेक रण-वीर राष्ट्र भक्तों और अध्यात्म साधक सन्त-महात्माओं की गौरव गाथाएँ इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं । जब उनका पुण्य स्मरण होता है तो हमारा सिर श्रद्धा से उन्नत-समुन्नत हो जाता है ।

इसी पुण्य भूमि में हमारी श्रद्धेया वहिन महासती पुष्पवतीजी का जन्म हुआ, उन्होंने संयम-साधना कर जो कीर्तिमान संस्थापित किया है वह अध्यात्म-साधकों के लिए दीप स्तम्भवत् है ।

उनका जीवन प्रारम्भ से ही संस्कारित रहा है । पिता का तेज इन्हें विरासत में मिला और सद्गुरुणी श्री सोहनकुंवरजी म० की आध्यात्मिक निधि प्राप्त कर इन्होंने अपने जीवन को कसा, और माताजी श्री प्रभावतीजी ने जीवन निर्माण में आपको अपूर्व योगदान दिया । जिसके फलस्वरूप आज आप इतने महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँची हैं ।

बाल्यकाल में हम कई बार साथ-साथ में हम-जौली होने के कारण खेलती रहीं, जब उन्होंने दीक्षा ग्रहण की तब मेरी भुआ हॉस्पिटल में थी, उनका हाथ जल गया था, भयंकर वेदना थी । मैं उनकी सेवा में रही, मैंने उस समय देखा मेरी भुआ उस विकट संकट की घड़ियों में भी संयम-साधना के महामार्ग को ग्रहण करने के लिए उत्सुक थी, उन्हीं के पावन सान्निध्य का फल है कि मैं उस समय तो नहीं, पर बाद में संयम मार्ग को ग्रहण कर सकी । और भुआ

महाराज का शिष्यत्व स्वीकार कर अपने जीवन को धन्य बना सकी ।

पुष्पवतीजी प्रारम्भ से ही प्रतिभा सम्पन्न थी, उनमें विनय और विवेक की प्रधानता थी । जिससे सद्गुरुणीजी और माताजी महाराज का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त हुआ । जीवन का अर्ध शतक जिन्होंने साधना में बिताया है आपका यशस्वी साधना मय जीवन रहा है इसीलिए आपको अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है, मेरी यही हार्दिक अभिलाषा है कि आप स्वस्थ और प्रसन्न रहें और हमारा मार्गदर्शन करती रहें । हम आपके नेतृत्व में साधना के पथ पर अग्रसर होती रहें ।

७

महाराज का शिष्यत्व स्वीकार कर अपने जीवन को धन्य बना सकी ।

शुभाशुभः

—मदन मुनि 'परिक'

महाराज का शिष्यत्व स्वीकार कर अपने जीवन को धन्य बना सकी ।

मानव जीवन की प्राप्ति पुण्योदय से ही होती है । यही वह भव है जिसमें यदि जोव अप्रमादी होकर आत्म-साधना के पथ पर आगे बढ़े तो सदाकाल के लिए जन्म मृत्यु के चक्र से छूटकर मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है ।

इस सत्य को सुनते तो बहुत लोग हैं किन्तु अपने हृदय में धारण बहुत ही कम कर पाते हैं । और हृदय में धारण करके निरन्तर एकाम्चित्त से साधना के पथ पर अग्रसर होते रहना तो इने-गिने लोगों के ही वश की बात होती है ।

विश्वसन्त उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज तथा चन्दनवाला श्रमणीसंघ की अध्यक्षता महासती सोहनकुंवरजी महाराज की सुशिष्या

शुभाशुभः | ३५

आत्मदृष्टा साधिका महासती पुष्पवतीजी महाराज एक ऐसी ही विभूति हैं जिन्होंने आत्मसाधना के कंटकाकीर्ण पथ पर अपने अडिग-चरण बहा कर न केवल अपनी पवित्र आत्मा को और अधिक निर्मल बनाया है, बल्कि समस्त स्थानकवासी जैन समाज का पथ प्रदर्शन करके उस पर परम उपकार किया है।

चंदन वृक्ष के समीप जाने से जिस प्रकार सुरभि प्राप्त होती है, शुभ चन्द्रिका से जिस प्रकार शीतलता प्राप्त होती है, उसी प्रकार महासती पुष्पवती जी के सान्निध्य में रहने से संसार जाल में जकड़े हुए व्यक्तियों को परम आत्मशान्ति का अनुभव होता है। संसार तो आशा-निराशा का एक झूला है, सुख-दुख की धूप-छाँह है, इसमें दोलित होते हुए व्यक्तियों को महासतीजी के जीवन दर्शन से अपना खोया हुआ विश्वास, टूटा हुआ मनोबल तथा विलुप्त होती हुई आस्था पुनः प्राप्त होती है। जो भी लोग कुछ समय के लिए भी उनके सान्निध्य में आते हैं अथवा उनके सदुपदेश का श्रवण करते हैं, उनकी दृष्टि में आत्म-साधना का उज्वल, प्रकाशित क्षेत्र प्रकट हो जाता है तथा उन्हें परम शान्ति की अनुभूति होती है। उनके मन में यह विश्वास जागता है कि हम भी यदि प्रयत्न करें तो आगे बढ़ सकते हैं, अपनी मुक्ति का मार्ग खोज सकते हैं।

महासतीजी परम विदुषी हैं। जैन समाज के गौरव, ज्ञान-महोदधि, पंडित रत्न श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, पंडित रमाशंकरजी शास्त्री जैसे ज्ञानी विद्वान से उन्होंने शिक्षा प्राप्त की है तथा जैन शास्त्रों का अध्ययन किया है। सोने और सुहागे की कहावत चरितार्थ हुई है। महासती पुष्पवतीजी जैसी साधिका और पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल जैसे विद्वान का सुयोग मिलने से महासतीजी की साधना में कितना सुन्दर निखार आया है परिणामतः उन्होंने अविराम अध्ययनरत रहते हुए व्याकरण मध्यमा, साहित्य मध्यमा, न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, जैन सिद्धान्ताचार्य, साहित्यरत्न इत्यादि

परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर इन्हीं उपाधियों की शोभा बढ़ाई है तथा जैन आगम दर्शन आदि भारतीय दर्शनों का अध्ययन करके अनेक उत्तम धर्मग्रन्थों का सृजन किया है। इन ग्रन्थों में दशवैकालिक सूत्र, पुष्प पराग, किनारे-किनारे, सती का शाप, प्रभावती शतक, साधना-सौरभ आदि प्रकाशित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की सूची तो बहुत लम्बी है।

जब पुण्योदय होता है तो अनुकूल प्रसंग भी आप से आप ही जुड़ने जाते हैं। महासतीजी पुष्पवती के जीवन में भी यही घटित हुआ। माता-पिता धर्म प्रेमी प्राप्त हुए। भाई के रूप में साहित्य वाचस्पति देवेन्द्र मुनिजी महाराज प्राप्त हुए। वातावरण वैराग्यमय मिला। एक सजग, साधनामय, तपस्वी आत्मा को और क्या चाहिए था? प्रकाश का, पुण्य का प्रशस्त पथ सम्मुख था—वे उस पर अडिग चरणों से आगे बढ़ चली। ज्ञान का दोषक परम विदुषी गुरुणी जी म० सा० ने उनके अंचल हाथों में थमा दिया। बस, फिर उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे आत्म-साधना, आत्म-संयम तथा गहन तप के मार्ग पर आगे ही बढ़ती चली गई और आज भी आगे बढ़ रही है। उनका हृदय आलोकित है तथा वे लोक को भी आलोकित कर रही है।

ऐसी परम तपस्विनी, आत्म-दृष्टा साधिका महासती पुष्पवती जी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह परम हर्ष का विषय है। यह सर्वथा उचित भी है। हम उनके उज्वल, आदर्श भविष्य हेतु शुभकामना करते हैं। शुभाशीर्वाद प्रदान करते हैं। □





'ये आज हवाएं मचल-मचल  
करती आपका अभिनन्दन है ।  
नभ के नक्षत्र चमक-चमक  
करते चरणों में वन्दन है ॥'

एक ओर भारत की पुष्प धारा, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गुरु गोविन्दसिंह, नानक देव, छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, महात्मा गाँधी जैसे नर-वीरों को जन्म देकर गौरवान्वित है। तो दूसरी ओर ब्राह्मी, सुन्दरी, सीता, चन्दना, चेलना, मीरा, दुर्गा, पद्मिनी और लक्ष्मीवाई जैसी सन्नारियों को जन्म देकर सौभाग्य शालिनी हुई है। उन नर और नारियों ने भारत की महिमा और गरिमा में चार-चाँद लगाए हैं। यह सत्य है पुरुष हिमालय की तरह जन-जन का आकर्षण केन्द्र रहा है तो नारियाँ भी सरिता की सरस धारा की तरह जन-जीवन को सरसवज बनाने का अथक प्रयास करती रही हैं।

साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी एक परम विदुषी साध्वी हैं, वे स्व-कल्याण तो कर ही रही हैं, साथ ही पर कल्याण में भी संलग्न हैं आपका नाम पुष्प है, पुष्प में सुगन्ध होती है आप में भी संयम की सुगन्ध है। आप ऐसे पुष्प हैं जो सदा-सर्वदा खिले रहते हैं। आप श्रमण संघ के उपवन में खिले हुए सदाबहार पुष्प हैं।

हमने सर्व प्रथम आपके दर्शन पूना सन्त सम्मेलन में किये, प्रथम दर्शन में ही आप श्री के स्नेह और सद्भावनापूर्ण सद् व्यवहार से हम प्रभावित हुईं। आप में अनेक गुण हैं उन गुणों का वर्णन करने में मेरी लेखनी कहाँ समर्थ है, वे सारे गुण मेरी लेखनी के नुकीले नोक से उतारे नहीं जा सकते तथापि हम इतना कह सकते हैं कि आपका हृदय आकाश से भी अधिक विशाल है। और साथ ही उसमें सागर से भी अधिक गहराई है। आपका दृष्टिकोण बहुत ही विशाल है, यही कारण है कि आपकी दृष्टि में अपने और पराए का भेद नहीं है। जो पराए हैं वे भी आपके अपने ही हैं। छोटों से भी आप इतना प्यार करती हैं कि वे आपके स्नेह से गद

गद होजाते हैं बड़ों के प्रति आप में आदर और विनय है। सद्भाव-सदाचार स्नेह शुद्धात्म भाव, सहिष्णुता ऐसे सद्गुण हैं जिनके कारण आप के चरणों में हम सभी नत हैं, हम अनन्त आस्था के साथ वन्दन और अभिनन्दन करती हुई यह भव्य भावना भाती हैं—

“हजारों वर्ष जी करके,  
सभी को पथ प्रदर्शन दो ।  
अध्यात्म की सिद्ध ज्योति,  
औं ज्ञान का अमृत वर्षा दो ॥”

## परम ज्ञान साधिका

—पुनिथी विनयकुमार “भीम”

सम्पूर्ण विश्व में सम्मान बहुत से साधक और साधिकाओं को प्राप्त हुआ है और हो सकता है। किन्तु श्रद्धा किसी विरले को ही प्राप्त होती है। जो स्वयं श्रद्धामय होता है, श्रद्धेय के प्रतिपूर्ण निष्ठा के साथ समर्पित होता है और जिसका जीवन, मन, वचन, कर्म में एकरूप समरस होता है जगत् उसी के प्रति श्रद्धा का समर्पण करता है।

परमविदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी स्थानक वासी समाज की एक परम सम्माननीय साध्वीरत्न हैं, जिनके प्रति सम्पूर्ण समाज की अपार श्रद्धा एवं असीम आस्था है। उनमें विद्वता और विनम्रता का अद्भुत और मधुर संगम है। साध्वीजी अजात शत्रु हैं।

आपका व्यक्तित्व बहुत ही जुभावना व चिन्तन गहरा है। आपकी वाणी मधुरता तथा ओजस्विता से परिपूर्ण है। आप सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र्य की प्रतिश्रुति हैं। प्रकृति सरल, मिलनसार और गुण सम्पन्न है। आपके बहुमुखी व्यक्तित्व में अनोखा आकर्षण है। सरलता, सौम्यता, उदा-



## युग-युग जीवो मेरे गुरुणी जी

### -महासती हर्षप्रभा जी

“हे निर्भयता के परम उपासक ।

हो शत-शत वन्दन-अभिनन्दन ।”

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी म. का व्यक्तित्व बड़ा ही दिलचस्प और विलक्षण है। वे प्रखर चिन्तक, प्रभावी व्याख्याता प्रबल संगठक और विशिष्ट साधनारत महासती हैं। जहाँ आप सुदीर्घ साधनामय जीवन में आत्म-कल्याण की ओर रही हैं, वहाँ जन कल्याण की ओर भी सदैव सचेष्ट रही हैं। सरलता के साथ भव्यता, विनम्रता के साथ दृढ़ता, ज्ञान ध्यान के साथ प्रशासनिक क्षमता आप के व्यक्तित्व की विरल विशेषताएं हैं, आपके व्यक्तित्व में चुम्बकीय आकर्षण है जिससे व्यक्ति सहज रूप से आपकी ओर खींचा चला जाता है।

सन् १९७३ की बात है, मेरे अन्तर्मानस में यह विचार उदबुद्ध हुआ कि मैं साधना के महामार्ग को स्वीकार कर अपने जीवन को चमकाऊँ, जब भावना जागृत हुई तो मेरे वैराग्य की परीक्षा भी हुई, और माता-पिता से अन्त में आज्ञा भी प्राप्त हो गई। और मैंने सद्गुरुणी जी श्री प्रभावती जी म. के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की, मैं सद्गुरुणी जी की सेवा नहीं कर सकी। सद्गुरुणी जी की मेरे पर असीम कृपा रही, उनकी अनुकम्पा का जब भी मुझे स्मरण आता है तब मेरी आँखों से आँसू टपकने लगते हैं।

आज माताजी म. नहीं हैं किन्तु मेरी जीवन नैया के खेवनहार सद्गुरुणी पुष्पवती जी हैं। उनका असीम उपकार मेरे पर है, आज मेरा हृदय आनन्द विभोर है यह जानकर कि मेरे सद्गुरुणी जी दीक्षा के ५० बसन्त पार कर ५१ वें बसन्त में प्रवेश करने

जा रही हैं इस अवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का जो निश्चय किया गया है वह स्तुत्य है। मैं यह हार्दिक मंगल कामना करती हूँ कि युग-युग आप जीवें और पूर्ण स्वस्थ रहकर खूब विचरण करें और हमें हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करें जिससे हम निर्विघ्न संयम साधना करती हुई आगे बढ़ती रहें।

शत-शत वन्दनः अभिनन्दन

-महासती प्रीतिसुधा जी

श्रमण भगवान महावीर ने एक बार जीवन का विश्लेषण करते हुए कहा—कि इस विराट विश्व में अनेक प्रकार के व्यक्ति हैं। कितने ही व्यक्ति सेवा, तप-त्याग आदि तो करते हैं किन्तु उसका अहंकार नहीं करते। कितने ही व्यक्ति तप-त्याग और सेवा आदि नहीं करते पर उसका अहंकार करते हैं। कितने ही व्यक्ति तप-त्याग सेवा आदि करते हैं और साथ ही अहंकार भी करते हैं। कितने ही व्यक्ति न सेवा, तप आदि करते हैं और न अहंकार ही करते हैं। इन चार प्रकारों में प्रथम प्रकार का साधक सर्वश्रेष्ठ साधक है। वह उस बहुमूल्य हीरे की तरह है जो अपने गुणों का उत्कीर्तन नहीं करते। उनके लिए कहा जा सकता है—‘हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल।’

परम विदुषी साध्वीरत्न पुष्पवतीजी प्रथम कोटि की साधिका है। जो निरन्तर ज्ञान-ध्यान-सेवा साधना के महा पथ पर चलने पर भी गर्व से अछूती हैं। किंचित मात्र भी अहंकार उन्हें स्पर्श नहीं कर सका है। जब भी इनसे मिलेंगे तब आप

पायेंगे बालक की तरह उनमें सहज—सरलता है, निर्मलता है। और सहज स्वाभाविकता है।

गर्व की एक वक्र रेखा भी उनमें कहीं नहीं है, उनकी कृति में, आकृति में और प्रकृति में सहजता, सरलता टपकती है। कवि के शब्दों में हम अपने भाव इस प्रकार कह सकते हैं—

करते हैं कर्त्तव्य, किन्तु जरा अभिमान नहीं है,  
फूल खिला है पर, खिलने का मान नहीं है।  
सब कुछ किया समर्पण जिसने निज जीवन को,  
उनकी महिमा का होता कुछ अनुमान नहीं है ॥

महासती पुष्पवतीजी का हृदय सरल ही नहीं, बहुत सरल है। उनके मन में कहीं पर भी घुमाव नहीं है। दुराव और छिपाव भी नहीं है। जैसा उनके अन्तर्मनस में विचार है वे ही वाणी के द्वारा व्यक्त होते हैं। वे बहुत ही सीधे सरल शब्दों में अपनी बात को रखती हैं। जितने उनके भाव सरल हैं, उतनी ही उनकी वाणी भी सरल है। भगवान महावीर ने साधक के लिए सबसे बड़ा गुण बताया है सरलता। जो सरल आत्मा है, उसी पवित्र आत्मा में धर्म का निवास है, सरल आत्मा ही धर्म-देवता का मन्दिर है। जो सीधा होता है वही सिद्ध गति को प्राप्त करता है। वक्र गति वाला कभी सिद्ध नहीं बन सकता। जहाँ सरलता है वहीं पर मधुरता भी है। बिना सरलता के मधुरता टिक नहीं सकती। एतदर्थ ही कवि रसखान ने लिखा है—

प्रीति सीखिए ईखते, पोर-पोर रसखान ।

जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यही नीति की बान ॥

यदि श्रमण और श्रमणियाँ सरल नहीं है। वे सही दृष्टि से श्रमण और श्रमणियाँ भी नहीं है। मुझे साध्वीरत्न महासती पुष्पवतीजी के मन की, वचन की सहज व सरलता देखकर आश्चर्य होता है और अपार श्रद्धा उमड़ पड़ती है।

महासतीजी का जन्म वीर भूमि राजस्थान में हुआ। वे वीरांगना है, जैसे वीर अत्रिय युद्ध के नगाड़े सुनकर घबराता नहीं अपितु उसकी भुजाएँ फड़कने लगती हैं। वैसे ही महासती जी परीषहों को देखकर भयभीत नहीं होती। वे परीषहों को

शान्ति के साथ सहन करती हैं। लगता है भगवान महावीर का यह संदेश “अप्पणभयं न इंसए” अपने को कभी भयभीत नहीं होने दो। उनके जीवन में रम गया है। वे कष्ट को सदाकसौटी मानती हैं। वरदान मानती हैं। उनका जीवन सूत्र है—

“दुःखेषु विगतोद्वेगः सुखेषु विगतस्पृहः ॥”

वे दुःख में उद्वेग रहित और सुख में स्पृहा मुक्त हैं। चाहे उन्हें कोई गालियाँ भी दे, पर प्रत्युत्तर में वे एक शब्द भी नहीं बोलती। मैंने एक बार पूछा— कि आप उसका प्रत्युत्तर क्यों नहीं देती। आपने सरल शब्दों में कहा—आग में घी डालने से क्या लाभ है। यदि डालना ही है तो पानी डाला जाय। हमारा तो यह सिद्धान्त है, “हम आग बुझाने वाले हैं, हम आग लगाना क्या जानें।” हमें आग बुझाना आता है पर आग लगाना नहीं आता

मेरा यह अनुभव है कि महासती पुष्पवती जी बहुत विनम्र है पर दबबू नहीं। वे प्रत्येक व्यक्ति के साथ मधुरतापूर्ण व्यवहार करती हैं। उनके चेहरे पर सदा मधुर मुस्कान अठकेलियाँ करती रहती है। वे अपनी बात सहजता से कह जाती हैं पर कोई बात मानें ही, यह उनका आग्रह नहीं होता। अपने विमल विचारों को वे किसी पर थोपना नहीं चाहती। जो विचार उन्हें पसन्द है उन्हें वे सहज रूप में स्वीकार कर लेती हैं। पर जो विचार उन्हें स्वयं को पसन्द नहीं है वे विचार किसी के दबाव से भी स्वीकार नहीं करती। उन्हें सत्य से प्यार है।

अध्ययन की दृष्टि से महासती पुष्पवती जी बहुत ही जागरूक रही हैं उन्होंने संस्कृत-प्राकृत का गहराई से अध्ययन किया है। उन्होंने सिद्धान्त कौमुदी जैसे नीरस विषय को भी हृदयंगम कर परीक्षाएँ दी और प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण हुईं। धर्म, दर्शन आगम का गम्भीर अध्ययन किया। भाषा, ज्ञान और आगम का ज्ञान आपका तलस्पर्शी है।

अध्ययन के साथ ही आप में कला के प्रति भी रुचि है। आपके अक्षर बहुत ही सुन्दर हैं। आप वस्त्रों की सिलाई बहुत ही बढ़िया करती है? और

पात्रों की रंगाई भी। सिलाई और रंगाई को देखकर कई बार अच्छे-अच्छे कलाकार भी उस कला पर मुग्ध हो जाते हैं।

ज्ञान के साथ में आप में ध्यान हचि, जप हचि भी अत्यधिक है। जप आपको बहुत ही प्रिय है। नियमित समय पर वे जप करती हैं। वर्षों से उनकी जप साधना अविराम गति से चल रही है। वे सिद्ध जप योगिनी हैं। कुछ वर्षों से तन को दृष्टि से आप अस्वस्थ रहें पर आपके चेहरे पर वही अपूर्व तेज है। जागरूकता है, आलस्य उनके आस-पास कहीं नहीं है। स्मृति और ताजगी के ही सदा दर्शन होते हैं।

महा महिम आचार्य सम्राट की असीम कृपा से महाराष्ट्र की पुण्य धरा पूना में सन्त व सती सम्मेलन का नव्य-भव्य आयोजन हुआ। जिस कारण अनेक सन्त-सतियों के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें प्राप्त हुआ। हमारी बड़ी बहिन आदरणीया पुष्पवती जी महाराज के भी दर्शन हमें इस अवसर पर हुए। उनके सम्बन्ध में हमारे संघ के भाग्य-विधाता और हमारे प्यारे श्रद्धेय उपाचार्य श्री देवेन्द्र भुनि जी म. से उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में जानकारी मिली थी। सुनने से अधिक गुणों के

संदर्शन आदरणीया बहिन महाराज में हुए। वे जीवन के अनमोल क्षण हमारे लिए वरदान रूप है।

मुझे यह जानकर हार्दिक आल्हाद हुआ कि पुष्पवती जी म. ने संयम-साधना के पन्नास वसन्त उल्लास के क्षणों में पार किये हैं, और इक्यानवे वसन्त में प्रवेश करने जा रहीं हैं, उन्हें इस अवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का जो निर्णय लिया है यह स्तुत्य है। प्रथम बार एक साध्वी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह हमारे लिए गौरव का विषय है।

पूना सन्त-सम्मेलन की एक यह भी विलेपता रही कि हमारे भाई महाराज 'उपाचार्य' पद से अलंकृत हुए। भाई को इस पद पर अलंकृत देखकर हम सभी बहिनों का हृदय वांसी उछलने लगा। हमने उस अवसर पर भाई का अभिनन्दन किया, अब बहिन का अभिनन्दन करते हुए फूली नहीं समा रही हैं।

हमारी यही मंगल कामना है कि परम विदुषी साध्वी श्री पुष्पवती जी म. पूर्ण स्वस्थ व प्रमत्त रहकर सदा जिन शासन की विजय-वैजयन्ती फहराती रहें।

## महासतीजी श्री पुष्पवतीजी : एक प्रकाशस्तम्भ

—साध्वी मंजूषी M. A. जैन सिद्धान्ताचार्य

इस विश्वपटल पर असंख्य चित्र उभरते हैं और मिट जाते हैं। उनके पीछे न उनकी रेखाएँ बचती हैं, न तर्णछटा।

पर कुछ ऐसे चित्र भी होते हैं जो उभरते हैं और उभरे ही रहते हैं। उनकी जीवन-साधना उन्हें अधिकाधिक स्पष्ट, अधिकाधिक कान्तिमान एवं अधिकाधिक ध्रुव बनाती रहती है।

ऐसा ही एक भव्य-दिव्य चित्र है—महासतीजी श्री पुष्पवतीजी म०।

स्व-पर हितमय जीवन-साधना में आप लघुवय (१४ वर्ष की उम्र) में ही संलग्न हुईं और अध्ययन, चिन्तन-मनन एवं सेवाभाव के साथ कल्याण-पथ पर

अपने कदम बढ़ा दिये। जिस दृढ़ता के साथ आपने शतार्ध संवत्सर निरन्तर-संयम यात्रा में वित्तिये हैं, वह अपने आप में एक अनुठी मिसाल है।

महासतीजी का उत्कट संयमी जीवन जैन-श्रमणीवर्ग के लिये ही नहीं, समस्त नारी समाज के लिए गौरव प्रदान करने वाला है, किंवहुना समस्त विश्व को उदात्त एवं पवित्र संदेश देने वाला है।

महासतीजी के चरणों में अभिवादनपूर्वक शुभ-भाव अर्पित करती हूँ कि महासतीजी भविष्य में भी दीर्घकाल तक अपने संयमी जीवन के प्रकाशस्तम्भ द्वारा हम सब का यात्रापथ आलोकित करती रहें।



## प्र बुद्ध स म न्व य सा धि का....

--महासती श्री सत्यप्रभाजी

(जैन सिद्धान्त -- प्रभाकर)

इस जगत के विशाल प्रांगण पर जब हम दृष्टि पात करते हैं तो हमें यह अवगत होता है कि सहस्रों व्यक्ति प्रतिपल/प्रतिक्षण जन्म लेते हैं, ले रहे हैं और साथ ही साथ अपना आयुष्य पूर्ण करके यहाँ से विदाई भी लेते हैं। "पुनरपि जननम्, पुनरपि मरणम्"—जन्म लेना और काल धर्म को प्राप्त करना इस सृष्टि का अटल एवं शाश्वत नियम है। लेकिन जो व्यक्ति जन्म लेकर अपने जीवन-काल में विशिष्ट कार्य करते हैं, तप-त्याग की उच्च भूमिका पर आरूढ़ होते हैं। उनका नाम ही लोगों की जिह्वा पर सदा-सर्वदा के लिए उदकित रहता है। संस्कृत में एक श्लोक है—

“स जातो येन जातेन,  
याति वंशसमुन्नतिम् ।  
परिवर्तित्ति संसारे,  
मृतः को वा न जायते ॥”

उसी का जन्म लेना सार्थक है, जिससे वंश की उन्नति हो, अपनी जाति का गौरव वृद्धिगत हो। इस परिवर्तनशील संसार में किसका प्रादुर्भाव नहीं होता अथवा कौन मरण को प्राप्त नहीं होता। आज तक अनन्तानन्त प्राणी विश्व के रंगमंच पर आये और समय पूर्ण करके काल-कवलित हो गये। इस प्रकार का जन्म-मरण अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं रखता। जब तक जीवन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य आदि गुणों का विकास नहीं होता, तब तक मानव एवं पशु की प्रवृत्तियाँ समान रूप से गिनी जाती हैं। मानव-जीवन में धार्मिक प्रवृत्ति ही ऐसी है, जो पशु जीवन की अपेक्षा विशिष्ट और अधिक है। जिसके आधार से मानव पाशविक प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर देवत्व का अधिकारी बन जाता है।

“जीवन-चरित्र महापुरुषों के,  
हमें नसीहत करते हैं ।  
हम भी अपना जीवन स्वच्छ,  
रम्य कर सकते हैं ॥  
इस भारत की पुण्यधरा पर,  
समय पड़ने पर जो आवे काम ।  
हमें चाहिए हम भी अपना,  
बन जायें पदचिन्ह ललाम ॥”

अनादि—अनन्तकाल से भारत की श्रमण संस्कृति की परम्परा में सन्त-सती मण्डल का महाद् योगदान रहा है। मानव जीवन के सामाजिक, एवं धार्मिक मान्यताओं की संस्थापना में महापुरुषों का उपकार स्मृति पटल पर सदैव चमकने लगता है। एवं अविस्मरणीय बन जाता है। सामाजिक संतुलन एवम् सह-जीवन की भावना के प्रसार एवं पोषण में श्रमण-श्रमणियों ने जिस कार्यक्षमता एवं प्रतिभा का परिचय दिया, वह संसार के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। “सन्त भारत की आत्मा है।” भारतीय इतिहास के निर्माण में वे नींव की ईंट [Foundation] के रूप में रहें और रह रहे हैं। ज्ञान और वैराग्य की अक्षय ज्योति प्रज्वलित करने वाली चारित्र्यात्माओं ने सांसारिक विधन-बाधाओं की परवाह नहीं करते हुए अपार वैभव। विलास से मुंह मोड़कर मानव जाति के लिए मोक्ष का मार्ग प्रस्तुत किया। श्रमण संस्कृति के अन्तर्निहित आचरण में पूर्ण अहिंसा, तथा विचारों में पूर्ण अनेकान्तवाद को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जैन दर्शन, आचार और नीति के प्रायः सभी सिद्धान्त इन्हीं में समाविष्ट हो जाते हैं। जिनशासन की प्रभावना में उपरोक्त सिद्धान्त उपयोगी पहलू के रूप



में रहे है, जिनका व्यावहारिक एवं क्रियात्मक रूप त्यागी-महापुरुषों की जीवन-सरिता में अवलोकन किया जा सकता है। अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में अवगाहन कर जो अपने जीवन को कृत-कृत्य। धन्य बना रही है। उनमें परम विदुषी महासती श्री पुष्पवतीजी म० सा० का नाम बड़े गौरव-पूर्ण शब्दों में लिया जा सकता है। आपका आचारिक नियम एवं वैचारिक निष्ठा प्रत्येक नर-नारी के लिए स्पृहनीय है। आपकी वाणी का ओज जन-मेदिनी के कर्ण-कुहरों में गुंजायमान हो रहा है। आपके पावन प्रवचनों का सानिध्य प्राप्त करके अनेक मुमुक्षु प्राणी अपना जीवन दान, शील, तप, भाव प्रभृति सद्गुणों की ओर अग्रसारित कर रहे हैं। आप स्वयं ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप रत्नत्रय से अपने जीवन को आलोकित करके अन्य अनेक भव्य आत्माओं को रत्नत्रय का आलोक का मार्ग प्रदर्शित कर रही हैं।

महासती पुष्पवतीजी म० का व्यक्तित्व हिमालय के समान महान्, आकाश के समान अनन्त और सागर के समान गम्भीर है। "सागर इव गम्भीरा" ! आपके मुख मण्डल पर तप। संयम की दीप्तिमान आभा परिलक्षित होती है। आपकी प्रकृति अत्यन्त मृदुल एवं साथ ही साथ वाणी में भी ओज है। विषम से विषम परिस्थितियों में भी आप घबराती नहीं किन्तु धैर्य और साहस का परिचय देती हुई पर्वत की तरह अचल रहने की दृढ़ता और कठोरता का सन्मार्ग प्रस्तुत करती है।

"वज्रादपि कठोरणि, मूढनि कुसुमादपि"—  
महापुरुषों के अन्तर्हृदय की यही विशेषता होती है कि वे दूसरों के दुःखों एवं कष्टों से सन्तप्त प्राणियों के प्रति अत्यन्त करुणाशील होते हैं। एक तरफ जहाँ वे फूलों से भी अधिक मृदु [कोमल] होने हैं, तो दूसरी तरफ कर्तव्य पालनता एवं अपने पर आये हुए संकटों के समय वज्र से भी अधिक कठोर हो जाते हैं। महासतीजी के संयमी जीवन में ऐसे प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी समय-समय पर आप उदात्त स्वभाव का परिचय देती रहती हैं। जब

आपने ममता के बन्धनों को तोड़कर संयम के महामार्ग पर अपने मुस्तेदी कदम बढ़ाएँ तो अनेक तरह के प्रलोभन और संकट भी आपको अपने निष्चय में चलित करने में समर्थ नहीं हुए, विपुल वैभव, विशाल परिवार और मुख के सभी नाधनों को छोड़कर आपने साधना का कंटकाकीर्ण पथ अपनाया, वह वस्तुतः प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने के अनन्तर आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओं पर आधिपत्य करके आगम-दर्शन, न्याय, काव्य आदि की उच्चतम शिक्षा प्राप्त की। "विद्या विनयेन शोभते" इस उक्ति के अनुरूप आपने विनय, विनम्रता, एवं मुदुलता के कारण अपनी कुशाग्र बुद्धि से ज्ञान एवं विद्या के क्षेत्र में एक विशेष सफलता अर्जित की। स्व-पर कल्याण के लिए एवं जिन शासन के लिए पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया आपने अपने आपको ! लगभग ५० वर्ष के अपने संयमी जीवन में चतुर्विध संघ की विविध प्रकार से आप उल्लेखनीय सेवाएँ कर रही हैं। तथा वीतराग शासन के अभ्युदय के लिए भी आप पूर्णरूपेण कटिबद्ध है। आपकी वाणी में वह जादू है, जो मानव-समुदाय को चुम्बकवत् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी म० एक स्पष्ट वक्ता, उदार विचारिका एवं गम्भीर चिन्तिका के रूप में हमारे समक्ष समुपस्थित है। आपके मधुर मिलन/सम्मिलन का प्रसंग श्रद्धेय गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० सा० आदिगण के साथ मुझे मेरे पूज्या सद्गुरुजीजी स्व० परम विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० सा०, परम विदुषी महासती श्री सुकनकुंवरजी म० सा० की आज्ञा से जोधपुर नगरी में सम्प्राप्त हुआ। आपकी स्नेहमयी स्मृतियाँ आज भी मेरे दिल-दिवारों पर चमक रही है। आपके जीवन में अन्य अनेक गुणों के साथ निर्भयता एवं स्पष्टवादिता का एक विशेष गुण है। सत्यवार्ता को कहने में आप कभी हिचकिचाती नहीं। आपकी मधुर एवं ओजस्वी वाणी का प्रभाव प्रत्येक मानस पर गहरा पड़ता है। जिन-



शासन की गौरव-गरिमा में अभिवृद्धि हो, जैन-धर्म का प्रचार-प्रसार हो, भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, अपरिग्रह प्रभृति सिद्धान्त मोह रूपी निद्रा में मुपुप्त प्राणियों को जागृत करें, इस हेतु आप सतत प्रयत्नशील रहती हैं। आपके आगम-माहित्य का अध्ययन, मनन और चिन्तन बहुत ही गहन है। जिस प्रकार एक दीपक अपनी देह के कण-कण को जलाकर आवास में परिध्याप्त अंधकार को दूर कर आलोक एवं प्रकाश से उसे प्रज्वलित कर देता है, उसी प्रकार महासती श्री पुष्पवतीजी म० भी अपने संयमी तथा साधनामयी जीवन का प्रत्येक क्षण समाज को समर्पित कर रही हैं। अंग्रेजी में एक सूक्ति है—“Humility and love are the essence of true religion” महासतीजी का जीवन भी नम्रता और प्रेम से परिपूर्ण है। सामाजिक सुधार, जागृति के लिए आप सदैव कटिबद्ध रहती हैं। कार्यकर्ताओं का उत्साह वृद्धिगत कर आगे बढ़ने के लिए सर्वदा प्रेरणा प्रदान करती हैं।

आपका जीवन गंगा की तरह शीतल, आकाश की भाँति विमल, सुधा के समान स्वच्छ, सूर्य के समान समुज्ज्वल, सुमेरु के समान उच्च, एवं समुद्र के समान गम्भीर है। आप विनयशील, निरभिमानी एवं प्रतिभासम्पन्न होने पर भी तप, त्याग, सेवा, उदारता, क्षमा, निर्भयता आदि गुणों की उपासना करने वाली हैं।

“उदार चरितानां वसुधैव कुटुम्बकम्” इस उक्ति को आप चरितार्थ करने वाली हैं। आपका अन्त-हृदय अत्यन्त विशाल एवं उदार है। सम्पूर्ण पृथ्वी-वासियों को परिवार की तरह समझने वाला प्राणी ही महात् एवं उच्च गिना जाता है। समाज का कायाकल्प करके उसे सुव्यवस्थित संगठन के रूप में स्थापित करने की तड़फ आप में अन्तर्निहित है। “समयं गोयम मा ! पमायए” आगम का यह कथन आपके जीवन पर शत-प्रतिशत खरा उतरता है। एक क्षण भी आप व्यर्थ नहीं खोती हैं।

संस्कृत में एक श्लोक है—

“शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकम् न गजे गजे ।  
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनम् न वने वने ॥”

अर्थात् प्रत्येक पर्वत पर मणियाँ नहीं होती, हर हाथी के मस्तक में मुक्ता नहीं होती, हर एक जंगल में चन्दन के वृक्ष नहीं होते तथा प्रत्येक स्थान पर सज्जन पुरुष नहीं मिलते हैं। साधु वही है, जो स्व और पर के कल्याण के लिए सदा/सर्वदा तत्पर रहें। जो दीपक की तरह स्वयं जलकर दूसरों को ज्ञान का प्रकाश दें। स्वयं कष्ट सहन करके भी जो दूसरों का सन्मार्ग प्रशस्त करें। उपर्युक्त पंक्तियाँ साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी म० सा० के नव्य/भव्य जीवन पर वास्तविक रूप से सफल होती हैं।

महासतीजी म० श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ रूपी वाटिका के एक सुरभित कुसुम की तरह हैं। जो स्वयं ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि गुणों से महक रही हैं और जो भी आपकी सन्निधि प्राप्त कर रहा है, उसे भी गौरवमयी सुवासित लुटा रही हैं। सेवा, त्याग, सहिष्णुता व तपाराधना में ही आपके संयमी जीवन की सौरभ समाविष्ट है। आपका जीवन सही मायने में साधुत्व के अनुरूप है। आपकी वाणी में हीरा जैसी चमक मोती जैसी दमक, तथा स्फटिक मणी के समान पारदर्शिता दृष्टिगोचर होती है। आपकी प्रवचनधारा ऐसी लगती है, जैसे भक्ति सुधा रूपी उर्मियाँ तैरगित रही हों।

आप एक महान साधिका के रूप में हमारे समक्ष परिलक्षित हो रही हैं। प्रतिष्ठा और ज्ञान का आपमें किञ्चित् मात्र भी अभिमान नहीं है। आपकी वाणी में ओज, विचार शक्ति में गाम्भीर्य, और विचारों में स्पष्टता व निर्भयता झलकती है। आपकी व्याख्यान की शैली इतनी अत्युत्तम है कि श्रोतागण सहज ही आपकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी आप स्वभाव से सरल, विनम्र, मिलनसार एवं निरभिमानी हैं। आपमें प्रत्येक साध्वी को निभाने की पूर्ण क्षमता है। तथा आडम्बर व दिखावे से आपके मन-





मस्तिष्क में सख्त घृणा है। अपने मुक्त-विचारों के रूप में आप जन-जन के अन्तर्मानस में समायी हुई है।

आपके जीवन से सम्बन्धित कतिपय उदाहरणों को मैं निम्न रूप से अपने लेख में उद्धृत कर रही हूँ—

[१] विनम्रता एवं सरलता की प्रतिभूति—

प्रभु महावीर ने पावापुरी की धर्मदेशना में अपनी पीयूषवर्षी वाणी में कहा—

“सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।

निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तिव्व पावए ॥”

सरलता-साधना का महाप्राण है। चाहे वह गृहस्थ की श्रेणी में हो अथवा साधक की श्रेणी में हो, दोनों के लिए ऋजुभाव, निष्कपटता, आवश्यक ही नहीं, अति आवश्यक है। घृतसिक्त अग्नि के समान सहज एवं सरल साधना ही निर्धूम एवं निर्मल होती है। श्रमण एवं श्रमणी जीवन में जिन सदगुणों की अनिवार्यता होती है, उनमें से विनय गुण साधवाचार की अग्रिम पंक्ति को सुशोभित करता है। ‘विणओ धम्मस्स मूल’—विनय धर्म का मूल है और ‘माणो पावस्स मूल’—अभिमान पाप का मूल है। जिस साधक के अन्तर्हृदय में अहंकार रूपी काला-कसूटा नाग अठखेलियाँ कर रहा है, वह साधना का सच्चा अमृत सम्प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। साधना और अभिमान में क्रमशः “तेजस्तिमिरयोरिव” तेज और अंधकार की तरह वैर/विरोध है। स्नेह, सौजन्य एवं विनम्रता ऐसे सर्वश्रेष्ठ कवच के समान हैं, जिनका कोई भी भेदन नहीं कर सकता है।

सरलता के अभाव में साधक मुक्ति रूमी मंत्रिण का वरण नहीं कर सकता है। वर्तमान विश्व पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह भाव्य होता है कि नैतिक चरित्र का शनैः शनैः पतन होता जा रहा है। अंग्रेजों के एक विचारक ने लिखा है—

“If wealth is lost, Nothing is lost.

If Health is lost, Something is lost.

If character is lost, Everything is lost.”

“यदि धन गया तो कुछ नहीं गया, यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, और यदि चरित्र गया तो सब कुछ चला गया।” चरित्र रूपी पारसमणी के संस्पर्श से मानव का जीवन उन्नत/समुन्नत बन जाता है। सम्यक् आचरण और चरित्र की भारतदेश को आवश्यकता है। साधक वाक्चातुर्य के आधार पर दूसरों को आकृष्ट करने का प्रयास कर रहा है। उसका आन्तरिक एवं बाह्य जीवन पृथक्-पृथक् है। यदि साधक के जीवन में दम्भ की प्रधानता है तो उसकी वाणी का असर जनता पर नहीं पड़ सकेगा। आज विवरण प्रस्तुत करने की जरूरत नहीं, अपितु आगे आकर कुछ कार्य कर दिखाने की है। सरलता से संयमी जीवन चमक-दमक उठता है। उसमें एक नया निखार आ जाता है।

महासती श्री पुष्पवतीजी म० भी सरलता एवं विनम्रता की पंक्ति में अपना अग्रिम स्थान रखती हैं। आपका जीवन विनम्र ही नहीं, अति विनम्र है। आपकी धारणा है कि एक-दूसरे से दूर रहकर संकीर्णता की खाई को पाटा नहीं जा सकता है। वह दूरी तो स्नेह-सौजन्य, विनम्रता आदि से ही भिंट सकती है। महासतीजी म० जैसी अन्दर है, वैसे ही बाहर है। आपमें नख से लेकर शिख तक सरलता की किरणें चमकती हैं। “मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्” इस संस्कृत उक्ति के अनुरूप आपकी वाणी सरल, विचार सरल और जीवन का प्रत्येक व्यवहार सरल है। कहीं पर भी लुकाव-छिपाव नहीं, दुराव नहीं। “धन्य है आपका ऋजुमानस ! धन्य है आपकी मृदुलता !!

[२] तितिक्षा की धनी—अनेक प्रतिकूल और अनुकूल उपसर्ग और परीवह उपस्थित होने पर भी साधु डटकर उनका सामना करता है। वह कभी उन कष्टों से विचलित नहीं होता है। “तितिक्षा परमं धम्मं”—तितिक्षा अर्थात् क्षमा धारण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यह बात वह अच्छी तरह से



हृदयंगम कर लेता है। मूल से युक्त स्वर्ण को हम ज्यों-ज्यों आग्न में तपाते हैं, त्यों-त्यों वह अधिक निखरता है, चमकता है। एवं विशुद्ध कुन्दन बन जाता है। चन्दन को जैसे-जैसे शिला पर घिसा जाता है, वैसे-वैसे ही उसमें सुरभि का विकास होता रहता है। उसी प्रकार संयमी जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं, जब साधारण मानव उनसे घबराकर अपने पर पीछे हटा देता है। किन्तु जो श्रमण/श्रमणी महापुरुष है, वे उन क्षणों में भी अपूर्व, शौर्य धैर्य, सहिष्णुता और तितिक्षा का परिचय देते हैं। महासती पुष्पवतीजी म० का संयमी जीवन भी तितिक्षा और सहिष्णुता रूपी सुगन्ध से दिग्-दिगन्त में सुवासित हो रहा है/महक रहा है।

आपमें ऐसे अनेक गुण विद्यमान होने पर भी लेख की शृंखला द्रौपदी के चीर की भाँति दीर्घ नहीं हो जायें, अतः मैं अपनी लेखनी को यहीं विराम देती हूँ।

आप अपने संयमी जीवन के ५० वर्ष पूर्ण करने

जा रही है, इस उपलक्ष में श्रमण संघीय आचार्य भगवान्, विश्वविभूति समतायोग के साधक पूज्य १००८ श्री आनन्दऋषिजी म० सा०, राज० केसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म० सा० प्रभृति महापुरुषों के शुभाशीर्वाद एवं साहित्य वाचस्पति, श्रमण संघीय, साहित्य शिक्षण सचिव, श्रद्धेय गुरुदेव श्री देवेन्द्र मुनिजी म० 'शास्त्री' के निर्देशन। सम्पादकत्व में अभिनव 'अभिनन्दन ग्रन्थ' का प्रकाशन होने जा रहा है।

दीक्षा स्वर्णजयन्ती के पावन प्रसंग पर मेरी यही हादिर अभिलाषा है कि आप जहाँ भी पधारें, वहाँ पर संयम रूपी यज्ञ की सुगन्ध फैलाकर जैनधर्म की विजय-वैजयन्ती फहराने में एवं आचार्य देव आनन्द के शासन में चार चाँद लगाने तथा श्रमण-संघ की गौरव-गरिमा वृद्धिगत करने में अपना महान् योगदान प्रस्तुत करें, आपके सद्गुण मानव-मेदिनी के जीवनाकाश में सदा/सर्वदा सितारों की तरह आलोकित होते रहें; वीर प्रभु से यही मंगल-मनीषा !

अ त्त हृ द य का अ भि न न्द न

—महासती संघमित्रा जी  
—महासती सुजाताजी

जिसका हृदय पुष्प से भी कोमल हैं, जिसका जीवन चन्द्र से भी शीतल है, जिसका चरित्र क्षीर से भी उज्ज्वल है, जिसका ज्ञान पानी से भी निर्मल है, उनको हम अर्पण कर रहे हैं अन्तर्हृदय का अभिनन्दन।

मैं क्या लिखूँ ? किन शब्दों में आपके जीवन को चित्रित करूँ ? आपका जीवन सागर से गहन है, पृथ्वी से भी अधिक धैर्यवान है। अनन्त आकाश से भी विशाल है और सुमेरु पर्वत के समान अडोल है, अकम्प है। मैंने उनको कभी आँखों से

देखा नहीं किन्तु उनकी जीवन गाथा मैंने कानों से सुनी है। मुझे आपकी मधुर वाणी सुनने का भी अवसर नहीं मिला किन्तु आपके प्रवचनों को पढ़ने का सौभाग्य मिला। उस आधार से मैं लिख सकती हूँ कि आपके प्रवचनों में चिन्तन का सागर उमड़ रहा है।

राजस्थान की धरती का एक-एक कण वीरांगनाओं की गाथा से गौरवान्वित है, तप-त्याग और शौर्य की जीती जागती अगणित वीरांगनाएँ वहाँ हुई, उन्हीं वीरांगनाओं की लड़ी



की कड़ी में महासती पुष्पवतीजी का नाम गौरव से लिया जा सकता है। जिन्होंने त्याग और वैराग्य में पुरुषार्थ कर भौतिक भक्ति में भूले-भटके मानवों को सन्मार्ग दिखाया है।

आपथी कितने भाग्यशाली रहे कि तेरह वर्ष की वय में ही साधना की ओर कदम बढ़ाए। अपने नाम के अनुरूप सुन्दर कार्यकर यह सिद्ध कर दिया कि सुख का सागर हमारे अन्दर ही अठखेलियाँ कर रहा है। हम बहिर्मुखी बनकर भटक रहे हैं। सद्गुरु के संस्पर्श को पाकर जीवन अन्तर्मुखी बनता है। और अन्तर्मुखी जीवन ही परमात्म तत्त्व के संदर्शन करता है। महासती पुष्पवतीजी उसी राह की राही हैं इसीलिए वे वन्दनीय हैं, अर्चनीय हैं।

जिसने एक क्षण के लिए भी संयम धर्म स्वीकार कर लिया, वह धन्य बन जाता है तो जिन्होंने पचास-पचास वर्ष तक संयमसाधना की हो उनके जीवन का कहना ही क्या? आपने अपने जीवन-स्वर्ण को संयम से कसकर कुन्दन बनाया है। धन्य हैं आप, धन्य हैं आपकी मातेश्वरी और धन्य हैं आपके लघु भ्राता जो आज श्रमणसंघ के उपाचार्य हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर हमारा हार्दिक अभिनन्दन स्वीकार करें और हमें यह आशीर्वाद दें कि हमारी साधना भी उज्ज्वल और समुज्ज्वल बने।

## आलोक-स्तम्भ

—महासती सुप्रभाजी

रत्नगर्भा वसुन्धरा ने समय-समय पर अनेक अनमोल रत्न प्रदान किए हैं। उनमें महासती श्री पुष्पवतीजी का नाम बहुत ही निष्ठा के साथ लिया जा सकता है। उनका व्यक्तित्व बहु आयामी है। वे पुष्प की तरह सदा खिली रहती हैं। यदि कोई सम्मान करता है या अपमान करता है। पर उनके चेहरे पर सदा समभाव चमकता रहता है।

विषम भाव के नुकीले काँटें उनके जीवन में नहीं हैं। आपके सम्पर्क में जो भी आता है, उसे आप यही सन्देश देती हैं, कि पुष्प की तरह खिलो, महको। यदि तुम्हारे जीवन में सुगंध है तो भँवरे अपने आप तुम्हारे पर मँडरायेंगे। यदि तुम्हारा जीवन पुष्प प्लास्टिक के पुष्पों की तरह सुगन्धरहित है तो कोई भी तुम्हारे आस-पास नहीं फटकेगा। अतः जीवन-पुष्प में सुगन्ध पैदा करने का प्रयास करो।

मैंने अपना जीवन सद्गुरुणीजी के चरणों में समर्पित किया है। मैं चाहती हूँ कि मेरे जीवन पुष्प में सद्गुणों का साम्राज्य हो। उसी के लिए मैं अहर्निश प्रयत्नशील हूँ। मैं कर्नाटक की राजधानी बैंगलोर में जन्मी और विश्व सन्त उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के पावन प्रवचनों को सुनकर मेरे अन्तर्हृदय में वैराग्य का पयोधि उछाले मारने लगा और अन्त में माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर मैंने सद्गुरुणीजी के चरणों में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा का अर्थ जीवन को मांजना है, कषाय को कम करना है, राग-द्वेष को परिणति से मुक्त होना है तथा स्वाध्याय, ध्यान में निमग्न होना। मैं चाहती हूँ कि अनन्त-अनन्त काल से इस विराट विश्व में आत्मा परिभ्रमण करती हुई आ रही है। वह परिभ्रमण बन्द हो।

सद्गुरुणीजी के चरणों में बैठकर मैं ज्ञान की साधना करती हूँ। इनके चरणविन्दों में बैठने से मुझे अपार आह्लाद की अनुभूति होती है और अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। वस्तुतः सद्गुरुणीजी का जीवन महान है। उनके जीवन के कण-कण में वात्सल्य है। उनका जीवन हमारे लिए आलोक स्तम्भ की तरह है। मैं इस मंगल बेला में अपने हृदय की अनन्त आस्था सद्गुरुणीजी के चरणों में समर्पित करती हूँ। और यह मंगल कामना करती हूँ कि आपके कुशल नेतृत्व में हमारा संयमसाधना, तपःआराधना निरन्तर प्रगति करती रहे। यही आप आशीर्वाद प्रदान करें।



( १ )

महासती श्री पुष्पवती जी ।  
डटकर करती धर्म-प्रचार ॥  
जप-तप ज्ञान, ध्यान पर उनके ।  
आज हुई दुनिया बलिहार ॥

( २ )

उगनीसौ इक्यासी की शुभ ।  
मिगसिर कृष्ण जब थी सात ॥  
जीवनसिंह बरड़िया हर्षे ।  
हर्षी "प्रेम कुमारी" मात ॥

( ३ )

नहीं आप से कमती कोई,  
प्रेमकुमारी माता थी ।  
महासती जो "प्रभावती" बन,  
हुई बहुत विख्याता थी ॥

( ७ )

नामी वह मेवाड़ प्रान्त का,  
राज्य बहुत ही हर्षा था ।  
उस दिन मानो मेघ खुशी का,  
हर घर डटकर वर्षा था ॥

( ८ )

"सोहन कुंवर" सती अति विदुषी,  
फूली नहीं समाई थी ।  
भाग्य योग से योग्य सुशिष्या,  
अनायास ही पाई थी ॥

( ९ )

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिवर,  
बने आपके गुरवर जी ।  
जैनागम के विद्याओं के,  
जो हैं सच्चे सागर जी ॥

श्री पुष्प—पच्चीसी  
-कविरत्न श्री चन्दन मुनि(पंजाबी)

( ४ )

पढ़-लिखकर हुशियार हो गई,  
अभी न बचपन बीता था ।  
पांच इन्द्रियां और प्रबल मन,  
भली भांति पर जीता था ॥

( ५ )

सचमुच नाम आपका घर का,  
'सुन्दर' सुन्दर भारी था ।  
'सुन्दर' शब्द अगर था पहले,  
पीछे शब्द 'कुमारी' था ॥

( ६ )

उगनी सौ चुरानवें जब सुदि,  
माघ त्रयोदश आई थी ।  
धूम-धाम से नगर उदयपुर,  
में दीक्षा अपनाई थी ॥

( १० )

विदुषी बड़ी बनाया डटकर,  
सोया जगत जगाने को ।  
जैन धर्म के सत्य अहिंसा,  
तत्त्वों को समझाने को ।

( ११ )

श्रमणसंघ के सुज्ञ उपाचार्य,  
शास्त्री मुनि देवेन्द्र कुमार ।  
अनुज आपके जैन जगत के,  
लेखक वक्ता धूँआंधार ॥

( १२ )

सादर उनको देते रहना,  
अपनी मधुर-मधुर आशीष ।  
जिससे उन्नत और समुन्नत,  
बने और भी विषवाबीस ॥



( १३ )

नवयुग का निर्माण कर रही,  
बहनों [को दे नव सन्देश ।  
वनिताओं की ओर आपका,  
जाता रहता ध्यान विशेष ॥

( १४ )

हृदिवादिता अन्धश्रद्धा में,  
जो हैं भोली बहनें प्रस्त ।  
महावीर का दे सन्देशा,  
उनका हरती दोष समस्त ॥

( १५ )

नारी वर्ग रहे क्यों पिछड़ा,  
पिछड़ा है न जब नर वर्ग ।  
दोनों की उन्नति से ही,  
यह संसार बनेगा स्वर्ग ॥

( १६ )

आज समाज रसातल जिससे,  
निश-दिन दौड़ा जाता तेज ।  
आप बोलती बचो-बचो है,  
बड़ा भयानक दाज-दहेज ॥

( १७ )

कहा आपने पुनः-पुनः यह,  
नये-नये देकर के तर्क ।  
महा लोभ के कारण मानव,  
बड़ा भयानक पाता नर्क ॥

( १८ )

बिन मांगे जो मिला दूध-सा,  
मांग लिया सो पानी है ।  
उसको समझो नर्क बराबर,  
जिस में खींचातानी है ॥

( १९ )

दुर्गुण की दुर्गन्ध दूरकर,  
जग महकाती जाती है ।  
पुष्प-समान आपका जीवन,  
“पुष्पवती” कहलाती हैं ।

( २० )

दंभ द्वेष के कपट क्लेश के,  
निकट कभी न जाती है ।  
मानवता का प्यारा-प्यारा,  
सबको पाठ पढ़ाती हैं ॥

( २१ )

साध्वीरत्न कहें न कैसे,  
भला आपको पण्डित लोग ।  
शम दम संयम में ही रहता,  
लगा आपका जब उपयोग ॥

( २२ )

देवी और मानवी से भी,  
ऊँचे बहुत उठे हैं आप ।  
धन्य वही तो जीवन होता,  
जो हो शांत सरल निष्पाप ॥

( २३ )

आज जरूरत है अति ऐसी,  
साध्वी की सन्नारी की ।  
दशा बदल दे दिशा बदल दे,  
गिरी देश की नारी की ॥

( २४ )

हे कल्याणी ! मृदु व्याख्यानी !  
धर्म निशानी । मंगलमय ।  
जैन धर्म की श्रमण संघ की,  
रहे आपसे होती जय ॥

( २५ )

“चन्दन मुनि” पंजाबी ही क्या,  
कहता सारा जैन समाज ।  
महासती श्री पुष्पवती को,  
देखें सतियों की सरताज ॥



—काव्यमनीषी प्रवर्तक रूपचन्द्रजी म. “रजत”

स्वच्छमति है महासती

महासती पुष्पवती, ज्ञानरति गुणरूप ।  
वाक विलास विद्यावती, स्वच्छमति सतीरूप ॥१॥

जगती में जो जैन धर्म को,  
सतत दिपाती जाती ।  
आर्या पुष्पवती जी पावन,  
महासती कहलाती ॥२॥

प्रेमकुंवर आपकी माता ।  
पिता सेठ जीवन प्यारे,  
ओसवाल बरड़िया जैन थे,  
श्रावक व्रत स्वीकारे ॥३॥

जिनकी पावन परम कृपा से ।  
पंच महाव्रत धारे,  
उपाध्याय श्री पुष्कर गुरुवर ।  
मुनिवर महिमा वारे ॥४॥

निश्छल निश्चिन्त सदा ही ।  
निर्भय सब हित-कारी ॥  
भक्त मण्डली सुनकर वाणी ।  
जाती है बलिहारी ॥५॥

जयो कहे जीवन ज्योतिर्भय ।  
संयम सम सद् भावना ।  
'रजत' कृपा पाकर गुरुओं की ॥  
'पुष्प' खिले नित पावना ॥६॥

“अमर” अलौकिक उपवन विषे,  
विकशित बाग विनोद ।  
“सुवर्ण” टहनी पै टीररहा ।  
सुरभित “पुष्प” मन मोद ॥७॥



स्वच्छमति है महासती | ५१



## भावों के सुमन

—गणेश मुनि शास्त्री

पुष्पवतीजी आपका, पुण्य बहुत बलवान है,  
जैन जगत से पा रही, आप बहुत-बहुमान है,  
साधना की कसौटी पर आप उतरी हैं खरी-  
वास्तव में आपका नहीं यह त्याग का सम्मान है।

आपकी सुरभि महकी धरा, महका गगन है,  
त्याग सेवा की कहानी, कह रहा सारा चमन है,  
त्रेन समाज आपका कर रहा अभिनन्दन आज-  
गांत चित्त बन आप तो, साधना में ही मगन है।

अभिनन्दन-वन्दन के बोल, आज यहां चर्चित है,  
मोद लिए मन की, सब आशाएँ अर्पित है,  
महासतीजी का जीवन, मंगलमय सुदीर्घ बने—  
'मुनि गणेश' विश्वास भरे, भावों के सुमन समर्पित है।

जो सहजता तुम में समाहित, वह अन्य में मिलती नहीं,  
कारुण्य की कलियां जो तुम में, वे अन्यत्र खिलती नहीं,  
महावीर का दिव्य पैगाम लिए, तुम तो चल रही हो  
साधना की मशाल तुम सी, हर कहीं जलती नहीं।

धीर व गंभीर बन कर, आपने सीखा है जीना,  
अभी लुटाकर जहर को, अपने सीखा है पीना,  
अध्यात्म का पथ आप से हो रहा है आलोकित-  
मुद्रिका की पीठ पर, नित चमकता है ज्यों नगीना।

## व धा ई गी त

—मगनमुनि 'रसिक'

आज म्हारो मनडो हरियो है ।  
गीत गौरव सुं भरियो है ॥  
हिवडै हरष मनाऊं जी,  
मधुर लहर में झूम-झूम ने,  
महिमा गाऊंजी ॥ टे॥

परम आराध्य विश्व-सन्त,  
श्री पुष्कर मुणीश्वर प्यारा जी,  
उपाध्याय हैं श्रमण संघ के,  
मुझ नयनों का ताराजी ।  
अनुपम शोभा छाजे है,  
सभा में सिंह ज्यूं गाजे है ।  
चरण में शीश झुकाऊंजी ॥  
मधुर लहर में झूम-झूम कर० ॥ १ ॥

महासती श्री पुष्पवतीजी,  
नाम सभी मन मोहे जी,  
तप संयम री सौरभ फैली,  
जैन जगत में सोहेजी ।  
सुयश सब मिल गावे हैं ।  
दर्शन दुर्लभ पावे हैं ॥  
पावन नाम सुनाऊंजी ॥  
मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ २ ॥  
जन्म भूमि है नगर उदयपुर,  
जग जाहिर कहलावे जी ।  
सूर्यवंशी री है राजधानी,  
छटा सुरम्य सुहावे जी ॥  
नगरी झीलों की है भारी,  
देखता आवे हैं नर-नारी ।  
नयन अभिराम बताऊंजी ॥  
मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ ३ ॥



मुश्रावक श्री जीवनसिंह जी,  
 प्रेमदेवी जी माता जी ।  
 ओस वंश में गौत्र बरड़िया,  
 जैनधर्म रंग राता जी ॥  
 धरमरी लगन घणी दिन-रात,  
 साधना कीनी है भली भांत ।  
 जीवन का सार सुनाऊँनी ॥  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ ४ ॥  
 विक्रम संवत् उगणीसौ है,  
 इकरयासी मन भायो जी !  
 मगसर वद सातम पखवाड़ो,  
 मंगलवार कहायोजी ।  
 जन्म शुभ पल में पाया है,  
 नाम सुन्दर ही आया है ।  
 घड़ी अनमोल बताऊँजी ।  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ २ ॥  
 उगणीसौ चौराणुं माही,  
 माघ महीनों जान जी ।  
 शुक्ल पक्ष है शनिवार यो,  
 मंगल दिवस महान जी ।  
 भाव सुं संयम लीनो है,  
 झूठो जग तज दीनो है ।  
 उज्ज्वल चरित्र बताऊँ जी ॥  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ ६ ॥  
 महा गुणी गुरुणी सा व्हाला,  
 सोहन कुंवर जी नाम जी ।  
 शुद्धाचारी महाव्रत धारी,  
 जन-जन रा अभिराम जी ।  
 उदयपुर दीक्षा धारी है,  
 सती जी बाल ब्रह्मचारी है ।  
 त्याग री गरिमा गाऊँजी ॥  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ ७ ॥  
 गुरुणी सारी सेवा करने,  
 ज्ञान खजानो भरियो जी ।  
 व्याकरण न्याय साहित्य सब भणिया,  
 जीवन निर्मल करियो जी ।

रचना घणी बनाई है,  
 नव रस भरी सजाई है ।  
 साधना सौरभ चाऊँ जी ॥  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ ८ ॥  
 चेत्याँ रो परिवार आप रे,  
 पुष्पवानी सुं मिलियो जी ।  
 चन्द्रावती, प्रियदर्शना जी,  
 किरन प्रभा मन खिलियो जी ।  
 रत्न ज्योति जी ज्ञानी है,  
 संग सुप्रभा जी ध्यानी है ।  
 प्रति दिन प्रगति चाऊँ जी ॥  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ ९ ॥  
 महासती श्री प्रभावती जी,  
 जननी संयम धारियो जी ।  
 उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी,  
 भ्राता नाम कमायो जी ।  
 पंडित प्रखर कहावे है,  
 लेखनी ग्रन्थ लिखावे है ।  
 गुणांरा पार न पाऊँ जी ॥  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ १० ॥  
 नगर-नगर और गाँव-गाँव में,  
 दिन-दिन कीर्ति बढ़ती जी ।  
 प्रभावशाली प्रेरक भाषण,  
 अमृतवाणी भरती जी ।  
 सौम्यता मुख पर दमके हैं,  
 रवि ज्यूं जीवन चमके हैं ।  
 श्रद्धा रा फूल चढ़ाऊँ जी ॥  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ ११ ॥  
 मंगल कामना याहिज म्हारी,  
 दीर्घायु वण रीजो जी ।  
 सद्गुण संयम री सौरभ सुं,  
 सदा सुयज्ञ ही लीजो जी ।  
 मनावे अभिनन्दन सब आज,  
 सफल हो 'रसिक' आपरा काज ।  
 बधाई गीत सुनाऊँ जी ।  
 मधुर लहर में झूम-झूम के० ॥ १२ ॥





## स म म न सु म न

—जितेन्द्र मुनि 'काव्यतीर्थ'

वीतराग विज्ञान की, शोध करे दिन रात ।  
 निजानन्द में लीन को, सिद्धि आती हाथ ॥  
 परम विदुषी महासती, पुष्पवतीजी नाम ।  
 सोहनसती की लाडली, शिष्या गुण का धाम ॥  
 प्रभावती की पुत्रिका, गुण-रत्नों की खान ।  
 भगिनी मुनि देवेन्द्र की, जाने जैन जहान ॥  
 अभिनन्दन उनका अमल, करता सकल समाज ।  
 गुण पूजा का जगत में, जीवित रहे रिवाज ॥  
 मिला श्रमणियों को सुखद, जिन शासन में स्थान ।  
 स्त्री ही चाहे पुरुष ही, संयम सदा महान ॥  
 समता पथ की साधिका, रखती उच्च विचार ।  
 उच्च विचार प्रचार हित, करती पाद विहार ॥  
 बाधाओं को चीरती, बढ़ती रही हमेश ।  
 आगे बढ़ने का हमें, देती नित उपदेश ॥  
 माता-भ्राता से मिले, खिले धर्म-संस्कार ।  
 शासन सेवा में रहे, त्वरता से तैयार ॥  
 गुरु पुष्कर से प्राप्त कर, आध्यात्मिक सज्ज्ञान ।  
 पुष्पवतीजी बांटती, दोनों हाथों दान ॥  
 गुरुणी के प्रति नित रही, पूर्ण समर्पित आप ।  
 सरस समर्पण भावना, सिखलाती है साफ ॥  
 शिष्याओं को दे रही, मातृ तुल्य वात्सल्य ।  
 वत्सलता कब पनपती, जो हो दिल में शल्य ॥  
 श्रमण संघ में आपका, बड़े सदा सम्मान ।  
 लौ सम जगमगता रहे, जीवन त्याग-प्रधान ॥  
 भाव पूर्ण गुण वर्णना, करें आप स्वीकार ।  
 'मुनि जितेन्द्र' जीवित रहें, जग में वर्ष हजार ॥

□



## शासन ज्योति

--शास्त्री श्री सुरेश मुनि

धर्म वीर जिन धर्म दिवाकर, धर्मतीर्थपति धर्म निधान ।  
 धर्मसंघ नायक तीर्थकर, धर्म दीप हुए श्री वर्धमान ॥  
 पूर्ववर्ती कई गौरवशाली, सन्त सती ने राखी शान ।  
 वर्तमान में भी कई करते, जैन धर्म उद्योत महान् ॥  
 स्थानकवासी सती शृंखला, रही सदा ही उपकारी ।  
 धर्म प्रभावी चरित्रात्मा, महिमा जिनकी है भारी ॥  
 वीर भूमि मेवाड़ प्रान्त का, नगर उदयपुर गौरव धाम ।  
 श्रमणीसंघ की रही अध्यक्षा, सोहन सती का उज्ज्वल नाम ॥  
 उनकी शिष्या प्रभावती जी, माता जी पर संघ को नाज ।  
 धर्म संघ को अर्पित हो गई, जान रहा है जिन्हें समाज ॥  
 जिनकी पुत्री सुन्दर सुशीला, जैन धर्म शासन की प्राण ।  
 पुष्पवती शुभ ख्याति पाई, बनी संघ में ज्योतिर्मान ॥  
 साल चौराणु संयम ले, करा किया आपने आगम जान ।  
 व्याकरण-काव्य न्यायतीर्थ हैं, दर्शन के भी हैं विद्वान ॥  
 विश्व संत श्री उपाध्याय जी, गुरु आपके गुण की खान ।  
 पुष्कर मुनि जी श्रमणसंघ की, शासन ज्योति दीप्तिमान ॥  
 भ्राता आपके देवेन्द्र मुनि जी, उपाचार्य प्रियकारी हैं ।  
 सिद्ध हस्त लेखक हैं पूरे, चिन्तक वक्ता भारी हैं ॥  
 ज्ञान ध्यान शिष्या से फूले, कदम-कदम पाये उपहार ।  
 युग-युग तक ये महासती जी, खूब करेगी धर्म प्रचार ॥  
 साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी, का अभिनन्दन हो सुखकार ।  
 दीक्षा स्वर्ण जयन्ति पर यह भाव कामना मंगलकार ॥  
 जिन शासन के गगन में, उज्ज्वल ज्योति स्वरूप ।  
 लगे सुहानी शिशिर में, जैसे सबको धूप ॥  
 सद्गुण की सौरभ सदा, महके दिग् दिगन्त ।  
 सत्वशील शुभ महासती, गुण—गरिमा अनन्त ॥

□

शासन ज्योति | ५५



मंगल एकादशी

—उपप्रवर्तक श्री सुकन मुनिजी

पुष्प बाटिका खिल रही,  
सौरभ साथ सुगंध ।  
श्रमणी सत्य विकास से,  
ज्योतिष होत अमंद ॥ १ ॥

सोहन सोमा सम किया,  
जग दीपित है आज ।  
सद्गुरु दिव्य प्रकाश से,  
झिलमिल होत समाज ॥ ६ ॥

दिन दूनी महिमा बढ़े,  
धर्म - दीप्ति - संयोग ।  
समता की सरिता बहे,  
मितें जगत के रोग ॥ २ ॥

पञ्च-व्रत की साधना,  
है जीवन पर्यन्त ।  
मुक्ति मार्ग सच्चा यही,  
मंगलमय जयवन्त ॥ ७ ॥

विमल गन्ध बहती रहे,  
चाहत है मुनि-वृन्द ।  
जगतीतल शोभा बढ़े,  
तब जीवन आनन्द ॥ ३ ॥

दया, दान, संयम तथा,  
दमनवृत्ति हैं तत्त्व ।  
जैन धर्म की सीख है,  
तदितर का न महत्त्व ॥ ८ ॥

तप संयम अनुराग से,  
वहे ज्ञान की धार ।  
गुरु पुष्कर आशीष से,  
होवे बेड़ा पार ॥ ४ ॥

गुरूवर मरुधर केसरी,  
जयकारी भगवन्त ।  
सुकन शिष्य प्रणमत उन्हें,  
कोटि-कोटि जयवन्त ॥ ९ ॥

देव देव सम बन्धु हैं,  
प्रेम - प्रभा-सी मात ।  
संयम धन वक्षावियो,  
जीवन है अवदात ॥ ५ ॥

सिद्धि सिद्धि बढ़ती रहे,  
जीवन-वृद्धि समेत ।  
सुकन-भावना है यही,  
यशकारी पर हेत ॥ १० ॥

अभिनन्दन श्रमणी तणौ, शोभित पाठक हाथ ।  
मंगलमय दीपित रहे, जन शुभकारी साथ ॥ ११ ॥



न  
म  
सु  
त  
श  
त  
श

नील वर्णी व्योम हर्षाया  
दिग्दगन्त मुस्कराया  
उपवन में बहार आई  
मेघों ने मल्हार गाई  
फूल खिले भंवरे गूँजे  
कोयल बोली मोर नाचे  
सूरज ने क्षितिज में  
रंगोली सजाई  
कह कहा लगाती हुई  
पुरवा पवन आई  
रजनीकर ने निशा में  
अमृत छलकाया  
जब ज्योति पुञ्ज  
एक उदयपुर में आया  
आज भी अपनी छटा से  
कण-कण में आलोक  
अनवरत भर रहा है  
स्वयं पुष्प बनकर  
वीर वाटिका में खिल रहा है ।  
भेदपाट, मरुधर और मालव में  
अहिंसा ध्वज लहराया  
महावीर का पावन संदेश  
गाँव नगर घर घर पहुंचाया  
अभिनन्दन की बेला में  
त्याग तुम्हारा चर्चित है  
महासती पुष्पवतीजी  
तुमको मेरे भावों के  
शत-शत सुमन समर्पित है ।

□

महेन्द्र मुनि "कमल"



पुष्प के चरणों में भाव-पुष्प

—दिनेश मुनि

[ चौपाइयाँ ]

जय त्रिशला सुत, जय जिनवानी,  
जय गुरु गौतम, जय भवि प्रानी ॥१॥  
जय व्रतधारक संत सती गण,  
जय जय संयम श्रम समरांगण ॥२॥  
तीर्थ साध्वियाँ तीर्थ श्राविका,  
प्रभाविका ज्ञानात्म भाविका ॥३॥  
परम्परा जय स्थानकवासी,  
ज्ञान विलासी शिव अभिलाषी ॥४॥  
अमरसिंह आचार्य प्रवर जय,  
विश्व सन्तवर गुरु पुष्कर जय ॥५॥  
महासती श्री प्रभावती जय,  
पुत्री पुष्पावती सती जय ॥६॥  
दीक्षा स्वर्ण जयन्ती पर हम,  
अभिनन्दन करते अति उत्तम ॥७॥  
जन्म भूमि मेवाड़ उदयपुर,  
पिता सेठ जीवनसिंह सुखकर ॥८॥  
दादाजी श्री लाल कन्हैया,  
जिनका बहुत उदार रवैया ॥९॥  
माता प्रेम प्रेम बरसाती,  
जैन बरडिया जाति सुहाती ॥१०॥  
उन्नीसी इक्यासी मिगसिर,  
कृष्णा सातम मंगल वासर ॥११॥  
सुन्दर बाई नाम सुहाया,  
प्यार विमाता जी का पाया ॥१२॥  
धार्मिक सचि रखती बचपन में,  
ऋमिक विकास हुआ जीवन में ॥१३॥  
गुरुणी सोहनकुंवर सुहाई,  
लघुवय में ही दीक्षा पाई ॥१४॥

उन्नीसो चोराणूं विक्रम,  
माघसुदी तेरस दिन उत्तम ॥१५॥  
दीक्षा स्थली उदयपुर भाई,  
श्रमणी पुष्पवती कहलाई ॥१६॥  
मात्र हर्ष को पुष्प जानता,  
उदासीनता को न मानता ॥१७॥  
पुष्प असंगी रंग विरंगी,  
करें सिद्ध हम क्यों चौभंगी ॥१८॥  
बहु आकारी पुष्प मनोहर,  
खिलते जल स्थल बाहर भीतर ॥१९॥  
प्रभु चरणों की सेवा पाता,  
हार गले का बन लहराता ॥२०॥  
दुरभिगंध से दूर हमेशा,  
पुष्प स्वभाव जन्म से ऐसा ॥२१॥  
सुरभित वातावरण बनाता,  
खिलता हँसता पुष्प सुहाता ॥२२॥  
पुष्प तुल्य जीवन मन निर्मल,  
हृदय दयालु पुष्प सम कोमल ॥२३॥  
पुष्प सुरभि सम सुरभि सुयश की,  
नहीं निरसता उसके वश की ॥२४॥  
पढकर की व्याकरण मध्यमा,  
बढकर की साहित्य मध्यमा ॥२५॥  
काव्यतीर्थ कर न्यायतीर्थ कर,  
कर साहित्यरत्न फिर सुखकर ॥२६॥  
बनी जैन सिद्धान्ताचार्या,  
बंदा आदरणीय आर्या ॥२७॥  
आगम की मापी गहराई,  
ध्वजा धर्मवाली फहराई ॥२८॥



श्रेष्ठ साधना करने वाली,  
निर्भय समय विचरने वाली ॥२६॥  
सहज समन्वय ज्ञान-भक्ति का,  
शुभ संयोग विशेष शक्ति का ॥३०॥  
चिन्तन मन्थन रखती गहरा,  
रखती निज पर निजका पहरा ॥३१॥  
अच्छाइयाँ सदा अपनाती,  
गुणियों के गुण मन से गाती ॥३२॥  
नहीं देखती दोष किसी का,  
मार्ग दिखाती एक इसी का ॥३३॥  
जन सेवा की सरल मूर्ति सी,  
संस्कारों की तरल स्फूर्ति सी ॥३४॥  
स्पृहा, वृणा से जुड़ी नहीं है,  
सत्कार्यों से मुड़ी नहीं है ॥३५॥  
किया नहीं अभिमान ज्ञान का,  
लिया लाभ सद् ज्ञान दान का ॥३६॥  
मुनि 'देवेन्द्र' आपके भ्राता,  
नाता सांसारिक कहलाता ॥३७॥  
यूँ भी बहन और ये भाई,  
संप्रदाय जब एक सुहाई ॥३८॥  
बहुत पुस्तके की सम्पादित,  
हुई पुस्तके बहुत प्रकाशित ॥३९॥  
लेखन सम्पादन अति सुन्दर,  
बढ़ती साहित्यिक गति सुन्दर ॥४०॥

शिष्यायें भी चार आपकी,  
यह भी विधि दूक पुण्य माप की ॥४१॥  
'चन्द्र' 'प्रिय' है आज्ञा कारी,  
'किरण' 'रत्न' की सेवा प्यारी ॥४२॥  
श्रेष्ठ स्वभाव इसी से आँको,  
सामाजिक जीवन विधि ज्ञांको ॥४३॥  
श्रमणसंघ है अपना सारा,  
अपना फर्ज निभायें प्यारा ॥४४॥  
गुण गुण ग्रहण करें सब आओ,  
गाओ मंगल गीत बधा वो ॥४५॥  
भूज्य प्रवर आनन्द ऋषीश्वर,  
सरल भद्र प्रकृति योगीश्वर ॥४६॥  
उपाध्याय पद मुनि पद जय जय  
महानन्द पद निर्भय जय जय ॥४७॥  
पुष्प पराग विराग बढ़ाये,  
जन मन श्रद्धा सुमन चढ़ाये ॥४८॥  
रहे निरोग संयमी काया,  
छू न सके माया की छाया ॥४९॥  
"मुनि दिनेश" सुगुन चुन लाया,  
चतुष्पदी का छन्द बनाया ॥५०॥  
इकावनी पढिये गुनवाली,  
गुनी पुरुष के सदा दिवाली ॥५१॥

□

## दो मुक्तक

( १ )

देना दूसरों को खूशबु, फूल का स्वभाव होता है,  
इच्छुक हो जो मुक्ति का, वह वैराग्य धार लेता है ।  
ले संयम अल्प वय में, दिपाने धर्म का नाम जग में,  
उसी महानारी का 'उदय'  
"पुष्पवती" सा सम्मान होता है ॥

( २ )

मनाये हर्ष समय है, हर्ष मनाने का,  
करे अभिनन्दन योग्य, पात्र है अभिनन्दन का ।  
कर रही प्रवेश दीक्षा स्वर्ण, जयति वर्ष में सती,  
प्रसंग है यह, 'उदय' वैराग्य, महत्त्व बताने का ॥  
—उदय मुनि 'जैन सिद्धान्ताचार्य'



सहस्र जीवी आप हों

-सुव्रत मुनि "सत्यार्थी"  
(एम. ए. हिन्दी, संस्कृत)

सन्त रहें इस जगत में, नीरज सम निर्लिप्त ।  
अतः जन गण करे उन्हें श्रद्धा से अभिषिक्त ॥  
शरीर से तो भिन्न हैं, सन्त सती महाराज ।  
आत्म दृष्टि से एक है, कहता प्राज्ञ समाज ॥  
ज्ञान ज्योति से जो करे, दूर तिमिर अज्ञान ।  
त्याग और परोपकारिता, सन्तों की पहचान ॥  
रही महत्ता त्याग की, इस पृथ्वी पर नित्य ।  
अभिनन्दन कर त्याग का, जनता हो कृत कृत्य ॥  
ऐसी ही ये महासती पुष्पवती महाराज ।  
उपकारों से आपके कृतज्ञ जैन समाज ॥  
पचास वर्ष से करती, संघ का उत्थान ।  
इसीलिए ही बन गई, सती वृन्द की शान ॥

काव्य न्याय व्याकरण में, आप बड़ी निष्णात ।  
ग्रन्थ अनेकों हैं लिखे, गीतों की क्या बात ॥  
चन्द्रवती प्रिय दर्शना, किरण प्रभा महान् ।  
रत्न ज्योतिजी सुशिष्या, गुण रत्नों की खान ॥  
प्रशिष्या सुप्रभा आपकी, रहे आपके पास ।  
श्रमण संघ को आपसे, बहुत बड़ी है आश ॥  
भ्रात तव देवेन्द्र मुनि, जैनागम विद्वान् ।  
स्वर्ण जयन्ती मना रहे, सबका कर आह्वान ॥  
अभिनन्दन हेतु आपके, तत्पर समस्त संघ ।  
'सुव्रत मुनि' के हृदय में, उठी बड़ी उमंग ॥  
सहस्र जीवी आप हों, करें पूर्ण विकास ।  
"सुव्रत" जन मन को मिले, आध्यात्मिक सु प्रकाश ॥

शत-शत वर्ष जीओ सतीजी

—परमविदुषी महासती श्री शीलकुंवरजी म.

पुष्प पुष्प सम जीवन तेरा ।  
है ज्ञान सौरभ महान् ॥  
महासतीजी के चेहरे पर ।  
है गहरी मुस्कान ॥ १ ॥

साहित्यरत्न हिन्दी में कीना ।  
और आगम का ज्ञान ॥  
"पुष्पवती" जी महासती ।  
जिन शासन की शान ॥ २ ॥

सरल स्वभावी तपोधनी ।  
ज्ञान - सेवा - गुण खास ॥  
स्वर्ण सी सोहन गुरुणी तेरी ।  
लेश न वाणी विलास ॥ ३ ॥

उनको गुरुणी सम समझा मेंने ।  
कहूँ हृदय से आज ॥  
जैसी धूल गुरुणी मेरी ।  
जिन्होंने दिया था शिक्षा साज ॥ ४ ॥

उनके वरद हस्तों के नीचे ।  
खिला "पुष्प" ये खास ॥  
विद्वत्ता से आप श्री की ।  
फैली जग सुवास ॥ ५ ॥

शत शत वर्ष जीओ सतीजी ।  
करो धर्म प्रचार ॥  
आशीर्वाद है "शील" का ।  
मात्र हृदय उद्गार ॥ ६ ॥



## सती शिरोमणि का अभिनन्दन

—महासती कौशल्या जी म.

पुष्पवती गुरु भगनी का अभिनन्दन आज ही करते हैं ।  
सती शिरोमणि प्रवचन दातृ चरणों में वन्दन करते हैं ॥

लघु वय में ले दीक्षा इनने ज्ञान-ध्यान में चित्त दिया ।  
संस्कृत-प्राकृत हिन्दी आदि कई भाषाओं का ज्ञान किया ॥

संस्कृत हिन्दी की दे के परीक्षा फस्ट नम्बर में पास हुई ।  
दर्शन ज्ञान आराधन करके मिथ्या मत से दूर हुई ॥

त्रि करण से शुद्ध आराधन चरित्र धर्म का करती है ।  
जन-जन में जिन वाणी का प्रचार सभा में करती है ॥

“शतं जीयात्” सोहन गुरुणी की, शिष्या पुष्पवती सती ।  
शुभाशेष दो “कौशल्या” को, बनी रहे मेरी शुभ मति ॥

❖

### हर्ष से मनाइये

संसार को तजकर, संयम को सज कर ।  
जिनवर भज कर, आत्म को जगाइये ॥  
भवों का भ्रमण कर, रूला है अनन्तकाल ।  
सम्यग्दर्शन पा के, मिथ्यात्व भगाइये ॥

—साध्वी सुवर्शनप्रभा (जैन सिद्धान्त शास्त्री)

ज्ञान का प्रकाश कर, मिथ्यात्म मिटा कर ।  
सम्यग् चरित्र जीव, अपना अपनाइये ॥  
सती पुष्पवतीजी की, स्वर्ण जयन्ति शुभ ।  
हिल मिल 'सुदर्शना' हर्ष से मनाइये ॥

卐

### वन्दन अभिनन्दन

—महासती श्री सिद्धकुंवरजी

महासती श्री पुष्पवती जी बड़े उपकारी  
कहणाधारी बाल ब्रह्मचारी.....टेर

पिता जीवनसिंह जी के कुल उजियारे,  
प्रेम देवी माता के आप सहारे,

उदयपुर नगरी में S S S जन्मे जाहरी.....१

गुरुराज पुष्कर मुनि भाग्य से पाए,  
सोहन गुरुणी जी के चरणों में आए,

चवदह वर्ष में S S S संयमधारी.....२

संयम लेकर चित्त ज्ञान में लगाया,  
आपकी बुद्धि का पार न पाया,  
स्वल्प समय में S S S बने गुणधारी.....३  
वाणी में जादू अमृत रस बरसे,  
सुन-सुन जनता के हृदय हरसे,  
मेवाड मारवाड S S S मालवा विहारी.....४

युग युग जीए आप यही भावना है,  
“सिद्ध” प्रभु से यही मंगल कामना है,  
वन्दन अभिनन्दन S S S बार हजारी.....५

वन्दन-अभिनन्दन | ६१





## श्रद्धा सुमन गीत

—महासती विमलवतीजी

(तर्ज—मेरी प्यारी बहनियाँ.....)

मेरी प्यारी बहनियाँ मिली खबरियाँ  
अभिनन्दन ग्रन्थ छपे तेरा, हर्षा है मन अति मेरा....  
“जीवनसिंह जी” की प्यारी होनन्दा  
‘प्रेम कुंवर की तुम कुल चन्दा  
‘उदयपुर शहर’ में ‘बरड़ियाँ के घर में,  
आय लगाया ‘सुन्दर’ डेरा— — — — — हर्षा....  
बालक वय में जब तुम आये  
ज्ञान गुरुणी ‘सोहन’ से पाये  
महासुद तेरस दीक्षा है, सरस  
तोडन निकले हैं कर्म जंजीरा.....हर्षा....  
उपाचार्य है भाई तुम्हारा  
माता के साथ वे संयम धारा  
दर्श जो पावे, अति हुलसावे  
जन-जन के मोहन गारा.....हर्षा....  
पढ़ लिख आप विदुषी पद पाई  
साहित्य कला में निपुणता लाई  
परसा है मेवाड़ और भी मारवाड़  
गावे हैं गुण “विमल” तेरा.....हर्षा....

## श्रद्धा सुमन

(श्री विमलवतीजीम० की शिष्या)

—महासती ज्ञान प्रभा

(तर्ज—इन्हीं लोगों ने....)

अभिनन्दन है, अभिनन्दन है  
अभिनन्दन सुखकारी, जाऊँ बलिहारी  
शहर उदयपुर जन्म लिया है,  
कुल ‘बरड़िया’ मझारी....जाऊँ—  
‘जीवनसिंहजी’ पिता तुम्हारे  
माता प्रेम की दुलारी....जाऊँ—  
बाल वय में संयम धारा  
छोड़ संसार दुःखकारी....जाऊँ—  
शिक्षण पाया, धर्म सुनाया  
वाणी मधुर हितकारी....जाऊँ—  
दीक्षा की स्वर्ण जयन्ति आई,  
जोबो वर्ष हजारी....जाऊँ—  
‘ज्ञान प्रभा’ का श्रद्धा सुमन  
ले लो आप स्वीकार....जाऊँ—

### पुष्प सूक्ति कलियां

□ अहिंसा का मूल आधार समत्वयोग है। समत्वयोग आत्म-साम्य दृष्टि की प्रदान करता है। इसका तात्पर्य विश्व की सभी आत्माओं को समदृष्टि से निहारना है।

□ अहिंसा वीरों का धर्म है। अहिंसा का यह वज्र आघोष है—  
मानव ! तू अपनी स्वार्थलिप्सा में डूबकर दूसरे के अधिकार को न छीन।



## वन्दन अभिनन्दन स्वीकारो

—साध्वी मधुबाला 'सुमन' (शास्त्री साहित्यरत्न)

जैन धर्म में नारी की,  
गौरव गाथा अमर महान् ।  
युग-युगों तक याद रहेगी,  
आर्य नारी की यह दाश्तान ॥ १ ॥

जहाँ-जहाँ समय आने पर,  
हिम्मत लेकर अड़ी रही ।  
पुरुष वर्ग भी हार चुके थे,  
जीत लेकर खड़ी रही ॥ २ ॥

ऋषभ से महावीर तक,  
हुई अनेकों सती विद्वान् ।  
ज्ञानी-ध्यानी तपी महात्मा,  
संयम लेकर किया कल्याण ॥ ३ ॥

चन्दन वाला मोक्ष पहुंची,  
दे गई वह अमर वरदान ।  
धन्य-धन्य है भारत भू को,  
नारी रत्न गुणों की खान ॥ ४ ॥

उसी परंपरा में प्रभावतीजी,  
अरु पुष्पवतीजी है विशेष ।  
कर पुरुषार्थ धर्म दिपाया,  
हम तो लेंगे नाम हमेश ॥ ५ ॥

जिस कुल में एक संयमी,  
वह कुल हो जाता महान् ।  
जिसमें सभी संयमी बने,  
उस कुल को कहेंगे महामहान् ॥ ६ ॥

राजस्थान की धरती भी,  
चरण रज से हुई पावन ।  
धन्य धन्य है महासती को,  
वाल ब्रह्मचारी मन भावन ॥ ७ ॥

जीवनसिंहजी सुन्दर को पा,  
हो गये थे बड़े निहाल ।  
"प्रभा" को पा "पुष्प" विकसा,  
गुरु "पुष्कर" मिले विशाल ॥ ८ ॥

उन गुरु शिष्य की जोड़ी,  
चन्द्र सूर्य सम दीप रहें ।  
बहिन है पुष्प सतीजी,  
मुक्तिपुर के समीप रहे ॥ ९ ॥

संवत् उन्नीसो चौराणु में,  
पुष्पवतीजी बनी अनुगार ।  
गुरु पुष्कर की शिक्षा का,  
किया भारत में खूब प्रचार ॥ १० ॥

वन्दन अभिनन्दन महासती का, स्वीकार करो श्रद्धा की थाल ।  
दीर्घायु बनें आप की, "मधु" भी बन गुणी विशाल ॥ ११ ॥

● ● ● ● ● ● ● ● पुष्प सूक्ति कलियां ● ● ● ● ● ● ● ● ● ●  
□ अहिंसा एक महासहिता के समान है । जब वह साधक के जीवन  
में इठलाती-बल खाती हुई चलती है तब साधक का जीवन सर सञ्ज और  
रमणीय बन जाता है ।



गुण गान

—साध्वी रत्नज्योति

गुरुणीवर्या आपके चरणों में,  
श्रद्धा के सुमन चढ़ाते हम !  
मंगलमय स्वर्ण-जयन्ती पर,  
अभिनन्दन गान सुनाते हम !!

(तर्ज-जयपुरिया को लहरियो....)

स्वर्ण जयन्ती है महान्, म्हारा हिवड़ा री तान,  
म्हारी जीवन नैया को पार लगाओ म्हारा गुरुणीसा!  
तन-मन बलिहारी ॥८६॥

धन्य उदयपुर महान् जाने सकल जहान,  
जहाँ प्रेम बाई कूखे जन्म लीनो म्हारा गुरुणी सा !  
तन-मन बलिहारी ॥११॥

जीवनसिंह जी ज्यारा तात, तीजा बाई ज्यारी मात,  
बरड़िया वंश उज्जवल कोना म्हारा गुरुणी सा !  
तन-मन बलिहारी ॥१२॥

छोड़यो जग रो जंजाल, बन्या जीवां रा प्रतिपाल,  
त्याग तपस्या में शूर वीर, बनगा म्हारी गुरुणीसा !  
तन-मन बलिहारी ॥१३॥

गुरुणी सोहनजी महान् माता प्रभावती जान,  
उपाचार्य भ्राता जी संयम पाले म्हारा गुरुणी सा !  
तन-मन बलिहारी ॥१४॥

संयम ज्योति को जगाई, 'रत्न ज्योति' पास में आई,  
भव भ्रमण को आप मिटाओ म्हारा गुरुणी सा !  
तन-मन बलिहारी ॥१५॥

□

स्वर्ण जयन्ती मनावा हर्ष सुधे

—महासती किरणप्रभा

(तर्ज—महिमा मनोहर मदन कुमार की....)

स्वर्ण जयन्ति मनावो हर्ष सु रे ।  
गुरुणी रा करों गुण ग्राम रे ॥  
सन्त सतियाँ गुण गाँवता रे ।  
पावाँ में मुक्ति रो धाम रे ॥ १ ॥  
देश मेवाड़ सुहावणो रे ।  
उदयपुर राणाजी रो विख्यात रे ॥  
बरड़िया जीवन सिंह री लाडली रे ॥  
प्रेमा बाई है जिणरी मात रे ॥ २ ॥  
उगणी से इक्यासी में जन्मिया रे ।  
मृगसर वद सातम सुखकार रे ।  
मोटा हुआ पढ़िया प्रेम सु रे ।  
गया हैं स्कूल मझार रे ॥ ३ ॥

श्रद्धा का सुमन चढ़ावती रे 'किरण' ने देवो आशीर्वाद रे ॥  
जीवू जठा तक रेवे मेरो रे तप संयम आबाद रे ॥ ७ ॥

सोहन सतीजी मिलिया आपने, रे ।  
सुणियो है जिण रो उपदेश रे ॥  
चवदह वर्षे ऊपर मांयने रे ।  
छोड़यो है जग रो क्लेश रे ॥ ४ ॥  
उगणी से चौरासी साल में रे ।  
लीधो है संयम भार रे ॥  
माता ने भ्राता भी संयम लियो रे ।  
कीनो है आतम रो उद्धार रे ॥ ५ ॥  
विचरिया घणा ही राजस्थान में रे ।  
कियो गुजरात परवेश रे ॥  
महाराष्ट्र आप पधारिया रे ।  
दीनो है खूब उपदेश रे ॥ ६ ॥



## पु ष प व त य ष ट क म्

---राजेन्द्र मुनि शास्त्री एम. ए.

सद्ब्रह्मचर्यचरणार्चित पादपद्मे, मेधाविनि त्वमसि (देविपुर) पुष्पवति प्रपूज्या ।  
तेजस्विनी भवसि सर्वं महासतीनाम्, हे ब्रह्मचारिणि महासती सम्प्रदीव्या ॥ १ ॥

—हे पूज्या पुष्पवती जी ! आपके द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से आपके पवित्र चरणों की पूजा की जाती है। इसी कारण आपका तेज सभी महासतियों में अधिक चमकता है। हे महासती अखण्ड ब्रह्मचारिणी आप इसी तरह सदा चमकते रहिये ॥ १ ॥

उच्चैः सदाचरणमस्ति सदा त्वदीयम्, तस्माज्जिनेन्द्र भगवांस्तव वाच्यतिष्ठत् ।  
यद्यद्ब्रवीषि सदासि त्वमनिन्द्यवृत्ते, तत्तज्जनेषु भवतीह सुमन्त्रतुल्यम् ॥ २ ॥

—हे पूज्या ! आपका सदा सर्वदा का आचरण निरन्तर शुद्ध ही रहा है, अतएव आपकी पवित्र वाणी में जिनेन्द्र भगवान का नाम निवास करता है। जो जो आप अपने मुखारविन्द से शब्द रत्न प्रकटित करती हैं, वे वे सभी, हे स्तुत्य व्यवहार वाली पूज्या ! जन मानस में मन्त्र रत्न बन जाते हैं ॥ २ ॥

देवा अपि प्रवचने तव दत्तचित्ताः, का स्यात्कथा कथय तद्भुवि मानवानाम् ।  
साधारणे तव मिथो जग भाषणेऽपि, प्रजाघनो ब्रवति वाचि सुधा सुधाराः ॥ ३ ॥

—हे पूज्या ! आपके आकर्षक प्रवचन में देवगण भी मन सहित मग्न होकर खो जाते हैं, तब वतलाइये-मनुष्यों का तो क्या कहना ? आपकी साधारण बोलचाल के समय भी आपका बुद्धि वादल आपकी मधुर वाणी में अमृतधारा घोल देता है। तब प्रयत्नपूर्वक प्रवचन का तो कहना ही क्या ? ॥ ३ ॥

त्वद्दर्शनेन बहवोऽनुल भूरि भाग्याः, जाता नरोऽपि महिला लघु पुण्यशीलाः ।  
सर्वत्र ते यश इदं भुवि चन्द्रतुल्यम्, ज्ञानञ्च मायिकतमो हत एव नित्यम् ॥ ४ ॥

—हे पूज्या आपके दर्शनों से अत्यन्त उत्तम भाग्यधारी नर-नारी क्षणार्ध ही में महा पुण्यशाली हो जाते हैं। आपका चन्द्र समान यश और भानु समान ज्ञान रात रूपी माया के अंधकार को सदा के लिए नष्ट कर देते हैं ॥ ४ ॥

प्रातः समस्त जनमानसमिन्दु वत्ते, हर्षाम्बु वाक्चरित एव मुभे मिलित्वा ।  
कौचिद्यथा सुमुनि उद्भवति प्रभाते, प्रातः कमण्डलु -अपोऽमृत तुल्यमत्तः ॥ ५ ॥

—हे पूज्या आपका सच्चारित्र्य और अमृतझरिणी वाणी, दोनों मिलकर जैसे कोई दो मुनि सबेरा होते ही कमण्डलुओं में पानी भरकर पीते पिलाते हों, वैसे ही सम्पूर्ण मानवों के मन रूपी घड़ों को चन्द्रमा की भाँति हर्षामृत से भर देते हैं ॥ ५ ॥

ईदृङ् महिम्न उभयेऽसुरदेव सङ्घाः, गाथन्ति कीर्त्तिममलां मुनिराज सिद्धाः ।  
सद्ब्रह्मचर्यं परिचर्चित-सुव्रतस्य, सर्वव्रतेश्वर सुमूल समाहितस्य ॥ ६ ॥

प्रथम खण्ड : शुभकामना : अभिनन्दन | ६५



—हे पूज्या आपके इस प्रकार के महिमाधारी ब्रह्मचर्य व्रत की निर्मल कीर्ति का गान, देव और दानव दोनों करते हैं। क्योंकि यह ब्रह्मचर्य व्रत समस्त व्रतों की जड़ है। इस व्रत के बिना कोई भी व्रत पूर्ण हो ही नहीं सकता उपवास, कथा श्रवण, स्वाध्याय, विद्याध्ययन इत्यादि सभी व्रतों की यह ब्रह्मचर्य व्रत जड़ मूल है ॥ ६ ॥

यः कोऽपि ना व्रतमिदं विधि पूर्वकञ्चेत्, सम्पालयेत्स यमराजमपि प्रहृष्यात् ।

अस्य प्रभावमतुलं हनुमन् विदित्वा, सम्पालयैस्तदजरोग्यमरौ बभूव ॥ ७ ॥

—हे पूज्या इस व्रत को जो कोई भी मानव विधि पूर्वक पालन करता है, वह यमराज को भी समाप्त कर (हरा) देता है।

इस महाव्रत के अतुल प्रभाव को समझकर श्री हनुमान जी पालन करते रहे और अजर अमर हो गये।

—हे पूज्या आपने इस कठोर व्रत का पालन किया है, अतएव आपके सभी असाध्य कार्य भी सिद्ध होते हैं। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से आप साक्षात् देवी ही बन गई हैं। आपका नाम पुष्पवती इस व्रत से सार्थक हो गया है ॥ ७ ॥

अस्य व्रतस्य महिमानमपि प्रगायेत्, देवासुरेषु नृषु सिद्ध कवीश्वरेषु ।

एतद् व्रतम्परिचरन्मनुजोऽसुरो वा, नारायणः स भवतीति न संशयोऽस्ति ॥ ८ ॥

—हे पूज्या इस महाव्रत की महिमा का शतांश भी, देव, असुर, नर, मुनि, सिद्ध अथवा महा कवियों में कौन ऐसा समर्थ है जो गा सके (वर्णन कर सके)।

इस महाव्रत को पालन करने वाला चाहे मानव अथवा राक्षस कोई भी हो, वह साक्षात् नारायण भगवत्स्वरूप हो जाता है ॥ ८ ॥

राजेन्द्रनाम मुनिरेव महाव्रतस्य, श्री पुष्पवत्यमरकीर्त्तित सच्चरित्रे ।

त्वत्पालितस्य गुणधाम्न उदारवृन्ते गायन्महा महिमदस्य सुखी भवामि ॥ ९ ॥

—श्री पुष्पवती के सच्चरित्र में जिसकी प्रशंसा देवी-देवता भी गाते हैं, जो यह महाव्रत ब्रह्मचर्य है, और इसका पालन श्री पुष्पवती जी ने बड़ी निष्ठापूर्वक किया है, यह व्रत समस्त उदार गुणों का खजाना है और साथ ही यह व्रत सबसे बड़ी महिमा प्रदान करता है। अतएव मैं राजेन्द्र मुनि इस महाव्रत और इसे स्वेच्छा से सहर्ष धारण करने वाली महासतीजी श्री पुष्पवती इन दोनों का गुणगान करने में अत्यन्त मनोरम आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

पुष्प सूक्ति कलियाँ—

□ अहिंसा यह कभी नहीं सिखाती कि अन्यायों को सहन किया जाय, क्योंकि अन्याय करना अपने आप में पाप है।

□ अहिंसा समस्त प्राणियों का विश्राम-स्थान है, क्रीडा-भूमि है और मानवता का शृंगार है।

□ अहिंसा, मानव जीवन का सर्वोत्तम आभूषण है। यह आन्तरिक समताभाव पर आधारित है। अहिंसा इतना सार्वभौम और सर्वांगव्यापी तत्त्व है, कि यह मानव-जीवन में अनेक धाराओं में प्रवाहित होता है।



वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला दो

युग-युग में चमके यश गावे नर-नारी  
 धन्य महासतीजी पुष्पवती गुणधारी ॥ १ ॥  
 सब देशों का सरताज मेवाड़ कहावे ।  
 पिता जीवनसिंह वरड़िया वंश दिपावे ।  
 हुई माता आपकी प्रेम कुंवर सुखकारी ॥ १ ॥  
 जब चार वर्ष की आयु आपने पाई  
 तब माता आपकी सुरलोक सिधायी ॥  
 सब परिजन के नयनों में बहता वारी ॥ २ ॥  
 गोगुन्दा के सेठ श्री मगनलाल मन भाये ।  
 उसकी सुता से लग्न कर हर्षाये,  
 तीज कुंवर का नाम बड़ा प्रियकारी ॥ ३ ॥  
 वह सुन्दर बाला मन में अति हर्षाती ।  
 माता की सेवा करके प्रेम बढ़ाती,  
 फिर धन्ना नाम के भ्रात हुए जयकारी ॥ ४ ॥  
 सबको तज करके तात स्वर्ग में जाते,  
 घर हो गया सूना आगे कथा सुनाते ।  
 तीनों के मन वैराग्य हुआ उस वारी ॥ ५ ॥  
 विक्रम संवत् उन्नीस सौ चौराणु आया ।  
 तब सुन्दर कुंवर ने संयम का व्रत ठाया ।  
 तेरह वर्षों की उमर मोहनगारी ॥ ६ ॥  
 गुरुदेव आपके ताराचन्द्रजी प्यारे ।  
 उनके कुल में पुष्कर मुनि जैन सितारे ।  
 नौ वर्ष के भ्राता धन्ना दीक्षा धारी ॥ ७ ॥  
 फिर तीजकुंवरजी पति विरहणी नारी,  
 सती सोहन कुंवर जी शिक्षा दी हितकारी ।  
 लीना है संयम धार सकल दुःख टारी ॥ ८ ॥  
 माता पुत्री ने एक ही गुरुणी कीनी,  
 कई शास्त्र थोकड़े सीखी है गुण खानी  
 दिया पुष्पवती शुभ नाम है महिमा भारी ॥ ९ ॥  
 साहित्यरत्न की पास परीक्षा करके,  
 श्री रमाशंकर जी से पढ़ी हर्ष मन करके ।  
 जिनके चरणों में "चन्द्र" रहे हर वारि ॥ १० ॥

आर्या चण्डी

वन्दना के इन स्वरों में एक स्वरों मेरा मिला दो | ६७



## जिन शासन की गरिमा

श्री संचालालजी बाफणा

(अध्यक्ष : अ. भा. श्वे. स्थानकवासी जैन कान्फ्रेस, दिल्ली)

श्रमण संस्कृति विश्व की एक महान संस्कृति है। इस संस्कृति में व्यक्ति को नहीं, गुणों को महत्त्व दिया है। व्यक्ति की महत्ता गुणों पर आधृत है, यही कारण है कि श्रमण और श्रमणियों को भी गुणों के कारण महत्ता प्रदान की गई है। गुणों के कारण ही श्रमण व श्रमणियाँ महान बनती हैं। साधक का एक विशेषण है, 'गुणानुरागी'। साधक गुणी व्यक्तियों के प्रति अनुरक्त रहता है। वह गुणियों की वन्दना, अभिनन्दना करने में अपने आपको धन्य अनुभव करता है।

अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने की एक मंगलमय परम्परा इन वर्षों में चल रही है। उस परम्परा का भी यही उद्देश्य है कि जिन सन्त और सती वृन्द का हमारे समाज पर महान उपकार है, उनसे उपकृत होने के लिए वन्दना, अभिनन्दना और स्तवना की जाती है।

परम विदुषी साध्वीरत्न महासती पुष्पवतीजी श्रमण संघ की एक तेजस्वी साध्वी हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है वहाँ वे सर्व प्रथम साध्वी हैं जिन्होंने क्वीस कालेज वाराणसी की, और कलकत्ता व प्रयाग की हिन्दी, संस्कृत की उच्चतम परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की। आज युग बदल चुका है। आज अनेकों साध्वियों ने विश्वविद्यालयों की उच्चतम परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की हैं और शोध प्रबन्ध लिखकर पी.एच.डी. की उपाधि भी प्राप्त की है। पर वह युग था कि जिस युग में श्रमण और श्रमणियों को गृहस्थ विद्वानों से पढ़ने का निषेध था। जिस युग में भयंकर विरोध के बावजूद भी राजस्थान की धरती में रहकर उन्होंने अध्ययन किया और परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की।

पाश्चात्य विचारक बेकन ने सत्य ही लिखा है—

“रीडिंग मेक्स ए फुल मैन  
स्पोर्टिंग ए परफैक्ट मैन  
राइटिंग ए एग्जैक्ट मैन”

अध्ययन मानव को पूर्ण बनाता है, भाषण उसे परिपूर्णता देता है। और लेखन उसे प्रामाणिक बनाता है। जब ये तीनों बातें क्रमशः होती हैं तब उसमें परिपूर्णता आती है। पहले अध्ययन, फिर भाषण और उसके पश्चात् लेखन। जो व्यक्ति बिना अध्ययन लिखते हैं, उनकी लेखनी में परिपूर्णता नहीं आती। आजकल कितने ही लेखक एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा में लिखते हैं, पर उनकी लेखनी में कोई चमत्कार नहीं होता, न मौलिक चिन्तन होता है, न कमनीय कल्पना की उड़ान होती है। वही घीसी-पिटी बातें होती हैं पर महासतीजी के साहित्य को मैंने पढ़ा, उसमें विचारों का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। भाव भाषा और शैली का ऐसा सुमेल है कि पढ़ते-पढ़ते पाठक झूमने लगता है। पुष्प-पराग महासतीजी के प्रवचनों का



एक शानदार संकलन है। ब्रतों पर महासतीजी ने जो विश्लेषण किया है वह बहुत ही अनुठा है और प्रेरणादायी है। आज इसी प्रकार के प्रेरणाप्रद साहित्य की आवश्यकता है।

मैंने महासतीजी के द्वारा लिखित उपन्यास भी पढ़े हैं "सती का शाप" "किनारे-किनारे" और "कंचन और कसौटी" आदि उपन्यास क्या है, एक जीवन्त प्रेरणा है। आज नारी का विकृत रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। "सती के शाप" में भारतीय नारी का एक तेजस्वी रूप उजागर हुआ है। और 'किनारे-किनारे' उपन्यास में दहेज के दावानल पर तीखा व्यंग्य है, एक करारी चोट है। प्राचीन युग में यह परम्परा कितनी विशुद्ध थी, पर आज वह कितनी विकृत हो गई है? इसका सटीक वर्णन है, समाधान है।

मैंने महासतीजी द्वारा सम्पादित दशवैकालिक सूत्र देखा इस आगम पर जो महासतीजी ने अनेक आगमों के आलोक में विवेचन लिखा है वह विवेचन बहुत ही सुन्दर और सरस है। आगम साहित्य पर विवेचन लिखना टेढ़ी खीर है। हर व्यक्ति उस पर विवेचन नहीं लिख सकता। जिनका अध्ययन गम्भीर है, तुलनात्मक दृष्टि से आगम धर्म और दर्शन का जिन्होंने अध्ययन किया है वे ही इस प्रकार का विवेचन लिखने में सक्षम हो सकते हैं। महासतीजी ने प्रत्येक पद पर चिन्तनपूर्वक विवेचन लिखा है।

ऐसी परम विदुषी साध्वीरत्न ने अपने जीवन को साधना की आग में तपाया है। वेदाग जीवन जीकर ऐसी मशाल पेश की है, जो सभी के लिए प्रेरणादायी है। आज पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण हमारे यहाँ पर भी भौतिकवाद की आँधी आ रही है। तप-त्याग और समर्पण की ज्वलंत प्रतिमाएँ, महिलाएँ भौतिकवाद के प्रवाह में प्रवाहित हो रही हैं। सीने जगत की तारिकाएँ बनने के लिए ललक रही हैं। ऐसे समय में हमारे संस्कृति की गौरव-गरिमा रूप ये साध्वियाँ आलोक स्तंभ की तरह हैं। इनका जीवन पवित्र है, इनके विचार निर्मल हैं और इनका आचार विशुद्ध है। मैं ऐसी तपःसूति साध्वी का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। इनका जीवन युग-युग तक हमें प्रकाश प्रदान करता रहेगा।

□

## बो ल ता हु आ भा ष्य

श्री रतनचंद्र रांका (सिकन्दराबाद)

भारत के एक तत्त्वदर्शी मनीषी ने लिखा है— "सहस्रेषु च पण्डितः" हजारों व्यक्तियों में एकाध व्यक्ति पण्डित होता है पर ज्ञानी तो लाखों व्यक्तियों में कोई विरला ही मिलता है। ज्ञानी और पण्डित में अन्तर है। पण्डित का ज्ञान मस्तिष्क की उपज है और वह ज्ञान जीभ पर अठखेलियाँ करता रहता है। पर ज्ञानी का ज्ञान अन्तर्हृदय से उद्बुद्ध होता है और वह उसके जीवन में झकृत होता है। उसका जीवन एक बोलता हुआ भाष्य है। जो

भी ज्ञानी के सम्पर्क में आता है, उसके जीवन में अभिनव रोशनी जग-मगाने लगती है।

परम विदुषी महासती पुष्पवतीजी एक ज्ञानी साध्वी हैं। ज्ञान का अथाह सागर उनके जीवन में लहलहा रहा है। उस ज्ञान के सागर को नापना बहुत ही कठिन है। मैंने देखा है, वे समाज में फैले हुए-अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे समाज में पनपती हुई रूढ़ियाँ, दुर्व्यसनों को नष्ट करने के लिए सदा संलग्न हैं।

बोलता हुआ भाष्य | ६६





उनका जीवन परोपकारी जीवन है। उनके जीवन का तिल-तिल आत्मोत्थान व समाजोत्थान में लगा हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने अनेक बालिकाओं को धार्मिक संस्कार प्रदान किए हैं। अनेक भूले-भटके युवकों को व्यसनो से मुक्त किये हैं।

पुष्प की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह सदा-सर्वदा अपनी मधुर सौरभ से जन-मन को आह्ला-दित करता है, ताजगी प्रदान करता है। वैसे ही

महासतीजी अपने नाम के अनुरूप सद्गुणों की सौरभ फैलाती है। वे जहाँ भी गई हैं, वहाँ अपने पवित्र चरित्र की सौरभ फैलाई है। यही कारण है कि श्रद्धालुओं के सिर आपके गुणों के प्रति नत हैं। सभी के अन्तर्हृदय की यह मंगल कामना है कि आप पूर्ण स्वस्थ रहकर समाज को सही मार्ग-दर्शन प्रदान करती रहें। आपकी स्वस्थता समाज के लिए वरदान रूप रहेगी। अभिनन्दन की इस बेला में हमारे अभिनन्दन को ग्रहणकर हमें कृतार्थ करें।

## दो कदम आगे

—श्री चम्पालाल कोठारी बम्बई

परम विदुषी महासती श्री पुष्पवतीजी का स्मरण आते ही मानस पटल पर एक ऐसे दिव्य, भव्य, व्यक्तित्व का चित्र अंकित हो जाता है। जिनके मस्तिष्क में ज्ञान का अपार सागर हिलोरे ले रहा है। जिनके हृदय से अनुभव की रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं। जिनका पावन दर्शन प्रेरणा का अक्षय स्रोत है।

मैंने महासती पुष्पवतीजी के अनेकों बार दर्शन किए हैं। उनके पावन प्रवचन सुने हैं। उनसे विचार-चर्चाएँ भी की हैं। उन सभी में मुझे उनके लुभावने व्यक्तित्व के दर्शन हुए। उनके प्रवचनों में सबसे बड़ी विशेषता है कि वे आगम के गूढ़ गम्भीर रहस्यों को सरल और सुगम रीति में प्रस्तुत करती हैं। जिससे श्रोता ऊबते नहीं। उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि प्रवचन गंगा में अवगाहन करने से उनकी चिन्ताएँ मिट रही हैं और चिन्तन उदबुद्ध हो रहा है। चाहे बालक हों, चाहे वृद्ध हों। चाहे युवक हों, चाहे युवतियाँ हों। सभी के लिए वह प्रेरणाप्रद है।

विचार चर्चा में तो जो आनन्द आता है, वह शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वे

प्रश्न को बहुत ही ध्यान से सुनती हैं और फिर ऐसा सटीक उत्तर देती हैं कि प्रश्नकर्ता की शंकाएँ उसी तरह नष्ट हो जाती हैं। जैसे-इलेक्ट्रिक स्वीच को ओन करते ही अन्धकार स्वतः ही नौ दो ग्यारह हो जाता है।

आज का युग नारी जागरण का युग है। सर्वत्र नारियों ने अपना बुद्धि-कीर्ण प्रदर्शित किया है। हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने तो यह सिद्ध कर दिया कि नारी पुरुष से पीछे नहीं। किन्तु दो कदम आगे ही है। वह यदि अपनी शक्ति का विकास करे तो पुरुष का पौरुष भी फिका पड़ जाता है। महासती पुष्पवतीजी ऐसी ही प्रतिभासम्पन्न साध्वी हैं। जो कई सन्तों से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में आगे हैं। उनके सद्गुणों पर मुग्ध होकर के ही दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। जिससे उनकी महिमा और गरिमा स्वतः सिद्ध है। मैं अपनी ओर से श्रद्धा-सुमन समर्पित कर रहा हूँ।



## से वा का प्रेरक प्रतिबिम्ब

—श्री जवाहरलाल मुनोत; बम्बई

जैन श्रमण-श्रमणियों का समस्त जीवन इति-वृत्त, सम्यक्—त्रयी का सतिमन्त प्रकाशित प्रतीक होता है, दीक्षा ग्रहण के उत्तर काल के पाँच दशक तो चिन्तन, उद्बोधन, आध्यात्मिक जागृति-प्रखरता और चतुर्विध संघ की सम्माननीय सेवा का प्रेरक प्रतिबिम्ब होता है।

परम पूजनीय स्वनाम धन्य प्रातः स्मरणीय साध्वी शिरोमणि पू० पुष्पवतीजी म० सा० के इसी उन्नायक काल में स्वर्ण जयन्ती मनाने का निश्चय जितना उल्लासदायक है उतना ही समाज के लिए प्रेरक और स्पृहणीय है। कृपया मेरी ओर से विनम्र अभिवादन, अभिनन्दन और साधुवाद स्वीकार करें।

अभिनन्दन ग्रन्थ की रूप-रेखा को निहारकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ जैन धर्म, दर्शन इतिहास, साहित्य, संस्कृति ध्यान और योग जैसे गम्भीर विषयों का एक अनुपम खजाना होगा जिसमें अधिकारी मूर्धन्य मनीषियों के लेख होंगे। यह उपक्रम गागर में सागर भरने के सदृश है। इस अभिनव-अनुपम और अद्भुत अनुष्ठान की मफलता असंदिग्ध है। मैं प्रबुद्ध पाठकों से यह विनम्र निवेदन करूँगा कि ऐसे अद्भुत ग्रन्थ केवल पुस्तकालय व ड्राइंग रूमों की शोभा श्री में ही अभिवृद्धि न करें अपितु इस ग्रन्थ का पठन—पाठन कर अपने जीवन में ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि करें।

## वन्दनीया महासती जी

—चाँदमल मेहता (मदनगंज)

हमारी यह पावन पुण्य भूमि सन्त और सतियों की तपोभूमि रही है। यहाँ पर हजारों-लाखों नर रत्न हुए हैं। जिन्होंने अध्यात्म साधना कर अपने जीवन को धन्य बनाया। और दूसरों के लिए प्रकाश स्तम्भ की तरह पथ प्रदर्शक बने।

साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी एक प्रतिभा सम्पन्न साध्वी हैं। जिन्होंने लघुवय में सद्गुरुणीजी श्री सोहन कुंवरजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। तपः साधना और संयम आराधना कर

अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनाया। सन् १९१५ में मैं महासतीजी के सम्पर्क में आया। उस समय उनका वर्षावास मेरी जन्म स्थली मदनगंज—किशनगढ़ में ही था। यों मेरी प्रारम्भ से ही रत्नि राजनीति में रही। गाँधी की आँधी ने मेरे को प्रभावित किया और आजादी का दीवाना बनकर स्वतन्त्रता संग्राम में जुटा रहा। जीवन के उषाकाल में धर्म के प्रति सहज लगाव नहीं था। यों परम्परा से हम स्थानकवासी थे। जब महासतीजी का वहाँ

वन्दनीय महासतीजी | ७१



चातुर्मास हुआ। मैं उस चातुर्मास में अनेक बार सम्पर्क में आया। मेरे मन पर उनके निश्चल व्यक्तित्व का अद्भुत प्रभाव पड़ा।

सन् १९७५ में पुनः महासतीजी का द्वितीय वर्षावास मदनगंज में हुआ। इस वर्षावास में पूर्व वर्षावास से अधिक सन्निकट आने का अवसर मिला। मुझे यह लिखते हुए अपार आह्लाद होता है कि महासतीजी की मेरे घर और मेरे परिवार पर अपार कृपा रही है। उसी कृपा का सुफल है कि मेरा पूरा परिवार महासतीजी के प्रति पूर्ण श्रद्धालु हैं।

सन् १९७३ का अजमेर का यशस्वी वर्षावास सम्पन्नकर श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज सा. हमारी भावभीनी प्रार्थना को सम्मान देकर मदनगंज पधारे। उनके पावन प्रवचनों को सुनकर हमारे संघ में अभिनव चेतना का संचार हुआ। हमने उस वर्ष गुरुदेव के वर्षावास हेतु जी-जान से प्रयत्न किया। पर अहमदाबादसंघ के अत्याग्रह से वह वर्षावास अहमदाबाद को प्राप्त हुआ। हमारा संघ समय-समय पर प्रार्थना करता रहा। सन् १९८३ का पूज्य गुरुदेव का वर्षावास हमें महासती श्री पुष्पवतीजी की कृपा से मिला। क्योंकि अनेक संघ गुरुदेव के चातुर्मास के लिये ललक रहे थे। पर हमारी ओर से महासती पुष्पवतीजी ने ऐसी वकालात की कि हमें वर्षावास का लाभ मिला।

इसके पूर्व मदनगंज की दो बालाओं ने महासती पुष्पवतीजी के पास संयम ले रखा है। अतः हमारी प्रार्थना को सम्मान देकर गुरुदेव के सान्निध्य में महासतीजी का भी चातुर्मास हुआ और इस चातुर्मास में बेंगलौर निवासी बहिन निर्मलाजी ने दीक्षा ग्रहण की। इस चातुर्मास में मेरा पूरा परिवार गुरुदेव और गुरुणीजीके प्रति पूर्ण समर्पित रहा। यह ऐतिहासिक चातुर्मास मदनगंज संघ के लिए वरदान रूप में रहा।

महासती श्री चतर कुंवरजी की वृद्धावस्था के कारण महासतीजी को मदनगंज लम्बे समय तक

विराजना पड़ा। और सन् १९८४ का वर्षावास किशनगढ़ में हुआ और सन् १९८५ का वर्षावास हरमाड़ा को मिला। और पुनः आप हरमाड़ा से वर्षावास के पश्चात् विहारकर मदनगंज पधारी। इस प्रकार मदनगंज के सद्भाग्य के कारण हमें सेवा का सुअवसर मिला। महासतीजी की अपार अनुकम्पा हमारे पर रही। मैं ज्यों-ज्यों महासतीजी के सम्पर्क में आया त्यों-त्यों मेरी श्रद्धा दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती चली गई। मेरी ही नहीं मेरे पूरे परिवार के श्रद्धा विकास में हुआ है। मैं साधिकार कह सकता हूँ कि महासतीजी के जीवन में अनेक सद्गुण हैं। वे सदा प्रसन्न मुख रहती हैं। कभी भी उनके चेहरे पर उदासीनता और खिन्नता दिखलाई नहीं देती। उनका स्वास्थ्य कई बार प्रतिकूल भी रहा पर उस प्रतिकूलता में भी उनका जीवन-पुष्प सदा मुसकराता ही रहा है। मैंने अपने जीवन में अनेक साध्वियों के दर्शन किये हैं। पर आप में जो विलक्षण विशेषता देखी है। वह दूसरों में कम देखने को मिली है। उन्हीं विशेषताओं के कारण आप अन्य साध्वियों से विलक्षण है।

मुझे श्री देवेन्द्र मुनिजी से परिज्ञात हुआ कि महासतीजी सन् १९८७ में दीक्षा के ५० वसन्त में प्रवेश करेंगी। उस अवसर पर श्रद्धालुओं के द्वारा उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने की योजना है। यह सुनकर मेरा हृदय आनन्द से तरंगित हो उठा। मैं अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ में अपने श्रद्धा के दो बोल लिख सका हूँ। मेरी तथा मेरे परिवार की यह हार्दिक मंगल कामना है। आप पूर्ण स्वस्थ रह कर हमारे पर सदा आशीर्वाद बरसाया करें। आपका मंगलमय आशीर्वाद हमारे लिए सम्बल रूप रहेगा। जिससे हम धर्म के क्षेत्र में सदा आगे बढ़ते रहें।

□



## मैं दानव से मानव बना

—मोहनलाल सिन्धी, व्यावर

हमारा परम सौभाग्य है कि परम विदुषी साध्वीरत्न पुष्पवतीजी जैसी विमल विभूति हमारा पथ प्रदर्शन कर रही हैं। वे समता, सहिष्णुता, नम्रता, सरलता के द्वारा मानवता की प्रतिष्ठा करना चाहती हैं। वे चाहती हैं कि सद्गुणों की बेल पर ही मानवता के फूल विकसित होते हैं। बिना मानवता के न श्रावकपन आता है और न साधुपन ही। यही कारण है कि प्राचीन मनीषियों के मार्गानुसारी गुणों का प्रतिपादन कर पहले गुण विकसित करने की प्रेरणा प्रदान की है।

मैं एक नम्बर का बदमाश था। मेरे जीवन में सभी दुर्गुण थे। मेरा जीवन दुर्गुणों का आमार था। मैं रात-दिन शराब पीने में मशगूल रहता था। सन् १९६६ में गुरुणीजी का वर्षावास अजमेर में हुआ। मैं शराब पिया हुआ था। मेरे एक मित्र ने मुझे कहा—क्या तू भी कथा में चलेगा? मैं मित्र के साथ प्रवचन पण्डाल में पहुँच गया। गुरुणीजी का प्रवचन चल रहा था, वो बता रही थी कि “जीवन एक नौका है। नौका में जरा सा छिद्र हो जाये तो नौका में पानी भर जाता है। और वह नौका डूब जाती है। जीवन में भी जरा सा व्यसन का छिद्र हो जाये तो जीवन बर्बाद हो जाता है। जैसे कौवे को यदि कोई खाने की वस्तु डाली जाय तो कौवा कभी अकेला नहीं खाता। वह काँए-काँए कर अपने अन्य साथियों को भी बुलाता है। वैसे ही दुर्गुण भी (यानि व्यसन) अकेला नहीं आता। वह अपने साथ अन्य व्यसनों को भी लेके आता है। व्यसन से जीवन खोखला बन जाता है। उस समय जोश प्रतीत होता है,

पर वह जोश क्षणिक होता है।” मैं प्रवचन के एक-एक शब्द को ध्यान से सुन रहा था। मैंने जैन साध्वी के दर्शन भी पहली बार ही किये थे और प्रवचन भी पहली बार ही सुना था। मेरे हृदय में एक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। मुझे अपने पापों की स्मृतियाँ आने लगी और मेरो आँखों से आँसू बरसने लगे। प्रवचन समाप्त हुआ, सभी लोग नमस्कार कर चल दिये। पर मैं विचारों के सागर में ही गोते लगा रहा था। आज इस जगज्जननी ने मेरे नेत्र खोल दिये थे।

जब लोग चले गये तब गुरुणी मैया ने मुझे पुकारा। मैया—क्या सोच रहे हो? तुम्हारी आँखों से आँसू क्यों वह रहे हैं। क्या तुम्हें कुछ चिन्ता है? कहो, अपने हृदय की बात? हम तुम्हारी बात का समाधान करेंगी।

मैंने कहा—मैं जैन नहीं हूँ। हम लोग सिन्धी के रहने वाले हैं। जब सिन्धी में पाकिस्तान हो गया तो हमें विवश होकर यहाँ पर आना पड़ा। अब हम यहीं पर रह रहे हैं। बुरी संगति में पड़कर मेरे जीवन में सारे दुर्गुण आ गये हैं। अब मेरा कसे उद्धार होगा? आज मैंने पहली बार उपदेश सुना। आपके उपदेश ने मुझे चिन्तन करने के लिए बाध्य किया है कि मैं मानव बना हूँ। पर मेरे कृत्य तो दानव की तरह हैं। मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरा उद्धार करें। गुरुणी मैया ने मुझे प्रेम से समझाया। मैं उस दिन से प्रतिदिन उनके प्रवचन में जाने लगा। मेरा कायाकल्प हो गया। पहले मैं समझता था कि शराब पीने से ताजगी अनुभव होती है। पर अब यह धारणा मिथ्या सिद्ध हो गई।

मैं दानव से मानव बना | ७३



वर्षावास सम्पन्न हुआ। विदाई बेला सन्निकट आई। गुरुणी मैया को मैंने पूछा—मेरे लिये क्या आदेश है? उन्होंने कहा—“दीये से दीया जलाते जाओ”। जिन व्यसनों से तुम्हारा जीवन संतुष्ट था वैसे ही हजारों लोगों का जीवन भी संतुष्ट है। तुम उनके जीवन को नई दिशा दो। गुरुणी जी का आदेश हुआ। मैं जहाँ भी जाता वहाँ पर यह अभियान प्रारम्भ कर दिया और मैंने सैकड़ों व्यक्तियों को शराब छुड़वा दी। अन्य व्यसन छुड़वा दिये। मेरा सम्पूर्ण परिवार आज जैन हैं। मेरे बाल-बच्चों में भी ऐसे सुदृढ़ संस्कार गुरुणी मैया ने डाले कि मेरा परिवार आज सुखी है, समृद्ध है और हर तरह से हमारे जीवन में आनन्द है। यह सब गुरुणी मैया के पुण्य का ही प्रतिफल है।

मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि जैन धर्म एक महान् धर्म है। इसके सिद्धांत बहुत ही उदार और मानवीय हैं। इस धर्म के जो सन्त और सतीगण हैं वे बहुत ही त्यागी और तपस्वी और निर्लोभी हैं। मैं अपने संगी साधियों को यही प्रेरणा देता हूँ कि वे इस मानवतावादी धर्म को अपनाकर अपने जीवन को पावन बनावें।

गुरुणी मैया के लघु भ्राता श्री देवेन्द्र मुनिजी ने मुझे यह बताया कि गुरुणी मैया के साधना के पचास वर्ष हो रहे हैं और उसके उपलक्ष्य में एक ग्रन्थ निकालने की योजना है। मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मैं अपनी अनन्त श्रद्धा के साथ गुरुणी मैया के चरणों में श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूँ।

□

### प्रे र क—सं स् म र ण

--डा. ए. डी. बतरा  
(पूर्वा विश्वविद्यालय, पूर्वा)

समता, सहिष्णुता, नम्रता, सरलता आदि मानवीय गुण जिनके जीवन का शृंगार है। जिनके जीवन में एक नहीं अनेक गुण हैं। ऐसी परम विदुषी महासती पुष्पवतीजी के सम्बन्ध में, मैं क्या लिखूँ? उनके जीवन के अनेक संस्मरणों जो मुझे देवेन्द्र मुनि ने सुनाये थे, वे आज भी मेरे अन्तर्मानस में उभर रहे हैं। उन संस्मरण में से स्थाली, पुलाकन्याय से मैं कुछ ही संस्मरण यहाँ प्रस्तुत करूँगा। उन संस्मरणों से यह सहज ही परिज्ञात होगा कि महासतीजी में कितनी दूरदर्शिता, निष्कामता, गम्भीरता, सहिष्णुता, समानता और वैराग्य भावना प्रभृति गुणों का सणिकांचन संयोग हुआ है।

● सन् १९४६ में महासतीजी अपनी ज्येष्ठ गुरु बहिन महासती श्री कुसुमवतीजी के साथ जैन न्याय और दर्शन का अध्ययन करने हेतु व्यावर पधारी। व्यावर शहर से जैन गुरुकुल तीन किलोमीटर के लगभग दूर था। प्रतिदिन शिक्षा के लिए शहर में आने-जाने से काफी समय अध्ययन से वंचित रहना पड़ता था। गुरुकुल में कुछ अध्यापकों के मकान थे, वहीं से जो कुछ थोड़ा बहुत आहार प्राप्त हो जाता उसी से वे अपना निर्वाह कर अध्ययन में लगी रहती थी। जब अवकाश होता तभी आहार के लिए व्यावर शहर में पधारती। उसी दिन उनका पूर्ण आहार होता था। जेव दिनों उन्नीसरी तप के साथ अध्ययन चलता था। यह थी उनमें ज्ञान-निष्ठा।

● आपकी सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुंवरजी म. वृद्धा महासतियों के कारण उदयपुर में विराजिता थी। व्याकरण का अध्ययन चल रहा था। क्वींस कालेज, वाराणसी की मध्यमा परीक्षा की तैयारी चल रही थी, उसमें सम्पूर्ण सिद्धान्त कौमुदी थी। सम्पूर्ण सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन कर



और फिर उसकी परीक्षा देना बहुत ही कठिन कार्य था। पर आपने चन्द्रमा की चांदनी में बैठकर रात-रात भर जगकर उसे याद किया। रात्रि-जागरण की कोई चिन्ता नहीं थी। पर उस समय केवल एक धुन थी, अध्ययन-अध्ययन-अध्ययन। इसी ज्ञान-लिप्सा के कारण आप प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण हुईं।

● जीवन के ऊषाकाल से ही आप स्वावलम्बिनी रही। अपना कार्य अपने ही हाथों करना आपको पसन्द था। आप अपने वस्त्र स्वयं प्रक्षालन करती थी। स्वयं अपने वस्त्रों को सीती और स्वयं के पात्रों को स्वयं ही साफ करती। और स्वयं के वस्त्र आदि की प्रतिलेखना स्वयं ही करती।

● अध्ययन के साथ आप में आज्ञापालन का गुण भी गजब का रहा है। जीवन के प्रारम्भ से ही आप बिना बड़ों की आज्ञा के कोई भी कार्य नहीं करती। कई बार बिना मन के भी आप सहर्ष आज्ञा का पालन करती। सन् १९७७ में गुरुणीजी श्री सोहनकुंवरजी म० पाली में बिराजी ही थीं, उनका स्वास्थ्य काफी अस्वस्थ था। वर्षों से आप सद्गुरुणीजी की सेवा में ही वर्षावास करती रहीं। पर उस वर्ष गुरुणीजी ने आदेश दिया कि तुझे अजमेर जाना है। आपने गुरुणीजी से निवेदन किया कि आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। मैं इस वर्ष आपकी ही सेवा में रहना चाहती हूँ। पर गुरुणीजी के आदेश को स्वीकार, कर बिना मन ही अन्य सतियों के साथ अजमेर की ओर प्रस्थान किया। मन में शंका थी, वह शंका सार्थक हो गई। वर्षावास में ही सद्गुरुणी का स्वर्गवास हो गया। आपको पहले स्वप्न में आभास हो गया था कि गुरुणीजी म० यह चातुर्मास नहीं निकालेंगी। पर गुरुआज्ञा को आपने सदा महत्व दिया।

● सन् १९८० का वर्षावास उपाध्याय पुष्कर मुनिजी म० का उदयपुर में था। मैं भारत सरकार की ओर से योग-विद्या पर भाषण देने हेतु अमेरिका गया था। वहाँ पर मैंने ४४ भाषण दिये। अमेरिका के एक मित्र डॉ० जेम्स भी मेरे साथ भारतीय तत्व विद्या का परिज्ञान करने के लिए भारत आये थे। हम दोनों उपाध्यायश्री के दर्शनार्थ उदयपुर पहुंचे। दस दिन वहाँ पर रहे। उस अवसर पर महासती पुष्पवतीजी अपनी मातेश्वरी महासती प्रभावतीजी के साथ वहीं पर विराज रही थी। उन्होंने मेरे से ध्यान और योग के सम्बन्ध में विभिन्न जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की। मैंने अपनी ओर से समाधान करने का प्रयास किया।

● दस दिनों तक विविध विषयों पर समय-समय पर उनसे वार्तालाप हुए। मैंने वार्तालाप में यह अनुभव किया कि पुष्पवतीजी एक प्रकृष्ट प्रतिभा सम्पन्न साध्वी हैं, उनमें तीव्र जिज्ञासा है। यह जिज्ञासावृत्ति ही उनकी प्रगति का मूल है। वे सीधी और सरल हैं। उनकी सरलता को निहारकर मेरा मन बहुत ही प्रसन्न हुआ।

● इस प्रकार आपके जीवन के विविध संस्मरण रह-रहकर स्मृत्याकाश में चमक रहे हैं पर उन सबको लिखना बड़ा कठिन है। कभी समय पर लिखने का प्रयास करूँगा। वस्तुतः उनका जीवन एक प्रेरक जीवन है। उनके जीवन में विविध सद्गुणों को निहारकर हमारी मंगल कामना है कि वे सद्गुण हमारे जीवन में साकार हों।



पुष्प सूक्ति कलियां

❀  प्रेमरूपी सम्पत्ति को न तो कहीं से लाना होता है और न किसी से लेना होता है। मनुष्य की अन्तरात्मा में इसका समुद्र लबालब भरा है। ❀  
❀ ऐसा अथाह समुद्र कि हजारों वर्षों तक संसार के सारे मनुष्यों या अभीष्ट ❀  
❀ प्राणियों को बाँटा जाय, तब भी उसमें कभी कमी नहीं आती। ❀

प्रेरक संस्मरण | ७५



साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी : एक संस्मरण

—डा० फैयाज अली ख़ाँ, (किशनगढ़)

(एम० ए० पी एच० डी० हिन्दी एवं अंग्रेजी)

इसे परम सौभाग्य ही कहा जायगा कि मुझे महासती जी के सम्बन्ध में वन्दना स्वरूप कुछ शब्द निवेदन करने का सुअवसर प्रदान किया गया । प्राचीन एवं सतत-प्रयोगित होने के कारण अनेक कहावतें औपचारिकता मात्र रह जाती हैं; उनमें से एक है 'सूर्य को दीपक दिखाना' तथापि इस लेख में तो औपचारिकता का नितान्त अभाव मानकर मुझे कृतार्थ करने की प्रार्थना है, क्योंकि इस अकिञ्चन की लेखनी से प्रसूत शब्द केवल दुः साहस ही कहे जा सकते हैं । किञ्चित् उपशमन के रूप में कवि कुल—चूड़ामणि कालिदास के निम्सांकित श्लोक का आश्रय लेकर उपस्थित होता हूँ ।

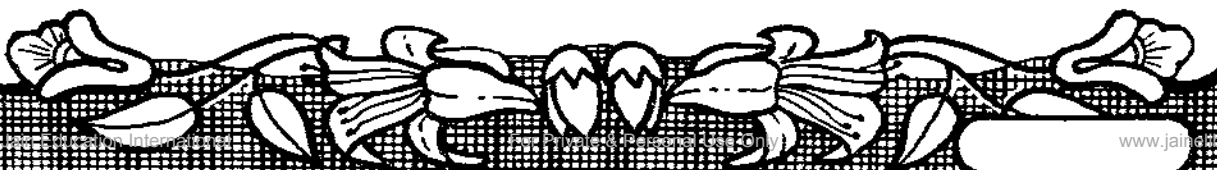
अथवा कृ० वाग्दारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।

मणौ वज्रसत्कीर्णं सूर्यस्येवास्ति मे गतिः ॥

वस्तुतः, साध्वीरत्न जी के विषय में मेरे लेखन का आधार जैन आगम एवं अनेक तपस्वी साधु-सन्तों, मुनियों आदि के प्रवचन एवं लेख हैं । और वे ही मेरे सम्बल हैं ।

किशनगढ़ क्षेत्र के निवासियों के पुण्योदय के फलस्वरूप सन् १९८४ का चातुर्मास महासतीजी ने यहाँ किया । किशनगढ़ अनुपम पुण्य-स्थली है; जैन धर्म का भी यह प्रसिद्ध स्थान रहा है । अतीत में यहाँ जैनियों के २७०० घर थे एवं लगभग २५ स्थानक थे । अनेक प्रकृष्ट जैन साधुओं ने यहाँ निरन्तर चातुर्मास किये; अनेक जैन नैराणियों को योग्य शिक्षा प्राप्त करवाने के यहाँ स्थायी प्रबन्ध रहते थे; जैन-धर्म साधना के यहाँ उत्कृष्ट साधन उपलब्ध थे; भारत के समृद्ध/धार्मिक नगरों से सम्पर्क स्थापित करने वाले प्रमुख राजमार्ग पर स्थित होने, निवासीय सुविधाएँ उपलब्ध होने, जलवायु की अनुकूलता, एवं महाराजाओं की विशाल-हृदयता के कारण यहाँ भिन्न भिन्न प्रांतों के वर्गों, धर्मावलम्बियों, आचार्यों, सन्तों, आदि से पारस्परिक विचार-विनिमय के सहज सुअवसर प्राप्त थे । फलतः किशनगढ़ राज्य अनेक दृष्टियों से एक अनुपम आकर्षण-स्थल रहा । धर्म-साधना की दृष्टि से भी यहाँ के प्राकृतिक उपकरण विशेष महत्वपूर्ण थे । पर्वतों की कन्दराओं, नदी तटों एवं वनों में अनेक धर्मों के साधक निवास करते थे गुजरात की साध्वियों ने मुझे हाल ही में बताया कि गुजरात-काठियावाड़ के एक प्रसिद्ध सन्त किशनगढ़ राज्य की पुनीत भूमि पर षण्मासिक अरण्य-तप के लिए विराजेथे ।

यहाँ के महाराजा धर्मों के प्रति श्रद्धावान होने के साथ-साथ जैन धर्म के प्रति भी आदर प्रदर्शित करते थे । जब रूपनगर में इस राज्य की राजधानी थी तब वहाँ कुछ सिद्ध जैनाचार्यों ने तत्कालीन महाराजा को एक बहु-चर्चित विज्ञप्ति पत्र दिया था । सम्भव है वह अब भी कहीं उपलब्ध हो । उसे ऐतिहासिक कहा गया था जिसके फलस्वरूप जैन मतावलम्बियों को अनेक सुविधाएँ दी गयी थीं । यह जैन सन्तों के प्रति महाराजाओं की सद्भावना की परम्परागत प्रदर्शिका थी । कुछ अधिक लम्बा समय नहीं, हुआ जब श्रद्धेय चौथमल जी म० सा० के प्रति उदयपुर के महाराणा ने अपनी श्रद्धा का सतत प्रदर्शन किया ।



किशनगढ़ में जैन साधुओं एवं साध्वियों के विराजने की परम्परा सतत-लाभदायी रही है। सर्वश्री पन्नालालजी म० सा० सहस्रमल जी म० सा० छगनलालजी म० सा० हस्तीमलजी मा. आदि ने यहां चातुर्मास किये हैं। शेषकाल में चौथमलजी म, सा. आनन्द ऋषिजी म० सा०, उपाध्याय पुष्कर मुनि जी म० सा०, कविरत्न अमरचन्दजी ग. सा. विजय मुनिजी ग. सा. गान्हालालजी ग. सा. हृणाशीपालजी म० सा०, युवाचार्य मिश्रीमलजी 'मधुकर' म० सा०, मोहन लाल जी म० सा० आदि ने अपने प्रवचनों से किशनगढ़ की जनता को कृतार्थ किया है। साध्वियों में चातुर्मास एवं शेष काल में यहाँ विराजने वाली हैं उमराव कुवरजी म० सा० प्रेमवती जी म० सा०, चारित्रप्रभा जी म० सा०, आदि। यहाँ कुछ दीक्षाएँ भी हुई हैं। संधारे के उदाहरण भी यहाँ प्राप्त हैं।

साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म० के किशनगढ़ चातुर्मास को मैं 'ऐतिहासिक' विशेषण से अलंकृत करना चाहता हूँ। यहाँ महासतियों के चातुर्मास की शृंखला में वह एक अनुपम कड़ी भी रहा। जब किशनगढ़ में आप श्री के चातुर्मास की स्वीकृति हुई तो न केवल आपसे पूर्व परिचित व्यक्तियों को बल्कि अन्य जनों को भी अत्यन्त हर्ष का अनुभव हुआ। आपके प्रथम प्रवचन ही को सुनकर श्रोताओं ने अपने को धन्य माना। अल्प समय में ही यह आभास हो गया कि आपकी वाणी में साधना-समन्वित एवं तप-प्रसूत मसृणता है; व्यवहार में स्नेह-सिक्त कुशलता एवं व्यक्तित्व में साध्वी-सुलभ आकर्षण। वरिष्ठों से प्राप्त शिक्षाओं एवं गहन अध्ययन के ये सब सहज फल कहे जाएंगे। गुरु श्री उपाध्याय पुष्कर मुनि जी म० सा० एवं गुरुणी सोहन कुंवर जी म० के उच्चकोटि के व्यक्तित्व आपके पथ प्रदर्शक रहे। संसार पक्ष में भाई साहित्य वाचस्पति देवेन्द्र मुनिजी एवं अन्य साधु-साध्वियों के सम्पर्क ने भी आपको लाभान्वित किया है। एक प्रमुख वैशिष्ट्य की आप धनी हैं और वह है साध्वी मर्यादाओं का सहज एवं पूर्ण परिपालन। स्नेह की आप आदर्श हैं; उसका उच्च प्रमाण आपके साथ रहने वाली महासतियों के प्रति आपके व्यवहार से प्राप्त होता है। पारिवारिक पूर्ण संस्कारों एवं आर्हती दीक्षा की पालना के फलस्वरूप ही आपने अपना जीवन एक सुसंस्कृत तपस्विनी के रूप में ढाला। जैन-आगम दर्शन एवं साहित्य में आप पारंगत हैं। श्रमणाचार, श्रावकाचार आदि विषयों पर लिखे गये प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के ग्रन्थों का आपका अध्ययन विपुल है। संस्कृत भाषा में लिखे गये जैन एवं जैनेतर साहित्य में आप निष्णत हैं। हिन्दी एवं कतिपय अन्य साहित्य का भी आपका अध्ययन गम्भीर है। व्याकरण में आप सिद्धहस्त हैं।

श्री पुष्पवतीजी म. को लेखनी में अजर्ज्व के साथ सौष्ठव है, गहनता के साथ सारल्य और आदर्श के साथ भाव-प्रवणता, उनकी भाषा में स्फीत वाग्धारा है। जैन एवं जैनेतर समाज उनकी कृतियों से समान रूप से लाभान्वित होते हैं। चातुर्मास में आपश्री धार्मिक प्रवृत्तियों में प्रोत्साहन की प्रेरणा निरन्तर प्रदान करती रहीं। पौषध, उपवास, आयम्बल, सामायिक, पंचक्खण आदि से सम्बन्धित आदेश-उपदेश जैन समाज के अध्यात्मिक उत्थान में सहायक होते रहे। चातुर्मास में पशुव्रत पर्व में आपश्री का धार्मिक योगदान अत्यंत सफल एवं लाभदायक रहा। जाने-माने संतों की पुण्य तिथियों पर आपके प्रवचन धर्म पथ पर समाज को अग्रसर करने में सहायक सिद्ध हुए। जैनेतर समाजों के व्यक्ति भी अपनी धार्मिक प्रेरणाओं में आपश्री के प्रवचनों द्वारा अनायास ही धर्म वृद्धि प्राप्त करते रहे। आपके प्रवचनों में विविध श्रोताओं की उपस्थिति उसका ज्वलंत प्रमाण है। प्रवचनों में लगभग सभी धर्मों के सर्वमान्य तथ्य दृष्टांतों के रूप श्रोताओं को प्रभावित करते रहे। आपश्री को जैनेतर धर्मों का भी विस्तृत अध्ययन है। भार तीयषट्दर्शन की गहनता को अतीव सरल एवं सुबोध भाषा में श्रोताओं के हृदयंगम कराने की आप में अद्भुत शक्ति है। आपका कोई भी प्रवचन कभी एकड़्डी न होकर सर्वदा सर्वांगीण होता था। जहाँ प्रबुद्धों के लिए





वह उल्लास का विषय होता था वहाँ जन साधारण के लिए अनूठा पथ-प्रदर्शक । नपी-तुली भाषा में बिना किसी भी प्रकार की रूकावट के अपने विषय का विवेचन करना केवल अनुभय की ही वस्तु है । जैन धर्म के तत्त्व विवेचन के साथ-साथ धर्मों के तथ्यों का सामञ्जस्य मानो स्वाभाविक रूप में प्रवचनों में उभर आता था । वेद, उपनिषद, गीता, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में से उद्धरणों एवं उदाहरणों से श्रोतागण प्रभावित होते रहते थे । रामायण एवं महाभारत से भी आप अपने प्रवचनों को उद्दीप्त करती थी । कभी कभी ऐसा एतीत होता था कि आपश्री का स्वास्थ सामान्य से कुछ न्यून है किन्तु आपने कभी यह आभास न होने दिया कि उन्हें किसी प्रकार की असाता है । फलतः उनके प्रवचन लगभग निरंतर चलते रहे । महातपस्विता मानों उनकी वशवर्तिनी थी । प्रत्येक वस्तु, स्थिति; परिस्थिति को वे अत्यन्त सहज रूप में लेती रही । श्रोताओं का पुण्योदय ही कहा जाएगा ।

साध्वीरत्न के विषय में जितना कहा जाय, न्यून ही रहेगा । उपर्युक्त निवेदन में यदि कोई त्रुटि कहीं है, तो लेखक की है और उसका कारण हो सकता है; सुनने अथवा लेखन में प्रमाद । तदर्थ वह क्षमा प्रार्थी ।



## शु भा कां क्षा

—डा० एम० पी० पट्टेरिया; (चुरारा)

मैंने देखा, अक्सर लोग सोचते हैं, उनके पास जो कुछ है, वह आधा/अधूरा है । जबकि दूसरों के पास बहुत कुछ/पूरा है । इस तरह का चिन्तन मृग-तृष्णा है । जीवन के बोध का दिग्भ्रम है ।

व्यक्ति के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण यथार्थ यह है कि वह अपूर्व है । मैं तुम और वे सब भी, जो इस जगत में हैं, अपूर्ण/अधूरे हैं ।

जीवन की सार्थकता, इसमें नहीं है, कि जो हमें नहीं मिला, उसके लिए रोते/पछताते रहें ।

हमें चाहिए, कि जो कुछ हमें है, उसे मिला पहिचाने/और जो कुछ हम पाना । बनना चाहते हैं, उसके लिये समग्र योग यत्न से प्रयास करें ।

अन्ततः, हमने जो पालिया, उसका मूल्यांकन करें; उसी पर सन्तोष/सुख/आनन्द का अनुभव करें ।



मानवीय जीवन का श्रेयष्कर मार्ग यही है ।

जीवन सिद्धान्त के उक्त सन्दर्भ में परम विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवतीजी महाराज के प्रस्थान क्रम पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उनका प्रारम्भिक व्यक्तित्व सामान्य व्यक्तियों की तरह, आधा/अधूरा था । किन्तु वे मृगतृष्णा में नहीं उलझी । उस समय उन्हें जो कुछ प्राप्त था, उसे उन्होंने पहिचाना/परखा; और अपने पूर्ण योग/यत्न से बहुत कुछ पाने । बनने के लिए, पथ-वती बन चल पड़ीं । अपने प्रस्थान के गत पचास वसन्तों में संयम-अभिषिक्त उनकी साधना-लता, अब वस्तुतः 'पुष्पवती' बनकर निखरी है । उसकी सरसवती उपलब्धियाँ भी अभिनन्दनीय हैं । में वे 'फलवती' बनकर जीवन की सार्थकता के छोर तक पहुँचे, यही मेरी शुभाकांक्षा है ।



## सा ध्वी सं घ की शो भा

—श्री शोभाचन्द्रजी भारिलाल

केवल मानवजाति में ही नहीं; मानवेतर प्राणियों की भी जीवन शैली में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इस विभिन्नता का कारण उनकी सहज प्रवृत्ति की विचित्रता है। किन्तु प्रकृति में वैचित्र्य का हेतु क्या है? इसके अनेकानेक कारणों में प्रधान कारण अदृष्ट की भिन्नता को ही माना जा सकता है। एक व्यक्ति साधारण कोटि का होने पर भी अपने आपको असाधारण प्रकट करने के प्रयास करता रहता है, संकीर्ण होते हुए भी विराट् रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा में संलग्न है, अज्ञ होने पर भी विज्ञ के रूप में विश्रुत करता है, हीनाचारी होकर भी उच्चाचारी प्रदर्शित करने का प्रयास करता रहता है और यह सब करने के लिए दूसरों को अपने से हीन, नगण्य और निम्नकोटि का सिद्ध करने में कोई कसर नहीं रखता। वह दम्भ और असत्य का आचरण करते नहीं हिचकता ऐसा करके भी वह विवेकशील जनों की दृष्टि से छिपा नहीं रह सकता।

इसके विपरीत कतिपय व्यक्ति ऐसे होते हैं जो किसी क्षेत्र में असाधारण होते हुए भी अपनी नम्रवृत्ति एवं अहंकारहीनता के कारण अपने आपको साधारण ही अनुभव करते हैं। अपनी प्रशस्ति सुनकर संकोच अनुभव करते हैं। अपनी असलियत में ही मस्त रहते हैं। अपने पद के अनुरूप कर्तव्यनिष्ठा ही उनका ध्येय होता है।

महासती श्री पुष्पवतीजी दूसरी श्रेणी के व्यक्तित्व का एक उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उन्हें कीर्ति की कामना नहीं है। ख्याति का लोभ छू भी नहीं सका है। सत्कार-सम्मान की चाह नहीं है। अपनी विद्वत्ता को विश्रुत करने का विचार भी उनके हृदय में उद्भूत नहीं होता। असाधारण होने पर भी साधारण के रूप में अनुभव करना प्रकट करना, और व्यवहार करना उनकी विशेषता है।

लगभग आधी शताब्दी होने आई, तब से मैं उनके निकट परिचय में हूँ। लम्बे समय तक उन्होंने मुझे निमित्त बनाकर जैन आगमों और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया है। उस समय में उनके व्यक्तित्व को पूरी तरह समझने का मुझे अवसर मिला है। इसके आधार पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि महासती पुष्पवतीजी अत्यन्त शान्त, दान्त, विनम्र एवं आचारनिष्ठ साध्वी हैं। वे साध्वीसंघ की शोभा हैं। उन्होंने अपने आदर्श जीवन व्यवहार और धर्मदेशना के माध्यम से समाज को बहुत कुछ दिया है, दे रही हैं और साथ ही आत्मोत्थान की साधना में सदा सजग रहकर निरत रहती हैं।

महासतीजी का अभिनन्दन प्रमोद भावना का अभिव्यक्तिकरण है और साथ ही दूसरों को प्रेरणाप्रदायक भी है। हार्दिक कामना है कि महासतीजी चिरायु हों, उनकी साधना निरन्तर उग्रतर होती रहें। संघ को उनसे जो बहुमूल्य अवदान प्राप्त हो रहा है वह चिरकाल तक प्राप्त होता रहे।



## तत् त्वमसि, श्री पुष्पवती

—पं. जगदीशराय नागर

(कुलपति उदयपुर विद्यापीठ)

परम विदुषी साध्वी-रत्न श्री पुष्पवती ! अभिनन्दन !

(१) चार्वाक लोकायत ने मानव जीव को कहा—आत्म-परमात्मा पुनर्जन्म, मुक्ति-मोक्ष धर्म सदा चरण आदि व्यर्थ का प्रलाप है। जीव का शरीर ही जीव है तथा वह परमाणुओं में संघात से (गोबर के कीड़ों की भाँति) उत्पन्न होता रहता है। अतः ऋणकर तथा घृत पीते हुए भोगो ! यह देह भस्मीभूत होगा देह चिरन्तन नहीं है—अजर और अमर है नहीं। मृत्यु के पश्चात् के विषय में केवल सभ्रान्त कथन मात्र है ! अतः शाश्वत चैतन्य-आत्मा-परमात्मा, परमेश्वर जैसा कहा भले ही जाय, परन्तु अनुभव में ऐसा कुछ भी नहीं है।

(२)—लोकायतों ने स्वयं को अन्त में जर्जरित होकर नष्ट होने वाला देह ही माना है तथा इस जगत को रहस्यमय परमाणुओं का गोबर मानकर सभी जीवों को कीड़े माना है। लोकायत इन्द्रियज सन्निकर्ष से अबाध और निश्चिन्त भोग में ही मानकर कहता है—आत्म-चैतन्य जैसा कुछ भी नहीं है। अतः भौतिक (विज्ञानवादी) संस्कृति मूलतः चार्वाक-संस्कृति ही है। चार्वाक-मति-का समाज निस्संदेह मृत्यु को ही अन्तिम तथा आत्यन्तिक मानकर चलता है। सच तो यह प्रतीत होता है कि मानव के अन्तःकरण में मृत्यु और मृत्युञ्जय संस्कृति की चेतनाओं का संक्रामक तथा सनातन द्वन्द्व है और चलता ही रहता है।

(३)—किन्तु जैन ने उदित होकर मानवों से कहा, देह नहीं हो तुम पुष्पवती ! तुम अजर-अमर निष्कलंक निष्पाप चैतन्य हो। तुम वही हो ! यह देह तो प्रारब्धवशात् ही तुम धारण कर प्राबन्ध-योग करती रहती हो ! अतः इस जगत में बुद्धिशाली जीव को “आत्मा-शाश्वत अनादि मुक्त और आनन्दमय चैतन्य का इंगित जैन-मानव ने किया है और यहीं से मानव-प्रबुद्ध ने आत्मा-परमात्मा की शोध आरंभ की है ! इसलिये जैन-दर्शन मानव की दार्शनिक ऊहापोह तथा चिन्तन-मनन एवं साधना के लिये जीवन-दर्शन का शिलान्यास ही है। सच यही लगता है कि मानव-जीव इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा भी, जगत के सतत् क्षणिक भोग करता हुआ भी अपने चिद्-धन में अपने ही परम चैतन्य का ध्यान करता ही रहता है ! मानव-जीव का स्वभाव है जगत के भोग द्वारा अपने ही आत्म चैतन्य का ध्यान करते रहना। इसीलिये मानव बुद्धि में “दर्शन” की प्रज्ञा का स्वयंभू उदय होता है। जगत का हमारा ध्यान तो जगत के पंचभूतों और उनको तन्मात्राओं द्वारा भोगने का ही है। शस्त्र, शास्त्र विद्या आदि सभी बल जगत को प्राप्त करने के लिये ही हैं। विद्या द्वारा जगत प्राप्त किया जाता है, और कला द्वारा भोगा जाता है। किन्तु भोग मात्र क्षणिक है, जगत के रूप की अभिव्यक्ति सनातन तो है, अनादि तो है किन्तु क्षणिक है तथा जगत में नाम स्मृति में कुछ काल ध्वनित होकर सदैव के लिये विला जाता है। जगत की अन्तिम और आत्यंतिक अनुभूति तब क्या है ‘मानव-बुद्धि का चरम-परम विकास होकर जब चिन्तन का अन्तिम विलास उद्भव होगा, तो वह यही होगा: ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या ! परम सत्य आत्मा है, चैतन्य है और



यह जगत अन्तोगत्वा क्षण के लिये भासमान होकर मिथ्या है। मिथ्या अर्थात् है भी और नहीं भी ! वन्दनीया साध्वी श्री ! क्षण-भासमान होते हुए भी जगत क्षण के लिये भी है तथा क्षणों के काल प्रवाह में उद्भवित और तिरोहित होता हुआ यह जगत तथा जीवन भी है। अनन्त का अर्थ ही क्षणों का अपने विम्ब (रूप) तथा नामों सहित स्मृति और विस्मृति में बहते रहना है—काल ! काल का अर्थ जाति, आयु तथा भोग ही होता है—हो सकता है। इसीलिये प्रजाधान मानव, प्राज्ञ, अन्त में यही कहता है “यह जगत क्षणों के लिये है तथा अपने नाम-रूप एवं गुण-धर्मों के प्रवाह में सनातन है—अनन्त है। जो है भी और नहीं भी, वही “मिथ्या” है। अतः जगत तथा जीव असद् नहीं है; मिथ्या है।

(४)—साध्वी श्री पुष्पवतीश्री ! आपश्री की जीवन-साधना को सुनकर मुझको ऐसा लगता है, आप जैन-दर्शन की अपनी आँखें उलटकर परम शाश्वत आत्मचैतन्य की ही खोज-खबर करती रही हैं और आप अपने मूलतः स्वभाव से तादात्म्य प्राप्त कर चुकी है। मानव-जीव जगत के सुख-दुःखमय प्रारब्ध भोगते, काटते हुए भी प्रति निमिष, ज्ञात-अज्ञात, परम चैतन्य के अनादि में सरकना चाहता है, गिरना चाहता है—डूबना तथा लीन होना चाहता है, आप श्रीमती यह जान गई हैं कि शब्द है वहाँ तक वाणी हैं, वाणी है वहाँ तक विद्या है तथा शास्त्र है। भव-जीवन है तो अनिवार्यतः अविभाज्य रूप से कर्म है कर्म है तो बन्धन है—जन्म-मरण है ! इसलिये मैं आपको पुकार कर आत्म-चैतन्य की ओर उन्मुख होना चाहता हूँ ! आप जैसे साधकों ने ही अनाथ दीन, तुष्णातुर भयार्त और भयभीत बँधे हुए जीव को कहा है “तत्त्वमसि ;” यह तत् आत्मा ही है—आत्मचैतन्य ही है ! निर्मल, शुद्ध, बुद्ध, भय, भुक्त तथा अभय और अभेद से पूर्ण परिपूर्ण आनन्द तथा प्रसन्न अस्तित्व आत्म-चैतन्य ही जन्म-मरण के परे और पार मेरा अन्तिम लक्ष्य-वेध है। इस लक्ष्य-वेध की प्रेरणा गृहस्थ जीवों को आप जैसी विदुषी साध्वी श्रीमती से ही मिलती है।

(५)—आप साध्वीरत्न ने संकल्पकर गृहस्थ जीवन को अंगीकार नहीं कर जन्म-मरण के सनातन चक्र से अलग ही कर लिया है तथा काल-बन्धन को आत्म-चैतन्य के सतत् और गहन ध्यान द्वारा प्रायः काट ही लिया है। आप इसीलिये मानव-जीवन के लिये आत्म शौर्य की प्रतीक बनकर अजर-अमर सच्चिदानन्द चैतन्य की ओर हमें प्रेरित करती तथा कषित रखती है। मैं आपका अभिनन्दन करते हुए आपको प्रणाम करता हूँ, क्योंकि जैन-दृष्टि द्वारा ही मैं प्रथम बार आत्म-चैतन्य का ध्यान कर सका हूँ और श्वेत-केतु का सम्बोधित कर सका हूँ—आज आत्म-चैतन्य की धारणा को प्रदान करने के अनुग्रह को शिरोधार्य कर मैं ही आपको पुकारता हूँ।

“तत्त्वमसि पुष्पवती ! साध्वीश्री !”



## साधनारति महासती पुष्पवती

—कमला जैन ‘जीजी’

इस परिवर्तनशील संसार में समय का कोई हिसाब नहीं रख सका, इसे कोई सीमा में नहीं बँध सका और न ही इसके प्रवाह को पल भर के लिये भी कोई रोक सका है। यह निरंतर अजस्र गति से प्रवाहित होता चला जाता है। जिसे हम भविष्य कहते हैं वह रोज वर्तमान बन कर सामने आता है तथा वर्तमान अतीत बनकर इतिहास में परिवर्तित हो जाता है। इस बीच जीवन में कितनी घटनाएँ घटती हैं तथा सुख और दुख के कैसे-कैसे रंग गहरे होकर धूमिल हो जाते हैं, इसकी परवाह समय नहीं करता।



किन्तु कुछ संस्मरण इतने ताजे रहते हैं तथा कुछ परिचय इतने प्रगाढ़ होते हैं कि वे सदा ही जीवन को माधुर्य से भरे रहते हैं और उन्हें जब-जब पलट कर देखा जाय तो वर्तमान के समान ही मन को प्रभावित करते हैं ।

अविस्मरणीय संस्मरण

विद्वत् शिरोमणि, चिन्तनशीला, मधुरवक्ता एवं अध्यात्म-ज्ञान-गरिमा के युक्त श्रमणीरत्न महासतीजी श्री पुष्पवतीजी म० से मेरा प्रगाढ़ परिचय ऐसा ही मधुर तथा अविस्मरणीय रहा है । लगभग चार दशक का समय व्यतीत हो जाने पर भी यह न धूमिल होता है और न कुछ भी विस्मृत ही हो पाता है ।

मुझे, खूब याद है, सन् १९४५ के लगभग मेरे पिताजी पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल जो कि जैन-दर्शन के धुरंधर विद्वान हैं, 'श्री जैन गुरुकुल व्यावर' में प्रधानाध्यापक के पद पर आसीन थे और हम सब गुरुकुल में ही रहा करते थे । उन्हीं दिनों मेरा प्रथम परिचय महासतीजी से हुआ था । वे पिताजी से अध्ययन करने हेतु प्रायः गुरुकुल में निवास करती थीं और हम भाई-बहन आदि सभी दिन भर में अनेक बार आपके दर्शनार्थ दौड़ जाया करते थे तथा रात्रि को कहानियाँ सुने बिना पीछा छोड़ते ही नहीं थे ।

वह सहज परिचय और प्रगाढ़ बना, जब 'जैन गुरुकुल' समाप्त हुआ तथा पिताजी व्यावर के ही 'बिचरली मुहल्ले' में निवास करने लगे । महासतीजी भी अध्ययनार्थ व्यावर में विराज रही थी तथा चानुमांस भी वहीं था । उन्हीं दिनों मैं अध्ययन कर रही थी तथा व्यावर में ही रहना हुआ था । प्रतिदिन दो-तीन बार मैं समय मिलते ही आपके दर्शनार्थ जाया करती थी उपाश्रय में । वह इसी कारण कि आपका स्पष्ट एवं निष्कपट एवं आत्मीयता से परिपूर्ण अति सौम्य व्यक्तित्व मुझे अत्यन्त प्रिय लगता था । आपके चेहरे पर सतत बनी रहने वाली आकर्षक मुस्कुराहट तथा व्यवहार की स्निग्धता मुझे पुनः पुनः आपके समीप खींचकर ले जाया करती थी ।

मैं घंटों आपके सामीप्य में रहती थी तथा जैन-दर्शन, संयम-साधना आदि मन को परिष्कृत करने वाले विषयों पर आपसे वार्तालाप किया करती थी । इसी प्रकार अपने जीवन के व्यक्तिगत विषयों का समाधान पाती थी, साथ ही म. श्री के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विषय में भी जानकारी प्राप्त करती थी । प्रमुदित भाव से मित्रों के समान निःसंकोच वार्तालाप हमारा होता था । यद्यपि उन दिनों मेरा जीवन उलझनों और परेशानियों से भरा था अतः मन बहुत खिन्नता और निराशा का अनुभव करता था । पर महासतीजी ने सतत् प्रेरणा देते हुए मेरे चित्त में कर्तव्य-बोध, जगाया तथा जीवन का सही उद्देश्य बताते हुए इसके प्रति आस्था पैदाकर के निराशा की भावनाओं को बड़ी सीमा तक समाप्त किया । इस दृष्टि से मैं आज तक उनके प्रति आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे मन की उथल-पुथल भूलकर इसे व्यस्त रखने के लिये ज्ञानार्जन करने के साथ ही साथ कुछ न कुछ लिखते रहने की भी प्रेरणा दी । व्यावर निवास के पश्चात् अधिक समय आपके साथ रहने का अवसर भले ही नहीं मिला किन्तु समय-समय पर यत्र-तत्र उनके दर्शन किये तथा पूर्व-सम्पर्क का माधुर्य बना रहा ।

माता का मातृत्व वरदान साबित हुआ

आपकी माताजी महासतीजी श्री प्रभावतीजी थी । उनके सदृश माता का प्राप्त होना इस पृथ्वी पर असम्भव तो नहीं, किन्तु अत्यन्त दुर्लभ अवश्य है । विरली माताएँ अपनी सन्तान को दूरदर्शिता एवं विचक्षणता के द्वारा उस अज्ञयसुख की प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ा सकती हैं जो सदा-सर्वदा शाश्वत रहता है ।

महारानी मदालसा ने जिस प्रकार अपने सातों पुत्रों को सोते-जागते, हंसते-खेलते तथा अन्य समस्त क्रियाओं के साथ-साथ वैराग्य-रस के गीत और कहानियाँ सुना-सुनाकर उनमें उत्तमोत्तम संस्कार भरे और राजकुमार होने पर भी उन्हें महान् त्यागी पुरुष बना दिया । ठीक इसी प्रकार श्री प्रभावती जी ने अपनी



पुत्री पुष्पवती एवं पुत्र देवेन्द्रकुमार में शैशवावस्था से ही उत्तम गुण तथा आध्यात्मिक संस्कार भरने प्रारम्भ कर दिये। उन्होंने अपना लक्ष्य ही यह बना लिया था कि मुझे अपनी बेटी और बेटे को संसार के नश्वर सुखों में उलझाकर इनके जन्म-मरण को बढ़ाना नहीं है अपितु मुक्ति-मार्ग पर चलाकर संसार को कम करना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे प्राणप्रण से जुट गई।

बहन और भाई साधना के राज-मार्ग पर चल दिये

माता प्रभावती की अर्हनिश-सजगता रंग लाई और पुत्री पुष्पवती ने मात्र चौदह वर्ष की अवस्था में परम विदुषी, तपोमूर्ति एवं सरलमना महासतीजी श्री सोहनकुंवरजी म. के पास भगवती दीक्षा ग्रहण कर ली। अपनी माता के इस उपकार को महासती ने सदा गद्गद होकर स्मरण किया है तथा अनेक बार वार्तालाप के दौरान उन्होंने कहा है—“मैं माताजी के उपकार से कभी उच्छ्रय नहीं हो सकती। इस संयम-मार्ग पर बढ़ाने वाली मेरी माँ के सदृश माता का मिलना अति-दुर्लभ है।”

वस्तुतः इस संसार में पुत्र या पुत्री को दीक्षा का नाम लेते ही रोकने वाली तथा नाना प्रकार के विघ्नों का सूत्रपात करके बाधा देने वाली माताएँ ही मिलती हैं, स्वयं तैयार करके इस पथ पर बढ़ाने वाली नहीं। ऐसा मु-कार्य प्रभावती जी के जैसी नारी-रत्न ही कर पाती हैं। जिन्होंने पुत्री को संमार्ग पर बढ़ाकर तुरन्त पुत्र को विरक्त एवं त्यागी बनने का निश्चय किया तथा उसके अनुरूप संस्कार डालने प्रारम्भ किये। यक्ष के समान सजग रहकर उन्होंने देवेन्द्र कुमार को भी जैन-शासन के अनुपम रत्न के रूप में निर्मित किया तथा समय होते ही उन्हें भी विश्वसंत, आध्यात्मयोगी, उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. सा. के चरणों में निखारने के लिये समर्पित कर दिया।

हुआ भी ऐसा ही, आज हम सभी देख रहे हैं कि श्री देवेन्द्र मुनिजी अपने नाम के अनुरूप ही जिस प्रकार बाह्य सौन्दर्य से मण्डित हैं, उसी प्रकार आन्तरिक गुण-माधुर्य एवं गहन ज्ञान से परिपूर्ण भी हैं। अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता से आपने साहित्य के भण्डार को अनेक रत्न-रूप रचनाएँ भेंट की हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्रमणीरत्न महासती जी श्री पुष्पवती जी एवं उनके लघु भ्राता परम तेजस्वी, विद्वद्वर्ष श्री देवेन्द्र मुनिजी, दोनों ही उनकी माता द्वारा श्रमण-संघ को दी गई अभूतपूर्व भेंट हैं जिन्होंने संघ को उज्ज्वल बनाया है तथा उसके गौरव में चारचाँद लगाये हैं। अपनी पुत्री और पुत्र को अपार हर्ष सहित जिन-मार्ग पर बढ़ाकर श्री प्रभावतीजी भी चुप नहीं बैठ गई अपितु पुत्री और पुत्र के प्रति महान् कर्तव्य को पूरा करते ही उन्होंने भी महासतीजी श्री सोहन कुंवरजी के पास आर्हती दीक्षा ले ली और जीवन-पर्यंत संयम-साधना करके आत्म-कल्याण किया।

गहनज्ञान एवं चिन्तन का अद्भुत समन्वय

महासतीजी का जैन-दर्शन का अध्ययन बड़ा गहन एवं चिन्तन-युक्त है। मैंने देखा है कि आपका अधिकांश समय कुछ न कुछ पढ़ने और अर्जन करने में ही व्यतीत होता है न कि दर्शनार्थ आने वाली वहनों से निरर्थक वार्तालाप करने में। इसीलिए विविध विषयों का गूढ़ ज्ञान एवं उसे चिन्तन-मनन द्वारा आत्मसात करने की दिव्य विभूति आपको प्राप्त हुई है। भाषा एवं भावों की मौलिकता ने आपकी वाणी में आकर्षण एवं माधुर्य भर दिया है। आपकी प्रज्ञा जिस प्रकार अन्तर्मुखी है, उसी प्रकार वहिर्मुखी भी है जो कि आपके प्रवचनों में निरन्तर झलकती है। आपने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि सभी पर समान अधिकार प्राप्त किया है। यही कारण है कि आज हमारा मन निःसंकोच रूप से उन्हें श्रमणी-रत्न मानकर गौरव का अनुभव करता है। आपकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि अपनी प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा



की चाह आपमें लेश मात्र भी नहीं है। इस विषय पर किसी के बात करते ही आप मानों अपने आप में सिमट मौन धारण कर लेती हैं तथा वक्ता को अविलम्ब महसूस हो जाता है कि यह विषय आप को अत्यन्त अरुचिकर लग रहा है।

चतुर्विध संघ

प्राचीन इतिहास को उलटने पर ज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने तो अपने धर्म-संघ में नारी को स्थान दिया ही नहीं था। बहुत समय के पश्चात् अपने एक शिष्य के आग्रह पर एक स्त्री को साध्वी बनने की अनुमति दी थी, किन्तु वह भी बड़े अनमने भाव से। वे स्त्रियों को धर्म-कार्य के योग्य मानते ही नहीं थे।

किन्तु हमारी जैन-परम्परा में तो सदा से ही नारी का महत्त्व बड़ा उच्च माना गया है। चतुर्विध संघ में जहाँ दो स्थान श्रमण और श्रावक के हैं, वहीं दो स्थान साध्वी एवं श्राविका अर्थात् नारी के भी हैं। साथ ही यह अकाट्य एवं ध्रुव सत्य है कि नारी ने अपने स्थान को कम उज्ज्वल नहीं किया है वरन अति भव्य तपोमय एवं साधनामय बनाकर सदा ही आदर्श उपस्थित किया है। इतिहास यह भी बताता है कि प्राचीनकाल से ही मात्र साधारण नारी ही नहीं, अपितु जिनके यहाँ ऐश्वर्य का अदृष्ट भंडार रहा, ऐसी श्रेष्ठि-पत्नियाँ, रानियाँ और महारानियाँ भी सर्प-केंचुल वत् अपने समग्र वैभव एवं परिजनों का त्याग करके त्याग, तपस्या तथा साधना के क्षेत्र में उत्तरी हैं और हृदय संयम तथा अदृष्ट आस्था के साथ आत्म-मुक्ति के मार्ग पर चली हैं और धर्म-क्षेत्र में अपना क्रांतिकारी स्थान बनाकर शाश्वत सुख की अधिकारिणी बन चुकी हैं।

इसी परम्परा में आज तक असंख्य तपस्विनी एवं विदुषी साध्वियाँ अपने नाम को उज्ज्वल करती चली आ रही हैं, जिनमें एक नाम श्रमणी शिरोमणि, आध्यात्म योगिनी, परम विदुषी एवं आगमज्ञ साध्वीरत्न महासतीजी श्री पुष्पवतीजी म० का भी उल्लेखनीय है। अपनी प्रज्ञा, चिन्तन-शीलता, तेजस्विता एवं गूढ़ ज्ञान के द्वारा आप बहुत काल से जैन-समाज का मार्ग-दर्शन कर रही हैं। आपकी मर्मस्पर्शी शैली एवं साधनापूरित चारित्र्यमय जीवन ने जन-जन के मानस को परिष्कृत एवं सुसंस्कृत बनाने का अथक प्रयास किया है तथा अनेकानेक जिज्ञासु और मुमुक्षु प्राणियों को बोध देकर साबित कर दिया है कि—

न बिना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः ।

नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥

--जैसे जहाज के बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, वैसे ही गुरु के मार्ग-दर्शन के बिना संसार-सागर का पार पाना अत्यन्त कठिन है।

मेरा विश्वास है कि महासतीजी भी जल-पीत को दिशा बताने वाले और समुद्र के मध्य में स्थित रहने वाले प्रकाश-स्तम्भ के सदृश ही इस संसार-सागर में भटकने वाले मार्गभ्रष्ट अथवा दिग्भ्रष्ट प्राणियों के लिए उच्चतम ज्ञान-द्वीप अथवा आलोक-स्तम्भ बनकर उन्हें आत्म-मुक्ति की सही दिशा का ज्ञान और दिग्दर्शन कराएँगी।

अन्त में मैं आपकी दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हुए यही कामना करती हूँ कि आप चिरकाल तक तप, त्याग एवं साधना की प्रतीक बनकर जन-मानस की आध्यात्मिक मोड़ दें तथा साध्वी-वर्ग की महत्ता साबित करते हुए चतुर्विध संघ में दिये गये नारी के स्थान को पूर्णतया अनिवार्य एवं उज्ज्वलतम साबित करें। आपकी सुकीर्ति दिग् दिगन्त में अपनी दिव्य प्रभा फैलाए, इसी मंगल कामना के साथ मेरे अपने असंख्य श्रद्धा-सुमन आपको समर्पित हैं।



## ए क म हान जी व न गौ र व

—मनोहरसिंह बरड़िया; (उदयपुर)

व्यक्तित्व का निर्माण आचार और विचार रूपी दो धातुओं से होता है, जिस जीवन में आचार की ऊँचाई और विचार में गहराई होती है वही जीवन महान बनता है। सन्त जीवन में विचारों की ऊँचाई में आचार की गहराई भी होती है और वही उनके महानता का कारण भी है। परम विदुषी साध्वी रत्न पुष्पवतीजी एक पहुँची हुई साधिका हैं स्थानकवासी समाज की वे एक प्रमुख साध्वी हैं उनके गौरवमय जीवन को जब मैं निहारता हूँ तो मेरा हृदय वांसो उछलने लगता है।

मुझे गौरव है कि हमारे परिवार में ऐसी परम विदुषी साध्वी हैं जिनके साथ मेरे बाल्यकाल की मधुर संस्मरण जुड़े हुए हैं। हम दोनों हमजोली हैं वे मेरे ज्येष्ठ भ्राता जीवनसिंहजी की पुत्री हैं। मेरे ज्येष्ठ भ्राता एक पुण्य पुरुष थे; उनका व्यक्तित्व बहुत ही तेजस्वी था। उनका मेरे पर अपार प्रेम था, पुष्पवतीजी जिनका सांसारिक नाम सुन्दर था, सुन्दर को और मेरे को ज्येष्ठ बंधु समान प्यार करते थे। नित्य-नई खाने की वस्तु, खेलने की वस्तु और पहनने के लिए बढ़िया से बढ़िया वस्त्र लाकर देते थे। जहाँ उनका अपार स्नेह था, वहाँ हम उनके ओजस्वी तेजस्वी व्यक्तित्व से सदा डरते भी थे।

भाई साहब के निधन के पश्चात् मेरे भाभीजी श्री तीजकुंवर बाई और मेरा भतीजा धन्नालाल तीनों के अन्तर्मानस में वैराग्य भावना प्रबुद्ध हुई। हमारे परिवारिकजनों ने दीक्षा न देने के लिए प्रयत्न किया, मेरे पूज्य पिताश्री भी जब तक जीवित रहे तब तक यह प्रयास करते रहे। पिताश्री के स्वर्गवास के पश्चात् सर्व प्रथम सुन्दर ने दीक्षा ग्रहण की और उनका नाम महासती पुष्पवती रखा गया, उसके पश्चात् धन्नालाल ने भी दीक्षा ग्रहण की और उनका नाम देवेन्द्रमुनि रखा गया। तदनन्तर भाभीजी ने भी दीक्षा ग्रहण की, और वे प्रभावतीजी महाराज के नाम से विश्रुत हुई। तीनों ने हमारे कुल के गौरव में चार-वाँद लगाए। भाभीजी ने स्वयं को तो महान बनाया ही साथ ही अपने पुत्र और पुत्री को भी साधना के महामार्ग पर बढ़ाकर जैन धर्म की ज्योति में चार-वाँद लगाए। आज भाभीजी महाराज हमारे बीच नहीं हैं, पाँच वर्ष पूर्व उनका स्वर्गवास हो गया। उनका यशस्वी जीवन सभी के लिए प्रेरणादायी रहा।

मुझे यह जानकर हादिक प्रसन्नता हुई मेरी भतीजी महाराज पुष्पवतीजी जिन्हें दीक्षा लिये ५० वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में एक विराट काय अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जायेगा। दिन कितने जल्दी बीतते हैं एक दिन हम दोनों साथ-साथ खेले हैं और आज पचास वर्ष साधना के पूरे हो रहे हैं। धन्य है इनके जीवन को इन्होंने दीक्षा लेकर पहले शिक्षा प्राप्त की और भारत के अनेक प्रान्तों में विचरण कर जन-जन के मन में एक अभिनव चेतना का संचार किया और अनेक ग्रन्थों का लेखन किया। पर मैं तो संसार के मोहमाया में ही उलझा रहा, किन्तु उन्होंने अपने जीवन को विराट बनाया। परिवार के संकीर्ण घेरे से मुक्त होकर विश्व बंधुत्व की भावना को अपनाने से वे महान बन गयीं।

मैं अपनी ओर से, अपनी धर्मपत्नी लाड़जी की ओर से और अपने पुत्र हर्षवर्धन की ओर से यह मंगल कामना करता हूँ कि आप सदा स्वस्थ रहकर धर्म की प्रभावना करती रहें।



एक महान जीवन गौरव | ८५





## अ ध य य त्त ज्यो ति

—दलपतिसिंह बाफना, (उदयपुर)

भारत के पास यदि सन्त और महासती की पावन परम्परा न होती तो भारत अध्यात्म विद्या से वंचित रहता आज जो भारत विश्व गुरु के नाम से गौरवान्वित है वह नहीं होता, भले अन्य देश भौतिक दृष्टि से समृद्ध रहे हों किन्तु जब भी आत्मा-परमात्मा कर्म पुनर्जन्म आदि दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रसंग आता है वहाँ सहज ही भारतीय चिन्तन की ओर महा मनीषियों की दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। इस सार्वभौम सत्य को उजागर करने का श्रेय आत्म दृष्टा सन्त और सतियों को है।

सन्त और सतियों का चिन्तन सिरता में रनान कर भारत सदा आत्मस्फूर्त रहा, आज भी सन्त और सतियों के चरणारविन्दों में श्रद्धालुओं के सिरमत हैं, उनके चरणों में पहुँचकर और उनके सान्निध्य को पाकर मानव का कायाकल्प हो जाता है। दुर्गुणों के स्थान पर सद्गुणों का सर-सब्ज बाग लहलहाने लगता है।

महासती पुष्पवतीजी मेरी मौसी प्रेमदेवीजी की सुपुत्री हैं, मेरी माता कृष्णाकुमारी उनकी सगी बहिन थी। मेरी मौसी लघुवय में लम्बी

बीमारी के पश्चात् स्वर्गस्थ हो गई थी अतः मेरी मातेश्वरी ने पुष्पवती जी का अत्यधिक प्यार से लालन-पालन किया। मेरी माँ का इन पर अत्यधिक ममता थी तो पुष्पवती जी का भी हमारे परिवार पर अत्यधिक स्नेह रहा है। मैं जब बहुत ही छोटा था, तभी माँ के साथ आपके पास जाता आता रहा, मेरे पूज्य पिताश्री चन्द्रमोहनसिंहजी भी कभी भी सन्त-सतियों के सम्पर्क में नहीं आते थे। परन्तु पुष्पवती जी के और उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी के सम्पर्क में आने के पश्चात् उनके जीवन में आमूल-मूल परिवर्तन हो गया।

आज हमारे परिवार में जो धर्म की भावना अपनी पत्नी शांतादेवी व पुत्र रमेशचन्द्र, प्रकाश चन्द्र, नवीनचन्द्र आदि दिखलाई देती है, उसका सारा श्रेय आपको है। हमें गौरव है कि हमारे परिवार से मौसी और भाई-बहन ने दीक्षा लेकर जो धर्म की प्रभावना की है कि जिससे हमारा सिर उन्नत है। दीक्षा स्वर्ण जयंती के पावन प्रसंग पर मैं अपनी ओर से अपने परिवार की ओर से श्रद्धा के सुमन समर्पित करते हुए आनन्द विभोर हूँ।

### पुष्प सूक्ति कवियां—

❀ ❀ ❀  यद्यपि प्रेम निर्मूल्य है, किन्तु आत्मा में प्रेम का प्रकाश प्रज्वलित करने के लिए उस पर आए हुए मल विक्षेप, स्वार्थ, संकीर्णता मोह, घृणा, द्वेष ईर्ष्या, द्रोह आदि आवरणों को हटाना पड़ेगा। ❀ ❀ ❀

❀ ❀ ❀  सहानुभूति अहिंसा के साधक के अन्तःकरण की गहन भौन और अव्यक्त कोमलता है। ❀ ❀ ❀

❀ ❀ ❀  दया की शक्ति अपार है। सेना और शस्त्रबल से तो किसी राज्य पर अस्थायी विजय मिलती है, परन्तु दया से मामव-मन पर स्थायी और अलौकिक विजय प्राप्त होती है। ❀ ❀ ❀



## जीवन का कायाकल्प

—हस्तोमल लोढ़ा (उदयपुर)

नीतिशास्त्र विशारद चाणक्य ने लिखा है प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता प्रत्येक हाथी में मुक्ता नहीं मिलती, सभी जंगलों में चन्दन उपलब्ध नहीं होता वैसे ही सर्वत्र साधु नहीं मिलते हैं।

शंले-शंले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे-गजे ।  
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने-वने ॥  
माणिक्य और मोती व चन्दन दुर्लभ हैं वे अपनी चमक और दमक तथा सुगन्ध से जन-मानस को आकर्षित करते हैं वैसे ही सन्त भी सद्गुणों के कारण जन-मन को मंत्र मुग्ध बनाते हैं। सामान्य जन से उनका जीवन विशिष्ट होता है। महासती पुष्पवती जी श्रमण परम्परा के एक जगमगाते रत्न हैं। उनकी प्रतिभा विद्वत्ता निर्भयता और चारित्र्य निष्ठा के कारण जन-जन के अन्तःकरण में उन्होंने अपना स्थान बनाया है। सिंह जहाँ भी जाता है वहाँ अपना स्थान बना लेता है, वैसे ही आप उत्कृष्ट आचार और विमल विचारों के कारण जहाँ भी पधारती हैं वहाँ जन-मानस में अपना स्थान बना लेती हैं।

सन् १९५४ में; मैं जयपुर में था, उस समय सर्वप्रथम महासती पुष्पवतीजी के दर्शनों का सौभाग्य मिला, हमारा सांसारिक रिश्ता भी बहुत ही निकट का था तथापि मैं कभी भी सन्त सतियों के सम्पर्क में नहीं जाता था, मुझे ऐसी एलर्जी थी पर महासती जी के सानिध्य में पहुँचकर मेरे भ्रम दूर हो गए और मुझे एक विशिष्ट आत्म सन्तोष प्राप्त हुआ। मेरे जीवन का काया कल्प हो गया।

जयपुर में सन् १९५५-५६ में उपाध्याय श्री

पुष्कर मुनिजी म०; उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजा के वर्षावास भी हुए उसमें मैं उनके बहुत ही निकट सम्पर्क में आया। वस्तुतः महान् गुरुओं का सानिध्य पाकर कौन अहान् नहीं बनता ? पुष्पवतीजी को भी महान् बनाने में इन्हीं गुरुओं का योगदान रहा है।

मैं इस सुनहरे अवसर पर अपनी ओर से अपना धर्मपत्नी रोशन देवी की ओर से श्रद्धा-मुमन समर्पित कर रहा हूँ।

## हृदयोद्गार

—श्रीमती राजबाई कन्हैयालालजी लोढ़ा (उदयपुर)

जैन धर्म त्यागप्रधान धर्म है, भोग से योग की ओर, राग से विराग की ओर बढ़ने की यह पवित्र प्रेरणा देता है यही कारण है कि जैन धर्म में सन्त और सतियों का जीवन त्याग और तप का एक जीता जागता उदाहरण है। उनके तपःपूत जीवन को देखकर किस श्रद्धालु का जीवन नत नहीं होता, तपोमूर्ति महासती श्री मदनकुँवर जी म० और तप, साधना की जागती प्रतिमा महासती श्री सोहन कुँवरजी म० का जीवन एक बोलता हुआ भाष्य था, उनके सानिध्य में आकर अनेक भव्यात्माओं ने अपने जीवन को चमकाया व दमकाया।

मेरी लघु बहिन श्री तीजबाई ने महासतीजी के सानिध्य को पाकर संयममार्ग को स्वीकार करने का दृढसंकल्प किया। उस संकल्प की पूर्ति में अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं। इस स्थान पर यदि अन्य महिला होती तो वह कभी की विचलित हो जाती किन्तु मेरी बहिन ने ऐसा शौर्य दिखाया जो एक राजस्थानी ललना के लिए



गौरवास्पद था। पारिवारिक-सामाजिक और शारीरिक बाधाओं की चिन्ता न कर वे अपने लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई, सर्वप्रथम उन्होंने अपनी पुत्री को दीक्षा ग्रहण करने के लिए प्रेरणा प्रदान की, उसके पश्चात् अपने इकलौते पुत्र धन्नालाल को दीक्षा दी और अन्त में स्वयं ने दीक्षा लेकर एक ज्वलंत आदर्श उपस्थित किया।

दीक्षा के साथ शिक्षा भी आवश्यक है, बिना शिक्षा के दीक्षा में कोई चमत्कृति पैदा नहीं होती, ज्ञान से साधक का जीवन निखरता है। हमारी बहिन महासती प्रभावतीजी सच्ची ज्ञान योगिनी थी, स्वाध्याय और ध्यान में सदा रत रहती थी तो पुष्पवतीजी और देवेन्द्र मुनि भी कहां पीछे रहने वाले थे? उन्होंने निरन्तर अप्रमत्त रहकर जमकर अध्ययन किया और हमारे परिवार के नाम को रोशन किया।

बहिन महाराज के सम्पर्क में आकर हमारी पुत्री प्रियदर्शना ने भी दीक्षा ग्रहण की, और उनके चरणों में रहकर अपने जीवन को निखार रहीं हैं।

समय की गति बड़ी तीव्र है, एक दिन यह

हमारी गोद में खेलते-कूदते रही एक दिन इन्होंने मेरे सामने ही दीक्षा ग्रहण की और आज देखते-देखते दीक्षा को ५० वर्ष बीत गए। आज से पांच वर्ष पूर्व मेरी बहिन महासती प्रभावतीजी का संधारे के साथ स्वर्गवास हो गया। वे मर करके भी अमर हो गईं। हमें गर्व है कि हमारे परिवार में से ऐसी विभूतियाँ निकली जिन्होंने जिन शासन की गरिमा में चार-चाँद लगाए हैं।

देवेन्द्र मुनिजी जिनको मैंने बाल्यकाल में माता की तरह प्यार दिया, आज वे श्रमणसंघ के उपाचार्य पद से अलङ्कृत हैं और महासती श्री पुष्पवतीजी का भी आज साध्वी समाज में प्रमुख स्थान है। हमारा तन-मन पुलकित है, आज मेरे पति कन्हैया लाल जी सा० लोढ़ा होते तो उनके प्रसन्नता का आर-पार नहीं रहता। मैं अपनी ओर से और अपने प्यारे पुत्र आजाद, भगवती तथा अपनी पुत्रियाँ रतनदेवी, शकुन्तलादेवी और कंचनदेवी की ओर से भी हार्दिक श्रद्धार्चना समर्पित करती हुई यह मंगल कामना करती हूँ कि पुष्पवती जी पूर्ण स्वस्थ रहकर हमारे परिवार का नाम सदा-सर्वदा दीपाती रहें।

## जै न धर्म की विभूति

—श्रीमती धापुराई, भगवतीलालजी खिचसरा (उदयपुर)

महासती पुष्पवतीजी एक अलौकिक प्रतिभा और अप्रतिम व्यक्तित्व की धवल आभा से भण्डित साध्वी हैं उन्होंने समाज में नई चेतना, नई प्रेरणा और नया उत्साह समुत्पन्न किया। आप श्रमणसंघ की एक ज्योति हैं, जैन धर्म की विभूति हैं और त्याग-वैराग्य की साकार मूर्ति हैं। आपके जीवन में सूर्य की तेजस्विता, चन्द्रमा की शीतलता, सागर

की गम्भीरता, पृथ्वी की सहिष्णुता, कमल की निर्लिप्तता और सुमेरु की निश्चलता है। आपके जीवन में सद्गुणों का साम्राज्य है, आपको आकृति में नम्रता है, प्रकृति में सहजता है और सेवा में निःस्वार्थता है। ज्ञान की गरिमा और आचार की मधुरिमा से आपका व्यक्तित्व जगमगा रहा है।

हमें गौरव है कि हमारे परिवार में से ऐसी



विभूतियाँ निकलीं जिन्होंने संयम-साधना स्वीकार कर अपना तो कल्याण किया ही साथ ही हमारे परिवार का भी उद्धार किया है। महासती श्री प्रभावतीजी मेरी बड़ी बहन थी। हम सभी बहनों से उनके जीवन में विलक्षणता थी, वे साहस की धनी थीं। जो मन में संकल्प कर लेती उसे सम्पन्न कर ही विश्राम लेती थी। वे बहुत ही छोटी उम्र में विवाह के बन्धन में बंधी और कुछ दिनों के पश्चात् वैधव्य की काली घटाएँ भी उनके जीवनाकाश में मंड-राई और उनके साहस के दाक्षिणात्य पवन ने वे दुःख की घटाएँ भी छितर-बितर कर दी और स्वयं ही नहीं, अपने पुत्र और पुत्री के साथ त्याग मार्ग ग्रहण कर एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया। वे जब तक जीवित रहीं प्रकाशपुंज की तरह प्रकाश वितीर्ण करती रहीं। उनका असूठा और अद्भुत व्यक्तित्व सभी के लिए प्रेरक रहा।

• उनके पुत्र देवेन्द्र मुनि ने जहाँ माँ के नाम को रोशन किया है, आज वे श्रमणसंघ के उपाचार्य हैं यदि आज मेरी बहन होती तो फूली नहीं समाती। जहाँ भाई ने इतना विकास किया है वहाँ बहिन पुष्पवतीजाँ भी अपनी ज्ञान की गरिमा से मंडित रही है। उनका जीवन तप-त्याग और साधना का त्रिवेणी संगम है।

मैं उनके दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर अपनी ओर से, अपने पुत्र डूंगरसिंह, मोतीसिंह, कानसिंह, और पुत्री टमटमा की ओर से श्रद्धा-सुमन समर्पित करती हुई यही मंगल कामना करती हूँ कि वे सदा स्वस्थ रहकर हमारा मार्ग दर्शन करती रहें।

ॐ

## स्वर्णिम अवसर

—श्री भंवरलाल एडवोकेट (उदयपुर)

महासतीजी श्री पुष्पवतीजी एक उच्चकोटि के व्यक्तित्व की धारक श्रमणी हैं। आप जानी हैं, इसलिए जहाँ भी जाती है अपने ज्ञान-गरिमा की दिव्य ज्योत्स्ना से सभी को प्रभावित करती हैं। वैज्ञानिकों का मन्तव्य है कि मानव के आस-पास एक तेजोवलय होता है जिसका प्रभाव निकटस्थ व्यक्तियों पर गिरता है। उससे पापी से पापी व्यक्ति का जीवन भी परिवर्तित हो जाता है। आपके जीवन रूपी घट में से मानवता रूपी मधु झरता है जिसका पान करने हेतु भक्त रूपी भंवर सदा आपके पास मंडराते रहते हैं।

आपकी प्रवचन शैली बहुत ही मधुर है, जब वाणी रूपी सरिता कल-कल-छल-छल कर प्रवाहित होती है तो श्रोतागण आनन्द से झूम उठते हैं। आपके प्रवचनों में जीवन का गहरा चिन्तन-मनन एवं अनुभवों का निचोड़ है। उनके प्रवचनों में अन्तःकरण से निकले हुए उनके उद्गार बहुत ही स्फूर्त, सहज और स्वाभाविक होते हैं।

आपके जीवन की अनेक विशेषताएँ हैं, आपने १३ वर्ष की उम्र में साधना-मार्ग को स्वीकार किया उस समय हमारे पूरे परिवार का विरोध था। विरोध के बावजूद भी आपने अपने संकल्प को पूर्ण किया। मेरी बुआ महाराज महासती प्रभावतीजी बहुत ही साहसी महिला थी, उन्होंने पहले अपनी पुत्री को दीक्षा दी उसके पश्चात् पुत्र को दीक्षा दी और फिर स्वयं ने दीक्षा ली। इस प्रकार उन्होंने अपने पूरे



परिवार को जिन शासन की सेवा में समर्पित कर दिया। उसके पश्चात् मेरी लघु बहन श्रीमतीजी ने और वहनोई ने भी इस दिशा में कदम बढ़ाए।

एक दिन जो परिवार दीक्षा का विरोधी था, वही परिवार उनके सद्गुणों के कारण आज नत है। व्यवित में जब गुण होते हैं तो उसकी पूजा सर्वत्र होने लगती है।

आज हमें और हमारे परिवार को गौरव है कि ऐसी विभूतियाँ हमारे परिवार में से निकली हैं जिन्होंने धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं साहित्यिक क्षेत्र में भी एक कीर्तिमान स्थापित किया है। श्री तारक गुरु ग्रन्थालय से वे मौलिक प्रकाशन हुए हैं।

मैं अपनी ओर से, अपने परिवार की ओर से और श्री तारक गुरु ग्रन्थालय का मंत्री होने के नाते से उसकी ओर से दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए बहुत ही आनन्द की अनुभूति कर रहा हूँ।

❖

## शत-शत तुम्हें प्रणाम

सुश्री संगीता

(पुत्री; श्री पारसमलजी कांकरिया)

कैसे पूजूं चरण तुम्हारे, कैसे करूँ नमन,  
जितना तुमको खोजूँ, उतना खोता जाता है मन।

एक नन्हा सा बट वृक्ष का बीज जब प्रकृति के गोद में समा जाता है। अनुकूल हवा, पानी और प्रकाश मिलने से वह नन्हा सा बीज एक विराट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। और जन-जन का वह आकर्षण केन्द्र बन जाता है। हजारों थके मांटे यात्री उसकी शीतल छाया में बैठकर विश्रान्ति का अनुभव करते हैं। और हजारों पक्षीगण भी उसमें बसेरा लेकर अपने जीवन को धन्य अनुभव करते हैं। जो दाना एक दिन नगण्य समझा जाता था, वह कितनों का आश्रयदाता बन जाता है।

जिन व्यक्तियों को जन्म लेते समय हम नगण्य समझते हैं, पर वे आत्माएँ संस्कारों को पाकर कितनी महान बन जाती हैं? उनका जीवन आलोक स्तम्भ के समान पथ प्रदर्शक होता है। उनके चरण-शरण में पहुँचकर अनेक आत्माएँ अपना उद्धार-समुद्धार करती हैं। परम विदुषी साध्वीरत्न पुष्पवतीजी हमारे परिवार में जन्मी। वे मेरे बड़े नानाजी जीवन्तसिंहजी की सुपुत्री हैं। माता-पिता और परिवार के धार्मिक संस्कारों के कारण प्रताप पूर्ण प्रतिभा के धनी स्वर्गीया परम विदुषी महासती श्री सोहन कुंवरजी महाराज के सानिध्य को पाकर मेरी बड़ी नानीजी महासती प्रभावतीजी और मौसी महासती पुष्पवतीजी और मामा देवेन्द्र मुनिजी सभी ने साधना पथ को स्वीकार किया और वे निरन्तर साधना के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं।

नानीजी महाराज बहुत ही प्रतिभा के धनी, त्याग और वैराग्य की मूर्ति थी। उनकी वाणी मिश्री से भी अधिक मधुर थी, वे ज्ञानमूर्ति थी। मेरी पूजनीया माताजी उषा देवी (जवेरी) बताती है सन् १९६६ में उन्होंने पाली में चातुर्मास किया। उस समय उनकी गुरुणीजी महाराज रुग्ण थी और समाधिपूर्वक उनका पाली में ही स्वर्गवास हुआ। नानीजी महाराज के पास सदा बहिनों की भीड़ लगी



रहती थीं। और वे बहिनों को सदा शास्त्रों का स्वाध्याय सुनाया करती थी तथा ज्ञान-चर्चा किया करती थी। उनका थोकड़े का ज्ञान बहुत ही गहरा था। घण्टों तक वे थोकड़े गिना करती थी। कभी भी निरर्थक वातालाप नहीं करती। उनका जीवन बड़ा अद्भुत, प्रेरणादायी था। मैं बगुँ तक उनकी सेवा में बैठी रहती और वे सदा धार्मिक शिक्षाएँ प्रदान करती। उसके बाद मैंने भी उनके दर्शन अनेक बार किये। मैं खाली गई और भरी लौटी। अगुँ था उनका व्यक्तित्व और कृतित्व।

मौसी महाराज पुष्पवतीजी बहुमुखी प्रतिभा की धनी साध्वी हैं। मैंने उनके दर्शन किये अनेक बार किये। जब भी मैंने दर्शन किये तब उनके त्याग-वैराग्य पूर्ण व्यक्तित्व को निहारकर मैं प्रभावित हुई। उनके चरणों में बैठकर मुझे अपार आल्हाद की अनुभूति होती रही है।

हमारा महान् सौभाग्य है कि सन् १९८६ का वर्षावास पाली में मामाजी महाराज श्री देवेन्द्र मुनिजी म० श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय विश्व सन्त १००८ श्री पुष्कर मुनिजी महाराज साहब के साथ हुआ। इस वर्षावास में हमें धार्मिक अध्ययन करने का अवसर मिला और हमें यह जानकर आल्हाद हुआ कि मौसी महाराज की दीक्षा के पचास वर्ष पूर्ण होने जा रहे हैं और वे एकावनवें वर्ष में प्रवेश करेंगी; उस मंगल वेला में एक अभिनन्दन ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया जा रहा है।

मौसी महाराज का जीवन सागर के समान है जिसमें गुणों के रत्नभरे पड़े हैं। आपका जीवन अन्तरिक्ष के समान विस्तृत है। जिसका कोई ओर छोर नहीं है। कई बार अनन्त आकाश में उमड़-धुमड़ कर घटाएँ आती हैं और वे घटाएँ बिना बरसे ही लौट जाती हैं। वैसी स्थिति मेरी भी हो रही है। मेरे हृदयाकाश में भावों की घटाएँ आ रही हैं। पर वे घटाएँ शब्द रूप बनकर कागज पर उतर नहीं पा रहीं हैं। मन में बहुत कुछ विचार आते हैं, पर लिखा नहीं जा रहा है। मेरी, मेरे पूज्य पिताश्री पारसमलजी कांकरिया, मेरी मातेश्वरी उषा देवी, मेरे भ्राता सुनील कुमार, विकास कुमार और मेरी लघु बहिन अमिता की ओर से इस सुनहरी घड़ियों में जिनेश्वर देव से यह प्रार्थना करती हूँ कि आपके तन में प्राण शक्ति, मन में तेजस्विता, विचारों में अपूर्व उदारता, वाणी में ओजस्विता और बुद्धि में सूक्ष्म-बुद्ध प्रतिफल-प्रतिक्षण प्रवाहित होती रहे। आप पूर्ण स्वस्थ रहकर हमारा सतत मार्ग दर्शन करें। आपका यशस्वी जीवन समस्त संघ के लिये वरदान रूप रहे। कवि की भाषा में यही कहूँगी—

आप हमारी आत्मा, आप हमारे प्राण हैं।

जैन धर्म के देवता, शत-शत तुम्हें प्रणाम है।

पुष्प सूक्ति कलियां —————

□ अहिंसा में संयम तथा करुणा इन दोनों धाराओं का होना आवश्यक है। जैसे हवाई जहाज में दो यन्त्र होते हैं। एक यंत्र हवाई जहाज की रफ्तार को धटाता-बढाता है और दूसरा यंत्र दिशा का बोध कराता है। इसी प्रकार अहिंसा के साथ भी ये दोनों प्रकार के द्रव्य-भावरूप या बहिरंग-अन्तरंगरूप यंत्र आवश्यक हैं।



## हमारे कुल का नाम रोशन किया . . .

—मदनलालजी बरड़िया (पाली)



बाल्यकाल जीवन का एक सुनहरा समय है। उस सुनहरे काल की जब मधुर स्मृतियाँ मानस पटल पर चमकती हैं तो हृदय आनन्द विभोर हो उठता है। मेरे पूज्य पिता श्री कन्हैयालाल जी बरड़िया एक धर्मनिष्ठ सुश्रावक थे। उनके जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में धर्म की निर्मल भावनाएँ अंगड़ाइयाँ ले रही थीं। मेरी पूजनीया मातेश्वरी कन्दर्वाईजी भी एक सुशील और श्रद्धालु सुश्राविका थीं। हमारे पूरे परिवार पर माता-पिता के धार्मिक संस्कारों का असर था। मेरे सबसे बड़े भाई श्री जीवनसिंहजी थे। वे बहुत ही प्रतिभा सम्पन्न पुष्य-पुरुष थे। उन्होंने छोटी उम्र में ही व्यापार कला में दक्षता प्राप्त की थी। और पुष्य की प्रबलता से पूज्य पिता भी उनके भरोसे निश्चिन्त थे। सत्ताईस वर्ष की भरी जवानी में कुछ समय बीमार रहकर संधारे के साथ उनका देहान्त हो गया। उनका देहान्त पूज्य पिताश्री के लिए वज्राघात से भी अधिक कठोर था। पर विधि के विधान के आगे सभी लाचार थे। उनके निधन से परिवार को भारी आघात लगा।

मेरी भोजाई श्रीमती तीजबाईजी बहुत ही साहसी महिला थी। उनके साहस को देखकर हम सभी विस्मित थे। पूज्य पिताश्री ने वियोग की दुःखद घड़ियों में भोजाईजी को सतत धार्मिक प्रेरणा दी। जिससे उनके जीवन में सुख शान्ति बनी रहे।

उस समय भाग्य से उदयपुर में त्याग श्रुति सद्-गुरुणी जी महासती श्री मदन कुंवरजी और परम विदुषी साध्वी रत्न महासतीजी श्री सोहन कुंवरजी म. विराजती थीं। पिताश्री ने महासती जी के पास

प्रतिदिन जाने की प्रेरणा प्रदान की। फलस्वरूप भोजाईजी में धार्मिक भावना दिन-दनी और रात चौगुनी बढ़ती रही। भोजाईजी के साथ ही मेरी भतीजी सुन्दर कुमारी और मेरा भतीजा धन्नालाल भी महासतीजी के सम्पर्क में आने लगे और उनके जीवन में भी धार्मिक विचार पनपने लगे।

मेरे पूज्य पिताश्री मोह के कारण अपनी प्यारी पोती और प्यारे पोते को साधना के महामार्ग पर अग्रसर होता देखना नहीं चाहते थे। उनका उन पर इतना अधिक प्यार था कि वे उनको उस मार्ग की ओर बढ़ने के लिए रोकने लगे। यद्यपि पिताश्री अपूर्व धर्मनिष्ठ थे। किन्तु मोह के कारण ही वे इस प्रकार करने से बाध्य हुये थे। इस कार्य को पसन्द नहीं कर रहे थे।

पिताश्री का स्वास्थ्य ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु के भयंकर आघात से अस्वस्थ हो गया था। परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ उन पर आ चुकी थीं। अतः स्वास्थ्य धीरे-धीरे शिथिल होता जा रहा था। और वि.क्र.सं० १९६३ में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास के पश्चात् अब घर में माताजी के पश्चात् भोजाईजी ही बड़ी थी। भोजाईजी ने 'सुन्दर कुमारी' को दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी।

सुन्दर कुमारी मेरे से चार वर्ष बड़ी थी। बाल्यकाल में हम दोनों परस्पर खूब खेलते थे और एक-दूसरे को खूब प्यार करते थे। जब वे संयम-साधना के मार्ग को स्वीकार करना चाहती थीं। पर हमारा मन नहीं चाहता था। एक वर्ष तक पिताश्री के स्वर्गवास के पश्चात् उन्हें रोकने का प्रयत्न किया गया, पर उनकी वैराग्य भावना बहुत ही



प्रबल थी। फलस्वरूप उन्होंने परिवारिकजनों को सूचना देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। माता की आज्ञा होने से अन्य कोई पारिवारिकजन रुकावट नहीं डाल सका। दीक्षा लेने पर सुन्दर कुमारी महासती पुष्पवतीजी के नाम से विश्रुत हुई। उन्होंने दीक्षा लेने के पश्चात् विविध भाषाओं का अध्ययन किया।

विक्रम सं० १९९७ में मेरे भतीजे धन्नालाल ने भी महास्थविर श्री ताराचन्द्र जी म. व उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और धन्नालाल आज श्री देवेन्द्र मुनिजी के नाम से विद्वत् है और श्रमणसंघ के उपाचार्य पद से समलंकृत हैं। विक्रम सं० १९९८ में मेरी भोजाई श्री तीज कुंदरबाई ने दीक्षा ग्रहण की और वे महासती प्रभावतीजी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार तीनों ने संयम मार्ग स्वीकार कर हमारे परिवार की गौरव गरिमा में चार चाँद लगाये हैं। तीनों ने जिनशासन की प्रबल प्रभावना की है। आज हमें इन पर सात्विक गौरव है हमारे परिवार में ऐसे

तेजस्वी सन्त और सतियां हुई है। जिनकी प्रतिभा में तेजस्विता है, चिन्तन की गम्भीरता है और चरित्र की उत्कृष्टता है। भारत में ही नहीं विश्व में उनका नाम जभक रहा है।

उनके दीक्षा लेने के पश्चात् मैं भी उदयपुर से पाली गोद आ गया। और पाली में ही रहकर अपना सांसारिक जीवन आनन्द के साथ व्यतीत कर रहा हूँ। मैंने अनेकों बार भोजाईजी महाराज के और भतीजी म० के दर्शन किये हैं, उनके प्रवचन सुने हैं। उनसे वार्तालाप किया है। भोजाई जी म० का तो तीन वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया। मेरी भतीजी महाराज महासती श्री पुष्पवतीजी दीक्षा के पचास वसन्त पारकर इक्कावनवें वर्ष में प्रवेश करने जा रही हैं। इस मंगलवेला में मैं अपनी ओर से और अपने परिवार की ओर से अनन्त-अनन्त श्रद्धा समर्पित करता हूँ। और यह मंगल कामना करता हूँ कि वे सदा स्वस्थ रहें। और हमारे कुल को, हमारे धर्म को सदा दीपाने रहें।



## अध्यात्म साधना की सफल साधिका

—आनन्द स्वरूप जैन (गुडगांव)

भारतीय संस्कृति कृषि प्रधान ही नहीं ऋषि प्रधान संस्कृति है। यहाँ पर सत्ता, सम्पत्ति, वैभव और ऐश्वर्य साधक के चरणों में नत होने रहे हैं। यहाँ का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि जीवन का लक्ष्य सत्ता और ऐश्वर्य नहीं अपितु साधना और वैराग्य है। आत्म-साधना के पवित्र पथ पर बढ़ने वाले तेजस्वी साधक ही भारतीय जन-जीवन के परम आदर्श परम आदरणीय और परम वन्दनीय रहे हैं; मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि

राजस्थान प्रान्त जो रूढ़ी चुस्त कहा जाता है, पुरानी परम्परा का पुरोधा है वह १५ पर एक साध्वी का श्रद्धा मुओंद्वारा सार्वजनिक अभिनन्दन आयोजित हो रहा है महासतीजी की सुदीर्घ दीक्षा पर्याय के पचास वसन्त पार करने के उपलक्ष में मैंने महासतीजी के किशन-गढ़ दर्शन किये। उसके पूर्व श्री दिनेश मुनिजी से महासती पुष्पवतीजी के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुन रखा था। दर्शना कर मुझे यह अनुभव हुआ कि जितना सुना था उससे कहीं अधिक महासतीजी में







## हम हैं खुश नसीब

—श्रीमती पुष्पा जैन (दिल्ली)

जग में जीवन श्रेष्ठ वही, जो फूलों सा मुस्काता है ।  
अपने गुण सौरभ से जग के, कण-कण को महकाता है ॥

भारत की पावन-पुण्य धरा अनेक सन्त और सतियों की जन्म स्थली रही है । जिन्होंने अपनी तपःपूत वाणी से जन-जन के जीवन में अभिनव चेतना का संचार किया । मोह-माया में उलझी हुई आत्माओं को सन्मार्ग प्रदान किया ।

संयम, सदाचार, दया, लज्जा, ब्रह्म-चर्य आदि अद्वितीय गुणों को धारणकर मानव में पौरुष को प्रदीप्त किया । वे अनन्तकाल से आत्मा की उलझी हुई गुत्थियों को इस प्रकार सुलझाती हैं, जो देखते ही बनता है । इनका व्यक्तित्व और कृति-त्व आदर्श है ।

जीवन तो सभी प्राणी जीते हैं, पर जीनें की कला विरले व्यक्तियों ही में मिलती है । जीवन जीने की एक शैली और एक तरीका है जो अपने आपको खपाता है, वही महान् बनता है । गुणों की गुस्ता के

कारण ही व्यक्ति की महत्ता है छोटा-सा अंकुश मदीन्मत्त हाथी को नियन्त्रित कर लेता है । वैसे ही छोटा-सा सद्गुण व्यक्तित्व को निखार देता है ।

परम विदुषी साध्वीरत्न ऐसी ही विशिष्ट साध्वी हैं जिनका जीवन परोपकार के लिए समर्पित हैं जो स्वयं कष्ट सहनकर दूसरों का उद्धार और समुद्धार करती हैं । जिनका जीवन अगरबत्ती की तरह सुगन्धित है । जो विकट संकट की घड़ियों में भी सदा मृस्कराता रहता है । आप एक ओजस्वी और तेजस्विनी साध्वी हैं । आपने अपनी निर्मल वाणी से जन जीवन में अभिनव चेतना का संचार किया । आपकी वाणी के रस का पान कर वे आपके और जिनवाणी के भक्त बन जाते हैं । इसलिए कवि ने ठीक ही कहा है—

दुर्लभ हैं दर्शन आपके, आप किसको नसीब होते हैं ?  
आप जिनके करीब होते हैं, वे बड़े खुश नसीब होते हैं ?

## ज न - जी व न की आ धार

—श्री ज्ञानचन्द तातेड, दिल्ली

फूल बन कर महक, तुझको जमाना जाने ।  
तेरी भीनी खुशबू को, अपना बेगाना जाने ॥

दही का मंथन करने से नवनीत प्राप्त होता है और जीवन का मंथन करने से अनुभव का अमृत मिलता है । नवनीत दही का सार है तो अनुभव जीवन का सार है । महापुरुषों का जीवन निराला होता है । उस जीवन में अनेक प्रकार के मीठे और कड़वे अनुभव होते हैं । और उन कड़वे-मीठे

अनुभवों को महापुरुष सहज रूप से ग्रहण करता है । न मीठे अनुभवों के प्रति उसके मन में अनुराग होता है और न कड़वे के प्रति द्वेष ही होता, वह तो समभावी साधक होता है । परम विदुषी साध्वी रत्न महासती पुष्पवतीजी अनुभव अमृत सम्पन्न महाश्रमणी हैं ।

महासतीजी ने अपने साधना काल के पचास वसन्तों में बहुत कुछ देखा है, अनुभव किया है ।



उन्होंने उन साधिकाओं को देखा है जिनके—  
अनामानस में साधना का अहंकार फन फैलाकर  
फुटकार रहा था। और अहंकार के काले नाग के  
डसने से वे एक दिन साधना के पथ को भूल गये।  
उन्होंने उन साधिकाओं को भी देखा है जिनके  
जीवन में वित्तय का साम्राज्य था। जो सेवा की  
प्रतिभूतियाँ थीं उनका जीवन विशुद्ध और विशुद्धतर  
होता चला गया। आपने अनुभव के आधार पर  
अहंकार को छोड़कर नम्रता स्वीकार की है।  
समता, सरलता, आदि सद्गुणों को अपनाये हैं  
जिससे आपका जीवन वृक्ष कल्पवृक्ष की तरह

लहलहा रहा है। मैंने अनेक वार आपके-दर्शन  
किये और जब-जब भी दर्शन किये तब-तब मैंने यह  
अनुभव किया कि आपके हृदय में म्नेह का सागर  
ठाठें मार रहा है। कोई भी सती हो आप सदैव  
अपनत्व लुटाती रहती है। आपकी उस उदात्त  
भावना के कारण ही आपका अभिनन्दन व  
अभिनन्दन किया जा रहा है।

ज्ञान कर्म के योगी हो तुम,  
आधार बने जीवन के।  
प्रेम से अर्पित है ये,  
श्रद्धा कण मेरे मन के॥



### सागरवर गम्भीरा

—शान्तिलाल तलेसरा, (सूरत)



महासती पुष्पवतीजी एक प्रतिभा सम्पन्न  
साध्वी हैं। उनके जीवन में जहाँ प्रतिभा की  
तेजस्विता है, वहाँ पर आचार के प्रति गहरी  
निष्ठा है। आचार और विचार का समन्वय उनके  
जीवन में है। जैन मनीषियों ने साधना की परि-  
पूर्णता के लिए ज्ञान और क्रिया का समन्वय  
आवश्यक माना है। जिस जीवन में केवल एक  
पहलु की ही प्रधानता होती है, वह साधक अपूर्ण  
है। ज्ञान के बिना क्रिया अन्धो है, तो क्रिया के  
बिना ज्ञान पंगु है। इसलिए जिस साधक के जीवन  
में दोनों की परिपूर्णता होती है, वही महान है।  
मैंने बहुत ही निकटता से महासतीजी को देखा,  
परखा मुझे आत्म-सन्तोष हुआ कि वे एक सफल  
साधिका हैं।

जब कभी भी मैंने महासतीजी के दर्शन किये।  
सदा उनके चेहरे पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ  
करती हुई दिखलाई दी। कभी भी उनके चेहरे पर  
तनाव और क्रोध की रेखाएँ नहीं पाई। जिनके  
हृदय में प्रसन्नता का सागर ठाठें मारता है उन्हीं के  
चेहरे पर सदा प्रसन्नता चमकती है। महासती  
पुष्पवतीजी के सानिध्य में रहकर मैंने यह अनुभव

किया वे एक सतेज साध्वी हैं। उनका हृदय आनन्द  
से लबालब भरा हुआ है और वे सदा आनन्द  
बाँटती रहती है।

महासती पुष्पवतीजी एक सुलझी हुई विचारिका  
है। यही कारण है कि वे जो बात कहती है वह साफ  
होती है, सीधी होती है, और सरल होती है। कहीं  
पर भी उसमें दुराव व छिपाव नहीं होता। जिन  
व्यक्तियों के विचार उलझे हुए हैं उनकी बातें भी  
उलझी हुई होती हैं। उनमें स्पष्टता नहीं होती।

महासती पुष्पवतीजी में मैंने एक महत्त्वपूर्ण  
विशेषता देखी—वे बहुत ही जागरूक साधिका हैं।  
कहीं भी संयम-साधना में दोष न लगे, इसके लिए  
वे सतत सावधान रहती हैं। मैंने पूछा—आप में  
साधना के प्रति जो जागरूकता है उसका मूल कारण  
क्या है? उत्तर में उन्होंने बताया कि मेरे में जो ये  
संस्कार हैं उसका श्रेय है मेरे पूज्य दादाजी श्री  
कन्हैयालालजी सा० को। मेरे दादाजी बहुत ही  
धर्मनिष्ठ साधवाचार के प्रति जागरूक श्रावक थे।  
बाल्यकाल में मैंने उनकी प्यारी गोद में बैठकर यह  
सीखा कि साधना में प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक  
रहो। उसके पश्चात् मेरी सद्गुरुणी श्री सोहन



कुंवरजी म. जो महान त्यागी थी। उनके कण-कण में, मन के अणु-अणु में संयम-साधना रमी हुई थी। उनका जीवन साधना का जीवित भाष्य था। कहाँ है आज उनके जैसी साधिव्याँ ? उनकी गुरु बहिन महासती मदनकुंवरजी का जीवन भी तप और त्याग का ही रूप था। मेरी माताजी महासतीश्री प्रभावतीजी भी एक प्रबुद्ध साधिका थी। उन सभी के संस्कारों का ही यह सुफल है।

महासती पुष्पवतीजी के सामने जब कभी भी मैंने जिज्ञासा प्रस्तुत की तब वे उन जिज्ञासाओं का बहुत ही शान्ति के साथ समाधान प्रदान करती हैं। समाधान करने का उनका तरीका बहुत ही सुहावना है। विषय के तलछट तक पहुँचकर ऐसा स्पष्टीकरण करती हैं कि सुनने वाले को विषय सहज

ही हृदयंगम हो जाता है। इसका मूल कारण है कि उनका अध्ययन गम्भीर है, चिन्तन बहुत ही स्पष्ट है।

उनके जीवन में हजारों गुण हैं। उनका जीवन गुणों का आगार है। आप सागर वर गम्भीरा हैं, गुणियों का अभिनन्दन करना हमारी अपनी पुरानी परम्परा रही है। यह बहुत ही प्रसन्नता की बात है कि महासतीजी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। उस ग्रन्थ के माध्यम से हमें भी अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करने का सुनहरा अवसर मिला है। हम अपने अनन्त आस्था के सुमन समर्पित कर अपने आपको धन्य-धन्य अनुभव कर रहे हैं।

□

### जन-जन का आकर्षण केन्द्र

—महेन्द्र कुमार लोढ़ा, अजमेर

परम पूज्य साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी इस युग की महान् साधिका एवं सन्त व्यक्तित्व की धनी हैं। सुन्दर रूप और सुन्दर स्वभाव के कारण माता-पिता ने उनका नाम सुन्दर कुमारी रखा। वे अपने मधुर व्यवहार से करुण, कोमल मानस तथा अद्भुत प्रतिभा की विलक्षणता से पारिवारिकजनों की आकर्षण केन्द्र बन गईं। माता प्रेमकुंवर का प्रेम और पिता जीवनसिंहजी की जीवन कला उन्हें विरासत में प्राप्त हुई थी। सौन्दर्य के साथ सरलता, रूप के साथ माधुर्य का विरल संयोग उनके जीवन में अप्रतिम व्यक्तित्व प्रदान कर सका था। उनके चेहरे पर गर्व के स्थान पर सारल्य और विनय का माधुर्य भाव झलक रहा था।

बाल्यकाल में ही उन्होंने साधना पथ को स्वीकार करने के लिये दृढ़ संकल्प किया। अनेक बाधाओं से झूझती हुई सिंहजी की भांति वे निरन्तर आगे बढ़ती रही। और उन्होंने १३ वर्ष की लघुवय में आर्हती दीक्षा ग्रहणकर अपने सुदृढ़ संकल्प को पूर्ण किया। दीक्षा के पश्चात् आपकी शिक्षा प्रारम्भ हुई

आपने गम्भीर अध्ययन किया। विविध विषयों के शताधिक ग्रन्थों का आलोड़न विलोड़न कर चिन्तन का नवनीत और अनुभव का अमृत जन-जन को प्रदान कर रही हैं। अद्भुत है आपकी प्रवचन कला, विलक्षण है आपका विश्लेषण। एक बार भी जिसने आपके प्रवचन-पीयूष का पान कर लिया। वह अपने जीवन को धन्य-धन्य अनुभव करने लगता है।

प्राचीन मनीषियों ने कहा कि भाग्य से ही महा-पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त होता है, एक क्षण की भी संगति जीवन में आसूल-चूल परिवर्तन कर देती है। मैं भी महासतीजी के सम्पर्क में आया, उनके पावन प्रवचनों को सुनें। जिसके फलस्वरूप मेरे अन्तर्मानस में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। यह है महासती जी के सान्निध्य का लाभ। मैं चिन्तन के क्षणों में सोचता हूँ कि आज हमारा बौद्धिक विकास अत्यधिक हो रहा है। बौद्धिक विकास से हमारे में तर्क शक्ति प्रबल हो रही है। किन्तु जीवन में शान्ति का अभाव है। हम बाहर शान्ति की अन्वेषणा कर रहे हैं, पर



शान्ति प्राप्त नहीं हो रही है। पर सन्त-सतियों का सान्निध्य जब हमें मिलता है, तो बौद्धिक विकास के साथ ही हमारा आध्यात्मिक विकास भी होता है। और हम स्व-केन्द्रित होते हैं। जब स्व-केन्द्रित होते हैं तो सहज ही सुख की अनुभूति होती है। यह सबसे बड़ा लाभ है।

मुझे यह लिखते हुए अपार हर्ष है कि महासती जी के सम्पर्क में आने के पश्चात् मेरे स्वभाव में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। पहले मैं बात-बात में क्रोध करता था, आपे से बाहर हो जाता था पर अब वह स्थिति नहीं है। कई बार क्रोध के प्रसंग समुपस्थित होने पर भी जब मैं शान्त रहता हूँ तो पारिवारिक जन मेरे स्वभाव के परिवर्तन को देखकर

चकित होते हैं। मैंने यह भी अनुभव किया है। पहले मुझे जब क्रोध अधिक आता था, उसके पश्चात् मैं निडाल हो जाता था। पर आज स्फूर्ति और चेतना रहती है। मेरे परिवार वाले भी सुखी हैं तो मुझे भी अपूर्व आह्लाद है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती की पावन बेला में मैं अपनी ओर से अपने पारिवारिकजनों की ओर से महासती पुष्पवतीजी के चरणों में अपना श्रद्धा सुमन समर्पित करते हुए, अपार प्रसन्नता है। हमारी यही मंगल कामना है। आप पूर्ण स्वस्थ रहकर हमें सदा मार्ग दर्शन प्रदान करती रहें।

卐

## चुम्बकीय आकर्षण

-रणजीत सिंह लोढ़ा

—(अजमेर)

परमविदुषी साध्वीरत्न पुष्पवतीजी का जीवन अनेक विशेषताएँ लिये हुए हैं। मैंने उनके दर्शन सर्व प्रथम मदनगंज में किये। कुछ व्यावसायिक प्रवृत्तियों के कारण सन्त-सतियों की सेवा में पहुँचना नहीं हो पाता। अजमेर में हम वर्षों से रह रहे हैं। वहाँ पर सन्त और सतियों का आगमन भी होता रहता है। और वर्षावास भी प्रायः होते रहते हैं। पर हम दोनों भाई बहुत कम जाते हैं। पता नहीं ऐसी क्या एलर्जी हो गई है कि स्थानक जाने का मुड़ ही नहीं होता। सन् १९८२ में उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० का वर्षावास मदनगंज में हुआ। हमारे भोजाईजी और मेरी धर्मपत्नी गुरुदेव श्री की सेवा में पहुँची। उनके अद्भुत व्यक्तित्व से प्रभावित हुई। उन्होंने हमें प्रेरणा दी कि आप एक बार अवश्य ही गुरुदेव के दर्शन करें। हम उनकी बातों को टालते रहे। पर एक दिन मेरी धर्मपत्नी ने सत्याग्रह कर लिया। जब तक आप नहीं चलेंगे-दर्शन हेतु तब तक मैं

अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। बिना मन के भी हमें दर्शन के लिए पहुँचना पड़ा।

हम मदनगंज-किशनगढ़ पहुँचे। गुरुदेव श्री का जादूई चुम्बकीय आकर्षण से हम प्रभावित हुए। हमें अनुभव हुआ कि हमने इतना समय यों ही निरर्थक खो दिया। मन में पश्चात्ताप होने लगा। हमने अपनी धर्मपत्नी को धन्यवाद दिया। यदि तुम सत्याग्रह नहीं करती तो हम ऐसे महापुरुषों के दर्शन से वंचित रहते। अब तो बिना प्रेरणा के ही दर्शन हेतु पहुँचने लगे। उस समय गुरुदेव श्री की सेवा में महासती पुष्पवतीजी विराज रही थीं। उनके दर्शनों का भी हमें सोभाग्य मिला। उनका सरल मानस, प्रेम पूर्ण सद्व्यवहार से हमारा अन्तर्हृदय गद्गद हो उठा। गुरुदेवश्री तो मदनगंज से विहार कर देहली पधार गए। दो वर्ष तक गुरुदेव श्री के वर्षावास दिल्ली में हुए। महासती जी स्थविरा महासती श्री चत्तर कुवर जी म० की वृद्धावस्था के कारण लम्बे विहार करने की स्थिति



में नहीं थी। अतः उन्होंने एक वर्ष किशनगढ़ में और द्वितीय वर्ष हरमाड़ा में वर्षावास किया। इन दोनों वर्षावास में तथा शेष काल में हम जब भी अवकाश मिलता ! सपरिवार गाड़ी लेकर दर्शनार्थ पहुंच जाते। तथा महासती जी के सानिध्य में बैठ कर अपार आनन्द का अनुभव होता। महासतीजी के निकट सम्पर्क में आकर हमारे जीवन में धार्मिक रुचि जाग्रत हुई। गुरुदेव ने धार्मिक संस्कारों के बीज का वपन किया तो महासती जी ने उस बीज का सिंचन कर उसकी अभिवृद्धि की। महासती जी के निकट सम्पर्क से हमारे जीवन में धर्म की भावना लहलहाने लगी है।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महासतीजी के लघु भ्राता हैं। उन्होंने यह बताया कि महासतीजी की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती आ रही है और इस अवसर पर पत्रम् पुष्पम् के रूप में महासतीजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने की भावना उद्बुद्ध हुई है। हमने निवेदन किया कि हमारे योग्य जो भी सेवा हो वह बिना संकोच बताने की कृपा करें। हमारा परम सौभाग्य है कि हमें इस पावन प्रसंग पर अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करने का अवसर मिला है। हम यह साधिकार कह सकते हैं कि हमने अन्य महासतीजी के भी दर्शन किये हैं पर जो विशेषता और शान्ति महासती पुष्पवती जी में देखी है। वह अद्भुत है, अनूठी है। इसीलिए हमारा हृदय उनके चरणों में नत है। अपनी ओर से और अपने पूरे परिवार की ओर से श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए आनन्द विभोर हो रहा हूँ।

पुष्प सूक्ति कलियाँ

□ मिथ्याभाषण और मिथ्याचार से शरीर और मन दोनों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है।

## शासन प्रभाविका

--धनराज चुन्नीलाल बाँठिया, पूना

जैन साहित्य का जब हम पर्यवेक्षण करते हैं तो हमें सहज ही परिज्ञात होता है कि जैन श्रमणियों का इतिहास गौरवपूर्ण रहा है। वे धर्म की नींव के रूप में रही हैं। हर तीर्थंकर के शासनकाल में श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियाँ अधिक रही हैं। उनका तपःपूत जीवन जन-जन के लिए प्रेरणा स्रोत रहा है। अन्तकृतदशांगसूत्र इस बात का साक्ष्य है। जब हम उन श्रमणियों के तप का वर्णन पढ़ते हैं, तो हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वे महारानियाँ जो एक दिन भोग के दल-दल में फँसी हुई थीं जब त्याग-मार्ग को स्वीकार करती हैं, तो उनके कदम वीरांगना की तरह निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं। उनके तप का वर्णन पढ़कर ऐसा लगता है कि श्रमणों के कदम भी उनसे तप में पीछे रहे हैं। तप में ही नहीं, जप, ध्यान, स्वाध्याय और वैदिक शक्ति में भी वे सदा आगे रही हैं।

परम विदुषी साध्वीरत्न पुष्पवतीजी स्थानक-वासी जैन समाज की एक प्रतिभा सम्पन्न साध्वी हैं। उनमें प्रतिभा की तेजस्विता है, चिन्तन की गहराई है। जो प्रथम दर्शन में ही श्रद्धालुओं को आकर्षित करती हैं।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज साहब का वर्षावास सन् १९८० में उदयपुर था। हम सपरिवार गुरुदेव श्री के दर्शन हेतु उदयपुर पहुँचे। हमने पूना में ही गुरुदेवश्री के चातुर्मास में यह सुन रखा था कि उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी की माताजी और बहिनजी ने भी दीक्षा ले रखी है और वे बहुत ही ज्ञानी हैं। जब हमें यह ज्ञात हुआ कि उनका वर्षावास भी उदयपुर में ही है तो हमारा मन उनके दर्शनों के लिए ललक उठा। हमने सर्व प्रथम माताजी महाराजश्री प्रभावतीजी के दर्शन किये। उनकी सौम्य और भव्य मुखाकृति को



निहारकर हमारा हृदय प्रमुदित हो उठा। “यत्रा कृति तन्न गुणा वसन्ति” वह युक्ति सहज स्मरण हो आई। वार्तालाप करने पर ऐसा परिज्ञात हुआ कि उनकी वाणी अमृत से भी अधिक मधुर है। उनका शास्त्रीय ज्ञान बहुत ही गम्भीर है। उन्होंने जो ज्ञान की बातें बताईं-वे आज भी स्मृति पटल पर चमक रही हैं। किन्तु दूसरे वर्ष ही उनका संशारे के साथ उदयपुर के सन्निकट खैरोदा गाँव में स्वर्गवास हो गया। वह विरल विभूति आज हमारे सामने नहीं है किन्तु उनकी गौरव-गाथा आज भी दिग्-दिगन्त में गूँज रही है। वे जन-मानस के स्मृति पटल पर सदा जीवित रहेंगी।

माताजी महाराज के दर्शन के पश्चात् मैंने बहिन महाराज के दर्शन किए। बहिनजी महाराज ने बहुत ही मधुर शब्दों में ज्ञानामृत पिलाते हुए हमें बताया कि सद्गुरु जीवन नैया के खडैया होते हैं। देव, गुरु और धर्म ये तीन तत्त्व हैं। इनमें गुरु बीच में हैं जो हमें वीतराग देव की पहिचान कराता है, और साथ ही धर्म के रहस्य को भी समझाता है। जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में भारी होता है, वह गुरु है। इसीलिए भारत के प्राचीन मनीषियों ने कहा है—गुरु ही ब्रह्मा है, विष्णु है, महेश है। गुरु साक्षात् परमेश्वर है। गुरु से बढ़कर अन्य कोई नहीं है। गुरु हमें जीवन निर्माण का गुरु (रहस्य) बताता है। ज्योतिषशास्त्र का भी मन्तव्य है कि जिसके जन्म कुण्डली में गुरु उच्च स्थानीय है तो अन्य ग्रहों का जोर नहीं चलता। आप कितने भाग्यशाली हैं कि आप पर गुरुदेव की अपार कृपा है और आपकी भी गुरुदेव पर अपार निष्ठा है।

सन् १९८२ और सन् १९८३ में ऋमशः जोधपुर और मदनगंज-किशनगढ़ में महासतीजी के वर्षावास में दर्शनों का सौभाग्य मिला। और अनेक बार सेवा में बैठ कर उनसे वार्तालाप करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। मैंने यह अनुभव किया कि महासती पुष्पवतीजी सरस्वती की पुत्री हैं। वे जिस

किसी भी विषय को जब समझाती हैं तो वह विषय सहज ही हृदयंगम हो जाता है। वे केवल विदुषी ही नहीं साथ ही सफल साधिका भी हैं। नियमित समय पर वे जप करती हैं, ध्यान करती हैं, स्वाध्याय और चिन्तन करती हैं। उनका चिन्तन बहुत ही स्पष्ट है।

मैंने उनके प्रवचन को भी सुना है। उनका प्रवचन राजनेताओं की तरह नहीं होता। अपितु वे शास्त्रीय रहस्यों का इस प्रकार विश्लेषण करती हैं कि श्रोताओं के अन्तर्मानस में वीतराग वाणी के प्रति सहज निष्ठा पैदा होती है उनके द्वारा सम्पादित दशवैकालिक सूत्र मैंने पढ़ा है। उन्होंने जो गाथाओं का विवेचन किया है, वह बहुत ही शानदार है। आगम के रहस्य को जानने के लिए सर्वलाइट की तरह उपयोगी है। महामहिम आचार्य सम्राट आनन्द ऋषिजी म. के आह्वान पर पूना में सन्त सम्मेलन का भव्य नव्य आयोजन हुआ। इस आयोजन में भारत के सुदूर अंचलों से विहार कर सन्त व सतीवृन्द का आगमन हुआ। महासतीजी पुष्पवती जी भी राजस्थान से पधारी। महासती पुष्पवतीजी के लघुभ्राता देवेन्द्रमुनिजी को उपाचार्य पद प्रदान किया। सम्मेलन के पश्चात् हमारी प्रार्थना को सम्मान देकर हमारे निवासस्थान पुष्कर घन भी पधारी। इस प्रकार उनकी अपार कृपा मेरे पर और हमारे परिवार पर रही है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर हम उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने जा रहे हैं। यह उनका अभिनन्दन नहीं, अपितु हमारा ही गौरव है। गुणियों के गुणानुवाद करने से हमारे कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिए इस उपक्रम के द्वारा हम अपना ही हित साधते हैं। मैं अपनी अनन्त श्रद्धा महासतीजी के चरणों में समर्पित करता हूँ, कि वे युग-युग तक धर्म की प्रबल प्रभावना करती रहें। उनका यशस्वी जीवन सभी के लिए प्रेरणा-प्रदाता बनें।

□



## एक सुलझी हुई साधिका

—सम्पत्तीलाल बोहरा

[अध्यक्ष—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय (उदयपुर राज.)]

आज चारों ओर हिंसा, अशान्ति के काले-कजरारे बादल मंडरा रहे हैं। संघर्ष पनप रहा है। मानव का हृदय सिमटता चला जा रहा है। उसका चिन्तन संकुचित हो गया है। जिससे जातिवाद, प्रान्तवाद और भाषावाद के काले नाग फन फैलाकर मानवता को निगलने के लिए ललक रहे हैं। इस विकट बेला में शान्ति का, स्नेह और सद्भावना का पावन पथ प्रदर्शन करने वाले जो मानव को विराट बनने की प्रेरणा देते हैं। वे भावात्म एकता का सन्देश देते हैं। प्रसुप्त मानवता को जागृत करते हैं। उसी लड़ी की कड़ी में परम विदुषी साध्वीरत्न महासती पुष्पवतीजी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

मैंने महासतीजी के दर्शन कब किये यह तिथि तो स्मरण नहीं है? पर जब भी दर्शन किये मन को एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुई। उनका पवित्र सान्निध्य चिन्तन को उद्बुद्ध करता है। श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का अध्यक्ष होने के नाते मुझे अनेक बार आपसे सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक विषयों पर विचार चर्चा करने का अवसर मिला है। मैंने इन सभी चर्चाओं में यह पाया कि महासतीजी एक सुलझी हुई विचारिका हैं। उनका चिन्तन बहुत ही स्पष्ट है। उनके अन्तर्मानस में एक तड़फन है, लगन है कि हमारी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति होनी चाहिये।

उन्होंने वार्तालाप के प्रसंग में मुझे बताया कि जैन दर्शन विश्व का महाद् दर्शन है। उसके पास अनेकान्तवाद का ऐसा महाद् सिद्धान्त है जो जैन धर्म की तो क्या विश्व की गम्भीर से गम्भीर समस्याओं को भी सुलझा सकता है। वह विभिन्न

दृष्टियों से सत्य को ग्रहण करता है। वह एकान्तवादी नहीं होता अपितु सभी दृष्टिकोणों से सत्य को समझने का प्रयास करता है। पर खेद है कि हम अनेकान्तवादी भी एकान्तवादी होते जा रहे हैं। वैज्ञानिक जगत में सन् १९०५ में प्रोफेसर अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया और इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने अनेक समस्याओं का निरसन किया। स्याद्वाद और सापेक्षवाद इन दोनों में अपेक्षा प्रधान हैं। दोनों ही सत्य ज्ञान की कुंजी हैं। पर हम उस कुंजी का उपयोग नहीं कर रहे हैं। यदि हम उस कुंजी का उपयोग करें, तो जैन शासन में जो विभिन्न गच्छ पनप रहे हैं वे नहीं पनपेंगे। सम्प्रदाय रहेंगी, पर सम्प्रदायवाद नहीं रहेगा। सम्प्रदाय भले ही रहें किन्तु सम्प्रदायवाद नहीं रहे।

मैंने एक बार महासतीजी से पूछा कि जैन साधना का मूल आधार क्या है?

उन्होंने मुझे बताया कि साधना का प्रारम्भ होता है समता से। चाहे गृहस्थ हों, चाहे श्रमण हों। दोनों के लिए समता आवश्यक है। जैन धर्म में साधक के लिए छः कार्य आवश्यक बताए हैं। उसमें सर्वप्रथम आवश्यक है सामायिक यानि समता। बिना समता के अन्य कोई साधना सफल नहीं हो सकती। गीताकार ने भी समत्व को ही योग कहा है। जहाँ समता होती है, वहाँ ममता और विषमता पनप नहीं सकती। समत्वयोगी साधक ही अपने आप को निहार सकता है।

समय-समय पर आप से विचार-चर्चाएँ हुईं।







प्रभावतीजी महाराज व महासती चन्द्रावतीजी व महासती प्रियदर्शनाजी की सेवा करते हुए। सेवा धर्म बहुत ही कठिन है। यह आन्तरिक तप है। जिस संघ में यह भावना पूर्ण विकसित है, वह संघ सदा प्रगति के पथ पर बढ़ता है।

महासती श्री पुष्पवतीजी में अनेक गुण हैं। वे जहाँ भी पधारी हैं। वहाँ अपने गुणों की सौरभ फैलाई है। उनके गुणों को सुनकर मेरा हृदय आनन्द विभोर हो उठता है। इसीलिए श्रद्धालुगण अपनी अनन्त आस्था को अभिव्यक्ति देने के लिए अभिनन्दन ग्रन्थ निकाल रहे हैं। यद्यपि महासतीजी की स्वयं की इच्छा नहीं है तथापि श्रद्धालुओं की भावना का प्रश्न रहा और उन्हीं की भावना को प्रस्तुत ग्रन्थ में मूर्त रूप दिया गया है। हम सभी की यही मंगल कामना है कि महासतीजी पूर्ण रूप से स्वस्थ रहें। तथा भारत के विविध अंचलों में विहार कर धर्म की विजय-वैजयन्ती फ़ैलाएँ, उनका तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व सभी के लिए प्रेरक रहे। हम उनके जीवन से सदा प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को महान बनाएँ। यही उनके प्रति श्रद्धार्पण हैं।



## श्रद्धा के दो बोल

—रतनलाल मोदी, उदयपुर

महास्थविर श्री ताराचन्द्रजी महाराज की असीम कृपा हमारे प्रान्त पर रही। पहाड़ियों से घिरे हुए इस प्रान्त में सद्गुरुदेव समय-समय पर भक्तों को सम्भालने के लिए पधारते रहे। जिस कारण हमारे में धार्मिक संस्कार अभिवृद्धि को प्राप्त होते रहे। जब गुरुदेव श्री हमारे प्रान्त जालावाड़ में पधारते तब हम निरन्तर उनकी सेवा में रहते। उनके पावन सान्निध्य को पाकर मेरे मन में संसार से विरक्ति हुई। पर गुरुदेव तो ज्ञानी थे। उन्होंने कहा रतन ! तेरे भोगावली कर्म अवशेष

हैं। तुझे संसार में रहना पड़ेगा। संसार में रहकर ही तू धर्म-साधना करता रहेगा। पर एक बार तुझे नियम दिलाता हूँ कि तेरे सन्तान की इच्छा दीक्षा देने की हो तो इन्कार न होना। गुरुदेव के आदेश को स्वीकार कर मैंने सहर्ष नियम ग्रहण कर लिया।

पर मेरे अन्तर्मानम में यह विचार उद्बुद्ध हो रहा था कि मेरा अभी न तो पाणिग्रहण हुआ है और न वाग्दान ही हुआ है। फिर सन्तान की बात तो आकाश कुसुमवत है। पर ज्ञानी गुरुदेव ने जो देखा और जिसकी कल्पना भी नहीं थी सहज में ही मेरा विवाह हो गया। तथा मेरे पाँच पुत्र और तीन पुत्रियाँ भी हुईं। यकायक सर्प डंस से डंसित होकर पत्नी का देहान्त हो गया। मैं सोचने लगा। जीवन कितना नश्वर है? मैं तो संसार सागर में ही रह गया। गुरुदेव ने कहा था कि सन्तान दीक्षा ले तो इन्कार न होना। किन्तु सन्तानों ने गुरुदेवों का सान्निध्य ही प्राप्त नहीं किया है, तो वैराग्य कैसे उद्बुद्ध हो सकता है? सन् १९७२ में साण्डेराव में राजस्थानी मुनियों का सम्मेलन था। मैं उस सम्मेलन में गुरुदेवों के दर्शन हेतु पहुँचा। और मैंने पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज साहब से प्रार्थना की कि मैं तो साधु नहीं बन सका हूँ। छोटे बच्चे हैं। यदि आप उन्हें प्रतिबोध दें। उनके भाग्य यदि प्रबल होंगे तो संयम-मार्ग को स्वीकारकर अपने जीवन को धन्य बना सकेंगे। पूज्य गुरुदेव ने फरमाया महासती श्री पुष्पवतीजी और महासतीजी इन दिनों में गोगुन्दा या वगडंदा विराज रही हैं। आप पहले एक बच्चे को सतीजी के दर्शन करा दें। उनके सान्निध्य में कुछ दिन रहने दें। जिससे बालक में संस्कारों का बीज वपन होगा। मैं भी विहार कर उधर ही आ रहा हूँ। गुरुदेव श्री के संकेत से मैं बालक चतुरलाल को लेकर महासतीजी की सेवा में पहुँचा। मैंने तो पहले भी अनेक बार माताजी महाराज और बहिनजी महाराज के दर्शन किए थे। उनकी सेवा में भी



रहा था विहारादि में । बालक चतुरलाल को देखकर उन्होंने मेरी भावना को प्रोत्साहन दिया । ओर गुरुणीजी की सेवा में बालक को रहने का प्रथम ही अवसर था । दर्शन करने का भी प्रथम ही मौका था । प्रथम दर्शन में ही बालक के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा । कुछ दिन बाद गुरुदेव श्री का भी पदार्पण हो गया ।

उस वर्ष गुरुदेव का चातुर्मास जोधपुर में था और गुरुणीजी का वर्षावास सादड़ी मारवाड़ में था । बालक चतुरलाल की भावना की सुदृढ़ करने में गुरुणीजी महाराज का अपूर्व योगदान रहा । चातुर्मास के पश्चात् मैंने गुरुणीजी महाराज से प्रार्थना की कि आपश्री का चातुर्मास गुरुदेवश्री के सान्निध्य में होगा तो चातुर्मास में यदि योग हुआ तो दीक्षा का मंगलमय कार्य भी सानन्द सम्पन्न हो सकता है । हमारी प्रार्थना को संलक्ष्य में रखकर चातुर्मास अजमेर हुआ । और उसी चातुर्मास में चतुरलाल ने गुरुदेव के चरणों में दीक्षा ग्रहण की और वे दिनेश मुनि के नाम से आज विश्रुत हैं ।

गुरुणीजी महाराज के पावन सान्निध्य में मैं अनेक बार आया हूँ और जब भी आया हूँ तब उनके चेहरे पर वही प्रसन्नता, वही आह्लाद मुझे दिखायी दिया । जब भी मैं चरणों में पहुँचा तब मुझे सदा स्नेहपूर्ण आशीर्वाद मिला । दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर मैं अपनी ओर से अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूँ और यही जिनशासन देव से प्रार्थना करता हूँ कि आप जिन शासन की प्रभावना करती रहें और हमें पथ प्रदर्शन करती रहें ।



## म धुर व य व हार

—धनपतिसिंह पन्नालाल बरड़िया, (मदनगंज)

बरड़िया परिवार में जन्म लेने के कारण महासती पुष्पवतीजी के प्रति हमारा स्वाभाविक आकर्षण रहा । तो उनकी भी हमारे परिवार पर अपार

कृपा दृष्टि रही । मेरी पूजनीया भोजाईजी बदायुण बाई की धर्म में प्रारम्भ से ही रुचि रही और पूज्य भाई साहब पन्नालालजी समाज के कार्यों में अगुवा रहे हैं । भोजाईजी और भाईसाहब की प्रेरणा से महासती पुष्पवतीजी का उनके सद्गुरुणीजी सोहन कुंवरजी म० तथा माताजी प्रतिभा मूर्ति प्रभावतीजी के साथ सन् १९५५ में मदनगंज चातुर्मास हुआ । उसके पहले महासतीजी सन् १९५३ में जयपुर चातुर्मास हेतु पधार रही थी । तब मदनगंज पधारी थी । तभी से हमारा आकर्षण उनके प्रति था ।

महासती श्री सोहनकुंवरजी म० बहुत ही आत्मार्थी महासती थी । किसी प्रकार का प्रपञ्च उनके जीवन में नहीं था । और माताजी म० का तो कहना ही क्या ? उनकी वाणी मिश्री से भी अधिक मीठी थी । सभी के साथ उनका आत्मीयता पूर्ण व्यवहार था । वे सदा ज्ञान और ध्यान में तल्लीन रहती थी । इस कारण हमारी भोजाईजी का आकर्षण और अधिक था । मदनगंज का यह उनका प्रथम वर्षावास था । उस वर्षावास के पश्चात् जहाँ भी महासतीजी के चातुर्मास हुए, हमारा परिवार उनकी सेवा में पहुँचता रहा । उसके पश्चात् सन् १९७५ में, सन १९८३ में महासतीजी के चातुर्मास मदनगंज को मिले । और कारण विशेष से शेषकाल में भी लम्बे समय तक महासतीजी का मदनगंज में विराजना रहा । मदनगंज का प्रत्येक श्रद्धालु महासतीजी के प्रति आकर्षित रहा है । उनकी प्रवचन कला मनमोहक है । उसमें तात्विक विवेचन के साथ ही जीवन जीने की कला का भी विश्लेषण होता है । जीवन व्यवहार के अनेक पहलुओं पर महासतीजी प्रकाश डालती हैं । जिससे जीवन में सुख और शान्ति का संचार होता है । उनका मधुर व्यवहार हर व्यक्ति को चुम्बक की तरह आकर्षित करता है ।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर मैं अपनी ओर से तथा अपने परिवार की ओर से श्रद्धा सुमन समर्पित करता हुआ अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता हूँ । ❀



## मैं महासतीजी के गुणों पर मुग्ध हूँ ।

—रतनलाल मारू

(अध्यक्ष—मदनगंज भावन.संघ)

सुवासित सुमनों की मधुर सौरभ बिना प्रयास किये अपने आप फैलती है वैसे ही जो महान् आत्माएँ होती हैं । उनके ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग और आत्मानुभूति की चर्चाएँ भी बिना प्रयास के दिग्दिगन्त में फैलती है और उस मधुर सौरभ को ग्रहण करने के लिये भक्तरूपी भँवरे भी उनके चारों ओर मँडराते हैं ।

परम विदुषी साध्वी रत्न पुष्पवतीजी इस प्रकार की साध्वी हैं, जिनका पावन दर्शन मंगलमय हैं । मदनगंज संघ पर तो उनकी अपार कृपा रही है । मदनगंज में महासतीजी के तीन वर्षावास हुए हैं और एक वर्षावास किशनगढ़ हुआ । वर्षावास के अतिरिक्त भी महासतीजी का कारण विशेष से लम्बे समय तक मदनगंज में विराजने का लाभ मिला है ।

मैं ज्यों-ज्यों महासतीजी के सम्पर्क में आया त्यों-त्यों उनके सद्गुण मेरे को प्रभावित करते गए । मैंने कभी भी उनको उदास और हताश नहीं देखा और न उनके मन में किसी भी वस्तु की चाह है । मैंने अनेकों बार उनसे निवेदन किया । सदा एक ही उत्तर मिला कि सभी प्रकार से आनन्द हैं उनके पास चाहे गरीब व्यक्ति जाए या चाहे धनवान, चाहे बृद्ध जाए, चाहे बालक जाए । सभी के प्रति उनका एक सहृदयव्यवहार रहा है । वे सभी से प्रेम पूर्वक वार्तालाप करती हैं । इसीलिए सभी उनके प्रति नत है, श्रद्धालु हैं ।

महापुरुषों के जीवन की यह अद्भुत विशेषता है कि जो भी उनके निकट स्पर्क में आता है । वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता मैं भी महासतीजी के गुणों पर मुग्ध हूँ । महासतीजी की अपार कृपा मेरे पर और मेरे परिवार पर रही है । तथा मदन-

गंज संघ पर भी मैं मदनगंज संघ के अध्यक्ष होने के नाते अपनी ओर से तथा संघ की ओर से दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन पुण्य प्रसंग पर अपनी अनन्त आस्था समर्पित करता हूँ मेरी यही हार्दिक कामना है कि आप जैसी विदुषी साध्वियाँ ही विश्व को मानवता का दिव्य सन्देश प्रदान कर सकती हैं । और हमारा उद्धार एवं समुद्धार कर सकती हैं ।

□

### तेजोमय व्यक्तित्व की धनी

-- वियोगी श्री राधे राधे

(चिकलवास नाथद्वारा)

परम विदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी भारतीय साध्वी परम्परा की सच्ची प्रतिनिधि हैं । आपका व्यक्तित्व प्रभावपूर्ण और आकर्षक है । उसमें पुष्प की तरह सुवास है । आपके जीवन में सरलता, विद्वत्ता, श्रद्धा और विवेक का अन्तः संगम हुआ है । संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी, न्याय, व्याकरण आगम-निगम, धर्म और दर्शन, प्रभृति का आपको गहरा ज्ञान है । आप मधुरभाषिणी शान्तचेता और सदा प्रसन्नचित्त रहने वाली साध्वी हैं । आप सदा स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन-मनन, अध्ययन-अध्यापन में लीन रहती हैं । मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ भाव आपके जीवन के कण-कण में समाये हुए हैं । यही कारण है आपके जीवन में कटुता और तीव्रता का अभाव है । आप मन से सरल हैं । आपकी वाणी मधुर है । आपकी दृष्टि सार ग्राहिणी हैं । उसमें छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति नहीं है । आप प्रत्येक व्यक्ति-



में गुण देखती हैं और नीरस जीवन में भी सरसता के संदर्शन करती हैं। आपका ज्ञान बहुत ही गहरा है। आपने ज्ञान को बुद्धि के स्तर पर आत्मसात किया है। फलस्वरूप उसमें अंधविश्वास नहीं है। आप रूढ़ियों का, गलत परम्पराओं का जमकर विरोध करती हैं। धर्म के नाम पर पनपने वाले वाह्य आडम्बरों की भी भर्त्सना करती हैं। आपने अपनी "पुष्प-पराग" पुस्तक में उन मिथ्या धारणाओं पर कठोर व्यंग्य किया है।

महासतीजी की जैन संस्कृति पर पूर्ण आस्था है। मैंने आस्था का कारण जानना चाहा तो महासतीजी ने बताया जैन संस्कृति-विश्व की एक विशिष्ट संस्कृति है जिस संस्कृति में मानव अपना चरमोत्कर्ष कर सकता है, जिस संस्कृति ने यह उद्घोष किया है कि आत्मा ही परमात्मा है। "कर्मबद्ध आत्मा है और कर्ममुक्त परमात्मा है। जब आत्मा अपने प्रबल पुरुषार्थ से कर्मों को नष्ट करता है तब वह परमात्मा बनता है। व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ ही उसे महान् बनाता है। दूसरी विशेषता यह है कि इस संस्कृति ने अनेकान्तवाद की दिव्य दृष्टि प्रदान की है, जिस दृष्टि से सांस्कृतिक समन्वय किया जा सकता है। विविधता में भी एकता के संदर्शन किये जा सकते हैं। विभाजक में भी समन्वय भावना विकसित की जा सकती है। इसीलिए वे जैन संस्कृति को विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति मानती हैं।

महासतीजी ने अपने प्रवचनों में इस बात पर बल दिया है कि आज देश में चारित्र्य का जो दुष्काल है उसका मूल कारण है-जीवनदृष्टि का अभाव। जीव-दृष्टि के अभाव के कारण ही मानव चारित्र्य को भूल कर धन को सर्वस्व मानने लगा है, जिससे मिलावट, रिश्वतखोरी और तस्करवृत्ति पनप रही है, मानवन्याय और नीति को विस्मृत होकर धन के पीछेदेवाना बना हुआ है। यह धन जो अन्याय और अनीति से उपाजित है। वह शान्ति प्रदान नहीं करता। वह तो जीवन में उसी तरह अशान्ति पैदा करता है, जैसे कोई पिपासु केरोसिन पीकर प्यास शान्त करना

चाहता है। वैसे ही अनीति से उपाजित सम्पत्ति-सम्पदा नहीं, विपदा लाती है।

महासतीजी के प्रवचन में चिन्तन है, विचारों में गम्भीरता है, और वार्तालाप में सरलता, सरसता और ताजगी है।

मैं उस ज्ञान ज्योति परम विदुषी साध्वीरत्न के चरणों में श्रद्धा से नत हूँ। उनका सारल्य दीप्त, तेजोमय व्यक्तित्व हमारा सदा सर्वदा मार्ग दर्शन करता रहे। आपके अभ्युदय एवं दीर्घायु की मंगल कामना करता हूँ।

□

## आराध्य के चरणों में

—कहैयालाल सुराणा (नाथद्वारा)

जिन व्यक्तियों के कार्य महान् होते हैं उनके प्रति सहज श्रद्धा उद्बुद्ध होती है। जिन व्यक्तियों का व्यक्तित्व ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी होता है उनके व्यक्तित्व के प्रति भक्ति भावना पैदा होती है। जिनमें सद्गुणों का मधुर समन्वय होता है, वह व्यक्ति आराध्य बन जाता है। आराध्य को शब्दों के संकीर्ण घेरे में आबद्ध करना बहुत ही कठिन है। भाषा तो भावों का लंगड़ाता हुआ अनुवाद है यह सत्य है और तथ्य भी है। साथ में यह भी सत्य है कि भाषा के माध्यम से ही भाव व्यक्त किये जाते हैं। यह भाषा न हों तो भाव व्यक्त नहीं किये जा सकते।

महासती पुष्पवतीजी हमारे आराध्य हैं। मैं उस आराध्य देव को श्रद्धा के सुमन किन शब्दों में अर्पित करूँ। आपने हमें जिनवाणी की सुधा पिलाई। जिस सुधा के पान से मेरे चिन्तन में एक जागृति आई, मैं निर्भय होकर अपने लक्ष्य की ओर अबाध गति से बढ़ने लगा हूँ? आपके सम्पर्क में आकर मुझे अनन्त सत्य के दर्शन हुए। पहले



जो सम्प्रदायवाद का चश्मा लगा था, वह हट गया और मुझे यथाथता के दर्शन हुए। पहले मैं दूसरों के दोष निहारा करता था। पर आपकी मंगलमय प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर मैं अब अपने दोष देखने लगा हूँ। मुझे जीवन का नवीन प्रकाश मिला। मेरा यह मानना था कि—“शठे शाठयं समाचरेत् ईट का उत्तर पत्थर से दो। किन्तु आपके सम्पर्क में आकर मैंने यह निश्चय किया है कि ईट का जवाब पत्थर से नहीं फूलों से दो। दुष्ट व्यक्ति को शिष्ट बना दो।

नाथद्वारा संघ पर आपकी असीम कृपा रही

है। आपके अनेक वर्षावास भी हुए हैं। आपके सद्गुणों पर नाथद्वारा संघ को नाज है। श्रीमान् चौथमलजी सुराना जो संघ के अध्यक्ष रहे हैं उनकी आपके प्रति असीम भक्ति है।

इस पावन वेला में मेरे अन्तर्हृदय से जो भावनाएँ उमड़ रही हैं उसे आप स्वीकार करें। सुदामा के तन्दुल की तरह मेरी भावनाओं का आप अंकन करें। आप दीर्घजीवी बनें। मेरा और जैन समाज का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व का आप पथ प्रदर्शन करें। यही मेरी शत-शत शुभ-कामना है, भाव-अर्चना है।

## ए क महान तत्वदर्शी महासती

—सुभाष ओसवाल

(अध्यक्ष: अ. भा. श्वे. स्था. जैन युवा कांग्रेस, नईदिल्ली)

महासती पुष्पवतीजी एक महान् तत्वदर्शी महासती हैं। जप-तप और ज्ञान-साधना के साथ ही साथ लोक-कल्याण कामना का प्रसार ही आप श्री के उदात्त एवं आदर्श जीवन का मुख्य लक्ष्य है। सद्भाव-सदाचार-स्नेह सहयोग शुद्धात्मवाद और सहिष्णुता का महत्त्व जनता जनार्दन को समझाने के लिए आप पैदल परिभ्रमण करती हैं और अपने पीयूषवर्षी प्रवचनों में अन्धविश्वास, अन्धपरम्परा रूढ़िवाद, जातिवाद, स्वार्थान्धता, ऊँच-नीच विषयक विषमता आदि दुर्गुणों को कुरीतियों को नष्ट करने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। धार्मिक समन्वय नैतिकोत्थान के लिए आप अहर्निश प्रयत्न करती रहती हैं।

आप हमारे श्रमणसंघ के उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी की ज्येष्ठ बहिन हैं। देवेन्द्रमुनिजी के साथ मेरा बहुत ही पुराना परिचय रहा है, सन् १९५४ में महास्थविरजी ताराचन्द्रजी म० उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० पधारे थे। मेरे पूज्य पिता

श्री बनारसीदास जी ओसवाल दिल्ली के जाने-माने हुए परम सेवाभावी थे। उस समय उपाध्याय श्री जी के प्रोस्टेट का आप्रेशन हुआ था। पिताश्री की सेवा के कारण उपाध्यायश्री जी की हमारे परिवार पर असीम कृपा रही। सन् १९८४-८५ का वर्षा-वास उपाध्याय श्री का दिल्ली में हुआ उस समय सामाजिक कार्यों के लिए पुझे राजस्थान की यात्रा करनी पड़ी। उस यात्रा में मदनगंज-किशनगढ़ पहुँचा, जहाँ पर महासती पुष्पवतीजी विराज रही थी, उनके पावन दर्शन को पाकर और उनसे विचार चर्चा कर मुझे सहज अनुभूति हुई कि महासती पुष्पवतीजी एक पहुँची हुई तत्वज्ञा साध्वी हैं।

सन् १९८७ मई महीने में पूना सन्त सम्मेलन का आयोजन हुआ। मुझे उस सम्मेलन में युवा कांग्रेस का अध्यक्ष होने के नाते पूरे सम्मेलन के समय पूना ही रहना पड़ा। साधु-सन्तों से बहुत ही निकट का परिचय रहा। सन्त सम्मेलन में श्री

एक महान् तत्वदर्शी महाभर्ता | १०३



देवेन्द्र मुनिजी को 'उपाचार्य' पद प्रदान किया गया। बहिन पुष्पवती जी म० से भी मेरा परिचय अच्छी तरह से रहा। और मुझे ज्ञात हुआ कि दीक्षा स्वर्ण जयन्ती पर अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। मैं अपनी ओर से और परिवार की ओर से श्रद्धा सुमन समर्पित कर रहा हूँ।



## योग्यता का अभिनन्दन

--अम्बालाल सिंघवी  
(यशवन्तगढ़)

सद्गुरुणी श्री पुष्पवतीजी, प्रसन्नता स्नेह और सद्भावना की अभिव्यक्ति की एक सजीव मूर्ति हैं। जब भी मैंने उनके दर्शन किये उन्हें प्रसन्नमुद्रा में पाया। उनका हृदय सरल, मुखाकृति सौम्य और कार्य प्रणाली रसमयी है, ये वे गुण हैं जिसके कारण वे समाज में, संघ में समाहत हुईं।

सद्गुरुणी श्री सोहनकुंवरजी म० वृद्ध सतियों की सेवा के कारण उदयपुर लम्बे समय तक स्थिरवास विराजी थी और मेरा उदयपुर पारिवारिक संबंध होने के नाते से यशवन्तगढ़ से उदयपुर आना जाना रहा और उदयपुर में अनेकों बार आप श्री के दर्शन किये। और आपश्री भी अनेकों बार यशवन्तगढ़ पधारी और मेरे ही मकान में विराजी जिससे मुझे बहुत ही निकट से सेवा का अवसर मिला।

आपश्री के गुणों से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ। हम सभी की गही भावना है कि आपकी कृपा दृष्टि सदा हमारे पर और हमारे संघ पर बनी रहे जिससे हम धर्म के क्षेत्र में खूब प्रगति कर सकें।



## मेरी सद्गुरुणी

—अशोक जैन, [बी० काम० उदयपुर]

जैन श्रमणी परम्परा बहुत ही प्राचीन परम्परा रही है, जहाँ पर इतिहास की पहुँच नहीं है। भगवान ऋषभदेव प्रागैतिहासिक काल में हुए हैं जो पहले प्रथम तीर्थंकर हैं उन्होंने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की थी, उसमें एक तीर्थ श्रमणी का भी था। और उसके पश्चात् जितने भी तीर्थंकर हुए उन सभी ने भी श्रमणी तीर्थ की स्थापना की। हजारों-लाखों महिलाओं ने श्रमणी धर्म स्वीकार कर जन-जन के सामने एक आदर्श उपस्थित किया।

जब हम श्रमणियों के इतिहास को पढ़ते हैं तब हमें सहज ही परिज्ञात होता है कि श्रमणी धर्म को ग्रहण करने वाली सामान्य महिलाएँ ही नहीं, विशिष्ट महिलाएँ भी श्रमण धर्म को स्वीकार कर जैन धर्म की प्रबल प्रभावना करने वाली थी। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पुरुष में मस्तिष्क प्रधान है तो नारी में हृदय प्रधान है। पुरुष में पौरुष होता है तो नारी में सहज भावनाएँ होती हैं। वे भावना के प्रवाह में बहती हैं यही कारण है कि श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियों की संख्या सदा अधिक रही है। तप आदि के क्षेत्र में भी श्रमणियाँ सन्तों से भी आगे रही हैं। आगम साहित्य के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं।

परमविदुषी साध्वीरत्न इस युग की एक सर्व श्रेष्ठ साध्वी हैं जिनका जन्म राजस्थान की पावन भूमि उदयपुर में हुआ। आपने तेरह वर्ष की लघुवय में दीक्षा ग्रहण की और निरन्तर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ती रही और अपने सद्गुणों के कारण आज वे विश्ववंच बन गई हैं।

मैंने बहुत ही छोटी उम्र में आपके दर्शन किये मेरे ज्येष्ठ बंधु उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर



मुनिजी म० उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म० के पास दीक्षित है जिनका नाम दिनेश मुनि है। सद्गुरुणी श्री पुष्पवतीजी की पावन प्रेरणा मुझे मिलती रही पर मैं स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण श्रमण धर्म ग्रहण न कर सका, पर मेरी हार्दिक भावना यही है कि वह मेरे लिए स्वर्ण का सूर्योदय होगा जिस दिन मैं श्रमण धर्म को ग्रहण करूँगा।

सद्गुरुणी पुष्पवती जी के गुणों का उत्कीर्तन मैं किन शब्दों में करूँ, उनके सौम्य मुख मुद्रा को निहारकर दर्शक श्रद्धा से नत हो जाता है, वे बहुत ही मितभाषी हैं, वे जीवन के अनमोल क्षणों का उपयोग स्वाध्याय-ध्यान-चिन्तन-मनन और धर्म-चर्चा में करती हैं। प्रमाद उनके जीवन में कहीं भी दिखलाई नहीं देता है। आपका शास्त्रीय ज्ञान गहन है। और जब आप शास्त्रीय समाधान देती हैं तो जिज्ञासु मंत्र मुग्ध हो जाते हैं।

आपका प्रभावशाली गरिमामय व्यक्तित्व सभी के लिए पथ प्रदर्शक। मैं दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे क्षणों में श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए अपने आपको धन्य अनुभव कर रहा हूँ।

□

महासती पुष्पवतीजी ने नाथद्वारा में अनेक वर्षावास किए हैं, उन वर्षावासों में मुझे सेवा करने का अवसर मिला है। मैंने महासतीजी में सबसे बड़ी विशेषता यह देखी चाहे गरीब हो, चाहे धनवान हो, चाहे स्त्री हो या पुरुष, चाहे बालक हो चाहे वृद्ध हो वे सभी से समान व्यवहार रखती हैं। इसलिए सभी की श्रद्धा आप पर है। आप जहाँ भी जाती हैं वहाँ पर आपकी चरित्र रूपी सौरभ को लेने के लिए भक्त रूपी भौरे मंडराते रहते हैं।

आपके जीवन में सर्वत्र मधुरता है। आपके मधुरिमा पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व को हमारा कौटिकोटी वन्दन और अभिनन्दन !

□

## निर्मल मन की धनी : सद्गुरुणीजी

—डालचन्दजी परमार, [उदयपुर]

महासती पुष्पवतीजी एक निर्मल मन की धनी साध्वी हैं; वे भूले-भटकों को सत्य पर लाने का अहनिश प्रयास करती हैं। भौतिकवाद के कुहरे में भूले-भटके इन्सानों को आप मानवता का पाठ पढ़ाती हैं। आप मानवता के उद्घोषक हैं। कवि के शब्दों में—

कितनों के अवलम्बन बने हो,

कितनों को भर अंक लगाया ?

स्वयं गरल पीकर कितना,

ओरों को पीयूष पिलाया ?

बनकर निर्देशक कितनों को,

तुमने भूली राह बताई ?

कितनों के तमसावृत मन में,

तुमने जीवन ज्योति जगाई ?

आप हजारों की अवलम्बन बनी और हजारों का पथ प्रदर्शन किया इसीलिए श्रद्धालुगण आप श्री के प्रति नत हैं और उन्होंने श्रद्धा से अभिभूत

निर्मल मन की धनी : सद्गुरुणीजी | १०६

## महासतीजी की सफलता

—सोहनलाल जैन, (सा०रत्न, नाथद्वारा)

मेरा मन बहुत ही प्रफुल्लित है क्योंकि दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर साध्वीरत्न पुष्पवतीजी को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। महासती पुष्पवतीजी एक तपी-तपाई आत्मा हैं, जिन्होंने ५० वर्ष तक उग्र साधना की है उस साधना में आत्मा रूपी स्वर्ण को कुन्दन बनाया है।





होकर अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का निर्णय लिया। यह हम सभी के लिए गौरव की बात है।

महासती पुष्पवतीजी सद्गुरुणीजी श्री सोहन कुंवरजी म. की सुशिष्या हैं। श्री सोहनकुंवरजी म. एक बहुत ही विलक्षण प्रतिभा की धनी थी। उनका त्याग, उनका वैराग्य और उनका प्रभाव सभी कुछ अद्भुत था। मेरे पूज्य पिता श्री सेठ नाथूलाल जी सा. परमार आचार्य अमरसिंह सम्प्रदाय के प्रमुख श्रावक थे। सद्गुरु और सद्गुरुणी के प्रति उनका जीवन पूर्ण समर्पित था। इसलिए बाल्यकाल से ही हमारा परिवार सभी सन्त-सतियों से परिचित रहा।

मैं महासती पुष्पवतीजी को ५० वर्षों से जानता हूँ जब उन्होंने दीक्षा ली तभी से हमारा परिचय रहा है। सद्गुरुणी पुष्पवतीजी में जो धीरता-गम्भीरता मैंने देखी है, वह अन्य सतियों में कम देखने को मिलती है। वे सद्गुणों के कारण अपनी प्रगति कर सकी हैं। वे जहाँ भी जाती हैं; सर्वत्र जन मानस को प्रभावित करती हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस अवसर पर मैं अपनी ओर से व परिवार की ओर से अनन्त श्रद्धा समर्पित करते हुए अत्यधिक गौरवान्वित हूँ।



## एक महान जीवन

—रोशनलालजी झगड़ावत, (उदयपुर)

किसी भी सन्त व सती जन के दिव्य व भव्य गुणों का स्मरण और उत्कीर्तन करना किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। वस्तुतः सन्त व सती वृन्द के गुणों का चिन्तन जीवन के विकास और उत्थान का साधन है। उन महापुरुषों के ध्यान से, चिन्तन से ध्याता का जीवन भी दिव्य और भव्य बन जाता है।

महासती पुष्पवतीजी का व्यक्तित्व असीम और अपरिमित है। उनके मधुरिमापूर्ण व्यक्तित्व को निहार कर दर्शक मुग्ध हुए बिना नहीं रहता। उन्होंने ज्ञान और ध्यान की साधना से, संयम और तप की आराधना से अपनी आत्मा को पावन किया है, पवित्र किया है। उनके कठोर त्याग और उग्र तप से समाज को नई चेतना, नई जागृति और नई स्फूर्ति समुत्पन्न हुई है। उनके मार्ग दर्शन से जनता को सुख-शान्ति-सन्तोष और आनन्द मिला है, और मिल रहा है। उनकी दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के मंगलमय अवसर पर मैं हार्दिक भाव से श्रद्धा सुमन समर्पित कर रहा हूँ और उनके बताये हुए मार्ग पर चलकर हम अपने जीवन को महान बनाएँ यही मंगल मनीषा करता हूँ।



## यथा नाम तथा गुण

—भंवरीलाल फुलफगर  
(घोड़नदी)

महासती पुष्पवतीजी एक प्रखर चिन्तक, प्रभावी व्याख्याता, प्रबल संगठक और विशिष्ट साधना सम्पन्न सती हैं। एक ओर आपका जीवन साधनामय रहा है। आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्त है तो दूसरी ओर समाजोत्थान की मंगलमय भावना भी आप में अठखेलियां कर रही है।

महासती पुष्पवतीजी का परिचय कई वर्ष पुराना है। मैंने एक बार आपके दर्शन किशनगढ़ में किए थे। यों नाम मैंने बहुत ही सुन रखा था। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. का सन् १९६० में घोड़नदी वर्षावास था। उस समय श्री देवेन्द्र मुनि जी से उनका परिचय मिला था। पर दर्शन करने



का अवसर किशनगढ़ में प्राप्त हुआ। आपके सरल निष्कपट स्वभाव से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ। ज्ञान होते हुए भी आप में अभिमान नहीं है।

आपका नाम पुष्प है; पुष्प की सदा यह विशेषता रही है कि वह खिलता रहता है। चाहे जो भी उसके पास जाता है वह उसे सुगंध प्रदान करता है। कभी भी उसमें से दुर्गन्ध नहीं आती वैसे ही आपका जीवन है। उसमें सौरभ ही सौरभ है। जो भी उनके पास जाता है उन्हें वे सद्गुणों की सौरभ बांटते रहते हैं।

मैंने महासतीजी के साथ ज्ञान-चर्चा भी की है उस ज्ञान-चर्चा में मैंने पाया कि महासतीजी का आगम और दार्शनिक साहित्य का ज्ञान बहुत ही गहरा है। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर बहुत ही शान्ति से प्रदान करती हैं। और उनसे समाधान

सुनकर बहुत ही प्रसन्नता हुई और मन में सात्विक गौरव भी हुआ।

सन्त सम्मेलन के धावन प्रसंग पर महासतीजी महाराष्ट्र में पधारीं। सम्मेलन के पृथं नासिक, चाकण, तलेगांव डमढेरा आदि अनेक स्थलों पर दर्शनों का सौभाग्य मिला। महासतीजी हमारी प्रार्थना को सन्मान देकर घोड़नदी भी पधारीं। और वहाँ पर कुछ दिन विराजी। महासतीजी के स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर समाज उनका अभिनन्दन कर रहा है और इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट किया जा रहा है, आशा है ग्रन्थ में उनके व्यक्तित्व की पूर्ण झलक मिलेगी।

महासतीजी शतायु हों, और ग्रन्थ सभी के लिए उपयोगी हों।

□

卐

## || गु रु णी जी, मे रा श त- श त प्र णा म ||

—राजेन्द्र कुमार मेहता; (सूरत)

महासती पुष्पवतीजी का व्यक्तित्व असीम और अपरिमित है, उनकी दुग्ध-धवल संयम साधना को निहारकर किस श्रद्धालु का सिर नत नहीं होता है। उनके मधुरिमापूर्ण व्यक्तित्व से कौन प्रभावित नहीं होता। ये ज्ञान की चलती-फिरती प्याऊ हैं जो भी उनके सम्पर्क में आता है, वे उन्मुक्त मन से ज्ञान दान प्रदान करती हैं, उनका गन्तव्य है कि ज्ञान को स्वयं सीखो और दूसरों को सिखाते रहो।

जो सीखो, किसी को सिखाते चलो।

दिए से दिए को, जलाते चलो ॥

आपका पवित्र जीवन एक प्रकाश स्तंभ की तरह है जो जन-जन को मार्गप्रदर्शन करता है। आपकी वाणी में तेज है, ओज है और उसमें चिन्तन का गाम्भीर्य है। जिधर भी आप पधारती हैं उधर श्रद्धालुओं में श्रद्धा का सागर उमड़ पड़ता है।

मैंने अनेकों बार आपकी सेवा में रहने का भी अवसर मिला। अनेक बार आपसे विचार चर्चा भी हुई, उन सभी में मैंने पाया कि आपके जीवन में सर्वत्र मधुरता है। आपकी वाणी मधुर है, आपका व्यवहार मधुर है और वार्तालाप में वह मधुरता सहज रूप से प्रगट होती है।

मैं तपोमूर्ति सद्गुरुणीजी महासती पुष्पवतीजी का अभिनन्दन करते हुए बहुत ही प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मैं चाहूँगा कि उनका हार्दिक आशीर्वाद सदा हमें मिलता रहे जिससे हम आध्यात्मिक पथ पर निरन्तर बढ़ते रहें।

□

पुष्प सूक्ति कलियां—

□ असत्य को जन जीवन में धर्म या सिद्धान्त का रूप देकर प्रतिष्ठित करना सबसे भयंकर असत्य है।

गुरुणीजी! शत-जन प्रणाम | १११



## श त - श त अ भि न न्द न

—श्रीमती अ० सौ० जानन्दीबाई (गजेन्द्रगढ़ कर्नाटक)

अन्तर्बाह्य संयोगों की मुक्ति ही आत्मा की चरम और परम उन्नति है। इस विराट विश्व में जितने भी प्राणी हैं, उन प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझते हैं सन्त और सती जन। इसी निर्मल बुद्धि के कारण सन्त और सती जन-जन के कल्याण में जुड़े रहते हैं। वे कुशल माली हैं जो मानवता का बीज सभी मानवों में बपन करते हैं। जन-जन के कल्याण हेतु स्वयं भीषण से भीषण कष्ट सहन करके भी सदा फूलों की तरह मुस्कराते रहते हैं। आज विज्ञान की कशमसाती बेला में जो यत्र-तत्र मानवता के संदर्शन होते हैं उसका सम्पूर्ण श्रेय सन्त और सती वृन्द को है। यदि वे प्रबल प्रयास नहीं करते तो आज मानव दानव से भी गया गुजरा होता वस्तुतः सन्त और सती मानव के गुणों के जन्म-दाता हैं।

महासती पुष्पवतीजी महान् हैं उनमें सती जनोचित सभी गुण विद्यमान हैं। उन्होंने राजस्थान, मध्य भारत, गुजरात और महाराष्ट्र के विभिन्न भागों में पैदल परिभ्रमण कर मानव समाज के विकास में जो योगदान दिया है, वह अपूर्व है। वे अपने मधुर स्वभाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपने ओर आकर्षित कर लेती हैं। उनके दर्शन करने से अन्तर्मन को अवर्णनीय आनन्द की उपलब्धि होती है और वार्तालाप करने से ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। ऐसी शील और मधुर स्वभाव की धनी हैं महासती पुष्पवतीजी।

सन् १९७६ में सर्व प्रथम उदयपुर में आपके दर्शन का अवसर मिला। मेरी ननद आशा जी की दीक्षा का पावन प्रसंग था। मैं सपरिवार उस दीक्षा में उपस्थित हुई प्रथम दर्शन में ही मुझे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुई। माताजी प्रभावतीजी महाराज और पुष्पवतीजी के दर्शन कर मेरे मन का कण और अणु-अणु आह्लादित हो उठा। मैं मन ही मन सोचने लगी—मेरे जीवन में भी वह दिन कब आयेगा जिस दिन मैं स्वयं संयम ग्रहण कर अपने जीवन को साधना के रंग में रंगूंगी। वह दिन धन्य होगा। पर लम्बा विहार करने की स्थिति न होने से मैं दीक्षाग्रहण नहीं कर सकती थी पर मुझे प्रसन्नता है मेरी सुपुत्री सुन्दर ने जो अपनी बुआ के दीक्षा प्रसंग को देखकर उसके अन्तर्मन में भी वैराग्य का पयोधि उछाल मारने लगा और उसने महासती पुष्पवतीजी के पास दीक्षा ग्रहण की और उनका दीक्षा के पश्चात् नाम रत्नज्योति रखा गया।

उसके पश्चात् मैं अनेक बार महासतीजी की सेवा में जोधपुर, किशनगढ़ और संगमनेर (महा.) पूना तक सेवा में रही हूँ। मैंने बहुत ही निकटता से पुष्पवतीजी को देखा है। इसलिए मैं साधिकार लिख सकती हूँ कि उनका जीवन पुष्प की तरह विकसित है। उसमें सौरभ ही सौरभ है। स्वयं कष्ट सहन करके भी सदा-दूसरों को सौरभ प्रदान करती रहती हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन पुण्य क्षणों में; मैं अपनी ओर से श्रद्धा-सुमन समर्पित करती हूँ। और यह मंगल कामना करती हूँ कि वे पूर्ण स्वस्थ रहे और खूब जिन धर्म की प्रभावना करें।



## प्रकाश पुंज

—जवाहरलाल विनायकिया

सूर्य स्वयं प्रकाशित है इसीलिए वह दूसरों को प्रकाश देता है फूल में स्वयं गंध है। तभी वह दूसरों को सौरभ प्रदान करता है। इसी तरह सन्त और सती वृन्द स्वयं प्रकाशशील होते हैं स्वयं सुरभित होते हैं इसलिए वे दूसरों को भी ज्ञान का दिव्य प्रकाश व संयम की सुमधुर सौरभ प्रदान करते हैं।

सद्गुरुणी महासती पुष्पवतीजी के जीवन की यह विशेषता है कि उन्होंने स्वयं ने अहिंसा, संयम और तप की ऊँची साधना की है। इसीलिए वे संसार को भी समता, नम्रता, स्नेह और सद्भावना का पाठ पढ़ाती हैं। उनका विचार समन्वित आचार और आचार समन्वित विचार जन-जन का आक-

र्षण केन्द्र है। चारों ओर उनकी विद्वता की धाक है तो उनके उज्ज्वल चरित्र का समादर है। श्रद्धालु आपको अपना मार्ग दर्शक मानते हैं।

आपने अहंता और ममता प्रगाढ़ के बन्धनों को तोड़ दिया है त्याग-तप और वैराग्य की अमर ज्योति आपमें जगमगा रही है। और अद्भुत आकर्षण शक्ति है आपमें।

इस पावन प्रसंग पर मैं उस श्रद्धा के प्रकाश पुंज के चरणों में अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करते हुए अपने आपको धन्य अनुभव कर रहा हूँ।

□

## संकल्प के धनी

—केसरीमल मोहनलाल साकरिया, कोशबा

संकल्प और विकल्प ये दो शब्द हैं। पर दोनों में बड़ा अन्तर है। संकल्प मानव को उत्थान की ओर ले जाता है और विकल्प पतन की ओर। सामान्य व्यक्ति विकल्प के भंवर जाल में फँस जाता है जिससे उनके मन में असमाधि बढ़ती है। विकल्प का परित्याग कर सन्त संकल्प शक्ति से समाधि की ओर अपने कदम बढ़ाते हैं। जिससे उनके जीवन में आनन्द का महासागर अठखेलियाँ करता है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुणीजी श्री पुष्पवतीजी इस युग की एक महान साधिका हैं वे अपने संकल्प शक्ति से भोग को छोड़कर योग की ओर बढ़ी और आज एक अध्यात्मयोगिनी बन गईं।

आज भी हजारों-हजार साधक उनके पवित्र जीवन से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। मैं भी आपके सम्पर्क में आया। जब आप राजस्थान से विहार कर गुजरात में पधारी तब मैंने तीन-चार दिन तक विहार में आपकी सेवा की। आप हमारे यहाँ पधारी उस निकट परिचय में मुझे आपके जीवन से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे इस पावन प्रसंग पर श्रद्धा-सुमन समर्पित करने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरी यही हार्दिक कामना है कि महासतीजी का जीवन हमें सदा-सर्वदा प्रेरणा देते रहे।

□

### पुष्प-भूक्ति कलियां

□ अहिंसा चरित्र का एक अंग है। साधक के चरित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों को बराबर का स्थान दिया गया है।

संकल्प के धनी | ११३



## प्रेरणा स्रोत

—खुमानसिंह कागरेचा

अध्यात्म जीवन के अनासक्ति, संयम और त्याग ये तीन अंग हैं। जिस साधक के जीवन में ये तीनों धर्म मनसा, वाचा और कायेण मूर्तरूप ग्रहण करता है वह संतपुरुष कहलाता है। सन्त पुरुष ही समाज और राष्ट्र के लिए आदर्श और प्रेरणा स्रोत होते हैं।

साध्वीरत्न महासती श्री पुष्पवतीजी एक ऐसी ही अद्भुत अध्यात्मयोगिणी सती हैं जिनकी अध्यात्म साधना से भौतिक भक्ति के युग में हजारों व्यक्तियों में एक जीवन ज्योति समुत्पन्न की है। वे स्थानक-वासी समाज की एक तपस्वीनी प्रतिभाशाली साध्वी हैं। साथ ही धुरन्धर विद्वान और परम चिन्तनशीला साध्वी हैं। वे अपनी संयम, साधना, त्याग और वैराग्य, ज्ञान और पौरुष के बल पर महान बनी हैं। उन जैसा तेजस्वी व्यक्तित्व और एकनिष्ठ साधक किसी भी समाज और राष्ट्र में वर्षों के पश्चात हुआ करते हैं और प्रसुप्त हुए समाज राष्ट्र और जन-चेतना को अपने जाज्वल्यमान प्रदीप्त एवं ओजपूर्ण

व्यक्तित्व और मधुरवाणी से झकझोर कर सजग और सावधान करते हैं।

महासती श्री पुष्पवतीजी इसी प्रकार की तपो तपाई साध्वी हैं। उनके विचार उदार हैं और आचार पावन और पवित्र हैं। उनकी वाणी मधुर और प्रिय हैं। उन्होंने स्वयं ज्ञान की साधना की और दूसरों को खुलकर ज्ञान का दान दिया। धर्म दर्शन, व्याकरण, न्याय, आगम के आप प्रकाण्ड पण्डित हैं। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश जैसी प्राचीन भाषाओं के भी विद्वान हैं। आपकी भाषण कला सभी को मंत्र मुग्ध करने वाली है। आप सर्वगुण सम्पन्न हैं। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर हमारी यही मंगल कामना है कि आपका सानिध्य और आपकी छत्र-छाया हमारे पर सदा बनी रहे।

□

## विलक्षण व्यक्तित्व की धनी: महासती श्री पुष्पवतीजी

—हरकचन्द पालरेचा, (अध्यक्ष: श्री वर्धमान जैन स्वाध्याय संघ-समदड़ी)

नीले आकाश के आंगन में असंख्य तारिकाएँ प्रतिदिन दृष्टिगोचर होती हैं। उन सभी में अधिकांश मन्द-मन्द टिमटिमाती रहती हैं, जबकि कतिपय तारिकाएँ अपनी विशिष्ट आभा से दर्शकगणों को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।

भारतवर्ष की पावन पुण्य धरा अनादि-अनन्त काल से धर्म प्रधान तपोभूमि रही है। श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक महापुरुषों का यहाँ पर प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, संयम, क्षमा आदि का उद्घोष किया। उनकी इस तपःपूत वाणी को श्रवण कर अनेक नर-नारियों ने अपने को मोह रूपी निद्रा से जागृत किया और संयम-मार्ग की ओर अपने पद चिन्हों को गतिशील किया। उन्होंने जन-जन के अन्तर्हृदय में वीतराग वाणी को पहुँचाया। महापुरुषों के साधना-मय चरण चिन्ह साधकों के पथ के प्रदीप बनकर मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। उनकी पावन ज्योति उस पथ पर बढ़ने वाले हर राही के लिए एक प्रेरणा, एक सम्बल बनकर सदा/सर्वदा आगे से आगे बढ़ने का साहस भरती रहती है। महापुरुषों के चरित्र-ग्रन्थों को पढ़ने का यहीं तो शुभ प्रतिफल है। उनके जीवन



चरित्र वस्तुतः समाज और राष्ट्र के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं। जिनसे आवाल-वृद्ध सात्विक प्रेरणा प्राप्तकर सद्धर्म की आराधना में रुचिवान बनकर प्रतिपल/प्रतिक्षण आगे बढ़ते रहते हैं। सत्य और शील की साधना से उनका जीवन अमर हो जाता है। उनके दिव्य जीवन की प्रेरणाओं से सम्पूर्ण मानवता कृतार्थ हो जाती है।

महापुरुषों अथवा महासतियों के जीवन-चरित्र की यह विशेषता रही है कि उनके उपदेशों को श्रवण कर सम्पूर्ण मानव जाति का मस्तक गौरव से ऊँचा हो उठता है। विनय व श्रद्धा से झुक जाता है। उनके शौर्य एवं साहस की प्रेरणा रूपी धमनियों में जोश, उत्साह, कर्तव्यनिष्ठा एवं सदाचार का रक्त प्रवाहित होने लगता है।

उन्हीं ज्योतिर्धर महापुरुषों के पाद-पद्मों में असंख्य नर-नारियों के सिर श्रद्धा से झुक जाते हैं जो अपने संयमी जीवन को सद्गुणों से मण्डित कर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र्य रूप रत्नत्रय की आराधना/साधना में अपने जीवन को पूर्ण समर्पित कर देते हैं। इसी की पावन श्रृंखला में परम विदुषी महासती श्री पुष्पवतीजी म० का नाम स्मृति पटल पर उभर जाता है। महासतीजी स्थानकवासी जैन समाज की वाटिका की एक सुरभित पुष्प है, जो स्वयं महक कर आसपास के वातावरण को भी सुवासित कर रही है। सेवा, त्याग, तप और सहिष्णुता में आपके जीवन की सौरभ समायी हुई है। जैसे— एक दीपक अपनी देह के कण-कण को जला कर आलोक प्रदान करता है, उसी प्रकार महासतीजी ने अपने जीवन का प्रत्येक अणु समाज को समर्पित कर दिया, अज्ञान रूपी अंधकार को दूर कर ज्ञान रूपी ज्योति जलाई। एक अंग्रेज कवि ने कहा है—

“Humility and Love are the essence of true religion.”—महासतीजी का जीवन भी नम्रता, विनय और प्रेम से परिपूर्ण है। आपके व्यक्तित्व और कृतित्व में हिमाचल की महानता, आकाश की अनन्तता और सागर की गम्भीरता परिलक्षित होती है। मुख-मण्डल पर तप-संयम की दीप्तिमान आभा बिखरी हुई है तथा वाणी में अनोखा ओज है। आप उच्चकोटि की महान् साध्वी हैं। आपकी वाणी में हीरा-सी चमक, मोती-सी दमक और स्फटिक मणी जैसी पारदर्शिता है। आपकी व्याख्यान शैली ऐसी है कि एक ओर वाणी में अद्वितीय भक्ति-सुधा रस लहराता है तो दूसरी ओर जीवन को उद्वेलित करने वाली जोशीली फटकार व ललकार है। आपका जन्म मेवाड़ प्रान्त की पावन धरा पर हुआ जो देश की स्वतंत्रता और गौरव की रक्षा के लिए सैकड़ों वर्षों तक निरन्तर बलिदान करता रहा है। जहाँ के वीर यद्धोओं ने अपने रक्त से मातृभूमि को सींचा और उसकी रक्षा के लिए वीर रमणियों ने और बालकों ने भी अपने प्राणों की आहूतियाँ दे दी। जन्मभूमि के लिए ही नहीं किन्तु धर्म के लिए भी जिन्होंने हँसते-हँसते बलिदान दिया है। उसी वीर बसुन्धरा पर जन्म लेकर आपने जननी और जन्म भूमि के नाम को रोशन किया जैसे—सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता, समुद्र का गाम्भीर्य, कस्तूरी की सुगन्ध प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आपके व्यक्तित्व को निखारने की आवश्यकता नहीं, वह तो स्वयं निखरित है।

साध्वीरत्न, विद्वद्धर्या महासती श्री पुष्पवतीजी म० सा० दिव्य जीवन की श्रेष्ठतम गुणों का अगाध महासागर है। उनके विशिष्ट सद्गुणों के समुद्र को चन्द्र शब्दों के बिन्दुओं से बांधना सर्वथा असम्भव है। आपके जीवन में सरलता और विनम्रता की निर्मल धारा सतत प्रवाहित होती रहती है। आप सदा हँसमुख और प्रसन्न बनी रहती हैं। आपकी मुख मुद्रा सूर्यमण्डल के समान तेजस्वी, चन्द्रमण्डल

विलक्षण व्यक्तित्व की धनी : महासती श्री पुष्पवतीजी म० | ११५



की तरह शीतल और सौम्य है। आपश्री की वाणी में अनोखा और अनूठा आकर्षण है, जो श्रोताओं के मन को मोह लेता है। आपकी वाणी में मृदुता के साथ साथ मधुरता एवं सुन्दरता का भी समन्वय है।

यह जानकर अत्यन्त आह्लाद की अनुभूति हो रही है कि आप अपने संयमी जीवन की अर्धशती पूर्ण करने जा रही हैं, इस उपलक्ष में आपश्री के सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन होने जा रहा है। इस मंगल बेला पर अनन्त आस्था के सहस्रों पुष्प आपके श्री चरणों में अर्पित है। आप दीर्घजीवी होकर वीतराग शासन की गौरव-गरिमा में अभिवृद्धि करती रहें तथा श्रमणसंघ की शोभा में चार-चांद लगायें, यही आन्तरिक अभिलाषा और प्रशस्त मनीषा है! शासन देव के चरणों में यही प्रार्थना। अभ्यर्थना है—

तुम जियो हजारों साल !  
हर बरस के दिन हों पचास हजार !!



## श्रद्धा-सुमन

-शेरुसिंह सिशोदिया  
(रिछावड़ राजस्थान)

महासती पुष्पवतीजी राजस्थान की जाज्वल्यमान ज्योति हैं; मैं किन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ, मैं महासतीजी की सेवा में उदयपुर से गुजरात और महाराष्ट्र में पाद विहार में सेवा में रहने का अवसर मिला। इस लम्बी विहार यात्रा में मुझे बहुत ही निकट से महासती जी का सानिध्य प्राप्त हुआ। मैंने इस सानिध्य में यह पाया कि महासती जी का हृदय मक्खन से भी अधिक

मुलायम है। वे जो सेवा में रहते हैं उनके साथ बहुत ही मधुरता का व्यवहार करती हैं जिससे साथ में रहने वाले को कष्ट अनुभव नहीं होता।

मुझे यह जानकर बहुत ही प्रसन्नता हुई कि महासती जी म० ने दीक्षा के १० बसन्त यशस्वी रूप से सम्पन्न किए हैं मेरी यही हादिक भावना है कि वे सदा स्वस्थ रहकर खूब विचरण करें। और धर्म की प्रभावना करें।



पुष्प सूक्ति कलियां

□ प्रेम का प्रसाद वितरण करने में न तो कोई पैसा लगता है और न ही कोई साधन। प्रेम का प्रसाद वाणी से, शरीर-सेवा से, भावना से, विचार से, करुणा, दया, सहानुभूति, संवेदना आदि किसी भी रूप में संसार भर में वितरित किया जा सकता है।

□ प्रेम के अमृत में न तो धन लगता है और न उसका दान करने में कुछ व्यय ही होता है। प्रेम आत्मा का सहज प्रकाश है, उसे किसी से पाने या कहीं से लाने की आवश्यकता नहीं होती।



## ख्याता सर्वत्र लोकेऽस्मिन्

-पं. अमृतलाल जैन (अहमदनगर)

श्री नाभिसूनुं प्रथमं जितेन्द्रं,  
नमामि सेन्द्राचितपादपीठम् ।  
यत्पादसेवारत चित्त वृत्तिर्नरोऽ,  
स्तबाधं समुपैति मोक्षम् ॥१॥

श्री पुष्पवत्या जनुषा पवित्रं,  
यथोदयाख्यं पुरमस्ति धन्यम् ।  
तथा न किञ्चित् पुरमन्यदस्ति,  
तत्तुल्य पुण्यं निखिलेऽपि लोके ॥२॥  
या बाल्यकालेऽपि समं सखीभिः,  
साध्वी समाजं समुपेत्य भक्त्या ।  
तस्योपदेशामृतयानलीना  
न बाञ्छति स्म स्वगृहं प्रयानुम् ॥३॥

आहूय तास्ताः स्ववयः समानाः,  
सायं वयस्या निखिला दिनान्ते ।  
चिक्रीड साध्वी कलितां तपस्या  
मुद्दिश्य नित्यं सममेव तानिः ॥४॥

जन्मान्तर-प्राप्त-विराग भावाद्,  
या यौवनात् प्रागपि दीक्षिताऽभूत् ।  
सत्सङ्गमो भव्य जनान् करोति,  
समुत्सुकान् मुक्तिमवाप्तुमाशु ॥५॥

तां दीक्षितां पुष्पवतीं निरीक्ष्य,  
दीक्षोत्सुकोऽभूदनुजोऽपि तस्याः ।  
तत्सोऽपि जग्राह जितेन्द्र दीक्षां  
'देवेन्द्र'—नाम्नाऽवनविश्रुतोऽभूत् ॥६॥  
शास्त्राणि नाना समधीत्य सोऽयं,  
गुरुप्रसादाद् विबुधो बभूव ।  
ग्रन्थाननेकान् विरचय्य लेखानु,  
लेखनी यांश्च विलिख्य सद्यः ॥७॥

श्री नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव को—जिनका पादपीठ भी देवों के द्वारा पूजा जाता था—भक्तिपूर्वक नमन करता हूँ। जिनके चरणों की सेवा में मन लगाने वाला मानव समाज निर्बाध मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१॥

पूण्या महासती पुष्पवती जी म० सा० के जन्म से पवित्र जैसा उदयपुर धन्य है। वैसा पुण्यशाली अन्य कोई पुर सारे संसार में नहीं है ॥ २ ॥

जो महासती पुष्पवतीजी म० सा० अपने बचपन में भी अपनी सहेलियों के साथ साध्वियों के पास जाकर भक्तिपूर्वक उनके दर्शन करती थी और उनके उपदेशामृत के पान करने में ऐसी लीन हो जाती थी कि उन्हें अपने घर जाने तक की भी इच्छा नहीं होती थी ॥ ३ ॥

जो सायंकाल अपनी हम उम्र समस्त सहेलियों को बुलाकर दिन के समाप्त होते ही उनके साथ साध्वियों की तपस्या को लक्ष्य बनाकर प्रतिदिन खेला करती थीं। खेल का मुख्य उद्देश्य था महासतियों की तपस्या का अभिनय करना ॥ ४ ॥

पिछले जन्म के वैराग्य के संस्कार से जिन्होंने युवावस्था के आने से पहले ही भागवती दीक्षा ले ली। सच तो यह है कि सन्तों का समागम भव्यात्माओं को शीघ्र ही मोक्ष पाने के लिए उत्कण्ठित कर देता है ॥ ५ ॥

पुष्पवतीजी को दीक्षित देखकर उनके छोटे भाई भी दीक्षा लेने के लिये उत्सुक हो गये। इसलिए उन्होंने भी दीक्षा ग्रहण कर ली और उनका देवेन्द्र कुमार जी यह नाम शीघ्र ही यत्र-तत्र सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया ॥ ६ ॥

गुरु (उपाध्याय पुष्कर मुनि म० सा०) की कृपा से त्रिविध शास्त्रों का अध्ययन करके वे विद्वान हो गये, और अनेक ग्रन्थों का प्रणयन एवं उल्लेखनीय लेखों को लिखकर उन्होंने बहुत ख्याति प्राप्ति की ॥ ७ ॥





यशोभिरामः स परां प्रपेदे  
 श्रेष्ठामुपाचार्यप्रतिष्ठां ।  
 न योग्यता पुष्पवतां मुनीनां,  
 क्वचिद् कदाचिद् विफलत्वमेति ॥८॥  
 सुतां सुतञ्चापि तथा ऽ वलोक्य,  
 मातापि दीक्षां शिवदां बभार ।  
 तपः प्रभावात् वपुःप्रभातः  
 प्रभावतीति विदिता पृथिव्याम् ॥९॥  
 गुरोर्मुखात् सम्यगधीत्य तानि  
 शास्त्राणि यस्या भतिरुज्ज्वला ऽ भूत् ।  
 न कार्यं सिद्धिं भञ्जते कथञ्चित्  
 सत्कारणेष्वत्र मनाग् विलम्बम् ॥१०॥  
 यस्या उपाध्याय पद प्रतिष्ठो,  
 विद्यागुरुः 'पुष्कर'—नामधेयः ।  
 शुम्भद् यशाः श्लाघ्यगुणोऽ जनिष्ट,  
 विद्या निधिर्ध्यानधनोऽ स्तकामः ॥११॥  
 अपास्तनिःशेषपरिग्रहा या,  
 रत्नत्रयाभूषणभूषितश्रीः ।  
 निराकृतात्मीय जनाभिषङ्गा,  
 प्रशस्त चर्या निरता रराज ॥१२॥

महासती पुष्पवती क्षमाया,  
 भूर्तिः पवित्रा प्रकटप्रभावा ।  
 घोरोपसर्गेष्वपि यन्मनो नो,  
 मुमोच धैर्यं न च निर्भयत्वम् ॥१३॥

वाणीं यदीयां मधुरां निपीय,  
 दिव्यां सुधां नेच्छति को ऽ पि भव्यः ।  
 इत्थं समाकर्ण्य सविस्मयं के  
 चक्रुः प्रशंसां विबुधा न तस्याः ॥१४॥

सम्पादितं वा लिखितं समस्तं,  
 साहित्यमस्या विदुषां वरेण्याः ।  
 हृदा ऽ भिनन्दन्ति तथा पठन्ति,  
 ये ऽ न्ये च लोका मुदमाप्नुवन्ति ॥१५॥

इसके उपरान्त उन यशस्वी मुनि देवेन्द्र कुमार जी ने श्रेष्ठ प्रतिष्ठित 'उपाचार्य' का पद प्राप्त किया । पुष्पवान् मुनियों की योग्यता कभी कहीं भी विफल नहीं होती ॥ ८ ॥

पुत्र और पुत्री को दीक्षित देखकर उनकी मां ने भी मुक्तिदायिनी भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली । तपस्या के प्रभाव से उनके देह की प्रभा अद्भुत हो गई । इसी कारण से उनका 'प्रभावती' नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया ॥ ९ ॥

गुरुमुख से प्रसिद्ध-प्रसिद्ध शास्त्रों को पढ़ कर उनकी बुद्धि में निखार आ गया । अच्छे साधनों के मिलने पर कार्य की सिद्धि में तनिक-सा भी विलम्ब नहीं होता ॥ १० ॥

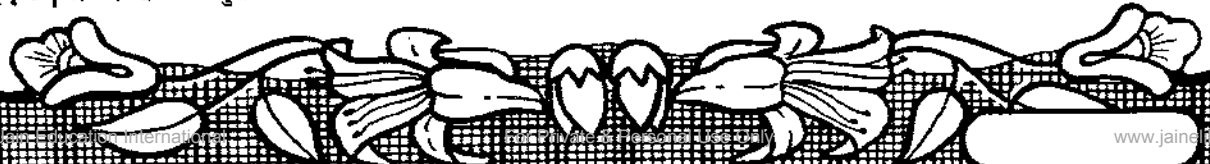
उनके गुरु उपाध्याय मुनि पुष्कर जी म० सा० हैं, जो यशस्वी हैं; जिनके गुण श्लाघनीय हैं; जो समस्त विद्याओं के निधि हैं; जो ध्यान के धनी हैं और हैं बाल ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

महासती पुष्पवतीजी म० सा० ने समस्त परिग्रह का परित्याग कर दिया था पर वे तीन रत्नों (सम्यग् दर्शन आदि) के आभूषण से विभूषित थीं । आत्मीय जनों के सम्पर्क को छोड़ कर वे प्रशस्तचर्या के परिपालन में तत्पर रहने लगी और इसी से उनकी शोभा निराली हो गई ॥ १२ ॥

महासती पुष्पवतीजी म० क्षमा की पवित्र मूर्ति बन गई । उनका प्रभाव सर्वत्र प्रकट होने लगा । घोर-से-घोर उपसर्गों के आने पर भी उनके मन ने कभी धैर्य नहीं छोड़ा और न कभी निर्भीकता का भी परित्याग किया ॥ १३ ॥

प्रवचन-सभाओं में जिनके मधुर वचनमृत का पान करके किसी भी भव्य पुरुष ने स्वर्ग के अमृत को पीने की चाह नहीं की—यह सुन कर बड़े-बड़े विद्वान चकित होकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे ॥ १४ ॥

उनके द्वारा सम्पादित एवं लिखित समस्त साहित्य का विभिन्न विद्वान हृदय से अभिनन्दन करते हैं तथा जो लोग पढ़ते हैं, वे प्रसन्नता का अनुभव करते ॥ १५ ॥



यथा लता पुष्पवती समन्तात्,  
ससौरभं सन्तनुते नभो ऽ पि ।  
तथा सती पुष्पवती स्वदीप्त्या  
ध्वस्तान्धकारान् फुल्लते प्रदेशान् ॥१६॥  
यत्रैव सा पुष्पवतीति नाम्नी,  
साध्वी विहारं तनुते ऽ त्र देशे ।  
तत्रत्य लोकः प्रतिबोधितः सन्,  
मद्यादिकं मुञ्चति जीवनान्तम् ॥१७॥  
शिष्याः प्रशिष्याश्च सदा यदीया,  
विश्वम्भरा विश्वुतनामधेयाः ।  
सर्वत्र धर्माभूतवर्षणेन,  
तान् भव्यजीवान् प्रतिबोधयन्ति ॥१८॥  
यस्यः पदाम्भोजरजः पवित्रो,  
मध्यप्रदेशो ऽ पि समर्चनीयः ।  
तथैव जातो ऽ त्र मरुप्रदेशः,  
स मेद पाटो ऽ पि च तीर्थकल्पः ॥१९॥  
एवं महाराष्ट्र मितिप्रदेशः,  
स गुर्जराख्यो ऽ पि च पुष्पवत्याः ।  
विहारतः प्राप्तपवित्रभावौ,  
चिराय जातौ भुवनप्रसिद्धौ ॥२०॥  
आरभ्य दीक्षा दिवसाद् यथा ऽ स्या,  
निरन्तरायं चलिता पवित्रा ।  
या साधना सा ऽ स्तु सदा तथैव,  
मनो ऽ भिलाषी मम वर्तते ऽ यम् ॥२१॥  
दीक्षा स्वर्णजयन्ती यस्याः,  
सत्याः समस्ति सा धन्या ।  
पूज्या पुष्पवतीति,  
ख्याता सर्वत्र लोकेऽस्मिन् ॥२२॥

जैसे विकसित पुष्पों से युक्त लता समस्त आकाश को भी सुगन्धित कर देती है वैसे ही पू० पुष्पवती जी म० सा० अपने ज्ञान की दीप्ति से सभी प्रदेशों को अज्ञानान्धकार से मुक्त कर देती हैं ॥ १६ ॥

पुष्पवती जी म० सा० इस देश में जहाँ भी विहार करती हैं, वहाँ के लोग उनके उपदेश से प्रभावित होकर मदिरा आदि का सदा के लिए त्याग कर देते हैं ॥ १७ ॥

जिनकी शिष्याएँ एवं प्रशिष्याएँ—जिनका सर्वत्र नाम है—सभी जगह धर्माभूत की वृष्टि करके भव्य जीवों को प्रति बोध दे रही हैं—मोह निद्रा से जगा रही हैं ॥ १८ ॥

जिनके चरण कमलों की धूलि से मध्य प्रदेश भी पूज्यनीय बन गया है; इसी तरह मारवाड़ भी सम्मान्य हो गया है और मेवाड़ तो तीर्थस्थान जैसा प्रतीत होने लगा है ॥ १९ ॥

इसी तरह महाराष्ट्र और गुजरात प्रदेश भी पूज्य पुष्पवती म० सा० के विहार से पवित्र होकर हमेशा के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये हैं ॥ २० ॥

दीक्षा के दिन से लेकर इन साध्वी जी की जो पवित्र साधना अभी तक निर्विघ्न चलती आ रही है, वह आगे भी सदा ऐसी ही बनी रहे—यह मेरी हादिक अभिलाषा है ॥ २१ ॥

जिनकी दीक्षा की यह स्वर्ण जयन्ती मनाई जा रही है, समस्त विश्व में विख्यात वे पूज्य पुष्पवतीजी महासती धन्य हैं ॥ २२ ॥



❖ पुष्प सूक्ति कलियाँ..... ❖  
❖ वस्तुतः दया का काम लड़खड़ाते पैरों को नई शक्ति प्रदान ❖  
❖ करना है, निराश हृदय में जागृति की नई प्रेरणा देना है, गिरे हुए को ❖  
❖ उठने की सामर्थ्य देना है । ❖



## हृदयोद्गाराः

—पं रमाशंकरजी शास्त्री (अजमेर राजस्थान)

पावनीं दीक्षास्वर्णजयन्तीमुपलक्ष्य परमविदुष्याः साध्वीरत्नस्य श्रीमत्याः पुष्पवत्याः शुभाय श्रीमते-

ऽभिनन्दनाय पद्याञ्जलेः समर्पणम् ।

संसारजीवजगतः परमं हितेच्छुं,  
मोक्षेच्छुकं प्रकृतिहेतुजनेविरक्तम् ।  
ज्ञानात्मदेहविषये हृतसंशयं तं  
वन्दे गुणातिशयितं भुवि वर्द्धमानम् ॥

पद्याञ्जलेः प्रारम्भः

आसं कियानहमहो दयया विहीनः,  
सामान्यजैनजनतोऽपि विवेकशून्यः ।  
बालो हठीव यदमात्रविचारधीरः,  
प्राप्तोऽभवं प्रथममेव विशेषमूर्तिम् ॥१॥

सामान्य जैन जन से भी विवेकशून्य मैं कितना दया से हीन था, अर्थात् कठोर था । केवल व्याकरण के विचार में साहसी आग्रही बालक के समान सर्व-प्रथम मैं एक अनोखी मूर्ति से मिला ।१।

दृष्टवैव मे हृदयमाचकितं विभूत्या,  
मूर्त्तेशेषवचने परितोषमाप्तः ।  
जिज्ञासया किमपि धैर्यमवाप्य चित्ते,  
मुग्धः सदा हि बहुशो लपनाभिलाषः ॥२॥

देखकर ही मेरा हृदय विभूति से विस्मित हो उठा तब उस मूर्ति के सब कहने से ढाढस प्राप्त कर सका, हृदय में जानने की इच्छा से साहस बटोर कर कहने लगा क्योंकि बेहोश अधिकतर बकवास किया करते हैं ।२।

तद्दानहं किमपि तां प्रति नाऽभ्यवोचम्,  
तस्यां स्थितावपि तु सा सहसाऽप्यवोचत् ।  
ज्ञातं मया भवतु यज्जगती तलेऽस्मिन्,  
सिद्ध्यै श्रमः फलति तद्वचनं न वाचा ॥३॥

बकवासी रहने पर भी मैं उस मूर्ति से कुछ भी कह न सका, ऐसी हालत में उस मूर्ति ने एक साथ कहा कि मैं सब कुछ समझ गई, जगत् में जो होता है होता रहे, किन्तु सफलता के लिये श्रम करना

होता है, केवल कहने से कुछ नहीं होता ।३।

आसीदसौ विजयमूर्त्तिरपीह नान्या,  
साधुत्तमा भगवती भुवनेषु शोभा ।  
मातैव वा गुरुरियं किमपीह वाच्या,  
सा शोभना शुभमतिर्मम सोहनैषा ॥४॥

यह वही विजयमूर्ति थी और कोई दूसरी नहीं थी जो त्रिलोकी में सर्वश्रेष्ठ साध्वीरत्न भगवती थी यहाँ कुछ भी कहनी चाहिये, मेरे लिये तो यह गुरु थी अथवा माता ही थी, मेरी कल्याणकारिणी शोभन-कुमारी यही वह सोहनकुंवर थी ॥४॥

देहाबला व्रतवती सकलागमश्रीः,  
तेजस्विनी मुनिगणेन समाहृतासौ ।  
आसीदियं कृतिगुरुर्जगदेक पूज्या,  
तस्या अहो विमल पुष्पवती सतीयम् ॥५॥

शरीर से निर्बल ब्रह्मचर्यादिव्रतों की धारणकर्त्री सम्पूर्ण आगमों की ज्ञात्री तेजस्विनी सती सोहन-कुंवरजी महाराज मुनियों के द्वारा भी आदर की पात्र थीं, यह निर्माण में दक्ष, संसार भर की पूज्य महासती थी, उनकी ही यह स्वच्छ पुष्पवती सती हैं ।५।

सत्यं वदामि भवतां पुरतः समस्तान्,  
ज्ञातुं गुणान् न च गुणी कथमग्रणीर्वा ।  
वक्तुं भवेद्यमथवा सकलागमानाम्,  
ज्ञाताऽपि किं पुनरसौ वदितुं प्रभुश्चेत् ॥६॥

आपके सामने मैं सच कहता हूँ कि सभी गुणों का जानकार नहीं हूँ गुणों के जानकारों का अनुभा होना तो दूर की बात है या सभी आगमों का जान कार भी क्या गुणों के वर्णन में समर्थ हो सकता है ? अर्थात् गुणों के ज्ञाता सब नहीं हो सकते । इसलिए मैं गुणों का सही वर्णन का अधिकारी नहीं हूँ तथापि गुणवर्णन में प्रसक्त हूँ—यह मेरी सूखता ही है ।६।



संसारदृष्टिरथवा भवभाग्यवादी,  
स्थामेव वा जगति कोऽपि कथं वदेयम् ।  
प्राणीभवन्नयमहो रचनां सुरूपाम्,  
कर्तुं प्रभुभवितुमर्हति नात्र शक्तिः ॥७॥

मैं जगत् में दुनियावादी या भाग्यवान हूँ यह मैं कैसे कह सकता हूँ ? मनुष्य होकर ही यह मैं अनुकूल रचना करने के लिए समर्थ हो सकूँ ऐसी मुझमें कोई सामर्थ्य भी तो नहीं है ॥७॥

आज्ञेयमन्नभवत्तां रचनाविशेषम्,  
काव्यं भवेद् रुचिकरं विदुषां मनोजम् ।  
कुर्षामहं रचयितुं हृतमानसशीः,  
मन्दः कविः कथमहो रचयेत् सुकाव्यम् ॥८॥

पूज्यों का यह आदेश कि विद्वत्प्रिय सुन्दर रचना विशेष काव्य हो, तो फिर मैं हृदय की उमंगों का उदास भूखं कवि सुकाव्य को कैसे बनाऊँ ? यह मेरे सामने एक समस्या है—हो सकता है कि आदेश ही काव्य बनादे—यह व्यङ्ग्य है ॥८॥

आशेयमस्ति हृदये कृमिरत्र तुच्छः,  
पुष्पाश्रयो भवति भूषणमेव हारे ।  
तद्वन्ममापि गतिरस्तु सतीकथायाः,  
सङ्गेन केन न भुवने पतिताः प्लवन्ते ॥९॥

हृदय में एक यह आशा हो सकती है कि इस दुनियाँ में तुच्छ कृमि पुष्प के आश्रय से हार में भूषण ही हो जाता है, उसी के मुआफिक सतीजी की कथा से मेरी भी हालत कुछ बन जाये । क्योंकि संसार में सहारा पाकर गिरे हुए भी तर जाते हैं ॥९॥

ख्याते कुले बरडियागदिते यशस्वी,  
सिंहान्त जीवन पदाद्याभिधानको ऽभूत् ।  
तस्यैव वंशविभवा सुषमाति सौम्या,  
प्रेमेयमेव गृहिणी समसूत पुत्रीम् ॥१०॥

बरडिया कहे जाने वाले प्रसिद्ध वंश में एक कीर्तिमन्त श्रीमन्त जीवन्सिंह हुए, उनकी परम सुन्दरी कुलीन प्रेमवती धर्मपत्नी ने एक पुत्री को जन्म दिया ॥१०॥

पुत्रीयमेव] समये समवाप्य शिष्टिम्,  
बाल्ये चतुर्वंशमये वयसि प्रकृष्टम् ।  
धृत्रा व्रतं जानितमृत्युहरं पुनाता,  
नाम्नाथ पुष्पवतिका कथिता ऽ वनौ सा ॥११॥

इसी पुत्री ने समय पर आज्ञा प्राप्त कर चौदह-वर्ष के बाल्य आयुष्य में जन्म और मृत्यु के हरण करने वाले व्रत को धारण कर पवित्र हुई सती इस दुनियाँ में पुष्पवती के नाम से कही गई ।

आसीद्वियं कुशलबुद्धिं सुरूपधीरा,  
विद्यातुराग निरताध्यवसायशीला ।  
तस्मात्सदैव समये धृतसूत्रवृत्तिः,  
शब्दानुशासनविधौ पुरय प्रवीणा ॥१२॥

यह अति कुशल बुद्धि और अपने में साहसी विद्याप्रेम में निमग्न चिन्तनशील होने के कारण सदा ही उस समय व्याकरण के शासन विधान में सूत्र और वृत्तियों की उपस्थिति के कारण अत्यधिक निष्णात थी ॥१२॥

धारा प्रवाह सुरगीरस शोभिताभा,  
सैषा सती कतिपयेषु दिनेषु यावत् ।  
साहित्य शाब्दिक धरातलयो विर्भातम्,  
ज्ञानं दधार हृदये विमले स्वकीये ॥१३॥

यही वह सती कुछ ही दिनों के भीतर धारा-प्रवाह संस्कृत के रस से जगमगा उठी और अपने स्वच्छ हृदय में साहित्य और व्याकरण के रहस्यों का देदीप्यमान ज्ञान धारण किया ॥१३॥

विद्यावधानसमये स्मृति जागरूका,  
सूत्रैः सदा विहितसिद्धिरियं पदानाम् ।  
ज्ञात्री श्रमेण बहुधा कठिनस्थलानाम्,  
सिद्धि प्रकार मपि सा सहसाध्यगच्छत् ॥१४॥

पढ़ने के समय सतीजी की स्मरण शक्ति इतनी तेज थी कि सूत्रों के द्वारा हमेशा शब्द-सिद्धि कर लिया करती थी । अक्सर कठिन स्थलों की श्रम से सिद्धि जान लेती थी । जिसमें सिद्धि-प्रकार योहीं अवगत था ॥१४॥



आसीदियं प्रखर बुद्धिधरा सुशीला,  
वैदुष्यमूर्तिरिव शारद चन्द्र कान्तिः ।  
नीतो विवेक विमला ऽपि न मन्दवाणो,  
धीरावदातवचना समयेऽप्यवादीत् ॥१५॥

सुशील तीक्ष्णबुद्धि की, शरत्काल के चन्द्र की चन्द्रिका सी एक विद्वत्ता की मूर्ति थी । व्यवहार में स्वच्छ ज्ञान रखती हुई भी आप जिज्ञासकती नहीं थी, सुन्दर वचनों से कभी कह भी देती थी ॥१५॥

बुद्ध्या विवेक परया समधीत शास्त्रा,  
वाक्यप्रसूनमिव सा सहसोद् गिरन्ती ।  
जाते विचार समये शतधाऽप्यवोचत्,  
साध्वीषु पुष्पवतिका गणिताधुनासौ ॥१६॥

समझदारी के साथ अच्छी तरह से शास्त्रों का अध्ययन किया, एक साथ बोलती हुई ऐसी लगती थी जैसे वाक्यों के पुष्प हों । विचार के समय सैकड़ों तरह से बोलती थी, वे ही सती अब मान्य सतियों में आज गिनी जाती हैं ॥१६॥

भव्याकृतिः सहज सुन्दर शब्द मालान्,  
आलम्ब्य भावशतशो गुरुदेवतायाः ।  
सेवाविधौ धृतमतिः सततोद्यतासीत्,  
भाषा विशेषरुचयो मतयः सतीनाम् ॥१७॥

स्वाभाविक सुन्दर शब्दों को लेकर भव्याकृति सतीजी अपनी गुरुदेवता के सेवाविधान में सावधान रहकर सदा तत्पर रहती थीं । सतीजन के विचार भाषा विशेष की रुचि के होते हैं ॥१७॥

किंवाधिकं कथयितुं प्रभवेज्जनोऽमूम्,  
पुष्पां सतीं विशदभावतीं सुशीलाम् ।  
अद्यावधौ निखिल जैनसती समूहम्  
दृष्ट्वापि भावसदृशीं न हि भावयेयम् ॥१८॥

सुशील खुले दिमाग की इन सती पुष्पवतीजी को कोई कहने के लिए कहाँ तक अधिक कह पायेगा ? आज तक सभी सतियों के समुदाय को देखकर भी मैं तो उनके समान समझ नहीं सका ॥१८॥

भव्या भवेयुरपराः शतशः सतीनाम्,  
कालान्तरेण जगतः सकले समूहे ।  
सृष्टौ सदा भवति भेदकजोधहेतुः,  
विद्यो वयं जनजनान्तरमन्तरं यत् ॥१९॥

भव्या भवेयुरपराः शतशः सतीनाम्,  
कालान्तरेण जगतः सकले समूहे ।  
सृष्टौ सदा भवति भेदकजोधहेतुः,  
विद्यो वयं जनजनान्तरमन्तरं यत् ॥१९॥

सतियों में सैकड़ों ही दूसरी माङ्गलिक सतियां हो सकती हैं, क्योंकि सम्पूर्ण समूह में समयभेद से ऐसा हो सकता है । सृष्टि में सदा मनुष्यों में कुछ न कुछ तो अन्तर होता ही है—यह जानते हैं कि भेदक ज्ञान का कारण है ॥१९॥

स्वास्थ्यं यदा समभविष्यदथानुरूपम्,  
सत्याः स्वरूपमधिकं प्रसृतं व्यधास्यत् ।  
तस्मादहं कथयितुं विरतः कथायाः,  
अस्याः परन्तु चरितादतियाति किं तत् ॥२०॥

यदि सतीजी का स्वास्थ्य यदि अनुरूप अर्थात् जैसा चाहिए ऐसा रहा होता तो सतीजी का अपना रूप कुछ अधिक फँलता हुआ होता । इसलिए मैं अधिक कुछ कहने से विरत होता हूँ किन्तु इतने पर भी इसके चरित से बढ़कर कोई चरित है क्या ? ॥२०॥

भाग्यादियं परिगतासु सतीषु कस्याः,  
प्रेताभिभूतवचसौ वचसामसह्याम् ।  
वाणावलिं व्यसहताऽपरनामसत्याः,  
पुष्पासती मधुरवागपि किं वदेयम् ॥२१॥

भाग्य से आई हुई सतियों में से किसी प्रेताभिभूत नाम की, दूसरा नाम जिसका सती ही हो सकता है, वचनों की असह्य वाणावलि को इन मधुर वाणी वाली सती पुष्पवतीजी ने कहा—यह मैं कैसे कहूँ ? जिस पर बीतती है, वही जानता है ॥२१॥

मिथ्या वदेयुरपरेऽपि कथामिमां मे,  
यामुक्तवानहमहो विपदां समूहम् ।  
दीक्षाविशेषमधिगत्य सती पुरोक्ता,  
विभ्राजते पुनरसौ सुमतिः सभायाम् ॥२२॥

जिस कहानी को मैंने अभी कहा है, उसको दूसरे भी मिथ्या कहेंगे—कहानी क्या ? उस विपत्तियों के समूह को । पूर्वोक्त वही सती—श्रीपुष्कराभिधमुनेर्गुरुदेवकीर्त्तः

शिष्यस्य सास्य भगिनी शतशः कृतीनाम् ।  
निर्मातुरत्रभवतो महिमानमाप्तुः,  
देवेन्द्रनाम सुमुनेरधिशीतलांशोः ॥२३॥  
गुरुदेव श्री पुष्करमुनि के शिष्य अधिशीतलांशु



सैकड़ों कृतियों के निर्माता महामहिम देवेन्द्र मुनि जी की बहिन जी हैं ।२३।

यस्य श्रिया विकसिताखिलजैनसृष्टौ  
संतिष्ठते मुनि विद्युर्भुवनेऽधितारम् ।  
सश्रित्य कीर्तिमारां मुनिनण्डलैः प्रम्,  
दीप्येऽनन्यसदृशो महतां दिनेशः ॥२४॥  
जिसकी शोभा से विलसित सम्पूर्ण जैन जात  
के आकाश में तारों में मुनिचन्द्र विराजमान है और  
मुनियों के मण्डल में दूसरा कीर्ति को धारण कर  
अद्वितीय तेजों का सूर्य दीप्त होता है ।२४।

प्रेम्णा सदैव गुरुसङ्घमुपास्थमाना,  
स्वीरं सतीगगनिरं निरतं मङ्गलम् ।  
संरक्ष्य सेत्रिनुमना हृदयेन भवप्रम्,  
संतिष्ठते सविनयं नियमानुकूलम् ॥२५॥  
बहिनजी ये सती प्रेम से सदा गुरुजी के सङ्घ  
की उपासना करती हुई सेत्रा की भावना से अपने  
दीप्तिमन्त सतीगण की हृदय से रक्षा कर विनय  
से नियमानुसार यह भी विराजमान हैं ।२५।

सम्प्रत्यहो चरितपावनमानसेयम्,  
श्रेष्ठासु पूतचरितासु सतीषु पुष्पा ।  
धन्यापि शुद्धचरितैर्मुनिभिः प्रशस्तैः,  
मान्येव दीव्यति जनः सुगुणैर्न रूपैः ॥२६॥

चरित से पूत मनवाली यह पुष्पवती सती अब  
श्रेष्ठा पूत चरित सतियों में शुद्ध चरित प्रशस्त मुनियों  
से भी धन्य और मान्य के समान सम्मानित है,  
क्योंकि मनुष्य अच्छे गुणों से प्रशंसा पाता है, रूप से  
नहीं ।२६।

मन्ये भवेयुरपरा अपि कीर्त्तिमत्यः,  
सत्यः परन्तु न हि ता मनसापि निन्द्याः ।  
पूज्यासु तासु यदि मे गणिता सतीयम्,  
दोषः पुनर्भविनुमर्हति नात्र कश्चित् ॥२७॥

मानता है कि अन्य भी कीर्त्तिमती सतियाँ हैं  
किन्तु वे भी कभी मन से भी निन्द्य नहीं हो सकती,  
किन्तु यदि उन पूज्य सतियों में यह भी सती गिनी  
जाती है तो फिर इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं

गिनी जा सकती या किसी भी दोष के होने की  
योग्यता नहीं हो सकती ।२७।

मान्येऽपि रत्नचित्रे यदि रत्नमन्यत्,  
चिन्वीत कोऽपि पुरुषो न हि निन्दकोऽसौ ।  
रत्नेषु तद्विह मे चयनं विचिन्त्यम्,  
स्यादेवमेव गणना विहितेयमस्याः ॥२८॥  
मान्य रत्नसमुदाय में भी यदि कोई पुरुष किसी  
रत्न को चुन लेता है तो यह तो नहीं माना जा  
सकता कि वह दूसरे रत्नों का निन्दक है या उनकी  
अवगणना करता है । ठीक उसी प्रकार इन सतीजी  
का चयन विचार चाहिए । अतः यह चयन भी  
आक्षेप्य नहीं हो सकता ।२८।

रूपं वयो युवतिभावमवाप्य चासौ,  
बाल्येऽपि बोधरहिते विरतौ निमग्ना ।  
हित्वा सुखं प्रकृतिजन्यविकारमूलम्,  
सत्यं सुखं मृगयितुं रमते समाधौ ॥२९॥  
और ये सतीजी यौवन, रूप और वय को प्राप्त  
कर बोध-रहित बालकपन में वैराग्य में लीन  
होकर, प्रकृति से पैदा होने वाले विकार की जड़  
सुख को छोड़कर सच्चे सुख ढूँढ़ने के लिए ध्यान  
में लीन हैं । यह क्या कोई छोटी-मोटी बात है ?  
अतः इनकी जितनी प्रशंसा हो, वह थोड़ी है ।२९।

मिथ्याविवादनिकरं परिहाय नित्यम्,  
शास्त्रावबोधविषये धृतचित्तवृत्तिः ।  
साधवी स्वयं स्वहृदयं विधिनानुकूलम्,  
सद्योऽनुभावयति भावविभूतिवृद्धयै ॥३०॥  
शास्त्रागम के ज्ञान के विषय में ध्यानमग्न  
हो ये सतीजी स्वयं अपने हृदय को विधि के  
अनुसार भावविभूति की वृद्धि के लिए शीघ्र चिन्तन  
में लगी रहती हैं, इसलिए इन्होंने मिथ्या विवादों  
को छोड़कर ऐसा सदा के लिए किया । क्या यह  
सब यों ही हो जाता है ! ।३०।

एतादृशो हि मुनयो बहवोऽपि सत्यः,  
दृष्ट्यानया मुगतयो भविनः प्रणम्याः ।  
बन्धा भवेयुरथवा महिमाधिकाः स्युः,  
स्तुत्याः सदा प्रणयिनो गुणिनो हि नान्ये ॥३१॥



इस दृष्टि से ऐसे अनेक मुनिजन और सतियाँ भी प्रणम्य और वन्द्य हैं अथवा पूज्य और स्तुति के योग्य हैं, उसी प्रकार विद्वज्जन हैं। ये ही विश्वास के योग्य गुणी हैं और नहीं हो सकते। ३१।

कालेऽधुना विमतयो धनिनोऽग्रगण्यः,  
मान्या भवन्ति गुणिनामपि ते समाजे।  
तस्मादहं कथयितुं विरमामि वाणीम्,  
पापे न कामकलुषे नियुनज्म्यतस्ताम् ॥३२॥

आज के समय में गुणियों के समाज में भी दुर्बुद्धि धनाढ्य अगुआ माने जाते हैं। इसलिए मैं अब चुप रहना ही चाहता हूँ क्योंकि काम के पाप में और पापी के विषय में उस वाणी का मैं नियोजन नहीं करता। ३२।

पूज्या भवेयुरपरे गुणिनः पुरस्तात्,  
इभ्या अहो पुनरिमे धनिनां समाजे।  
मान्या भवन्तु विषमे समयेऽस्य रायः,  
तत्र द्वयोरधिकता गुणिनः प्रशस्ता ॥३३॥

सबसे पहले दूसरे गुणियों का आदर होना चाहिए और धनियों के समाज में धनाढ्यों का आदर/धन की आवश्यकता के समय आने पर, होना चाहिए। इन धनाढ्य और गुणी में गुणी की महत्ता प्रशस्त होती है। ३३।

अस्या अशेषगुणित्वा अमितप्रभावाः,  
शिष्या विशालहृदया महिमाधिकायाः।  
सन्त्येव किन्तु सुमतेरपि पुष्पवत्याः,  
रत्नत्रयाअथशतेर्मतिरेव भिन्ना ॥३४॥

अधिक महत्ववाली इन रत्नत्रय आश्रय प्राप्त हुई सुमति पुष्पवती सतीजी पर्याप्त प्रभाव वाली विशालहृदय गुणवती शिष्यायें हैं तो भी इनका विचार भिन्न ही है, अर्थात् शिष्याओं के बनाने का विचार कुछ और ही है। ३४।

संख्याक्रमेण त्रिविधा अधिका भवेयुः,  
सत्यो रुचेर्न विषयः खलु पुष्पवत्याः।  
तस्मान्निर्घं प्रकृतिशुद्धरुचिर्विरत्याः,  
मग्नां स्त्रियं प्रकुहते भवती स्वशिष्याम् ॥३५॥

गिनती में विभिन्न और अधिक सतियाँ हों ऐसा विचार पुष्पवती सतीजी का नहीं है, इसलिए आप स्वभाव से शुद्ध रुचि की, विरक्ति में लीन स्त्री को अपनी शिष्या बनाती हैं। ३५।

धन्यामिमां कथयितुं न हि मेऽभिलाषः,  
श्रेष्ठां सतीजनशुभांशुमिव प्रसन्नाम्।  
पद्मैः शुभैः सततकीर्तिपरैर्महिम्नाम्,

रत्नं विभ्राति शपथैः स्वत एव नादः ॥३६॥  
महिलाओं के निरन्तर यशवाले अच्छे पद्यों से श्रेष्ठ सतियों में चन्द्र सी खिली हुई इन पुष्पवती सतीजी को धन्य कहने के लिए मेरी कोई चाह नहीं है, क्योंकि यह रत्न चमकता है इसके लिए शपथों के खाने की कोई आवश्यकता नहीं होती, वह तो अपने आप चमकता है। ३६।

पद्मैः पुनामि सहसा वचनं स्वकीयम्,  
सत्याः यतोऽस्ति चरितं परमं पुनीतम्।

प्रासङ्गिकी सुमनसां मनसानुभूतिः,  
गन्धस्य मे भवति हारधरस्य रुङ्गात् ॥३७॥  
सती जी का परम पावन चरित है, इसी कारण से मैं अपनी वाणी को सहसा पद्यों से पवित्र किया चाहता हूँ। अतः मैं पुष्पों की माला पहने हुए के सङ्ग से स्वाभाविक पुष्पों की महक मन से अनुभव करता हूँ क्योंकि गुणकीर्तन के ये स्वाभाविक परिणाम हैं। ३७।

जाने सती स्वयंमियं कथयेदभीष्टम्,  
स्वाशीर्वचो भवितुमर्हति तावकीनम्।

इत्थं कदापि मनसापि न तर्कयेयम्,  
या कापि वास्मि भगिनी भवतोऽप्यवश्यम् ॥३८॥

मैं जानता हूँ कि स्वयं सतीजी अपने आप में यही कहती होयेंगी कि यह सब आपका मनोऽभिलषित शुभ आशीर्वचन होने के योग्य है, मैं तो, जैसा भी आपने कहा है, ऐसा कभी मनसे भी तर्क नहीं कर सकती। मैं चाहे जो भी कोई हूँ, किन्तु मैं आपकी भी बहिन अवश्य हूँ। ३८।



गच्छाम्यहं यदपि मत्समयानुहूलम्,  
नन्तुं सतीः सविनयं पथि वा मुनीनाम् ।

वासस्थलस्य सविधे सति मे मुनीन् वा,  
ग्रन्थाभिनन्दनपदे कुत एव नेयाम् ॥३६॥

यद्यपि मैं मेरे समय के अनुकूल सतियों और सन्तों के उपाश्रय के पास में होने पर सतियों को सविनय वन्दन के लिए जाता हूँ और फिर रास्ते में मिल जाऊँ तो भी नमन करता हूँ, ऐसी स्थिति में जब सतीजी का ग्रन्थाभिनन्दन हो रहा है तो मैं ग्रन्थाभिनन्दन स्थान पर कैसे नहीं जाऊँ-यह कैसे हो सकता है? अतः मैं ऐसे समय पर तो पहुंचूँगा ही ॥३६॥

करुणाप्यहो स्तुतिभयस्य कवेः फलस्य,  
काव्यस्य वा प्रणयने न हि मे प्रशस्तिः ।

स्यामप्यहं कथमपीह यशोऽधिकारी,  
सत्याः प्रसादमहिमानमतो वदेयम् ॥४०॥

अजी ! मेरी किसी भी स्तुतिभय कवि के काव्य या फल के प्रणयन की कोई भी प्रशस्ति नहीं है । यदि मैं फिर भी इस में यश का अधिकारी होता हूँ तो मैं सतीजी की प्रसन्नता के महत्त्व को ही कहूँगा ॥४०॥

ग्रन्थाभिनन्दन महोत्सवतोऽपि तस्याः,  
काव्यं भवेदभिमतं परमं कथञ्चित् ।

सत्याः प्रतापनिकरान्मम पुष्पवत्याः,  
वाणी सदाभ्युदयिनी मुनिदेवतानाम् ॥४१॥

मेरी उन सती पुष्पवतीजी के प्रतापों के समुदाय से और ग्रन्थाभिनन्दन के महोत्सव के कारण से भी किसी प्रकार परम अभिमत काव्य बन गया हो तो हो, क्योंकि मुनियों और देवताओं की वाणी सदा अभ्युदय करने वाली होती है अथवा मुनि-देवताओं के बड़े भंगलकारक वचन होते हैं ॥४१॥

हृद्यानवद्यच्चरिता चारणाभिपूताम्,  
ईर्यासमित्यतिगुण्यवधानसिद्धाम् ।

एतादृशीमपि सतीं न नमेत् त्रिकृत्वः,  
मन्ये जनं मनसि तं भुविकर्म हीनम् ॥४२॥

प्रिय और पावन चरित और आचरणों से

अभिपूत और ईयासमिति एवं सूक्ष्म गुणियों के अवधान में निष्णात ऐसी सतीजी को भी जो सति-खुती वन्दन न करे तो मैं उसको अपने मन में पृथिवी पर कर्महीन मानता हूँ ॥४२॥

तस्माद्दहं सकलशीलगुणैरुपेताम्,  
पुष्पाभिधानरुचिरां समताभिरूपाम् ।

नम्राभिमां समभिवन्दयितुं सदाहाम्,  
पद्याञ्जलि सविनयं परमर्पयामि ॥४३॥

इसलिए मैं सभी शील और गुणों से युक्त समता से शोभित इन नम्र सदा पूजनीय पुष्पवती सती जी को अभिनन्दित करने के लिए इष्ट पद्याञ्जलि को सविनय अर्पण करता हूँ ॥४३॥

भावेन भक्तिसुलभेन समर्पितोऽयम्,  
पद्याञ्जलिर्भवतु मे विभवं विधातुम् ।

वाचः प्रसादमभितः सुगमं विवर्ण्यम्,  
प्राप्तुं जनः प्रयतते रचनाभिलाषः ॥४४॥

भक्तिसुलभ भाव से समर्पित यह पद्याञ्जलि मेरे विभव को करने के लिए हो । सभी ओर से सुगम विशेष वर्णन के योग्य सरस्वती के प्रसाद को प्राप्त करने के लिये रचनाकार मनुष्य प्रयत्न करता रहता है ॥४४॥

सन्त्येव काम्यरचनाः कवयः पृथिव्याम्,  
वाणीसुधासुषमितां कवितां दधानाः ।

तेषां पुरः कवयितुं न हि योग्यता मे,  
काकोऽपि किं भवति पुंखतयैव हंसः ॥४५॥

पृथिवी में स्पृहरणीय रचना करने वाले वाणी के अमृत से परम शोभित कवित्व को धारण करते हुए कविजन हैं ही, उनके सामने कविता करने के लिए मेरी योग्यता नहीं है, जैसे हंस के पंखों को लगाने से ही काक भी क्या हंस होता है ॥४५॥

स्यामप्यहो कविरहं यदि पादपूर्तः,  
सर्वे भवेदुरपरे कवयो मनुष्याः ।

शब्दध्वनेर्विलसितार्थरसां सुभावाम्,  
पद्यावलिं रचयितुं कपयः किमेयुः ॥४६॥

यदि पादपूर्ति के कारण से मैं भी कवि हो जाऊँ तो दूसरे सब मनुष्य कवि हो जायेंगे । तब





शब्दों की ध्वनि से चमत्कृत अर्थ और रसीली सुन्दर भावों की पद्यावलि को रचने के लिए क्या वानर आयेंगे ? १४६।

सत्या गुणेषु नियताश्चूटयो भवेयुः  
भावेष्वपीह मम वाशयबोधकेषु ।  
दोषाश्चतेऽपि जहवः कृपया सुधीभिः,  
क्षम्या भवेयुरधमो दयनीय एव ॥४७॥

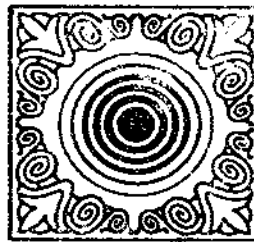
भगवती पुष्पवतीजी सतीजी के गुणों में चूटियाँ अवश्य होयेंगी। और मेरे भी यहाँ आशयबोधक विचारों में दोष, वे भी बहुत होयेंगे, वे सुधीजनों से कृपया क्षम्य होयेंगे। क्योंकि अधम दयनीय ही होता है ॥४७॥

निन्दन्तु केऽपि मुनयो यदि वा स्तुवन्तु,  
सत्योऽप्यमूः किमपि वा कथयेपुरेताम् ।  
पुष्पशिर्यं भवनु तां कमनीय कान्तिम्,  
दान्तां नमामि निरतं सुतरां स्तवीमि ॥४८॥  
यदि कोई भी मुनिजन निन्दा करें या प्रशंसा करें या ये सतियाँ भी इनको कुछ भी कहा करें, जो भी हो, हुआ करे किन्तु उन जितेन्द्रिय स्वभाव सुन्दर पुष्पश्री सतीजी को सदा नमन करता हूँ और अच्छी तरह प्रशंसा करता हूँ ॥४८॥

अयं रमाशङ्करनामकः कविः  
दधाति पञ्चाञ्जलिमात्मनिर्भरम् ।  
समादरे प्रथमयेऽभिनन्दने  
विराजतां सौरभमावहन्नहो ॥४९॥

[लिपिकार की लिखावट बहुत ही अस्पष्ट तथा चूटिपूर्ण होने के कारण यदि उक्त पद्यावली एवं हिन्दी अनुवाद में अशुद्धि दोष दृष्टिगत हो तो पाठक क्षमा करें।

—सम्पादक]



पूज्य पिताश्री जीवनसिंह जी से जगजीवन पाया है, पूज्य 'प्रेमदेवी' मातुश्री की प्रेमिल-छवि-छाया है। 'ओसवाल वरडिया' जैन स्थानकवासी-धर्म लिए, जग-मंगल करने को 'मंगलवार' जन्मदिन भाया है। 'विश्वसन्त सद्गुरु श्री पुष्कर मुनि' का आशीर्वाद मिला, गुरुणी 'महासती श्री सोहनकुंवरि' का पुण्य-प्रसाद मिला। 'प्रभावती' माता, भ्राता श्री 'देवेन्द्र मुनि' कृत्कृत्य हुए, भाग्य उदय हो गये 'उदयपुर' में दीक्षा-आह्लाद मिला। दीक्षित होकर 'महासती श्री पुष्पवती' कहलाई हैं, स्थानकवासी परम्परा ने विदुषी साध्वी पाई हैं। ज्ञान-गौभीरा, सिद्ध-साधिका, श्रमणी-संघ सुहाई हैं, भक्ति-ज्ञान और कर्मयोग का शुभ-संगम सुखदाई है। जन्म लिया 'मंगल' को, दीक्षा लेने को 'शनिवार' मिला। 'शुभ' हो चाहे 'अशुभ' सभी पर शुभ-समान अधिकार मिला। 'कृष्ण पक्ष' में जन्मी 'शुक्ल पक्ष' में दीक्षा पाई है, 'असत्' से 'सत्' तक, जग-मग-तम में ज्योतिर्मय विस्तार मिला। सुमधुर-ओजस्वी-वाणी में, चिन्तन की गहराई है। सत्य-शील - चारित्र्य - संगठन, अनुशासन - ऊँचाई है। प्रिय-पीयूष - प्रवचनों से जनसेवा-हित जन-जीवन ने, सदाचार - पथ पर बढ़ने की प्रबल-प्रेरणा पाई है। न्याय-काव्य-साहित्य-व्याकरण-दर्शन सबका मनन किया, जैन-धर्म-सिद्धान्त आदि सबका मन से अनुगमन किया। 'महासती श्री पुष्पवती जी महाराज ने निष्ठा से, जन-गण-मन के अध्यापन को अधिकाधिक अध्ययन किया। शतक', 'पुञ्ज', 'प्रवचन', 'पुरुषार्थ का फल', में 'प्रभा' प्रदर्शन है, 'दसवैकालिक सूत्र', 'सती का शाप', 'कल्पतरू' चिन्तन है। 'पुष्प-पराग', 'किनारे-किनारे', 'सुधा-सिन्धु', 'संगीत-प्रभा', 'साधना सौरभ', 'पीयूष घट', 'साहस का सम्बल' प्रकाशन है। जिनकी गुरु-गौरव-गरिमामय वाणी शुभ सुखदाई है, जिनकी सफल साधना ने साधन की राह दिखाई है। ऐसी साध्वी महासती विदुषी श्री पुष्पवती जी की-दैवयोग से दुर्लभ दीक्षा स्वर्ण जयन्ती आई है। तन निष्काम भले ही हो, मन-कर्म सकाम हमारे हैं, गति अवरुद्ध भले ही हो, पर पग अविराम हमारे हैं। जिनके जीवन की पावनता पुष्प-पराग बखेर रही, उनके श्री चरणों में सादर नम्र प्रणाम हमारे हैं।

—कवि सयाल निर्भय हाथरसी (हाथरस)



न म न !

-ज्ञान भारिञ्ज

वीतराग भगवन्त-कृपा से सब शुभ हो,  
सब जीवों को सदाकाल सुख-शान्ति मिले ।  
विघ्न दूर हों, मंगलमय जीवन-पथ हो,  
जिनशासन का सुन्दर शतदल कमल खिले ॥

पहिले तो मानव-जीवन ही दुर्लभ है,  
फिर उत्तम कुल में यदि जन्म मिले तो क्या ।  
उत्तम कुल पाकर सत्संग-साधना हो,  
माता-पिता सुसंस्कृत हो, तब भाग्य जगा ॥

मानव, जीवन पाते हैं, मर जाते हैं,  
जो कुछ लाए थे वह भी खो जाते हैं ।  
ऐसे जो मानव हैं वही अभागे हैं,  
अपने पथ में खुद कंटक बो जाते हैं ॥

स्वमिण अवसर होता है मानव-जीवन,  
इसका सदुपयोग करना है मानवता ।  
इसे व्यर्थ जाने देना है कायरता,  
इसका दुरुपयोग करना है दानवता ॥

जो हैं वीर, विवेकी, वे आगे बढ़ते,  
अपने साथ अन्य को भी ले चलते हैं ।  
अंधकारमय काली अमा-निशा में वे,  
पुण्य-प्रकाशित पंथ-दीप-से जलते हैं ॥

सतत प्रवाहित काल कभी रोके न रुका,  
बहती जाती है अविराम समय-धारा ।  
इस धारा में कभी-कभी खिल आता है,  
कोई पावन कमल पुष्प सुन्दर, प्यारा ॥

ऐसे मुनिवर को मेरा सादर वन्दन !

ऐसी महासती को शत-शत बार नमन !

उनके श्री चरणों में रहूँ अवस्थित मैं,

उनकी साक्षी में बीते मेरा जीवन ॥

'पुष्पवती' ऐसी सन्नारी, साध्वी की,  
महासती की होती है जयकार सदा ।  
हाथ जोड़कर नतमस्तक होता है जग,  
और मानता है उनका उपकार सदा ॥

मैं क्या हूँ ? कवि ? नहीं, अल्पज्ञानी हूँ मैं,  
मेरे पास कहाँ हैं शब्द कि कुछ गाऊँ ?  
परम तपस्विनि, महासती के अर्चन हित,  
भावों के शुभ सुमन कहाँ से मैं लाऊँ ?

सूरज को दीपक कैसे दिखलाऊँगा ?  
अग्नि गुणों का गान कहाँ कर पाऊँगा ?  
उनका ज्ञान अगाध, तपस्या हिमगिरि-सी,  
मैं तो सीढ़ी एक नहीं चढ़ पाऊँगा ॥

दूर-दूर से दर्शन ही कर सकता हूँ,  
अपना मानव-जन्म धन्य कर सकता हूँ ।  
उनके परम तपोमय जीवन के अक्षय,  
पुण्य-कोष से यह शोली भर सकता हूँ ॥

इतना भी तो मेरा पुण्योदय ही है,  
उनका दर्शन मुझे सुधामय करता है ।  
जलते हुए पापमय मेरे अन्तर को,  
उनका स्मरण शान्ति के जल से भरता है ॥

महासती चारित्र्य-शिखर पर स्थित हैं जो,  
उनका दर्शन मुझे 'इन्द्र' ने करवाया ।  
मुनिवर वे 'देवेन्द्र' पूज्य हैं उतने ही,  
कृपाभाव से मुझे जिन्होंने अपनाया ॥



## वन्दना के फूल

—फूलचन्द बोहन्दिया “जसनगर”

संत सती बहु दीपता, श्रमण संघ ना प्राण ॥  
 उपाध्याय पुष्कर मुनि केसरी राजस्थान ॥१॥  
 शास्त्री श्री देवेन्द्र मुनि, उपाचार्य गणईश ॥  
 दिव्य विभूतियाँ संघ में, शांत दांत विशेष ॥२॥  
 परम विदुषी महासती, पुष्पवती गुणखान ॥  
 दीक्षा बरस पचास की, स्वर्ण जयन्ति जान ॥३॥  
 जन्म उदयपुर में भयो, जीवनसिंह जी तात ॥  
 ओसवंश में बरड़िया प्रेमा देवी मात ॥४॥  
 ऊगणीसो ईक्यासी में मिगसर काली रेन ॥  
 सातम मंगलवार ने प्रकटी सुन्दर बेन ॥५॥  
 परम्परा अमरेश की, तारक शिष्य विनीत ॥  
 ज्यांरा शिष्य सुहावना, पुष्कर मुनि पुनीत ॥६॥  
 चन्दनबाला श्रमणी संघ, मुखिया सोहन खास ॥  
 प्रभावती जी की प्रभा जीवन में उजास ॥७॥  
 ज्यां पासे दीक्षा लही, चौराणू की साल ॥  
 माघसुदी तेरस शनी, उदयपुर विशाल ॥८॥  
 जिन आगम अरु व्याकरण, काव्य न्याय साहित्य ॥  
 पर दर्शन अध्ययनकर, चमकायो आदित्य ॥९॥  
 मारवाड़, मेवाड़ में, और हीं मध्यप्रदेश ॥  
 धर्म दीपायो जैन रो, दे दे शुभ सन्देश ॥१०॥  
 आगम ज्ञाता उपाचार्य, साहित्य सरजन हार ॥  
 भ्राता देवेन्द्र मुनि, जिन शासन श्रृंगार ॥११॥  
 भ्राता, माता, बेनजी, तीनु ही दीक्षा लीध ॥  
 बरड़िया वंश दीपावीयो, पुष्कर महिमा कीध ॥१२॥  
 शिष्या सुन्दर तांहरी, चन्द्रा, प्रिय, किरणेश ॥  
 रत्न ज्योति व सुप्रभा, वाड़ी या अमरेश ॥१३॥  
 चिर आयु हो महासती, अभिनन्दन पुष्पेश ॥  
 शासन दीपे वीर रो, वन्दन “फूल” हमेश ॥१४॥



## महिमा मंडित-मणि

—श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'

जीवन महासागर की महिमा मंडित मणि है,  
भव-सागर से तारक तरल देव-तरणि है।  
शान्ति-सौख्य - सद्भाग्य-सद्गुणों की सरणि है,  
पुण्य-पराग-प्रवाल प्रभासित पुष्पवती श्रमणी हैं।  
महिला की महिमा जिनके आदर्शों से मंडित है,  
श्रमणी की शोभा जिनके सद्संयम से स्यन्दित है।  
बहु आयामी प्रतिभा जिनकी, प्रज्ञा की पंडित है,  
उन पुष्पवती भगिनी श्रमणी के चरण देव बंदित है।

## पुष्पाष्टक

—कंवरचन्द्र जैन बोथरा, [मंडी गीदड़वाहा पंजाब]

जिन शासन का हैं शृंगार  
महासती श्री पुष्पवती  
अद्भुत करती धर्म-प्रचार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ १ ॥

तजकर भरे हुये भंडारे  
नजकर परिजन प्यारे सारे  
पंच महाव्रत जिनने धारे  
गई जगत को ठोकर मार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ २ ॥

जनता को सन्मार्ग दिखाने  
लोभ क्षोभ छल छद्म छुडाने  
प्रेम प्यार का पाठ पढाने  
भाषण करती अमृत धार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ ३ ॥

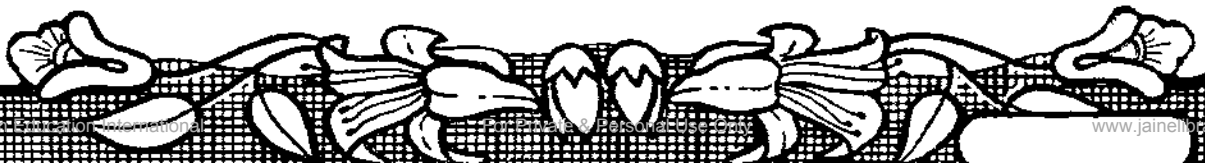
दुनियां वालों ! जागो-जागो  
आलस निद्रा गफलत त्यागो  
दूर भूत भय भय से भागो  
रही शेरनी-सी ललकार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ ४ ॥

झूठा है सब मेरा-तेरा  
मोह मान का तोड़ी घेरा  
प्रभु-चरणों में लाओ डेरा  
ऐसे देती मधुर विचार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ ५ ॥

क्रोध काम के चोर उचकके  
चौरासी में देते धक्के  
उनके खूब छुड़ाती छक्के  
जैनधर्म की पहरेदार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ ६ ॥

महिलाओं में ज्ञान भक्ति लख  
नवयुवकों में नव जागृति लख  
हर इक में ही आत्म शक्ति लख  
होती हर्षित अपरंपार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ ७ ॥

“कंवरचन्द्र” इतना ही लिखता  
इन-सा त्याग बहुत कम दिखता  
कौन सामने इनके टिकता  
गहन गुणों की हैं भण्डार  
महासती श्री पुष्पवती ॥ ८ ॥



## पुष्प-पराग

-सौ० विजयकुमारी बोथरा. B. A., B. E. D. मण्डी गीदडवाहा [पंजाब]

( १ )

पुष्पवती विदुषी सती—का है जीवन धन्य ।  
ऐसी हुआ धर्म—प्रभाविका, विरली होगी अन्य ॥

( २ )

प्यारी नारी जाति पर, करने को उषकार ।  
लगता है आपका, मंगलमय अवतार ॥

( ३ )

सतियाँ हों जो आप-सी, गहन ज्ञान गुणवती ।  
उन्नत मेरा देश हो, कैसे न फिर अति ॥

( ४ )

पुण्य किये थे आपने, सचमुच सती ! महान् ।  
गुरुवर "पुष्कर"—से मिले, उपाध्याय गुण-खान ॥

( ५ )

माता जी भी आपके, संयम ले सुखकार ।  
"प्रभावती" के नाम से, रोशन हैं संसार ॥

( ६ )

मुनि देवेन्द्र कुमार हैं, सगे आपके भ्रात ।  
वंश आपका फिर न हो, कैसे जग विख्यात ॥

( ७ )

माता, भ्राता इस तरह, दीक्षित होकर आप ।  
करते, करवाते सदा, जिनवर जी का जाप ॥

( ८ )

कैसे महिला मण्डली, उन्नत हो दिन-रात ।  
बहुत आपके ध्यान में, रहती है यह बात ॥

( ९ )

तजा भरा परिवार सब, तजे भरे भण्डार ।  
कोई सीखे आपसे, तजना यों संसार ॥

( १० )

लिया नहीं आलस्य का, कभी आपने नाम ।  
कोई सीखे आप से परहित करना काम ॥

( ११ )

महावीर भगवान का, दिव्य दया-सन्देश ।  
देती रहती आप हैं, दूर निकट के देश ॥

( १२ )

"विजय कुमारी" बोथरा, धरकर चरणन शीश ।  
करे कामना आप हों, उन्नत विश्वाबीस ॥

## गुरुणी महिमा

—बंरागिन नीतू जैन

अमर सम्प्रदाय में 'पुष्पा का बड़ा नाम है ।  
प्रेम की प्यारी पुत्री, जीवन सिंह तात है ॥ १ ॥  
पूज्य गुरुणी सोहन उनका भी बड़ा नाम है ।  
'पुष्पा' को अपना कर दिया संयम ज्ञान हैं ॥ २ ॥  
जिसके कुल में जन्मे उनका भी बड़ा नाम है ।  
बरड़िया जैसे कुल का किया बेड़ा पार है ॥ ३ ॥  
इनकी माता 'प्रभाजी' का चारों ओर नाम है ।  
दीक्षा लिया जीवन का किया उद्धार है ॥ ४ ॥

भाई इनके देवेन्द्र का संघ में बड़ा नाम है ।  
साहित्य का करते सृजन ये महान हैं ॥ ५ ॥  
जीवन के कण-कण में करुणा का भाव है ।  
जहरीले प्राणी बचाये कई बार है ॥ ६ ॥  
कामी क्रोधी लोभी को, मोह से बचाया है ।  
शत्रु अहंकारी को आपने झुकाया है ॥ ७ ॥  
प्रिय शिष्य 'चन्द्र' उनका भी बड़ा नाम है ।  
'नीतू' जैसी शिष्या को दिया ज्ञान दान है ॥ ८ ॥



अभिनन्दन श्रद्धार्चना द्वादशी

www.jainworld.com

जिन शासन को वसुंधरा पर, सतत दिपाती जाती है ।  
परम विदुषी पूज्या सती जी, पुष्पवती कहलाती है ॥१॥

प्रभावती जी मात आपकी, पिता जीवनसिंह हैं प्यारे ।  
ओसवाल में कुल बरड़िया है, जन-जन के मन मोहन मारे ॥२॥

झीलों की नगरी शहर उदयपुर, संयम व्रत अपनाया है ।  
सत्य, अहिंसा, क्षमा शील से, जीवन को चमकाया है ॥३॥

महाव्रतधारी, उग्रविहारी, निर्मल यश के धारी हैं ।  
निर्मल है चारित्र आपका, गुण गण के भण्डारी है ॥४॥

शीतलता है चाँद सरीखी, तेज सूर्य सा चमक रहा है ।  
सागर सम गम्भीर आप हैं, वचन सुधारस वर्ष रहा है ॥५॥

श्रमण संघ है सागर जैसा, अगणित जिसमें कमल खिले ।  
पंच समिति त्रय गुप्ति धारक, अनुपम-अनुपम है विरले ॥६॥

—जयसिंह छाजेड़ 'रत्नेश'—

जगह-जगह पर विचर-विचर कर, जैन की ध्वजा फहराई है ।  
आगम वाणी सत्य सुनाकर, दुनियाँ सुप्त जगाई है ॥७॥

सुनकर प्रसन्न चित्त हो जाता, जब भी नाम लिया जाता ।  
ज्यों चातक को स्वाति नीर के, मिलने पर आनन्द आता ॥८॥

सुन करके हो जाते गद्गद, जिसको जग के प्राणी है ।  
अधिक-अधिक है मिश्री से भी, मिठी अमृत वाणी है ॥९॥

श्रमण संघ की शोभा सारी, ऐसी ही महासतियों से ।  
सचमुच तप-जप सजता है, अति गहरे ज्ञानी गुणियों से ॥१०॥

गुण रत्नों की दिव्य ज्योति से, जीवन आपका ज्योतिर्मान ।  
क्या बतलाएँ सचमुच ही तुम, श्रमणीरत्न और भाग्यवान् ॥११॥

धीर-वीर-मृदु-शान्त-गुणाकर, महिमा आपकी अपरम्पार ।  
दीक्षा स्वर्ण जयन्ती प्रसंगे, 'रत्नेश' अभिनन्दन है शत-शत बार ॥१२॥



दुर्लभ है वह पथ  
जिसे सहज स्वीकार किया  
समता की विदुषी ने  
ममता के आँचल में  
समता की किलकार उठी  
प्रबुद्ध शील के शोभा रथ पर  
दुर्गम दुष्कर भीषण दूषण  
तिमिर-भार से आक्रांत मार्ग में  
शुद्ध चित्त से आरूढ़ हुई  
बनी कटिका की भूमि भी  
शोभा सिद्धि से पुष्पवती  
मेवाड़ धरा की पावन प्रतिभा  
प्राकृत-संस्कृत की गरिमा ले  
आगम सूत्र में दत्त हुई  
जिन शासन की शान बनी  
आत्म-प्रभाधी प्रभावती की  
क्यों न जन-मन कल्याण करे  
ऐसी जिन शासन की—

अनुशासन सच्चरित्र भावना  
जन सेवा जन-जागरण हेतु  
सुरम्य वाटिका रूप हुई  
विश्व संत श्री पुष्कर मुनि को  
पुष्कर तीर्थ सम पावन  
निर्मल भावों की धारा में  
निज स्वरूप को देख सकी  
महासती सोहनकुंवर के  
पावन-पवित्र-चरण कमल की रज  
मानों अगम्य रूप में उसे दिखी ।  
किया अपने को अपनी ओर ।  
माता की ममता में  
भाई श्री देवेन्द्र मुनि के  
साहित्य सरोवर में डुबकी ले  
अमर साधिका के चरणाम्बुज  
सुधा सिन्धु से प्रक्षाल सकूँ  
तो यह 'माया' भी माया के  
रूपों को भी छोड़ सकूँ ।

दुर्लभ है वह पथ

—शिमती माया जैन

(पिऊ कंब—३ अरिवन्दनगर, उदयपुर)

दुर्लभ है वह पथ | १३३





## गंगा की जब धार बनी

धर्म, दर्शन, कला  
संस्कृति का लेखा है ।  
मानव के अन्तस्तल ने  
समता को जब-जब देखा है  
जीवन्त हुआ सपना  
जीवन सुन्दर आनन्द बना  
अतीत के चलचित्रों की  
मणि प्रदीप की रेखा है  
अक्षर ज्ञाता कोई नारी  
ब्राह्मी सी बनी हमेशा है  
सूत्र ग्रन्थियों की गणना  
पावन क्षितिज पर  
संख्य-असंख्य- अनन्त रूप की  
सुरम्य सुन्दरी सुलेखा है  
अग्नि पूज्य हुई  
सीता प्रवेश की धूम मची जब  
पतिव्रत, वात्सल्य सेतु से  
सागर का उल्लास  
तरंगों में लहराता है  
राजुल का संकल्प  
जीवन्त हुआ जन-मन में  
नारी की ममता भी  
समता का स्वर देती है  
सौभाग्य संस्कृति  
कभी नहीं होती है ।  
जिस संस्कृति के कण-कण में  
चन्दना की चन्दन सम  
सुरभि सुरभित होती है ।  
एक नहीं अनेकानेक नारियाँ  
शकडाल पुत्रियाँ  
यक्षा, रेणा, बेणा  
भवगती दीक्षा जब धार चुकीं  
सरस्वती सुर सुन्दरी बाला

## —श्रीमती माया जैन, उद यपुर

भागा, सदा, फत्तू चेना  
रत्ना जी सी महासती  
लक्षमा, रंभा, नबला  
रूपकुंवर की हवा चली  
छगन मगन हुई आगम में  
ज्ञान कुंवर सी तपोधनी  
जाने कितनों ने विदुषी पद पाया  
कितनों ने किया उद्धार  
समाज और देश राष्ट्र का  
लाभ कुंवर की पावन गंगा  
डाकू तस्कर का दिल खींच सकी  
एक कली जब बनी यौवना  
सिद्ध स्वरूप के गुण गाती  
वजी शहनाई  
अमर लोक की  
पुष्कर में वह कूद पड़ी  
आगम रहस्य श्रुत सूत्र सार से  
कली-कली ही नहीं रही वह  
पुष्पवती वह महासती  
गुरु पुष्कर से  
ज्ञान रश्मि का बोध लिखा  
चमक उठा गगनांचल सारा  
समता के सरल विचारों से  
जन जीवन में  
अमृत रस को ढोल सकी  
पावन वह धन्य धरा  
मधुर मृदुल जन वाणी से  
संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी  
राजस्थानी का भी राग जगा  
बरसाती अमृत नीर सदा  
शत-शत वन्दन अभिनन्दन से  
'माया' की सविता  
गंगा की जब धार बनी ।



## महिमा छाई चारों ओर

—वैरागी संजय जैन  
(वर्तमान- श्री सुरेन्द्र मुनि)

गुरुप गुरुणी की महिमा छाई है चारों ओर,  
भवरा नाचे फूलों पर, ज्यों जनता आवे दीड़ ॥२॥

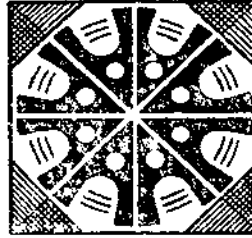
बाल अवस्था में संयम धारा, वाणी की तुम हो निर्मल धारा ।  
आप तिरे और तारे जन-जन का किया उद्धार ॥१॥

मार्ग संयम का आपने बताया, अवगुण जीवन से दूर भगाया ।  
कदम आपके बढ़ते हैं, मुक्ति नगर की ओर ॥२॥

नर-नारी गाते हैं गौरव तुम्हारा, तेज चमकता है जैसे सितारा ।  
सावन मे बादल की गर्जन, सुन नाचे मोर ॥३॥

दीड़ के तुम्हारे दर्शन को आऊँ, दर्शन करके जीवन धन्य बनाऊँ ।  
भव-भव के इस चक्कर से, आप बचावो मोय ॥४॥

गुरुणी जी मेरी वन्दना स्वीकारो, नैया भंवर में पड़ी पार उतारो ।  
“संजय” पुकारे मेरे काजलिया की कोर ॥५॥



तुम्हारे विनय, विवेक वैराग्य की  
गंगोत्री से उदगत  
निर्मल-स्वच्छ-जीवन प्रवाह को देख,  
गुरु जनों के प्रमोद पूर्ण हृदय से  
आशीर्वाद के सुमन निःसृत  
जीवन में ही सदा फलित-पुष्पित,



तुम्हारे त्याग-संयम-साधना-संस्कृत  
सदाचरण की सर्जना से पावन  
सहज सौम्य-भावों से भरित  
ये खिले हैं शुभकामनाओं के सुमन



तुम्हारी नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा-प्रज्ञा  
अन्तर-उन्मेष खोलने वाली प्रवचन-पटुता,  
हृदय रथ को स्पन्दित करने वाली  
कुशल काव्य कृतिर्या,  
पढ़कर, सुनकर, अवलोकन कर,  
जगा, जिनके हृदय मे श्रद्धा का दीपक  
उमड़ा उल्लास का उद्रेक  
भक्ति-भरित भावों का आरेक,  
उनकी, शब्द-सूत्रों में संयोजित  
श्रद्धा पूर्ण भाव-कलियाँ  
भावों का पुष्पहार बन,  
टँगा है इन पत्र-पादपों पर  
स्वीकार करो, हे पुष्पवती महासती  
शुभकामना, अभिवन्दन अभिनन्दन !



---

---

॥

व्यक्तित्व-दर्शनि



द्वि ती य ख ण्ड

---

---



**जैन शासन—प्रभाविका अमर साधिकाएं एवं सद्गुरुणी परम्परा**  
**—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि**

[साध्वीरत्न पुष्पवतीजी म. के जिस सद्गुण सुवास सिग्ध सर्वतोभद्र व्यक्तित्व के प्रति जन-जन का मन भाव विभोर है, जिसके प्रति गुरुजन आशीर्वचन एवं मंगल कामना के पुष्प वर्षा रहे हैं, विद्वद् मनीषी जिनकी सद्गुण ललित कलित कलाओं का अभिनन्दन कर रहे हैं और श्रद्धा-मन्त्रित संभूत भक्त हृदय जिनकी वन्दना व श्रद्धार्चना में भावनाओं की मूल्यवान मणियां प्रस्तुत कर रहे हैं, उनका जीवन परिचय जानने की उत्सुकता भी ललक रही है और उनकी परम्परा का इतिहास जानने की जिज्ञासा भी प्रबल हो रही है—यह स्वाभाविक है। प्रस्तुत में हम सर्वप्रथम भगवान महावीर की पावन परम्परा की प्रतिनिधि महाभाग श्रमणियों का एक संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत करना चाहते हैं, और पश्चात् इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाली महासती पुष्पवतीजी का संक्षिप्त जीवन वृत्त : —संपादक]

**मूल से फूल तक**

□ प्रथम शताब्दी

भगवान महावीर ने केवलज्ञान होने के पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की। साधुओं में गणधर गौतम प्रमुख थे तो साधिवियों में चन्दनबाला मुख्य थीं। किन्तु उनके पश्चात् कौन प्रमुख साधिविय हुई, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है। यों आर्या चन्दनबाला के पश्चात् आर्या सुव्रता, आर्या धर्मी, आर्य जम्बू की पद्मावती, कमलमाला, विजयश्री, जयश्री, कमलावती, सुसेणा, वीरमती, अजयसेना इन आठ सासुओं के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है और जम्बू की आठ पत्नियां समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, रूपश्री, जयश्री, इनके भी आर्हती दीक्षा लेने का वर्णन है।

वीर निर्वाण सं० २० में अवन्ती के राजा पालक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अवंतीवर्धन को राज्य तथा लघुपुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद पर आसीन कर स्वयं ने आर्य सुधर्मा के पास प्रव्रज्या ग्रहण की थी। राष्ट्रवर्धन की पत्नी का नाम धारिणी था। धारिणी के दिव्य रूप पर अवंतीवर्धन मुग्ध हो

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएं एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि | १३७



गया ! अतः धारिणी अर्धरात्रि में ही पुत्र और पति को छोड़कर अपने शील की रक्षा हेतु महल का परित्याग कर चल दी और कौशांबी की यानशाला में ठहरी हुई साध्वियों के पास पहुँची । उसे संसार से विरक्ति हो चुकी थी । वह सगर्भा थी । किन्तु उसने यह रहस्य साध्वियों को न बताकर साध्वी बनी । कुछ समय के पश्चात् गर्भसूचक स्पष्ट चिह्नों को देखकर साध्वी प्रमुखा ने पूछा तब उसने सही स्थिति बतायी । गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र को जन्म दिया और रात्रि के गहन अंधकार में नवजात शिशु को उसके पिता के आभूषणों के साथ कौशांबी नरेश ने राजप्रासाद में रख दिया । राजा ने उस शिशु को ले लिया और उसका नाम मणिप्रभ रखा, और पुनः धारिणी ने प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि के पथ पर चरण बढ़ाया ।

अवन्तीवर्धन को भी जब धारणी न मिली तो अपने भाई की हत्या से उसे भी विरक्ति हुई । और धारिणी के पुत्र अवन्तीसेन को राज्य दे उसने भी प्रव्रज्या ग्रहण की । जब मणिप्रभ और अवन्तीसेन ये दोनों भाई युद्ध के मैदान में पहुँचे तब साध्वी धारिणी ने दोनों भाइयों को सत्य-तथ्य बताकर युद्ध का निवारण किया ।

## □ दूसरी, तीसरी शताब्दी

आर्या यक्षा : अद्भुत धारणा शक्ति

वीर निर्वाण की दूसरी-तीसरी सदी में महामन्त्री शकडाल की पुत्रियाँ और आर्य स्थूलभद्र की बहनें यक्षा, यक्षदिव्या, भूता, भूतदिव्या, रेणा, देणा, रेणा इन सातों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी । वे अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न थीं । त्रमशः एक बार, दो बार यादत् सात बार सुनकर वे कटिन से कटिन विषयों को भी याद कर लेती थीं । उन्होंने अन्तिम नन्द की राज्यसभा में अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति के चमत्कार से वररुचि जैसे भूर्धन्य विज्ञ के अहंकार को नष्ट किया था । सातों बहनों के तथा भाई स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के पश्चात् उनके लघु भ्राता श्रीयक ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की जो अत्यन्त सुकोमल प्रकृति के थे । भूख और प्यास को सहन करने में अक्षम थे । साध्वी यक्षा की प्रबल प्रेरणा से श्रीयक ने उपवास किया और उसका रात्रि में प्राणान्त हो गया जिससे यक्षा ने मुनि की मृत्यु का कारण अपने आपको माना । दुःख, पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से अपने आपको दुःखी अनुभव करने लगी । कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया । संघ के अत्याधिक आग्रह पर उसने कहा कि केवलज्ञानी मुझे कह दें कि मैं निर्दोष हूँ तो अन्न-जल ग्रहण करूँगी, अन्यथा नहीं । संघ ने शासनाधिष्ठात्री देवी की आराधना की । देवी की सहायता से आर्या यक्षा महाविदेह क्षेत्र में भगवान श्री सीमन्धर स्वामी की सेवा में पहुँची । भगवान ने उसे निर्दोष बताया और चार अध्ययन प्रदान किये । देवी की सहायता से वह पुनः लौट आयी । उन्होंने चारों अध्ययन संघ के रक्षक प्ररुत्त विद्ये जो आज कूलिकाओं के रूप में विद्यमान हैं । इन सभी साध्वियों का साध्वी संघ में विशिष्ट स्थान था पर ये प्रवर्तिनी आदि पद पर रहीं या नहीं इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं है ।

## □ चौथी शताब्दी

महान् विदुषी आर्या पोइणी आदि

इनके पश्चात् कौन साध्वियाँ उनके पट्ट पर आसीन हुई यह जानकारी प्राप्त नहीं होती है । वाचनाचार्य आर्य बालरसह के समय हिमवान्त रथावरावली के अनुसार विदुषी आर्या पोइणी तथा अन्य तीन सौ साध्वियाँ विद्यमान थीं । बालिग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारबेल द्वारा वीर निर्वाण चतुर्थ शताब्दी



के प्रथम चरण में कुमारगिरि पर आगम परिवद हुई थी, जिसमें वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह और गणाचार्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध को परम्पराओं के पाँच सौ श्रमण उपस्थित हुए थे। वहाँ आर्या पोइणी भी तीन सौ श्रमणियों के साथ उपस्थित हुई थीं। इससे स्पष्ट है कि आर्या पोइणी महान प्रतिभाशाली और आगम रहस्य को जानने वाली थीं। उनके कुल, वय, दीक्षा, शिक्षा, साधना सम्बन्धी अन्य परिचय प्राप्त नहीं है। हिमवन्त स्थविरावली से स्पष्ट है कि पोइणी का चतुर्विध संघ में गौरवपूर्ण स्थान था।

#### □ पाँचवीं शताब्दी

रुज और वैराग्य का संगम : आर्या सरस्वती

वीर निर्वाण की पाँचवीं शती में द्वितीय कालकाचार्य की भगिनी सरस्वती थी। उनके पिता का नाम वैरसिंह और माता का नाम सुरमुन्दरी था। राजकुमार कालक का अपनी बहन सरस्वती पर अपार स्नेह था। गुणाकर मुनि के उपदेश से दोनों ने जैन दाक्षा ग्रहण की। एक बार आर्य कालक के दर्शन हेतु साध्वी सरस्वती उज्जयिनी पहुँची। राजा गर्दभिल्ल ने उसके अनुपम लावण्य को देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने अपने राजपुरुषों द्वारा साध्वी सरस्वती का अपहरण करवाया। आर्य कालक को गर्दभिल्ल के घोर अनाचार का पता लगा। राजा को समझाने का प्रयास किया, किन्तु राजा न समझा। अतः आर्य कालक ने शकों की सहायता प्राप्त की एवं अपने भानजे भड्डीच के राजा भानुमित्र को लेकर युद्ध किया, साध्वी सरस्वती को मुक्त करवाया और पुनः अपनी बहन सरस्वती को दीक्षा प्रदान की। साध्वी सरस्वती अनेक कष्टों का सामना करके भी अपने पथ से च्युत नहीं हुई।

आर्या सुनन्दा माता

वीर निर्वाण की पाँचवीं शती में आर्य वज्र की माता सुनन्दा ने प्रब्रज्या ग्रहण की थी। उन्होंने किस श्रमणी के पास श्रमणधर्म स्वीकार किया उसके नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। यह सत्य है कि उस युग में साध्वियों का विराट समुदाय होगा, क्योंकि बालक वज्र ने साध्वियों से ही सुनकर एकादश अंगों का अध्ययन किया था।

#### □ छठी शताब्दी

अनुराग विराग बना : आर्या रुक्मिणी

वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साध्वी रुक्मिणी का वर्णन मिलता है। वह पाटली-पुत्र के कोट्याधीश श्रेष्ठी धन की एकलौती पुत्री थी। आर्य वज्र के अनुपम रूप को निहार कर मुग्ध हो गई। उसने अपने हृदय की बात पिता से कही। वह एक अरब मुद्राएँ तथा दिव्य वस्त्राभूषणों को लेकर वज्रस्वामी के पास पहुँचा। किन्तु रुक्मिणी ने वज्रस्वामी के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर प्रब्रज्या ग्रहण की और रुक्मिणी तथा व्रजस्वामी के अपूर्व त्याग को देखकर सभी का सिर श्रद्धा से नत हो गया।

वीर निर्वाण की पाँचवी-छठी शती में एक विदेशी महिला के द्वारा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषावश्यकभाष्य तथा निशीथचूर्णि में वर्णन है कि मुरुण्डराज की विधवा बहन प्रब्रज्या लेना चाहती थी। मुरुण्डराज ने साध्वियों की परीक्षा लेने हेतु एक आयोजन किया कि कौन साध्वी कैसी है? एक भीमकाय हाथी पर महावत बैठ गया और चौराहे पर वह खड़ा हो गया। जब कोई भी साध्वी उधर से निकलती तब महावत हाथी को साध्वी की ओर बढ़ाते हुए साध्वी को चेतावनी देता कि सभी वस्त्रों का परित्याग कर निर्वसना हो जाय, नहीं तो यह हाथी तुम्हें अपने पाँवों से कुचल डालेगा। अनेक साध्वियाँ, परिव्राजिकाएँ, भिक्षुणियाँ उधर निकलीं। भयभीत होकर उन्होंने

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १३६





वस्त्रों का परित्याग किया। अन्त में एक जैन श्रमणी उधर आयी। श्रमणी के धैर्य की कठोर परीक्षा लेने के लिए हाथी ज्यों ही उसकी ओर बढ़ने लगा त्यों ही उसने क्रमशः अपने धर्मोपकरण उधर फेंक दिये, उसके पश्चात् साध्वी हाथी के इधर-उधर घूमने लगी। किन्तु उसने अपना वस्त्र-त्याग नहीं किया। जब जनसमूह ने यह दृश्य देखा तो उनका आक्रोश उभर आया। मुरुण्डराज ने भी संकेत कर हाथी को हस्तिशाला में भिजवाया और उसी साध्वी के पास अपनी बहन को प्रव्रजित कराया। साहस, सहनशीलता, शान्ति और साधना की प्रतिभृति उस साध्वी का तथा मुरुण्ड राजकुमारी इन दोनों का नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है।

**श्रुताध्ययन की अपूर्व प्रेरणा : साध्वी माता रुद्रसोमा**

वीर्यनिर्वाण की छठी शती में आर्यरक्षित की माता साध्वी रुद्रसोमा का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता जिसने अपने प्यारे पुत्र को जो गम्भीर अध्ययन कर लौटा था, उसे पूर्वी का अध्ययन करने हेतु आचार्य तोसलीपुत्र के पास प्रेषित किया और सार्द्ध नौ पूर्व का आर्यरक्षित के पास अध्ययन किया। रुद्रसोमा की प्रेरणा से ही राजपुरोहित सोमदेव तथा उसके परिवार के अनेकों व्यक्तियों ने आर्हती दीक्षा स्वीकार की और स्वयं उसने भी। उसका यशस्वी जीवन इतिहास की अनमोल सम्पदा है।

**दानवीरा श्रमणी ईश्वरी**

वीर निर्वाण की छठी शती के अन्तिम दशक में साध्वी ईश्वरी का नाम आता है। भीषण दुष्काल से छटपटाते हुए सोपारवनगर का ईधम श्रेष्ठी जिनदत्त था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। बहुत प्रयत्न करने पर भी अन्न प्राप्त नहीं हुआ, अन्त में एक लाख मुद्रा से अंजली भर अन्न प्राप्त किया। उसमें विष मिलाकर सभी ने मरने का निश्चय किया। उस समय मुनि भिक्षा के लिए आये। ईश्वरी मुनि को देखकर अत्यन्त आह्लादित हुई। आर्य वज्रसेन ने ईश्वरी को बताया कि विष मिलाने की आवश्यकता नहीं है। बल से सुकाल होगा। उसी रात्रि में अन्न के जहाज आ गये जिससे सभी के जीवन में सुख-शांति की बंशी बजने लगी। ईश्वरी की प्रेरणा से सेठ जिनदत्त ने अपने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर इन चारों पुत्रों के साथ आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और उनके नामों से गच्छ और कुल परम्परा प्रारम्भ हुई। साध्वी ईश्वरी ने भी उत्कृष्ट साधना कर अपने जीवन को चमकाया।

इसके पश्चात् भी अनेक साध्वियाँ हुईं, किन्तु क्रमवार उनका उल्लेख या परिचय नहीं मिलता, जिन्होंने अपनी आत्म ऊर्जा, बौद्धिक चातुर्य, नीति-कौशल एवं प्रखर प्रतिभा से जैन शासन की महनीय सेवा की। मैं यह मानता हूँ कि ऐसी अनेक दिव्य प्रतिभाओं ने जन्म लिया है, किन्तु उनके कर्तृत्व का सही मूल्यांकन नहीं हो सका। इतिहास सामग्री क्षत-विक्षत हो जाने से आज उनका कोई वर्णन नहीं मिलता।

□ अठारहवीं शताब्दी

**तेजोमूर्ति भाग्यशालिनी भागाजी**

हम यहाँ अठारहवीं सदी की एक तेजस्विनी स्थानकवासी साध्वी का परिचय दे रहे हैं जिनका जन्म देहली में हुआ था। उनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं है और उनका सांसारिक नाम भी क्या था यह भी पता नहीं है। पर उन्होंने आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के समुदाय में किसी साध्वी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। ये महान् प्रतिभासम्पन्न थीं। इनका श्रमणी जीवन का नाम महासती भागाजी था। इनके द्वारा लिखे हुए अनेकों शास्त्र, रास तथा अन्य ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ श्री अमर जैन ज्ञान भण्डार, जोधपुर में तथा अन्यत्र संग्रहीत हैं। लिपि उतनी सुन्दर नहीं है, पर प्रायः शुद्ध है। और लिपि को देखकर ऐसा ज्ञात होता है लेखिका ने सैकड़ों ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की होंगी। आचार्यश्री



अमरसिंहजी महाराज के नेतृत्व में पंचेवर ग्राम में जो सन्त सम्मेलन हुआ था उसमें उन्होंने भी भाग लिया था। और जो प्रस्ताव पारित हुए उनमें उनके हस्ताक्षर भी हैं।

अनुश्रुति है कि उन्हें बत्तीस आगम कण्ठस्थ थे। एक बार वे देहली में विराज रही थीं। शौच के लिए वे अपनी शिष्याओं के साथ जंगल में पधारीं। वहाँ से लौटने के पश्चात् रास्ते में एक उपवन था उसमें एक बहुत रमणीय स्थान था जो एकान्त में था वहाँ पर बैठकर महासती जी स्वाध्याय करने लगीं। स्वाध्याय चल रही थी, इधर बृहद् नौ तत्त्व के रचयिता श्रावक दलपतसिंहजी उधर से आ निकले। उन्होंने देखा कि उपवन के वृक्षों के पत्ते दनादन गिर रहे हैं, फूल मुरझा रहे हैं। असमय में पतझड़ को आया हुआ देखकर उन्होंने सोचा इसका क्या कारण है? इधर-उधर देखा तो उन्हें महासती जी एकान्त में बैठी हुई दिखायी दीं। श्रावकजी उनकी सेवा में पहुंचे। नमन कर उन्होंने महासती से पूछा—आप क्या कर रही हैं? महासतीजी ने बताया कि मैं स्वाध्याय कर रही हूँ। इस समय चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति की स्वाध्याय चल रही है। श्रावकजी ने नम्रता से निवेदन किया—सद्गुरुणीजी, देखिए कि वृक्ष के पत्ते असमय में गिर रहे हैं, फूल मुरझा रहे हैं। लगता है स्वाध्याय करते समय कहीं असावधानी से स्वलना हो गई है। कृपा कर आपश्री पुनः स्वाध्याय करें। लाला दलपतसिंह जी भी आगम के मर्मज्ञ विद्वान थे। स्वाध्याय की गयी। जहाँ पर स्वलना हुई थी श्रावकजी ने उन्हें बताया। स्वलना का परिष्कार करने पर वृक्षों के पत्ते गिरने बन्द हो गये और फूल मुस्कराने लगे।

महासतीजी का विहार क्षेत्र दिल्ली, पंजाब, जयपुर, जोधपुर, मेड़ता और उदयपुर रहा है—ऐसा प्रशस्तियों के आधार से ज्ञात होता है। महासती भागाजी की अनेक विदुषी शिष्याएँ थीं। उनमें वीराजी प्रमुख थीं। वे भी आगमों के रहस्यों की ज्ञाता और चारित्रनिष्ठा थीं। उनकी जन्मस्थली आदि के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं है। महासती वीराजी की मुख्य शिष्या सदाजी थीं जिनका परिचय इस प्रकार है।

#### मोहन्यो सदाजी

राजस्थान के साम्भर ग्राम में वि० सं० १८५७ के पौष कृष्ण दशमी को महासती सदाजी का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम पाटनदे था और पिता का नाम पीथोजी मोदी था। और दो ज्येष्ठ भ्राता थे। उनका नाम मालचन्द और बालचन्द था। सदाजी का रूप अत्यन्त सुन्दर था तथा माता-पिता का अपूर्व प्यार भी उन्हें प्राप्त हुआ था। उस समय जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी थे। सुमेरसिंहजी मेहता महाराजा अभयसिंह जी के मनोनीत अधिकारी थे। उन्होंने चारण के द्वारा सदाजी के अपूर्व रूप की प्रशंसा सुनकर उनके पिता के सामने प्रस्ताव रखा। अन्त में सदाजी का पाणिग्रहण उनके साथ सम्पन्न हुआ। विराट वैभव और मनोनुकूल पत्नी को पाकर मेहताजी भोगों में तल्लीन थे। सदाजी को वात्स्यकाल से ही धार्मिक संस्कार मिले थे। इस कारण वे प्रतिदिन सामायिक करती थीं और प्रातःकाल व सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण भी करती थीं।

एक बार सदाजी एक प्रहर तक संवर की मर्यादा लेकर नमस्कार महामन्त्र का जाप कर रही थीं, उसी समय बासियाँ घबरायी हुईं और आँखों से अमू वरसाती हुई दौड़ी आयीं और कहा 'मालकिन, गजब हो गया। मेहताजी की हृदय गति एकाएक रुक जाने से उनका प्राणान्त हो गया है। उन्होंने सदा के लिए आँखें मूँद ली हैं।' यह सुनते ही सदाजी ने तीन दिन का उपवास कर लिया और दूध, दही, घी, तेल और मिष्ठान इन पाँचों विषय का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर दिया। भोजन में केवल रोटी और



छाछ आदि का उपयोग करना ही रखकर शेष सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया। पति मर गया, किन्तु उन्होंने रोने का भी त्याग कर दिया। सास-ससुर दोनों आकर फूट-फूट कर रोने लगे, सद्दाजी ने उन्हें समझाया—अब रोने से कोई फायदा नहीं है। केवल कर्म-बन्धन होगा। इसलिए रोना छोड़ दें। आपका पुत्र आपको छोड़कर संसार से विदा हो चुका है। ऐसी स्थिति में मैं भी अब संसार में नहीं रहूँगी और श्रमण-धर्म को स्वीकार करूँगी। सास और ससुर ने विविध दृष्टियों से समझाने का प्रयास किया किन्तु सद्दाजी की वैराग्य भावना इतनी दृढ़ थी कि वे विचलित नहीं हुईं। देवर रामलाल ने भी सद्दाजी से कहा कि आप संसार का परित्याग न करें। पुत्र को दत्तक लेकर आराम से अपना जीवनयापन करें। किन्तु सद्दाजी इसके लिए प्रस्तुत नहीं थीं। उनके भ्राता मालचन्दजी और बालचन्दजी ने भी आकर बहन को संयम साधना की अतिदुष्करता बतायी। किन्तु सद्दाजी अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहीं।

उस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी महासती भागाजी की शिष्या महासती वीराजी जोधपुर में विराज रही थीं। मेहता परिवार भी महासतीजी के निर्मल चरित्र से प्रभावित था। उन्होंने कहा—तुम महासतीजी के पास सहर्ष प्रव्रज्या ग्रहण कर सकती हो किन्तु हम तुम्हें जोधपुर में कभी भी दीक्षा नहीं लेने दे सकते। यदि तुम्हें दीक्षा ही लेनी है तो जोधपुर के अतिरिक्त कहीं भी ले सकती हो। सद्दाजी ने बाड़मेर जिले के जसोल ग्राम में वि० सं० १८७७ में महासती वीराजी के पास संयमधर्म स्वीकार किया। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने विनयपूर्वक अठारह शास्त्र कण्ठस्थ किये, सैकड़ों थोकड़े और अन्य दार्शनिक धार्मिक ग्रन्थ भी। इसके बाद देश के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर धर्म की अत्यधिक प्रभावना की।

**फत्तूजी की परम्परा**

सद्दाजी की अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमें फत्तूजी, रत्ताजी, चेनाजी और लाधाजी ये चार मुख्य थीं। चारों में विशिष्ट विशेषताएँ थीं। महासती फत्तूजी का विहार-क्षेत्र मुख्य रूप से मारवाड़ रहा और उनकी शिष्याएँ भी मारवाड़ में ही विचरण करती रहीं। आज पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज की सम्प्रदाय की मारवाड़ में जो साध्वियाँ हैं, वे सभी फत्तूजी के परिवार की हैं।<sup>१</sup>

महासती रत्ताजी का विचरण क्षेत्र मेवाड़ में रहा। इसलिए मेवाड़ में जितनी भी साध्वियाँ हैं वे रत्ताजी के परिवार की हैं।

महासती चेनाजी में सेवा का अपूर्व गुण था तथा महासती लाधाजी उग्र तपस्विनी थीं। इन दोनों की शिष्या-परम्परा उपलब्ध नहीं होती है।

महासती सद्दाजी ने अनेक मासखमण तथा कर्मचूर और विविध प्रकार के तप किये। तप आदि के कारण शारीरिक शक्ति विहार के लिए उपयुक्त न रहने पर वि० सं० १९०१ में वे जोधपुर में स्थिरवास ठहरीं। महासती फत्तूजी और रत्ताजी को उन्होंने आदेश दिया कि वे घूम-घूमकर अत्यधिक धर्मप्रचार करें। उन्होंने राजस्थान के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर अनेकों बहनों को प्रव्रज्या दी। सं० १९२१ में महासती फत्तूजी और रत्ताजी ने विचार किया कि इस वर्ष हम सब गुरुणीजी की सेवा में ही वर्षावास करेंगी। सभी महासती सद्दाजी की सेवा में पहुँच गयीं। आपाढ़ शुक्ला पंचमी के दिन महासती सद्दाजी ने त्रिविहार संथारा धारण किया। सद्गुरुणीजी को संथारा धारण किया हुआ देखकर उनकी

नोट—महासती फत्तूजी की परम्परा का वर्णन इसी लेख के अन्त में देखें।



शिष्या महासती लाधाजी ने भी संथारा कर लिया और सद्गुरुणी जी से कुछ दिनों पूर्व ही स्वर्ग पहुँच गई। संथारा चल रहा था, महासतीजी ने अपनी शिष्याओं को बुलाकर अन्तिम शिक्षा देते हुए कहा— 'अपनी परम्परा में ब्राह्मण और वैश्य के अतिरिक्त अन्य वर्णवाली महिलाओं को दीक्षा नहीं देना, तथा मैंने अन्य जो समाचारी बनायी है, उसका पूर्णरूप से पालन करना। तुम वीरांगना हो। संयम के पथ पर निरन्तर बढ़ती रहना। चाहे कितने भी कष्ट आवें उन कष्टों से घबराना नहीं।' सद्गुरुणीजी की शिक्षा को सुनकर सभी साध्वियाँ गद्गद् हो गयीं। उन्हें लगा कि अब सद्गुरुणीजी लम्बे समय की मेहमान नहीं हैं। हमें उनकी आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करना ही चाहिए। भाद्रपद सुदी एकम के दिन पचपन दिन का संथारा कर वे स्वर्ग पधारीं। इस प्रकार पैतालीस वर्ष तक महासती सदाजी ने संयम की साधना, तप की आराधना की। आज भी महासती सदाजी के शिष्या-परिवार में पचास से भी अधिक साध्वियाँ हैं।

### □ उन्नीसवीं शताब्दी

शासन प्रभाविका लछमाजी

महासती रत्नाजी की शिष्या-परिवार में शासन-प्रभाविका लछमाजी का नाम विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनका जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम में सं० १६१० में हुआ था। आपके पिता का नाम रिखबचन्दजी माण्डोत और माता का नाम नन्दूबाई था। आपके दो भ्राता थे—किसनाजी और वन्दराज जी। आपका पाणिग्रहण मादडा गाँव के साँकलचन्दजी चौधरी के साथ हुआ। कुछ समय के पश्चात् साँकलचन्दजी के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हुई और उन्होंने सदा के लिए आँख मूँद लीं। उस समय महासती रत्नाजी की शिष्या गुलाबकुँवरजी मादडा पधारीं। वे महान तपस्विनी थीं, उन्होंने अपने जीवन में अनेकों मासखमण किये थे। उनके उपदेश को सुनकर लछमाजी के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। और वि० सं० १६२८ में भागवती दीक्षा ग्रहण की। वे प्रकृति से भद्र, विनीत और सरल मानसवाली थीं।

सती का आशीर्वाद : नौकर बना धन्ना सेठ

एक बार वे अपनी सद्गुरुणीजी के साथ बड़ी सादड़ी में विराज रही थीं। सती-वृन्द कमरे में आहार कर रही थीं कि एक बालक आँखों से आँसू बरसाता हुआ आया। बालक को रोते हुए देखकर लछमाजी ने पूछा—तू क्यों रो रहा है? बालक ने रोते हुए कहा—मैं गद्दूलालजी मेहता के यहां नौकरी करता हूँ। मेरा नाम वछराज है। आज सेठ के यहां मेहमान आये हैं और सभी मिष्ठान खा रहे हैं। पर मेरे नसीब में रुखी-सूखी रोटी भी कहां है? क्षुधा से छटपटाते हुए मैंने भोजन की याचना की। किन्तु उन्होंने मुझे दुःकार कर घर से निकाल दिया कि तुझे माल खाना है या नौकरी करनी है। मैं अपने भाग्य पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ।

लछमाजी ने बालक की ओर देखा। उसके चेहरे पर अपूर्व तेज था। उन्होंने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'रोओ मत। कल से तेरे सभी दुःख मिट जायेंगे।' बालक हँसता और नाचता हुआ चल दिया।

छोटी सादड़ी में नागोरी श्रेष्ठी के लड़का नहीं था। पास में लाखों की सम्पत्ति थी। सेठानी के कहने से सेठजी बालक वछराज को दत्तक लेने के लिए बड़ी सादड़ी पहुँचे और उसको अपना दत्तक पुत्र घोषित कर दिया। बालक ने महासती के चरणों में गिरकर कहा—सद्गुरुणीजी, आपका ही पुण्य प्रताप है कि मुझे यह विराट सम्पत्ति प्राप्त हो रही है। आपकी भविष्यवाणी पूर्ण सत्य सिद्ध हुई। महासती लछमाजी के सहज रूप से निकले हुए शब्द सत्य सिद्ध होते थे। उनको वाचा सिद्धि थी। उनके जीवन के

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १४३



ऐसे अनेक प्रहंग हैं जिनमें उनकी चमत्कारपूर्ण जीवन-ज्ञाकियां हैं। विस्तारभय से मैं उसे यहां नहीं दे रहा हूँ।

#### देव बना भक्त

महासती लछमाजी सं० १९५५ में गोगुन्दा पधारीं। मन्द ज्वर के कारण शरीर शिथिल हो चुका था। अतः चैत्र वदी अष्टमी के दिन उन्होंने संथारा ग्रहण किया। तीन दिन के पश्चात् रात्रि में एक देव ने प्रकट होकर उन्हें नाना प्रकार के कष्ट दिये और विविध प्रकार के सुगन्धित भोजन से भरा हुआ थाल सामने रखकर कहा कि भोजन कर लो। किन्तु सतीजी ने कहा—मैं भोजन नहीं कर सकती। पहला कारण यह है कि देवों का आहार हमें कल्पता नहीं है। दूसरा कारण यह है कि रात्रि है। तीसरा कारण यह है कि मेरे संथारा है। इसलिए मैं आहार ग्रहण नहीं कर सकती।

देव ने कहा—जब तक तुम आहार ग्रहण नहीं करोगी तब तक हम तुम्हें कष्ट देंगे।

आपने कहा—मैं कष्ट से नहीं घबराती। एक क्षण भी प्रकाश करते हुए जीना श्रेयस्कर है किन्तु पथ-भ्रष्ट होकर जीना उपयुक्त नहीं है। तुम मेरे तन को कष्ट दे सकते हो, किन्तु आत्मा को नहीं। आत्मा तो अजर-अमर है। अन्त में देवशक्ति पराजित हो गयी। उसने उनकी दृढ़ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। संथारे के समय अनेकों बार देव ने केशर की और सूखे गुलाब के पुष्पों की वृष्टि की। दीवालों पर केशर और चन्दन की छाप लग जाती थी। संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ सुनायी देती थीं और देवियों की पायल ध्वनि सुनकर जनमानस को आश्चर्य होता था कि ये अदृश्य ध्वनियाँ कहाँ से आ रही हैं। इस प्रकार ६७ दिन तक संथारा चला। ज्येष्ठ वदी अमावस्या त्रि० सं० १९५६ के दिन उनका संथारा पूर्ण हुआ और वे स्वर्ग पधारीं।

#### प्रतिभा पुंज रंभाजी

परम विदुषी महासती श्री सदाजी की शिष्याओं में महासती श्री रत्नाजी परम विदुषी सती थीं। उनकी एक शिष्या महासती रंभाजी हुईं। रंभाजी प्रतिभा की धनी थीं। उनकी सुशिष्या महासती श्री नवलाजी हुईं। नवलाजी परम विदुषी साध्वी थीं। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जो एक बार आपकी प्रवचन सुन लेता वह आपकी त्याग, वैराग्ययुक्त वाणी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आपकी अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमें से पाँच शिष्याओं के नाम और उनकी परम्परा उपलब्ध होती है।

#### महासती नवलाजी का शिष्या परिवार

सर्वप्रथम महासती नवलाजी की सुशिष्या कंसुवाजी थीं। उनकी एक शिष्या हुईं। उनका नाम सिरैकुंवरजी था और उनकी दो शिष्याएँ हुईं। एक का नाम साकरकुंवरजी और दूसरी का नाम नजरकुंवरजी था। महासती साकरकुंवरजी की कितनी शिष्याएँ हुईं यह प्राचीन साध्यों के अभाव में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु महासती नजरकुंवरजी की पाँच शिष्याएँ हुईं। महासती नजरकुंवरजी एक विदुषी साध्वी थीं। इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के वल्लभ नगर के सन्निकट मेनार गाँव थी। आप जाति से ब्राह्मण थीं। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण आप में स्वाभाविक बौद्धिक प्रतिभा थी। आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपकी पाँच शिष्याओं के नाम इस प्रकार हैं—

#### (१) महासती रूपकुंवरजी

यह उदयपुर के सन्निकट देलवाड़ा ग्राम की निवासिनी थीं।



(२) महासती प्रतापकंवरजी

यह भी उदयपुर राज्य के वीरपुरा ग्राम की थीं ।

(३) महासती पाटूजी

ये समदड़ी (राजस्थान) की थीं । इनके पति का नाम गोडाजी लुंकड था । वि० सं० १९७८ में इनकी दीक्षा हुई ।

(४) महासती चौथाजी

इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के बंबोरा ग्राम में थी और इनकी समुराल बाटी ग्राम में थी ।

(५) महासती एजाजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के शिशोदे ग्राम में हुआ । आपके पिता का नाम भेरूलालजी और माता का नाम कत्थूबाई था । आपका पाणिग्रहण वारी (मेवाड़) में हुआ और वहीं पर महासती के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की । वर्तमान में इनमें से चार साध्वियों का स्वर्गवास हो चुका है केवल महासती एजाजी इस समय विद्यमान हैं । उनकी कोई शिष्याएँ नहीं हैं । इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक रही है ।

महासती श्री नवलाजी की द्वितीय शिष्या गुमानाजी थीं । उनकी शिष्या-परम्पराओं में बड़े आनन्दकुंवरजी एक विदुषी महासती हुईं । वे बहुत ही प्रभावशाली थीं । उनकी सुशिष्याएँ अनेक हुईं, पर उन सभी के नाम भुझे उपलब्ध नहीं हुए । उनकी प्रधान शिष्या महासती श्री बालब्रह्मचारिणी अभयकुंवरजी हुईं । आपका जन्म वि० सं० १९५२ फाल्गुन वदी १२ मंगलवार को राजवी के बाटेला गाँव (मेवाड़) में हुआ । आपने अपनी मातेश्वरी श्री हेमकुंवरजी के साथ महासती आनन्दकुंवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९६० मृगशिर सुदी १३ को पाली-मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की । आपको शास्त्रों का गहरा अभ्यास था । आपका प्रवचन श्रोताओं के दिल को आकर्षित करने वाला होता था । जीवन की सान्ध्यवेला में नेत्र-ज्योति चली जाने से आप भीम (मेवाड़) में स्थिरवास रहीं और वि० सं० २०३३ के माघ में आप-श्री का संथारा सहित स्वर्गवास हुआ ।

आपश्री की दो शिष्याएँ हुईं—महासती बदामकुंवरजी तथा महासती जसकुंवरजी । महासती बदामकुंवरजी का जन्म वि० सं० १९६१ वसन्त पंचमी को भीम गाँव में हुआ । आपका पाणिग्रहण भी वहीं हुआ और वि० सं० १९७८ में विदुषी महासती अभयकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की । आप सेवाभावी महासती थीं । सं० २०३३ में आपका भीम में स्वर्गवास हुआ ।

महासती श्री जसकुंवरजी का जन्म वि. सं. १९५३ में पदराडा ग्राम में हुआ । आपने महासती श्री आनन्दकुंवरजी के पास सं० १९८५ में कम्बोल ग्राम में दीक्षा ग्रहण की और महासती श्री अभयकुंवरजी की सेवा में रहने से वे उन्हें अपनी गुरुणी की तरह पूजनीय मानती थीं । आप में सेवा की भावना अत्यधिक थी । सं० २०३३ में भीम में स्वर्गवास हुआ । इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक चली ।

महासती श्री नवलाजी की तृतीय शिष्या केसरकुंवरजी थीं । उनकी सुशिष्या छगनकुंवरजी हुईं ।

एक ही प्रवचन से बिराग्य उदय महासती छगनकुंवरजी

आप कुशलगढ़ के सन्निकट केलवाड़े ग्राम की निवासिनी थीं । लघुवय में ही आपका पाणिग्रहण

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १४५



हो गया था। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से आपके अन्तर्मानस में धार्मिक साधना के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई। आपका समुर पक्ष सूर्तिपूजक आमनाय के प्रति विशिष्ट रूप से आकर्षित था। आप तीर्थयात्रा की दृष्टि से उदयपुर आयीं। कुछ बहनों प्रवचन सुनने हेतु महासती गुलाबकुंवरजी के पास जा रही थीं। आपने उनसे पूछा कि कहाँ जा रही हैं? उन्होंने बताया कि हम महासती जी के प्रवचन सुनने जा रही हैं। उनके साथ आप भी प्रवचन सुनने हेतु पहुँची। महासती जी के वैराग्यपूर्ण प्रवचन को सुनकर अन्तर्मानस में तीव्र वैराग्य भावना जाग्रत हुई। आपने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरी भावना त्याग-मार्ग को ग्रहण करने की है। महासती जी ने कहा—कुछ समय तक धार्मिक अध्ययन कर, फिर अन्तिम निर्णय लेना अधिक उपयुक्त रहेगा। बुद्धि तीक्ष्ण थी। अतः कुछ ही दिनों से काफी थोकड़े, बोल, प्रतिक्रमण व आगमों को कण्ठस्थ कर लिया। परिवार वालों ने आपकी भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान की। आप अपने साथ तीर्थयात्रा करने हेतु प्रभूत सम्पत्ति भी लायी थी। परिवारवालों ने कहा—हम इस सम्पत्ति को नहीं लेंगे। अतः सारी सम्पत्ति का उन्होंने दान कर दिया। आपका प्रवचन बहुत ही मधुर होता था। आपकी अनेक शिष्याएँ थीं। उनमें महासती फूल-कुंवरजी मुख्य थीं। वि० सं० १९६५ में संथारे के साथ आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

#### गुरुमाता—ज्ञानकुंवर जी म०

महासती छगनकुंवरजी की एक शिष्या विदुषी महासती ज्ञानकुंवरजी थीं। आपका जन्म वि० सं० १९०५ उम्मड ग्राम में हुआ और बम्बोरा के शिवलालजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ था। सं० १९४० में आपके एक पुत्र हुआ जिसका नाम हजारीमल रखा गया। आचार्यप्रवर पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज तथा महासती छगनकुंवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने १९५० में महासती श्रीछगन-कुंवरजी के पास जालोट में दीक्षा ग्रहण की। आपके पुत्र ने ज्येष्ठ शुक्ला १३ रविवार के दिन समदडी में दीक्षा ग्रहण की। उनका नाम ताराचन्दजी महाराज रखा गया। वे ही आगे चलकर उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के गुरु बने। महासती ज्ञानकुंवरजी महाराज बहुत ही सेवाभावी तथा तपोनिष्ठा साध्वी थीं। महासती श्री गुलाबकुंवरजी के उदयपुर स्थानापन्न विराजने पर आपश्री ने वहाँ वर्षों तक रहकर सेवा की और वि० सं० १९८७ में उदयपुर में संथारा सहित उनका स्वर्गवास हुआ।

#### महासती फूलकुंवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के दुलावतों के गुड़े में वि० सं० १९२१ में हुआ। आपके पिता का नाम भगवानचन्दजी और माता का नाम चुन्नीबाई था। लघुवय में आपका पाणिग्रहण तिरपाल में हुआ। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से महासती छगनकुंवरजी के उपदेश को सुनकर विरक्ति हुई और १७ वर्ष की उम्र में आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। आपने अनेकों शास्त्र कण्ठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली भी अत्यन्त मधुर थी। आपके प्रवचन से प्रभावित होकर निम्न शिष्याएँ बनीं—(१) महासती माणककुंवरजी, (२) महासती धूलकुंवरजी, (३) महासती आनन्दकुंवरजी, (४) महासती लाभकुंवरजी, (५) महासती सोहनकुंवरजी, (६) महासती प्रेमकुंवरजी और (७) महासती मोहनकुंवरजी। आपने पचास वर्ष तक संयम की उत्कृष्ट साधना की। वि० सं० १९८९ में आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा शरीर लम्बे समय तक नहीं रहेगा। आपने अपनी शिष्याओं को कहा कि मुझे अब संथारा करना है। किन्तु शिष्याओं ने निवेदन किया कि अभी आप पूर्ण स्वस्थ हैं, ऐसी स्थिति में संथारा करना उचित नहीं है। उस समय आपने



शिष्याओं के मन को दुःखाना उचित नहीं समझा। आपने अपने मन से ही फाल्गुन शुक्ला बारस के दिन संथारा कर लिया। दूसरे दिन जब साध्वियाँ भिक्षा के लिए जाने लगीं, तब उन्होंने आपसे निवेदन किया कि हम आपके लिए भिक्षा में क्या लावें तब आपने कहा कि मुझे आहार नहीं करना है। तीन दिन तक यही क्रम चला। चौथे दिन साध्वियों के आग्रह पर आपने स्पष्ट किया कि मैंने संथारा कर लिया है। चैत्र वदी अष्टमी को बारह दिन का संथारा पूर्ण कर आप स्वर्ग पधारीं।

**महासती माणककुंवरजी**—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कानोड ग्राम में वि० सं० १९१० में हुआ। आपकी प्रकृति सरल, सरस थी। सेवा की भावना अत्यधिक थी। ७५ वर्ष की उम्र में वि० सं० १९८५ के आसोज महीने में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

संयमकल्प बेलि—महासती धूलकुंवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के मादड़ा ग्राम में वि० सं० १९३५ माघ वदी अमावस्या को हुआ। आपके पिताश्री पन्नालालजी चौधरी और माता का नाम नाथीबाई था। माता-पिता ने दीर्घकाल के पश्चात् सन्तान होने से आपका नाम धूलकुंवर रखा। तेरह वर्ष की लघुवय में वास निवासी चिमनलाल जी ओरडिया के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। कुछ समय के पश्चात् ही पति का देहान्त होने पर, आपकी भावना महासती फूलकुंवर जी के उपदेश को सुनकर संयम ग्रहण करने की हुई। किन्तु पारिवारिक जनों के अत्याग्रह के कारण आप उस समय संयम न ले सकीं और वि० सं० १९५६ में फाल्गुन वदी तेरस को वास ग्राम में महासती फूलकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। विनय, वैयावृत्य और सरलता आपके जीवन की मुख्य विशेषताएँ थीं। आपने अनेक शास्त्रों को भी कण्ठस्थ किया था। लगभग ३०० थोकड़े आपको कण्ठस्थ थे। आपके महासती आनन्दकुंवरजी, महासती सौभाग्यकुंवरजी, महासती शम्भुकुंवरजी, बालब्रह्मचारिणी शीलकुंवरजी, महासती मोहनकुंवरजी, महासती कंचनकुंवरजी, महासती सुमनवतीजी, महासती दयाकुंवरजी, आदि शिष्याएँ थीं।

श्रद्धेय सगुरुवर्य पुष्करमुनिजी महाराज को भी प्रथम आपके उपदेश से ही वैराग्य भावना जागृत हुई थी। आपका विहार क्षेत्र मेवाड़, मारवाड़, मध्यप्रदेश, अजमेर, व्यापक था। वि० सं० २००३ में आप गोगुन्दा ग्राम में स्थानापन्न विराजीं और वि० २०१३ में कार्तिक शुक्ला ११ को २४ घण्टे के संथारे के पश्चात् आपका स्वर्गवास हुआ।

**महासती लाभकुंवरजी**—आपका जन्म वि० सं० १९३३ में उदयपुर राज्य के ढोल ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम भोतीलालजी ढालावत और माता का नाम तीजबाई था। आपका पाणिग्रहण सायरा के कावेडिया परिवार में हुआ था। लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने पर महासती फूलकुंवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९५६ में सादडी मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपका कण्ठ बहुत मधुर था। व्याख्यान-कला सुन्दर थी। आपकी दो शिष्याएँ हुईं—महासती लहरकुंवरजी और दाखकुंवरजी। आपका स्वर्गवास २००३ में श्रावण में यशवंतगढ़ में हुआ।

**महासती लहरकुंवरजी**—आपका जन्म नान्देशमा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम सूरजमलजी सिंघवी और माता का नाम फूलकुंवर बाई था। आपका पाणिग्रहण ढोल निवासी गेगराजजी ढालावत के साथ हुआ। पति का देहान्त होने पर कुछ समय के पश्चात् एक पुत्री का भी देहावसान हो गया। एक पुत्री

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १४७





जिसकी उम्र सात वर्ष की थी उसे उसकी दादी को सौंपकर वि० सं० १९=१ में ज्येष्ठ सुदी वारस को नान्देशमा ग्राम में दीक्षा ग्रहण की ।

आपकी प्रकृति मधुर व मिलनसार थी । स्तोक साहित्य का आपने अच्छा अभ्यास किया । आपकी एक शिष्या बनी जिनका नाम खमानकुंवरजी है । आपका स्वर्गवास २०२६ माह बदी अष्टमी को १२ घण्टे के संथारे से सायरा में हुआ ।

महासती प्रेमकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के गोगुन्दा ग्राम में हुआ और आपका पाणिग्रहण उदयपुर में हुआ था । पति का देहान्त होने पर महासती फूलकुंवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की । आप प्रकृति से सरल, विनीत और क्षमाशील थीं । वि० सं० १९६४ में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ । आपकी एक शिष्या थी जिनका नाम विदुषी महासती पानकुंवरजी था, जो बहुत ही सेवाभाविनी थीं और जिनका स्वर्गवास वि० सं० २०२४ के पौष माह में गोगुन्दा ग्राम में हुआ ।

महासती मोहनकुंवर जी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के वाटी ग्राम में हुआ था । आप लोढ़ा परिवार की थीं । आपका पाणिग्रहण मोलेरा ग्राम में हुआ था । महासती फूलकुंवरजी के उपदेश को श्रवण कर चारित्र्य धर्म ग्रहण किया । आपको थोकड़ों का अच्छा अभ्यास था और साथ ही मधुर व्याख्यानी भी थीं ।

महासती सौभाग्यकुंवरजी—आपका जन्म बड़ी सादड़ी नागोरी परिवार में हुआ था और बड़ी सादड़ी के निवासी प्रतापमल जी मेहता के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ । आपके एक पुत्र भी हुआ । महासती श्री धूलकुंवरजी के उपदेश को सुनकर आपने प्रव्रज्या ग्रहण की । आपकी प्रकृति भद्र थी । ज्ञानाभ्यास साधारण था । वि० सं० २०२७ आसोज सुदी तेरस को तीन घण्टे के संथारे के साथ गोगुन्दा में आपका स्वर्गवास हुआ ।

महासती शम्भुकुंवरजी—आपका जन्म वि० सं० १९५८ में वागपुरा ग्राम में हुआ । आपके पिता का नाम गेगराजजी धर्मावत और माता का नाम नाथीबाई था । खाखड़ निवासी अनोपचन्द जी बनोरिया के सुपुत्र धनराजजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ । आपके दो पुत्रियाँ हुईं । बड़ी पुत्री भूरबाई का पाणिग्रहण उदयपुर निवासी चन्दनमल जी कर्णपुरिया के साथ हुआ । कुछ समय पश्चात् पति का निधन होने पर आप उदयपुर में अपनी पुत्री के साथ रहने लगीं । महासती धूलकुंवरजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई । अपनी लघु पुत्री अचरज बाई के साथ वि० सं० १९८२ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को खाखड़ ग्राम में दीक्षा ग्रहण की । पुत्री का नाम शीलकुंवरजी रखा गया । आपको थोकड़ों का तथा आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था । आपके प्रवचन वैराग्यवर्धक होते थे । वि० सं० २०१८ में आप गोगुन्दा में स्थिरवास विराजी । वि० सं० २०२३ के आषाढ़ बदी तेरस को संथारापूर्वक स्वर्गवास हुआ । आपकी प्रकृति भद्र व सरल थी । सेवा का गुण आपमें विशेष रूप से था ।

इसी परम्परा में परम विदुषी महासती श्री शीलकुंवरजी महाराज वर्तमान में हैं । आपको आगमों व थोकड़ों का बहुत गम्भीरज्ञान है । प्रवचन शैली प्रभावणालिनी है । महासती शीलकुंवरजी की महासती मोहनकुंवरजी, महासती सायरकुंवरजी, विदुषी महासती श्री चन्दनवालाजी, महासती श्री चेलनाजी, महासती साधनाकुंवरजी और महासती देवेन्द्राजी, महासती मंगल ज्योति, महासती धर्म ज्योति आदि अनेक आपकी सुशिष्याएँ हैं जिनमें बहुत-सी प्रभावशाली विचारक व वक्ता हैं ।



महासती नवलाजी की चतुर्थ शिष्या जसाजी हुई। उनके जन्म आदि वृत्त के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। उनकी शिष्या-परम्पराओं में महासती श्री लाभकुंवरजी थीं। इनका जन्म उदयपुर राज्य में कंबोल ग्राम में हुआ। इन्होंने लघुवय में दीक्षा ग्रहण की। ये बहुत ही निर्भीक वीरांगना थीं। एक बार अपनी शिष्याओं के साथ खामनोर (मेवाड़) ग्राम से सेमल गाँव जा रही थीं। उस समय साथ में अन्य कोई भी गृहस्थ श्रावक नहीं थे, केवल साध्वियाँ ही थीं। उस समय सशस्त्र चार डाकू आपको लुटने के लिए आ पहुँचे। अन्य साध्वियाँ डाकूओं के डरावने रूप को देखकर भयभीत हो गयीं। डाकू सामने आये। महासती जी ने आगे बढ़कर उन्हें कहा—तुम वीर हो, क्या अपनी बहू-बेटी साध्वियों पर हाथ उठाना तुम्हारी वीरता के अनुकूल है? तुम्हें शर्म आनी चाहिए। इस वीर भूमि में तुम साध्वियों के वस्त्र आदि लेने पर उतारू हो रहे हो? क्या तुम्हारा धात्र-तेज तुम्हें यही सिखाता है? इस प्रकार महासती जी के निर्भीकतापूर्वक वचनों को सुनकर डाकूओं के दिल परिवर्तित हो गये। वे महासतीजी के चरणों में गिर पड़े और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि हम भविष्य में किसी बहन या माँ पर हाथ नहीं उठायेगे और न बालकों पर ही। डाका डालना तो हम नहीं छोड़ सकते, पर इस नियम का हम दृढ़ता से पालन करेंगे।

#### गुरुणी के चमत्कार की परीक्षा ली श्रावकों ने

एक बार महासती लाभकुंवरजी चार शिष्याओं के साथ देवरिया ग्राम में पधारीं। वहाँ पर एक बहुत ही सुन्दर मकान था। एक श्रावक ने कहा—महासतीजी, यह मकान आप सतियों के ठहरने के लिए बहुत ही सात्ताकारी रहेगा। अन्य श्रावकगण मौन रहे। महासतीजी वहाँ पर ठहर गयीं। महासतीजी ने देखा उस मकान में पत्तंग बिछा हुआ था। उस पर गादी-तकिये बिछाये हुए थे तथा इत्र पुष्पों की मधुर सौरभ से मकान सुवासित था। रात्रि में कोई भी बहन महासतीजी के दर्शन के लिए वहाँ उपस्थित नहीं हुई। महासतीजी को पता लग गया कि इस मकान में अवश्य ही भूत और प्रेत का कोई उपद्रव है। महासती लाभकुंवरजी ने सभी शिष्याओं को आदेश दिया कि सभी आकर मेरे पास बैठें। आज रात्रि भर हम अखण्ड नवकार मन्त्र का जाप करेंगी। जाप चलने लगा। एक साध्वीजी को जरा नींद आने लगी। ज्यों ही वे सोई त्यों ही प्रेतात्मा उस महासती की छाती पर सवार हो गयी जिससे वह चिल्लाने लगी। महासती लाभकुंवरजी ने आगे बढ़कर उस प्रेत को ललकारा—तुझे महासतियों को परेशान करते हुए लज्जा नहीं आती। हमने तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है। महासती की गम्भीर गर्जना को सुनकर प्रेतात्मा एक ओर हो गया। महासती लाभकुंवरजी ने साध्वियों से कहा—जब तक तुम जागती रहोगी तब तक प्रेतात्मा का किञ्चित् भी जोर न चलेगा। जागते समय जप चलता रहा। किन्तु लम्बा विहार कर आने के कारण महासतियाँ थकी हुई थीं। अतः उन्हें नींद सताने लगी। ज्योंही दूसरी महासती नींद लेने लगी त्यों ही प्रेतात्मा उन्हें घसीट कर एक ओर ले चला। गहरा अँधेरा था, महासती लाभकुंवरजी ने ज्यों ही अँधेरे में देखा कि प्रेतात्मा उनकी साध्वी को घसीट कर ले जा रहा है, नवकार मंत्र का जाप करती हुई वे पहुँचीं और प्रेतात्मा के चंगुल से साध्वी को छुड़ाकर पुनः अपने स्थान पर लायीं और रात भर जाप करती हुई पहरा देती रहीं। प्रातः होने पर उनके तपःतेज से प्रभावित होकर महासतीजी से क्षमा मांगकर प्रेतात्मा वहाँ से चला गया। महासती ने श्रावकों को उपालम्भ देते हुए कहा—इस प्रकार भयप्रद स्थान में साध्वियों को नहीं ठहराना चाहिए। श्रावकों ने कहा—हमने सोचा कि हमारी गुरुणीजी बड़ी ही चमत्कारी हैं, इसलिए इस मकान का सदा के लिए संकट

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएं एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्रीदेवेन्द्र मुनि | १४६



मिट जायगा अतः उस श्रावक की प्रार्थना करने पर मौन रहे, अब क्षमा प्रार्थी हैं। महासतीजी ने कहा— संकट तो मिट गया पर हमें कितनी परेशानी हुई ?

इस प्रकार महासतीजी के जीवन में अनेकों घटनाएँ घटीं किन्तु उनके ब्रह्मचर्य के तेज व जप-साधना के कारण सभी उपद्रव शांत रहे।

महासती श्री लाभकुंवरजी की अनेक शिष्याओं में एक शिष्या महासती छोटे आनन्दकुंवरजी थीं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के कमोल ग्राम में थी। ये बहुत ही मधुरभाषिणी थीं। उनके जीवन में त्याग की प्रधानता थी। इसलिए उनके प्रवचनों का असर जनता के अन्तर्मानस पर सीधा होता था। आप जहाँ भी पधारीं वहाँ आपके प्रवचनों से जनता मंत्रमुग्ध होती रही। आपकी अनेक शिष्यायें हुईं। उनमें महासती मोहनकुंवरजी महाराज और लहरकुंवरजी महाराज इन दो शिष्याओं का संज्ञित परिचय इस प्रकार है।

महासती मोहनकुंवरजी : मृत्यु का आभास हुआ

महासती मोहनकुंवर जी का जन्म उदयपुर राज्य के भूताला ग्राम में हुआ। उनका गृहस्थाश्रम का नाम मोहनबाई था। जाति से आप ब्राह्मण थीं। नौ वर्ष की लघुवय में आपका पाणिग्रहण हो गया। वह पति के साथ एक बार तीर्थयात्रा के लिए गुजरात आयीं। भडौंच के सन्निकट नरमदा में स्नान कर रही थीं कि नदी में पानी का अचानक तीव्र प्रवाह आ गया जिससे अनेक व्यक्ति जो किनारे पर स्नान कर रहे थे पानी में बह गये। मोहनबाई का पति भी बह गया जिससे ये विधवा हो गईं। उस समय महासती आनन्दकुंवरजी विहार करती हुईं भूताले पहुंचीं। उनके उपदेश से प्रभावित हुईं। मन में वैराग्य-भावना लहराने लगी। किन्तु उनके चाचा मोतीलाल ने अनेक प्रयास किये कि उनका वैराग्य रंग फीका पड़ जाय। अनेक बार उन्हें थाने के अन्दर कोठरी में बन्द कर दिया, पर वे सभी परीक्षाओं में समुत्तीर्ण हुईं। अन्त में मोतीलालजी उन्हें महाराणा फतहसिंह के पास ले गये। महाराणाजी ने भी उनकी परीक्षा ली। किन्तु उनकी दृढ़ वैराग्य-भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी जिससे सोलह वर्ष की उम्र में आर्हंती दीक्षा ग्रहण की। खूब मन लगाकर अध्ययन किया। आपकी दीक्षा के सोलह वर्ष के पश्चात् आपका वर्षावास अपनी सद्गुरुणी के साथ उदयपुर में था। आश्विन शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि में वे सोयी हुई थीं। उन्होंने देखा एक दिव्य रूप सामने खड़ा है और वह आवाज दे रहा है कि जाग रही हैं या सो रही हैं ? तत्क्षण वे उठकर बैठ गईं और पूछा—आप कौन हैं ? और क्यों आये हैं ? देव ने कहा—यह न पूछो, देखो तुम्हारा अन्तिम समय आ चुका है। कार्तिक सुदी प्रतिपदा के दिन नौ बजे तुम अपनी नश्वर देह का परित्याग कर दोगी, अतः संथारा आदि कर अपने जीवन का उद्धार कर सकती हो। यह कहकर देव अन्तर्धान हो गया। महासती आनन्दकुंवरजी जो सन्निकट ही सोयी हुई थीं, उन्होंने सुना और पूछा किससे बात कर रही हो ? उन्होंने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरा अन्तिम समय आ चुका है, इसलिए मुझे संथारा करा दें। महासतीजी ने कहा—अभी तेरी बत्तीस वर्ष की उम्र है, ऋरीर में किसी भी प्रकार की व्याधि नहीं है, अतः मैं संथारा नहीं करा सकती। उस समय उदयपुर में आचार्य श्रीलालजी महाराज का भी वर्षावास था, उन्होंने भी अपने शिष्यों को भेजकर महासती से संथारा न कराने का आग्रह किया और महाराणा फतहसिंह जी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी पुछवाया कि असमय में संथारा क्यों कर रही हो ? तब महासती ने कहा मैं स्वेच्छा से संथारा कर रही हूँ, मैं मेवाड़ की



वारांगना हैं। स्वीकृत संकल्प से पीछे हटने वाली नहीं हैं। अन्त में संथारा ग्रहण किया और गौतम प्रतिपदा के दिन निश्चित समय पर उनका स्वर्गवास हुआ।

शास्त्रार्थ विजयी—लहरकुंवर जी

महासती लहरकुंवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के सलोदा ग्राम में हुआ और आपका पाणिग्रहण भी सलोदा में हुआ। किन्तु लघुवय में ही पति का देहांत हो जाने से महासती श्री आनन्दकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आगम साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। एक बार सायरा ग्राम में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक और तेरापंथ की सतियों के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। आपने अपने अकाट्य तर्कों से उन्हें परास्त कर दिया। आपकी प्रकृति बहुत ही सरल थी। आपकी वाणी में मिश्री सा माधुर्य था। सं० २००७ में आपका वर्षावास यशवंतगढ़ (मेवाड़) में था। शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई और संथारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी दो शिष्यायें हुईं—महासती सज्जनकुंवरजी और महामती कंचनकुंवर जी।

महासती सज्जनकुंवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम के बंबोरी परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम भेरूलाल जी और माता का नाम रंगुबाई था। १३ वर्ष की अवस्था में आपका पाणिग्रहण कमोल के ताराचन्दजी जोशी के साथ सम्पन्न हुआ। आपका गृहस्थाश्रम का नाम जमुनाबाई था। सोलह वर्ष की उम्र में पति का देहांत होने पर विदुषी महासती आनन्दकुंवरजी के उपदेश से सं० १९७६ में दीक्षा ग्रहण की। चौपन वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन कर सं० २०३० आसोज सुदी पूर्णिमा के दिन अपना यशवंतगढ़ में स्वर्गवास हुआ। महासती सज्जनकुंवरजी की एक शिष्या हुई जिनका नाम बालब्रह्मचारिणी विदुषी महासती कौशल्याजी है।

महासती कौशल्याजी की सात शिष्याएँ हैं—महासती विनयवतीजी, महासती हेमवतीजी, महासती दर्शनप्रभाजी महासती सुदर्शनप्रभाजी, संयमप्रभा; स्नेहप्रभा, सुलक्षणा।

महासती लहरकुंवरजी की दूसरी शिष्या महासती कंचनकुंवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के कमोल गाँव के दोसी परिवार में हुआ। तेरह वर्ष की वय में आपका विवाह पदराडा में हुआ और चार महीने के पश्चात् ही पति के देहांत हो जाने से लघुवय में विधवा हो गयीं। महासती श्री लहरकुंवरजी के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण की। आपका नांदेशभा ग्राम में संथारे के साथ स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या है जिनका नाम महासती बल्लभकुंवरजी हैं—जो बहुत ही सेवा परायण है।

पूर्व पत्नियों में हम बता चुके हैं कि महासती सदाजी की रत्नाजी, रंभाजी, नवलाजी की पांच शिष्याएँ हुईं, उनमें से चार शिष्याओं के परिवार का परिचय दिया जा चुका है। उनकी पाँचवीं शिष्या अमृताजी हुईं। उनकी परम्परा में महासती श्री रायकुंवरजी हुईं जो महान प्रतिभासम्पन्न थीं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट कविता ग्राम में थी। आप ओसवाल तलेसरा वंश की थीं। उनके अन्य जीवनवृत्त के सम्बन्ध में मुझे विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। पर यह सत्य है कि वे एक प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। जिनके पवित्र उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक शिष्याएँ बनीं। उनमें से दस शिष्याओं के नाम उपलब्ध होते हैं। अन्य शिष्याओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है।

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएं एवं सद्गुरुमी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १५१



(१) महासती सूरजकुंवरजी

इनकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी और पाणिग्रहण साडोल (मेवाड़) के हनोत परिवार में हुआ था। महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने साधनामार्ग स्वीकार किया। आपकी कितनी शिष्याएँ हुईं, यह ज्ञात नहीं।

(२) महासती फूलकुंवरजी

आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आंचलिया परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ। महासतीजी के पावन प्रवचनों से प्रभावित होकर श्रमणीधर्म स्वीकार किया। आपकी भी कितनी शिष्याएँ हुईं, यह ज्ञात नहीं।

(३) महासती हुल्लासकुंवरजी

आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आपका पाणिग्रहण भी उदयपुर में हरखावत परिवार में हुआ था। आपने भी महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर संप्रथम धर्म ग्रहण किया था। महासती हुल्लासकुंवरजी बहुत विलक्षण प्रतिभा की धनी थीं। आपके उपदेश से प्रभावित होकर पाँच शिष्याएँ बनीं—महासती देवकुंवरजी (जन्म कर्णपुर के पोरवाड परिवार में तथा विवाह उदयपुर पोरवाड परिवार), महासती प्यारकुंवरजी (जन्म—वाठेडा, समुराल—डबोक), महासती पदमकुंवरजी—इनका जन्म उदयपुर के सन्निकट थामला के सियार परिवार में हुआ और डबोक झगड़ावत परिवार में पाणिग्रहण हुआ। स्थाविरा विदुषी महासती सौभाग्यकुंवरजी और सेवामूर्ति महासती चतुरकुंवरजी। इनमें महासती पदमकुंवरजी की महासती कैलासकुंवरजी शिष्या हुईं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपके पिता का नाम हीरालालजी और माता का नाम इन्दिराबाई था। आपका गणेशीलालजी से पाणिग्रहण हुआ था। सं० १६६३ फाल्गुन शुक्ला दशमी के दिन देलवाड़ा में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी चरित्र बाँचने की शैली बहुत ही सुन्दर थी, आपकी सेवाभावना प्रशंसनीय थी। सं० २०३२ में आपका अजमेर में संधारा सहित स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती रतनकुंवरजी है।

महासती हुल्लासकुंवरजी की चतुर्थ शिष्या सौभाग्यकुंवर जी हैं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर, पिता का नाम मोडीलालजी खोखावत और माता का नाम रूपाबाई था। आपश्री वर्तमान में विद्यमान हैं। आपका स्वभाव बहुत ही मधुर है। आपकी शिष्या हुई महासती मोहनकुंवरजी जिनका जन्म दरीवा (मेवाड़) में हुआ और उनका पाणिग्रहण दबोक ग्राम में हुआ। वि० सं. २००६ में आपने दीक्षा ग्रहण की और सं० २०३१ में आपका स्वर्गवास उदयपुर में हुआ।

महासती हुल्लासकुंवर जी की पाँचवी शिष्या महासती चतुरकुंवरजी हैं जो बहुत ही सेवा-परायण साध्वीरत्न हैं।

(४) महासती रायकुंवरजी की चतुर्थ शिष्या हुकमकुंवरजी थीं। उनकी सात शिष्याएँ हुईं—महासती भूरकुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कविता ग्राम में हुआ। आपको थोकड़े साहित्य का बहुत ही अच्छा परिज्ञान था। पचहत्तर वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती प्रतापकुंवरजी था, जो प्रकृति से भद्र थीं। लखावली के भण्डारी



परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ था और लगभग सत्तर वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ ।

महासती हुकुमकुंवर जी की दूसरी शिष्या रूपकुंवरजी थीं । आपकी जन्मस्थली देवास (मेवाड़) थी । लोढा परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ । आपने महासती जी के पास दीक्षा ग्रहण की । वर्षों तक संयम पालन कर अन्त में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ ।

महासती हुकुमकुंवरजी की तृतीय शिष्या बल्लभकुंवरजी थीं । आपका जन्म उदयपुर के वाफना परिवार में हुआ था और आपका पाणिग्रहण उदयपुर के गेलडा परिवार में हुआ । आपने दीक्षा ग्रहण कर आगम शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया । आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम महासती गुलाबकुंवरजी था । आपका जन्म 'गुलुडिया' परिवार में हुआ था और पाणिग्रहण 'बया' परिवार में हुआ था । आपको आगम व स्तोक साहित्य का सम्यक् परिज्ञान था । उदयपुर में ही संथारा सहित आप स्वर्गस्थ हुईं ।

महासती हुकुमकुंवर जी की चौथी शिष्या सज्जनकुंवरजी थीं । आपने उदयपुर के बाफना परिवार में जन्म लिया और दुगड़ों के वहाँ पर समुराल थी । आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम मोहनकुंवरजी था जिनकी जन्मस्थली अलवर थी और समुराल खण्डवा में थी । वर्षों तक संयम-साधना कर उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ ।

महासती हुकुमकुंवरजी की पाँचवीं शिष्या छोटे राजकुंवरजी थीं । आप उदयपुर के माहेश्वरी वंश की थीं ।

महासती हुकुमकुंवरजी की एक शिष्या देवकुंवरजी थीं जो उदयपुर के सन्निकट कर्णपुर ग्राम की निवासिनी थीं और पोरवाड वंश की थीं और सातवीं शिष्या महासती गेंदकुंवरजी थीं । आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट भुआना के पगारिया कुल में हुआ । चन्देसरा गाँव के बोकड़िया परिवार में आपकी समुराल थी । आपको सैकड़ों थोकड़े कण्ठस्थ थे । आप सेवापरायण थीं । सं० २०१० में ब्यावर में आपका स्वर्गवास हुआ ।

#### व्युत्पन्न मेधाविनी—मदनकुंवरजी महाराज

आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी । आपकी प्रतिभा गजब की थी । आपने महासती जी के पास दीक्षा ग्रहण की । आपको आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन था और थोकड़ा साहित्य पर भी आपका पूर्ण अधिकार था । एक बार आचार्य श्री मुन्नालालजी महाराज जो आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे, उन्होंने उदयपुर के जाहिर प्रवचन सभा में महासती मदनकुंवरजी के उन्नीस प्रश्न किये थे । वे प्रश्न आगम ज्ञान के साथ ही प्रतिभा से सम्बन्धित थे । उन्होंने पूछा—बताइये महासतीजी; सिद्ध भगवान कितना विहार करते हैं ? उत्तर में महासतीजी ने कहा—सिद्ध भगवान सात राजु का विहार करने हैं, क्योंकि सिद्ध जो बनते हैं वे यहाँ पर बनते हैं, यहीं पर अष्ट कर्म नष्ट करते हैं और फिर कर्म नष्ट होने से वे ऊर्ध्व लोक के अग्रभाग पर अवस्थित होते हैं । क्योंकि वहाँ से आगे आकाश द्रव्य है, पर धर्मास्तिकाय नहीं ।

महाराजश्री ने दूसरा प्रश्न किया—साधु कितना विहार करते हैं ? उत्तर में महासती जी ने कहा—आचार्य प्रवर, साधु चौदह राजु का विहार करते हैं । केवली भगवान जिनका आयुकर्म कम होता है और

जैन शासन प्रभाविका अमर सादिकाएं एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १५३



वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म अधिक होता है, तब केवली समुद्रघात होती है। उस समय आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में प्रसरित हो जाते हैं। केवली महाराज साधु हैं। उनके आत्मप्रदेश भी साधु के हैं। इस दृष्टि से वे चौदह राजु का विहार करते हैं।

आचार्यश्री ने तीसरा प्रश्न किया—सिद्ध भगवान कितने लम्बे हैं और कितने चौड़े हैं? महासती जी ने उत्तर में निवेदन किया—सिद्ध भगवान तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल लम्बे हैं। क्योंकि पाँच सौ धनुष की अवगाहना वाले जो सिद्ध बनते हैं उनके आत्मप्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल लम्बे रहते हैं और सिद्ध भगवान चौड़े हैं पैंतालीस लाख योजन। पैंतालीस लाख योजन का मनुष्य क्षेत्र है। जहाँ पर एक सिद्ध है वहाँ पर अनन्त सिद्ध हैं। सभी सिद्धों के आत्मप्रदेश परस्पर मिले हुए हैं। बीच में तनिक मात्र भी व्यवधान नहीं है। इस घनत्व की दृष्टि से सिद्ध भगवान पैंतालीस लाख योजन चौड़े हैं।

चौथा प्रश्न आचार्यश्री ने किया—चौबीस तीर्थकरों में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव हैं और चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर हैं। वताइये दोनों में से किसकी आत्मा हमारे से अधिक सन्निकट है? उत्तर में महासतीजी ने कहा—भगवान ऋषभदेव की आत्मा हमारे से अधिक सन्निकट है वनिस्वत भ० महावीर के। क्योंकि भगवान ऋषभदेव की अवगाहना पाँच सौ धनुष की थी और भ० महावीर की अवगाहना सात हाथ की थी। जिससे ऋषभदेव के आत्म-प्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल हैं और महावीर की आत्मा के प्रदेश चार हाथ और सोलह अंगुल हैं। अतः ऋषभदेव की आत्मा महावीर की आत्मा से हमारे अधिक सन्निकट है।

पाँचवाँ प्रश्न आचार्यश्री ने किया—दो श्रावक हैं। वे दोनों एक ही स्थान पर बैठे हैं। एक देवसी प्रतिक्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। वे दोनों पृथक-पृथक प्रतिक्रमण क्यों करते हैं? इसकी क्या अपेक्षा है? स्पष्ट कीजिए। महासतीजी ने उत्तर में कहा—दो श्रावक हैं, एक भरतक्षेत्र का दूसरा महाविदेहक्षेत्र का। वे दोनों श्रावक विराधक हो गये और वे वहाँ से आयु पूर्णकर अढाई द्वीप के बाहर नन्दीश्वर द्वीप में जलचर के रूप में उत्पन्न हुए। नन्दीश्वर द्वीप में देव भगवान तीर्थकरों के अष्टाह्निक महोत्सव मनाते हैं। उन महोत्सवों में तीर्थकर भगवान के उत्कीर्तन को सुनकर उन जलचर जीवों को जातिस्मरणज्ञान होता है और वे उस ज्ञान से अपने पूर्वभ्रम को निहारते हैं और उस जातिस्मरणज्ञान के आधार से वे वहाँ पर प्रतिक्रमण करते हैं। क्योंकि नन्दीश्वर द्वीप में तो रात-दिन का कोई क्रम नहीं है। अतः वे जातिस्मरणज्ञान से अपने पूर्व स्थल को देखते हैं। मन में ग्लानि होती है अतः वे वहाँ प्रतिक्रमण करते हैं। पर जिस समय भरतक्षेत्र में दिन होता है उस समय महाविदेह क्षेत्र में रात्रि होती है, अतः एक देवसी प्रतिक्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। सन्निकट बैठे रहने पर भी वे दोनों पृथक-पृथक प्रतिक्रमण करते हैं।

आचार्यश्री ने छठा प्रश्न किया—जीव के पाँच सौ तिरसठ भेदों में से ऐसा कौन-सा जीव है जो एकान्त मिथ्यादृष्टि है और साथ ही एकान्त शुक्ललेश्यी भी। क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। महासतीजी ने कहा—तेरह सागर की स्थिति वाले कित्विषी देव में एकान्त मिथ्यादृष्टि होती है और साथ ही वे एकान्त शुक्ललेश्यी भी हैं।

इस प्रकार उन्नीस प्रश्नों के उत्तरों को सुनकर आचार्य प्रवर और सभा प्रमुदित हो गयी और उन्होंने कहा—मैंने कई सन्त-सतियाँ देखीं, पर इनके जैसी प्रतिभासम्पन्न साध्वी नहीं देखी।



गुप्त तपस्विनी

महासती मदनकुंवरजी जिस प्रकार प्रकृष्ट प्रतिभा की धनी थीं उसी प्रकार उत्कृष्ट आचार-निष्ठा भी थीं। गुप्त तप उन्हें पसन्द था। प्रदर्शन से वे कोसों दूर भागती थीं। वे साध्वियों के आहारादि से निवृत्त होने पर जो अवशेष आहार बच जाता और पात्र धोने के बाद जो पानी बाहर डालने का होता उसी को पीकर संतोष कर लेतीं। कई बार नन्हीं सी गुड़ की डेली या शक्कर लेकर मुंह में डाल लेतीं। यदि कोई उनसे पूछता—क्या आज आपके उपवास है ! वे कहतीं—नहीं, मैंने तो मीठा खाया है।

उनमें सेवा का गुण भी गजब का था। उन्हें हजारों जैन कथाएँ और लोक कथाएँ स्मरण थीं। समय-समय पर बालक और बालिकाओं को कथा के माध्यम से संसार की असारता का प्रतिपादन करतीं। कर्म के मर्म को समझातीं। उनका मानना था कि बालकों को और सामान्य प्राणियों को कथा के माध्यम से ही उपदेश देना चाहिए जिससे वह उपदेश ग्रहण कर सके। उन्होंने मुझे बाल्यकाल में सैकड़ों कथाएँ सुनाई थीं। सन् १९४९ में तीन दिन के संधारे के साथ उदयपुर में उनका स्वर्गवास हुआ।

(६) महासती सल्लेकुंवरजी—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी और आपका उदयपुर में ही मेहता परिवार में पाणिग्रहण हुआ। आपको महासतीजी के उपदेश का सुनकर वैराग्य-भावना जागृत हुई और अपनी पुत्री सज्जनकुंवर के साथ आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आप सेवापरायण साध्वी थीं।

(७) महासती सज्जनकुंवरजी—आपकी माता का नाम सल्लेकुंवर था और आपने माँ के साथ ही महासतीजी की सेवा में दीक्षा ग्रहण की थी।

दीर्घ तपस्विनी तीजकुंवरजी

(८) महासती तीजकुंवरजी—आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में थी। आपका पाणिग्रहण उसी गाँव में सेठ रोडमलजी भोगर के साथ सम्पन्न हुआ। गृहस्थाश्रम में आपका नाम गुलाबदेवी था। आपके दो पुत्र थे जिनका नाम प्यारेलाल और भैरूलाल था तथा एक पुत्री थी जिसका नाम खमाकुंवर था। आपने महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दो पुत्र और एक पुत्री के साथ दीक्षा ग्रहण की। आपके पति का स्वर्गवास बहुत पहले हो चुका था। आपश्री ने श्रमणीधर्म स्वीकार करने के पश्चात् नौ बार मासखमण की तपस्याएँ कीं, सोलह वर्षों तक आपने एक घी के अतिरिक्त दूध, दही, तेल और मिष्ठान इन चार विषयों का त्याग किया। एक बार आपको प्रातःकाल सपना आया—आपने देखा कि एक घड़े के समान बृहत्काय मोती चमक रहा है। अतः जागृत होते ही आपने स्वप्न-फल पर चिन्तन करते हुए विचार किया—अब मेरा एक दिन का ही आयु शेष है। अतः संधारा कर अपने जीवन को पवित्र बनाऊँ। आपने संधारा किया और एक दिन का संधारा कर स्वर्गस्थ हुईं।

(९) परम विदुषी महासती श्री मोहनकुंवरजी—आपश्री की जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में थी और जन्म सं० १९४९ (सन् १८९२) में हुआ। आपके पिताश्री का नाम रोडमलजी और माता का नाम गुलाबदेवी था और आपका सांसारिक नाम खमाकुंवर था। नौ बरस की लघुवय में ही आपका वाग्दान डुलावतों के गुडे के तकतमलजी के साथ हो गया। किन्तु परम विदुषी महासती रायकुंवरजी और कविवर्य पं० मुनि नेमीचन्दजी महाराज के त्याग-वैराग्ययुक्त उपदेश को श्रवण कर आप में वैराग्य भावना जाग्रत हुई और जिनके साथ वाग्दान किया गया था उनका सम्बन्ध छोड़कर अपनी मातेश्वरी और अपने

जैन शासन प्रभाविक! अमर साधिकाएँ एवं मद्गुण्णी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि । १५५





ज्येष्ठ भ्राता प्यारेलाल और भैरूलाल के साथ क्रमशः महासती राजकुंवरजी और कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के पास जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षास्थली पद्मभद्रा (बाडमेर) में थी और दोनों ने शिवगंज (जोधपुर) में दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके भ्राताओं की उम्र १३ और १४ वर्ष की थी और आपकी उम्र ६ वर्ष की। दोनों भ्राता बड़े ही मेधावी थे। कुछ ही वर्षों में उन्होंने आगम साहित्य का गहरा अध्ययन किया। किन्तु दोनों ही युवावस्था में क्रमशः मदार (मेवाड़) और जयपुर में त्रंथारा कर स्वर्गस्थ हुए।

वैराग्यमूर्ति मधुरभाषिणी : सोहनकुंवरजी महाराज

खमाकुंवरजी का दीक्षा नाम महासती सोहनकुंवरजी रखा गया। आप बाल-ब्रह्मचारिणी थीं। आपने दीक्षा ग्रहण करते ही आगम-साहित्य का गहरा अध्ययन प्रारम्भ किया और साथ ही थोकड़े साहित्य का भी। आपने शताधिक रास, त्रौपाइयां तथा भजन भी कण्ठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जिस समय आप प्रवचन करती थीं विविध आगम रहस्यों के साथ रूपक, दोहे, कवित्त, श्लोक और उर्दू शायरी का भी यत्र-तत्र उपयोग करती थीं। विषय के अनुसार आपकी भाषा में कभी ओज और कभी शान्त रस प्रवाहित होता था और जनता आपके प्रवचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी।

अध्ययन के साथ ही तप के प्रति आपकी स्वाभाविक रुचि थी। माता के संस्कारों के साथ तप की परम्परा आपको विरासत में मिली थी। आपने अपने जीवन की पवित्रता हेतु अनेक नियम ग्रहण किये थे, उनमें से कुछ नियमों की सूची इस प्रकार है—

(१) पंच पर्व दिनों में आयबिल, उपवास, एकासन, नीवि आदि में से कोई न कोई तप अवश्य करना।

(२) बारह महीने में छह महीने तक चार विगय ग्रहण नहीं करना। केवल एक विगय का ही उपयोग करना।

(३) छः महीने तक अचित्त हरी सब्जी आदि का भी उपयोग नहीं करना।

(४) चाय का परित्याग।

(५) उन्होंने महासती कुसुमवतीजी, महासती पुष्पवतीजी और महासती प्रभावतीजी ये तीन शिष्याएँ बनायीं। उसके पश्चात् उन्होंने अपनी नेश्राय में शिष्याएँ बनाना त्याग दिया। यद्यपि उन्होंने पहले भी तीस-पैंतीस साध्वियों को दीक्षा प्रदान की किन्तु उन्हें अपनी शिष्याएँ नहीं बनायीं।

(६) प्लास्टिक, सेलूलाइड आदि के पात्र, पट्टी आदि कोई वस्तु अपनी नेश्राय में न रखने का निर्णय लिया।

(७) जो उनके पास पात्र थे उनके अतिरिक्त नये पात्र ग्रहण करने का भी उन्होंने त्याग कर दिया।

(८) एक दिन में पाँच द्रव्य से अधिक द्रव्य ग्रहण न करना।

(९) प्रतिदिन कम से कम पच्चीस गाथाओं की स्वाध्याय करना।

(१०) बारह महीने में एक बार पूर्ण बत्तीस आगमों स्वाध्याय करना।

इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन को अनेक नियम और उपनियमों से आवद्ध बनाया। उनके जीवन





साध्वीरल्ल स्व० श्री सोहनकुंवरजी महाराज



में वैराग्य भावना अठखेलियां करती थी। यही कारण है कि अजमेर में सन् १९६३ में श्रमणी संघ ने मिलकर आपको चन्दनबाला श्रमणीसंघ की अध्यक्षता नियुक्त किया और श्रमणसंघ के उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज समय-समय पर अन्य साध्वियों को प्रेरणा देते हुए कहते कि देखो, विदुषी महासती सोहनकुंवर जी कितनी पवित्र आत्मा हैं। उनका जीवन त्याग-वैराग्य का साक्षात् प्रतीक है। तुम्हें इनका अनुसरण करना चाहिए।

विदुषी महासती सोहनकुंवरजी जहाँ ज्ञान और ध्यान में तल्लीन थीं वहाँ उन्होंने उत्कृष्ट तप की भी अनेक बार साधनाएँ कीं। उनके तप की सूची इस प्रकार है -

३३	३२	३१	२४	२३	२२	२१	२०	१७
२	१	१	२	१	२	१	२	३
१६	१५	१०	६	५	६	५	४	३
३	१३	१०	१०	५०	४०	४०	६५	६१
								५०

जब भी आप तप करतीं तब पारणे में तीन पौरसी करती थीं या पारणे के दिन आर्यबिल तप करतीं जिससे पारणे में औद्देशिक और नैमित्तिक आदि दोष न लगे।

#### आभ्यन्तर तप की सफल साधिका

बाह्य तप के साथ आन्तरिक तप की साधना भी आपकी निरन्तर चलती रहती थी। सेवा भावना आप में कूट-कूट कर भरी हुई थी। आप स्व-सम्प्रदाय की साध्वियों की ही नहीं किन्तु अन्य सम्प्रदाय की साध्वियों की भी उसी भावना से सेवा करती थीं। आपके अन्तर्मानस में स्व और पर का भेद नहीं था।

आचार्य गणेशीलालजी महाराज की शिष्याएँ केसरकुंवरजी, जो साइकिल से अक्सिडेंट होकर सड़क पर गिर पड़ी थीं, सन्ध्या का समय था, आप अपनी साध्वियों के साथ शौच भूमि के लिए गयीं। वहाँ पर उन्हें दयनीय स्थिति में गिरी हुई देखा। उस समय आपके पास दो चद्दर ओढ़ने को थी, उनमें से आपने एक चादर की झोली बनाकर और सतियों की सहायता से स्थानक पर उठाकर लायीं और उनकी अत्यधिक सेवा-शुश्रूषा की। इसी प्रकार महासती नाथकुंवरजी आदि की भी आपने अत्यधिक सेवा शुश्रूषा की और अन्तिम समय में उन्हें संधारा आदि करवाकर सहयोग दिया। आचार्य हस्तीमलजी महाराज की शिष्याएँ महासती अमरकुंवरजी, महासती धनकुंवरजी, महासती गोगाजी आदि अनेक सतियों की शुश्रूषा की और संधारा आदि करवाने में अपूर्व सहयोग दिया।

#### चन्दनबाला श्रमणी संघ की प्रथम प्रवर्तिनी

सन् १९६३ में अजमेर के प्रांगण में श्रमण संघ का शिखर सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर वहाँ पर अनेक महासतियाँ एकत्रित हुईं। उन सभी ने चिन्तन किया कि सन्तों के साथ हमें एकत्रित होकर कुछ कार्य करना चाहिए। उन सभी ने वहाँ पर मिलकर अपनी स्थिति पर चिन्तन किया कि भगवान महावीर के पश्चात् आज दिन तक सन्तों के अधिक सम्मेलन हुए, किन्तु श्रमणियों का कोई भी सम्मेलन आज तक नहीं हुआ और न श्रमणियों की परम्परा का इतिहास भी सुरक्षित है। भगवान महावीर के

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुणों परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १५७



पश्चात् साध्वी परम्परा का व्यवस्थित इतिहास न मिलना हमारे लिए लज्जास्पद है जबकि श्रमणों की तरह श्रमणियों ने भी आध्यात्मिक साधना में अत्यधिक योगदान दिया है। इसका मूल कारण है एकता व एक समाचारी का अभाव। अतः उन्होंने श्री वर्द्धमान चन्दनवाला श्रमणी संघ का निर्माण किया और श्रमणियों के ज्ञानदर्शनचारित्र्य के विकास हेतु इक्कीस नियमों का निर्माण किया। उसमें २५ प्रमुख साध्वियों की समिति का निर्माण हुआ। चन्दनवाला श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी पद पर सर्वानुमति से आपश्री को नियुक्त किया गया जो आपकी योग्यता का स्पष्ट प्रतीक था।

### उदार व दीर्घदर्शी दृष्टि

राजस्थान प्रान्त में रहने के बावजूद भी आपका मस्तिष्क संकुचित विचारों से ऊपर उठा हुआ था। यही कारण है कि सर्वप्रथम राजस्थान में साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा के उच्चतम अध्ययन करने के लिए आपके अन्तर्मानस में भावनाएँ जागृत हुईं। आपने अपनी सुशिष्या महासती कुमुदवतीजी, पुष्पवतीजी, चन्द्रावतीजी आदि को किंस कालेज बनारस की संस्कृत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्यरत्न प्रभृति उच्चतम परीक्षाएँ दिलवायीं। उस समय प्राचीन विचारधारा के व्यक्तियों ने आपश्री का डटकर विरोध किया कि साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी का उच्च अध्ययन न कराया जाय और न परीक्षा ही दिलवायी जाएँ। तब आपने स्पष्ट शब्दों में कहा-- साधुओं की तरह साध्वियों को भी अध्ययन करने का अधिकार है। आगम साहित्य में साध्वियों के अध्ययन का उल्लेख है। युग के अनुसार यदि साध्वियां संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन नहीं करेंगी तो आगम और उसके उत्तरकालीन साहित्य को पढ़ नहीं सकतीं और बिना पढ़े आगमों के रहस्य सम्पन्न नहीं आ सकते। इसका विरोधियों के पास कोई उत्तर नहीं था। आप विरोध को विनोद मानकर अध्ययन करवाती रहीं। उसके पश्चात् स्थानकवासी परम्परा में अनेक मूर्धन्य साध्वियां हुईं। आज अनेक साध्वियां एम. ए., पीएच. डी भी हो गयी हैं। यह था आपका शिक्षा के प्रति अनुराग।

आपने अनेक व्यक्तियों को प्रतिबोध दिया। जब अन्य सन्त व सतीजन अपनी शिष्या बनाने के लिए उत्सुक रहती हैं तब आपकी यह विशेषता थी कि प्रतिबोध देकर दूसरों के शिष्य व शिष्याएँ बनाती थीं। आपने अपने हाथों से ३०-३५ बालिकाओं और महिलाओं को दीक्षाएँ दीं पर सभी को अन्य नामों से ही घोषित किया। अपनी ज्येष्ठ गुरु बहन महासती मदनकुंवरजी के आग्रह पर उनकी आज्ञा के पालन हेतु तीन शिष्याओं को अपनी नेत्राय में रखा। यह थी आप में अपूर्व निस्पृहता। मुझे भी (देवेन्द्र मुनि) आद्य प्रतिबोध देने वाली आप ही थीं।

आपके जीवन में अनेक सद्गुण थे जिसके कारण आप जहाँ भी गयीं, वहाँ जनता जनार्दन के हृदय को जीता। आपने अहमदाबाद, पालनपुर, इन्दौर, जयपुर, अजमेर, जोधपुर, ब्यावर, पाली, उदयपुर, नाथद्वारा, प्रभृति अनेक क्षेत्रों में वर्षावास किये, सेवा भावना से प्रेरित होकर अपनी गुरु बहिनों की तथा अन्य साध्वियों की वृद्धावस्था के कारण दीर्घकाल तक आप उदयपुर में स्थानापन्न रहीं।

सन् १९६६ में आपका वर्षावास पाली में था। कुछ समय से आपको रक्तचाप की शिकायत थी, पर आपश्री का आत्मतेज अत्यधिक था जिसके कारण आप कहीं पर भी स्थिरवास नहीं विराजीं। सन् १९६६ (सं २०२३) में भाद्र शुक्ला १३ को संधारे के साथ रात्रि में आपका स्वर्गवास हुआ। आप महान



प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। आपके स्वर्गवास से एक तेजस्वी महासती की क्षति हुई। आपका तेजस्वी जीवन जन-जन को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

### महासती कुसुमवतीजी

विदुषी महासती श्री सोहनकुंवर महासती की प्रथम शिष्या विदुषी महासती कुसुमवतीजी हैं। उनकी तीन शिष्याएँ हैं—बालब्रह्मचारिणी महासती चारित्रप्रभाजी, बालब्रह्मचारिणी महासती दिव्य-प्रभाजी, बालब्रह्मचारिणी गरिमाजी। महासती चारित्रप्रभाजी के पाँच शिष्याएँ हैं (१) विदुषी बालब्रह्म-चारिणी दर्शनप्रभाजी (२) महासती विनयप्रभाजी, (३) महासती रुचिकाजी, (४) महासती राजश्रीजी (५) महासती प्रतिभाजी तथा महासती श्री दिव्यप्रभाजी की दो शिष्याएँ हैं—(१) महासती अनुपमा, (२) महासती निरुपमा और विदुषी महासती पुष्पवतीजी द्वितीय शिष्या हैं। उनकी चार शिष्याएँ हैं—बालब्रह्म-चारिणी चन्द्रावतीजी, बालब्रह्मचारिणी प्रियदर्शनाजी, बालब्रह्मचारिणी किरणप्रभाजी, और बालब्रह्म-चारिणी रत्नज्योतिजी। महासती प्रियदर्शना जी की शिष्या महासती सुत्रभाजी है। (महासती पुष्पवतीजी का जीवन वृत्त अगले पृष्ठों पर इसी खण्ड में अंकित है)।

### प्रज्ञामूर्ति प्रभावतीजी महाराज

तृतीय सुशिष्या प्रज्ञामूर्ति महासती प्रभावतीजी थीं। आप प्रबल प्रतिभा की धनी, आगम और दर्शन की गम्भीर ज्ञाता थीं। आपने आचारंग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, विपाक, सूत्रकृतांग, प्रभृति अनेक आगम कंठस्थ किये थे और साथ ही आगम के रहस्यों को समुद्घाटित करने वाले ४००-५०० थोकड़े भी कंठस्थ थे। जिससे आगम की गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को अपनी प्रकृष्ट मेधा से उद्घाटित कर देती थीं। नन्दीसूत्र के प्रति अत्यधिक अनुराग था। उसकी स्वाध्याय दिन में अनेकों बार करती थीं। आपकी प्रवचन कला सहज थी। प्रवचन में आगम के रहस्यों को सहज और सुगम रूप से प्रस्तुत करती थीं। और उसके लिए आगमिक उदाहरणों के साथ लौकिक जन-जीवन में घटित होने वाली घटनाओं के माध्यम से स्पष्टीकरण करतीं, जिससे श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाता था। आप कवयित्री थीं। आपकी कविता में शब्दाडम्बर नहीं, पर भावों की प्रमुखता थी। जब कभी भी भावों का ज्वार उठता, वह सहज ही भाषा के रूप में ढल जाता। कविता बनाने के लिए उन्हें प्रयास करने की आवश्यकता नहीं थी, वह सहज ही बन जाती। अरिहंत देव की स्तुति करते हुए उनकी हृत्तन्त्री के तार इस प्रकार झनझनाये हैं—

“जय अरिहंताणं, अरिहंत देव भगवान्,  
जय अरिहंताणं, धर अरिहंतां रो ध्यान.....  
पाँच पदां में प्रथम पद, मदरहित निरापद जान।

ज्ञान का महत्व प्रतिपादित करते हुए आगम की शब्दावली को अपनी सहज भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है मानो आगम का रस-पान ही कर लिया है। वह तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति कितनी सुबोध है—

“ज्ञान जो होगा नहीं तो, हो नहीं सकती दया।  
आगमों में वीर द्वारा, वचन फरमाया गया....  
ज्ञान जीवाऽजीव का पहले जरूरी चाहिए।  
फिर क्रियाएँ कीजिए, रस प्राप्त हो सकता नया ॥

ध्यान जीवनोत्कर्ष की मंगलमय साधना है, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का सर्वोच्च उपाय है। ध्यान

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १५६



कहने की नहीं, करने की साधना है। और वह कला वही व्यक्ति बता सकता है, जिसने स्वयं ध्यान की साधना सिद्ध की है। देखिए उन्हीं के शब्दों में—

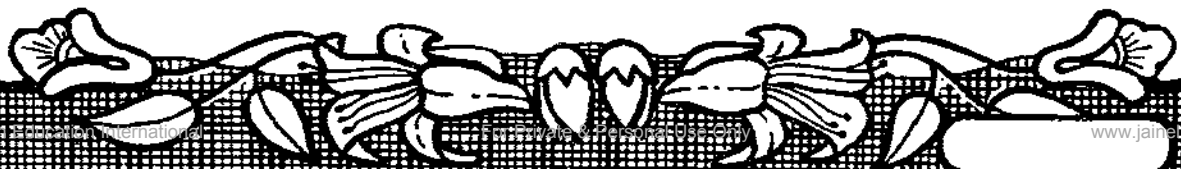
“इस मन को स्थिर करना चाहो तो, ध्यान साधना करना जी”

स्थिर आसन ही, स्थिर वचन और तन चंचल वातावरण नहीं।  
स्थिर योग-साधना करते तो फिर, स्थिर होते क्यों करण नहीं  
स्थिर ध्यान-साधना हो जाने से, मरने से क्या डरना जी ॥१॥

उनके बनाये हुए शताधिक भजन हैं और एक-दो खण्ड-काव्य भी हैं। उनके द्वारा लिखित कहानी संग्रह 'जीवन की चमकती प्रभा' के नाम से प्रकाशित हुआ है और तीन-चार कहानी-संग्रह की पुस्तकें अप्रकाशित हैं। 'आगम के अनमोल मोती-तीन भाग' भी प्रकाशन के पथ पर है।

आपका जन्म वि० सं० १९७० (सन् १९१३) में गोगुन्दा ग्राम में हुआ था। आपके पूज्य पिता श्री का नाम सेठ हीरालाल जी तथा मातेश्वरी का नाम प्यारीबाई था। आपका जन्म नाम तीजकुंवर था। आपके अन्तर्मानस में वैराग्य-भावना प्रारम्भ से ही थी। किन्तु पारिवारिक जनों के आग्रह से आपका पाणिग्रहण उदयपुर निवासी श्री कन्हैयालालजी बरड़िया के सुमुत्र जीवन्सिंहजी बरड़िया के साथ सन् १९२८ में सम्पन्न हुआ।

श्री जीवन्सिंह जी बरड़िया उदयपुर के एक लब्धप्रतिष्ठित कपड़े के व्यापारी थे। आपका बहुत ही लघुवय यानी चौदह वर्ष की उम्र में प्रथम पाणिग्रहण एडवोकेट श्रीमान् अर्जुनलाल जी भंसाली की सुपुत्री प्रेमकुमारी के साथ सम्पन्न हुआ। उनसे एक पुत्री हुई। उनका नाम सुन्दरकुमारी रखा गया। कुछ वर्षों के पश्चात् प्रेमकुमारी का देहावसान हो जाने से चौबीस वर्ष की उम्र में आपका द्वितीय विवाह हुआ। आपके दो पुत्र हुए—एक का नाम बसन्तकुमार और दूसरे का नाम धन्नालाल रखा गया। बसन्तकुमार डेढ़ माह के बाद ही संसार से चल बसा। और २७ वर्ष की उम्र में संधारे के साथ जीवन्सिंह जी भी स्वर्गस्थ हो गये। पुत्र और पति के स्वर्गस्थ होने पर वैराग्यभावना जो प्रारम्भ में अन्तर्मानस में दबी हुई थी, वह साध्वीरत्न महासती श्री सोहनकुंवरजी के पावन उपदेश को सुनकर उद्बुद्ध हो उठी। जिस समय पति का स्वर्गवास हुआ, उस समय द्वितीय पुत्र धन्नालाल सिर्फ ११ दिन का ही था। अतः महासतीजी ने कर्त्तव्य-बोध कराते हुए हुए कहा—अभी तुम्हारी पुत्री सुन्दरकुमारी सिर्फ ७ वर्ष की है और बालक धन्नालाल कुछ ही दिन का है। पहले उनका लालन-पालन करो, सम्भव है, ये भी जिनशासन में दीक्षित हो जायें। सद्गुरुणी जी की प्रेरणा से आप गृहस्थाश्रम में रहीं। पर पूर्ण रूप से सांसारिक भावना से उपरत! आपने वि० सं० १९६८ (सन् १९४१) में आषाढ़ सुदी तृतीया को आर्हती दीक्षा ग्रहण की। वैराग्य अवस्था में ही आपको आगम व दर्शन का इतना गहरा ज्ञान था कि दीक्षा लेते ही सद्गुरुणी जी की आज्ञा से सिंघाड़ापति होकर स्वतन्त्र वर्षावास किया। आपकी प्रवचन कला इतनी प्रभावोत्पादक थी कि श्रोता मन्त्र-मुग्ध रह जाते। आपने दीक्षा लेने के पूर्व अपनी पुत्री सुन्दरकुमारी और अपने पुत्र धन्नालाल की उत्कृष्ट वैराग्य भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान की थी। पुत्री ने वि० सं० १९६४ (सन् १९३७) में माघ शुक्ला १३ को सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुंवर जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की थी और संस्कृत, प्राकृत, न्याय और काव्य का उच्चतम अध्ययन किया। क्वीन्स कॉलेज बनारस की व्याकरण, काव्य, मध्यमा, साहित्यरत्न (प्रयाग) तथा न्याय-काव्यतीर्थ आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं। और धन्नालाल ने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की और श्रमण जीवन का नाम 'दिवेन्द्र मुनि' रखा गया।





प्रतिभामूर्ति स्व० साध्वीरत्न श्री प्रभावतीजी महाराज





आपकी चार शिष्याएँ हुई—१. महासती श्रीमतीजी २. महासती प्रेमकुँवरजी ३. महासती चन्द्रकुँवरजी और ४. महासती बालब्रह्मचारिणी हर्षप्रभाजी ।

जीवन की सान्ध्य वेला तक धर्म की अखण्ड ज्योति जगाती हुई राजस्थान, मध्य भारत में आपका विचरण रहा । आपने अपने त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों से व्याख्यान वाचस्पति गणेश मुनि जी "शास्त्री", रमेश मुनि जी "शास्त्री", राजेन्द्र मुनि जी "शास्त्री" और दिनेश मुनि जी "विशारद" को त्याग-मार्ग की ओर उत्प्रेरित किया । दि० २७ जनवरी १९८२ को आपका 'खैरोदा' ग्राम में समाधिपूर्वक संधारे के साथ स्वर्गवास हुआ ।

आपका भौतिक शरीर भले ही वर्तमान में विद्यमान नहीं है पर आप यशःशरीर से आज भी जीवित हैं और भविष्य में सदा जीवित रहेंगी । काल की क्रूर छाया भी उनके तेजस्वी व्यक्तित्व एवं कृतित्व को धूमिल नहीं बना सकती ।

इस प्रकार प्रस्तुत परम्परा वर्तमान में चल रही है । इस परम्परा में अनेक परम विदुषी साध्वियाँ हैं ।

मारवाड़ के उस प्रान्त में जहाँ स्त्री शिक्षा का पूर्ण अभाव था, वहाँ पर उन साध्वियों ने त्याग-तप के साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति की । क्योंकि कई साध्वियों के हाथों की लिखी हुई प्रतियाँ प्राप्त होती हैं, जो उनकी शिक्षा-योग्यता का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है । पर परिताप है कि उनके सम्बन्ध में प्रयास करने पर भी मुझे व्यवस्थित सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी । इसलिए अनुक्रम में उनके सम्बन्ध में लिखना बहुत ही कठिन है । जितनी भी सामग्री प्राप्त हो सकी है, उसी के आधार से मैं यहाँ लिख रहा हूँ । यदि राजस्थान के अमर जैन ज्ञान भण्डार में व्यवस्थित सामग्री मिल गयी तो बाद में इस सम्बन्ध में परिष्कार भी किया जा सकेगा ।

फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में महासती आनन्दकुँवरजी एक तेजस्वी साध्वी थीं । उनकी बाईस शिष्याएँ थीं जिनमें से कुछ साध्वियों के नाम प्राप्त हो सके हैं । महासती आनन्दकुँवरजी ने कव दीक्षा ली यह निश्चित संवत् नहीं मिल सका । उनका स्वर्गवास सं० १९८१ पौष शुक्ला १२ को जोधपुर में संधारे के साथ हुआ । महासती आनन्दकुँवरजी के पास ही सं० नारायणचन्दजी महाराज की मातेश्वरी राजाजी ने और नारायणदासजी महाराज के शिष्य सुलतानमलजी की मातेश्वरी नेनुजी ने दीक्षा ग्रहण की थी । महासती राजाजी का स्वर्गवास वि० सं० १९७८ वैशाख सुदी पूनम को जोधपुर में हुआ था ।

महासती राजाजी की एक शिष्या रूपांजी हुई थी जिन्हें थोकड़े साहित्य का अच्छा अभ्यास था । महासती आनन्दकुँवरजी की एक शिष्या महासती परतापाजी हुईं जिनका वि सं० १९८३ मृगशिर वदी ११ को स्वर्गवास हुआ था । महासती फूलकुँवरजी भी महासती आनन्दकुँवरजी की शिष्या थीं और उनकी सुशिष्या महासती झमकूजी थीं जिन्होंने अपनी पुत्री महासती कस्तूरीजी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी । दोनों का जोधपुर में स्वर्गवास हुआ । महासती कस्तूरीजी की एक शिष्या गवराजी थीं, वे बहुत ही तपस्विनी थीं । उन्होंने अपने जीवन में पन्द्रह मासखमण किये थे, और भी अनेक छोटी-मोटी तपस्याएँ की थीं । उनका स्वर्गवास भी जोधपुर में हुआ ।

महासती आनन्दकुँवरजी की बभूताजी, पन्नाजी, धापूजी, और किसनाजी अनेक शिष्याएँ थीं । महासती किसनाजी की हरकूजी शिष्या हुई । उनकी समदाजी शिष्या हुई और उनकी शिष्या पानाजी हैं ।

जैन शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ एवं सद्गुरुणी परम्परा : उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि | १६१



आपका जन्म जालोर में हुआ, पाणिग्रहण भी जालोर में हुआ। गढ़सिवाना में दीक्षा ग्रहण की और वर्तमान में कारणवशात् जालोर में विराजित हैं।

इस प्रकार महासती आनन्दकुंवरजी की परम्परा में वर्तमान में केवल एक साध्वीजी विद्यमान हैं।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परिवारों में महासती पन्नाजी हुईं। उनकी शिष्या जसाजी हुईं। उनकी शिष्या सोनाजी हुईं। उनको भी शिष्याएँ हुईं, किन्तु उनके नाम स्मरण में नहीं हैं।

महासती जसाजी की नैनुजी एक प्रतिभासम्पन्न शिष्या थीं। उनकी अनेक शिष्याएँ हुईं। महासती वीराजी, हीराजी, कंकूजी, आदि अनेक तेजस्वी साध्वियाँ हुईं। महासती कंकूजी की महासती हरकूजी, रामूजी आदि शिष्याएँ हुईं। महासती हरकूजी की महासती उमरावकुंवरजी, बक्सूजी (प्रेमकुंवरजी) विमलवती जी आदि अनेक शिष्याएँ हुईं। महासती उमरावकुंवरजी की शकुनकुंवरजी उनकी शिष्या सत्यप्रभा और उनकी शिष्या चन्द्रप्रभाजी आदि हैं। और महासती विमलवती जी की दो शिष्याएँ महासती मदनकुंवरजी और महासती ज्ञानप्रभाजी हैं।

महासती फत्तूजी के शिष्या-परिवार में महासती चम्पाजी भी एक तेजस्वी साध्वी थीं। उनकी ऊदाजी, बायाजी आदि अनेक शिष्याएँ हुईं। वर्तमान में उनकी शिष्या-परम्परा में कोई नहीं है।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में महासती दीपाजी, बल्लभकुंवरजी आदि अनेक विदुषी व सेवा-भाविनी साध्वियाँ हुईं। उनकी परम्परा में सरलमूर्ति महासती सीताजी और श्री महासती गवराजी (उमरावकुंवरजी) आदि विद्यमान हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के समय से महासती भागाजी की जो साध्वी परम्परा चली उस परम्परा में आज तक ग्यारह सौ से भी अधिक साध्वियाँ हुई हैं। किन्तु इतिहास लेखन के प्रति उपेक्षा होने से उनके सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इन सैकड़ों साध्वियों में बहुत-सी साध्वियाँ उत्कृष्ट तपस्विनियाँ रहीं। अनेकों साध्वियों का जीवनव्रत सेवा रहा। अनेक साध्वियाँ बड़ी ही प्रभावशालिनी थीं। मैं चाहता था कि इन सभी के सम्बन्ध में व्यवस्थित एवं प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत ग्रन्थ में दूँ। पर राजस्थान के भण्डार जहाँ इसके सम्बन्ध में प्रशस्तियों के आधार से या उनके सम्बन्ध में रचित कविताओं के आधार से सामग्री प्राप्त हो सकती थी, पर स्वर्णभूमि के जी. एफ. जैसे सुदूर दक्षिण प्रान्त में बैठकर सामग्री के अभाव में विशेष लिखना सम्भव नहीं था। तथापि प्रस्तुत प्रयास इतिहास-प्रेमियों के लिए पथ-प्रदर्शक बनेगा इसी आशा के साथ मैं अपना लेख पूर्ण कर रहा हूँ। यदि भविष्य में विशेष प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई तो इस पर विस्तार से लिखने का भाव है।



## एक बूँद; जो गंगा बन गई

—साध्वी प्रियदर्शना एम. ए.

जन्म, जीवन और मृत्यु—जिन्दगी के तीन चरण हैं।

जन्म सभी का प्रायः समान होता है।

मृत्यु सभी की अवश्यम्भावी है।

किन्तु जीवन शैली सभी की भिन्न होती है।

जीवन शैली के कारण ही जन्म एवं मृत्यु का अलग-अलग महत्त्व है, मापदण्ड है।

जिनका जीवन विशिष्ट कर्तृत्वसंपन्न होता है, संयम-त्याग-सेवा-परोपकार विशिष्ट सृजनधर्मी प्रतिभा से मंडित होता है, उनका जन्म भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है और मरण भी अमरता का चरणन्यास बन जाता है।

जैनश्रमणी श्री पुष्पवतीजी का जीवन और जन्म इसीलिए महत्त्वपूर्ण है, चूँकि उन्होंने जीवन को कुछ विशिष्ट शैली में जीया है। एक सुरभित कमल की तरह उनका जीवन अपने परिपार्श्व से निर्लेप तो है ही, किन्तु अपने अनेक सहज गुणों की परिमल से समूचे वातावरण को प्रभावित/सुवासित किया है। उनके जीवन का एक ऐसा अन्दाज है—जिसमें सहजता के साथ मधुरता, निर्मलता, निर्लेपता, किन्तु समस्त के कल्याण हेतु विसर्जित हो जाने की अदम्य तरंग है।

महासतीजी का संपूर्ण जीवन उस दीपक की भाँति है, जो अपना शरीर जलाकर अंधकार का नाश करता है। उस पुष्प की तरह है, जो अपनी एक-एक कली को सौरभ और सौन्दर्य का दूत बनाकर समर्पित कर देता है।

आइये, ऐसी दिव्य महामनस्वी श्रमणी के जीवन की गौरव गाथा पढ़ें।

—सम्पादक



## व्यक्तित्व की लहरें

विशुद्ध श्वेत वस्त्रों में झांकता हुआ एक भव्य सुदर्शन व्यक्तित्व, जो आदिम युग की प्रथम साध्वी ब्राह्मी की पावन स्मृति को साकार करता है तो श्रमण भगवान महावीर की प्रथम शिष्या चन्दना का प्रतिनिधि स्वरूप बनकर उभर आता है।

परिपाश्व में फैले उज्ज्वल-समुज्ज्वल आभा मण्डल को निहार कर दर्शक आनन्द के महासागर में अवगाहन करने लगता है। और जिसका चुम्बकीय आकर्षण मानव मन को अध्यात्म धार से जोड़ देता है।

जिसकी विमल वाणी को सुनने के लिए श्रोताओं के कान ललकते हैं।

जिसकी सुनहरी छवि को निहारने के लिए दर्शकों के नेत्र तरसते हैं।

जो आत्मविश्वास, साहस, स्नेह और सद्भावना की साकार प्रतिमा है।

जिसका अन्तर्मानस अन्तरिक्ष की तरह विराट है। जिसका हृदय सागर की तरह गम्भीर है। जिसके विचार हिमालय की तरह उन्नत हैं।

जो जन-जीवन में अनैतिकता के कूड़े-कंकट को हटाकर उसके स्थान पर नैतिक मूल्यों की संस्थापना करना चाहती हैं।

जो भोग-विलास के चाक्-चिक्य में उलझी और अपने आत्म-गौरव को भूली-बिसरी महिलाओं को आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। समाज में फैली कुरीतियाँ, अर्थहीन परम्पराएँ जिससे समाज पिसा जा रहा है, उसे तोड़ने के लिए जो कटिबद्ध हैं।

जो सत्कार के सरस-सुमनों को पाकर आल्लावित नहीं होतीं और अपमान के विष को पाकर मुझाती नहीं। किन्तु सदा समता के सरोवर पर राजहंसिनी की भाँति तैरती हैं।

जो इस वैज्ञानिक युग में प्रचुर साधन-सुविधाएँ उपलब्ध होने पर भी सतत पैदल परिश्रमण कर जन-जन के मन में अध्यात्म और धर्म की ज्योति प्रज्वलित करती हैं।

जो इस धरती पर स्वर्ग को उतारने में जी-जान से लगी हैं।

जो हिंसा, अनैतिकता, भ्रष्टाचार और दुराचार की कस-मसाती बेला में अहिंसा, सदाचार और नैतिकता का पाठ पढ़ाने में तल्लीन हैं। उस विराट व्यक्तित्व की धनी विदुषी श्रमणी का नाम है— महासती पुष्पवतीजी !

महासती पुष्पवतीजी स्थानकवासी जैन समाज की एक लब्ध प्रतिष्ठित साध्वी हैं। उनका बाह्य व्यक्तित्व चित्ताकर्षक है और आन्तरिक व्यक्तित्व मनमोहक है।

### सुदर्शन बाह्य व्यक्तित्व

लम्बा कद, गौरवर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झाँकती हुई सतेज आँखें, मुस्कराता हुआ मुख-मण्डल। यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व। जिन्हें लोग महासती पुष्पवतीजी के नाम से जानते हैं, पहिचानते हैं। प्रथम दर्शन में ही दर्शक को यह अनुभूति होती है कि यह एक आर्ष साध्वी है। यह एक ऐसी जीवन्त प्रतिमा है जो उसके मानस में उतरकर श्रद्धा के सिंहासन पर विराजमान हो सकती है।



पूज्य महासतीजी, साधना और सिद्धि के बीच की कड़ी है। सतेज-निर्मलता की पर्याय है।

साधना से निखरा अन्तरंग स्वरूप

कठोर संयम-साधना से अपने तन-मन को कसा है और वाणी को संवारा है। फलतः जीवन वीणा के कण-कण से आत्म संगीत की सुरीली स्वर लहरियाँ झनझना रही हैं। कोई भी दुःखी संतप्त हृदय आपके सान्निध्य में आता है तो अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति से पुलक उठता है।

थका-हारा व्यक्ति आता है तो ताजगी से ललकने लगता है।

निराश-हताश और दिशाहारा व्यक्ति आता है तो आस्था का आलोक प्राप्त कर अपने आपको धन्य-धन्य अनुभव करता है।

ऐसा-नहीं कि वे कोई जादू-टोना करती हैं। वभूत या प्रसाद देती हैं। किन्तु इनकी साधना के तेज से सभी सहज अभिभूत हो जाते हैं। उनका मधुर व्यवहार, करुण-कोमल भाव से मानव-मानस प्रभावित होता है।

वे एक परम्परा और एक सुविदित समुदाय की साध्वी होकर भी सम्प्रदायवाद के बन्धन से सर्वथा मुक्त हैं।

जब हम उनके जीवन की अतल गहराई में उतरकर देखते हैं तो स्पष्ट ही अनुभव करने लगते हैं कि आपका सम्पूर्ण जीवन करुणा, निष्काम-साधना, समाजसेवा और सामाजिक वात्सल्य की अपूर्व निर्मल यशोगाथा है। आपका व्यक्तित्व सन्तुलित, संवेदनशील, परोपकाररत और अनुशासन की मर्यादा से बन्धा हुआ है। उसमें करुणा और कठिनता का मणिकांचन संयोग हुआ है। वे स्वयं अपने लिए वज्र और दूसरों के लिए पुष्प हैं।

वे अपने लिए हलाहल और दूसरों के लिए अमृत हैं जिन्होंने, जीवन भर संकटों के विष को पीकर ज्ञान का अमृत बाँटा है। जिनके अन्तर्मानस में प्रतिफल, प्रतिक्षण करुणा का अनन्त सागर ठाढ़े मारता है। इसीलिए उनका व्यक्तित्व मधुर है, कृतित्व मधुर है। माधुर्य उनके जीवन का प्रमुख आधार है।

साधना का अमिट तेज और दर्शन का अगाध पाण्डित्य लिए हुए भी जो सहज सरल है, मित-भाषी हैं। जिनके प्रत्येक शब्द से मृदुता और निर्मलता टपकती है। जो सदा गुलाब के फूल की तरह मुस्कराती रहती हैं। और सर्वत्र अपनी मधुर महक बाँटती रहती हैं। करुणा की उस गंगा का नाम है—महासती पुष्पवतीजी !

कभी-कभार विश्व को ऐसी दुर्लभ विमल विभूतियाँ मिल जाती हैं। जिन्हें पाकर वह अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करने लगता है। अपने उदात्त बहु-आयामी व्यक्तित्व के कारण महासती पुष्पवतीजी ऐसी ही पतित-पावनी सन्त श्रेणी में सहज ही आ विराजती हैं।

जन्म भूमि

उनका जन्म राजस्थान की पवित्र भूमि उदयपुर में हुआ। राजस्थान की वसुन्धरा वीरभूमि के रूप में अतीत काल से ही विश्रुत रही है। धर्म और कर्तव्य की यह साक्षात् तपोभूमि है। इसका

एक बूँद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १६५



अतीत गौरवपूर्ण रहा है। इस भूमि के कण-कण में शौर्य, पराक्रम, बलिदान, औदार्य, त्याग तथा साहित्य साधना की अगणित कहानियाँ लिपटी हुई हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता, कर्नल टॉड ने सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर आत्मोत्सर्ग करने वाले पराक्रमी योद्धाओं का तथा सत्प्र और शील पर कुर्बान होने वाली सन्नारियों का इतिहास लिपिबद्ध किया है। जितना लिपिबद्ध किया है उससे कई गुना इतिहास कलम की नोक से उतारा नहीं गया है। ससीम शब्दावली असीम इतिहास को लिखने में कब समर्थ हुई है? विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने राजस्थान के चारण साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किन्तु हजारों जैन साधकों ने राजस्थान की धरती में रहकर विराट् साहित्य का सृजन किया। जो साहित्य भारतीय-साहित्य की अनमोल निधि है, उसका वे उल्लेख तक नहीं कर सके।

राजस्थान वीरभूमि होने के साथ ही साथ धर्मभूमि भी है। शक्ति और भक्ति का मधुर सामं-जस्य इस माटी में रहा है। यहाँ के वीर भक्ति भावना से उत्प्रेरित होकर अपनी अद्भुत शौर्य वृत्ति का परिचय देते हैं। तो यहाँ के भक्त पुरुषार्थ, साधना और सामर्थ्य के बल पर धर्म को तेजस्विता प्रदान करते हैं। यहाँ के उदार मानववाद के धरातल पर वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, इस्लाम आदि सभी धर्म-सम्प्रदाय अपनी-अपनी रंगत-संगत के साथ सौहार्दपूर्ण वातावरण में फलते-फूलते रहे हैं। यहाँ की प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा और जलवायु ने जीवन के प्रति सचेतनता के साथ निस्पृहता और अनुरक्ति, कठोरता और कोमलता, संयमशीलता और सरसता का पाठ पढ़ाया और वही जीवन दृष्टि यहाँ के धर्म, साहित्य, संगीत और कला में प्रतिबिम्बित हुई है।

## मेवाड़ का गरिमा मंडित अतीत

मेवाड़ भारत के पश्चिम में और राजस्थान के दक्षिण में अवस्थित है। वहाँ की धरती के कण-कण में बापा हमीर, कुंभा, सांगा, प्रताप, राजसिंह जैसे शासकों का शौर्य और मीरा की भक्ति मुखर-मुखर होकर मेवाड़ के गौरव में चार चाँद लगा रही है।

मेवाड़ यह नाम कब और कैसे हुआ, इस विषय में इतिहास के पृष्ठ मौन हैं। प्राचीन ग्रन्थों में शिवि और प्राग्वाट नाम उपलब्ध होते हैं। प्राचीन शिलालेखों, प्राचीन सिक्कों में यह नाम उद्भूत है। ये नाम कब परिवर्तित हुए यह ऐतिहासिक विज्ञानों के लिए शोध का विषय है।

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से यदि हम चिन्तन करें तो मेवाड़ शब्द संस्कृत के मेदपाट शब्द से निर्मित है। जिसका अर्थ मेदों की भूमि है। विज्ञानों का यह मन्तव्य है कि इस क्षेत्र पर मेद, मेव या मेर जाति का आधिपत्य होने से इसका नाम मेदपाट हो गया। एक दूसरा मन्तव्य है मेवाड़ शब्द की निष्पत्ति मेदिनीपाट (पृथ्वी का सिंहासन) शब्द से हुई है। इस सम्बन्ध में और भी कुछ धारणाएँ हैं, उन धारणाओं में मतैक्य नहीं है तथापि यह निश्चित है मेवाड़ या मेदपाट ये दोनों शब्द विक्रम संवत् की ११वीं शताब्दी में प्रचलित थे।

प्राकृत ग्रन्थ धम्म परिवक्खा जो विक्रम संवत् १०४४ में निर्मित है और हठूडी के शिलालेख जो विक्रम संवत् १०५३ में उद्भूत है उनमें क्रमशः मेवाड़ और मेदपाट ये नाम मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आज से लगभग १००० पूर्व मेवाड़ का अस्तित्व उजागर हो गया था।

मेवाड़ भारत की प्राचीन सभ्यता का एक सुप्रसिद्ध केन्द्र है। पुरातत्त्वविदों का मन्तव्य है कि मेवाड़ की 'गम्भीरी' और 'बड़ेच' सरिताओं के मुहानों पर मानव सभ्यता के विकास की जानकारी प्राप्त



होती है। आहाड़ और बागोर की खुदाई में जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं वे क्रमशः तीन और चार हजार वर्ष पुराने हैं। मेवाड़ की धरती पर शिवियों, मालवों, मौर्यों और गुहिलों के आधिपत्य का उल्लेख प्राप्त होता है। गुहिलों के वंशज बापा ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में किया। बापा रावल की उपाधि से समलंकृत होकर शासन का संचालन करने लगे। प्रस्तुत घटना विक्रम संवत् ७६१ की है। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में दिल्ली के शासक मुगलों ने मेवाड़ पर आक्रमण किया और उन्होंने चित्तौड़गढ़ को अपनी राजधानी बनाई। चौदहवीं शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से रत्नसिंह आदि शासक मारे गये और महाराणी पद्मिनी ने जौहर कर अपने सत्य-शील की रक्षा की। उसके पश्चात् कुम्भा और सांगा ने मेवाड़ की सीमाओं का विस्तार किया। सांगा के पश्चात् मेवाड़ के वीर और मुगलों के बीच संघर्ष होता रहा। विक्रम संवत् १६३२ में इतिहासप्रसिद्ध हल्दी घाटी का युद्ध हुआ। महाराणा प्रताप की मृत्यु के पश्चात् अमरसिंह ने विक्रम संवत् १६७२ में मुगलों के साथ संधि की। उसके पश्चात् मेवाड़-मुगल संघर्ष समाप्त हुआ।

#### मेवाड़ी माटी का संदर्भ

मेवाड़ एक पहाड़ी प्रदेश है। पहाड़ी प्रदेश होने से वहाँ छोटी-बड़ी नदियाँ भी बहती रहती हैं। एक बार हिन्दुस्तान के वाइसराय ने उदयपुर के महाराणा फतहसिंह से पूछा—राणाजी, आपके मेवाड़ का नक्शा कहाँ है? महाराणा ने कहा—अभी मँगवाता हूँ। उन्होंने अनुचर से कहकर उड़द (धान्य) का पापड़ सिकवा कर मँगवाया और वाइसराय को कहा—हमारे मेवाड़ का यह नक्शा है। वाइसराय एक क्षण तक देखते ही रह गये। उनके कुतूहल भरे मन को समाहित करते हुए राणा ने कहा—यह उड़द का सेंका हुआ पापड़ जितना ऊबड़-खाबड़ है उतना ही विषमोन्नत मेवाड़ का भू-भाग है। इस पापड़ में फकोलों वाला भाग अधिक है और सम भाग कम है।

प्रकृति देवी ने इन पहाड़ियों और चट्टानों के रूप में धरती को सौन्दर्य ही नहीं दिया है अपितु उसने जीवन का शाश्वत सत्य उजागर किया है। जीवन भी एक सदृश नहीं है, उसमें भी अनेक उतार-चढ़ाव हैं। जो इन उतार-चढ़ावों में साक्षी भाव रखता है। वही ऊर्जस्वल व्यक्तित्व को उजागर कर सकता है।

#### उदयपुर

महाराणा उदयसिंह की अमर कीर्ति को हृदय में छिपाये उदयपुर आज भी राजस्थान का महत्त्वपूर्ण जनपद है। जहाँ एक ओर गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ जीवन को उन्नत-समुन्नत बनाने का पावन सन्देश दे रही हैं। तो दूसरी ओर कृत्रिम विराट् झीलें चारों ओर फैली हुई, मन को विशाल बनाने का आह्वान कर रही हैं। तीसरी ओर मीलों तक फैले हुए बगीचे अपनी प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा से जन-मन को आह्लादित करते हैं। तो चौथी ओर कल-कल छल-छल बहते हुए झरने जीवन की क्षण-भंगुरता का अहसास करते हुए सतत गतिशील रहने का सन्देश देते हैं।

उदयपुर की मिट्टी कुछ दूसरे ही प्रकार की है। इस मिट्टी में पराक्रम और पौरुष का विशेष प्रभाव रहा है। यहाँ के निवासी दृढ़ संकल्प के धनी और शक्ति-भक्ति में समान सामर्थ्यशील हुए हैं। आज भी इस मिट्टी का चमत्कार स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसी भूमि को हमारी चरित्रनायिका महासती पुष्पवतीजी की जन्म भूमि होने का गौरव प्राप्त है।

#### ओसवाल वंश : शौर्य-शील का राजहंस

राजस्थान की पावन पुण्यभूमि ओसियां महानगरी से ओसवालों की उत्पत्ति हुई है।

एक बूँद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना ६७





जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि ने एक महान् क्रांतिकारी आचार्य थे। अन्नग भगवान् महावीर के समय मानव जाति ऊँच-नोच के भेदों में बँटी हुई थी। वर्ग व्यवस्था में अहंकार का विष इस प्रकार घुल-मिल गया था कि शूद्रों को धर्म करने के अधिकार से ही वंचित रहना पड़ा। उस समय भगवान् महावीर ने संदेश दिया—'मनुष्य जाति एक है। इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। जो भी धर्म को ग्रहण करेगा वही महान् बन जायेगा।' भगवान् महावीर के तीर्थ में चारों वर्णों को स्थान मिला।

समय ने करवट बदली। रूढ़िवाद, वर्णवाद और वर्गभेद की भावना पुनः द्रुत गति से पनपने लगी। मानव समाज विभिन्न खण्डों में विभक्त हो गया। जैनधर्म, कुछ वैश्य और कुछ राजवंशोय लोगों तक सीमित हो गया।

आचार्य रत्नप्रभसूरि ने धार्मिक जड़ता को नष्ट करने के लिए एक साहसिक और ऐतिहासिक कदम उठाया। अलग-अलग वर्णों में विभक्त मानवों को व्यवहार और विचार शुद्धि कर एक बनाया। इस व्यवहार शुद्धि में चारों ही वर्णों के व्यक्ति निष्ठा के साथ सम्मिलित हुए।

मांसाहार और मद्यपान का प्रचार अत्यधिक बढ़ा हुआ था। जिन लोगों ने मांसाहार और मद्यपान का परित्याग किया उन्हें नमस्कार महामन्त्र के उच्चारण के साथ जैनत्व की दीक्षा का संस्कार दिया। ओसियाँ में जितने भी लोग रहते थे चाहे वे क्षत्रिय हों, चाहे ब्राह्मण, चाहे वैश्य हों या शूद्र—सभी में भेदभाव भूलकर धार्मिक बन्धुत्व की भावना सम्पन्न की गई। सभी में एक ही धर्मनिष्ठा और एक ही प्रभु के प्रति भक्ति रखने की प्रेरणा दी गई। यह धर्म क्रान्ति बड़ी अद्भुत और ऐतिहासिक थी। इस धर्म-क्रान्ति में सम्मिलित सभी वर्ण शुद्धाचारी होकर अपने आपको 'ओसवाल' कहने में गौरव की अनुभूति करने लगे। जैनाचार्य की उदात्त भावना ने उन्हें परस्पर मित्र बना दिया और दूध-मिथ्री की तरह एकीकृत कर दिया।

ओसवाल संघ में जो विभिन्न वर्णों का मधुर समन्वय हुआ है वह चींटियों की तरह नहीं है। चींटियाँ विभिन्न अन्न कणों को एक स्थान पर एकत्रित करती हैं। पर वह समन्वय, सही समन्वय नहीं। क्योंकि सभी दाने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। वे पृथक्-पृथक् रूप में पहचाने जाते हैं। पर ओसवाल वंश में जो समन्वय हुआ वह मधुमक्खियों की प्रक्रिया की तरह हुआ। मधुमक्खियाँ रंग-विरंगे फूलों से रस-पान करती हैं और उस रस को ऐसा रूप प्रदान करती हैं कि उसमें किसी फूल विशेष के रस की प्रमुखता नहीं होती।

ओसवाल वंश अनेक वर्णों और वर्गों के संमिश्रण से बना हुआ मधु छत्र है जो ओसियाँ में निष्पन्न हुआ।

ओसवाल जाति के निर्माण में किस वर्ण का कितना योगदान रहा, यह कहना बहुत ही कठिन है। इस जाति के रक्त में क्षत्रियों का तेज है, ओज है। तो ब्राह्मणों की बुद्धि और विलक्षणता है। वैश्य की चतुरता और व्यवहार शुद्धि है। और शूद्र की सेवा भावना और सहिष्णुता है। यह है ओसवाल जाति की गरिमा और महिमा। इस प्रकार ओसवाल जाति शौर्य-चातुर्य-सेवा और सदाचार का एक राजहंस माना जाता है। आज ओसवाल कहलाने वाले अपने लक्ष्य से भटक रहे हैं। उन्हें अपनी गरिमा को जीवित रखना है।

भीषण अकाल से उत्पीड़ित होकर ओसवाल ओसियाँ नगरी को छोड़कर भारत के विविध अंचलों में जा बसे। वे वहाँ पर ओसवाल के नाम से ही जाने-पहचाने जाते हैं। ओसवाल वंश में



चौदह-सौ चौमालीस (१४४४) गोत्र हैं। उसमें एक गोत्र बरड़िया भी है। यह नाम किस कारण से पड़ा, यह अनुसन्धान का विषय है। यदि अनुसन्धान किया जाय तो अनेक रोचक व ऐतिहासिक प्रसंग पाठकों के सामने आ सकते हैं। यह भी सत्य है कि काल की परतों के नीचे अनेक ऐतिहासिक तथ्य दब चुके हैं। भारत के विविध प्रान्तों में बरड़िया परिवार के लोग बसे हुए हैं। इस परिवार के लोग किस संवत् में उदयपुर पहुँचे? यह ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषणीय है। अनुभूति यह बताती है कि करेड़ा में जो भगवान पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक आलय है। वह बरड़िया परिवार के द्वारा ही निर्मित है।

### परिवार-परिचय

श्रीमान् कन्हैयालालजी बरड़िया उदयपुर के एक धर्मनिष्ठ सुश्रावक थे। उनके जीवन के कण-कण में धर्म की निर्मल भावनाएँ सदा अँगड़ाइयाँ लेती रहती थीं। यह कहना अतिरंजन नहीं होगा कि कन्हैयालालजी अपने में एक संस्था थे। संयुक्त परिवार के मुखिया होने के कारण ही नहीं किन्तु वे नगर के एक प्रतिष्ठित लोकप्रिय व्यक्ति थे। वे स्वभाव से निडर थे, उदार थे तथा धर्मप्रिय भी थे। वे प्रतिदिन पाँच सामायिकें करते थे। महीने में पाँच आयम्बिल करते थे। जब तक उदयपुर में सन्त भगवन्त विराजते तब तक वे भुनिराजों को आहारदान दिये बिना भोजन ग्रहण नहीं करते थे। उन्हें गुप्त दान देना बहुत पसन्द था। वे दीन-अनाथों को वस्त्रदान और सुस्वादु भोजन खिलाते के शौकीन थे। वे प्रतिदिन सामायिक में भक्तामर स्तोत्र उवसग्गहर स्तोत्र आदि का पाठ किया करते थे और नियमित रूप से शास्त्र-श्रवण करते थे। आपके फर्म का नाम था, जालमचन्द कन्हैयालाल। उदयपुर में दो दुकानें थीं। एक में थोक माल और दूसरी में रिटेल माल का विक्रय होता था इसके अतिरिक्त बड़ी सादड़ी, कानोड़ और भीडर में भी आपकी दुकानें थीं। आपके पाँच पुत्र थे। जीवनसिंह, रतनलाल, परमेश्वरलाल, मनोहर लाल और मदनलाल। यह पाँचों भाइयों का गुट पाण्डवों की स्मृति को ताजा करता था। तथा चार पुत्रियाँ थीं।

### पुण्यपुरुष : श्री जीवनसिंहजी

सबसे बड़े पुत्र थे जीवनसिंहजी जो एक पुण्यपुरुष थे। प्रारम्भिक मेट्रिक अध्ययन के पश्चात् उन्होंने व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश किया। व्यापार कला में निष्णात होने के कारण व्यापार दिन-दूना और रात-चौगुना चमकने लगा। नम्रता, सरलता, स्नेह और सद्भावना के कारण वे अत्यधिक जनप्रिय हो गए। १८ वर्ष की लघुवय में ही जीवनसिंहजी का पाणिग्रहण अर्जुनलालजी भंसाली की सुपुत्री प्रेमकुंवर के साथ सम्पन्न हुआ। उस समय अर्जुनलालजी उदयपुर के प्रसिद्ध वकीलों में से थे। बड़े तार्किक थे। प्रेमकुंवर भद्र प्रकृति की एक सुशील महिला थी। जीवनसिंहजी का दाम्पत्य जीवन आनन्दपूर्वक बीतने लगा।

जब वृक्ष पर नए किसलय आने लगते हैं; तो सहज ही परिज्ञात होता है कि बसन्त ऋतु का आगमन हो रहा है। जब उत्तर दिशा में काले-कजराले बादल उमड़-धुमड़ कर आते हैं तो वे बादल वर्षा का संकेत करते हैं। सायंकाल जब पश्चिम दिशा में लालिमा अपनी सुनहरी किरणों से चमकती है तो रात्रि के आगमन का सहज आभास हो जाता है और जब प्रातःकाल उषामुन्दरी पूर्व दिशा में मुस्कराती है तो सूर्योदय होने का परिज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार महान् व्यक्ति के आगमन का भी पूर्व संकेत मिल जाता है। महासती पुष्पवतीजी के जन्म धारण से पहले ही उनकी माँ को शुभ संकेत मिल गया था।

एक बूँद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १६६



माता को सुप्त स्वप्न

रात्रि का शान्त वातावरण था। टुमक-टुमक कर पवन चल रहा था। सितारे अनन्त आकाश में चमक रहे थे। प्रेमदेवी सुख की नींद में सो रही थी। उसने देखा एक सुन्दर बगीचा है। जिसमें रंग-विरंगे फूल खिल रहे हैं, महक रहे हैं। उन फूलों पर उमड़-धुमड़ कर भंवरे मंडरा रहे हैं। बगीचे में ही एक सुन्दर सरोवर है। उसमें कमल खिल रहे हैं। उसके किनारे गगनचुम्बी वृक्ष लहलहा रहे हैं। मीलों हरा-भूरा दूर्वादल लहरा रहा है। उस समय अनन्त आकाश में से एक दिव्य-सुन्दरी उतरती है और वह देखते ही देखते उसके मुंह में प्रवेश कर जाती है।

स्वप्न का संसार बड़ा मोहक होता है। उसमें काल्पनिक जगत् भी यथार्थ प्रतीत होता है। मधुर स्वप्न में व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि इस विराट विश्व का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उस पर निछावर हो रहा है। माता का अन्तरंग अज्ञात पुलकन से भर गया। वह आनन्द की तरंगों पर तैरने लगी। वह यकायक उठकर बैठ गई और मन ही मन विचारने लगी कि आज तो मैंने बड़ा सुन्दर सपना देखा है।

माता प्रेमकुंवर अपने मन में उठ रहे सुखद विचारों को व्यक्त करना चाहती थी। उसने सन्निकट पलंग पर सोये हुए अपने पतिदेव को जगाया, और कहा—“आज मैंने बहुत ही सुन्दर स्वप्न देखा है और उसे बताने के लिए ही मैंने आपको जगाया है।” प्रेमदेवी ने एक ही श्वास में स्वप्न का शब्द चित्र प्रस्तुत कर दिया।

स्वप्न सुनकर जीवनसिंहजी ने कहा—तुमने बहुत ही सुन्दर स्वप्न देखा है। इस स्वप्न का फलादेश मेरी दृष्टि से यह है कि तुम सुलक्षणी सुधी कन्या को जन्म दोगी। वह भाग्यवती कन्या हमारे कुल के नाम को उजागर करेगी।

स्वप्न का फलादेश सुनकर प्रेमकुंवर पुलकित हो उठी और आनन्द से विभोर होकर बोली—आपका कथन पूर्ण सत्य है। मुझे भी ऐसा ही अनुभव हुआ। दिन पर दिन, महीने पर महीने बीतने लगे नियत काल अवधि पूर्ण होने पर प्रेमदेवी की कुक्षि से एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई। बरड़िया परिवार में खुशियां व्याप्त हो गईं। सभी परिवार के सदस्य आनन्द से झूम उठे। वह दिन था विक्रम संवत् १६८१ मिंगसर कृष्णा सप्तमी, मंगलवार तदनुसार दिनांक १८-११-१६२४।

ज्योतिषी बुलाया गया। जन्म कुण्डली रची गई। उत्तम ग्रहों को देखकर ज्योतिषी चकराया। उसने कहा—मैं पूर्ण निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि यह भाग्यशालिनी कन्या परम योगिनी बनेगी या फिर असाधारण पद प्राप्त करेगी।

माता प्रेमदेवी ने सुन्दर स्वप्न देखा था। इसलिए कन्या का नाम सुन्दरि रखा गया। उजला, गौर वर्ण, सौम्य-सुघड़-गोल चेहरा, सुगठित देह, शालीन चापल्य, मुख पर व्याप्त प्रसन्नता की निर्मल कान्ति। जिसे निहार कर सभी प्रमुदित थे। दादाजी की वह प्राणाधार थी। दादीजी की वह लाडली थी। पिताजी की दुलारी थी। माता की वह प्यारी थी। सभी कुटुम्बी जन उससे प्यार करते थे। सभी उसे प्यार से अपने हाथों में लेते और खुशियों से चहक उठते। हमारी प्यारी गुड़िया जल्दी-जल्दी बड़ी होगी। अबोलती सूक बालिका सभी को मुखरित कर रही थी। माता-पिता अपनी प्यारी बिटिया की तुतली बातें सुनते तो उसे गोद में भरने के लिये ललक उठते। बालिका को प्रेमदेवी का सात्विक रूप और अपने पिता जीवनसिंह की कर्तव्यपरायणता विरासत में मिली थी। रूप के साथ उसके स्वभाव में



मिठास थी, मधुरता थी, सारल्य और विनय का भाव था। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में जा मिठास थी, वह मात्र रंजनदायिनी न होकर, रक्षण प्रदायिनी भी थी। वह किसी भी प्राणी को कष्ट देना पसन्द नहीं करती थी। उसमें सूर्य की तरह तेजस्विता थी और फूलों की तरह कोमलता और मधुरता थी। वही मधुरता और प्रखरता आगे चलकर जनकल्याण के लिए वरदान के रूप में प्रकट हुई।

बालिका जब डेढ़ साल की हुई तब प्रेमदेवी ने दूसरी कन्या को जन्म दिया। जिसका नाम सुशीला रखा गया। किन्तु कुछ दिन के पश्चात् ही सुशीला ने सदा के लिए आँखें मूंद ली थीं। सुशीला के देहान्त से प्रेमदेवी को भारी आघात लगा। उस आघात से उनका मानसिक सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो गया और वे आधि से सन्वस्त हो गईं। उस समय जीवनसिंहजी अपने अन्य कार्यों को गौण कर पत्नी की सेवा तन, मन से करने लगे। अनेक चिकित्सकों को दिखलाया गया। उपचार किये गये। पर कोई लाभ नहीं हुआ। यहाँ तक कि मानसिक रुग्णता से बेभान बनकर प्रेमदेवी शौच से सारे मकान को गन्दा कर देती। पर जीवनसिंहजी बिना किसी संकोच के सारा मकान अपने हाथ से साफ कर देते। वे कहते—पति का कर्त्तव्य है कि वह बिना संकोच पत्नी की सेवा करे। पति और पत्नी का सम्बन्ध एक-दूसरे के प्रति समर्पण का है। एक-दूसरे के सहयोग का रिश्ता है। पति यदि रुग्ण होता है तो पत्नी का कर्त्तव्य है कि उसको सुश्रूषा करे। सभी उस नौजवान की सेवा व कर्त्तव्य भावना देखकर विस्मित थे।

#### जीवनसिंहजी को पत्नी-वियोग

जीवनसिंहजी के द्वारा प्रबल प्रयास करने पर भी प्रेमदेवी बच नहीं सकी। तीन वर्ष की जब सुन्दरि हुई तब उस अत्राध बालिका के सिर पर से मातृ-वात्सल्य की सुखद छत्रछाया उठ गई। दुनिया की लीला अजब है, विधि का विधान गजब है। क्रूर काल के सामने किसी का भी जोर नहीं चलता। सुन्दरि के कोमल मानस पर भारी आघात लगा। वह यह समझ न पाई कि प्यारी माँ को सभी लोग उठाकर कहाँ ले गए? वह पुनः कब आयेगी?

बाल सुलभ सरलता से वह अपने पूज्य पिता से पूछती—माँ कहाँ गई है? उसे लोग उठाकर क्यों ले गए? वह कब तक लौटकर आएगी? बालिका की बातें सुनकर जीवनसिंहजी की आँखें भर आतीं और जब बालिका देखती पिता की आँखों में आंसू हैं तो वह पिता के चरणों में गिरकर कहती कि मेरे अपराध को क्षमा करें। मैं अब कभी भी नहीं पूछूँगी। अब वह बालिका सदा पिता के पास रहने लगी। बाल-सुलभ चंचलता उसमें थी। वह पिता के प्यार से अभिभूत थी। पिता उससे बहुत ही प्यार करते थे। उसे नित नए वस्त्र पहनाते, अभूषण पहनाते तथा बढ़िया मिठाइयाँ खिलाते, फल और मेवा खिलाते। पिताजी पान खाते थे। उनका अनुसरण कर वह भी पान खाने लगी। वह जो भी हठ पकड़ लेती थी, जब तक पूरी नहीं होती तब तक पिता को चैन से नहीं बैठने देती थी। कई बार उसने अपने पिता को रात्रि में हलवाई के यहां से ताजा मिठाई लाने के लिए बाध्य किया। बालक की मानसिकता बड़ी विचित्र होती है, कुशल अभिभावक उसे समझ सकता है और उसे योग्य दिशा में मोड़ सकता है।

प्रेमदेवी के निधन के पश्चात् जीवनसिंहजी के चेहरे पर पहले की तरह मुस्कान नहीं थी। उसके चिर-वियोग से उनके कोमल मानस को भारी आघात लगा था। परिजनों ने जब उनके मुरझाए हुए चेहरे को देखा तो उन्हें समझाया कि अभी आपकी उम्र बहुत ही छोटी है। सिर्फ तेवीस वर्ष की वय है। अतः दूसरा विवाह कर लें। पहले इन्कार करते रहे। किन्तु पूज्य पिता श्री के अत्यधिक आग्रह पर उन्हें झुकना पड़ा।



विक्रम संवत् १६८५ (सन् १६२८) में उनका पाणिग्रहण गोमुन्दा निवासी श्रीमान हीरालालजी सेठ की सुपुत्री तीजकुमारी के साथ सम्पन्न हुआ। तीजकुंवर बाल्यकाल से ही धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न थीं। क्योंकि गोमुन्दा में आचार्य सम्राट अमरसिंहजी महाराज के सम्प्रदायस्थ सन्त-सतियों का आगमन होता रहता था। उनके निकट सम्पर्क में आकर आप धार्मिक अध्ययन करती रहती थीं। धार्मिक अध्ययन से आपके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना प्रबुद्ध हुई थी। पारिवारिकजनों के अत्यधिक आग्रह से आपका पाणिग्रहण जीवनसिंहजी के साथ सम्पन्न हुआ। तीजबाई ने नए घर में प्रवेश किया। विनय-विवेक के कारण कुछ ही दिन में उन्होंने वहाँ पर सभी के मन को जीत लिया। सुन्दरकुमारी भी माता तीजबाई के स्नेह को पाकर आल्लादित थी। माता के अकृत्रिम व्यवहार से वह बहुत सन्तुष्ट थी। उसे यह पता ही न चला कि यह मेरी दूसरी माँ है।

जीवनसिंहजी के जीवन में पुनः उल्लास और प्रसन्नता के फूल खिल उठे। उनके दाम्पत्य जीवन में एक नई चेतना का संचार हुआ। कुछ समय के पश्चात् तीजकुंवर ने एक पुत्र को जन्म दिया। जिसका नाम बसन्तकुमार रखा गया। सोचा था यह बसन्त की तरह अच्छी तरह से फलेगा-फूलेगा और परिवार का आधार वृक्ष बनेगा। कई रंगीन कल्पनाएँ माता-पिता मन में संजोए हुए थे। पर सब सपने सच नहीं होते। एक दिन यकायक बालक बसन्त रूग्ण हुआ और असमय में वह सदा के लिए संसार से विदा हो गया। उसके विदा होते ही कल्पनाओं का कमनीय महल भी ढह गया।

अपने प्यारे भाई की मृत्यु को देख कर सुन्दरकुमारी किसी अज्ञात भय से सिहर उठी। मृत्यु के क्रूर अट्टहास से उसकी आत्मा कंपकंपा उठी। वह सोचने लगी कि यह मृत्यु क्या है? वह मृत्यु के रहस्य को जानने के लिए समुत्सुक थी। पर उसकी जिज्ञासा का कौन समाधान करता? उसके मन में यह प्रश्न रह-रहकर कौंधता रहा। पिता भी पुत्र के निधन से चिन्तित थे। माता भी आँसू बहा रही थी। समय एक ऐसा अद्भुत मरहम है जो वियोग के घाव को भर देता है।

एक दिन माता तीजकुंवर ने देव विमान का स्वप्न देखा। उस स्वप्न को देखकर उसका हृदय बांसों उछलने लगा। जब वह स्वप्न जीवनसिंहजी ने सुना तो वे भी आनन्द से झूम उठे। उन्होंने स्वप्न का फलादेश बताते हुए कहा—कि तुम एक पुण्यवान पुत्र की माँ बनेगी।

जब बालक गर्भ में था। माता तीजकुंवर को इस प्रकार की भव्य भावना उद्बुद्ध होती थी कि मैं गरीबों को दान दूँ, उन्हें वस्त्र दूँ, चतुर्विध संघ को आहारदान दूँ, जीवों को अभयदान दूँ। संसार में कोई भी व्यक्ति दुःखी न रहे और न अभावग्रस्त ही रहे। मैं जिनधर्म की प्रभावना करूँ। स्थान-स्थान पर धार्मिक पाठशालाएँ स्थापित करूँ। इस प्रकार उनकी जो भी भावनाएँ उत्पन्न हुईं। दोहद जाग्रत हुए। उन सबकी पूर्ति जीवनसिंह जी ने की।

धन्ना : सौभाग्यशाली धन्ना

जीवनसिंह जी के मन में उल्लास था। वे सोच रहे थे कि अब जो सन्तान होगी वह मेरी गौरव गरिमा में चार चांद लगाएगी। अंगुलियों पर दिन गिन रहे थे। विक्रम संवत् १६८८ कार्तिक वदी त्रयोदशी शनिवार दिनांक ८-११-१६३१ के दिन पुत्र का जन्म हुआ। भारतीय पर्व परम्परा में यह तिथि धन्ना तिथि यानि धनतेरस के रूप में विश्रुत है। दीपावली की अगवानी हेतु इस दिन घर-घर में मंगल दीप जलाये जाते हैं। घर-घर में मिठाइयाँ वितरण की जाती है। सोने-चाँदी और जवाहारात की दुकानें विशेष रूप से सजाई जाती है। लोक-धारणा है कि इस दिन सोना-चाँदी आदि की वस्तुएँ क्रय करने से



ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ



ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री के  
वैराग्य काल का एक भव्य चित्र



लक्ष्मी प्रसन्न होती है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार यह दिन पूर्ण रूप से विशुद्ध है। राजस्थानी मान्यता-नुसार—अणू पूछ्यो मोरत भलो के तेरस के तीज। धन तेरस को जन्म होने के कारण शिशु का नाम धन्ना लाल रखा गया। बहुत ही उल्लास के क्षणों में बालक का जन्मोत्सव मनाया गया।

जीवनसिंहजी एक ओर पुत्र को पाकर प्रसन्न थे तो दूसरी ओर उन्हें संग्रहणी की बीमारी दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी। कमजोरी के कारण शरीर में सूजन भी आ गयी थी। अनेक उपचार करने पर भी बीमारी कन्ट्रोल में नहीं आ रही थी। उन्हें यह भान हो गया था कि अब मैं लम्बे समय तक जीवित नहीं रहूँगा। मेरे पीछे पिता की क्या स्थिति होगी? पत्नी और बाल-बच्चों की क्या स्थिति होगी? यह विचार आते ही उनकी आँखें डब-डबा जातीं। वे सो रहे थे। उन्हें स्वप्न में यह भान हुआ कि एक दिव्य शक्ति उन्हें जागृत कर रही है कि जीवन! तू लम्बे समय का मेहमान नहीं है। तू अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों को सन्थारा कर सुधार ले। तुझे वीर की तरह मृत्यु को वरण करना है, न कि कायर की तरह। स्वप्न पूरा होते ही उनकी आँखें खुल गईं। उन्होंने देखा उषा का आलोक चारों ओर फैल रहा है। उन्होंने उसी समय पिताजी को बुलाया और कहा कि आप उदयपुर में जो महासती श्री सोहन कुँवर जी विराज रही हैं, उन्हें सूचित करें कि मुझे दर्शन देने के लिए पधारें।

पूज्य पिता श्री कन्हैयालालजी धार्मिक विचारों के धनी थे। उन्होंने उसी समय महासतीजी को सूचना दी। महासतीजी एक साध्वी को लेकर पधारी। उस समय उदयपुर में कोई सन्त नहीं विराज रहे थे। अतः जीवनसिंहजी ने महासतीजी के सामने अपने पापों की आलोचना की और कहा कि आप मुझे यावज्जीवन का सन्थारा करवा दें। मेरा अन्तिम समय अब सन्निकट है। महासतीजी ने शारीरिक लक्षण देखे। वे समझ गईं पर पारिवारिकजनों की अनुमति के बिना उन्होंने सागरी सन्थारा कराना ही उपयुक्त समझा। और उन्होंने सागरी सन्थारा करा दिया। मंगल पाठ सुनाकर महासतीजी विदा हुए। उनके विदा होने के पश्चात् जीवनसिंह जी ने सभी अभिभावक गणों से क्षमा-याचना की।

### पितृ-वियोग

सत्ताईस वर्ष की उम्र थी। किसी को भी यह कल्पना नहीं थी कि इतनी लघुवय में (वि० सं० १९८८ मिगसरवद ३ तदनुसार दि. २८-११-१९३१) उनका स्वर्गवास हो जाएगा। बालक धन्नालाल इक्कीस दिन का था और पुत्री सुन्दरकुँवर सात वर्ष की थी। पिता कन्हैयालालजी के लिए यह आघात दुस्सह साबित हुआ। पुत्र के देहान्त के पश्चात् वे सदा के लिए गमगीन हो गए। तीजकुँवर को पति के चिर वियोग का हृदय विदारक झटका लगा। उनका तो संसार ही उजड़ गया।

भविष्य के अनेक रंगीन सुनहरे सपने आँखों के सामने तैर रहे थे, पर दकायक दाम्पत्य जीवन पर वज्रपात हुआ। विधि को तीजकुँवर के भाग्य से ईर्ष्या हो गई। वह उसके अखण्डित सुख न निहार सकी। प्रकृति ने उसके साथ क्रूर उपहास किया। शहनाई की गूँज अभी समाप्त ही नहीं हुई, मातम की धुन बज उठी। प्रसन्नता की गुलाब ब्यारियाँ अभी गदराईं ही नहीं कि पतझर की आंधी आ गई। तीज-कुँवर के सुनहरे जीवन में काला कालीन विछ गया। कमनीय कल्पना की रंगीन दुनियाँ ताश के पत्तों की तरह बिखर गई। वह सदा के लिए पति सुख से वंचित हो गई। वैधव्य की काली घटाएँ जीवनाकाश में मंडरा आईं। सारा परिवार शोक संतप्त हो गया। जब गोगुन्दा हीरालालजी सेठ को दामाद के आकस्मिक निधन की सूचना मिली तो वे सुबक-सुबक कर रोने लगे। उनके धैर्य का बाँध टूट गया। उन्होंने पुत्री के भविष्य के सम्बन्ध में क्या-क्या कल्पनाएँ की थीं पर क्रूर काल ने उन कल्पनाओं पर तुषारपात





कर दिया। वे भी अपनी अन्तर्-व्यथा को रोक नहीं पा रहे थे। उनके मुंह से बार-बार ये शब्द निकल रहे थे—विधाता ने यह क्या कर दिया ?

पिता का मृत्यु सुन्दरि के सामने हो हुई था। उनको मृत्यु ने सुन्दरि के मन में कई गहन प्रश्न खड़े कर दिए। वह मन ही मन सोचने लगी—मृत्यु क्या है ? मृत्यु क्यों होती है ? मृत्यु से किस प्रकार जीता जा सकता है ? वह अपने मन में इन निगूढ़तम प्रश्नों का उत्तर खोजने लगी। यदि वह नचिकेता होती तो यमराज के पास जाकर मृत्यु के इन अज्ञात रहस्यों का पर्दा उठाकर पूछती। मौत को वह समझना चाहती थी। उसके सामने अरों माँ का, भाई को और पिता को मृत्यु हुई थी। उसका अन्तर्द्वन्द्व पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था। पर समाधान नहीं मिल रहा था।

अर्जुनलालजी भन्साली जा सुन्दरि के नानाजी थे तथा भँवरलालजी सा. की धर्म-पत्नी जो बड़ी दादा थी। वे सुन्दरि को अत्यधिक प्यार करते थे। वे सुन्दरि को यह अनुभव करा देना चाहते थे कि पिता का जो वात्सल्य तुझे मिल रहा था उससे भी अधिक हम तुझे प्यार दे रहे हैं। पर क्रूर काल ने उनको भी जब छीन लिया तो सुन्दरकुमारी यह सोचने लगी कि जब इनका जीवन पुष्प देखते-देखते मुरझा गया तो मैं कौन से बाग की सुली हूँ। मेरा भाई बालक था। मेरी माता और पिता दोनों नौजवान थे और नानाजी और दादीजी ये बड़ी उम्र के थे। मौत किसको, किस समय वरण करे, यह कुछ भी निश्चित नहीं है। वह कब आ जाएगी, कुछ भी पता नहीं है। उसी भावना से उसके मन में वैराग्य भावना के बीज वपन हो रहे थे।

#### सत्संग ने आर्त्तध्यान को धर्मध्यान में बदला

हम यह पूर्व बता चुके हैं कि जीवनसिंहजी के स्वर्गवास से पिता कन्हैयालालजी को बहुत बड़ा आघात लगा। वे एकान्त, शान्त क्षणों में सोचने लगे कि मेरी पुत्रवधु की उम्र अठारह वर्ष की है। पोती की उम्र सात वर्ष की है और पोता तो अभी कुछ ही दिनों का हुआ है। यदि पुत्रवधु सदा आर्त्तध्यान में रहेगी तो इसका स्वास्थ्य भी बिगड़ेगा और उसका असर पोते पर भी होगा। इसको आर्त्तध्यान से मुक्त करना है तो वह उपाय है—धर्म-ध्यान। सद्गुरुणीजी के चरणों में बैठेगी तो इसकी चिन्ता दूर होगी और चिन्तन प्रबुद्ध होगा।

दो वर्ष का समय व्यतीत हो गया। एक दिन श्री कन्हैयालालजी ने तीजकुंवर को कहा—बेटी चल मैं तुझे ऐसे स्थान पर ले जा रहा हूँ जो स्थान कल्पवृक्ष की भाँति शोक मुक्त एवं शान्तिप्रद है। जैसे कल्पवृक्ष मनोकामना पूर्ण करता है और चिन्ताएँ नष्ट करता है वैसे ही सद्गुरुणीजी का सान्निध्य हमारे जीवन के लिए वरदान रूप होगा।

तीजकुंवर, सुन्दरि और धन्नालाल तीनों को लेकर कन्हैयालालजी उदयपुर में स्थिरवास भवराजिता साध्वीरत्न तपोभूमि महासती मदनकुंवरजी तथा साध्वीरत्न महाश्रमणी सोहनकुंवरजी के पास ले गए। और कहा—आप इन्हें ज्ञान, ध्यान सिखाइये, जिससे कि इनके जीवन में नई रोशनी प्राप्त हो। ये आर्त्तध्यान और रूद्रध्यान से मुक्त होकर धर्म-ध्यान करें। इसीलिए मैं आपके चरणों में इनको लाया हूँ। जब भी समय मिलेगा। तब आपके चरणारविन्दों में आयेंगी।

मानव-मन की पारखी महासतियों के पास माताजी तीजकुंवर के साथ सुन्दरी भी जाने लगी। महासतीजी यह अच्छी तरह से जानती थी कि बालकों को खेलने-कूदने में, खाने-पीने में जितना आनन्द



आता है उससे भी अधिक आनन्द आता है उसे कहानी सुनने में। कहानियाँ बालकों को अत्यधिक प्रिय होती हैं। वे मिठाइयों से भी अधिक मीठी लगती हैं। जब बालक कथा कहानियाँ सुनता है तो उस समय न उसे भूख सताती है, न प्यास परेशान करती है और न खेलने की भावना ही जागृत होती है। बाल मनोविज्ञान की इस पहिली को समझकर महासतीजी ने रोचक कहानियाँ सुनानी चालू कीं। महासती श्री मदनकुंवरजी ने धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और आगमिक कहानियाँ सुनाना प्रारम्भ किया। कहानियों के माध्यम से जो उपदेश दिया जाता है, वह उपदेश भार रूप नहीं लगता। उससे व्यक्ति ऊबता नहीं, विन्तु सहज ही ग्रहण कर लेता है। महासतीजी की कहानियों ने बालिका सुन्दरि के अन्तर्मानस में नया रंग लाना प्रारम्भ किया। कथाओं के साथ ही महासतीजी सामायिक सूत्र, प्रतिक्रमण, पच्चीस बोल आदि जैन तत्त्वज्ञान का अध्ययन भी करातीं। जब भी घर से समय मिलता सुन्दरि अपनी माँ और भाई के साथ धर्मस्थानक में पहुँच जाती। वैराग्य भावना उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की ओर थी।

एक दिन सुन्दर ने सद्गुरुणीजी श्री मदनकुंवरजी महाराज साहब से पूछा—‘बताइए क्या मैं भी दीक्षा ग्रहण कर सकती हूँ? आपकी शिष्या (चेली) बन सकती हूँ।’

संस्कारों में नया रंग

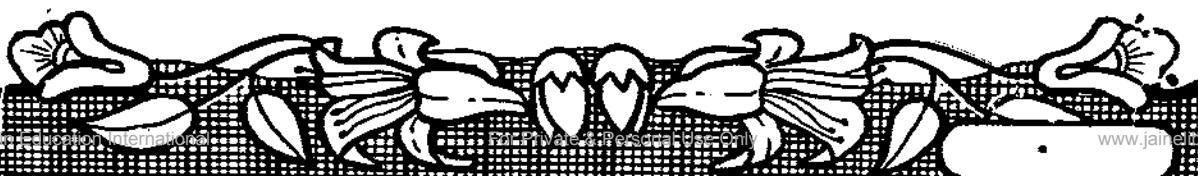
उत्तर में सद्गुरुणीजी ने कहा—क्यों नहीं। पर दीक्षा ग्रहण करना जितना सरल है, उसना ही कठिन है साधना का महामार्ग। यह मार्ग तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन है। तलवार की धार पर तो बाजीगर भी नाच सकते हैं। अपनी करामात दिखा सकते हैं। पर साधना का मार्ग उससे भी अधिक कठिन है। मोम के दांतों से लोहे के चने चबाना है। इसलिए गहराई से सोच लो। कहने से पूर्व मन की तराजू पर तोल लो। एक बार जो शब्द मुँह से निकल जाते हैं वे शब्द पुनः लौट कर नहीं आते। अतः कोई भी कार्य किया जाय वह विचारपूर्वक हो। याद रखना, अच्छे कार्य में सदा विघ्न आते हैं। जो उन विघ्नों से ब्रूझने की क्षमता रखता है, वही साधक आगे बढ़ता है। जरा सा विघ्न आते ही जो घबरा जाता है, वह साधना के पथ पर नहीं बढ़ सकता।

सोने को आग में डाल कर तपाया जाता है। हीरे को शाण पर घिस कर चमकाया जाता है। वैसे ही अभिभावकगण वैराग्य की परीक्षा लेते हैं। जिसका जितना अधिक सुहृद वैराग्य होगा, वह व्यक्ति ही आगे बढ़ता है। वैराग्य की सुहृद नींव पर ही साधना का सुहृद महल खड़ा किया जा सकता है। पहले अपने मन में वैराग्य को तोल लो। उसके पश्चात् मुँह से बोलना। देखना, हाथी के दाँत बाहर निकलते नहीं और यदि निकल जाते हैं तो पुनः अन्दर नहीं जाते।

एक दिन उदयपुर में तेरापन्थ समुदाय के आचार्य आए थे। उनके सन्निकट तीन बालिकाएँ दीक्षा ग्रहण करने जा रही थीं। बहुत ही शानदार जुलूस निकला। उस जुलूस को देखकर सुन्दरकुंवर मन ही मन सोचने लगी—ये तीनों लड़कियाँ मेरी ही उम्र की हैं। ये तीनों दीक्षा ग्रहण करने जा रही हैं, तो मैं क्यों नहीं दीक्षा ग्रहण कर सकती हूँ। मुझमें ऐसी क्या कमजोरी है? जो मैं इस मार्ग को स्वीकार करने में कतरा रही हूँ।

आत्मा में अनन्त शक्ति है। पर हम उस शक्ति को प्रकट नहीं कर रहे हैं। एक दिन गुरुणीजी ने रामायण का प्रसंग सुनाया था कि वीर हनुमान को मेघनाद ने [नागपाश में बांध दिया था और उसे रावण की सभा में लाया गया था। रावण ने हनुमान के व्यवहार से क्रुद्ध होकर कहा था कि इसका मुँह काला कर दिया जाय और गधे पर बैठाकर इसे लंका से बाहर निकाल दिया जाय। पर ज्योंही यह बात

एक बूँद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १७५



हनुमान ने सुनी और वह सोचने लगा यह मेरा नहीं—भगवान राम का अपमान है। मैं उनका दूत बनकर यहाँ आया हूँ। मेरे में अनन्त शक्ति है। ज्योंही हनुमान को अपनी शक्ति का भान हुआ त्योंही उसने एक झटका देकर नागपाश के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। और वह उछलकर वहाँ से चल दिया।

रामायण का प्रसंग सुनकर मुझे भी अहसास हुआ कि मुझमें भी अपूर्व शक्ति है। मैं चाहूँ तो मोह के नागपाश को तोड़ कर मुक्त बन सकती हूँ। मैं वीरांगना हूँ। मुझे पीछे नहीं हटना है, आगे बढ़ना है। अध्यात्म की ज्योति जागृत करना है।

भावनाएं संकल्प बनने लगीं

मैंने अपने मन में निश्चय किया और साहस बटोर कर अपने हृदय की बात माँ से कही। और उसकी प्रतिक्रिया जानने के लिए माँ के मुँह की ओर देखने लगी। माता तीजकुंवर ने कहा—'बेटी! तेरी भावना बहुत ही उत्तम है, पर संसार बड़ा विचित्र है। जब लोगों को यह बात ज्ञात होगी तो कहेंगे कि सौतेली माँ होने से लड़की को घर से निकाल दिया है। सारा दोषारोपण लोग मेरे पर करेंगे। इसलिए तुमने जो बात मेरे से कही है उस पर गम्भीरता से विचार लो।

सुन्दरि ने कहा—माँ! तुमने मुझको कितना प्यार दिया है? जितना प्यार तुमने दिया है, उतना प्यार तो असली माँ भी नहीं दे सकती। तुम्हारे प्यार ने तो पिता के प्यार को भुला दिया है। कभी भी तुमने सौतेली माँ की तरह मेरे से व्यवहार नहीं किया। तुम प्रतिदिन मुझे बढ़िया से बढ़िया भोजन बनाकर खिलाती हो, नित नये कपड़े पहनाती हो और देखो, मुझे कितने आभूषण पहना रखे हैं? तुम्हारे प्रत्येक व्यवहार में हार्दिक स्नेह झलक रहा है, फिर लोग क्यों कहेंगे?

माता तीजकुंवर ने प्यार से हल्की-सी चपत लगाते हुए कहा—तुम तो बड़ी समझदार हो गई हो। इस बात पर हम बाद में अवकाश के क्षणों में सोचेंगे। अभी तो समय हो गया है। हम गुरुणी जी महाराज के दर्शन के लिए चलें। माता ने बढ़िया वस्त्र सुन्दरि को पहनाये, आभूषण धारण करवाए और दर्शन के लिए चल पड़े।

आज माँ के चेहरे पर अपूर्व प्रसन्नता थी। वह मन ही मन सोच रही थी। संसार असार है। मेरी लाड़ली उस असार संसार को त्यागने के लिए ललक रही है। यह इसके प्रबल पुण्य की निशानी है। संसार के प्रवाह में तो अनन्त काल से जीव बहता रहा है, भटकता रहा है। आज इसके मन में यह निर्मल भावना पैदा हुई है। कल यह भवना विराट् रूप धारण करेगी।

दूसरे ही क्षण माँ तीजकुंवरि सोचने लगी कि अभी तो मेरे श्वसुर विद्यमान हैं। वे जब आज्ञा देंगे, तभी तो यह कार्य सम्भव है। श्वसुरजी धर्मनिष्ठ हैं, पर मोह का राज्य बड़ा प्रबल है। अभी तो यह उनकी एकाएक पोती है। वे सहज रूप में आज्ञा प्रदान नहीं करेंगे। इसलिए बात करने से पहले अपने मन को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

सद्गुरुणी जी के सामने ही माता तीजकुंवरि ने अपने हृदय की बात कही—कि सुन्दरि! तू अपने मन को मजबूत बना ले। अभी कोई जल्दी नहीं है। दादा जी को बात कहने से पूर्व कुछ दिनों तक और सोच ले। बात में पश्चात्ताप न करना पड़े।

सुन्दरि ने अनेक नियम ग्रहण किये। पर वे नियम या तो वह स्वयं जानती थी या माताजी



और गुरुणीजों जानती था। लगभग एक महीना पूरा होने ही वाला था। सुन्दरि की उम्र तेरह वर्ष की चल रही थी। एक दिन पारिवारिकजनों से ही सुन्दरि को पता लगा कि दादाजी मेरे लिए वर की तलाश कर रहे हैं। उन्होंने दो-चार लड़के भी देखे हैं। यदि इस समय मैं मौन रहूँगी तो वे सम्बन्ध पक्का कर लेंगे। एक बार वाग्दान होने के पश्चात् समस्या और अधिक उलझ जायेगी। वह अपनी मां के साथ गुरुणीजी के पास पहुँची। और सारी स्थिति गुरुणीजी से निवेदन की। पूछा—मुझे क्या करना चाहिए ?

गुरुणीजी श्री सोहनकुंवरजी ने कहा—सुन्दरि ! मैं इस सम्बन्ध में तुझे क्या सुझाव दूँ ? यदि तेरी वैराग्य भावना प्रबल है तो वह भावना दादाजी के सामने अच्छी तरह से बता दे। यदि वैराग्य भावना सुदृढ़ नहीं है तो मौन रहना ही अच्छा है।

दादाजी चौंक गये

चैत्र शुक्ला अष्टमी का दिन था। विक्रम संवत् १९६४ चल रहा था। भगवान ऋषभदेव का जन्म दिन था। सुन्दरि ने दादाजी के चरणों में नमस्कार कर, नम्र निवेदन किया—पूज्यवर ! आप मेरे लिए वर की तलाश कर रहे हैं ऐसा मैंने सुना है। तो मेरा आपसे यह बहुत ही नम्र शब्दों में निवेदन है कि मैं विवाह नहीं करूँगी। ऐसा मैंने अपने मन में दृढ़ संकल्प किया है।

जब से माता जी, भाई, पिताजी, नानाजी और बड़ी दादी का स्वर्गवास हुआ, तभी से मेरे अन्त-मनस में एक द्वन्द्व चल रहा है कि मृत्यु क्या है ? मृत्यु क्यों होता है ? और अमर बनने का क्या उपाय है ? मेरा सद्भाग्य है कि मुझे आप जैसे वात्सल्य के देवता, धर्मभूति दादाजी मिले हैं। आपने ही हमें सद्-गुरुणीजी महाराज का परिचय कराया है। जिससे मुझे योग्य मार्ग-दर्शन मिला है कि हमारा जीवन बहु-मूल्य है। वह कृकर और शूकर की तरह वासना की गन्दगी चाटने के लिए नहीं है। और न चार गतियों की गलियों में भटकने के लिए ही है। हमें यह मानव जीवन मिला है। इस जीवन को साधना कर हमें चमकाना है। इसलिए मेरा सनम्र निवेदन है कि आप मुझे आज्ञा प्रदान करें।

दादाजी कन्हैयालाल जी ने अपनी पौत्री के मुँह से अपनी कल्पना के विरुद्ध जब बात सुनी तो वे एक क्षण स्तब्ध रह गए। वे सोच ही नहीं सके कि मैं क्या सुन रहा हूँ ? उन्होंने बहुत ही प्यार से सुन्दरि को अपने पास बैठाया। और कहा—बिटिया ! तू बहुत सुकुमार है। जीवन ने तुझे फूल की तरह रखा है। मेरा भी अपार प्यार तुझे मिला है। सारे पारिवारिक लोग तुझे अपने प्राणों से भी अधिक चाहते हैं। तू यह क्या कह रही है ?

साधु का मार्ग कोई सरल मार्ग नहीं है। यह मार्ग नुकीले काँटों पर चलने के सदृश है। तेरे बाल कितने मुलायम और सुन्दर हैं ? इन बालों को हाथों से नोचकर निकालना। कितना कठिन है। एक बाल भी तोड़ने पर आकाश के तारे नजर आ जाते हैं। फिर इतने बालों का लोच कैसे करोगी ? तुम्हारे पैर कितने कोमल हैं ? इन कोमल पैरों से तुम किस प्रकार विहार कर सकोगी ! सर्दियों में तीक्ष्ण काँटे और कंकर चुभेंगे। बर्फ की तरह ठंडी जमीन पर चलना बहुत ही कठिन है। गर्मियों के दिनों में जब सूर्य की चिल-चिलाती धूप गिरती है तो रेत तप्त तबे की तरह तपने लगती है। उस पर चलने से पैर झुलस जाते हैं। सन्त और सतियों के पास वस्त्र भी सीमित होते हैं। जब सनसनाती हुई हवा चलती है तो कई बार सन्त और सतियों को रात भर बैठ कर निकालना होता है। वे ठण्ड से नींद भी नहीं ले सकते। भोजन भी उन्हें माँग कर ही लाना होता है। कभी घी घणा, कभी मुट्ठी चणा और कभी वह भी मना है।

एक वृंद्, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १७७



साधु जीवन में एक नहीं, अनेक परीषह सहन करने पड़ते हैं तू तो जीवन की उषा काल से ही चटोकड़ी रही है। तुझे गर्मा-गर्म रोटी खाना पसन्द है और सब्जी भी तुझे वह चाहिए जिस पर चार अंगुल घी तैरता हो। तुझे ताजी मिठाई चाहिए। बासी मिठाई तो तुझे पसन्द नहीं है। नित नये वस्त्र और आभूषण चाहिए। ऐसी स्थिति में तू शांति के क्षणों में सोच कि दीक्षा लेकर किस प्रकार तू नियमो-पनियम का पालन कर सकेगी ? देख ! अभी तू बच्ची है। भावना के प्रवाह में वह रही है। पर साधना का मार्ग बड़ा कठोर है। जिस पर चलते समय बड़े-बड़े वीरों के कदम लड़खड़ाने हैं। अतः गहराई से सोच। संयम का मार्ग कोई बच्चों का खेल नहीं है।

सुन्दरि दादाजी की बातों को बहुत ही ध्यान से सुनती रही। जब दादाजी ने अपनी बात पूरी की तो उसने पुनः निवेदन करना प्रारम्भ किया—दादाजी ! मैं लम्बे समय से चिन्तन करती रही हूँ। आप घबराए नहीं। अन्तगड दशांग सूत्र में मैंने सन्नट श्रेणिक की और कृष्ण महाराज की महारानियों का वर्णन पढ़ा है। जो फूल से भी अधिक सुकुमार थीं। जिन्होंने संसारावस्था में सूर्य की रोशनी के भी दर्शन नहीं किए। ऐसी वे कोमलांगी जब साधना के मार्ग में प्रविष्ट होती हैं तो इतना उग्र तप करती हैं जिस वर्णन को पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वे सिंहनी की तरह निरन्तर आगे बढ़ती हैं। वैसे ही मैं भी साधना के पथ में आगे बढ़ूंगी। मनुष्य का मन तो पानी की तरह है। पानी को जैसा वर्तन मिले वैसा ही आकार धारण कर लेता है। मन को भी जैसा वातावरण व संस्कार मिलता है वैसा ही बन जाता है। मैं धर्मवीर दादा की पोती हूँ। वीरता मेरे संस्कारों में भरी है।

#### विभिन्न परीक्षाएँ

दादाजी में धार्मिक भावना कूट-कूट कर भरी थी; किन्तु मोह की प्रबलता से वे आज्ञा देना नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि सुन्दरि गृहस्थाश्रम में रहे। उन्हें वार्तालाप से ही यह ज्ञात हो गया था कि यह निरन्तर मुखवस्त्रिका मुख पर रखती है। हमेशा दया व्रत करती है। अतः उन्होंने जरा कठोर होकर कहा—देख, भोजन घर में सारा सामान पड़ा है। मैं चाहता हूँ कि तू मुझे अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाए। आज मेरे साथ बैठकर भोजन करे। यदि तू मुझे अपने हाथ से बनाकर भोजन न खिलायेगी तो मैं स्वयं भोजन नहीं करूंगा। और तुझे भी भोजन नहीं करना है। मैं देखना चाहता हूँ तेरी पाक-कला।

सुन्दरि ने निवेदन किया—आदरणीय दादाजी ! मैंने सच्चित्त वस्तु के स्पर्श का त्याग कर रखा है। भोजन तो बिना सच्चित्त वस्तु के स्पर्श के नहीं बन सकता। आपने ही तो एक दिन फरमाया था कि नियम को लेकर तोड़ना नहीं चाहिए। इसलिए मैं आपकी इस आज्ञा का किस प्रकार पालन कर सकती हूँ ?

दादाजी धार्मिक वृत्ति के कारण नियम भंग करने के लिए कह नहीं सकते थे, तथापि उनके तार्किक मस्तिष्क ने एक उपाय ढूँढ ही लिया। उन्होंने कहा—जो नियम लेने का पाठ है, उसमें 'महत्तरागारेण' यह आगार है। इस आगार के अनुसार बड़ों की आज्ञा को सम्मान देकर तू भोजन बनाकर मुझे खिला सकती है।

सुन्दरि ने पुनः विनयपूर्वक निवेदन किया कि 'महत्तरागारेण' जो आगार है वह साधु और साध्वियों के लिए है। आध्यात्मिक साधना करते समय यदि आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए गुरुजन आज्ञा प्रदान करते हों तो उसके पालन की बात है। सामान्य व्यक्तियों के द्वारा कहा हुआ कथन 'महत्तरागारेण'



नहीं है। यों तो घर में सभी मेरे से बड़े हैं। सभी की बात महत्तरागारेण होगी तो फिर किसी भी नियम का पालन नहीं हो सकेगा।

दादाजी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। वे सुन्दरि की जमकर परीक्षा करना चाहते थे। वे जानना चाहते थे कि कहीं इसका वैराग्य कच्चा तो नहीं है। यदि कच्चा वैराग्य होगा तो उपसर्ग आते ही उसका रंग अपने आप फीका पड़ जाएगा।

सुन्दरि को तीन दिन तक भोजन नहीं दिया गया। उसे यही कहा गया कि तू अपने हाथ से भोजन बनाकर स्वयं भी खाओ और हमें भी खिलाओ। तीन दिन तक भूब्रीं रहने पर भी उसने सच्चित्त वस्तु के स्पर्श के नियम को नहीं तोड़ा।

घर में प्रतिदिन बर्तन भांजे जाते थे और वह धोवन पानी एक मटकी में छानकर प्रतिदिन रखा जाता था। जब से सुन्दरि ने दोक्षा की बात कही तब से धोवन पानी घर में रखना बन्द कर दिया। भीषण ग्रीष्म ऋतु में पानी के अभाव में गला सूखता था। सुन्दरि को यह प्रेरणा दी जाती कि तू कच्चे पानी का उपयोग कर। किन्तु नियम लेने के कारण वह अपने नियम में दृढ़ रही। एक बार भी कच्चे पानी का उपयोग नहीं किया। तीन दिन की परीक्षा में सुन्दरि सफल रही।

सुन्दरि प्रारम्भ से ही किसी का जूठा भोजन नहीं खाती थी और न दूसरे को वह जूठा खिलाती थी। उसकी परीक्षा चल रही थी। यह कितनी समभाव में रहती है। कहीं मन के विपरीत होने से आपे से बाहर तो नहीं हो जाती। अतः सुन्दरि जब भोजन के लिए दादाजी के पास बैठती तो दादाजी ने परीक्षा के लिए अपना जूठा भोजन उसकी थाली में डाल दिया। सुन्दरि ने बिना ननुनच किये वह भोजन खा लिया। उसके चेहरे पर किञ्चित मात्र भी क्रोध की रेखा नहीं उतरी।

दादाजी के संकेत से एक दिन सुन्दरि जब भोजन करने बैठी तो उसे भोजन इस तरह से परोसा गया जैसे किसी भिखारी या कुत्ते को देते हैं। दादाजी दूर बैठकर देख रहे थे कि यह बड़ी स्वाभिमानीनी है। दस बार मनुहार करने पर यह कोई वस्तु लेती है। अब देखें कि तिरस्कार करने पर इसे क्रोध तो नहीं आता है न ! मान का सर्प फुत्कारें मारकर खड़ा तो नहीं होता है न ! पर सुन्दरि पक्की गुरुणी की चेली थी। जिनकी शिक्षा ने उसके क्रोध को शान्त कर दिया था। अपमान के जहरीले घूंट को पीकर भी वह मुस्कराती रहती थी। जब दादाजी ने देखा कि इसका वैराग्य-रंग गहरा है तो उन्होंने प्रतिकूल परीषह देना छोड़ दिया। किन्तु दादाजी के द्वारा जब परीक्षा की गई तो अन्य अभिभावक गण भी चाहते थे कि हम भी इसे परीक्षण प्रस्तर पर कसें।

ताले में बन्द

दादी जी और चाचा जी आदि चाहते थे कि एक बार इसे कमरे में बन्द कर दें। तीन-चार दिन तक कमरे में बन्द पड़ी रहेगी तो अपने आप वैराग्य मिट जायेगा। सुन्दरि को इस योजना का पता लग गया। वह सतत् सावधान रहती। उसने स्वयं ने कई बार कुन्दे को ताला लगा दिया जिससे कि कुन्दा बन्द न हो और उस पर ताला लगाने की योजना भूत रूप न ले सके।

दयाव्रत लेने के कारण सुन्दरि किसी भी सच्चित्त वस्तु का स्पर्श नहीं करती थी। उसे चिढ़ाने के लिए चाचा और भूआ आदि सुन्दरि पर सच्चित्त सब्जी आदि फेंकते और किलकारियाँ करते कि सुन्दरि महाराज के संगठा हो गया। पर सुन्दरि शान्तमुद्रा में वह सारा दृश्य देखती और मुस्करा देती। चाचा

एक बूंद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १७६



आदि उसे क्रोध कराने के लिए तुले हुए थे । पर सुन्दरि के शान्त चेहरे को देखकर उनका मन अपने आप शान्त हो जाता ।

घर में विवाह का प्रसंग था । कंचन भूआ दुल्हन बनकर आमोद-प्रमोद कर रही था । धूम-धाम से विवाह होने जा रहा था । उस समय सुन्दरि धर्मस्थानक में जाने के लिए तैयार हुई । किन्तु दादाजी ने उसे इसलिए रोक दिया कि दूल्हा और दुल्हन को देखकर इसकी भावना परिवर्तित हो जाएगी । किन्तु सुन्दरि उस समय सामायिक में बैठ गई और अपने ज्ञान-ध्यान में लीन हो गई । उसने आँख उठाकर भी दूल्हा और दुल्हन को नहीं देखा । अनुकूल परीषह को भी जब सुन्दरि सहन कर गई और विचलित नहीं हुई । तो दादाजी को यह आत्मविश्वास हो गया कि सुन्दरि दीक्षा अवश्य ग्रहण करेगी । वह रोकने पर भी रुकेगी नहीं ।

दीक्षा में प्रतिबद्धता क्यों ?

श्रीमान् कन्हैयालालजी बरड़िया आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज और आचार्य गणेशी लालजी महाराज के परम भक्तों में से थे । वे प्रतिवर्ष वर्षावास में उनके दर्शन के लिए पहुँचते थे और चौका लगाकर सेवा में रहते भी थे । इसलिए अन्य मिलने वालों ने उनको उत्प्रेरित किया कि आपकी पोती बहुत ही प्रतिभा-सम्पन्न हैं । यदि इसे दीक्षा देना ही है तो हुक्मीचन्दजी महाराज के सम्प्रदाय में दो । दूसरी प्रम्प्रदाय में दीक्षा क्यों देते है ? दादाजी को वह मुझाव पसन्द आ गया और उन्होंने सुन्दरि से कहा—यदि तू जवाहरलालजी महाराज की सम्प्रदाय में दीक्षा लेना चाहती है तो मैं सहर्ष आज्ञा पत्र लिख देता हूँ । अन्य सम्प्रदाय में यदि तू दीक्षा लेना चाहती है तो मैं आज्ञा नहीं दूंगा ।

सुन्दरि कुमारी ने कहा पूज्यवर आपने ही तो हमें गुरुणीजी के दर्शन करवाए । आपने ही तो कहा था—ये महान् भाग्यशाली साध्वियाँ हैं । मेरी दादीजी और माताजी के पीहर में भी इन्हीं गुरुणीजी की गुरुआम्ना है । आपने यह भी बताया था कि हमारे दादाजी आचार्य अमरसिंहजी म० के सम्प्रदाय के पूज्य पूनमचन्दजी म० के परम भक्तों में से थे । फिर दीक्षा लेने में सम्प्रदाय का क्या सम्बन्ध है ?

दीक्षा तो श्रद्धा का परिपक्व फल है । जहाँ भी वातावरण की अनुकूलता होती है, यह पक जाता है । इससे सम्प्रदाय आदि की शर्त या प्रतिबद्धता क्यों ? यह तो एक भाव प्रवाह है जिधर अनुकूल मार्ग मिला, वह निकलता है ।

जितने भी सन्त और सतियाँ हैं, उन सभी के नियम एक सदृश हैं । पाँच महाव्रत, पाँच समिति तीन गुप्ति इनका पालन श्रमण जीवन के लिए आवश्यक है । यह नहीं है कि अमुक सम्प्रदायस्थ साधु साध्वी मुक्ति को वरण करेंगे । मुक्ति का प्रमाण-पत्र उन्हीं को मिला हुआ है ।

क्या ऐसा कुछ है ? नहीं, तो फिर आपका यह आग्रह भी उचित नहीं है । संयम तो मुझे पालन करना है । मैंने जिस गुरुणी जी को चुना है । उनकी जैसी आत्माथिनी साध्वियाँ मिलना बहुत कठिन है । उनके जीवन में आचार और विचार का, ज्ञान और क्रिया का समन्वय हुआ है । वह अद्भुत है । उनके जीवन का कण-कण त्याग व वैराग्य के रंग से रंगा हुआ है । मेरी श्रद्धा उनके प्रति समर्पित हो गई है ।

दादाजी कन्हैयालालजी के मन में भी महासतीजी के आचार और विचार के प्रति गहरी निष्ठा थी । वे जीवन के उषा काल से ही सन्त और सतियों के निकट सम्पर्क में रहे थे । उनके मन पर



महासती मदनकुंवरजी और सोहनकुंवरजी के त्याग की छाप गहरी पड़ी थी। पर सम्प्रदायवादियों ने उनके मस्तिष्क में एक विचार ठूस दिया था और वही विचार उनको आज्ञा देने से रोक रहा था। कन्हैयालालजी ने सुन्दरि को कहा—मेरी आज्ञा बिना महासतीजी दीक्षा नहीं देंगी। यदि तू मेरी बात को मान जाएगी तो मैं तेरी दीक्षा चट-पट करवा दूंगा। मुझे समाज में रहना है। समाज के अग्रगण्य व्यक्तियों की बात नहीं मानूं। यह कैसे हो सकता है? तू अभी मेरी बात पर गहराई से चिन्तन कर।

दादाजी चल बसे

यह हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि ज्येष्ठ पुत्र जीवनसिंह के देहावसान के पश्चात् कन्हैयालालजी का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरने लगा था। चिन्ता का धुन लग चुका था। परिवार की सारी जिम्मेदारी उन पर ही आ गई थी। लम्बा-चौड़ा व्यापार फैला हुआ था। द्वितीय पुत्र रतनलालजी को व्यापार में रस नहीं था। वे विद्याभवन में अध्ययन करवाने लगे। और अन्य तीन पुत्र छोटे थे। अतः मन ही मन में कन्हैयालालजी घुलते चले जा रहे थे। जिसके कारण एक दिन देखते ही देखते लम्बी बीमारी के पश्चात् उन्होंने सदा के लिए आँखें मूंद लीं। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उनकी धार्मिक भावना सराहनीय रही। पर साम्प्रदायिक व्यवित्तियों के प्रभाव के कारण वे सुन्दरि को दीक्षा की आज्ञा न दे सके।

दादाजी के स्वर्गवास के पश्चात् वातावरण में परिवर्तन हो गया। आठ माह का समय दादाजी का अनुनय-विनय करते हुए बीत गया था। अब परिवार का उत्तरदायित्व सुन्दरि के चाचा रतनलाल जी पर आ गया था। रतनलालजी जीवन के उषा काल से ही पाश्चात्य भौतिक विचारों में पले-पुसे थे। उनको धार्मिक क्रिया-काण्डों के प्रति लगाव नहीं था। उनका सिद्धान्त था—'इट, ड्रिक एण्ड बी मेरी' खाओ पीओ और मौज करो। वे उस समय विद्याभवन में रहते थे। सुन्दरि अपनी माता और भाई के साथ चाचा के पास पहुँची और दीक्षा की अनुमति के लिए आज्ञा चाही।

रतनलालजी ने कहा—यह उम्र खाने-पीने की है, मौज-मजा करने की है। इस उम्र में दीक्षा लेना उचित नहीं है। तू दीक्षा क्यों लेती है?

उत्तर में सुन्दरि ने कहा—चाचाजी! दीक्षा बुभुक्षु नहीं, मुमुक्षु लेता है। यदि बुभुक्षु लेता हो तो बहुत से भिखारी दीक्षा ले लें। दीक्षा एक ऐसा पवित्र संस्कार है जो हमें बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाता है। अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। जिसके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना की प्रबलता होती है, वही साधक इस पथ का पथिक बनता है।

चाचा की चालें

रतनलालजी ने सुन्दरि को कहा—कुछ दिन तू मेरे पास रह। फिर मैं देखूंगा कि तेरी वैराग्य भावना कैसी है? यदि मुझे यह आत्म-विश्वास हो गया तो फिर मैं दीक्षा की अनुमति दे दूंगा।

सुन्दरि को क्या आपत्ति थी? वह चाचा के पास रह गई। विविध प्रश्न पर प्रश्न कर वे उसके वैराग्य सागर की थाह लेना चाहते थे। खान-पान आदि के द्वारा वैराग्य को कसना चाहते थे। सभी परीक्षाओं में जब सुन्दरि समुत्तीर्ण हो गई तो उन्होंने एक चाल चली। उन्होंने सुन्दरि की माताजी से कहा—भाभीजी मैं दीक्षा की आज्ञा लिख रहा हूँ। पर मैं चाहता हूँ कि सुन्दरि के नाम से कम से कम बीस हजार रुपये बैंक में जमा करवा दें।

एक बूंद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १८१





भाभी तीजकुंवर ने कहा—लालाजी ! आपने दीक्षा की आज्ञा लिखते समय जो बीस हजार रुपये बैंक में सुन्दरि के नाम पर जमा करने की बात कही । वह मेरी समझ में नहीं आई कि उसका क्या रहस्य है ? त्याग के साथ परिग्रह को यह कैसी शर्त है ?;

रतनलालजी ने कहा—भाभीजी ! यह बहुत सीधी बात है कि सुन्दरि दीक्षा ले रही है । यदि उनका मन संयमी जीवन में नहीं लगा और यदि यह पुनः गृहस्थ बनना चाहे तो बीस हजार रुपयों के ब्याज से भी यह अपना गुजरा कर लेगी ।

भाभी तीजकुंवर ने कहा—लालाजी ! आपने खूब सोची है । जब आपको शादी हुई, तब आपके श्वसुर ने दहेज के साथ विधवा का वेश भी दिया होगा । उन्होंने सोचा होगा कि यदि बेटी विधवा हो जायेगी तो क्या पहनेगी ?

इस बात को सुनकर रतनलालजी ने कहा—विवाह के सुनहरे अवसर पर इस प्रकार अशुभ कौन सोचेगा ? इस प्रकार सोचना ही मूर्खता है ।

भाभी तीजकुंवर ने कहा—लालाजी, फिर आपका यह सोचना बुद्धिमानी है क्या ? आप तो साक्षर हैं । फिर इस प्रकार की बात सोचना क्या उचित है ?

भाभी तीजकुंवर की बात सुनकर रतनलालजी ने कहा—अभी आपको मेरी गर्ज है, इसीलिए मेरी इतनी खुशामद कर रही है । पर मेरी बात मानने के लिए आप प्रस्तुत नहीं है ।

भाभी तीजकुंवरि ने स्वाभिमान के साथ कहा—मैं आपका बहुमान करती हूँ । इसीलिए मैंने आपकी गर्ज की है । यों मैं स्वयं बड़ी हूँ । मैं अपना काम अपने आप कर लूँगी । मेरे को अब किसी की खुशामद करने की आवश्यकता नहीं है ।

रतनलालजी भाभी के चेलेंज को सुनकर क्रोध से तिलमिला उठे । उन्होंने कोर्ट में अर्जी लिखवा दी कि सुन्दरि की माँ तीजकुंवर सौतेली माँ है । इसलिए वह सुन्दरि को उसकी बिना इच्छा के ही दीक्षा दिला रही है । मेरे जेठ भाई जीवनसिंहजी का देहान्त हो गया है । अतः मेरी भौजाई मनमानी कर रही है । उसे रोका जाय । सुन्दरिकुमारी और धन्नालाल यह दोनों नावालिंग हैं । अतः जल्दी से जल्दी रोकने की कार्यवाही की जाए ।

दूसरे दिन थानेदार पुलिस को लेकर घर पर पहुँचा । और उसने दरवाजे पर खड़े रह कर आवाज लगाई कि जीवनसिंहजी कहाँ हैं ? उनकी लड़की सुन्दरिकुमारी और उनका लड़का धन्नालाल कहाँ है ? उनके हस्ताक्षर करवाने हैं ।

पुलिस को देखकर धन्नालाल ने कहा—हमारे पिताजी श्मशान में गये हुए हैं । आप पहले वहाँ जाकर उनसे हस्ताक्षर करवाइये । फिर हमें हस्ताक्षर के लिए कहियेगा ।

थानेदार ने उस सलौने बालक को अपनी गोद में उठा लिया और उसके सिर को चूमते हुए बोला—हम तो सरकार के नौकर हैं । बेटा, तुम्हारे चाचाजी ने अर्जी की तुम्हारी माता तुम्हें जबरदस्ती दीक्षा दिला रही है । इसीलिए हमें यहाँ आना पड़ा है । सुन्दरिकुमारी उसी समय कमरे से बाहर आई और कहा—मैं स्वयं अपनी इच्छा से दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ । इसमें माता की कोई जबरदस्ती नहीं है । उसने कागज पर हस्ताक्षर कर दिये । थानेदार चला गया ।



दीवान और नगरसेठ : अनुकरण

दीक्षा का मामला उलझ गया था। उसे सुलझाने के लिए सुन्दरिकुमारी उदयपुर के दीवान श्रीमान् बलवन्तसिंहजी कोठारी के पास पहुँची। और उनसे कहा—आप धर्मनिष्ठ हैं। मैं किसी के वहकावे में आकर नहीं किन्तु अपनी स्वेच्छा से दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ। मोह के कारण चाचा आदि पारिवारिक जन इस कार्य में बाधक बन रहे हैं। यदि आप सहायक बन जाए तो कार्य सानन्द सम्पन्न हो सकता है।

दीवान बलवन्तसिंह जी कोठारी बड़े बुद्धिमान थे। उन्होंने सुन्दरि से कहा—बेटी ! तुम गृहस्थाश्रम में रहकर भी धार्मिक साधना कर सकती हो। फिर दीक्षा लेने की क्या आवश्यकता है ?

सुन्दरि कुमारी ने कहा—दीवान साहब ! पढ़ाई तो घर पर भी रहकर की जा सकती है। फिर विद्यालय, महाविद्यालय बनाने की क्या आवश्यकता है ?

दीवान बलवन्तसिंहजी ने उत्तर दिया—विद्यालयों में अध्ययन व्यवस्थित रूप से होता है। वैसा व्यवस्थित अध्ययन घर पर नहीं हो सकता। इसीलिए विद्यालय बनाये जाते हैं।

सुन्दरि कुमारी ने तपाक से कहा—धार्मिक जीवन गृहस्थाश्रम में भी जिया जा सकता है पर वहाँ पर अनेक बाधाएँ हैं। और संयमी जीवन में उन बाधाओं का अभाव है। वहाँ पर जिस सरलता और सुगमता से धार्मिक जीवन जिया जा सकता है, वैसा गृहस्थाश्रम में नहीं। इसीलिए तीर्थकरों ने व हज़ारों साधकों ने गृहस्थाश्रम को छोड़कर त्याग-मार्ग ग्रहण किया है। मैं उसी त्याग-मार्ग के स्कूल में भर्ती होने जा रही हूँ।

दीवान बलवन्तसिंहजी सुन्दरि के अिकाट्य तर्क को सुनकर प्रभावित हुए। उन्हें यह अनुभव हुआ कि कन्हैयालाल जी बरड़िया की पोती तेज-तरार है। इसके रग-रग में संयम धारण करने की भावना है। अतः उन्होंने सुन्दरि के सिर पर हाथ रखकर कहा—यदि मेरे सामने तुम्हारी दीक्षा की कोई बात आई तो मैं अपनी ओर से अवश्य सहायता करूँगा।

सुन्दरि दीक्षा के प्रसंग को लेकर उदयपुर के नगरसेठ नन्दलालजी बाफणा के पास भी पहुँची। नगरसेठ नन्दलाल जी बहुत ही समझदार और चिन्तनशील व्यक्ति थे। वे किसी भी प्रश्न पर सहज निर्णय नहीं करते थे। वे उस विषय में तलछट तक जाते और जब उन्हें सही प्रतीत होता तभी वे स्वीकृति सूचक सिर हिलाते थे। सुन्दरि कुमारी से भी उन्होंने अनेक प्रश्न किए कि तुम्हारी माता तुम्हारे से प्यार नहीं करती हैं ? क्या तुम्हें वे जबरदस्ती दीक्षा दिलवा रही हैं ?

सुन्दरि कुमारी ने उत्तर देते हुए कहा—पूज्यवर ! मेरी माता मुझसे इतना प्यार करती है कि मैं जिसका वर्णन नहीं कर सकती। वे सदा मुझसे प्यार से पेश आती हैं। मुझे न खाने की दिक्कत है। प्रतिदिन बढ़िया से बढ़िया खिलाती हैं। चटकीले-भड़कीले बढ़िया वस्त्र पहनाती हैं। वह तो मुझे दीक्षा दिलाना भी नहीं चाहती। जबरदस्ती का तो प्रश्न ही नहीं। जिसने भी आपको यह बात कही है, वह मिथ्या है। दीक्षा मैं अपनी इच्छा से ले रही हूँ। पिताजी, दादाजी, नानाजी, बड़ी दादीजी के निधन से मेरे मन में जीवन की नश्वरता का भान हुआ है। मैं सोचती हूँ कि जीवन एक मिट्टी का खिलौना है। जो तनिक मात्र भी ठेस लगते ही चकना-चूर हो जाता है। जीवन तो एक सन्ध्या की लालिमा है। जो अपनी क्षणिक चमक-दमक दिखलाकर विलीन हो जाती है। संसार का प्रत्येक प्राणी जीवन और मरण के चक्र में पिसा जा रहा है। मैं उसी शाश्वत सुख की खोज में हूँ। जो सुख हमारे अन्दर भी छिपा पड़ा है। उस शाश्वत सुख को प्राप्त करने के लिए ही मैं दीक्षा के पथ को स्वीकार करना चाहती हूँ।

एक बूँद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १-३



नगरसेठ ने कहा—मैंने सुना है कि तू महासती मदनकुंवरजी और सोहनकुंवरजी के पास दीक्षा लेना चाहती है। हम तुझे अन्य साध्वियों के पास दीक्षा दिलाएँ तो तुझे क्या एतराज है ?

सुन्दरि कुमारी ने कहा—गाड़ी चलाने वाला यदि कुशल नहीं है तो क्या आप उस गाड़ी में बैठना पसन्द करेंगे ? कुशल संचालक ही खतरे से गाड़ी को सकुशल पार कर देता है। वैसे ही साधना की गाड़ी का भी संचालक कुशल होना चाहिए। मुझे आत्मविश्वास है कि मैंने जिस गुरुणी को चुना है, महान् हैं। गुरुणीजी महाराज वृद्ध सतियों के सुसेवा के लिए चिर काल से उदयपुर में विराज रही हैं। आपने भी अनेक बार उनके दर्शन किए हैं। क्या आपको यह शंका है कि मैंने गुरुणी का चुनाव ठीक नहीं किया है ? यदि ठीक किया तो फिर बदलने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

नगरसेठ नन्दलालजी ने कहा—महासती मदनकुंवरजी और सोहनकुंवरजी वे तो अज्ञातशत्रु हैं। उनके सम्बन्ध में विरोधी विरोधी से व्यक्ति भी कुछ नहीं कह सकता। वे बहुत ही भाग्यशालिनी चारित्रनिष्ठा साध्वियाँ हैं।

नगरसेठ सुबह आठ बजे से लेकर सायंकाल चार बजे तक विविध दृष्टियों से सुन्दरि का परीक्षण करते रहे। अन्त में उन्होंने कहा—मुझे आत्मविश्वास है कि तेरा बैराग्य पक्का है। तू दीक्षा लेगी और हमारे सामने कोई प्रश्न आया तो हम योग्य समाधान करेंगे। हम तेरे कार्य में रुकावट पैदा नहीं करेंगे।

सुन्दरिकुमारी दीक्षा के प्रसंग को लेकर उदयपुर के सुपरिन्टेण्डेंट रणजीतसिंहजी बकशी के पास पहुंची और उन्हें यह विश्वास दिलवाया कि मैं जो मार्ग ग्रहण करने जा रही हूँ, वह उचित है।

एक भाई एवं बहन के साथ सुन्दरि दीक्षा के प्रसंग को लेकर मजिस्ट्रेट के पास भी पहुंची। मजिस्ट्रेट ने सुन्दरि से पूछा—बताओ, तुम कितने वर्ष की है ? सुन्दरि झूठ बोलना नहीं चाहती थी अतः उसने मजिस्ट्रेट से ही पूछा—मैं आपके सामने खड़ी हूँ। मैं आपको कितने वर्ष की दिखलाई दे रही हूँ ?

मजिस्ट्रेट सुन्दरि के हूट-पुट शरीर को देखकर और उसके लम्बे कद को देखकर बोला—मुझे तो तुम अठारह-उन्नीस वर्ष की लग रही हो। जिन्होंने तुम्हारे लिए लिखा है कि तुम नाबालिग हो, उनका यह लिखना मिथ्या है। मैं लिखता हूँ कि तुम नाबालिग नहीं हो। इसलिए तुम अपना मार्ग चुनने में स्वतन्त्र हो।

दीक्षा में कामना नहीं, भावना मुख्य

मजिस्ट्रेट ने दूसरा प्रश्न किया कि तुम दीक्षा किस कामना से ले रही हो ?

सुन्दरि कुमारी ने उत्तर में कहा—मैं कामना से नहीं किन्तु भावना से दीक्षा ले रही हूँ। दीक्षा में कामना नहीं होती। दीक्षा का अर्थ है—“जीवन का परिवर्तन, ममता का विसर्जन और क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग।” दीक्षार्थी के मन में किसी प्रकार की आकांक्षाएँ नहीं होती। आकांक्षा तो जीवन का शल्य है। उस शल्य से निवृत्त होने के लिये ही तो दीक्षा का पवित्र पथ अपनाया जाता है।

जिस दीक्षार्थी में विकारों से जूझने का साहस नहीं है। वह कायर है। कायर व्यक्ति प्रव्रज्या



नहीं ले सकता। वह तो कर्त्तव्य से पलायन करना जानता है प्रगति नहीं। दीक्षा तो पलायन नहीं है, प्रगति है।

## मजिस्ट्रेट का प्रमाण पत्र

मजिस्ट्रेट सुन्दरि की बात को बहुत ही ध्यान से सुन रहा था। उसने सहर्ष लिख दिया कि सुन्दरि सर्वथा सुयोग्य है। इसे दीक्षा लेने के लिए कोई भी रुकावट न डाले। सुन्दरि वह प्रमाण-पत्र लेकर अपनी माँ के पास पहुँची। आज उसका चेहरा खिला हुआ था। उसने माँ से कहा—सभी बाधाएँ अब नष्ट हो गई हैं। कल आप मुझे आज्ञा-पत्र लिख दें। ताकि किसी भी विरोधी को ननु नच करने का मौका ही न मिले।”

## आसुरी उपद्रव

मानव सोचता क्या है और होता क्या है। भावी के गर्भ में क्या छिपा है? यह केवलज्ञानी के अतिरिक्त कोई नहीं जानता। माता, पुत्र और बेटी तीनों सोए हुए थे। माता ने एक भयंकर स्वप्न देखा। एक क्रूर दैत्य सामने खड़ा है। वह कह रहा है कि तू अपनी प्यारी बेटी को दीक्षा देना चाहती है और तेने यह संकल्प किया है कि मैं प्रातःकाल मंगल बेला में आज्ञा-पत्र लिख दूँगी। पर मेरा कथन मानकर आज्ञा-पत्र न लिखना। यदि मेरी आज्ञा की अवहेलना करेगी तो मैं तुझे ऐसा पाठ पढ़ाऊँगा कि तू वर्षों तक कराहती रहेगी। वेदना से छटपटाती रहेगी।” स्वप्न में ही उस आसुरी शक्ति को तीजकुंवरि ने कहा—मैं आज्ञापत्र लिखूँगी। अब मुझे कोई रोक नहीं सकता। मेरी लड़की जिनेन्द्र देव के मार्ग को ग्रहण करेगी। इससे बढ़कर और प्रसन्नता क्या होगी?

उस आसुरी शक्ति ने अपना विकराल रूप बना कर डराने का प्रयास किया और कहा कि यदि कहना नहीं मानेगी तो कल मैं तेरे शरीर में प्रविष्ट हो कर तेरा दाहिना हाथ जला दूँगा। फिर तू किससे आज्ञा-पत्र लिखेगी।

स्वप्न भंग होते ही तीजकुंवरि घबराई हुई उठ कर बैठ गई। उसने उपसर्ग शान्ति हेतु ‘उवसग्ग हरं स्तोत्र का इक्कीस बार पाठ किया और मन ही मन सोचने लगी कि इस प्रकार का दुःस्वप्न क्यों आया? ऐसी कौन-सी शक्ति है जो विघ्न उपस्थित करना चाहती है। बच्चों के लिए भोजन बनाना ही था। ज्यों ही उन्होंने सीगड़ी गुलगाना प्रारम्भ किया त्यों ही वह आसुरी शक्ति शरीर में प्रविष्ट हो गई। इससे अंगीठी न जलाकर हाथ में जो रबर की चूड़ियाँ पहिनने को थी, उस पर माचिस की प्रज्वलित तिली रख दी और साथ ही मिट्टी का तेल भी उस पर डाल दिया। आग भड़क उठी और तीजकुंवरि उस शक्ति के दुष्प्रभाववश उसे देखकर खुश हो रही थी। आधा हाथ बुरी तरह से जल गया। जब आसुरी शक्ति शरीर में से निकल गई। तब तीजकुंवरि को पता लगा कि मेरा हाथ जल गया है। भयंकर वेदना हो रही थी। आज्ञा-पत्र उस हाथ से लिखने का प्रश्न ही नहीं था। धुन की धनी माता तीजकुंवरि ने बोल कर आज्ञा-पत्र लिखवाया और दायें हाथ के अंगूठे से निशान कर दिया। और कहा कि मेरे जीवन का कोई भरोसा नहीं है। यदि मैं आयु पूर्ण भी कर लूँ तो तुमने जो मार्ग चुना है, वह अवश्य ही स्वीकार करना मेरी बेटी!

माताजी को हाँस्पीटल में भर्ती किया गया। हाथ जलने के कारण भयंकर वेदना हो रही थी। साथ ही उसमें पीप-मवाद आदि पड़ गई थी। सुन्दरिकुमारी माता की सेवा के लिए हाँस्पीटल जाती। उस समय उसके मुँह पर मुखवस्त्रिका रहती थी। मुख वस्त्रिका को निहार कर डॉक्टर कम्पाउडर और

एक बूँद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १०५



सिस्टर उपहास करती कि ये नए महाराज आ गए। सुन्दरि के ताऊजी चम्पालालजी बरडिया हॉस्पिटल के प्रमुख कार्यकर्ता थे। अतः सभी कहते कि बाबूजी की पौती मुंह बांधी हुई है।

श्री चम्पालालजी ने सुन्दरि को कहा—सुन्दरि! जब तक तू हॉस्पिटल में रहे तब तक मुख-वस्त्रिका उतार दिया कर।

सुन्दरि ने कहा—पूज्यवर! आपका यह आदेश अनुचित है। मैंने यह प्रतिज्ञा ले रखी है, भोजन के अतिरिक्त मैं मुख-वस्त्रिका सदा मुंह पर बांधे रहूंगी। तो आप ही बताइए कि मैं मुंह-पत्ती कैसे उतार सकती हूँ?

श्री चम्पालालजी के पास कोई उत्तर नहीं था। वे प्रति-दिन महासती मदनकुंवरजी और सोहनकुंवरजी के दर्शन हेतु आया करते थे। अतः उन्होंने यह शिकायत महासतीजी से की कि आप सुन्दरि को समझा दें कि वह हॉस्पिटल में मुंह-पत्ति न रखा करें।

महासती मदनकुंवरजी ने कहा—देवाणुप्रिया! हम मुंह पत्ति बांधने के लिए तो कह सकते हैं। किन्तु मुंह-पत्ति खोलने के लिए नहीं कह सकते। यह हमारी मर्यादा है।

दीक्षा छुपकर क्यों?

एक दिन उदयपुर के आचार्य प्रवर श्री जवाहरलालजी म० के परम भक्त श्रावक श्री मेरी लाल जी खीवसरा महासती श्री सोहनकुंवरजी म० के पास गये और कहा—महासतीजी! सुन्दरि की दीक्षा की बात को लेकर पारिवारिक जन अत्यधिक विरोध कर रहे हैं। मेरी आपसे विनती है कि आप उदयपुर से विहार कर दें। और १००—१५० कोस दूर पधार जाएँ। फिर वहाँ पर सुन्दरि को दीक्षा दे दें। दीक्षा दे देने के पश्चात् दो-तीन वर्ष तक उदयपुर न पधारें जिससे कि सारा वातावरण शान्त हो जाएगा।

निर्भीक साधिका महासती सोहनकुंवरजी ने कहा—मैं चोर नहीं हूँ। चोर की तरह दीक्षा देना मुझे पसन्द नहीं है। घर की मालकिन तीजकुंवर जी ने स्टाम्प के कागज पर मुझे आज्ञा-पत्र लिख कर दे दिया है। इसलिए मैं सुन्दरि की दीक्षा उदयपुर में ही करने के भाव रखती हूँ। आप जैसे सुश्रावकों को इस प्रकार कहना, क्या शोभा देता है?

माता तीज कुंवरि ने हॉस्पिटल में ही पण्डित को बुलाया और दीक्षा के मुहूर्त के लिए कहा। जोशी ने मुहूर्त निकाला संवत् १९६४ माघ शुक्ला त्रयोदशी शनिवार तदनुसार बारह फरवरी १९३८।

नारी, कभी न हारी

सुन्दरकुंवरि को आडम्बर प्रिय नहीं था। वह चाहती थी कि उसकी दीक्षा का कार्यक्रम सादगी से सम्पन्न हों। किन्तु माता तीजकुंवरि चाहती थी कि सुन्दरि की दीक्षा बहुत ही ठाट-बाट से हों। जिससे कि सभी पारिवारिकजनों को यह ज्ञात हो सके कि एक नारी जिस कार्य को करने का संकल्प कर लेती है, वह उस कार्य को अच्छी तरह से सम्पन्न कर सकती है। नारी का एक रूप ही है, नारी; कभी न हारी। कल यह कोई न कह दे कि सौतेली मां होने के कारण विवाह के खर्च से डर कर सुन्दरि को दीक्षा दिला दी। तीन दिन तक दीक्षा महोत्सव का कार्यक्रम चलता रहा। तीन दिन तक जुलूस निकलता रहा। माता स्वयं हॉस्पिटल में भयंकर वेदना से छटपटा रही थी। इधर दीक्षा का कार्यक्रम चल रहा था।

कार्यक्रम प्रारम्भ होने के पूर्व महासती श्री सोहनकुंवरजी ने माता तीजकुंवर को कहा कि इस समय तुम अत्यधिक रुग्ण हो। तुम्हारी सेवा के लिए सुन्दरि की आवश्यकता रहेगी। क्योंकि बालक धन्ना तो अभी पाँच वर्ष का ही है। इसलिए अभी दीक्षा स्थगित रखी जाय।



माता तीज कुंवर ने कहा—मेरी स्वयं की उत्कृष्ट भावना दीक्षा लेने की है पर मैं तो अब कैसे दीक्षा ले सकूंगी ? मेरे जीवन का कोई भरोसा नहीं है । मैंने कितने अशुभ कर्म बाँधे हैं ? जिसके कारण मुझे यह अन्तराय आ गई । मेरे भाग्य में लिखा होगा, सो होगा । आप इस शुभ मुहूर्त में सुन्दरि को तो दीक्षा प्रदान कर ही दें । यदि मेरी मृत्यु हो गई तो फिर सुन्दरि की दीक्षा होना बहुत ही कठिन है । सारे पारिवारिकजन धर्म परायण होते हुए भी दीक्षा के नाम पर विरोधी बन गए हैं । अतः आप मेरी अन्तिम इच्छा को मान देकर दीक्षा प्रदान कर दें ।

सुन्दरि ने भी माताजी से कहा कि मैं ऐसी स्थिति में आपको छोड़कर दीक्षा कैसे लूँ ? लोग क्या कहेंगे ? माँ हॉस्पिटल में बीमार है और लड़की दीक्षा ले रही है ।

किन्तु माता तीजकुंवरि ने उसे भी यही समझाया कि बेटी ! भगवान ने कहा है—एक क्षण का भी प्रमाद मत करो । धर्म के कार्य में ढील करना अच्छा नहीं है । तुम मेरी चिन्ता छोड़ो और भरपूर उत्साह के साथ दीक्षा ग्रहण करो ।

माता तीज कुंवर की प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर सुन्दरि पैदल चल कर दीक्षा स्थल पर पहुंची । आज उसके मन में अपार आनन्द की अनुभूति हो रही थी । आज वह नए जीवन में प्रवेश करने जा रही थी । आत्म-संस्कार करने के लिए वह कटिबद्ध थी ।

दीक्षा शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए किसी गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि ने लिखा है—

दीयते ज्ञानसद्भावः; क्षियते पशुवासना ।

दान—क्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

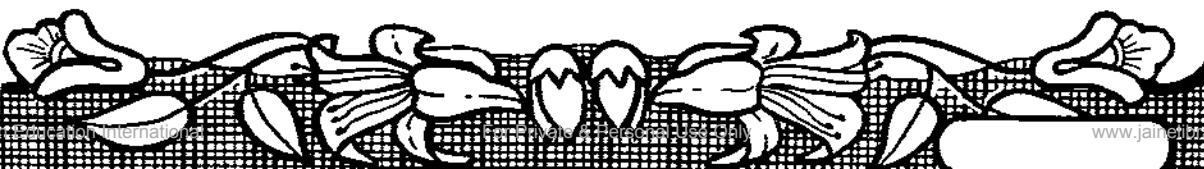
अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का क्षय होता है, ऐसी दान और क्षपण युक्त क्रिया दीक्षा है ।

सुन्दरि बनी : श्रमणी पुष्पवती

सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में सुन्दरि की चिर प्रतीक्षित संघर्ष भरी दीक्षा सम्पन्न हुई । श्रमण परम्परा में जब कोई साध्वी जीवन में दीक्षित होती है तब उसको नयानाम दे दिया जाता है । सुन्दरि का नाम भी आज 'पुष्पवती' रखा गया ।

जो भाई-बहन दीक्षा के समय उपस्थित हुए थे, उन्हें माता तीजकुंवरि की ओर से नारियल की प्रभावना दी गई । सर्वत्र उल्लास था । पर यह कैसा विचित्र संयोग था कि उस दीक्षा में हॉस्पिटल में भर्ती होने के कारण न माता दीक्षा में उपस्थित हो सकी और न प्यारा भैया धन्नालाल भी माता के पास रहने से दीक्षा में आ सका । जब नव दीक्षिता को लेकर सद्गुरुणी जी श्री सोहनकुंवरिजी म० जुजूस के साथ उदयपुर शहर में प्रविष्ट हुई । गगनभेदी नारों से तथा मंगल गीतों से शब्दायमान करता हुआ जुजूस महासतीजी के स्थान पर पहुँचा । आधे मार्ग में मेरीलालजी खीवेसरा मिल गए । उन्हें महासतीजी की कही हुई बात स्मरण हो आई और उनके मुँह से ये शब्द निकल गए कि—“महासतीजी वस्तुतः शेरनी है । उन्होंने उदयपुर में ही सुन्दरि की ठाट-बाट से दीक्षा कर दी ।”

सुन्दरि कुमारी ने वैराग्य काल में ही भक्तामर, कल्याणमन्दिर, महावीराष्टक, चितामणि पार्श्वनाथ, अमित गतिद्वात्रिंशिका, रत्नाकर पंचविंशतिका आदि अनेक स्तोत्र तथा उत्तराध्ययन, दशवैका-



लिक, सुख विपाक, वीर स्तुति, आवश्यक सूत्र तथा नवतत्त्व, लघु दण्डक, गुणस्थानक द्वार आदि इकावन थोकड़े कण्ठस्थ कर रखे थे। और अन्य जैन दर्शन व तत्त्व विद्या का परिज्ञान किया था।

## साध्वी पुष्पवतीजी की दिनचर्या

पुष्पवतीजी प्रातःकाल चार बजे उठती और रात को दस बजे सोती थी। इस बीच साधवाचार का परिपालन, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, पठन-पाठन, गुरुसेवा, आहार-निहार आदि का क्रम चलता। आगम ग्रन्थों का अप्रमत्त अवलोकन आपके लिए अनिवार्य था। जैन श्रमण और श्रमणियाँ रात में रोशनी का प्रयोग नहीं करते इसलिए जब तक अक्षर दिखलाई देते तब तक आप पढ़ती रहती। और रात के अन्धेरे में अधीत विषय का स्मरण/चिन्तन करती रहती। आपकी गुरुभक्ति अद्वितीय थी।

दीक्षा धारण किए चार माह का समय पूर्ण हो गया। इस बीच माता तीजकुंवरि की व्याधि बढ़ती चली गई थी। सुन्दरि के मामा मालमसिंह जी डोसी उस समय हिम्मत नगर में सर्जन डॉक्टर थे। वे उदयपुर आए। उन्होंने देखा कि बहिन का हाथ अत्यधिक जल चुका है। उपचार सही न होने से पस पड़ गई है। ऐसी स्थिति में यदि समय पर सही उपचार नहीं किया गया तो जीवन का खतरा भी सम्भव है। अतः धन्नालाल और माता तीजकुंवरि को लेकर हिम्मतनगर पहुँचे तथा उपचार करने लगे। प्रतिदिन जरूमों में से रसी निकाली जाती। ड्रेसिंग करते समय असह्य वेदना होती। क्योंकि उस समय शल्य चिकित्सा और औषध विज्ञान इतना विकसित नहीं था। माँ को अपार वेदना से कराहते हुए व छटपटाते हुए देखकर बालक धन्नालाल भी जोर से चिल्लाता था। उसका एक ही आधार माँ थी। और वह वेदना के झूले पर झूल रही थी। अपने प्यारे लाल को इस प्रकार रोते हुए देखकर माँ का गला रुँध जाता था। कोई उपाय भी नहीं था। डॉक्टर मालम सिंह जी ने सोचा—यदि धन्नालाल यहाँ पर रहा तो दोनों माँ बेटे एक-दूसरे को देखकर आँसू बहाते रहेंगे। और इस तरह से दोनों रोते रहे तो चिकित्सा किस प्रकार हो सकेगी? बालक को किस बहाने से यहाँ से हटाकर उदयपुर भेजा जाय। वे इस पर चिन्तन करने लगे।

## अध्ययन में दिशा दर्शन

उदयपुर में वर्षों के पश्चात् गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र, खान देश और मालवे की भूमि को पावन कर पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्द्र जी म०; उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० ठाणा दो से उदयपुर पधारे। सर्वत्र उल्लासमय वातावरण था। सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुंवरजी महाराज 'महासती कुमुमवती जी और पुष्पवतीजी आदि नई साध्वियों को लेकर गुरु—चरणों में पहुँची। दोनों ही बाल साध्वियों को देखकर गुरुदेव प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके आगमिक ज्ञान की परीक्षा ली। दोनों ही परीक्षा में समुत्तीर्ण हुईं। बड़े गुरुदेव के आदेश से उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० ने गुरुणीजी श्री सोहनकुंवर जी से कहा—ये दोनों प्रतिभा सम्पन्न हैं। इसलिए आप इन दोनों को संस्कृत और प्राकृत ये दोनों भाषाएँ जैन आगम और इसके व्याख्या साहित्य को पढ़ाने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य व्यवस्था करें। इनका व्यवस्थित अध्ययन करावें। एक-एक शब्द के अर्थ को समझने के लिए शब्दार्थ याद करना तो पल्लव ग्राही पाण्डित्य है। यदि मूल भाषाओं पर इनका अधिकार हो गया तो फिर कैसा भी साहित्य क्यों न हो ये बिना किसी की सहायता के अपने-आप अर्थअभिप्राय लगा लेंगी।

गुरुणीजी ने बहुत ही ध्यान से गुरुजी की बात सुनी। उन्होंने गहराई से इस बात पर चिन्तन किया। क्योंकि वह युग था, जब साधु या साध्वियाँ पण्डितों से नहीं पढ़ा करते थे। तथा पढ़ने



पर प्रायश्चित्त दिया जाता था। गुरुणीजी सोहनकुंवरजी ने सोचा | युग बदल चुका है। पहले गृहस्थों की लड़कियाँ भी नहीं पढ़ती थीं। पर आज लड़कियाँ भी उच्चतम अध्ययन करती हैं। गृहस्थवर्ग प्रबुद्ध हो रहा है। और साधु समाज यदि अध्ययन से इसी प्रकार कतराता रहा तो गृहस्थ वर्ग का नेतृत्व कैसे कर सकेगा? उनकी ज्वलन्त समस्याओं का समाधान किस प्रकार कर सकेगा? इसलिए गुरुदेव ने जो सुझाव दिया है, उसे अमल करना ही होगा। साध्वियों को पण्डित पढ़ायेगा। इस बात को लेकर समाज में रुढ़िचुस्त व्यक्ति ऊहा-पोह भी करेंगे। पर सत्य के लिए डर किस बात का! उन्होंने दृढ़ निश्चयकर दूसरे दिन गुरुदेव से निवेदन किया कि मैं इन दोनों का भविष्य उज्ज्वल और समुज्ज्वल देखना चाहती हूँ। इसलिए इनको व्यवस्थित अध्ययन कराऊँगी। इस वर्ष वर्षावास स्वीकृति सलोदा गाँव की हो चुकी है। वहाँ पर पण्डित मिलना कठिन है पर चातुर्मास के पश्चात् फिर लम्बे समय तक इनका अध्ययन व्यवस्थित रूप से चलेगा।

गुरुदेव श्री उदयपुर से विहार कर गोगुन्दा नान्देशमा होते हुए कम्बोल चातुर्मास के लिए पधार गये।

माँ से दूर हुआ धन्नालाल

डाक्टर मालमसिंह जी ने किसी बहाने से बालक धन्नालाल को उदयपुर भेज दिया। धन्नालाल अपनी मौसी राजबाई के पास रहने लगा। किन्तु माँ का प्यार उसकी स्मृति में आते ही उसकी आँखों से आँसू बरस पड़ते। माँ की वेदना की कल्पना कर वह सिहर उठता। अत्यधिक रोने से उसकी आँखें सूज गईं। और आँखें आ भी गईं। आँखें आने से भयंकर दर्द हो रहा था। उसकी शारीरिक स्थिति अस्त-व्यस्त थी। उसका फूल-सा कोमल मुखड़ा मुरझा गया था। सुन्दरि कुमारी जब गृहस्थाश्रम में थी। तब माता-पिता के पश्चात् सबसे अधिक प्यार अपने प्यारे छोटे भैया धन्नालाल पर था। वह उसे नहलाती और बढ़िया वस्त्र और आभूषण पहनाती। जब कभी भी सन्त-प्रवचन श्रवण के लिए जाती तब वह उसे साधुवेश पहनाती। गौरवर्ण होने के कारण वह बहुत ही सुहावना व लुभावना लगता था। पर आज उसकी यह दशा देखकर महासती पुष्पवतीजी के आँखों में भी पानी आ गया। बहन की ममता जाग गयी।

धन्नालाल ने रोते-रोते कहा-बहिन! तुम साध्वी बन गई हो। माताजी की यह स्थिति है। प्रति-दिन उनके हाथ के माँस को काटा जाता है। जब माँस काटते हैं तो चारों ओर खून के फव्वारे छूटते हैं। बड़ी भयंकर वेदना होती है। उस वेदना के कारण कई बार माँ बेहोश हो जाती है। यदि माँ पिता की तरह संसार से चल बसी तो मेरी दीक्षा कैसे हो सकेगी?

इस प्रश्न का उत्तर बहिन महाराज के पास मौन के सिवाय कुछ नहीं था। यद्यपि धन्नालाल की मौसी राजबाई उसको बहुत ही प्यार करती थी और उसके मौसा कन्हैयालालजी लोढ़ा पुत्र को तरह प्यार करते थे। किन्तु माँ के प्यार की पूर्ति मौसी स कर कैसे कती!

उस वर्ष सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुंवरजी का वर्षावास सलोदा निश्चित हो चुका था। जो हल्दी-घाटी के पास में है और नाथद्वारा से पच्चीस किलोमीटर पर अवस्थित है। अतः उन्हें विहार करना था। साथ ही बहिन पुष्पवतीजी भी जाने वाली थी। क्योंकि दीक्षा लेते ही यह प्रथम वर्षावास था। धन्नालाल के लिए उदयपुर में जो एक मात्र सहारा बहिन का था वह भी छूट रहा था। पर कोई उपाय नहीं था। उसकी उम्र पाँच वर्ष की होने के कारण वह इस समय दीक्षा भी नहीं ले सकता था। माता हिम्मत नगर ही थी।

एक वृंद, जो गगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १८६





कोमल कली : कांटों से छिली

महासती पुष्पवतीजी संवत् १९९५ तदनुसार इस्वी सन् १९३८ के वर्षावास हेतु सलोदा पहुंची। सलोदा हल्दीघाटी के सन्निकट बसा हुआ बहुत छोटा-सा गाँव है। जहाँ पर स्थानकवासी समाज के २५-३० घर थे। उन सबकी आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण थी। वे प्रायः खेती कर अपना जीवनयापन करते थे। उस समय वहाँ पर जौ और मकई का प्रचलन था। जौ की हथेली जितनी मोटी रोटी बनती थी। जिसमें तूष की प्रधानता थी। तूष काँटों की तरह गले में चुभता था। पाक-कला से अनभिज्ञ महिलाएँ थीं। उन मोटी रोटियों को बिना पूर्व अभ्यास के कोई खा नहीं सकता था। सब्जी का प्रयोग नहीं वत् था। केवल चटनी, उड़द की दाल और कड़ी चाकी इनके अतिरिक्त कभी-कभार राबोड़ी और बड़ी या चने की दाल का उपयोग वे लोग करते थे। सायंकाल छाछ में मकई के दाने उवालकर राब तैयार करते। यही था उस समय वहाँ का खान-पान।

महासती पुष्पवतीजी प्रथम बार ही उदयपुर छोड़कर गाँव में आई थी। पहले इस प्रकार का खान-पान न देखा था और न चखा था। पर समभाव से वे उसी आहार को थोड़ा बहुत करती। तथा पण्डितजी से संस्कृत का अध्ययन करती। यह सत्य है कि बिना आहार के शरीर लम्बे समय तक साथ नहीं देता। दो माह तक किसी प्रकार निकाले तीसरे माह वे भयंकर ज्वर से ग्रसित हो गईं। न वहाँ पर वैद्य था और न डॉक्टर ही। जब ज्वर ने एक माह तक पीछा नहीं छोड़ा तो यह समझकर कि यह बड़ा निकाला (टाइफाइड) है। दो माह तक बिस्तर पर लेटी रही। पथ्य के नाम पर कोई वस्तु उपलब्ध नहीं थी। मरणासन्न स्थिति में देखकर सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुंवरजी म० का धैर्य विचलित हो उठा। वे सोचने लगीं। मैंने इन नव दीक्षिताओं के साथ यहाँ चातुर्मास कर ठीक नहीं किया। ये शहर की सुकुमार बालिकाएँ यहाँ के नीरस आहार को कर नहीं पाती। तथा रूग्ण होने पर भी पथ्यादि साधन का अभाव है। यदि यह स्वस्थ हो जाये तो भविष्य में क्षेत्र को देखकर ही मैं वर्षावास का निश्चय करूँगी।

वेदना में समभाव

भयंकर रूग्ण अवस्था में भी भेद-विज्ञान की साधिका महासती पुष्पवतीजी के अन्तर्मानस में समता का सागर लहलहा रहा था। वे सोच रही थी कि अब मेरा आयुव पूर्ण भी हो गया तो भी कोई बात नहीं। क्योंकि मैंने संयम मार्ग को स्वीकार कर लिया है।

वर्षावास के उपसंहार काल में तीजकुंवर भी हिम्मतनगर से उदयपुर आ गईं और अपने प्यारे लाल धन्नालाल को लेकर सलोदा गुरुणीजी म० के दर्शन हेतु पहुंचीं। लम्बे उपचार के बाद भी तीजकुंवरि का हाथ ठीक नहीं हुआ था। पर पहले से उसमें सुधार था। रसी, मवाद निरन्तर चालू था। सामान्य घरेलू उपचार वे करने लगी थी। वहाँ पर पुष्पवतीजी की शारीरिक स्थिति देखकर उनके मन में विचार हुआ और गुरुणीजी से प्रार्थना की कि आप उदयपुर पधारकर वर्षावास के बाद उपचार करावें। गुरुणीजी ने कहा—अनेक गांवों का अत्यधिक आग्रह होने पर भी मैं इधर-उधर कहीं न जाकर सीधी उदयपुर पहुंचूंगी और वहाँ पर इनकी चिकित्सा कराऊँगी। गांवों में तो कोई अच्छा अनुभवी वैद्य नहीं है। यहां तो नीम हकीम ही हैं। जिनका इलाज कराना खतरे से खाली नहीं होता।

तीजकुंवर अपने पुत्र के साथ कम्बोल पहुंचीं। जहाँ पर गुरुदेव श्री ताराचन्दजी महाराज का वर्षावास था। उस समय न तो सड़कें थीं और न रास्ते ही सीधे थे। पहाड़ी, नदी-नालों को वह पार करती हुई, ऊँट की सवारी से कम्बोल पहुंचीं। गुरुदेव के प्रथम वार दर्शन कर माता पुत्र दोनों आनन्द



विभोर हो उठे। कुछ दिन वहाँ रहकर उदयपुर चले आए। धन्नालाल ने मन में यह दृढ़ निश्चय किया कि मैं दीक्षा लूँगा तो इन्हीं गुरुदेव के पास लूँगा।

वर्षावास के पश्चात् धीरे-धीरे विहार कर गुरुणीजी सोहनकुंवरजी के साथ पुष्पवतीजी उदयपुर पहुंची। लम्बे समय तक उपचार करने से पुष्पवतीजी स्वस्थ हुई। पर पहले की तरह स्वास्थ्य सुधर नहीं सका। लम्बी बीमारी जाते-जाते भी अपने कुछ दूत छोड़ गई।

विक्रम संवत् १९९६ (ईस्वी सन् १९३९) में वर्षावास उदयपुर में ही हुआ। स्वास्थ्य इतना अनुकूल नहीं था कि जमकर अध्ययन किया जा सके। उस वर्ष उदयपुर में स्थानकवासी परम्परा के दो तेजस्वी और प्रभावक मुनि प्रवरों के वर्षावास थे। पोरवाड़ों के पंचायती नोहरे में आचार्य श्री जवाहरलालजी म० के पट्टधर युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म० अनेक सन्तों के साथ वहाँ पर विराज रहे थे। तो ओसवालों के पंचायती नोहरे में जैनदिवाकर प्रसिद्धवक्ता श्री चौथमलजी म० अनेक शिष्यों के साथ विराज रहे थे। दोनों का उदयपुर की जनता पर प्रबल प्रभाव था। गणेशीलालजी म० के प्रवचनों में जैन बन्धुओं का प्राधान्य रहता था तो दिवाकरजी म० के प्रवचनों में छत्तीस ही कौम के श्रद्धालुगण उपस्थित होते थे। दोनों ओर प्रवचनों में हजारों की उपस्थिति होती थी। उदयपुर की भक्त नगरी में धर्म की रंग वर्षा हो रही थी।

महासतीजी श्री सोहनकुंवरजी म० आचार्य श्री अमरसिंहजी म० के सम्प्रदाय की थी। किन्तु उनका मानस सम्प्रदायवाद के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं था और न वे किसी एक पक्ष से बंधी हुई थीं। अतः वे दोनों ही स्थानों पर अपनी सुविधानुसार प्रवचन श्रवण करने के लिए पहुँचती। गणेशीलालजी म० और दिवाकरजी म० दोनों के अन्तर्मानस में महासतीजी के प्रति अपार स्नेह और सद्भावनाएँ थीं। इस वर्ष महासती पुष्पवतीजी ने भी दोनों महापुरुषों के प्रवचन श्रवण का लाभ लिया।

वर्षावास के पश्चात् मन में यह दृढ़ संकल्प किया कि हमें गुरुदेव श्री के आदेशानुसार संस्कृत, प्राकृत का गहराई से अध्ययन करना है। महासती श्री मदनकुंवरजी म० की शारीरिक स्थिति विहार करने की नहीं थी। इसलिए वे उदयपुर में ही स्थिरवास विराज रही थीं। उनकी सेवा में रहते हुए अध्ययन व्यवस्थित रूप से हो सकता था।

#### विद्याध्ययन में संलग्न

उदयपुर में पाणिनीय व्याकरण के महामनीषी एक विद्वत्तरत्न पंडितजी थे। उनके शिष्य रमाशंकर झा उनके पास अध्ययन करते थे। गुरुणीजी म० ने उनको अध्यापन के लिए नियुक्त किया। पं० रमाशंकरजी बहुत ही सीधे-सादे व चरित्रवान व्यक्ति थे। पढ़ाने की कला में दक्ष थे। जब वे अध्ययन करवाते तब श्रमण मर्यादा के अनुसार एक श्राविका और एक बड़ी साध्वी महासती श्री कुसुमवतीजी व पुष्पवतीजी के पास बैठती थीं। अध्ययन द्रुत गति से चल रहा था।

क्वीन्स कॉलेज वाराणसी से व्याकरण मध्यमा और साहित्य मध्यमा इन दोनों की सम्पूर्ण परीक्षाएँ एक-एक वर्ष में समुत्तीर्ण कीं। उसके पश्चात् हिन्दी साहित्य, मध्यमा और साहित्यरत्न की परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं। प्रतिभा की तेजस्विता के कारण सभी परीक्षाओं में प्रथमश्रेणी प्राप्त हुई। व्याकरण और साहित्य के साथ दर्शन और जैनागमों का भी अध्ययन गहराई के साथ किया।

वि० सं० १९९८ अषाढ़ में आपकी माताश्री ने महासती सोहनकुंवरजी के पास दीक्षा ली तथा भाई धन्नालाल ने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के पास संयम व्रत ग्रहण किया।

एक वृंद, जो गंगा बत गई साध्वी प्रियदर्शना | १९१



वि. संवत् २००३ (सन् १९४६) में आप अपनी गुरु बहिन महासती कुसुमवतीजी के साथ जैन न्याय और जैन आगमों की टीकाओं का अध्ययन करने के लिए ब्यावर जैन गुरुकुल में पधारी। तथा पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल आदि से गम्भीर अध्ययन किया। बारह मास तक वहाँ पर ठहरकर न्याय तीर्थ का अध्ययन सम्पन्न किया तथा जैन सिद्धान्ताचार्य तक का अध्ययन पूर्ण किया।

प्रकृष्ट प्रतिभा के कारण जिस किसी भी ग्रन्थ का आप पारायण करती वह स्मृति पटल पर अंकित हो जाता। आपकी स्मृति बहुत ही तेज थी। अध्ययन के साथ ही आपकी लेखन कला भी अपूर्व थी। आपने उस समय जैन दर्शन और जैन साहित्य पर उत्कृष्ट निबन्ध लिखे। साथ ही संस्कृत भाषा पर इतना अधिकार हो गया था कि धारा प्रवाह संस्कृत भाषा में प्रवचन कर लेती। बेकन ने ठीक ही लिखा है—

रीडिंग मेक्स ए फुल मैन  
स्पीकिंग ए परफैक्ट मैन  
राइटिंग एन एग्जैक्ट मैन

अध्ययन मानव को पूर्ण बनाता है, भाषण उसे परिपूर्णता देता है और लेखन उसे प्रामाणिकता प्रदान करता है। तीनों ही दृष्टियों से पुष्पवतीजी का सारस्वत विकास प्रगति पर था।

एक कुटिल प्रश्न का सरल उत्तर

आपकी प्रगति को देखकर कितने ही ईर्ष्यालु व्यक्ति जल-भुन रहे थे। पर उनका इतना सामर्थ्य नहीं था कि वे महासती सोहनकुंवरजी के सामने कुछ कह सकें। इधर उदयपुर में प्रतिभा सम्पन्न आगम विद्या के पारगामी श्री घासीलालजी म० का पदार्पण हुआ। विरोधी तत्त्वों ने घासीलाल जी म० के कान भरे। घासीलालजी म० महासती मदनकुंवरजी को दर्शन देने हेतु जहाँ पर महासती जी विराज रही थी वहाँ पर पधारे। उस समय महासती कुसुमवती जी और पुष्पवतीजी दोनों पढ़ ही थीं। गुरुणीजी म० उनके पास में विराजी हुई थीं। और एक बहिन भी बैठी हुई थीं। घासीलाल जी म० ने महासती सोहनकुंवरजी से पूछा—क्या आपकी ये दोनों शिष्याएँ संस्कृत और प्राकृत पढ़ रही हैं? मैंने सुना है कि इन्होंने सिद्धान्तकौमुदी पढ़ ली है। उन्होंने सिद्धान्त कौमुदी से संबंधित प्रश्न किये। महासती पुष्पवतीजी ने उन प्रश्नों का सटीक उत्तर दिया। उत्तर सुनकर उन्हें यह आत्म-विश्वास हो गया कि ये साध्वियाँ प्रतिभासम्पन्न हैं। निडर भी हैं। तथापि विरोधी तत्त्वों ने जो कान भरे थे उससे उन्होंने महासती सोहनकुंवरजी से कहा—अब आप इनको अधिक न पढ़ाएँ। क्योंकि अधिक पढ़ेंगी तो फिर आपकी आज्ञा में नहीं रहेगी। आदि अनेक बातें कहीं।

उत्तर में गुरुणीजी सोहनकुंवरजी ने कहा—महाराजश्री! इसकी आपको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मुझे तो आश्चर्य है कि आप जैसे विद्वान भी ऐसी बात करते हैं जबकि अनुभवही नीतिज्ञ कहता है—विद्या ददाति विनयं—विद्या से तो विनय आता है, विनय से विवेक बढ़ता है, फिर आप ऐसा विपरीत क्यों सोचते हैं?

मैं इनको अच्छी तरह से जानती हूँ। यह अध्ययन कर जिनशासन दीपायेंगी। आपने जो कुछ कहा है वह अपने हृदय की पुकार से नहीं कहा। पर किसी के कहने से कहा है। मैं इतनी कान की कच्ची नहीं हूँ। मैं अपने कर्तव्य को अच्छी तरह से जानती हूँ। क्या पढ़ाना है और क्या नहीं पढ़ाना है? इसका मुझे विवेक है।



श्री घासोलाल जी म० आगे कुछ नहीं कह सके। वे मन ही मन सोचते रहे कि सोहनकुंवरिजी की शिष्याएँ अध्ययन करने में कुशाग्र हैं। जिस सिद्धान्तकौमुदी को मैंने अनेक वर्षों में पूर्ण की उसे इन्होंने एक वर्ष में पूर्ण कर परीक्षा भी दे दी और प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण हुई है। यदि इस प्रकार विकास करती रहीं तो सन्तों की क्या स्थिति होगी ? उन्हें कौन पूछेगा ? आदि प्रश्न उनके मन में कौंधते रहे।

#### विकट शिरोवेदना

संवत् २००५ (सन् १९४८) में महासती पुष्पवतीजी उदयपुर विराज रही थीं। यकायक सिर में भयंकर दर्द आरम्भ हुआ। चिकित्सकों को दिखाया गया। किन्तु वे रोग का निदान न कर सके। सिर में वेदना इतनी भयंकर और असह्य थी कि पढ़ना-लिखना सभी छोड़ना पड़ा। एकान्त और शान्त स्थान पर बैठकर समभाव से वे व्यथा को सहन करतीं। वह शिरोवेदना एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, महीने और दो महीने नहीं किन्तु नौ वर्ष तक लगातार चलती रही। विहार करने हुए गुरुणी जी म० के साथ मन्दसौर, इन्दौर, कोटा, जयपुर, अजमेर आदि के बड़े-बड़े चिकित्सकों को दिखाया गया पर कोई किसी निदान पर नहीं पहुँचा।

महासती पुष्पवतीजी उस भयंकर वेदना में भी सदा प्रसन्न रहतीं और मन में सोचतीं कि मेरे पूर्ववद् कर्मों का उदय काल परिणाम है। यदि मेरे मन में किञ्चित् मात्र भी विषम भाव आ गया तो नया कर्मवन्धन हो जाएगा। जब मेरी आत्मा ने हँस-हँस कर कर्म बाँधा है, तो भोगते समय क्यों कतराना ? इस प्रकार अतीव सहज, निर्मल, समतामय, निराकुल और निर्विकल्प मन से उस वेदना को सहन किया। और जत्र भी थोड़ी-सी व्यथा शान्त होती तब वे स्वाध्याय, ध्यान में तल्लीन हो जातीं।

कर्मसिद्धान्त के प्रति उनके मन में अपूर्व निष्ठा थी। वे सोचती थीं कि एक दिन असातावेदनीय मिटेगा और सातावेदनीय का उदय होगा। मुझे वेदना से धराराना नहीं है। आत्मा तो वेदना से मुक्त। मुझे सदा आत्मभाव में रहना है। जहाँ न व्याधि है और न रोग ही है। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निराकुल हूँ, अजर और अमर हूँ।

#### आकस्मिक चक्षु वेदना

कहते हैं कि काँआ अकेला भोजन करने नहीं आता। वह अपने साथ अन्य संगी-साथियों को लेकर आता है। वैसे ही जब असाता वेदनीय कर्म का उदय होता है तो चारों ओर से होता है। महासती पुष्पवतीजी का पावन प्रवचन चल रहा था। श्रोता झूम-झूमकर प्रवचन रस का पान कर रहे थे। यकायक आँखों में भयंकर दर्द हुआ और एक आँख से दनादन पानी गिरने लगा। पुष्पवतीजी समझ ही नहीं सकी कि यह पानी क्यों गिर रहा है ? डॉक्टर भी उसका सही निदान नहीं कर सके। इधर पेट में भी दर्द होने लगा। वह दर्द कभी तीव्र और कभी मन्द रूप से चलता रहा। दर्द में भी वही समभाव, चेहरे पर वही मधुर मुस्कान। सिर और आँखों में दर्द के कारण पढ़ना कठिन हो गया था। उस समय का उपयोग उन्होंने जप-साधना और ध्यान-साधना में किया।

कष्ट के दिन अन्ततः व्यतीत हुए। कष्ट के दिनों में भी तन में व्यथा थी पर मन समाधिस्थ था। जब धीरे-धीरे व्यथा कम हुई तो पुनः ज्ञान-साधना प्रारम्भ हुई। किन्तु लम्बे समय की व्यथा थी। पूर्णतः मस्तिष्क खोई शक्ति अर्जित नहीं कर रहा था। वह शीघ्र ही थकान का अनुभव करता। जिससे जम करके कोई भी कार्य करने में दिक्कत होती थी। तथापि धैर्य के साथ थोड़ा-थोड़ा कार्य करतीं।

एक बूँद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १९३



जनता जनार्दन की तीव्र इच्छा आपके पावन प्रवचनों को सुनने के लिए रहती । पर स्वास्थ्य के कारण आधा घण्टा, पौन घण्टा और कभी एक घण्टा आप प्रवचन करतीं ।

विक्रम संवत् २००७ (सन् १९५०) में श्रद्धेय गुरुदेवश्री का वर्षावास नान्देशमा गाँव में था । उस वर्षावास में महासतीजी ने गुरुदेवश्री की सेवा में रहकर आगम साहित्य का परिशीलन किया ।

विक्रम संवत् २०१० (सन् १९५३) का वर्षावास जयपुर में हुआ । उस समय भी श्रद्धेय गुरुदेवश्री का वर्षावास जयपुर में था । डॉक्टरों की राय थी कि सिर-दर्द के लिए उपचार बहुत ही आवश्यक है । अतः गुरु-चरणों में रहकर उपचार करवाया । उपचार हेतु जयपुर में लम्बे समय तक अवस्थिति रहीं ।

विक्रम संवत् २०११ (सन् १९५४) में भी उपचार हेतु जयपुर में ही ठहरना पड़ा । उस वर्षा-वास में श्रमण-संघ के सहस्रत्री आदरणीय श्री हस्तीमलजी म० सा० का वर्षावास जयपुर में था । उस वर्षावास में श्रद्धेय महाराजश्री के प्रवचन, शास्त्र-श्रवण करने को मिला । महाराजश्री के अगाध आगमिक ज्ञान को सुनकर हृदय आनन्द से झूमने लगता था ।

अध्ययन, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन के लिए संवत् २०१६ (सन् १९६२) में जोधपुर घोड़ों के चौक में, विक्रम संवत् २०२१ (सन् १९६४) में पीपाड़, संवत् २०३० (सन् १९७३) में अजमेर, संवत् २०३७ (सन् १९८०) में उदयपुर, संवत् २०३६ (सन् १९८२) जोधपुर और संवत् २०४० (सन् १९८३) में मदनगंज (किशनगढ़) के चातुर्मास गुरुदेवश्री के सान्निध्य में हुए । इन सभी चातुर्मासों में आगम और उसके व्याख्या साहित्य का और जैन दार्शनिक ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन किया । साथ ही विभिन्न विचार गोष्ठियों, शिविरों आदि के माध्यम से आप जन-जीवन में विचार जागृति करती रहीं । आपश्री की मुख्य रुचि थी—जहाँ भी चातुर्मास हो, महिलाओं एवं बालकों में ज्ञानवृद्धि, धार्मिक साधना को नियमित क्रम एवं स्वाध्याय की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाना ।

सभी चातुर्मास काल की विस्तृत गतिविधि की चर्चा करने से लेख बहुत बड़ा बन जायेगा अतः यहाँ किशनगढ़ चातुर्मास एवं तत्पश्चात् के कुछ महत्त्वपूर्ण चातुर्मासों की जानकारी प्रस्तुत कर रही हूँ ।

महासती पुष्पवती जी ने लघुवय में संयम-साधना की ओर अपने सुस्तेदी कदम बढ़ाए और उस कदम बढ़ाने में माता जी म० प्रभावती जी का अपूर्व सहयोग उन्हें मिला । संयम-साधना में निरन्तर अग्रसर बने इसी भावना से उत्प्रेरित होकर माँ का हार्दिक वात्सल्य उन्हें मिलता रहा । चाहे प्रवचन हो, चाहे दार्शनिक व धार्मिक चर्चाएँ हों, चाहे वार्तालाप हो, सभी कार्य में वे ढाल बनकर उनका संरक्षण करती रही । पहले सद्गुरुणी जी और उसके पश्चात् माताजी के भरोसे साध्वीरत्न पुष्पवतीजी सदा निश्चिन्त रहीं । वि० सं० २०३८ में जब माँ की वात्सल्यमयी छाया यकायक उठ गई तो उनका अन्तर्मांस अत्यधिक व्यथित हो उठा । क्योंकि मानव की धरती पर माँ की ममता से बढ़कर अन्य कोई भी ममता का केन्द्र नहीं । महासती पुष्पवती जी के हृदय में अपनी पूज्या एवं साध्वी माता के प्रति अगाध आस्था, अतीव श्रद्धा और जीवन के कण-कण में अपार भक्ति भावना थी । उनके स्वर्गवास से मन व्यथित होना स्वाभाविक था । इसीलिए आपका संवत् २०३८ का वर्षावास सद्गुरुदेव के सान्निध्य में जोधपुर सम्पन्न हुआ । उस वर्षावास में पूज्य गुरुदेवश्री देवेन्द्रमुनिजी म० का स्वास्थ्य अस्वस्थ हो जाने से आपने मन में निश्चय किया कि जब तक लघु भ्राता का स्वास्थ्य ठीक न हो जाय तब तक गुरु चरणों में रहने की आपने गुरुदेवश्री से अभ्यर्थना की ।



मदनगंज संघ श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के वर्षावास हेतु वर्षों से ललक रहा था, वे भी चाहते थे कि हमारे यहाँ से आशा जी साध्वी, किरणप्रभा जी और रत्नज्योति ने दीक्षा ग्रहण की है उसके बाद महासती जी का वर्षावास मदनगंज में नहीं हुआ है। गुरु चरणों में यदि साथ ही वर्षावास हो जाय तो सोने में सुगन्ध का कार्य हो जायेगा। मदनगंज संघ की भक्ति ने अपनी शक्ति बताई और महासती जी का २०४० का वर्षावास गुरुदेव श्री के सान्निध्य में मदनगंज में सम्पन्न हुआ। इस वर्षावास में अनेक आगमिक और दार्शनिक ग्रन्थों का स्वाध्याय हुआ। तथा समय-समय पर आपके मौलिक प्रवचनों का भी लाभ जनता जनादेन को प्राप्त होता रहा।

वर्षावास के पश्चात् दि० १६ जनवरी को बेंगलूर निवासी निर्मला खिवसरा की दीक्षा आपश्री के पास सम्पन्न हुई। जब देवेन्द्र मुनिजी का स्वास्थ्य कुछ स्वस्थ हुआ तो उपाध्यायश्री ने वहाँ से जयपुर, आगरा, मथुरा, वृन्दावन होते हुए देहली की ओर प्रस्थान किया। किन्तु महासती चत्तरकुंवरजी वृद्धावस्था के कारण अधिक लम्बे बिहार की स्थिति में नहीं थे, इसलिए किशनगढ़ के आस-पास के क्षेत्रों को स्पर्शकर आपने स. २०४१ का वर्षावास किशनगढ़ संघ की प्रार्थना को सम्मान देकर किशनगढ़ करने का निश्चय किया।

किशनगढ़ एक ऐतिहासिक राजधानी रही है। वहाँ समय-समय पर ऐसे अद्भुत चित्रकार हुए जिन्होंने अपनी तूलिका के चमत्कार से ऐसे मनोहारी चित्रों का अंकन किया जिससे किशनगढ़ की शैली के नाम से वह विश्रुत हुई। आज भी उसी शैली को आदर्श मानकर चित्र बनाने वाले कुछ चित्रकार वहाँ हैं जिनके चित्र देश और विदेशों में जाते हैं।

किशनगढ़ का महत्त्व इस दृष्टि से भी रहा है कि वहाँ पर जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज ने वर्षावास किये, अनेक बार उनके चरणारविन्दों से वह धरती पावन बनी। महासती भागाजी आदि अनेक साध्वियों का वहाँ विचरण रहा, इसलिए आपने वहाँ वर्षावास करना अधिक उपयुक्त समझा। इस वर्षावास की यह प्रमुख विशेषता रही कि वहाँ प्रवचन में जैनियों के अतिरिक्त वैष्णव और मुसलमान भाई भी पर्याप्त मात्रा में उपस्थित होते रहे। प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर फैयाज अली भी प्रतिदिन उपस्थित होते और एकाग्र होकर प्रवचनों को श्रवण करते। जब अच्छे श्रोता प्रवचन में उपस्थित होते हैं तो वक्ता सहज रूप से खिल उठता है। आपने विविध विषयों पर चार माह तक निरन्तर प्रवचन किये और समय-समय पर स्थानीय चिन्तकों की विचार गोष्ठियाँ भी आयोजित हुईं। उन विचार गोष्ठियों में विविध विषयों पर खुल कर चर्चाएँ भी होती रहीं।

परम सेवामूर्ति महासती श्री चत्तरकुंवरजी जिनके जीवन का मूल मन्त्र सेवा रहा और जीवन भर उस मन्त्र को अपनाकर सेवा करती रहीं उनकी बढ़ती हुई वृद्धावस्था के कारण तथा अस्वस्थता के कारण लम्बे बिहार की स्थिति नहीं थी इसलिए आप वर्षावास के पश्चात सन्निकट के क्षेत्रों को पावन करती रहीं और जहाँ भी आप पधारीं वहाँ के जन मानस में धार्मिक संस्कार पल्लवित और पुष्पित करती रहीं।

आपश्री का सन् १९८५ का वर्षावास राजस्थान के बहुत ही छोटे से गाँव हरमाड़ा में हुआ। गाँवों में ही भारतीय संस्कृति का सांस्कृतिक रूप निहारा जा सकता है। गाँवों के लोग न वाचाल होते हैं और न उद्वण्ड ही होते हैं, उनमें सहज भोलापन होता है। स्वभाव से सीधे और सरल होते हैं। जहाँ

एक बूँद : जो गंगा बन गई : साध्वी प्रियदर्शना | १६५



सरलता होती है वहीं धर्म का निवास होता है। आपका प्रस्तुत वर्षावास धार्मिक दृष्टि से बहुत ही प्रभावक रहा। हरमाड़ा निवासियों ने भक्ति भाव से विभोर होकर खूब तप-जप की साधना की। चाहे जैन हो चाहे अजैन सभी लोग नियमित समय पर प्रवचन में उपस्थित होते। कितने ही अजैन महानुभाव तो ऐसे थे कि प्रवचन प्रारम्भ होने के पूर्व ही प्रवचन हॉल में आकर बैठ जाते थे जो उनकी प्रवचन श्रवण की सहज अभिव्यक्ति थी।

हरमाड़ा में नाथ सम्प्रदाय का एक प्राचीन मठ है, उस मठ के महन्त जी बहुत ही विचारक और भावना प्रधान व्यक्ति हैं। पहले पृथक सम्प्रदाय होने के कारण वे महासती जी के सत्संग से कतराते रहे, पर जब एक बार उन्होंने प्रवचन सुना तो उनके विचारों का कायाकल्प ही हो गया। उन्होंने विदाई समारोह के पावन प्रसंग पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा मैं वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि हूँ। वैदिक परम्परा का प्रतिनिधि होने के कारण जैन परम्परा के श्रमण और श्रमणियों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ पनप रही थी, पर मातृस्वरूपा महासतीजी के सम्पर्क में आकर मेरी सारी भ्रान्तियाँ नष्ट हो गईं। महासतीजी जैन धर्म और दर्शन की गम्भीर ज्ञाता हैं ही किन्तु वैदिक और बौद्ध परम्परा की भी वे इतनी ज्ञाता हैं कि हमें आप श्री से विचार-चर्चा कर बहुत कुछ जानने को मिला है। मैं इस सरस्वती पुत्री का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

प्रस्तुत वर्षावास में अनेक बालक और बालिकाओं ने आप से प्रतिक्रमण, भक्तामर, कल्याण मन्दिर, तत्त्वार्थ सूत्र आदि का अध्ययन किया। इस वर्षावास में जिन लोगों ने कभी भी एक उपवास नहीं किया था उन्होंने आठ-आठ नौ-नौ दिन की तपस्या कर यह सिद्ध कर दिया कि भक्ति में कितनी शक्ति है। जब हृदय में भावना की प्रधानता होती है तब तप भार रूप नहीं होता। आपकी सुशिष्या महासती प्रियदर्शना ने गर्म जल के आधार से इक्कीस दिन की तपस्या की। उनका विचार एक महीने तप करने का था, पर महासती श्री चत्तरकुंवरजी के रुग्ण हो जाने के कारण सेवा की महत्ता को समझकर २१ दिन का ही पारणा कर लिया। इस वर्षावास में दिल्ली, वम्बई, सूरत, अजमेर, उदयपुर, जोधपुर आदि के अनेक भावुक भक्तों ने समय-समय पर उपस्थित होकर दर्शनों का लाभ लिया और विविध वस्तुओं की प्रभावनाएँ देकर अपनी भक्ति को उजागर भी किया।

महासती चत्तरकुंवरजी, जो लम्बे समय से वृद्धावस्था के कारण रुग्ण स्थिति में चल रही थीं, किन्तु उनका मनोबल और आत्म बल प्रशंसनीय था। वर्षावास के पश्चात् आप वहाँ से विहार कर मदन-गंज पधारी। उपचार से लग रहा था कि स्वास्थ्य में सुधार हो रहा है पर यह नहीं पता था कि दीपक गुल होने के पूर्व एक बार चमकता है। महासती जी की स्वस्थता भी सदा के विदाई के लिए थी। एक दिन देखते-देखते उन्होंने समाधिमरण हेतु संथारा संलेखना की भावना व्यक्त की। संथारा ग्रहण भी किया और समाधिपूर्वक उनका स्वर्गवास हो गया।

जो फूल खिलता है वह मुझाता भी है, जो सूर्य उदय होता है वह अस्त भी होता है। जो फूल खिले और मुझाए नहीं यह असम्भव है। जो सूर्य उदय हो और कभी अस्त न हो यह कभी सम्भव नहीं। जन्म के साथ मृत्यु का अविनाभाव सम्बन्ध है। जन्म और मृत्यु का चक्र अनादिकाल से चल रहा है। मृत्यु एक अनबुझ पहेली है जिसे कोई बुझ नहीं सका है। यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे कोई समझ नहीं सका है। प्रिय जन के वियोग के आघात की चोट बड़ी गहरी होती है जो रह-रहकर सालती रहती है। दिमाग में तूफान, दिल में परेशानी और शरीर में शून्यता इन तीनों ने मिलकर महासतीजी पुष्पवतीजी पर ऐसा आक्रमण किया जिससे उनके हृदय की धड़कन बढ़ गई। वे सोचने लगीं पहले गुरुणी मैया का





परम सेवाभावी सरलमना  
स्व. महासती श्री चतुरकंठरत्नी महाराज





वियोग हुआ, उसके पश्चात् माताजी महाराज का अवलम्बन सदा के लिए छूट गया। और इनका सहारा भी आज समाप्त हो गया। रह-रहकर उनके मानस पटल पर चलचित्र की तरह अतीत की स्मृतियाँ उभर रही थीं।

साध्वीरत्न पुष्पवती जी भेदविज्ञान की ज्ञाता हैं इसलिए उन्होंने अपने आपको शीघ्र ही संभाला किन्तु शरीर कमजोर होने के कारण जो एक बार धड़कन बढ़ गई थी उसे कन्ट्रोल करने में काफी समय लगा।

दिल्ली का यशस्वी वर्षावास सम्पन्न कर गुरुदेव उपाध्याय श्री जी, राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगरी जयपुर को पावन करते हुए मदनगंज पधारे। गुरुवर्य के आगमन से भक्तों के मन मयूर नाच उठे और हृदय कमल खिल उठे। भक्त श्रावकों की प्रार्थना को स्वीकार कर लगभग मास कल्प तक उपाध्याय श्री का वहाँ विराजना रहा। महावीर जयन्ती का नव्य-भव्य आयोजन हुआ। इस सुनहरे अवसर पर श्री वर्धमान पुष्कर जैन सेवा समिति के नव्य-भव्य भवन का उद्घाटन हुआ। उदयपुर, जयपुर, पाली, यशवन्तगढ़, नाथद्वारा आदि स्थानों के विभिन्न संघ उपस्थित हुए और अपने-अपने यहाँ वर्षावास की प्रार्थना करने लगे। सन् १९८६ का वर्षावास उपाध्याय श्री जी का पाली में हुआ और साध्वीरत्न पुष्पवतीजी का नाथद्वारा में।

महासती पुष्पवतीजी अजमेर, व्यावर होती हुई नाथद्वारा पधारीं। नाथद्वारा एक ऐतिहासिक स्थल है, जहाँ पर जैन समाज के सैकड़ों घर हैं। कृष्ण भक्तों का तो यह प्रसिद्ध गढ़ है। कहा जाता है कि मुस्लिम युग में जब धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता का बोलबाला चरमोत्कर्ष पर पहुँचा तो मंदिर नष्ट किये जाने लगे और धर्मशास्त्रों की होली जलाई जाने लगी। तब मथुरा, वृन्दावन में जो कृष्ण की प्रतिमा थी, उसे लेकर महन्तजी उदयपुर महाराणा के पास पहुँचे और महाराणा की आज्ञा से वह प्रतिमा वहाँ संस्थापित की गई। वहाँ पर जितने नित्य नये भोग चढ़ाए जाते हैं उतने भोग अन्यत्र नहीं चढ़ाए जाते।

वैदिक परम्परा के कुछ चिन्तकों में यह भ्रान्त धारणा है कि जैन परम्परा के अनुयायी श्रीकृष्ण को नहीं मानते। साध्वीरत्न पुष्पवतीजी ने अपने प्रवचनों में उस भ्रान्ति का निरसन करते हुए कहा कि श्रीकृष्ण का वर्णन जैन आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है। वे वासुदेव हैं, श्लाघनीय पुरुष हैं, उन्हें उत्तम पुरुष माना गया है। वे कर्मयोगी हैं, उनका जीवन सूर्य की तरह तेजस्वी और चन्द्र की तरह सौम्य रहा है। यह सत्य है उनके रासलीला, मक्खन चुराने आदि के प्रसंग जैन साहित्य में नहीं हैं किन्तु उनके वे प्रसंग हैं जो उनके व्यक्तित्व व कृतित्व को उजागर करते हैं। वे परम परोपकारी थे यह बात उनके ईंट उठाने के प्रसंग से जानी जा सकती है। वे गुणानुरागी थे यह बात कुत्ते के चमचमाते दाँतों के प्रसंग से समझी जा सकती है। उनके ऐसे बहुत से प्रसंग हैं जो जैन साहित्य में ही मिलते हैं। वे प्रसंग न बौद्ध साहित्य में हैं और न वैदिक परम्परा के साहित्य में हैं। लगभग सौ ग्रन्थ कृष्ण से सम्बन्धित जैन साहित्य में हैं। प्रत्येक युग की साहित्यिक विधाओं में कृष्ण पर लिखा गया है। भाषा की दृष्टि से कृष्ण साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि में भी है। अनेक परम कृष्ण भक्तों को जब यह बात ज्ञात हुई तो आपसे विचार-चर्चा के लिए समय-समय पर उपस्थित होते। श्रीमान् श्री गायत्री मानव सेवा संस्थान, चिक्लवास संस्थापक वियोगी हरि, श्रीमान् राधे-राधे जैसे आपके प्रति गहरी निष्ठा व्यक्त करने लगे।

प्रस्तुत वर्षावास में आपने 'श्रावक' शब्द पर चार माह तक प्रवचन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का

एक बूँद : जो गंगा बन गई साध्वी प्रियदर्शना | १६७



परिचय दिया। जो भी आपके सम्पर्क में आये वे आपको तेजस्वी प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना न रहे। वर्षावास सम्पन्न होने पर आप उदयपुर पधारी। महामहिम राष्ट्रसन्त आचार्य सम्राट ने पूना में सन्त सम्मेलन हो और उस सम्मेलन में श्रमण संघीय सभी सन्त सतियों को पधारने का आह्वान किया तो आपकी भी भव्य भावना उदबुद्ध हुई कि मुझे सम्मेलन में पहुँचना है। दृढ़ संकल्प के साथ आपने उदयपुर से प्रस्थान किया। यह आपके जीवन की सर्वप्रथम लम्बी यात्रा थी, पर जब मन में उत्साह और उमंग का सागर ठाठें मारता है तो दुर्गम मार्ग भी सुगम बन जाता है। शूलों का मार्ग भी फूलों का बन जाता है।

### पूना सम्मेलन की ओर

इस यात्रा में अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थलों को निहारने का आपको अवसर मिला। सर्वप्रथम पर्वत मालाओं से घिरे हुए केसरियाजी की आपने देखा। यह जैनियों का एक चमत्कारी तीर्थ माना जाता है। यहाँ पर केसर की प्रमुखता है। इस तीर्थ के लिए श्वेताम्बरों और दिग्म्बरों में लम्बे समय तक परस्पर संघर्ष चला, उच्च और उच्चतम न्यायालयों में मुकदमे चले। समाज के लाखों-करोड़ों रुपये बर्बाद हुए और आज वह स्थान शासन के अधीन है। यह है पारस्परिक फूट का परिणाम।

### तीर्थक्षेत्र : संस्कृति के मूर्तिमंत साध्य

सांवला जी और डाकोरजी इन दोनों क्षेत्रों में कृष्ण जी के विशाल-आलय हैं। जहाँ पर प्रतिदिन सैकड़ों श्रद्धालुगण दूर-दूर से आते हैं। लसुन्दरा और उनाई इन स्थानों पर गर्म पानी के अनेक कुण्ड हैं। अनेक किंवदन्तियाँ भी उन स्थानों के साथ जुड़ गई हैं। पानी में गन्धक की प्रमुखता होने से चर्म रोगियों के लिए वह पानी बहुत हितावह बताया जाता है।

बड़ौदा के पास छाणी एक छोटा सा गाँव है जहाँ पर जैनियों के ८० घर हैं। बताया जाता है कि वहाँ से १५० से भी अधिक आहंती दीक्षाएँ हुई हैं। अनेक प्रभावक आचार्य, सन्त वहाँ से निकले हैं। बड़ौदा गायकवाड़ की राजधानी रही, जैनियों का भी वह केन्द्र रहा। गायकवाड़ सीरिजमाला में अनेक जैन ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। वहाँ की लाइब्रेरी, म्यूजियम आदि जन-जन के आकर्षण केन्द्र रहे हैं। भरुच का नाम जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर आता है। श्रीपाल राजा और मैनासुन्दरी का प्रसंग इस स्थान से सम्बन्धित रहा है। अनेक जैनाचार्यों ने समय-समय पर यहाँ धर्माद्योत किया है। यहाँ पर भारत की सुप्रसिद्ध महानदी नर्मदा का प्रवाह दर्शक के मन में अभिनव चेतना का संचार करता है। क्योंकि कुछ ही दूरी पर वह अपने स्वामी समुद्र की गोद में विलीन हो गई है। नदी के इस किनारे भरुच है तो दूसरे किनारे पर अंकलेश्वर है। अंकलेश्वर में इन्डस्ट्रीयल एरिया इतना फैला है कि देखकर ताज्जुब होता है और कहा जाता है कि यह एशिया का सबसे बड़ा इन्डस्ट्रीयल एरिया है। इधर मुसलमानों के बड़े-बड़े गाँव हैं जो मुस्लिम युग में हिन्दुओं को परिवर्तित कर बनाये गये हैं। धर्मान्धता के कारण मानव क्या नहीं करता, इन गाँवों को देखने से स्पष्ट होता है।

### एक दिन में २२ लाख का चन्दा

आप उग्र विहार करती हुई दिनांक ६/३/८३ को सूरत पहुँचीं। आपके पहुँचने के पूर्व ही दिनांक ३ को उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पाली का वर्षावास सम्पन्न कर समदड़ी, जालोर, सिरोही, आबू, बड़ौदा होते हुए यहाँ पधार गये थे। गुरुदेवश्री के नौ महीने के बाद दर्शन कर उनका हृदय आनन्द विभोर हो उठा। सूरत जैन नगरी रही है। वहाँ पर कपड़े का बहुत बड़ा उद्योग है। साड़ियों का तो वह केन्द्र ही है। मेवाड़ प्रान्त के श्रद्धालुओं की सैकड़ों पैदियाँ वहाँ पर हैं। जिन्होंने अपने श्रम और पुरुषार्थ से पुराने व्यापारियों को चुनौती दी है कि व्यक्ति पुरुषार्थ से हर क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। उपाध्याय श्री जी के



उपदेश से प्रभावित होकर श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन स्थानक के लिए २२ लाख का चन्दा भी एकत्रित हुआ। गुरुदेव के साथ ही आपश्री के प्रवचन भी हुए। आपने युवकों को सम्बोधित करते हुए कहा "युवक राष्ट्र का मेरुदण्ड है। उसकी स्वस्थता और प्रसन्नता पर ही राष्ट्र का भाग्य अवलम्बित है, युवकों को व्यसनों से मुक्त होना चाहिए। उनकी शक्ति पारस्परिक निरर्थक वाद-विवादों में खर्च न हों वे एक जुट होकर निर्माण के कार्य में लगे तो राष्ट्र का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है।" आपकी प्रेरणा से अनेक युवकों ने निर्व्यसन जीवन जीने की प्रतिज्ञा ग्रहण की।

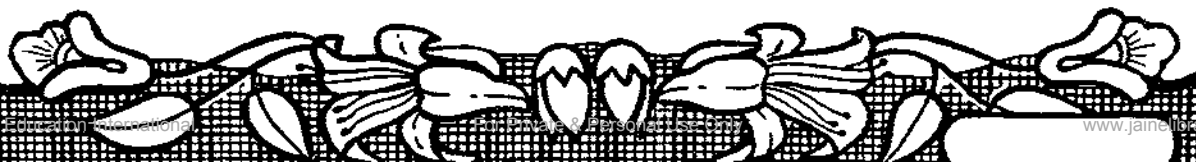
मुरत से आप बारडोली पधारी। जहाँ पर लोहपुरुष सरदार बल्लभभाई पटेल ने किसानों का आन्दोलन प्रारम्भ किया था। जिस आन्दोलन ने राष्ट्र में नई जागृति का संचार किया था। आप वहाँ से बुहारी पधारी। जिस गाँव के नाम के सम्बन्ध में यह किवदन्ती है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम वनवास के समय यहाँ पर आये थे, तब यहाँ मार्ग में नुकीले कांटे अधिक बिखरे हुए थे तब सीता ने अपने हाथ में झाड़ू यानी बुहारी लेकर मार्ग साफ किया था। जिसके कारण प्रस्तुत गाँव का नाम बुहारी हुआ। और उनाई के सम्बन्ध में यह वार्ता प्रचलित है कि सर्दी के दिनों में सीता सती ने यहाँ पर स्नान किया जब राम ने पूछा तो उन्होंने 'हूँ नाई' कहा वही आगे चलकर उनाई के रूप में विश्रुत हुआ।

गुजरात में आप जहाँ भी पधारी वहाँ आपको सहज स्नेह के दर्शन हुए। जहाँ उन्हें मधुर भोजन प्रिय है वहाँ वे बहुत ही मधुरभाषी हैं। वहाँ के निवासियों में सहज ही धर्म के प्रति अनुराग है। वहाँ पर मांसाहार का प्रचलन कम है। लोक जीवन सरल और सहज है उसमें क्रूरता का अभाव है। इसका मूल कारण है भगवान अरिष्टनेमि की अहिंसासूक्त वाणी का दिव्य प्रभाव।

#### महाराष्ट्र की धरती पर

गुजरात के पश्चात् आपने महाराष्ट्र को धरती पर चरण रखे। गगनचुम्बी पर्वतमालाओं के बीच में आदिवासियों की झोंपड़ियाँ कहीं-कहीं चमक रही थीं। यह वह रास्ता था जिसे प्राचीन काल में दण्ड-कारण्य कहा जाता था और आज साडुतारा पहाड़ के नाम से विश्रुत है।

जैन साहित्य की दृष्टि से तीर्थंकर मुनिसुव्रत युग की एक घटना है कि एक जैनाचार्य पाँच सौ मुनियों के साथ उधर पधारे। राजा का राजपुरोहित अभव्य था। आत्मा की संसिद्धि के शास्त्रार्थ में वह आचार्यदेव से पराजित हो गया। उसने उस वैर का बदला लेना चाहा। राजा से कहकर उन पाँच सौ मुनियों को घाणी में पिलवाने का आदेश दिया। आचार्यदेव ने सभी शिष्यों को समाधिपूर्वक ज्ञात भाव से मृत्यु का वरण करने की प्रेरणा दी। अन्त में एक लघु शिष्य जिस पर आचार्य का अत्यधिक अनुराग था, उसके लिए उस पालक को कहा कि तुम पहले मुझे कोल्हू में डाल दो, मैं अपनी आँखों के सामने इस लघु शिष्य को मरते हुए नहीं देख सकता। पालक तो उन्हें कष्ट देने के लिए ही तुला हुआ था। उसने पहले शिष्य को कोल्हू में डाला और उसे पील दिया। अपने शिष्य को इस प्रकार मरते हुए देखकर आचार्य देव का खून खौल उठा, उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की कि मेरे तप का प्रभाव हो तो मैं इस दुष्ट राजा को ऐसा सबक सिखाऊँ जो सदा-सदा याद करता रहे। क्रोधवेश में आचार्य ने आयु पूर्ण किया और उनका जीव अग्निकुमार देव बना। उसने क्रोध के वशीभूत होकर उस नगर को नष्ट कर दिया। दण्ड देने के कारण और नगर नष्ट हो जाने के कारण वह दण्डकारण्य के नाम से जाना-पहचाना जाने लगा। मर्यादा पुरुषोत्तम राम भ० मुनिसुव्रत के युग में ही हुए थे वे इसी रास्ते से नासिक यानी पंचवटी में आये थे। सूर्यणखा की नासिका काटने से नासिक के नाम से आज लोग जानते हैं। वहीं पर पंचवटी में से महासती सीता का अपहरण हुआ था। चरित्रनायिका ने सभी स्थानों को अपनी पैनी दृष्टि से निहारा। स्थान-स्थान पर अनेक किवदन्तियाँ भी उन्हें सुनने को मिली।



नासिक में उपाध्याय श्री विशालमुनिजी, सलाहकार श्री सुमनमुनिजी, तपस्वी श्री मोहनमुनिजी तथा पंजाब से पधारी हुई महासती अर्चनाजी, पुनीतज्योतिजी, कृष्णाजी आदि का मिलन हुआ। कुछ दिन वहाँ रुककर सिन्नर, संगमनेर होते हुए आप पूना पधारी। जहाँ सन्त सम्मेलन की उल्लास के क्षणों में तैयारी चल रही थी। आचार्य सम्राट तथा अन्य अनेक सन्तों के व महासती वृन्द के दर्शन कर हृदय आनन्द विभोर हो उठा।

### सन्त-सम्मेलन

दिनांक ३०-४-८७ को नव्य भव्य जुलूस के साथ सभी सन्त-सतीगण आचार्यश्री के साथ महाराष्ट्र मण्डल में पधारे, और वहीं विराट सभा का आयोजन हुआ। सभी सन्त और सती वृन्द ने सम्मेलन की महत्ता पर प्रकाश डाला और मन में यह दृढ़ संकल्प किया कि हमें प्रस्तुत सम्मेलन को पूर्ण यशस्वी बनाना है।

दिनांक १-५-८७ को भगवान आदिनाथ का पारणा दिवस अक्षय तृतीया थी। इस सुनहरे अवसर पर भारत के विविध अंचलों से आये हुए २५० भाई और बहिनों ने आचार्य प्रवर के नेतृत्व में पारणे किये।

दिनांक २ मई से १० मई तक प्रातः और मध्याह्न में सन्त सम्मेलन की मीटिंगें चलती थीं। इन मीटिंगों में सतियों को भी मीटिंग में बैठने का और अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया। महासती पुष्पवतीजी भी प्रतिनिधि के रूप में इस सम्मेलन में उपस्थित हुईं, और समय-समय पर उन्होंने अपने मौलिक विचार भी प्रस्तुत किए। इस सम्मेलन की यह विशेषता रही कि जो भी प्रस्ताव पारित हुए वे सभी सर्वानुमति से हुए।

दिनांक १२ मई ८७ को विराट सभा में आचार्य प्रवर श्री आनन्दकृषिजी म० ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में श्री देवेन्द्रमुनिजी को उपाचार्य पद प्रदान किया। और डॉ० श्री शिवमुनिजी को युवाचार्य पद प्रदान किया।

दिनांक १३ मई ८७ को जिन्हें उपाचार्य और युवाचार्य पद प्रदान किया गया था, उन दोनों मुनियों को चतुर्विध संघ के समक्ष ११ बजकर ४५ मिनट पर चद्दर प्रदान की। चद्दर महोत्सव के सुनहरे अवसर पर लगभग एक लाख व्यक्ति उपस्थित थे। उस अवसर पर आपने मंगलमय प्रवचन में कहा कि—

आज मेरा हृदय आनन्द विभोर है। जब उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी गृहस्थाश्रम में धन्नालाल के रूप में थे। माता के धार्मिक संस्कारों के कारण इनकी अन्तरात्मा धर्म के रंग में रंगी हुई थी जिसके कारण प्रवचन सभा में मुनि वेष को धारणकर पहुँचते थे। एक बार उदयपुर में आचार्यश्री जवाहरलालजी महाराज विराज रहे थे तब हमारे दादाजी के साथ धन्नालाल प्रवचन सभा में पहुँचा उस समय आचार्य प्रवर शौचादि के लिए बाहर पधारे हुए थे और दादाजी अपने स्वाध्याय में लीन थे तब धन्नालाल खेलते-खेलते आचार्य प्रवर के पट्टे पर जाकर बैठ गया। आचार्य प्रवर के प्रवचन की नकल करने लगा। जब आचार्य प्रवर ने बालक को इस प्रकार नकल करते हुए देखा तब उन्होंने गम्भीर घोष के साथ पूछा कि यह बालक किसका है? दादाजी बबराये हुए आचार्यदेव के चरणों में गिर पड़े और कहा—यह बालक आपका ही है। क्षमा करें, नादान है।

आचार्य प्रवर ने मंद मुस्कराहट के साथ कहा—यह बालक दीक्षा ले तो इंकार न करना क्योंकि इसके शारीरिक लक्षण बता रहे हैं कि यह बालक आगे चलकर साधुसंघ का आचार्य बनेगा। पूज्य श्रीलालजी म० ने जो लक्षण बताए थे वे लक्षण प्रस्तुत बालक में दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

आचार्य प्रवर की प्रस्तुत भविष्यवाणी को आज मूर्त रूप देखकर मेरा हृदय आनन्द विभोर है।



आचार्य प्रवर ने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् जो निर्णय लिया है उसका सर्वत्र स्वागत हो रहा है। अपने लघु भ्राता को इस पद पर आसीन देखकर मुझे हार्दिक गौरवानुभूति हो रही है।

महामहिम आचार्य प्रवर के आदेश को शिरोधार्य कर सन् १९६७ का वर्षावास आपत्री का अहमदनगर में हुआ। इस वर्षावास में आपको आचार्य सम्राट, उपाध्यायश्री और उपाचार्यश्री का सान्निध्य प्राप्त हुआ। समय-समय पर आपत्री के महत्त्वपूर्ण प्रवचन भी हुए। आचार्य प्रवर की असीम कृपा आप पर रही। इस वर्षावास में भारत के विविध अंचलों से दर्शनार्थी बंधु उपस्थित होते रहे। उनका सम्पर्क भी आपको मिलता रहा।

## अभिनन्दन ग्रन्थ का समर्पण

२९ नवम्बर ६७ को आचार्य प्रवर का दीक्षा अमृत महोत्सव पर्व मनाया गया। जिसे 'दीक्षा हीरक' जयन्ती कहा जाता है। हीरे की चमक-दमक में अभिवृद्धि होती है, इसलिए साध्वीरत्न पुष्पवतीजी के स्वर्ण जयन्ती का पावन प्रसंग होने से इस शुभ प्रसंग पर साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ घोड़नदी के प्रसिद्ध उद्योगपति रसिकलालजी धारीवाल ने अभिनन्दन ग्रन्थ का विमोचन कर प्रथम प्रति आचार्य सम्राट के कर-कमलों में समर्पित की और दूसरी प्रति महासती श्री पुष्पवतीजी म० को समर्पित की। इस सुनहरे अवसर पर ९ विरक्त आत्माओं ने आर्हती दीक्षा ग्रहण कर जिनशासन की शोभा में चार चाँद लगाये। इस अवसर पर आचार्य प्रवर, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म०, उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म०, प्रवर्तक श्री कल्याण ऋषिजी म०, प्रवर्तक श्री रूपचन्दजी म०, सदाशंकर श्री रतनमुनिजी म०, सलाह-कार श्री सुमतिप्रकाशजी म०, त० श्री मोहनमुनिजी म०, त० श्री वृद्धिचन्दजी म० प्रभृति ५७ सन्त तथा साध्वीरत्न महासती पुष्पवतीजी म०, महासती श्री रामकंवरजी म०, महासती प्रमोदसुधाजी म०, महासती सुन्दरकुंवरजी म०, महासती पुष्पकंवरजी म०, महासती सुवालकंवरजी म०, महासती कौशल्याजी म०, महासती धर्मशीलाजी म० आदि ७२ साध्वियाँ कुल ठाणें १२९ सन्त-भाती व ३५-४० हजार की विशाल जन-मेदिनी उपस्थित थी। इस समारोह के अध्यक्ष महाराष्ट्र राज्य के मुख्य मन्त्री शंकरराव चव्हाण थे। तथा कान्फ्रेंस के अध्यक्ष सेठ संचालालजी बाफना, कान्फ्रेंस के कार्यवाहक अध्यक्ष श्री हिस्तीमलजी मुनीत, कान्फ्रेंस के चार उपाध्यक्ष (१) श्री पारसमलजी औरड़िया (२) श्री मोहनलालजी लूंकड़ (३) श्री फकीरचन्दजी मेहता (४) श्री जे० डी० जैन तथा भारत जैन महामण्डल के महामन्त्री श्री पुखराजमलजी लूंकड़, पूना सन्त सम्मेलन समिति के अध्यक्ष श्री बंकटलालजी कोठारी आदि स्थानकवासी समाज के गणमान्य नेता व ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादक श्रीचन्दजी सुराना भी उपस्थित थे।

इस सुनहरे अवसर पर संक्षिप्त और सारपूर्ण प्रवचन करती हुई साध्वीरत्न पुष्पवतीजी ने कहा—'जो मुझे अभिनन्दनग्रन्थ भेंट दिया गया है मैं उसे ग्रहण करती हूँ और इस ग्रन्थ को मैं अपने जीवन निर्माता सद्गुरुणीजी महाराज श्री सोहनकुंवरजी को और सद्गुरुदेवश्री को समर्पित करती हूँ जिनकी असीम कृपा से ही मैं इस गौरवपूर्ण पद पर पहुँच सकी हूँ।'

समारोह बहुत ही दर्शनीय था। समारोह के पश्चात् महासती पुष्पवतीजी ने कर्नाटक गजेन्द्रगढ़ पधारने के लिए अहमदनगर से उस दिशा में विहार किया। सोलापुर, बीजापुर, ब्रागलकोट होते हुए गजेन्द्रगढ़ पधारेंगी।

इस प्रकार साध्वीरत्न सद्गुरुणी श्री पुष्पवतीजी महाराज की जीवनचर्या की यह संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत है।

एक बूद, जो गंगा बन गई : साध्वी प्रिय दर्शना ! २०१



## साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी महाराज का शिष्या परिवार

### महासती श्री चन्द्रावतीजी म.

आपका जन्म विक्रम सम्वत् १९६३ में उदयपुर-राजस्थान में हुआ। आपके पिताश्री का नाम पन्नालालजी मेहता और माता का नाम लहरीबाई था। आपने परम विदुषी महासती श्री पुष्पवती जी के सदुपदेश से सम्वत् २००४ माघ सुदी तीज को (सन् १९८७) कपासन में दीक्षा ग्रहण की। आपने संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी भाषा का अच्छा अभ्यास किया। जैन सिद्धान्ताचार्या परीक्षा भी उत्तीर्ण की। 'मगध का राजकुमार मेघ', आपका खण्डकाव्य है और "दिव्य पुरुष" भगवान महावीर से सम्बन्धित उपन्यास है। आपके कई लेख प्रकाशित हुए हैं। आपका प्रवचन तार्त्विक और मधुर होता है।

### महासती श्री प्रियदर्शनाजी म.

आपका जन्म उदयपुर में विक्रम सम्वत् २००२ वैशाख सुदी द्वज दि० १३-५-१९४५ रविवार को हुआ। आपके पिता का नाम कन्हैयालाल जी लोढा और माता का नाम राजबाई है। आपका गृहस्थाश्रम का नाम अनोखा बहिन था। महासती श्री पुष्पवतीजी म० के उपदेश से प्रभावित होकर आपने सम्वत् २०१८ फाल्गुण कृष्ण तैरस दि० ४-४-१९६२ को उदयपुर में दीक्षा ग्रहण की। हिन्दी संस्कृत भाषा का अच्छा अभ्यास है। आपका प्रवचन सरल व मधुर है। आप अध्ययनशीला के साथ-साथ सेवा-भाविनी हैं।

### महासती श्री किरणप्रभाजी म.

आपका जन्म वि० सं० २०१५ मदनगंज (राज०) में हुआ। आपकी माताजी का नाम सीताबाई है और पिता का नाम ग्यालीरामजी वरडिया था। स० २०३३ माघ सुदी तैरस को महासती श्री पुष्पवतीजी म० के सदुपदेश से उदयपुर में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपको संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओं का ज्ञान है। आप सेवाभावी हैं।

### महासती श्री रत्नज्योतिजी म.

आपका जन्म सन् १९६२ कार्तिक शुक्ला १४ दि० १०-११-७२ को गजेन्द्रगढ़ कर्नाटक में हुआ। आपकी माताजी का नाम आनन्दीबाई और पिताश्री का नाम गुलाबचन्द जी है। सन् १९८० वैशाख शुक्ला पूर्णिमा दि० ३०-४-८० को महासती श्री पुष्पवती जी म० के उपदेश से उदयपुर में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपको संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, इंगलिश, कन्नड़ आदि भाषाओं का ज्ञान है।

२०२५ || द्वितीय खण्ड : व्यक्तित्व दर्शन



## वर्षावास-सूची

श्रमण संस्कृति के श्रमण और श्रमणियाँ घुमकड़ रही हैं। वे भारत के विविध अंचलों में पैदल परिभ्रमण कर जन-जन के अन्तर्मानस में धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ज्योति जगाती हैं। और जिनका जीवन धर्म और साधना से विमुक्त बना हुआ है उन व्यक्तियों को वे धर्म का सही स्वरूप बताती हैं। सरिता की सरस धारा के समान प्रतिपल-प्रतिक्षण चलते रहना ही जिनके जीवन मूल मंत्र है एतदर्थ ही श्रमण भगवान महावीर ने कहा—'विहारचरिषा इति षण्ण पसत्था'। श्रमण और ऋषियों के लिए विहार करना बहुत प्रशस्त माना गया है। उपनिषद के ऋषियों ने भी यही स्वर बुलन्द किया—'चरंवेति चरंवेति' चले चलो बढ़े चलो। वृद्धश्रवा इन्द्र ने तो यह उद्घोषणा कि—'चरती चरतो भगः' जो व्यक्ति बैठा रहेगा उसका भाग्य भी बैठा रहेगा और जो चलता रहेगा उसका भाग्य भी गतिशील होगा। एक समय तथागत बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्रेरणा देते हुए कहा कि भयानक जंगल में गैड़ा अकेला घूमता है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं लगता, वैसे ही तुम्हें भी भय रहित होकर घूमना चाहिए। तुम जन-जन के हित के लिए जन-जीवन के सुख के लिए निरन्तर चलते रहो, परिभ्रमण करते रहो और मानव समाज को यह उपदेश दो कि हिंसा, चोरी मत करो, कामासक्त न बनो, मृषाभाषण न करो और मद्यपान न करो। तथागत बुद्ध के आदेश को शिरोधार्य कर भिक्षुगण लंका, जावा, सुमात्रा, वर्मा, श्याम, चीन, जापान, तिब्बत आदि एशिया के विविध प्रान्त और प्रदेशों में पहुंचा और वहाँ घूमकर श्रमण संस्कृति का प्रचार किया।

जैन श्रमण और श्रमणियाँ 'भारंडपक्खीव चरेज्जमत्ते' भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विहारण करते हैं। विहार करते समय अनेक विघ्न-बाधाएँ भी आती हैं। किन्तु विघ्न और बाधाओं से उनके कदम कभी लड़खड़ाते नहीं और न ठिठकते हैं अपितु शेर की तरह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। साध्वीरत्न पुष्पवतीजी का विचरण क्षेत्र मुख्य रूप से राजस्थान रहा। राजस्थान में भी उदयपुर में उनके ११ वर्षावास हुए। अजमेर में ४ वर्षावास हुए, जयपुर और जोधपुर में ३-३ वर्षावास हुए। १ वर्षावास मध्य प्रदेश इन्दौर में हुआ एक चातुर्मास महाराष्ट्र में अहमदनगर में हुआ। शेष चातुर्मास उनके राजस्थान में ही हुए। अध्ययन आदि की दृष्टि से उनके कई चातुर्मास श्रद्धेय गुरुदेव महास्थविर श्री तारा चन्दजी म० और उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म० के सान्निध्य में हुए। एक चातुर्मास आचार्यहस्तीमलजी म० के सान्निध्य में भी हुआ।

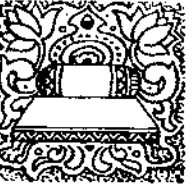
जहाँ भी आपके वर्षावास होते रहे हैं, वहाँ पर बालक और बालिकाओं में धार्मिक संस्कार हेतु अध्ययन करवाती रहीं और श्री तिलोक रत्न धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी की परीक्षाएँ भी दिलवाती रहीं। अनेक मेधावी छात्राओं को जैन तत्त्व विद्या को अपने परिज्ञान करवाया। और महिलाओं में विशेष धार्मिक जागृति का प्रयत्न किया और स्थान-स्थान पर धार्मिक पुस्तकालयों की संस्थापनाएँ भी





की। आपका मूल उद्देश्य जन-जीवन में धार्मिक चेतना का संचार करना रहा है। संक्षेप में आपके वधा-वासों की सूची इस प्रकार है—

क्रमांक	गांव एवं प्रांत	विक्रम संवत्	सन्	क्रमांक	गांव एवं प्रांत	विक्रम संवत्	सन्
१	सलोदा (मेवाड़)	१९९५	१९३८	२९	अजमेर	२०२३	१९६६
२-८	उदयपुर	१९९६-२००२ तक	१९३९-१९४५	३०	भीलवाड़ा	२०२४	१९६७
९	व्यावर (मारवाड़)	२००३	१९४६	३१	भीलवाड़ा	२०२५	१९६८
१०	उदयपुर	२००४	१९४७	३२	नाथद्वारा	२०२६	१९६९
११	उदयपुर	२००५	१९४८	३३	बनेड़ा	२०२७	१९७०
१२	वड़ीसादड़ी (मेवाड़)	२००६	१९४९	३४	डूंगला (मेवाड़)	२९२८	१९७१
१३	नान्देशमा	२००७	१९५०	३५	मारवाड़ सादड़ी	२०२९	१९७२
१४	इन्दौर (म. प्र.)	२००८	१९५१	३६	अजमेर	२०३०	१९७३
१५	कोटा	२००९	१९५२	३७	अजमेर	२०३१	१९७४
१६	जयपुर	२०१०	१९५३	३८	मदनगंज	२०३२	१९७५
१७	जयपुर	२०११	१९५४	३९	उदयपुर	२९३३	१९७६
१८	मदनगंज	२०१२	१९५५	४०	नाई (मेवाड़)	२०३४	१९७७
१९	जयपुर	२०१३	१९५६	४१	नाथद्वारा	२०३५	१९७८
२०	अजमेर	२०१४	१९५७	४२	डबोक (मेवाड़)	२०३६	१९७९
२१	व्यावर	२०१५	१९५८	४३	उदयपुर	२०३७	१९८०
२२	जवाजा	२०१६	१९५९	४४	डूंगला	२०३८	१९८१
२३	गोगुन्दा (मेवाड़)	२०१६	१९६०	४५	जोधपुर	२०३९	१९८२
२४	डबोक "	२०१८	१९६१	४६	मदनगंज	२०४०	१९८३
२५	जोधपुर	२०१९	१९६२	४७	किशनगढ़	२०४१	१९८४
२६	नाथद्वारा	२०२०	१९६३	४८	हरमाड़ा	२०४२	१९८५
२७	पीपाड़	२०२१	१९६४	४९	नाथद्वारा	२०४३	१९८६
२८	जोधपुर	२०२२	१९६५	५०	अहमदनगर	२०४४	१९८७
				५१	गजेन्द्रगढ़	२०४५	१९८८



# तृतीय खण्ड

कृतिद्व-  
प्रणि



## सृजनधर्मी प्रतिभा की धनी महासती पुष्पवतीजी

--राजेन्द्रमुनि शास्त्री एम. ए. साहित्यमहोपाध्याय

पिछले पृष्ठों में हम महासती पुष्पवतीजी के गंगा सम पवित्र जीवन की एक झांकी देख चुके हैं । उनके व्यक्तित्व के मूल आधार हैं—

- |                     |                              |
|---------------------|------------------------------|
| १. सहिष्णुता        | २. संयमशीलता                 |
| ३. सतत ज्ञान-आराधना | ४. जन-मंगल के लिए श्रम-शीलता |

उनका यह चतुर्मुखी व्यक्तित्व आज एक आदर्श श्रमणी के रूप में मंडित है । उनके गरिमान्वित कृतित्व के दर्शन कर अब हम जान पायेंगे कि उनका सृजनधर्मी कृतित्व साहित्य-कला-संस्कृति के उपवन । में सतत नव-नव सुमन खिलाता रहा है । उनका नाम है—पुष्पवती । यह नाम सार्थक हुआ है—साहित्य के मधुवन में । साहित्य की विविध विधाओं में उनकी समान गति है, स्वरित निर्मित है । यद्यपि वे अपनी निरन्तर विहारचर्या, साधुचर्या के बहुविध नियम-उपनियम-ध्यान साधना आदि में निरत रहने से लेखन आदि के लिए बहुत ही कम समय निकाल पाती हैं, फिर जितना समय बचता है, उसमें शिष्याओं को अध्यापन, बालक-बालिकाओं व श्रावक वर्ग को धर्म-ज्ञान देना, तत्वचर्चा करना व प्रवचन करना इन विधियों में ही समय का अधिकांश भाग बीत जाता है । स्वतंत्र लेखन चिन्तन के लिए बहुत ही कम समय बच पाता है, किन्तु जो बच पाता है, उतने में भी सतत अप्रमादशील चर्या में विह्वरण करने वाली श्रमणी अपना कुछ लेखन करती है । साहित्य का नव सृजन करती है, अपने उदात्त व्यापक चिन्तन से युग चेतना को लाभान्वित करती रहती है ।

पूज्य महासतीजी की साहित्य सृजन की अनेक विधाएं रही हैं । संस्कृत काव्य रचनाओं के साथ ही वे हिन्दी में काव्य रचना की अद्भुत क्षमता रखती हैं । हिन्दी काव्य सम्पादन में भी उनकी कला निखरी है । पूज्य माताजी प्रभावतीजी महाराज द्वारा रचित राजस्थानी तथा हिन्दी चरित्र काव्यों के सम्पादन में उनकी प्रतिभा का चमत्कार देखा जा सकता है । संशोधन, सम्पादन, भाव, भाषा, शैली, काव्य-कल्पना आदि में संशोधन संवर्धन कर उन काव्यों में अत्यधिक लालित्य भर दिया है । जिनकी यत् किंचित चर्चा अगले पृष्ठों में की गई है ।

सृजनधर्मी प्रतिभा की धनी : महासती पुष्पवतीजी | २०५



आपत्री के स्वयं के प्रवचनों का एक श्रेष्ठ संग्रह 'पुष्प-पाराग' नाम से प्रकाशित हुआ है तथा माताश्री प्रभावतीजी म० के प्रवचन संग्रह 'प्रभा-प्रवचन' का भी श्रेष्ठतम सम्पादन आपने किया है ।

कथा, उपन्यास शैली में भी आपने ४-५ उपन्यास लिखे हैं जिनकी अपनी विशिष्टता है । सौंदर्यता है । इनको अपनी शैली है और एक नया मार्ग-दर्शन भी है । प्राचीन चरित्रों में आधुनिक जीवन की संगति व सामंजस्य रखते हुए उन्हें जीवनस्पर्शी बनाया है जिसकी चर्चा भी प्रस्तुत में करेंगे ।

इसके अतिरिक्त, निबन्ध, संस्मरण, चिन्तन सूत्र आदि विधा में भी आपकी लेखनी गतिशील रही है । भले ही परिमाण में अल्प लिखा है, परन्तु परिणाम की दृष्टि से बहुत ही श्रेष्ठ लिखा है ।

यहाँ हम क्रमशः सभी विषयों पर संक्षेप में चर्चा प्रस्तुत कर रहे हैं ।

### अध्यापन कला

महासती पुष्पवतीजी ने जहाँ गुरुचरणों में बैठकर अध्ययन किया है । वहाँ आपमें अध्यापन कराने की कला भी प्रभावक है । आप जहाँ वर्षावास करती हैं या लम्बे समय तक विराजती हैं । वहाँ पर महिलाओं में व कन्याओं में धार्मिक संस्कारों के बीज वपन करती हैं । उन्हें धार्मिक अध्ययन कराती हैं । सैकड़ों बालिकाओं को आपने धार्मिक अध्ययन करवाया और उन्हें धार्मिक परीक्षाएँ भी दिलवाई । तथा महासती चन्द्रावतीजी, प्रियदर्शनाजी, किरणप्रभाजी, रत्नज्योतिजी, सुप्रभाजी आदि सतियों को तथा सन्तों में देवेन्द्र मुनि, दिनेश मुनि आदि को हिन्दी साहित्य का अध्ययन करवाया और साहित्य मध्यमा, और साहित्यरत्न तथा साध्वियों को जैन सिद्धान्ताचार्य तक अध्ययन करवाया । व्याकरण और दार्शनिक ग्रन्थों का भी अध्ययन करवाया ।

### निबन्ध साहित्य

अध्ययन के साथ अध्यापन जैसे आपको पसन्द है वैसे ही लेखन कला भी आपको प्रिय रही है । निबन्ध गद्य की कसौटी है । अनुभूति की सशक्त अभिव्यक्ति निबन्ध में होती है । इसलिए निबन्ध को गद्य की कसौटी माना है । लेखक का पूर्ण व्यक्तित्व निबन्ध में निखरता है ।

निबन्ध के भावात्मक और विचारात्मक ये दो प्रकार हैं ।

भावात्मक निबन्ध में लेखक किसी वस्तु का विवेचन अपनी बुद्धि और तर्क शक्ति से नहीं करता । अपितु हृदय की भावनाओं को सरस अनुभूतियों के रंग में रंग कर इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पढ़ते-पढ़ते प्रबुद्ध पाठकों के हृदयतंत्री के तार झनझना उठते हैं । विचारात्मक निबन्धों में चिन्तन, विवेचन और तर्क की प्रधानता होती है । विचारात्मक निबन्धों में लेखक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से किसी एक वस्तु की तर्कपूर्ण और चिन्तनशील अनुभूति की गहन अभिव्यक्ति है । यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि सामान्य लेख और निबन्ध में पर्याप्त अन्तर है । सामान्य लेख में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रहता है । जबकि निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व ऊपर उभरकर आता है ।

संस्कृत में निबन्ध का अर्थ है—बांधना । निबन्ध वह है, जिसमें विशेष रूप से बन्ध या संगठन हो । जिसमें विविध प्रकार के विचारों, मतों, व्याख्याओं का सम्मिश्रण हो या गुम्फन हो । आधुनिक युग में



निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं, जिसमें परिमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन अथवा प्रतिपादन अपने विशेष निजपन, स्वतन्त्रता, सौष्ठव, सजीवता, आवश्यक संगति और सभ्यता के साथ किया गया हो। स्वाभाविक रूप से अपने भावों को प्रगट कर देना निबन्धकार की सफलता होती है।

आपने दोनों ही प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। आपके विचारात्मक निबन्धों में विवेचनात्मक और गवेषणात्मक ये दोनों ही प्रकार की विधाएँ सम्मिलित हैं। आपके निबन्धों की शैली सरल, सरस और सुगम हैं। आपके निबन्ध समय-समय पर अभिनन्दन ग्रन्थों में तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं तथा बहुत सारे निबन्ध अप्रकाशित हैं। यहाँ हम आपकी के निबन्धों के कुछ उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

अहिंसा को जैन दर्शन का प्राणतत्त्व कहा है। आपने अहिंसा पर चिन्तन करते हुए लिखा है— अहिंसा जैन धर्म का प्राण तत्त्व है। विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा पर गहरा चिन्तन किया है किन्तु अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विवेचन और गहन विश्लेषण जैन साहित्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं है। जैन संस्कृति की प्रत्येक साधना में अहिंसा की भावना परिव्याप्त है। उसके प्रत्येक स्वर में अहिंसा की मधुर ध्वनि मुखरित है। जैन संस्कृति की प्रत्येक क्रिया अहिंसामूलक है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, ग्रयन करना आदि सभी में अहिंसा का नाद ध्वनित हो रहा है। विचार में, उच्चार में और आचार में सर्वत्र अहिंसा की सुमधुर झंकार है। भगवान महावीर ने अहिंसा का उत्कर्ष बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा—जैसे जीवों का आधार स्थान पृथ्वी है, वैसे ही भूत, यानी प्राणियों के जीवन का आधार स्थान शान्ति-अहिंसा है। अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ संगीत है। जब यह संगीत जन-जन के मन में झंकृत होता है, तब मानव-मन आनन्द में झूमने लगता है, यही कारण है कि सुदूर अतीत काल से ही साधक इसकी साधना और आराधना करते रहे हैं।

कुछ विचारकों का यह मन्तव्य रहा है कि जैनदर्शन के अनुसार अहिंसा निष्क्रिय है। उस विचार का खण्डन करती हुई लेखिका ने अपने निबन्ध में लिखा है—‘जैन दर्शन की अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नहीं है, वह विध्यात्मक है। उसमें विश्व-बन्धुत्व और परोपकार की भावना उछाले मार रही है। जैन धर्म की अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत रहा है। उसका आदर्श जीओ और जीने दो तक ही सीमित नहीं है, किन्तु उसका आदर्श है दूसरों के जीने में सहयोगी बनो। अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी न्यौछावर कर दो।’

उन्होंने इस भ्रान्ति का भी निराकरण किया है कि—अहिंसा कायरता है। उन्हीं के शब्दों में देखिये—‘कितने ही लोगों की भ्रान्त धारणा है कि अहिंसा कायरता का प्रतीक है, वह देश को परतन्त्रता की वेड़ियों में जकड़ती है और कर्म क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोकती है। पर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अहिंसा कायरता नहीं, अपितु वीरता सिखाती है। अहिंसा वीरों का धर्म है। अहिंसा का यह वज्र आघोष है—मानव ! तू अपनी स्वार्थ-लिप्सा में डूबकर दूसरे के अधिकार को न छीन। किसी भी देश या राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न कर। किसी भी समस्या का समाधान शान्ति पूर्वक कर। इतने पर भी यदि समस्या का सम्यक् समाधान नहीं हो रहा है और देश, जाति या धर्म की रक्षा करना अनिवार्य हो तो उस समय वीरता-परक कदम उठा सकते हो, किन्तु अहिंसा के नाम पर कायर बनकर घर में मुंह छिपाकर बैठना उचित नहीं है। अपने प्राणों का मोह कर कायर मत बनो ! किन्तु समय पर अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करो, यदि उस समय तुमने कायरतापूर्ण व्यवहार किया तो वह अहिंसा नहीं, आत्म-वंचना है।’



‘अहिंसा यह कभी नहीं सिखाती कि अन्यायों को सहन किया जाय, क्योंकि अन्याय करना अपने आप में पाप है और अन्याय को कायर होकर सहन करना महापाप है, जिसमें अन्याय के प्रतिकार की शक्ति नहीं है, वह अहिंसा नाम मात्र की अहिंसा है।’

स्याद्वाद जैन दर्शन की आत्मा है। जैन मनीषियों ने स्याद्वाद को समझाने के लिए विशाल ग्रन्थों का निर्माण किया है। आगम युग से लेकर आगमेतर युग तक इस पर चिन्तन हुआ है। उस गहन चिन्तन को महासती पुष्पवतीजी ने अपने निबन्ध में बहुत ही सरल शब्दों में प्रकाश डाला है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में क्या अन्तर है? उसे भी उन्होंने स्पष्ट किया। हम यहाँ उनके निबन्ध का अवतरण प्रस्तुत कर रहे हैं—“अनेकान्तवाद एक दृष्टि है, एक विचार है। विचार जगत का अनेकान्तवाद जब वाणी में उतरता है, तब वह स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद में स्याद् शब्द का अर्थ है—अपेक्षा या दृष्टिकोण और वाद शब्द का अर्थ है—सिद्धान्त या प्रतिपादन। दोनों शब्दों से मिलकर बने हुए प्रस्तुत शब्द स्याद्वाद का अर्थ हुआ किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना। स्याद्वाद का अपर नाम अपेक्षावाद भी है, जिसका अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना।”

‘प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म हैं, उन सभी धर्मों का यथार्थ परिज्ञान तभी संभव है, जब अपेक्षा दृष्टि से विचारा जाय। दर्शन शास्त्र में नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक व्यवहार में—स्थूल-सूक्ष्म, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान, छोटा-बड़ा आदि ऐसे अनेक धर्म हैं जो सापेक्षिक हैं। जब हम उन धर्मों में से किसी एक धर्म का कथन करना चाहेंगे तो अपेक्षादृष्टि से ही संभव है। क्योंकि कोई भी एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अतः विभिन्न शब्दों के माध्यम से ही विभिन्न धर्मों का प्रतिपादन किया जा सकता है।’

अपेक्षा दृष्टि से विश्व के समस्त पदार्थ एक और अनेक रूप हैं। उनमें एक ओर नित्यत्व के दर्शन होते हैं, तो दूसरी तरफ अनित्यत्व के। वस्तु के ध्रुव तत्त्व की ओर जब दृष्टि केन्द्रित होती है, तब वस्तु के शाश्वत सौन्दर्य के संदर्शन होते हैं और उत्तर-गुणों की ओर दृष्टिपात करने पर प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तित रूप दिखलाई देता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में—“जब हमारी दृष्टि भेद-गामिनी बनती है, तब वस्तु का परिवर्तित होने वाला रूप सामने आता है, और जब दृष्टि अभेदगामिनी बनती है, तब वस्तु का अखण्ड रूप दृष्टि पथ में आता है। जब हम आत्मा के अभेदरूप का चिन्तन करते हैं, तब अनन्त-अनन्त आत्माओं में एक आत्म-तत्त्व के दर्शन होते हैं, और भेद दृष्टि से चिन्तन करने पर एक ही आत्मा में अनेक पर्याय दिखलाई देती हैं। दार्शनिक शब्दों में “भेदगामिनी दृष्टि पर्यायदृष्टि है और अभेदगामिनी दृष्टि द्रव्याधिक दृष्टि है।”

महासती पुष्पवतीजी ने विविध विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। वे निबन्ध उनके गम्भीर चिन्तन को उजागर करते हैं। वे गम्भीर अध्ययनशीला हैं। उन्हें लोक संस्कृति का, धर्म और दर्शन का गम्भीर परिज्ञान है। उन्होंने ज्ञान को प्रज्ञा के स्तर पर आत्मसात किया है। वे नवीनता और प्राचीनता की विचारधारा को इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं, मानो सेतु हों। धर्म और संस्कृति के नाम पर पलने वाले अन्ध विश्वासों और प्रतिगामी रूढ़ियों का दृढ़ता के साथ विरोध करती हैं और समीचीनता को ग्रहण करने के लिए अपने निबन्धों में प्रेरणा प्रदान करती हैं। उनके निबन्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि महासतीजी ने जीवन के शाश्वत तथ्यों पर प्रकाश डाला है।



## प्रवचन साहित्य

जिस प्रकार महासती पुष्पवतीजी का निबन्ध साहित्य चिन्तन की अपूर्व धरोहर है उसी प्रकार आपका प्रवचन साहित्य भी विचारों का अनमोल खजाना है। वे एक सौम्य और प्रबुद्ध विचारिका है। जो प्रतिफल, प्रतिक्षण अपनी साधना एवं चिन्तन का अनमोल अर्घ्य जन-जन को समर्पित करती हैं। उनके विचारों में मौलिकता है, चिन्तन की गहराई है तथा विकृति को नष्ट करने की अपूर्व क्षमता है। विश्व की अनेक गम्भीर समस्याओं को वे अपने गहन अध्ययन के द्वारा सुलझाती हैं। जब वे प्रवचन करती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, साक्षात् सरस्वती-पुत्री की वाग्धारा प्रस्फुटित हो रही है।

वे जैन परम्परा में पत्नी-पुण्य साध्वी हैं। जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन है। इसलिए जैन दार्शनिक पहलुओं को तन्मयता के साथ छूती है। साथ ही अन्य धर्म और दर्शनों के प्रति वे उदार दृष्टिकोण के साथ चिन्तन करती हैं। उनमें सम्प्रदाय-विशेष का आग्रह नहीं, किन्तु सत्य का आग्रह मुख्य रूप से रहा हुआ है। उन्होंने बड़ी तन्मयता और सूक्ष्मता के साथ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद, ध्यान और योग आदि विविध विषयों पर गहराई से प्रकाश डाला है।

“पुष्प-पराग” शीर्षक से उनका एक शानदार प्रवचन संकलन प्रकाशित हुआ है। उस संकलन को पढ़ने से सहज ही महासतीजी की बहुश्रुतता और सूक्ष्म प्रतिभा का सहज संदर्शन होता है। उनकी विमल वाणी में सरिता की सरस धारा की तरह प्रवाह है। न उसमें कृत्रिमता है, न धुमाव है और न शब्दों का आडम्बर ही है। जो है, वह सहज है।

**अहिंसा**—अहिंसा पर उन्होंने प्रवचन करते हुए कहा है—‘अहिंसा की दो धाराएँ हैं। एक बाह्य अहिंसा और दूसरी आन्तरिक अहिंसा। अहिंसा का अन्तरंग रूप न हो तो अहिंसा की गति-प्रगति ठीक दिशा में हो रही है या नहीं? इसका पता नहीं चल सकता। कषायों या राग-द्वेषादि के परिणाम जितने कम होते हैं, उतनी-उतनी अहिंसा सीधी दिशा में गति-प्रगति कर रही है, यह समझना चाहिए। क्योंकि कषायों या राग-द्वेष आदि विकारों में जितनी न्यूनता होगी, उतनी ही अधिक तीव्र गति वाह्य अहिंसा में होती जायेगी। अगर कषायों या राग-द्वेषादि में न्यूनता नहीं होगी तो चाहे बाह्य अहिंसा की रफ्तार तेज हो जाए, वह गलत दिशा में समझी जायेगी।’

**सेवाव्रत**—भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने सेवा के संबन्ध में बहुत गहराई से चिन्तन किया है। और कहा है—‘सेवा-धर्म बहुत ही गहन है। बड़े-बड़े योगीगण भी उस पथ पर चलते समय कतराने लगते हैं। सेवा मानव का महत्त्वपूर्ण गुण है। उस गुण पर चिन्तन करती हुई महासतीजी ने कहा है। ‘आत्मा के सर्वांगीण गुणों के विकास के लिए सेवा अनिवार्य साधना है, क्योंकि आत्मौपम्य की भावना, दूसरे के प्रति सद्भाव, दूसरे के व्यक्तित्व का आदर, समस्याओं की सुलझाने में दूसरे के प्रति स्नेह, सहयोग और समर्पण ये सब सेवा के रूप हैं। जैसे अपने से पिछड़े, पीड़ित, दुःखी, रुग्ण एवं आर्त व्यक्तियों के दुःख को अपना दुःख समझकर उसे मिटाने के लिए प्रयत्न करना सेवा है, वैसे ही अपने से गुणों में श्रेष्ठ एवं पूज्य व्यक्तियों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की उन्नति में सहयोग देना, उनके आदर्शों को यत्किञ्चिद्रूप में भी अपने जीवन में उतारना और उनके प्रचार-प्रसार में सहयोग देना भी सेवा है। ज्ञानवृद्धि, सामूहिक उत्कर्ष, दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन जैसे शुभ कार्यों में संलग्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं का पोषण करना भी श्रेष्ठ सेवा है। इसमें सहयोग देना सेवा-धर्म का उचित मार्ग है।’





**क्षमा**—क्षमा एक महत्त्वपूर्ण गुण है जो समर्थ व्यक्ति होता है, वही क्षमा के पवित्र-पथ पर बढ़ सकता है। क्षमा गुण पर चिन्तन करते हुए महासती पुष्पवतीजी ने लिखा है—“यदि कोई मनुष्य क्रोध से ही क्रोध को वश में करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। बैर से बैर नहीं जीता जा सकता। शेर को मच्छर काटे और वह यह सोचे कि मैं इन मच्छरों को मार डालूँ तो उसके लिए ऐसा करना असम्भव-सा है। वह थक जायेगा, पर मच्छरों का सफाया नहीं कर सकेगा। इसी तरह क्रोध से क्रोध जीता नहीं जा सकता। क्रोधी को कोई चाहे जितने उपदेश दे, उससे वह सुधरता नहीं है, वह तो क्षमा से ही, सहनशीलता से ही सुधर सकता है।....

क्षमा का शब्दोच्चार ही क्षमा नहीं है; अपितु दूसरों की दुर्बलताओं व अल्पताओं को स्नेह की महान धारा में विलीन करने की क्षमता को ही क्षमा कहते हैं। इसलिए जैन धर्म के महात् पर्व संवत्सरी पर क्षमा देना और क्षमा माँगने की पवित्र परम्परा है।”

**सत्य**—सत्य संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। संसार में जितने भी बल है, उन सबमें सत्य का बल सबसे बड़ा बल है। सत्य पर चिन्तन करती हुई महासतीजी ने कहा—“सत्य का व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से अर्थ होता है—

‘कालत्रये तिष्ठतीति सत् तस्यभावः सत्यम्’

अर्थात् जो तीनों काल में विद्यमान रहे, एक रूप रहे, वह सत् कहलाता है, उसका भाव है—सत्य। सत्य यानी होना। सत् से सत्य बना है, जिसका अर्थ है—‘है पन’। जैसे नमक की डली और नमक दोनों अलग-अलग नहीं हैं, एक ही हैं, वैसे ही सत् और सत्य दोनों एक ही हैं। सत् वस्तु सत्य से व्याप्त है, सत् में सत्य ओतप्रोत है। सत् और सत्य दोनों में भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। सत् का अर्थ है—विद्यमान, नित्य, स्थायी। वह जिस विद्यमानता—है पन से पूर्ण व्याप्त है, वही सत्य है।

जो स्वयं तीनों काल में रहे, जिसके अस्तित्व के लिए दूसरे की अपेक्षा न रहे, उसका नाम सत्य है। सत्य स्वयं विद्यमान रहता है, उसके ही आधार पर अन्य सारी चीजों का अस्तित्व निर्भर है। सत्य के लिए किसी दूसरे के आधार की जरूरत नहीं है।”

**अचौर्य व्रत**—परम विदुषी महासतीजी किसी भी विषय पर प्रवचन करती हैं तो उस विषय के तलछट तक पहुँचती हैं। आगम, दर्शन और विविध चिन्तकों ने उस विषय में क्या-क्या बातें कहीं हैं, उस पर प्रकाश डालती हैं। और विषय का विश्लेषण इस प्रकार करती है कि विषय सहज समझ में आ जाता है। देखिए अचौर्य व्रत पर चिन्तन करते हुए इस प्रकार प्रकाश डाला है—“बिना दी हुई अथवा वस्तु के स्वामी की आज्ञा अथवा अनुमति लिए बिना किसी वस्तु को ले लेना, अपने पास रख लेना, अपने अधिकार में कर लेना अथवा उस वस्तु का उपयोग-उपभोग कर लेना चोरी है।

चोरी का यह लक्षण परिवार, समाज, देश, प्रान्त, राष्ट्र सर्वत्र व्यापक है। परिवार में यद्यपि सभी का समान अधिकार माना जाता है, सभी पारिवारिक संपत्ति के स्वामी माने जाते हैं, पिता की संपत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है, फिर भी यदि पुत्र बिना पिता की अनुमति के चुपचाप ही उसके पर्स से रुपये निकाल ले जाता है, अथवा माता की पेट्टी से कोई आभूषण निकाल ले जाता है तो पुत्र का वह कर्म चौर्य कर्म कहलाता है और उसकी उसे ताड़ना-तर्जना दी जाती है।”



ब्रह्म-साधना—इसी प्रकार महासतीजी ने ब्रह्मचर्य व्रत पर प्रकाश डालते हुए कहा—चर्य का अर्थ होता है—विचरण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ—आत्मा में रमण करना, आत्मा की सेवा में विचरण करना अथवा परमात्मभाव में रमण करना, परमात्मा की सेवा में विचरण करना। तीसरा अर्थ होता है—महान् या बृहत् में विचरण या रमण करना।

जब साधक जीवन के क्षुद्र क्षेत्र में विचरण करता है, तब प्रत्येक स्थिति में अपने आपको क्षुद्र एवं दीन-हीन मानने लगता है। ऐसी स्थिति में उसका गमन या उसका विचरण विराट् (परमात्मा या बृहत् ध्येय) की ओर कैसे हो सकता है? किन्तु जब साधक किसी न किसी विराट् ध्येय में या परमात्मा में विचरण करने लगेगा तब स्वतः ही उसके मन, वचन, तन इन्द्रिय आदि में क्षुद्र विचार, वासना के विचार या विकार नहीं आएँगे। क्योंकि इन्द्रिय-विषयों की लालसा के विचार ही उसे क्षुद्रता की ओर ले जाते हैं; मन के काम, क्रोध, लोभ-मोह आदि विकार ही उसे हीनता की ओर खींच ले जाते हैं। जब वह इनकी ओर ध्यान न देकर अपने व्यापक विशाल ध्येय या परमात्मा, आत्मा आदि की ओर ही ध्यान देगा तब स्वतः ही वे विकार या दुर्विचार शान्त हो जाएँगे। अतः क्षुद्र एवं हीन सीमा को लांघकर पवित्र एवं महान् जीवन की विराटता की ओर बढ़ना, उसमें रमण करना ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है।

इसी प्रकार जहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ—परमात्मभाव या शुद्ध आत्मभाव की ओर चर्या करना, गति करना या चलना होता है, वहाँ भी साधक जब परमात्मभाव या शुद्धात्मभाव की ओर अग्रसर होता है या उसके लिए साधना करता है, वहाँ उसकी साधना करते समय क्षुद्र विकारों या विषय-वासनाओं को दमन करना आवश्यक हो जाता है। तभी ब्रह्मचर्य साधक के जीवन में परमात्मभाव की ज्योति प्रदीप्त कर देता है।”

आज अशान्ति के काले कजराले बादल चारों ओर मंडरा रहे हैं। उस अशान्ति का मूल कारण है—परिग्रह। परिग्रह पर चिन्तन करते हुए उन्होंने अपने प्रवचन में कहा है—“मनुष्य के जीवन में अपरिग्रह वृत्ति को आग लगाने वाली तीन आसुरी वृत्तियाँ—एषणाएं आसुरी रूप बना कर आती हैं। वे हैं—वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा। ये असन्तोष के तीन रूप हैं। इन्हीं से परिग्रह अधिकाधिक भड़कता जाता है। इन तीनों को एषणा इसलिए कहते हैं कि ये तीनों क्रमशः धन, वासना और अहंता की तृष्णा अधिकाधिक एवं अमर्यादित रूप से भड़का देती हैं।

इस प्रकार वे अपने प्रवचनों में विषय का प्रतिपादन इतना शानदार प्रस्तुत करती हैं कि श्रोता-गण तन्मय हो जाते हैं। उनके प्रवचनों में उनकी बहुश्रुतता का स्पष्ट निदर्शन होता है। आपके प्रवचन जीवन को पावन प्रेरणा प्रदान करते हैं।

## उपन्यास साहित्य

प्रवचन साहित्य के अतिरिक्त आपने जीवनोपयोगी, प्रेरणाप्रद कथा विधा में साहित्य का भी लेखन किया है। कथा विधा में आपने कई उपन्यास लिखे हैं। उनमें से दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। “सती का शाप” और “किनारे-किनारे”।

(?) सती का शाप—

इस उपन्यास में महासती पुष्पवतीजी ने भारत की उस नारी का चित्रण किया है जिसके जीवन के कण-कण में शौर्य है। वह एक ऐसी ज्वाला है, जो उसकी ओर कुदृष्टि से देखने वाले को भस्म कर देती



है। त्याग और बलिदान की जीवन्त प्रतिमा, जसमा गरीब, मजदूर कुल में जन्मी थी। पर उसका रूप-सौन्दर्य महारानी से भी अधिक चित्ताकर्षक था। गुर्जरेश्वर जयसिंह सिद्धराज अपनी गरिमा को भूलकर उसकी रूप राशि पर दीवाना बन गया और सब प्रयासों में हारने के बाद उसके सतीत्व पर आक्रामक रूप धारण करने लगता है। सत्य-शील की रक्षा के लिए प्राणों को न्यौछावर कर देने वाली वीर नारी 'जसमा' सिद्धराज को ललकारती है, उसके ऐश्वर्य को दुत्कारती है और शील-रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग करते-करते एक श्राप दे जाती है।

प्रस्तुत कथानक को उपन्यास के रूप में रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है। आज सभ्य और सुशिक्षित कहलाने वाली नारी चन्द चाँदी के टुकड़ों के लिए अपनी इज्जत बेचने को तैयार हो जाती है। तुच्छ नाम व धन के लिए तन का सौदा करते हुए भी नहीं हिचकती। उसके समक्ष जसमा जैसी मजदूरी करके पेट पालने वाली गरीब नारी का यह उदाहरण कितना प्रेरक और साहस जगाने वाला है। जिसने गुर्जरेश्वर सिद्धराज के अपार वैभव को भी ठुकरा दिया और जान देकर के भी अपने शील की रक्षा की। आधुनिक नारियों को इस पावन प्रसंग से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

### (२) किनारे-किनारे

दूसरा उपन्यास है—“किनारे-किनारे” उसमें उनका उपन्यासकार रूप बहुत ही निखर कर आया है। आज के युग में दहेज का दानव सभी को निगलने के लिए मुंह बाए खड़ा है। अमीर भी उससे परेशान है और गरीब भी। मध्यम वर्ग की स्थिति तो अत्यन्त दयनीय है। वह इस दानव से इतना त्रस्त है कि उसको न रात में चैन पड़ता है और न दिन में ही। सारे घर की सम्पत्ति को होम करके भी वह जीवन भर रोता रहता है। प्रस्तुत उपन्यास में महासतीजी ने एक सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है यदि धनवान अपनी प्यारी पुत्री का विवाह यदि मुशील, गरीब लड़के से करता है तो और उसे प्रीतिदान के रूप में सहयोग देता है तो दोनों ही घर आबाद हो जाते हैं। दहेज जब प्रीतिदान के रूप में रहता है तब तक वह जन मानस में भार रूप नहीं होता। जब प्रतिदान के रूप में न रहकर दहेज का रूप ग्रहण करता है—तब वह दानव बन जाता है। प्रस्तुत उपन्यास दहेज की सामयिक समस्या पर आधृत है।

### (३) कंचन और कसौटी

महासती पुष्पवतीजी की प्रवाहमयी लेखनी इसमें नदी की धारा की भांति बही है। कहीं हास्य रस, कहीं वीर रस, कहीं अद्भुत और कहीं शान्त रस—इस प्रकार रसों के उतार-चढ़ाव तथा बहुरंगी छटा के कारण उपन्यास काफ़ी रोचक तथा वैविध्यपूर्ण हो गया है। वीर एवं अद्भुत रस तो पद-पद पर दर्शक को उर्मगित करता है और अन्त में शान्तरस के परिपाक में वह पूर्णता प्राप्त करता है।

प्राचीन प्राकृत काव्य—मलयमुन्दरी कथा के आधार पर इसकी कथावस्तु टिकी है। इसके प्रमुख नायक है—राजकुमार महाबल तथा राजकुमारी मलया। इस अद्भुत कथा में विचित्र सुरम्य कल्पनाओं की माला इस प्रकार गूँथी है कि पाठक उनकी मनभावन छटा को देखता हुआ 'परीकथा' जैसी मनोरमता अनुभवता है। आश्चर्यचकित करने वाली अनेक घटनाएँ और अनेक दिव्य वस्तुएँ—सचमुच में मन को गुदगुदा देती हैं। राजकुमार महाबल का प्रादुर्भाव ही आश्चर्यजनक ढंग से होता है। फिर आकस्मिक रूप से मलयासुन्दरी के साथ मिलन, फिर वियोग और फिर मिलन। बीच-बीच में अनेक साहस शौर्यपूर्ण अद्भुत करतब कहीं मलया की वियोग जनित कष्ट पीड़ा, कहीं परोपकार के लिए जान हथेली पर लेकर राक्षसों व कापालिकों से युद्ध व संघर्ष और कहीं जोखिम उठाकर भाग्य-परीक्षा के लिए चल पड़ना—इस



प्रकार को विचित्र-विचित्र घटनावलियों से गुम्फित यह 'कंचन और कसौटी' वास्तव में ही धीर-साहसी पुरुष के पराक्रम, पुरुषार्थ और भाग्य की कसौटी ही है।

इस घटनावस्तु का तात्त्विक पक्ष है—पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कृत्य। जैन धर्म का कर्म-सिद्धान्त। घटनाओं के मध्य सजीव-सा होता नजर आता है।

भाषा का प्रवाह, कथोपकथन शैली और उदात्त चरित्र चित्रण—इस उपन्यास को हिन्दी के श्रेष्ठ पौराणिक उपन्यासों की कगार में प्रस्तुत करते हैं।

महाबल-मलया के रूप में दो धीरोदत्त चरित्रनायकों के माध्यम से लेखिका ने प्राचीनतम भारत की योगविद्या के चमत्कारों को प्रत्यक्ष अनुभूति कराते हुए अतिमानवीय शक्तियों का मानवीय धरातल पर परोपकार, पर-कष्ट निवारण तथा अवला-संरक्षण, असहाय-सहायता, दुष्टजन सज्जन आदि विविध मानवतावादी पक्षों को उभारा है। इसके साथ लेखिका ने यह भी व्यक्त किया है कि सभी दैविक शक्तियाँ उसी की सहायता करती हैं जिसका स्वयं का आत्मबल अपराजित होता है तथा परोपकार, न्याय-रक्षा एवं अन्याय का प्रतिकार ही जिनका जीवन लक्ष्य होता है।

हिन्दी उपन्यासों की शृंखला में इसे हम एक वृहद् पौराणिक उपन्यास कह सकते हैं, जिसकी कथावस्तु पाप का दुष्फल तथा पुण्य का सुफल प्रकट करते हुए मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना के लिए सजग व सचेष्ट करती है।

उपन्यास अनी मुद्रणाधोन है, आशा है शीघ्र ही प्रकाश में आ जायेगा।

#### (४) फूल और भंवरा

यह भी एक अत्यन्त रसप्रद पौराणिक उपन्यास है, किन्तु इसमें कहीं भी दैविक शक्तियों के चमत्कार की कल्पना नहीं की गई है। अनेकानेक अद्भुत कृत्यों की सर्जना मानवीय बुद्धि से की गई है। एक चतुर नारी दिग्भ्रान्त पति को जो किसी अन्य स्त्री के चंगुल में फंसा है और उसी के मायाजाल के कारण अपनी पत्नी से न केवल विमुख है, किन्तु अतीव रूपवती होते हुए भी उसे कानी, काली और कुरूप मानता है, उसे अपनी कुलमर्यादा की रक्षा करते हुए अपने अद्भुत कौशल, चातुर्य और विलक्षण बुद्धि के द्वारा रास्ते पर लाती है।

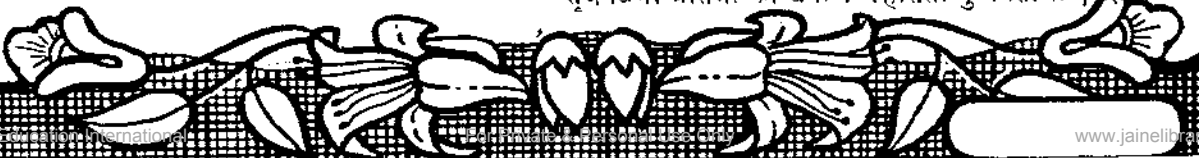
परित्यक्ता और अवमानिता नारी, पति द्वारा प्रताड़ित होकर भी अपना बौद्धिक सन्तुलन व मानसिक गरिमा नहीं खोती है। वह पुरुष को स्वार्थी, कामी और धोखेवाज बताकर गालियाँ नहीं देती है, किन्तु पुरुष की रुचि व प्रवृत्ति का गहरा सूत्र पकड़कर उसे उसी की दुर्बलता से पराजित कर जीतती है। नारी, कभी न हारी, इस उक्ति को चरितार्थ करती है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों व रुचियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाला यह उपन्यास यद्यपि पौराणिक कथानक पर आधारित है, किन्तु फिर भी आधुनिक नारी के लिए बहुत ही मार्गदर्शक व उसकी अस्मिता को बौद्धिक आधार देता है।

मदन नाम के श्रेष्ठीपुत्र व गुणसुन्दरी नाम की चतुर श्रेष्ठीकन्या के चरित्र पर टिका यह उपन्यास यह सूचित करता है—नारी एक फूल है, किन्तु उस फूल का स्वाद करने का अधिकार सिर्फ उसी भंवरे को है, जो फूल-फूल पर नहीं मंडराकर सिर्फ एक ही फूल के लिए समर्पित होता है।

कथानक का प्रवाह तथा रचना सौष्ठव मन को विभोर कर देता है।

सृजनधर्म प्रतिभा की धनी : महासती पुष्पवती जी | ३३



आपके अन्य भी अनेक उपन्यास लिखे हैं । पर वे प्रकाशित नहीं हो सके हैं । आपके उपन्यासों में सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें एक प्रेरणा है, जीवन-निर्माण करने की एक दिशा है । उपन्यासों में शांति और वीर रस की प्रधानता है । देश, काल और वातावरण का चित्रण भी सहज रूप से हुआ है । आपकी भाषा-शैली विषय के अनुरूप परिधान धारण करती है । भाषा, शैली में प्राञ्जलता, प्रवाहशीलता का सहज संगम है । आपने भाषागत शब्द शक्तियों-अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शैली का सम्यक् उपयोग किया है ।

### बोध कथाएँ

जहाँ आपने उपन्यास विधा में लिखा है वहाँ आपने लघु कथाएँ, बोध कथाएँ भी पर्याप्त मात्रा में लिखा है । बोध कथाओं में किसी भी विशिष्ट व्यक्तियों के वे प्रसंग उन्हीं दिए हैं जो अन्तर् को छूते हैं । हीर-कणी की तरह वे दिखने में छोटे पर प्रभावकता में पैने हैं । वे हृदय को अकझोर देते हैं । कुछ प्रसंग वहाँ पर दे रहे हैं जिससे कि प्रसूद्ध पाठकों को उनकी प्रेरणा और उद्बोधन का सहज सुबोध हो सके । एक नमूना देखिए—

#### मातृ भूमि तो कर्लक

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस आर्. सी. एस. की परीक्षा समुत्तीर्ण कर भारत आये । उन्हें नौकरी के लिये एक लिखित परीक्षा में सम्मिलित होना था । वे परीक्षा में सम्मिलित हुए । एक अंग्रेजी अंश का अनुवाद करना था, वह अंश यह था—Indian soldiers are generally dishonest.

अर्थात्—‘भारतीय सैनिक सामान्यतया धूर्तमान होते हैं ।’ इस अवतरण को पढ़ते ही उनकी मुकुटियाँ तन गई । उन्होंने निरीक्षक महोदय को कहा—“इस अंश को प्रश्न-पत्र में से निकाल दिया जाय ।”

निरीक्षक महोदय ने कहा—“यह प्रश्न अनिवार्य है, इसे हल करना होगा । यदि इसे हल नहीं किया तो इसके अंक प्राप्तांकों में से कट जायेंगे ।”

सुभाष बाबू ने स्पष्ट शब्दों में कहा—‘मुझे इस प्रकार की परीक्षा नहीं देनी है और उन्होंने उसी समय प्रश्न-पत्र फाड़ दिया और परीक्षा भवन से निकल गये । उनका स्पष्ट मन्तव्य था कि जिस कार्य से मातृ-भूमि को कर्लक लगे, वैसा कार्य नहीं करना है ।

आपने लघु कथाएँ, बोध कथाएँ आदि लिखकर साहित्य जगत में कथा रस को नया स्वरूप प्रदान किया है । आपकी कथाओं में न केवल धार्मिक व आध्यात्मिक ज्ञान है, किंतु नैतिक प्रेरणा, राष्ट्रीय भावना, देश प्रेम, न्यायमान, कर्तव्य पालन और परोपकार-मेवा की अंगड़ाईयाँ भरती हुई कथा कलिय मुस्करा रही है ।

## प्रेरणा का निर्भर : संस्मरण

शब्दांकन--साध्वी रत्नज्योति

संस्मरण शब्द की व्युत्पत्ति सम्-+स्मृ-+ल्युट (अण) से हुई है, जिसका अर्थ है सम्यक् स्मरण। सम्यक् शब्द का अर्थ है पूर्णरूपेण और स्मृ-ल्युट का आशय है सहज आत्मीयता तथा गम्भीरता में विद्यमान व्यक्ति, घटना, दृश्य, वस्तु आदि का स्मरण करना। वस्तुतः अनुभूति और स्मृति से सृजित उक्ति संस्मरण है।

संस्मरण की सत्रये बड़ी विवेचना है कि लेखक अपने समय के इतिहास को सूत रूप में बनाकर बहुधा संस्मरण-लेखक और संस्मर्य्य व्यक्ति दोनों महान होते हैं। जैसे जब दो समान कोटि के महाकवि अथवा कथा एवं साहित्य के महारथी संस्मरण लिखते हैं तो संस्मर्य्य व्यक्ति के जीवन के अनेक रहस्य पक्ष आलोकित हो उठते हैं। साथ ही संस्मरणलेखक की स्वयं की जीवनी-अंश भी प्रकाश आती है।

संस्मरण में यथार्थ का चित्रण भावना की गहनता लिए होता है। अतएव व्यक्ति में घटित घणित घटना अथवा व्यवहार की आकर्षक ढंग से प्रस्तुति उसका मुख्य ध्येय होता है। इसके साथ ही संस्मरण-सर्जक संस्मर्य्य के जीवन के महनीय तथ्य का साक्षात्कार करता है जो उसके परिवेश और को भी उजागर कर देता है। संस्मर्य्य के जीवन के जिस अंश को संस्मरण का दृश्य विषय बनाया गया है वह स्वयं प्रणेता के जीवनादर्श का सूचक-संकेत होता है। संस्मरण-सृजक संस्मरण में आत्मकथा निवन्धात्मक, पत्रात्मक आदि शैली का उपयोग करता है। जिसमें एक निजीपान और आत्मीयता का संस्पर्श दृष्टिगत होता है।

साध्वीरत्न सदगुरुणीजी श्रीपुष्पवतीजी के संस्मरण अतीत को सजीव करते हैं और अपने शरीर और पाठकों को जीवन के बहुविध पक्षों का साक्षात्कार कराते हैं अतएव इनमें स्वभावतया रोचकता रंजन क्षमता मुखर है। वस्तुतः साध्वीश्री के ये संस्मरण प्रेरणा के निर्भर हैं। आइए, आप भी इनके जीवन में आनन्द और प्रेरणा का संचार कीजिए।

(१) एक वार में विहार कर रही थी। यकायक मेरे पैर की नस में तनाव हो गया। मैं धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रही थी।

कुछ राहगीर मिले। मैंने उनसे पूछा—अमुक गाँव कितना दूर है ?

राहगीर बड़ी तेजी से बढ़े चले जा रहे थे। उन्होंने संक्षेप में कहा—बहुत ही निकट है।

मैंने उन राहगीरों से पूछा—बतलाइए वहाँ पर हमारे ठहरने की उपयुक्त जगह मिल जायेगी ?

राहगीर ने तेजी से आगे कदम बढ़ाते हुए कहा—वहाँ एक बड़िया स्कूल है। आप वहाँ ठहर

प्रेरणा के निर्भर : संस्मरण

कुछ दूर आगे बढ़ने पर आठ-दस लड़के बस्ता लेकर स्कूल की ओर जा रहे थे। मैंने उन बाल-गोपालों से पूछा—बताओ—तुम्हारा स्कूल यहाँ से कितना दूर है ?

लड़कों ने तपाक से पूछा—क्या आप स्कूल में पढ़ने जा रही हैं ?

उत्तर में मैंने कहा—पढ़ने के लिए नहीं, किन्तु ठहरने के लिए जा रही हूँ।

लड़कों ने मेरी ओर मुंह करके कहा—माताजी ! यदि आप पढ़ोगी नहीं, तो अनपढ़ रह जाओगी। आज का युग पढ़ने का है।

मैं बालकों की बात सुनकर सोचने लगी—आजाद भारत के ग्रामीण बालक भी पढ़ने का महत्त्व समझने लगे हैं। यह जागृति की निशानी है।

×

×

+

(२) मैं अपनी शिष्याओं के साथ एक गाँव में पहुँची। उस गाँव में एक भी जैन परिवार नहीं था। मैं जिस मकान में ठहरी थी। उसके सामने ही एक विशाल चबूतरा था। जहाँ पर सारे ग्रामवासी आकर बैठ करके थे। ग्रामवासियों ने जब हमें देखा तो परस्पर हमारी ही चर्चा करने लगे। एक वृद्ध सज्जन ने तम्बाकू पीते हुए कहा—देखो, ये जैन साध्वियाँ हैं जो किसी को भी कष्ट नहीं देतीं। मूर्ख लोगों ने इनके सम्बन्ध में कितनी भ्रान्त धारणाएँ बना रखी हैं ? पर देखो, ये कितनी सीधी और सरल हैं। मैं तो इनको वर्षों से जानता हूँ। ये हमारे घरों में से अपने नियमानुसार भिक्षा ग्रहण करती हैं। यदि हम इनके लिए बढ़िया भोजन बनाकर देते हैं तो भी यह ग्रहण नहीं करतीं। इनका जीवन बड़ा सन्तोषी है।

दूसरे वृद्ध ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फिराते हुए कहा—हमारे भी तो साधु आते रहते हैं। वे अपने आपको वैरागी कहते हैं। पर उनके आस-पास भी कहीं वैराग्य दिखलाई नहीं देता। उनके तो बाल-बच्चे और पूरा परिवार ही होता है। वे उदासी और सन्यासी कहला करके भी पूरे गृहस्थ की तरह होते हैं। पर यह देखो साध्वियाँ वैरागी भी हैं, त्यागी भी हैं और साथ ही परम विदुषी भी हैं। इन्हें रामायण, महाभारत, गीता और वेदों व पुराणों का भी अध्ययन है। इनके प्रवचनों ने तो हमारी आँखें खोल दीं। वस्तुतः जैन साधु और साध्वियों ने ही साधुत्व को जीवित रखा है।

×

×

×

(३) मैं एक बार बाड़मेर जिले में पहुँची। बाड़मेर जिले में जैनियों की भरपूर आवादी है। वहाँ के जैन परिवार समृद्ध भी हैं। साथ ही रुढ़िचुस्त भी हैं।

मैं मध्याह्न में बैठी हुई आवश्यकनिर्युक्ति की स्वाध्याय कर रही थी। एक बहन ने नमस्कार कर मुझे कहा—मेरे श्वसुरजी का देहान्त हो गया। मेरी सामु बहुत ही धर्मात्मा हैं। जब उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि गाँव में साधु या साध्वियाँ पधारी हैं तो वे उनके दर्शन किए बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करती। वे घर से बाहर नहीं निकलती हैं। अतः उन्होंने निवेदन करवाया है।

मैंने उस बहन से पूछा—तुम्हारे श्वसुरजी को दिवंगत हुए कितना समय हो गया ?

उस बहन ने कहा—दस वर्ष हो गए हैं। अभी दो वर्ष तक सामुजी घर में ही रहेंगे।

मैं साध्वियों के साथ उस बहन को दर्शन देने हेतु पहुँची। मैंने उस बहन से कहा—तुम्हारे पति का वियोग हो गया है। पर तुमने तो धर्म-श्रवण का भी वियोग कर लिया है। तुम्हारे जैसी समझदार बहन भी कुरीतियों की चंगुल में फंसी रहेगी तो फिर दूसरों से क्या अपेक्षा की जा सकेगी। तुम दस वर्षों से इस कुरीति का सम्पोषण कर रही हो। रात-दिन आर्त्तध्यान करती हो। फिर धर्मध्यान



कैसे होगा ? जिस कार्य से गुरु-दर्शन व धर्म-श्रवण से वंचित रहना पड़े, वह कुरीति है। तुम इसका त्याग करो। आज मुझे तुम्हारे से यही भिक्षा चाहिए।

उस राजस्थानी वीरगंगा ने मेरे वचन का स्वागत किया और दूसरे दिन वह प्रवचन-श्रवण के लिए पहुँच गई।

×

×

×

(४) मैं एक बार स्कूल में टहरी हुई थी। अध्यापकों के आग्रह पर मैंने प्रवचन दिया। प्रवचन के पश्चात् धार्मिक प्रश्नोत्तरों का कार्यक्रम रखा गया। विविध प्रकार के प्रश्न किए गए। एक अध्यापक ने अन्त में प्रश्न किया कि महासतीजी मैं खाँसी की व्याधि से संतप्त हूँ। आप कुछ उपाय बता दें तो मैं मदा-सदा के लिए इस रोग से मुक्त हो सकता हूँ।

मैंने अध्यापक महोदय से पूछा—आप सिगरेट, बीड़ी और तम्बाकू तो नहीं पीते हैं न ?

अध्यापक ने कहा—बीड़ी-सीगरेट तो खूब पीता हूँ। चौबीस घण्टे में कम से कम दो-तीन पकेट तो पी लेता हूँ।

मैंने कहा—तब तो आपको खाँसी अवश्य आएगी; आप चाहे कितनी भी दवाइयाँ खा लें कुछ भी फायदा नहीं होगा। तम्बाकू में एक नहीं पैतीस विष सम्मिलित हैं। और जब सिगरेट जलती है तो उसमें तीन सौ विष पैदा हो जाते हैं। तम्बाकू से कैंसर, दमा, हृदय रोग, मस्तिष्क रोग, क्षय, खाँसी आदि भयंकर रोग समुत्पन्न होते हैं। नाना विष-सामग्री में निकोटिन विष की मात्रा अधिक होती है। यह विष प्राणघातक है। एक पौण्ड तम्बाकू में तीन सौ अस्सी ग्रैन निकोटिन है। यह विष संख्या से भी अधिक तीव्र है। यदि एक बूद कुत्ते और बिल्ली को दी जाय तो वे दो-तीन मिनट में ही छटपटा कर प्राणों को त्याग देगे।

अध्यापक महोदय ने कहा—महासतीजी ! सिगरेट छोड़ने की चीज थोड़े ही है। वह तो आज के युग की सभ्यता है। जो लोग सभ्य हैं, वे ही सिगरेट का उपयोग करते हैं।

मैंने कहा—आप नहीं छोड़ेंगे तो एक दिन सिगरेट आपको छोड़ देगी।

यह बात सुनते ही अध्यापक महोदय ने खड़े होकर प्रतिज्ञा ग्रहण की कि अब मैं कभी भी सिगरेट नहीं पीऊँगा।

दूसरे अध्यापक ने कहा—महासतीजी ! आपने हमारे स्नेही साथी को सिगरेट छोड़वा दी। पर हमारे गाँव में एक बहुत बड़ा मन्दिर है। एक बहुत बड़े महन्तजी रहते हैं। उनकी बहुत बड़ी जागीरी है। वहाँ पर हमेशा भाँग, अफीम और तम्बाकू का दौर चलता रहता है। महन्तजी निरन्तर तम्बाकू पीते हैं।

मैंने अध्यापक महोदय से कहा—यह खेद की बात है। आज धर्म-स्थान भी व्यसनों के अड्डे बन गए हैं। बताइए, यदि आरोग्य केन्द्र रोग केन्द्र बन जाय तो उपचार कहाँ होगा ? सर्वप्रथम आवश्यकता है कि धार्मिकों को व्यसन से मुक्त होना चाहिए। धर्मस्थान व्यसनमुक्त रहें। इसी में उनका गौरव सुरक्षित है।

×

×

×

(५) मैं एक बार भिक्षा के लिए जा रही थी। मैंने देखा एक वर राजा बहुत ही धीमी गति से

प्रेरणा के निरंतर : संस्मरण १२१३





चल रहा था। मानो घड़ी की सुई चल रही हो। वह वर न उधर देवता था और न उधर देवता था वह तो नीची दृष्टि किये हुए अपने लक्ष्य को ओर बढ़ रहा था।

मैं यह देखकर चिन्तन करने लगी। यह वर बधू को प्राप्त करने के लिए कितना सावधान और एकाग्र बना हुआ है। वर यात्रा आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। हँसी-मजाक कर रहे हैं। वर व राजा न बोल रहा है और न हँसी-मजाक ही कर रहा है। क्योंकि इसे बधू चाहिए।

शिवबधू प्राप्त करने के लिए भी साधक को इससे अधिक एकाग्र बनने की आवश्यकता है। म वचन और काया के योग का निरुन्धन करने वाला व्यक्ति ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

× × ×

(६) मैं एक गांव में ठाकुर साहब के महल में ठहरी हुई थी। ठाकुरानो ने जब प्रवचन मुना बहुत ही प्रभावित हुई। ठाकुर साहब भी हमारे पास आकर बैठ गये। उन्होंने वार्तालाप के प्रसंग कहा—महासतीजी! आपके अनुयायी जैनी लोग बहुत पैसे वाले होते जा रहे हैं। मैंने जयपुर में है—जैनी सेठों के वैभव को, राजा-महाराजाओं के वैभव से भी अधिक वैभव उनके पास है। एक ह्वारे पास भी वैभव का अम्बार लगा हुआ था। पर आज तो हमारी आर्थिक स्थिति दयनीय गई है। मेरी ही नहीं सभी ठाकुर और राजा-महाराजाओं की यही स्थिति है। इसका कारण है ?

मैंने कहा—क्षत्रिय जाति पौरुष की जीती-जागती प्रतीक रही है। जितने भी महापुरुष हैं, चाहे वे तीर्थकर हों, चाहे अवतारी महापुरुष हुए हों वे सभी क्षत्रिय ही थे। क्षत्रिय जाति दिन सदगुणों की उपासिका थी जिससे उसका विकास हुआ। पर जब क्षत्रिय जाति मांस, म शिकार और विलास के दल-दल में फंस गई तब से उसका पतन प्रारम्भ हुआ। जब तक क्षत्रिय व्यसनों में मुक्त नहीं होगी। तब तक उसका विकास संभव नहीं है। जैनी लोग सदा से व्यसनों से रहे हैं। इसीलिए उनका विकास हुआ है। जैनियों ने अपनी सम्पत्ति समाज, राष्ट्र और धर्म के लिए समर्पित की है।

ठाकुर साहब को समाधान मिल गया। उन्होंने उस समय व्यसनों का परिन्याग कर दिया।

× × ×

(७) एक बहन मेरे पास पहुँची। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। मैंने उस बहन से आप उदास क्यों हैं ?

उस बहन ने आँखों से आंसू बहाते हुए कहा कि अशुक बहन आपकी निन्दा कर रहे हैं। मैंने उसने कहा—चलो, महासतीजी के पास हम बात का निर्णय कर लेंगी। पर वह यहाँ आने तैयार नहीं हुई। वह अपनी आदत से लाचार है और निन्दा करती है।

मैंने मुस्कराते हुए कहा—यह तो अच्छी बात है, वह निन्दा कर मेरे कर्मों को निर्ज करेगी। साधना में प्रतिफल-प्रतिश्रण मुझे आगे बढ़ने को प्रेरित करेगी। निन्दा कर्म हमारा हित रहा है। दर्पण की भाँति वह हमारे दुर्गुणों के धब्बे को धोता है। एतदर्थ ही गन्त कबीर ने कर्त निन्दक ही सदा सन्निकट रखी। जिससे वह विना पानी और साधुन के भी मेल को सा रहे।

## चिन्तन के सूत्र : जीवन की गहन अनुभूति

संकलन : दिनेशमुनि

आज का जन-जीवन चाहे वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का जीवन हो उसमें कृंठा, गुच्छा, निष्क्रियता के मेघ आच्छादित हो गए हैं। चिन्ताओं के बोझ से वह धोखिल हो गया है। उमकी तेजस्विता प्रायः क्षीण हो चली है। जीवन की कुंठा और तनाव के घने घेरे में वचने के लिए चिन्तक का सुदृढ़ प्रहरी होना आवश्यक है।

युग की सूच्छा मिटाने के लिए चिन्तन का अभूत स्पर्श आज सर्वथा अपेक्षित है। चिन्तन उगे-जगे बिना चिन्ता का परिहार नहीं होता। चिन्ता के परिहार बिना जीवन में स्फूर्ति और तेजस्विता का समागम सम्भव नहीं। सक्रिय और तेजस्वी जीवन ही वस्तुतः सार्थक जीवन है। चिन्तन की इस हिम-धवल-रजत ज्योत्स्ना की छाया में ही व्यक्तिव का गतदल कमल पुष्पित-पुलकित होता है।

साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी के चिन्तन सूत्र जीवन की गहन अनुभूतियों से जन्मे हैं। अनुभव के ज्योतिर्मय प्रदीप हैं। इन सूत्रों में जीवन-दर्शन की सहज छाप डालने में आप सिद्धहस्त हैं। वस्तुतः साध्वीश्री समकालीन मानस-मथन की चित्रकार और प्रस्तुतकर्त्री हैं। आपश्री के चिन्तन सूत्र कुछ निश्चित आस्थाओं के दर्द-गर्द धूमते हैं तथापि उनमें रागमयता का स्पर्श नहीं है। सूत्र चिन्तन और सूक्ष्म विवेचन की अपनी विशिष्ट शैली में साध्वीश्री की प्रत्येक रचना अपने सीमित परिसर में अन्तर्ग्रथित और सम्पूर्ण है। भाषा स्वच्छ किन्तु संकेतपूर्ण है। आज के त्रास-संक्रास भरे जीवन के लिए साध्वीश्री के ये चिन्तन सूत्र निश्चय ही अमोघ दिव्य संजीवनी का काम करेंगे। आइए, हम सभी इस चिन्तन की चाँदनी में आलोकित होंगे।

□ प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को बृहस्पति का अवतार मानता है। वह अपने को बुद्धिमान और दूसरे को बुद्धू समझता है फिर चाहे भले ही वह स्वयं बुद्धू क्यों न हो? बुद्धिमान जिसे बुद्धू कहते हैं। पर विडम्बना यह है कि बुद्धू भी बुद्धिमान को बुद्धू मानता है।

□ कितने ही व्यक्ति निराशा के स्वर में बहते हैं हम कार्य तो करना चाहते हैं पर सहयोग नहीं मिलता। मैं सोचती हूँ पहले योग होना चाहिए।

उमारा मन-वचन और काया का योग सबल है दूसरों का सहयोग सहज ही मिल जायेगा। योग साथ ही तो सहयोग व सुयोग रहा हुआ है।

□ बहिष्कार और परिष्कार ये दो शब्द हैं पहले परिष्कार है और फिर बहिष्कार। दुःख व्यक्ति को पहले परिष्कार करने का अवसर दे यदि वह परिष्कृत होने को स्थिति में हो तो उस बहिष्कार न करो। जब परिष्कार की संभाव

चिन्तन के सूत्र : जीवन की गहन अनुभूति | २

समाप्त हो जाती है तभी बहिष्कार की स्थिति आती है। जो रोग दवा आदि उपचार से ठीक हो सकते हों उनके लिए शल्य चिकित्सा (ऑपरेशन) की आवश्यकता नहीं।

☞ खेत में फूल भी आते हैं तो शूल भी। सागर रत्नाकर भी है और लवणाकर भी। पृथ्वी के गर्भ में बहुमूल्य स्वर्ण भी है तो कोयला भी। अनन्त आकाश में चमचमाते हुए नक्षत्र भी हैं तो काले कजरारे वादल भी हैं। संसार में सन्त भी हैं तो दुर्जनों की भी कमी नहीं है। अब लेने वाले ग्राहक पर अवलम्बित है कि वह किसे ग्रहण करना पसन्द करता है।

☞ ज्ञानी का सामान्य कथन भी विशिष्ट अर्थ को लिए हुए होता है जैसे चित्रकार के द्वारा खींची गई टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में भी किसी चित्र की आकृति-कल्पना छिपी रहती है।

☞ चिन्तन के क्षणों में मैं बैठी-बैठी सोच रही थी कि नाक और कान हर समय खुले रहते हैं। उनको बन्द करने की व्यवस्था नहीं है। पर आँख और जीभ के लिए कुदरत ने एक विशिष्ट व्यवस्था की है—जब आवश्यकता हो तभी खुला रखो, शेष समय उसे बन्द कर दो। पर आज का मानव जिसे कुदरत ने बन्द रखना पसन्द किया है उन्हें खुला रखना पसन्द करता है।

☞ लोग आकृति को नहीं प्रकृति को देखते हैं। जलेबी टेढ़ी-मेढ़ी होती है किन्तु मधुर रस के कारण वह सभी को प्रिय हो जाती है। वैसे ही प्रकृति/स्वभाव की सरसता से ही मानव सर्व-प्रिय बन सकता है।

☞ हमने एक स्थान पर देखा—एक ऐसा नकान जिसमें एक बार नहीं सात बार प्रतिध्वनि सुनाई देती थी। जिस प्रकार की आवाज होती उसी प्रकार की प्रतिध्वनि पुनः कानों में आती।

मैं सोचने लगी—ध्वनि की प्रतिध्वनि होती वैसे ही जैसा हमहूँ व्यवहार करते हैं वैसे ही

प्रतिव्यवहार हमें मिलता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह सभी के साथ सद-व्यवहार करे।

☞ चिन्तनशील व्यक्ति का मस्तिष्क निनाण किए हुए खेत के सदृश होता है। जिसमें किंचित् मात्र भी कृड़ा-कचरा नहीं होता। पर जिन व्यक्तियों में चिन्तन का अभाव है उनका मस्तिष्क बिना जोते हुए उस खेत की तरह होता है जिसमें स्वतः उत्पन्न हुआ घास-फूस होता है, जिसका कोई उपयोग नहीं होता। अविचारी का मस्तिष्क निरर्थक विचारों से भरा हुआ होता है।

☞ किसी भी महान कार्य को प्रारम्भ करने में अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। जब कार्य प्रारम्भ हो जाता है तो उसे चलाने के लिए फिर उतना श्रम नहीं करना पड़ता जैसे इंजन को प्रारम्भ करते समय ज्यादा ईंधन की आवश्यकता होती है और जब इंजन प्रारम्भ हो जाता है तो ईंधन की खपत भी कम होती है।

☞ जितना चिन्तन गहराई को लिये हुए होगा उतनी ही अध्ययन में परिपक्वता आयेगी। और जितना अधिक मनन होगा उतना ही अधिक चिन्तन में निखार आयेगा। भोजन के पाचन के बिना रस नहीं बनता और बिना रस के शरीर में शक्ति का संचार नहीं होता।

☞ चिन्तन के क्षणों में, मैं बैठी-बैठी सोच रही थी कि मानव ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अपूर्व प्रगति की है और पशु जहाँ के तहाँ हैं। इसका कारण क्या है? प्रजा ने समाधान किया कि मानव को अपने पूर्वजों से अनुभव का अमृत निधि के रूप में सदा मिलता रहा है और उस निधि को वह और बढ़ाता रहा है पर पशु-जात को अपने पूर्वजों से विरासत में विचारों की निधि प्राप्त नहीं हुई और न स्वयं उसमें चिन्तन शक्ति है जिससे वह पिछड़ा ही रह गया।

☞ सड़क कीचड़ से लथपथ थी। पथिक ने सोचा इस कीचड़ में तो शक्ति का अभाव है, मैं इसे



पैरों से रौंदकर आगे बढ़ जाऊँ । पर ज्यों ही उसने कीचड़ में पैर रखा, कीचड़ ने छपाक से कहा—तू मेरा अपमान कर रहा है पर गरीब का अपमान करना उचित नहीं । उसने उछलकर पथिक के चमचमाते हुए वस्त्रों को मलिन बना दिया ।

मैं सोचने लगी—दलित और पतित समझा जाने वाला कीचड़ भी जब अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, जो जड़ है । तो इन्सान यदि अन्याय का प्रतिकार करे तो आश्चर्य क्या ?

□ जिनमें चिन्तन का अभाव है, वे दूसरों से बहुत जल्दी प्रभावित हो जाते हैं । जरा से पानी की बूँदें गिरते ही सीमेन्ट की फर्श शीघ्र गीली हो जाती है पर ज्यों ही हवा चली नहीं कि सूख भी जल्दी ही जाती है ।

□ बिना गुणों के व्यक्ति की कद्र नहीं होती । गुलाब का पौधा अपने सुगन्धित पुष्प के कारण जन-जन का आकर्षण केन्द्र है । आम का वृक्ष अपने मधुर फलों के कारण जनता जनार्दन का आदर पाता है । नागरवेल अपने पत्ते के कारण ही लोक-प्रिय है तो चन्दन का वृक्ष अपने काष्ठ के कारण ही जन-जन को प्रिय है । वैसे ही मानव की कद्र न रूप के कारण है और न शारीरिक सौष्ठव के कारण बल्कि उसकी कद्र होती है सद्गुणों के कारण । श्रीकृष्ण रंग से काले थे, अष्टावक्र आठ स्थानों से टेढ़े थे, चाणक्य अत्यन्त कुरूप थे और महात्मा गांधी कुशकाय थे । वे सत्य और अहिंसा आदि गुणों के कारण ही आदरणीय बने ।

□ स्वतन्त्रता विकास के लिए आवश्यक है । स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता न बन जाय इसके लिए उस पर नियन्त्रण भी आवश्यक है । शरीर में हाथ-पैर, आँख-नाक ये सभी अंग स्वतन्त्र हैं तथापि मस्तिष्क का उन पर नियन्त्रण है । यदि मस्तिष्क का नियन्त्रण न रहे तो व्यक्ति पागल की तरह कार्य करने लगेगा ।

□ निम्न प्रकृति का व्यक्ति यदि उच्च स्थान पर भी पहुँच जाय फिर भी प्रकृति की विकृति के कारण वह अवनति की ओर ही कदम बढ़ायेगा । कल, नल और बल के कारण पानी ऊँचे स्थान पर पहुँचने पर भी उसकी गति अधोगामी ही रहती है ।

□ दिल को धुद्र नहीं विराट बनाओ, घड़ा नहीं दरिया बनाओ । घड़े का पानी ठण्डा भी होता है गरम भी होता है । जरा-सा रंग घड़े के पानी के रंग को परिवर्तित कर देता है किन्तु दरिया के पानी को प्रभावित करने की शक्ति किसी में भी नहीं । सर्दी, तूफान आदि का भी उसके पानी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । विराट व्यक्तित्व के धनी का मानस किसी बाह्य प्रभाव से प्रभावित नहीं होता ।

□ डोर से सम्बन्धित पतंग अपना विकास करती है । उसे कोई खतरा नहीं होता । वह चाहे ऊँची-नीची-तिरछी किधर भी जाये, आकाश उसे शरण देता है, पवन उसे दुलराती है और पतंग निश्चित, निर्द्वन्द, ठुमक-ठुमक कर नीले अनन्ताकाश में अठखेलियाँ करती रहती है । पर डोर से पतंग का सम्बन्ध विच्छेद हुआ नहीं कि वो सारी अनुकूलताएँ जो गगन ने, पवन ने, पतंग को दी थीं, विलुप्त हो जाती हैं प्रतिकूलताएँ बन जाती हैं और पतंग डगमगाती-डोलती न जाने किस अज्ञात कोने में जा गिरती है ।

सत्य है, जो स्वावलम्बी नहीं होते, दूसरों के अवलम्बन सम्बल पर, आधार पर पैर पर फैलाते हैं; वे इसी प्रकार अवनति को प्राप्त करते हैं ।

□ एक साधक को पुस्तक पढ़कर ज्ञान प्राप्त होता है तो दूसरे को गुरु के अनुग्रह से ज्ञान प्राप्त होता है । दोनों में वैसा ही अन्तर है जैसे एक व्यक्ति वर्तन में निकला हुआ दूध पीता है और दूसरा व्यक्ति सीधा ही गौ-स्तन से दुग्धपान करता है । जो सीधा ही गौ-स्तनों से मुख लगा दूध पीता है । उसे अधिक लाभ होता है जबकि पात्र में निकला हुआ



दूध बाहर की हवा लगने के कारण इतना लाभ नहीं करता ।

पुस्तकों से ज्ञान तो प्राप्त हो सकता है किन्तु उसके साथ गुरु का अनुग्रह उसे प्राप्त नहीं होता जो ज्ञान के विकास में बहुत ही सहायक है ।

□ माँ की मार में उसके हृदय का अपार प्यार छिपा रहता है । गुरु की डाँट में हृदय का अनन्त वात्सल्य सन्निहित रहता है । कुम्भकार की मार में बर्तन का विकास छुपा हुआ है । जो इन्हें सहन करता है, वह प्रगति को वरण करता है ।

□ कितने ही लोग कहा करते हैं कि लकीर के फकीर न बनो । पर मैं चिन्तन के क्षणों में सोचती हूँ कि लकीर पर चलना ही तो फकीरी का लक्षण है । जो लकीर को ही भंग कर देता है वह फकीर ही कैसा ! ध्यान रहे लकीर का अर्थ मर्यादा है । मर्यादा का उल्लंघन करना सन्त का स्वभाव नहीं है ।

□ ज्ञानी और अज्ञानी के स्वभाव में बड़ा अन्तर होता है । ज्ञानी किसी बात को पकड़ता है । उसकी पकड़ ताले की तरह होती है जो चाबी लगते ही खुल जाता है अपनी भूल का ज्ञान होते ही वह उसे छोड़ देता है पर अज्ञानी की पकड़ मकोड़े के सदृश होती है जो टूटता है पर छूटता नहीं ।

□ मानव ने बौद्धिक विकास अत्यधिक किया है । अणु परमाणु आदि भौतिक पदार्थों की अन्वेषणा में वह इतना अधिक तल्लीन हो गया कि स्वयं को भूल बैठा । वह स्वयं कौन है ? कहाँ से आया है ? उधर निहारने की उसे फुरसत ही नहीं है । बुद्धि जिसके बल-बूते पर पनप रही है उसके रहस्य से वह अपरिचित है ।

□ मैंने देखा एक व्यक्ति तालाब के कीचड़ में फँस गया था । कीचड़ से बाहर निकलने के लिए वह जोर लगा रहा था, वह ज्यों-ज्यों जोर लगाता था, त्यों-त्यों अधिकाधिक कीचड़ में धसता जाता था । एक अनुभवी ने उसे बताया—तुम इस तरह

कीचड़ से बाहर नहीं निकल सकोगे । कीचड़ से बाहर निकलने का उपाय है कीचड़ पर लेट जाओ और सरक कर बाहर निकलो । बल (शक्ति) से नहीं अपितु कल (युक्ति) से कार्य लेने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है ।

□ केसर के रंग का भी दाग होता है और कीचड़ का भी । केसरिया दाग सुहावना लगता है व मंगल कार्य का प्रतीक है जबकि कीचड़ का दाग दिखने में भद्दा लगता है और वह असभ्यता की निशानी है । वैसे ही पुण्य और पाप भी हैं । केसरिया दाग की तरह पुण्य है तो कीचड़ के दाग की तरह पाप । दोनों दाग ही हैं—एक शुभ है दूसरा अशुभ है । साधक को अशुभ और शुभ स्थिति से उठकर शुद्ध स्थिति को प्राप्त करना है । अशुभ विकृति है, शुभ संस्कृति है और शुद्ध प्रकृति है ।

□ कितने ही व्यक्तियों के अन्तर्मानस में अपने प्रभाव को फैलाने की इच्छा होती है । वे प्रभाव तो फैलाना चाहते हैं पर भाव को विशुद्ध बनाना नहीं चाहते । भावरहित प्रभाव आकाशीय विद्युत् की तरह है जो अपना आलोक एक क्षण दिखाकर पुनः लुप्त हो जाती है ।

□ मैं ट्रेन की पटरियों के किनारे-किनारे चल रही थी । ट्रेनें आ-जा रही थीं । जहाँ पर लाइन में मोड़ होता या कोई विशेष परिस्थिति होती या सिगनल डाउन नहीं होता तब इंजन सीटी बजाता उसकी सीटी को सुनकर, मैं सोचने लगी बिना मतलब इंजन भी बोलता नहीं है पर आज का मानव बिना मतलब बड़बड़ाता रहता है । जबकि महापुरुषों ने 'बहुयं माय आलवे' अधिक न बोलो का संदेश दिया है ।

□ सामान्य कागज और नोट में यही अन्तर है कि सामान्य कागज पर राजकीय मुद्रा नहीं होती जबकि नोट पर राजकीय चिन्ह होता है और जितना अंक उस पर अंकित होता है उतना ही उसका मूल्य बढ़ जाता है । समय भी सामान्य



कागज के सदृश है। उस पर सत्कार्य की मुद्रा अंकित हो जायेगी तो उस समय का मूल्य बढ़ जायेगा।

□ शरीर की स्वस्थता के लिये रक्त प्रवाह की गति सम होनी चाहिये। जब रक्त का प्रवाह तेजी से प्रवाहित होता है तो 'हाई-ब्लड-प्रेसर' कहलाता है और जब उसकी गति मंद हो जाती है तो 'लो-ब्लड-प्रेसर' के नाम से अभिहित किया जाता है। दोनों ही स्थितियाँ अस्वस्थता की निशानी हैं।

बैने ही उत्तेजना और निराशा दोनों ही स्थितियाँ साधक की साधना के लिये हितावह नहीं।

□ एक दिन रूप ने शील से कहा—मेरा सौन्दर्य कितना सुहावना और लुभावना है। जो भी देखता है वह मुग्ध हो जाता है।

शील ने कहा—तुम्हारा महत्त्व अवश्य है पर मेरे बिना नहीं। जब हीरा-सोने की अगूठी में जड़ जाता है तो उसकी चमक-दमक निराली हो जाती है। तुम भी हीरे के सदृश हो जब शील की मुद्रिका में जड़े जाओगे तब तुम्हारे में अपूर्व निखार आ जायेगा।

□ जो दूसरों के हित को नष्ट कर स्वयं का हित साधता है वह दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति है। जो दूसरों के हित को नष्ट न कर स्वयं का कार्य सम्पन्न करता है वह मानव है। जो स्वयं का हित भी करता है और साथ ही दूसरों के हित करने में तत्पर रहता है वह जन सज्जन कहलाता है और जो स्वयं की चिन्ता न कर दूसरों के हित साधन में तत्पर रहता है वह महाजन है महाजन का कर्तव्य बहुत ही ऊँचा है। उसके सारे कार्य पर की उत्पत्ति के लिए होते हैं। पर आज का महाजन कंधर जा रहा है यह आत्म-घिन्तन का विषय है।

□ यदि कपड़े में कहीं सलवट हो तो मानव से पानी में भिगोकर निकालने का प्रयास करता। वह सोचता है कि सलवट से कपड़े का सौंदर्य

मारा जाता है। यदि मन में कषायों की सलवट हो तो उसे क्षमा, करुणा, मैत्री आदि के पानी से निकाल देनी चाहिये।

□ शब्दों में शक्ति है, यह सत्य है पर वे ही शब्द अधिक शक्ति सम्पन्न होते हैं जिनके पीछे अनुभूति की तीव्रता होती है। जिसका अनुभव जितना तीव्र होगा, उसकी अनुभूति भी उतनी ही स्पष्ट होगी। कुर्आ जितना गहरा होगा, उतना ही पानी ठंडा होगा। जितने सेल शक्ति सम्पन्न होंगे उतना ही प्रकाश तीव्र होगा। जो शब्द हृदय से निकलते हैं वे ही दूसरों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं।

□ यदि मन पवित्र है तो वाणी स्वतः पवित्र होगी। मन में अपवित्रता और गन्दगी भरी हुई है तो वाणी में पवित्रता कहां से आयेगी ?

□ कई बार वाणी पवित्र और मधुर होती है पर मन में हलाहल विष भरा रहता है। 'विष कुम्भम् पयोमुखम्' इस उक्ति का वह प्रतीक है। स्मरण रहे, मन वाणी का दास नहीं है किन्तु वाणी मन की दासी अवश्य है।

□ बालक का जीवन कच्चे माल के सदृश है। कच्चे माल को जिस साँचे में ढाला जायेगा वही आकृति ग्रहण करेगा यदि ढाँचे में ही विकृति है तो ढालने वाली वस्तु में उस विकृति का आना स्वाभाविक है। माता-पिता का जीवन दुर्व्यसनो से ग्रसित है तो सन्तान भी दुर्व्यसनी होगी।

□ प्यार और खार ये दो शब्द हैं। एक से मित्र बनते हैं तो दूसरे से शत्रु। मानव प्यार को छोड़कर खार को अपनाता है जिससे जीवन में अशान्ति के काले-कजरारे बादल मंडराते हैं। यदि वह प्यार को पाले तो अशान्ति उसी तरह भाग जाएगी जैसे दक्षिणात्य पवन चलने पर बादल नष्ट हो जाते हैं।

□ एक दिन द्राक्षा ने श्रीफल का उपहास करते हुए कहा—किस मूर्ख ने तुम्हारा नाम श्रीफल



रखा है? तुम्हारे में ऐसी कौन-सी विशेषता है जिससे तुम्हें लक्ष्मी का फल बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जो भी श्रेष्ठ कार्य होता है वहाँ प्रथम तुम्हें स्थान मिलता है। तुम्हारे शरीर में सौन्दर्य का अभाव है। तुम्हारा सारा शरीर जटा से आच्छादित है, यदि ये जटा कोई हटा भी ले तो तुम्हारे अन्दर की खोल इतनी मजबूत है कि उसे तोड़ने के लिए पत्थर चाहिये मेरी तरह न तो तुम्हारा सुन्दर शरीर है और न मेरे सदृश तुम्हारे में कोमलता। मेरे में तो मधुर रस का सागर ही लहरा रहा है। मेरे साथ तुम्हारी कहाँ तुलना हो सकती है ?

नारियल ने शान्त वाणी में कहा—वहन ! तुम्हें इतना घमण्ड नहीं करना चाहिये। मेरे शरीर का कोई भी अवयव निरुपयोगी नहीं है। मेरी जटाओं से योगी-गण अपना आसन बनाते हैं तो भोगी गण भी सोफासेट जैसे अनेक आसनों में इनका उपयोग करते हैं। मेरी जटाएँ मलिन वर्तनों को भी निर्मल बनाती हैं तथा इनका उपयोग अनेक औषधियों में भी होता है और मेरी खोपड़ी पात्र बनकर अनेकों को जीवनदान देती है। मेरा पानी रुग्ण व्यक्तियों को स्वस्थ बनाने में सक्षम है। मेरा गूदाभाग मस्तिष्क की शक्ति के लिए उपयोगी है और मेरा तेल खाने और लगाने इन दोनों में उपयोगी है।

व्यक्ति का महत्त्व रूप के कारण, नहीं, गुणों के कारण होता है। वहन ! तुम्हारे से तो मदिरा तयार होती है जो समझदार व्यक्ति को भी पागल बना देती है।

द्राक्षा चुप होकर सुनती रही।

□ एक युवक ने नन्हें बालक को कहा—तू कितना भाग्यशाली है, जो तुझे युवतियाँ गोद में लेने को ललकती हैं। तुझे प्यार करने को छटपटाती है। पर मेरी ओर तो आंख उठाकर भी नहीं देखती।

बालक ने कहा—तुम्हारे में और मेरे में यही अन्तर है कि तुम वासना से ग्रसित हो और मैं वासना-मुक्त हूँ। वासना-मुक्त को ही लोग प्यार करते हैं।

□ एक दिन हरे-भरे लहलहाते हुए खेतों ने खेत मालिक से कहा—हमें कांटों से आप क्यों परिवेष्टित करते हैं।

किसान ने कहा—तुम्हारी रक्षा के लिए मुझे यही उपाय अपनाना पड़ रहा है।

□ एक वृद्ध ने बालक से कहा—मैं तेरी मस्ती को देखकर हैरान हूँ। तेरे में से कुछ मस्ती मुझे भी दे दे।

□ बालक ने कहा—आप भी मेरे सदृश चिन्तामुक्त और सरल बन जाइये; आपमें मस्ती स्वतः आ जायेगी।

□ वृद्ध ने एक मेधावी छात्र से कहा—तू जिस पढ़ता है, उसका अर्थ भी नहीं जानता तथापि तुझे पाठ याद कैसे रहता है ?

बालक छात्र ने कहा—मैं केवल शब्द पकड़ता हूँ पर आप शब्द और अर्थ दोनों पकड़ते हैं। इस दुविधा के कारण आपको स्मरण नहीं रहता है क्योंकि कहा भी है कि 'दुविधा में दोनों गये, माया मिली ना राम।'

□ बालक को उपालम्भ देते हुए प्रपितामह ने बालक से कहा—किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए तू कितना रोता है, कितनी हठ करता है और फिर कुछ समय के बाद उस वस्तु को जहाँ-तहाँ फेंक देता है। तुझे वह वस्तु स्मरण भी नहीं रहती।



बालक ने कहा—हमारा मस्तिष्क किसी भी वस्तु को पकड़कर नहीं रखता। हम परस्पर चाहे कितने भी लड़ें किन्तु कुछ समय बाद हमारी लड़ाई मित्रता में बदल जाती है। हमारे में जो अनासक्ति है वही तो हमारी मस्ती का कारण है।

□ एक जिज्ञासु ने पूछा—आनन्द कहां है ? मैंने कहा—आनन्द तुम्हारे अन्दर ही है पर तुम उसे बाहर ढूँढ़ रहे हो इसीलिए वह प्राप्त नहीं हो रहा है। दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है पर उसमें वह व्यक्ति नहीं होता वैसे ही भौतिक पदार्थों में आनन्द तो दिखाई देता है पर होता नहीं।

□ ट्यूबलाइट का प्रकाश जगमगा रहा था। उसने सगर्व मणि से कहा—तेरा प्रकाश बहुत ही मन्द है पर मेरा प्रकाश कितना तेज है ! फिर भी मेरे से तेरी अधिक कीमत क्यों ?

मणि ने कहा—तुम दूसरों के बलवृत्ते पर प्रकाश फैला रही हो, तुम्हारा स्वयं का प्रकाश नहीं है जबकि मैं स्वयं प्रकाशित हूँ।

दूसरों के आधार पर पनपने वालों की कीमत कम ही होती है।

□ समाचार पत्र को पढ़ने के पश्चात् पाठक ने उसे रद्दी की टोकरी में फेंकते हुए कहा—तेरा जीवन कितना छोटा-सा है, पढ़ने के बाद तेरा मूल्य ही नहीं।

समाचार पत्र ने कहा—रे पाठक ! सभी वस्तुओं का मूल्य समय पर ही होता है।

□ शरबत ने पानी से कहा—यदि मैं तुझ में मिल जाऊँ तो तुम्हारा मूल्य कई गुना बढ़ जायेगा।

पानी ने कहा—तुम्हारे मिलने से मेरा मूल्य तो बढ़ेगा पर मेरा वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जायेगा।

पास ही में बर्फ पड़ा हुआ था, उसने कहा—मैं तो तुम्हारा सजातीय हूँ, मैं जब तुम्हारे में

मिलूंगा तो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप ओझल नहीं होगा।

पानी ने कहा—मिलावट तो आखिर मिलावट ही है। वह विकृति ही पैदा करती है। जो प्रकृति में आनन्द है वह विकृति में नहीं।

□ अग्नि जल रही थी। एक विचारक उधर से निकला उसने कहा—तू सभी को जलाती है फिर भी तुझे पावक कहा जाता है, क्यों ?

अग्नि ने अधिक प्रज्वलित होते हुए कहा—मानव जिसे पवित्र नहीं कर सकता उसे मैं पावन बनाती हूँ इसीलिए मेरा नाम पावक है।

□ तालाब ने बहुत ही दुःखी होकर कुँए से कहा—हम तो सूख चुके हैं पर तुम्हारे में अभी पानी लहलहा रहा है।

कुँए ने कहा—तुम्हारे में पानी बाहर से आता है जबकि मेरे में पानी अन्दर से ही फूटता है। मैं प्रदर्शन नहीं करता जबकि तुम इतना प्रदर्शन करते हो कि देखने वाला चकित हो जाता है। वह समझ नहीं पाता कि तुम्हारे में कितना जल भंडार है ? तुम्हारे में विस्तार है पर गहराई नहीं। जबकि मेरे में विस्तार नहीं गहराई है। जहां गहराई होती है वहां अगाधता होती है।

□ गरजती और उफनती हुई नदियों ने समुद्र से कहा—हम इतनी सारी नदियां तुम्हारे में मिल जायेंगी तो कोई खतरा तो नहीं होगा तुम्हें।

सागर ने नदियों को स्वयं में समाहित करते हुए कहा—खतरा क्षुद्र को होता है अनन्त को नहीं।

□ पीतल ने सोने से कहा—मेरा और तुम्हारा रंग एक सदृश है—तुम भी पीले हो तो मैं भी पीला हूँ फिर समझ में नहीं आता कि तुम्हारे और मेरे मूल्य में इतना अन्तर क्यों ?

सोने ने कहा—जरा-सी चोट लगते ही तुम ध्वनि करने लगते हो जबकि मैं चोट सहन करके





भी मौन रहता हूँ। संसार में बाचालों की कीमत सदा कम होती है। अधिक बोलने वाला आभूषण-पायल, पैरों में स्थान प्राप्त करता है और मौन रहने वाला बोर सर पर गूँथा जाता है। मूल्य रूप-रंग से, नहीं गुणों से आंका जाता है।

□ काला-कलूटा कोयला अपने बदरूप रंग पर आंसू बहा रहा था। एक सन्त उधर से निकला। उसने कोयले से कहा—तू क्यों भित्ति है? मैं तुझे ऐसा उपाय बताता हूँ जिससे तेरा रूप निरूप जायेगा और तू सोने की तरह चमकने लगेगा।

कोयले ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—भगवन ! मुझे वह उपाय अवश्य बताइये। मैं अपने रूप को निखारना चाहता हूँ। सन्त ने कहा अग्नि के संस्पर्श से तू चमचमाता हुआ अंगारा बन जायेगा। तेरे में अद्भुत परिवर्तन हो जायेगा। कोयले में अग्नि स्नान कर अपने को तेजस्वी बना लिया।

□ खेत लहलहा रहे थे। लहलहाते हुए खेतों को देखकर सड़क ईर्ष्या से कुढ़ने लगी। उसे लगा ये खेत मेरा उपहास कर रहे हैं। अतः उसने खेतों को ललकारते हुए कहा—तुम असभ्य हो इसीलिए इस तरह झूम रहे हो पर तुम्हें पता नहीं, तुम्हारे नीचे कितना कूड़ा करकट है, गन्दगी है। मुझे देखो मैं कितनी स्वच्छ हूँ। कण मात्र भी धूल मेरे शरीर पर नहीं है। चाहे कितनी भी वर्षा हो! आंधी या तूफान आये! मेरे पर न कीचड़ होता है और न घास ही उगता है। पर तुम तो जंगली हो। विज्ञान के चमचमाते युग में आउट ऑफ एटीकेट (Out of etiquette) है तुम्हारा यह जीवन। इस लिए तुम्हें मेरे जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीने के ढंग में परिवर्तन करना चाहिए।

खेत ने कहा—जिसे तुम गंदगी कहती हो वह गंदगी, जिन्दगी है। यदि कोई चाहे कि तुम्हारे पर अन्न पैदा किया जाए तो कदापि यह संभव नहीं होगा। दूसरों को जीवन प्रदान करने के लिए अपने को कष्टमय जीवन जीना पड़े तो घबराना नहीं चाहिए। यदि मैं तुम्हारी तरह स्वच्छ और

कठोर बन जाऊँ तो प्राणियों का जीवन दूभर हो जायगा।

□ पर्वत ने एक बार पृथ्वी से कहा—जरा मुझे देखो ! मेरे पर उमड़-धुमड़ कर बादल आते हैं और वे हजार-हजार धारा के रूप में बरसते हैं पर मैं अपने पास पानी को संग्रह करके नहीं रखता। इधर पानी आता है उधर में हजार-हजार हाथों में बाँट देता हूँ। मैं चाहता हूँ कि जन-जन का कल्याण हो। पर तू तो जितना भी पानी प्राप्त होता है उसे कंजूस की तरह अपने पास जमा कर लेती है।

पृथ्वी ने कहा—वत्स पर्वत ! सामर्थ्यवान व्यक्ति का त्याग ही सच्चा त्याग है। जिसे तू त्याग कह रहा है वह त्याग नहीं है त्याग का उपहास है। मेरा संग्रह भी स्वयं के लिए नहीं पर के लिए है।

□ मक्खन निकले हुए दूध ने छाछ से कहा—लोगों में बुद्धि का अभाव है जो भोजन के बाद तुम्हें पीते हैं। अब तुम्हीं बताओ कि मेरे में और तुम्हारे में क्या अन्तर है?

छाछ ने कहा—मक्खन निकलने पर भी तुम्हारे में पाचन गुण का अभाव है और मेरे में पाचन गुण है जिससे लोग मुझे पीना पसन्द करते हैं।

□ एक भक्त ने पहुँचे हुए साधक से पूछा—जप और तप में कौन बड़ा है? जप करना अच्छा है या तप करना?

साधक ने कहा—जप बड़ा है। जप में तप स्वतः आ जाता है पर तप में जप आता भी है और नहीं आता। इसीलिए 'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपान्ति संशयः' कहा गया है।

□ भीष्म ग्रीष्म के ताप से तापित मानव ने बबूल के वृक्ष के नीचे विश्रान्ति के लिए शरण ली। बबूल ने तीक्ष्ण शूलों से उसका स्वागत किया।

पथिक ने शूलों की वेदना से व्यथित होते हुए कहा—क्या इस प्रकार शूलों से स्वागत करना शोभास्पद है?



बहुल ने कहा— मैं फूल कहाँ से लाऊँ ? जिसके पास जो वस्तु होती है उसी से तो वह स्वागत करता है ।

□ यदि वस्त्र पर कीचड़ या अन्य किसी वस्तु का दाग लग गया है तो उसकी उपेक्षा न की जाए शीघ्र धोकर उस दाग को मिटा देना चाहिये । यदि जरा-सी उपेक्षा की गयी तो वह दाग सदा के लिए अपना स्थान बना लेगा वैसे ही पापकृत्य का दाग लगने पर उसी जण आलोचना और प्रायश्चित्त कर शुद्धिकरण कर लेना चाहिये । मैं बाद में प्रायश्चित्त कर लूँगा इस प्रकार उपेक्षा करने से वह दोष स्थायी हो जाता है । ऐसे कार्यों के लिए भगवान महावीर ने कहा है— समयं गोयम ! मा पमायए । एक क्षण मात्र का भी प्रमाद न करो ।

□ हे ! युवक ! तू भारत का भाग्य-विधाता है । आदर्शों के प्रति तेरे मन में गहरी आस्था होनी चाहिए । तुझ पूर्ण कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए । दिग्भ्रान्त मानव की तरह नहीं ।

□ परिष्कार से वस्तु में निखार आ सकता है पर प्रकृति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता । काष्ठ शिल्पी रंदा से काष्ठ को चित्ताकर्षक बना सकता है किन्तु चन्दन के रूप में उसे बदल नहीं सकता ।

□ जिन साधकों का आन्तरिक जीवन सबल नहीं होता वे अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों से प्रभावित हो जाते हैं । अनुकूल परिस्थिति उनमें अहंकार पैदा करती है तो प्रतिकूल परिस्थिति उनमें क्रोध को उभारती है । जिनका स्वास्थ्य दुर्बल होता है उन्हें जरा-सी ठण्डी हवा लगी नहीं कि जुखाम हो जाता है और जरा-सी गर्म हवा से लू लग जाती है ।

□ व्यक्ति में जितनी योग्यता होगी उतनी और वैसी वस्तु वह ग्रहण कर सकेगा । पृथ्वी सर्व-रसा है । अंगूर का पीघा उसमें से मधुर रस ग्रहण करता है, निम्बू उसमें से खट्टा रस ग्रहण करता है,

तो मिर्ची उसमें से तीखा रस लेती है । गुलाब केतकी केवड़ा के पुष्प उसमें से सौरभ लेते हैं तो प्याज और लहसुन उसमें से दुर्गन्ध ग्रहण करते हैं ।

□ कितनी ही वस्तुएँ स्वयंके घर में शोभा पाती हैं । घर का परित्याग करने पर उनकी किञ्चित्त मात्र भी कद्र नहीं रहती । जैसे मुँह में दांत की शोभा होती है और सिर पर केश की और हाथ में नाखून की जब वे स्वस्थान से भ्रष्ट हो जाते हैं तो कहीं पर भी उनकी कद्र नहीं होती ।

कितनी ही वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी स्वघर में पूछ नहीं होती किन्तु दूसरे स्थान पर जाते ही उनकी गौरव-गरिमा बढ़ जाती है जैसे हीरे, पन्ने, माणिक, मोती । जब तक खदान में पड़े रहते हैं तब तक उन्हें कोई पूछता ही नहीं है पर जब वे स्वस्थान छोड़कर जौहरी के पास पहुँचते हैं तो उनका मूल्य बढ़ जाता है ।

कितनी ही वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो अपने स्थान पर भी शोभा पाती हैं और स्वस्थान छोड़ने पर भी उनकी महत्ता न्यून नहीं होती । फूल टहनी पर भी शोभा पाता है और टहनी से पृथक होकर भी वह मानव का शृंगार बन जाता है ।

□ मानव को इस प्रकार का कार्य करना चाहिये जिस कार्य के करने के पश्चात् पश्चात्ताप न हो । इस प्रकार बोलना चाहिये जो स्वयं को आनन्दित करे और दूसरों को भी । जिस प्रवृत्ति से दूसरों के अन्तर्मानस में क्लेश पैदा होता हो उस प्रकार के कार्य न करना ही श्रेयस्कर है ।

□ गहराई से चिन्तन के पश्चात् जो शब्द निकलते हैं वे मूल्यवान होते हैं । हीरे-पन्ने, माणिक-मोती, रत्न अत्यधिक अन्वेषणा के पश्चात् ही प्राप्त होते हैं इसीलिए उनका महत्व है ।

□ खबर ज्यों-ज्यों खींचा जाता है त्यों-त्यों वह बढ़ता तो जाता है पर वह कमजोर हो जाता है । खींचा-तानी से वस्तु बढ़ सकती है पर जो उसमें सामर्थ्य होता है वह नष्ट हो जाता है ।



□ अनगढ़ पत्थर मन को भाता नहीं किन्तु चिकना और चमकदार पत्थर मन को लुभाता है। अनगढ़ जीवन किसी को आकर्षित नहीं कर सकता। स्नेह और सद्भावना से युक्त जीवन ही दूसरों के मन को लुभाता है, मन को हरता है।

□ मानव को अपनी झूठी प्रशंसा भी पसन्द है और सच्ची निन्दा वह सुनना भी पसन्द नहीं करता इसलिए किसी की निन्दा न करो और किसी को प्रसन्न करने के लिए व्यर्थ की प्रशंसा भी न करो। प्रशंसा को सुनकर वह व्यक्ति गुमराह हो जायेगा और साथ ही वह प्रशंसा आत्मवंचना भी है। गुणी के गुणों का संकीर्तन करना गुणानुराग का प्रतीक है।

□ अज्ञानी और ज्ञानी में यही अन्तर है अज्ञानी दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा सुनकर खुश होता है तो ज्ञानी स्वयं की निन्दा और दूसरों की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता है। दोनों में अपनी और पराई का ही भेद है।

□ प्रशंसा सुनकर मानव अन्धा बन जाता है। उसे चिन्तन करने का अवकाश नहीं रहता। पर आलोचना सुनकर मानव उद्विग्न तो होता है और उसके प्रतिकार हेतु प्रयत्न भी करता है किन्तु उसके मुँदे हुए नेत्र उद्धाटित हो जाते हैं और वह सम्भल जाता है।

□ वासना के बीज बहुत ही बारीक होते हैं। जो बड़े-बड़े साधकों को भी दिखलायी नहीं पड़ते। वे मोचते हैं हमारे मन की भूमि बिल्कुल साफ है पर उन्हें पता नहीं कि वासना के बीज भी घास के बीज की तरह होते हैं जो अनुकूल पवन और वर्षा होते ही उग आते हैं। अतः साधक को सतत सावधान रहना चाहिए।

□ प्रत्येक मानव के पास मन है। मन होने पर भी प्रत्येक मानव मनस्वी नहीं है। सभी महिलाओं के अंग तो होते हैं पर सभी महिलाएँ अङ्गना नहीं होतीं।

□ कितने ही मानवों की यह शिकायत है कि वे सदा-सर्वदा प्रेम का अमृत वांटते रहते हैं किन्तु उन्हें प्रेमामृत के बदले द्वेष का जहर ही प्राप्त होता है।

दावानल को शान्त करने के लिए कुछ कुम्भ पानी पर्याप्त नहीं होता, उसके लिए आवश्यकता होती है हजार-हजार धाराओं के रूप में बरसने वाले पानी की।

□ विपदा मानव को नई दृष्टि देती है। सर्दी, गर्मी और वर्षा से यदि मानव व्यथित न होता तो भव्य भवनों की सुदीर्घ पंक्तियाँ जगमगाती नहीं। चलने से मानव बलान्त न होता तो तीव्रगामी वाहनों का आविष्कार न होता। यदि भूख उसे पीड़ित न करती तो खेती, व्यापार, व्यवसाय आदि विकसित न होते। सभ्यता नहीं बनती और कर्मयुग का प्रारम्भ नहीं होता।

□ कितने ही व्यक्तियों का चिन्तन है कि सभी के साथ एक सहज व्यवहार होना चाहिये। फिर भले ही वह धनवान हो या निर्धन, बुद्धिमान हो या बुद्धू। क्योंकि मानव-मानव एक है।

पर उनका चिन्तन गहराई को लिए हुए नहीं। समान जाति होने से व्यक्तित्व में निखार नहीं आता। हीरे, पन्ने, माणक, पुखराज नीलम आदि पत्थर ही होते हैं पर वे अपने गुणों के अनुरूप आदर पाते हैं।

□ मानव की तीन अवस्थाएँ हैं—बाल्यावस्था युवावस्था और वृद्धावस्था। बाल्यावस्था में चपलता होती है, युवावस्था में जोश होता है और वृद्धावस्था में हीश होता है। बालक निश्चित होता है, युवक कर्तव्य परायण होता है और वृद्धत्व में अनुभव का अमृत होता है।

□ बालक कार्य करने के पूर्व और पश्चात् सोचता नहीं, युवक जोश में कार्य कर लेता है उसके पश्चात् सोचता है किन्तु वृद्ध कार्य करने के पूर्व सोचता है और फिर करता है।



समय खबर नहीं है जो खींचने से लम्बा हो और खिचाव कम होने पर पूर्ववत् हो जाय।

समय सरिता की सरस धारा है जो सतत अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है किन्तु पीछे नहीं मुड़ती।

समय कपूर की भाँति है जो जरा-सी असावधानी से नष्ट हो जाता है। यदि तुमने समय का सदुपयोग किया तो समय तुम्हारे लिए वरदान रूप सिद्ध होगा। यदि समय का दुरुपयोग किया तो वह अभिशाप सिद्ध होगा। इसीलिए कहा है कि समय बुद्धिमानों का धन है—Time is money।

☞ तुम्हारे भव्य भवन के द्वार पर यदि कोई व्यक्ति गन्दगी फैलाता है। क्या उस व्यक्ति को तुम वहाँ पर बिठाये रखना पसन्द करोगे? वहाँ से उसे धकेल दोगे? बुरे संकल्प-विकल्प तुम्हारे मन-मन्दिर को अपावन कर रहे हैं। क्या कभी तुमने उधर भी ध्यान दिया है?

☞ जब गृह-स्वामी खरटे भरता है तब तस्कर धन का अपहरण कर लेते हैं वैसे ही जब आत्मा प्रमुप्त होती है तब विकल्प-संकल्प रूपी तस्कर आत्म धन का अपहरण कर लेते हैं।

☞ जीवन एक मंजिल है। मंजिल तक पहुँचने में अनेक घुमाव और उतार चढ़ाव आते हैं। जो उतार-चढ़ाव और घुमाव को निहारकर भयभीत होकर रुक जाता है। वह लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। स्मरण रखो, अनन्त आकाश में उड़ान भरने वाले विमान को भी चढ़ाव, उतार, घुमाव खाना ही पड़ता है फिर तू क्यों चिन्तित हो रहा है? मानव का प्रत्येक कदम बाधाओं और वंचिकाओं से वंचित नहीं पर हरेक कदम पर बाधाएँ षड्यन्त्र कर आ जुटी होंगी ऐसी कल्पना करना ही सबसे बड़ी बाधा है।

☞ नेता वाहन चालक के सदृश होता है जो सदा आगे की सीट पर बैठता है और पीछे बैठने वालों का मार्गदर्शन करता है। आगे बैठना खतरे

का काम है। दूसरों के लिए स्वयं खतरे को मोल लेता है इसीलिए उसे आगे स्थान मिलता है।

आज के नेता आगे बैठना पसन्द करते हैं। वे अभिनेता की तरह पार्ट तो अदा करते हैं। किन्तु वास्तविकता के अभाव में सफल नहीं हो पाते। सच्चे नेता बनो, अभिनेता नहीं।

☞ चालक का असंयमी होना खतरनाक है। उसके हाथ स्टेरिंग पर, पैर ब्रेक पर और आँखें मार्ग पर लगी रहनी चाहिये। आँखों के संकेत पर ही हाथ और पैर कार्य करते हैं। यदि आँखों के संकेत की हाथ-पैर एक क्षण भी उपेक्षा करें तो खतरा उसी समय उपस्थित हो जायेगा। जो व्यक्ति पथ प्रदर्शक के संकेत पर कार्य करता है, वही बुद्धिमान है।

☞ चाहे कितना भी महान व्यक्ति क्यों न हो? यदि वह भी असमय में आता है, उसका आगमन आदर की निगाह से नहीं देखा जाता। मेघ परोपकारी है पर वह बिना ऋतु के बरसता है तो लोगों को असुहावना लगता है।

☞ सहयोग के कारण नन्हा व्यक्ति भी महान बन जाता है। नन्हा सा नाला अन्य क्षुद्र नदियों के सहयोग को पाकर विराट नदी का रूप ले लेता है। अनुकूल सहयोग गति में प्रगति प्रदान करता है।

☞ महान व्यक्ति अपने ध्येय की ओर निरंतर बढ़ना जानते हैं। वे दूसरे के सहयोग की प्रतीक्षा नहीं करते पर उनकी कर्तव्य परायणता पर मुग्ध होकर गुणज्ञ व्यक्ति उनके पीछे चल पड़ते हैं। स्वतन्त्रता संग्राम में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के पीछे भारत का प्रबुद्ध वर्ग चल पड़ा था।

☞ जो वस्तु परिश्रम से प्राप्त होती है, उसमें माधुर्य होता है। उसका मूल्यांकन होता है। किन्तु बिना श्रम से प्राप्त वस्तु का वास्तविक मूल्यांकन नहीं होता। यही कारण है प्रायः धनवानों की सन्तान आवारा होती है।



□ बालक स्नेह चाहता है। युवक बराबरी का स्नेह साथी चाहता है और वृद्ध विनीत व्यक्ति चाहता है जो उसकी बात स्वीकार करता हो। अतः बालक को स्नेह से जीतो, युवक को मित्रता से जीतो और वृद्ध को विनय से जीतो।

□ दीपक का कार्य पथ को दिखाना है पर पथ पर चलने का कार्य पथिक का है। शास्त्र और सद्गुरु का हाथ है जीवन की वास्तविकता के संदर्शन करवाना किन्तु उसका आचरण करना साधक का कार्य है। यदि साधक दिग्दर्शित मार्ग का अनुसरण-आचरण न करे तो उसमें सद्गुरु का क्या दोष ?

□ एक दिन मैंने छत्री से पूछा—तू इतनी तनी हुई क्यों रहती है ? उसने धीरे से कहा—क्या तुम्हें पता नहीं कि मैं अपने आपको सदा समेटे हुए रखती हूँ पर प्रतिपक्षियों से मुकाबला करने के लिए तो बिना तने काम नहीं हो सकता। मैं सोचने लगी वस्तुतः छत्री की बात सत्य है।

□ एक दिन झाड़ू अपने विकट बन्धन से ऊब गया और सोचने लगा कि बन्धन तो कारागृह के सदृश है अतः मैं इस बन्धन से मुक्त हो जाऊँ ! और वह बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटाने लगा।

मालिक ने छटपटाते हुए झाड़ू से कहा—तू बन्धन से मुक्त तो होना चाहता है पर याद रख कि बन्धन से मुक्त होने पर जो तेरी गरिमा है वह नष्ट हो जायेगी। बन्धन में बंधकर तू कचरा साफ करती है पर बन्धन से मुक्त होते ही तू स्वयं कचरा बन जायेगी।

□ अनन्त आकाश में पतंग उड़ान भर रही थी। दूसरी पतंग उसकी ऊँची उड़ान नहीं देख सकी। वह ईर्ष्या से जल उठी। वह उसे गिराने के लिए उससे उलझ पड़ी, पर वह स्वयं ही कटक कर नीचे गिर पड़ी। जो दूसरों को गिराना चाहता है उसका स्वतः पतन हो जाता है।

गिरती हुई पतंग आंसू बहा रही थी और सोच

रही थी कि यदि मैं अपनी बहन से न उलझी होती तो मेरी यह दयनीय स्थिति न होती।

□ एक किसान ने अपनी परोपकारी मनोवृत्ति की श्रेणी बघारते हुए कहा—देखो बैलो ! मैं खेती में से कितना अल्पांश अन्न ग्रहण करता हूँ और सारा घास तो तुम्हारे लिए छोड़ देता हूँ।

रंभाते हुए बैलों ने कहा—किसान वन्धु ! तुम पक्के स्वार्थी हो। व्यर्थ की बातें बनाने से क्या लाभ ? यह हमारा परम सौभाग्य है कि मानव घास नहीं खाता। यदि मानव घास खाता होता तो पशुओं को भूखे ही मरना पड़ता।

□ एक दिन मानव ने गाय से कहा—तू माता है। मैं तेरी सेवा करना चाहता हूँ इसलिए घर पर चल।

गाय ने अपने सिर को हिलाते हुए कहा—तू मेरी क्या सेवा करेगा ? तू तो पक्का स्वार्थी है। तू मेरे वन्धुओं को भूखे मारकर दूध छीन लेगा। क्या यही है तेरी सेवा ? मानव निरुत्तर हो गया।

□ मिल दनादन चल रही थी। चिमनी ने देखा, मैं सबसे बड़ी हूँ। जितनी भी मशीनें हैं वे मेरी चरणोपासिका हैं किन्तु यह आकाश मेरे मे भी ऊपर है। मैं इस स्वच्छ आकाश को धुँएँ में कासा बना दूंगी ताकि यह भी याद रखेगा कि किसी से पाला पड़ा था।

आकाश ने मंद मुस्कान बिखेरते हुए कहा—तू मुझे क्या काला बनायेगी ? मेरे पर तेरे धुँएँ का कोई असर नहीं होगा पर तेरा मुँह तो अवश्य काला हो जाएगा।

□ ठुमक-ठुमककर पवन चल रहा था। पतंग अनन्त आकाश को नाप रही थी। उसकी दृष्टि यका यक डोर पर गई। उसने नफरत की निगाह से डोर की ओर देखा और कहा—मेरे कारण तुझे भी अनन्त आकाश की यात्रा करने का सुहावना-मुअवसर मिला है।

पतंग की बात सुनकर डोर कहाँ चुप बैठने वाली थी, उसने मुस्कराते हुए कहा—भैया ! तुमने



भी खूब कहो। तुम मेरे कारण हो तो इतने ऊँचे उठ सके हो। फिर मुझे ही कहते हो कि तुम मेरे कारण नैर कर रही हो। यह कहाँ का न्याय है।

पतंग उड़ाने वाले ने कहा—आप आपस में विवाद न करें। एक-दूसरे के सहयोग के कारण ही आप दोनों ऊँचे उठ सके हो। यदि दोनों ने परस्पर विवाद किया तो दोनों का ही पतन निश्चित है।

☐ पत्ते टहनी से टूटकर नीचे गिर रहे थे। उन्होंने पवन को उपालम्भ देते हुए कहा—तुम भी बड़े विचित्र प्रकृति के धनी हो। बाल्यकाल में तुमने हमें प्यार से सहलाया था, युवावस्था में हमारे साथ क्रीड़ा की थी और अब वृद्धावस्था में जीवनदान देने के स्थान पर हमें नीचे गिरा रहे हो!

पवन ने कहा—संसार की यही रीति है। जब स्वयं में शक्ति होती है तो प्रतिकूल स्थिति भी अनुकूल लगती है। शक्तिहीन व्यक्ति प्रेम से सहलाने पर भी पीड़ित हो जाता है। जिनमें शक्ति का अभाव है वे मूल से चिपक कर नहीं रह सकते।

☐ बाणी की चोट तन न पर लगकर हृदय पर लगती है। वह चोट इतनी गहरी होती है कि यकायक मिटती नहीं। हाँ, यदि कोई अपराध स्वीकार कर ले तो उसका दर्द कम हो जाता है।

☐ अपने ही मुंह से अपनी प्रशंसा शोभास्पद नहीं है। हमें दूसरों की प्रशंसा करने का अधिकार है किन्तु दूसरों की निन्दा करने का अधिकार नहीं है। स्वयं के दुष्कृत्यों की निन्दा करना पाप मुक्ति का उपाय है जबकि दूसरों की निन्दा करना पाप उपार्जन का साधन है।

☐ भाषा चाहे कितनी भी मुहावरेदार प्रभावपूर्ण और लच्छेदार क्यों न हो! पर उसका असर तब तक नहीं होता जब तक उसमें विचारों की मौलिकता न हो। क्या कभी बाह्य शारीरिक सौन्दर्य प्रसाधनों से शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि हो सकती है?

वास्तविक सौन्दर्य के अभाव में वह कृत्रिम सौन्दर्य केवल उपहास का पात्र बनता है।

☐ धर्म के नाम पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाले मायाचार में लिप्त हैं।

सत्ता और शक्ति के सहारे जीने वाले अत्याचार में मशगूल हैं।

व्यवस्था और जन-सेवा की आड़ में चलने वाले भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबे हैं।

धन, यौवन की वासना का खुला खेल रचने वाले दुराचार के दलदल में फंसे हुए हैं।

☐ जिस मानव के आचार और विचार शुद्ध नहीं होते वह किसी भी जाति का क्यों न हो, वह काफिर है।

☐ ग्राफोफोन रिकार्ड में संगीत की मधुर ध्वनि होती है, तिलों में तेल होता है, दूध में घृत होता है वैसे ही जीवन में सद्गुण होने चाहिए, तभी उसकी कीमत है।

☐ पाल की सहायता से नौका और धर्म की सहायता से मानव पार हो जाता है।

☐ पानी के बिना मछली दुःख पाती है वैसे ही मानव ज्ञान के बिना दुःखी होता है।

☐ चांदनी के दिव्य आलोक में ताजमहल चमक उठता है वैसे ही स्वप्रकाश से जीवन आलोकित होता है।

☐ प्रेम ही प्रसन्नता में परिणत होता है।

☐ साबुन से कपड़ा धोया जाता है उससे रंगा नहीं जाता। रंग से कपड़ा रंगा जाता है, धोया नहीं जाता। वैसे ही साधना से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान प्रदीप्त होता है।

☐ तलवार की धार की तरह बुद्धि तीक्ष्ण होनी चाहिए। जिससे ज्ञान उपलब्ध हो सके।

× × ×

चिन्तन के सूत्र : जीवन की गहन अनुभूति । २३१



□ गजानन के सूंड होती है वह सूंड विवेक की प्रतीक है इसीलिए वह समृद्धि का अधिष्ठायक माना है ।

□ कान होने पर भी जिसमें ज्ञान नहीं है वह धर्रे से भी गया बीता है । वह अन्दर में उतर कर अन्तर्नाद नहीं सुनता ।

□ व्यर्थ का वार्तालाप विलाप हो जाता है वह परस्पर मिलाप नहीं होने देता ।

□ जब तक नदी सागर में नहीं मिलती तब तक वह शान्त नहीं होती ।

□ घड़ा नष्ट होने पर भी मिट्टी नष्ट नहीं होती । मानव का देहान्त होने पर भी उसका अमरत्व नष्ट नहीं होता ।

□ आलस्य अरस है उससे जीवन रस रहित बन जाता है ।

□ जो व्यक्ति सतत भविष्य की चिन्ता करता रहता है और भूतकाल का भूत उसे संतृप्त करता रहता है वह वर्तमान में आनन्दपूर्वक जी नहीं सकता ।

□ धर्म आचरण का विषय है उच्चारण का नहीं । वस्तुतः अन्तःकरण की शुद्धि धर्म है बाह्य-शुद्धि श्रम है ।

□ संगीत अंतरंग भावोपलब्धि की अभिव्यक्ति है ।

□ बिना आचरण के केवल बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के सदृश है ।

□ जिसका अन्तर्मानस आत्मज्ञान की सौरभ से सुरभित है वही सन्त है ।

□ कोई व्यक्ति सिर का भार कंधे पर रख देता है और समझता है कि मैं हल्का हो गया हूँ पर वस्तुतः वह हल्का नहीं होता । वैसे ही दुःखाभाव सुख नहीं, सुख प्रतीति में नहीं प्रीति में है ।

□ दक्ष मानव ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । वह असम संसार में से सम निकालता है ।

□ तलवार के घाव से खून बहाता है । वैर के जहर से खून जलता है ।

□ प्रेम दाम्पत्य जीवन का सार है । मोह दाम्पत्य जीवन का भार है ।

□ डिब्बे पर लिखा रहता है यह जनाना है, मर्दाना है पर टिकट पर नहीं लिखा रहता है वैसे ही शरीर जनाना और मर्दाना है, आत्मा नहीं ।

□ तार से बिजली शहर तक पहुँचती है । वैसे ही महापुरुषों विचारों का आलोक जनता तक पहुँचता है ।

□ अन्न के कण, समय के क्षण और तल्लीन मन ये तीनों अपूर्व धन है । ताश और सिनेमा में तथा गन्दे साहित्य के पढ़ने में समय का नाश करना जीवन का ह्रास है ।

□ पाप छुपाने से कभी भी छिपता नहीं, और प्रकट करने से पाप रहता नहीं । अतः पाप को प्रकट कर दो जिससे संताप नहीं होता ।

□ सोना प्रमाद है और जागना प्रमोद है ।

□ वर्तन यदि गरम है तो वह संडसी से उठाया जाता है वैसे ही संसार में विवेक से रहना चाहिए ।

□ मानव का जीवन पुल की तरह है, पुल रुकने के लिए नहीं होता, पार उतरने के लिए होता है ।

□ जिसके अन्तर्मानस में श्रद्धा का आधिपत्य है वहाँ पर पत्थर भी बोल सकता है और जहाँ पर श्रद्धा का अभाव है वह बोलता हुआ भी पत्थर के सदृश ही है ।

□ वात्सल्य का प्रभाव केवल मनुष्यों एवं समझदार जानवरों पर ही नहीं पेड़-पौधों और वनस्पति जगत पर भी अचूक रूप से पड़ता है ।

□ परमात्मा की शक्ति जितनी विराट् व व्यापक है, उतनी ही व्यापक व विराट् मानवीय शक्ति है ।



□ मानव-जीवन को महत्ता के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले गुणों में सेवा एक महत्वपूर्ण गुण है ।

□ जिसने स्वयं अपने आपको चिरकाल तक आदर्श परिस्थितियों में रखकर ज्ञान, अनुभव, तप के आधार पर विशिष्ट बना लिया हो, वही वैसा उपदेश देने का अधिकारी है ।

□ आत्म-सुधार से आत्म-सेवा के साथ-साथ पर-सुधार से पर-सेवा के प्रयत्न में ही स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय है ।

□ क्षमा विशाल अन्तःकरण की भावभि-व्यक्ति है ।

□ दूसरे के दोषों के प्रति उदार और सहन-शील बनना ही क्षमा है ।

□ क्षमा स्नेह की शून्यता को स्नेह से भरना है ।

□ क्षमा एवं स्नेह वही दे सकता है, जो स्व-भाव से महान् हो समर्थ हो ।

□ क्षमा का शब्दोच्चार ही क्षमा नहीं है, अपितु दूसरों की दुर्बलताओं व अल्पताओं को स्नेह की महान् धारा में विलीन करने की श्रमता को ही क्षमा कहते हैं ।

□ जो जितना सहन कर सकता है, पचा सकता है, वह उतना ही बहादुर है, उतने ही अंश से आनंद का उपभोक्ता है ।

□ क्षमा परिस्थितियों से तथा आन्तरिक हिंसाओं से बचने तथा हिंसा की परम्परा बढ़ने न देने का उत्तम प्रयास है ।

□ क्षमा विधेयात्मक अहिंसा को तीव्र और विकसित करने का अपूर्व उपाय है ।

□ जो क्षमाशील है, उसके लिए संसार में कोई शत्रु नहीं, भय नहीं, अन्तर्द्वन्द्व नहीं ।

□ सत्य संसार की सबसे बड़ी शक्ति है । संसार के समस्त बलों का समावेश सत्य में हो जाता है ।

□ सत्य का सर्वांगीण स्वरूप समझने के लिए दृष्टि का शुद्ध, स्पष्ट और सर्वांगीण होना बहुत आवश्यक है ।

□ सत्य को भली-भाँति समझने के लिए मनुष्य को सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की अग्नि में अविद्या को भस्म करना पड़ता है, तभी हृदय में सत्य का सूर्य उदित होता है ।

□ जैसे नमक की डली और नमक दोनों अलग-अलग नहीं हैं, एक ही हैं, वैसे ही सत् और सत्य दोनों एक ही हैं ।

□ सत् वस्तु सत्य से व्याप्त है, सत् में सत्य ओतप्रोत है । सत् और सत्य दोनों में भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं ।

□ जो स्वयं तीनों काल में रहे जिसके अस्तित्व के लिए दूसरे को अपेक्षा न रहे, उसका नाम सत्य है ।

□ सत्य स्वयं विद्यमान रहता है, उसके ही आधार पर अन्य सारी चीजों का अस्तित्व निर्भर है ।

□ संसार में कोई भी वस्तु या स्थान ऐसा नहीं है जहाँ सत्य न हो । जिस वस्तु में सत्य नहीं है वह वस्तु किसी काम की नहीं रह जाती ।

□ सत्य अपने आप में स्वयं सुन्दर है । जगत् में सत्य से बढ़कर सुन्दर कोई वस्तु नहीं है ।





## स्फुट विचार

### □ शिक्षा

मदनगंज के विद्यालय में प्रवचन करते हुए आपने कहा—जीवन के साथ शिक्षा का वही सम्बन्ध है, जैसा कि शरीर के साथ प्राणशक्ति का। बिना शिक्षा के जीवन का मूल्य नहीं। शिक्षा से ही जीवन में चमक और दमक आती है। मानव जाति ने जो आज के दिन तक विकास किया है उसका मूल शिक्षा है। मानव की शिक्षाका प्रारम्भ सर्वप्रथम घर होता है। उसके पश्चात् विद्यालय से। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के ग्रन्थ इस बात के साक्ष्य हैं कि अतीत काल में यहाँ पर गुरुकुलों में अध्ययन होता था। नालन्दा विश्व विद्यालय एक ऐसा विश्व विद्यालय रहा, जहाँ पर चीन, जापान, ईरान और मध्य एशिया के अन्य भागों से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे और अध्ययन कर अपने जीवन को धन्य बनाते थे।

आज जिस प्रकार के जीवन मूल्य परिवर्तित हो चुके हैं तो शिक्षा के मूल्य भी परिवर्तित हो चुके हैं। प्राचीनकाल में शिक्षा का आधार धर्म और आध्यात्म था। पर आधुनिक शिक्षा का आधार विज्ञान और राजनीति है। प्राचीन काल में शिक्षा का आदर्श था। बंधनों से विमुक्ति तो आज शिक्षा का आदर्श है स्वार्थों की नियुक्ति। पहले शिक्षक कर्तव्यप्रधान थे तो आज शिक्षकों में भी द्रौपदी के चीर की तरह अधिकार लिप्सा बढ़ रही है। प्राचीन युग के छात्रों में विवेक और अनुशासन की प्रमुखता थी तो आज छात्रों में उद्दण्डता का प्राधान्य है। वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन राष्ट्र के निर्माण में नहीं अपितु राष्ट्र के विनाश के लिये कर रहे हैं। पहले विद्यार्थी और अध्यापकों में स्नेह और सहानुभूति का प्राधान्य था तो आज अविश्वास का बोलबाला है। यही है संघर्ष का मूल कारण।

महान विचारक बर्क ने कहा—शिक्षा पुस्तकों का ढेर नहीं है अपितु विश्व के साथ, मानवों के

साथ और जीवन के साथ तादात्म्य बुद्धि है। एडिसन का मन्तव्य है शिक्षा मानव जीवन के लिए उसी प्रकार है, जैसे संगमरमर के पत्थर के लिए शिल्पकला। महाकवि निराला ने स्पष्ट शब्दों में कहा—संसार में जितने प्रकार की प्राप्तिर्याँ हैं, शिक्षा उन सभी से बढ़कर है। शिक्षा-जीवन वृक्ष का बीज है। शिक्षा जीवन को स्वावलम्बी बनाती है। जीवन को स्वाश्रित बनाती है। आज सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत के समक्ष दो मुख्य समस्याएँ हैं। एक शिक्षा की और दूसरी रक्षा की। दस-वीस लाख सैनिक रक्षा की समस्या को हल कर सकते हैं किन्तु अज्ञान के गहन अन्धकार को नष्ट करने के लिए उससे अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है। जिस राष्ट्र की प्रजा अधिक सुशिक्षित होगी, वह राष्ट्र उतना ही प्रगतिशील होगा क्योंकि जीवन विकास का आधार सुसंस्कार जीवन को सुसंस्कारित बनाने का कार्य है शिक्षा का। शिक्षा के साथ यदि धर्म का मुमेल होगा तो शिक्षा वरदान रूप होगी। धर्म मूल्य वैज्ञानिक शिक्षा भी विनाश का कारण है न कि विकास का। शिक्षा हमारे मन को विशाल बनाएँ, हृदय को विराट् बनाएँ और हमारे आचरण को पवित्र करे। शिक्षा केवल विविध जानकारियों का ढेर नहीं है अपितु निर्मल जीवन जीने की प्रेरणा है। एतदर्थ ही राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—

सबसे प्रथम कर्त्तव्य है शिक्षा बढ़ाना देश में,  
शिक्षा बिना ही पड़ रहे हैं आज हम सब बलेश में।  
शिक्षा बिना कोई कभी बनता नहीं सत्पात्र है,  
शिक्षा बिना कल्याण की आशा दुराशा मात्र है ॥

### □ जीवन और विज्ञान

एक बार चिन्तन गोष्ठी में जीवन और विज्ञान के सम्बन्ध में विचार चर्चाएँ चल रही थीं, आपने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा—आज का युग



वैज्ञानिक युग है, यही कारण है कि आज का मानव विज्ञान के परीक्षण प्रस्तर पर प्रत्येक वस्तु को कसने के पश्चात् उसे सही मानता है। जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिस पर विज्ञान का प्रभाव न हो। खाने-पीने, उठने-बैठने में सर्वत्र विज्ञान की चहल-पहल दिखलाई देती है। आज मानव की वृत्तियों का अध्ययन भी विज्ञान की दृष्टि से किया जाने लगा है। मूर्धन्य वैज्ञानिक विज्ञान के आलोक में आत्मा के सम्बन्ध में चिन्तन कर रहे हैं। यह सत्य है कि विज्ञान एक शक्ति है वह अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी। वह विनाश का प्रलयकारी दृश्य भी उपस्थित कर सकती है। जो नित्य नई सुख-सुविधाओं का सृजन कर वरदान रूप प्रस्तुत कर सकती है। रेडियो, टेलीविजन, विद्युत्, चिकित्सा और कृषि आदि के सम्बन्ध में विज्ञान ने मानव जाति पर जो उपकार किया है, वह किससे छुपा हुआ है? आज मानव अनन्त आकाश में पक्षी की तरह उड़ान भर रहा है, सागर में मछली की तरह तैर रहा है और धरती पर रेल और कार के द्वारा सरपट दौड़ रहा है। यह है विज्ञान का चमत्कार। विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग करना मानव की बुद्धि पर निर्भर है। विज्ञान का धर्म के साथ समन्वय होगा तो वह कल्याणकारी रूप प्रस्तुत कर सकेगा।

प्रत्येक वस्तु के दो पहलू हैं उसका एक पहलू शुभ है तो दूसरा पहलू अशुभ है। एक पहलू सत् है और दूसरा असत् है? विज्ञान शुभ भी है और अशुभ भी, वह देव भी है और दानव भी है। वह अमृत भी है तो हलाहल जहर भी है। आवश्यकता है उसके विचारपूर्वक उपयोग की। विज्ञान के द्वारा मानव नित्य नये रहस्यों का पता लगा रहा है। वह चन्द्रलोक, मंगललोक और शुक्रलोक की यात्रा के लिए सन्नद्ध है। सागर की अतल गहराई में पहुँचकर उसने वैज्ञानिक साधनों से ऐसे रहस्य प्रस्तुत किये हैं, जो आज तक रहस्यमय बने हुए थे। नभ, जल और थल तीनों पर उसके चरण गतिशील

हैं। आज मानव के तन की दूरी कम हो गई है। लाखों मील की दूरी भी आज ऐसी प्रतीत होती है कि वह घर का ही आँगन है। आज अन्धकार को दूर करने के लिए विद्युत् का आलोक है, पसीना सुखाने के लिये पंखा है, भोजन पकाने के लिए गैस है, सर्दी से बचने के लिये हीटर है तो गर्मी से बचने के लिए कूलर है। यह है भौतिक विज्ञान की देन तो जीवन विज्ञान की देन है कि इस विराट विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे मेरी आत्मा के समान हैं। इसलिए मित्ती मे सव्व भूएसु का स्वर उसने बुलन्द किया। अध्यात्म विज्ञान जीवन जीने की नई दृष्टि देता है। यदि भौतिक विज्ञान का अध्यात्म विज्ञान के साथ सुमेल हो जाय तो स्नेह और सद्भावना की सुर-सरिता जन-जन के अन्तर्मानस में सहज रूप से प्रवाहित हो सकती है।

### □ नारी नारायणी

एक दिन नारी जीवन पर विचार-चर्चा करते हुए आपने कहा—कःपर्याश्रयस जो चीन का महात् दार्शनिक था उसने नारी को संसार का सार कहा है। पाश्चात्य चिन्तक कोली ने लिखा है नारी प्रकृति की एक मधुर भूल है। तो महान चिन्तक जेक्सपियर ने नारी को पुरुष की दुर्बलता कहा है। भारत के ऋषियों ने नारी की महिमा और गरिमा का अंकन करते हुए लिखा कि जिस घर में नारी की पूजा होती है वहाँ देवता वास करते हैं “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।

भारतीय साहित्य में नारी के दोनों रूप हैं। कहीं पर नारी की निन्दा भी की है और उसे नरक का द्वार भी बतलाया है। यह नारी का अशुभ पक्ष है। जबकि नारी तप और त्याग की एक अद्भुत प्रतिभा है। वह लक्ष्मी है। सरस्वती है और दुर्गा भी है। वह घर की प्रतिष्ठा है समाज का सम्मान है और राष्ट्र का हृदय है। उसने अपनी प्रतापपूर्ण प्रतिभा और शील व सेवा से जो आदर्श उपस्थित किये हैं वे उच्चतम आदर्श भारतीय



इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर चमक रहे हैं। वैदिक परम्परा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य जैसे महामनीषी को शास्त्रार्थ में पराजित किया था जिसे देखकर राजा जनक भी चकित थे। जैन इतिहास में जयन्ती जैसी तर्कशीला नारी ने श्रमण भगवान महावीर के सामने अनेक जज्ञासाएँ प्रस्तुत की और भगवान महावीर ने समाधान दिये। जब हम उसे पढ़ते हैं तो लगता है कि नारी में सहज बौद्धिकता है। उसने तप और त्याग के क्षेत्र में जो कीर्तिमान स्थापित किया है वह पुरुषों के लिए भी चुनौती है। जब हम अन्तगद्दशांगसूत्र में काली, महाकाली श्रमणियों के तप का जीता जागता वर्णन पढ़ते हैं तो श्रद्धा से सिर नत हो जाता है।

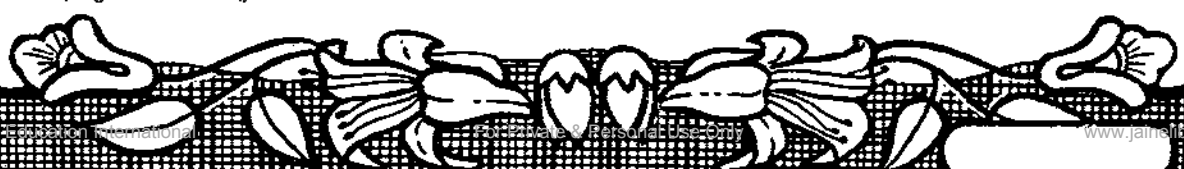
राजस्थान की वीर नारी तो इतिहास का शृंगार है, अपनी शील की रक्षा के लिए अपने राष्ट्र देश व कुल परम्परा की रक्षा के लिए उन्होंने जो बलिदान दिया है उससे राजस्थान का इतिहास आलोकित है। झांसी की रानी ने रण-क्षेत्र में तलवार का जो चमत्कार दिखाया क्या कभी उसे विस्मृत किया जा सकेगा। रानी दुर्गावती और पद्मिनी ने अपनी शील की रक्षा के लिए जो कदम उठाया क्या अन्य देश की नारियाँ इस प्रकार कदम उठाने में सक्षम रही हैं? कभी नहीं, सीता, सावित्री, दमयन्ती ब्राह्मी और सुन्दरी ऐसी तेजस्वी नारियाँ रही हैं जिन पर भारत को गर्व है। पर आज नारी की जो अवमानना हो रही है हर, विज्ञापन में नारी का जो भोण्डा चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है वह दर्दनाक और शर्मनाक है। नारी नारायणी है। नर में दोनों अक्षर ह्रस्व है जबकि नारी में दोनों ही अक्षर दीर्घ हैं! नारी चाहे तो संसार में स्वर्ग उतार सकती है। उसे तप और त्याग का ज्वलंत आदर्श उपस्थित करना चाहिए उसी में उसकी गरिमा रही हुई है।

□ साहित्य और कला

एक बार साहित्य संगोष्ठी में अपने विचार

प्रस्तुत करते हुए आपने कहा—मानवीय संस्कृति के लिए साहित्य और कला वरदान है। साहित्य और कला का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य और कला ऐसी सुन्दर सरस सरिताएँ हैं जो मानव मानस की भूमि को सरसब्ज बनाती हैं। अतीतकाल से ही मानव जीवन का साहित्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इटली के महान चिन्तक सिसरो ने एक स्थान पर लिखा है कि साहित्य का अध्ययन युवकों में चिन्तन उद्बुद्ध करता है, वृद्धों का मनोरंजन करता है। तो विभिन्न व्यक्तियों को धैर्य प्रदान करता है, घर के वातावरण को विशुद्ध बनाता है। और सभी मानवों में नम्रता का संचार करता है, इसलिये प्रतिपल-प्रतिक्षण साहित्य रूपी सुमन का सतत सिचन करना चाहिए। अनन्त गोपाल शेवडे जो आधुनिक युग के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं उनका मन्तव्य है कि राजनीति क्षणभंगुर है किन्तु साहित्य चिरस्थायी है। साहित्य के आधारभूत मूल्यों की कभी क्षति नहीं होती। जर्मन के महान चिन्तक गेटे ने अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए एक बार कहा था कि साहित्य का पतन राष्ट्र के पतन को द्योतित करता है वे पतन की ओर एक-दूसरे के परस्पर सहयोगी व पूरक है इसीलिए साहित्य को सदा नैतिकता की ओर अग्रसर रहना चाहिए क्योंकि साहित्य में वहाँ के जनमानस का प्रतिबिम्ब उजागर होता है।

मेरी दृष्टि से साहित्य की सरिता अपने लक्ष्य की ओर बढ़े उसे किसी भाषा विशेष के संकीर्ण घेरे में आबद्ध न किया जाए। साहित्य वही सच्चा साहित्य है जो हमारी सुहृदि को जागृत करे। आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति प्रदान करे, हमें वह गति और शक्ति दे जिससे हम सच्चे और अच्छे इन्सान बन सकें, हमारे विचार स्वच्छ और निर्मल हो सकें। साहित्य में समाज का यथार्थ प्रतिबिम्ब हो जो प्रतिबिम्ब समाज में समता, समन्वय समुत्पन्न करे इस प्रकार का साहित्य ही समाज में वरदान रूप होता है। □



## आगम-सम्पादन : दशवैकालिक सूत्र

स्वतंत्र लेखन एक कला है, इस कला में अनुभूति प्रधान होती है, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की कुशलता लेखक को श्रेष्ठता प्रदान करती है।

सम्पादन में श्रुति व अधीति प्रधान है। लेखक का गम्भीर अध्ययन, शब्दज्ञान और शब्दों की डोर पकड़कर भावों की गहराई तक पहुँचना तथा उनके 'सुप्त' अर्थ का उद्घाटन करना—इसी में संपादक की कला का चातुर्य है।

सम्पादक मूल लेखक की परोक्ष आत्मा का, उन शब्दों के माध्यम से प्रत्यक्ष दर्शन करता है। जो संपादक इस कला में निष्णात नहीं, वह योग्य संपादक भी नहीं हो सकता।

सम्पादन में भी आगम-शास्त्र जैसे गम्भीरतम विषय का संपादन करना तो और भी कठिन है, कठिनतम है। इसमें न केवल शब्द ज्ञान ही पर्याप्त है, अपितु उस विषय का सर्वांगीण और उसके सम सामयिक देश-काल में निमित्त साहित्य, आचार परम्परा आदि का भी ज्ञान अपेक्षित है तभी संपादक शास्त्र के साथ न्याय कर सकता है।

महासती श्री पुष्पवतीजी ने जैन आगम साहित्य के प्रमुख सूत्र—दशवैकालिक सूत्र का संपादन-विवेचन किया है। यह विवेचन बहुत ही विस्तृत है, तथा टोका-चूणि-भाष्य आदि तात्कालिक विवेचना ग्रन्थों का आधार मानकर चला है। इसमें महासतीजी ने अथक परिश्रम किया है, तथा अपने अध्ययन, अनुभव, चिन्तन तथा अधीत श्रुत ज्ञान का पर्याप्त उपयोग किया है। सौ छोटे-छोटे ग्रन्थों के संपादन से एक ही उत्तम-श्रेष्ठ संपादन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। महासतीजी की आगम-संपादन कुशलता का निदर्शन कराने में यही एक पर्याप्त है। इस आगम पर उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने विस्तृत सर्वांगपूर्ण प्रस्तावना लिखी है। प्रस्तावना के अन्त में लिखी पंक्तियाँ संपादन की विशिष्टता पर प्रकाश डाल रही हैं—

'स्थानकवासी समाज एक प्रबुद्ध और क्रान्तिकारी समाज है। उसने समय-समय पर विविध स्थानों से आगमों का प्रकाशन किया तथापि आधुनिक दृष्टि से आगमों के सर्वजनोपयोगी संस्करण का अभाव खटक रहा था। उस अभाव की पूर्ति का संकल्प मेरे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्म-योगी पूज्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म० के स्नेह-साथी व सहपाठी, श्रमण संघ के युवाचार्य श्री मिश्री-मलजी मधुकर मुनिजी ने किया। युवाचार्यश्री ने इस महान् कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने हेतु संपादक-मण्डल का गठन किया और साथ ही विविध मनीषियों को संपादन, विवेचन के लिए उत्प्रेरित किया। परिणामस्वरूप सन् १९८३ तक अनेक आगम शानदार ढंग से प्रकाशित हुए। अत्यन्त द्रुतगति से आगमों के प्रकाशन कार्य को देखकर मनीषीगण आश्चर्यान्वित हो गए। पर किसे पता था कि युवाचार्य श्री का



स्वप्न उनके जीवनकाल में साकार नहीं हो पायेगा। नवंबर १९८३ को नासिक में हृदय-गति रुक जाने से दकायक उनका रवर्गवास हो गया। उनकी प्रबल प्रेरणा थी कि दशवैकालिक के अभिनव संस्करण का सम्पादन मेरी ज्येष्ठ भगिनी परमाविदुषी महासतीजी श्री पुष्पवतीजी करें। बहिन जी महाराज को भी सम्पादन-कार्य में पूजनीया मातेद्वारी महाराज के रवर्गवास से व्यवधान उपस्थित हुआ जिसके कारण न चाहते हुए भी इस कार्य में काषी विलम्ब हो गया। युवाचार्यश्री इस आगम के सम्पादनकार्य को नहीं देख सके।

दशवैकालिक का मूल पाठ प्राचीन प्रतियों के आधार से विशुद्ध रूप से देने का प्रयास किया गया है। मूल पाठ के साथ हिन्दी में भावानुवाद भी दिया गया है। आगमों के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में विवेचन भी लिखा है। विवेचन में नियुक्ति, चूर्ण, टीका और अन्धान्य आगमों का उपयोग किया गया है। यह विवेचन सारगर्भित, सरल और सरस हुआ है। कई अज्ञात तथ्यों को इस विवेचन में उद्घाटित किया गया है। अनुवाद और विवेचन की भाषा सरल, सुबोध और सरस है। शैली चित्ताकर्षक और मोहक है। बहिन जी महाराज की विलक्षण प्रतिभा का यत्र-तत्र संदर्शन होता है। यद्यपि उन्होंने आगम का सम्पादनकार्य सर्वप्रथम किया है तदपि वे इस कार्य में पूर्ण सफल रही हैं। यह विवेचन हर दृष्टि से मौलिक है। मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि इस संस्करण का सर्वत्र सगादर होगा, क्योंकि इसकी सम्पादन शैली आधुनिकतम है और गुरु गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने वाली है। ग्रन्थ में अनेक परिशिष्ट भी दिए गए हैं, विशिष्ट शब्दों का अर्थ भी दिया गया है, जिससे यह संस्करण शोधार्थियों के लिए भी परम उपयोगी सिद्ध होगा.....!"

## सूत्र का अर्थ

ॐॐ

- प्राकृत भाषा में सूत्र शब्द के तीन अर्थ होते हैं— सूत्र, श्रुत और सुप्त !
  - १. सूत्र का एक अर्थ है— धागा—धागा बिखरे हुए अनेक फूलों को एक माला में गुँथ सकता है, इसी प्रकार सूत्र बिखरे हुए अनेक विचारों, अर्थों को एक वाक्य माला में गुंफित कर लेता है।
  - २. सूत्र का दूसरा अर्थ है श्रुत-ज्ञान ! जिस सुई में सूत्र—धागा पिरोया हुआ रहता है, वह सुई गिर जाने पर भी खोती नहीं, खो जाने पर खोज निकालना सहज होता है, उसी प्रकार सूत्र—श्रुत (ज्ञान) से युक्त आत्मा संसार की वासनाओं में भटक जाने पर भी सहजतया संभल जाता है, और आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।
  - ३. सूत्र का तीसरा अर्थ है—सुप्त ! सूत्र—वह है जो शब्दों की शय्या पर भावों की गहराई लिए सोया रहता है। सोये हुए व्यक्ति को जगाने पर वह प्रबुद्ध होकर कार्यरत हो जाता है, उसी प्रकार सुप्त भाव व अर्थ जिसमें छिपा रहता है, और जिसे चित्तन के द्वारा जागृत करके अनेक प्रकार का विज्ञान प्राप्त किया जा सके वह है—सूत्र !
- सूत्र के तीनों अर्थों का सामंजस्य करके जीवन को आलोकमय बनाना चाहिए।

—उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी



## संस्कृत काव्य रचना

महासतीजी श्री पुष्पवतीजी का प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी भाषा पर न केवल गद्य-विधा में, अपितु पद्य विधा में भी अच्छा अधिकार है। वे संस्कृत में धाराप्रवाह प्रवचन एवं वार्तालाप करके प्राचीन भारतीय विदुषियों की स्मृति को सजीव कर देती हैं।

यद्यपि संस्कृत में आपने कोई विशिष्ट खण्ड काव्य या महाकाव्य आदि की सर्जना नहीं की, किन्तु समय-समय पर स्फुट काव्यों की नवक, अष्टक, पंचक आदि में अनेक रचनाएँ की हैं। संस्कृत की भाषा सरल होते हुए भी माधुर्य एवं प्रसाद गुण मंडित है। विषय-विवेचन तो मार्मिक है ही। यहां पर प्रस्तुत हैं दो रचनाएँ—

### अहिंसा पञ्चकम्

[ शिलरिणी वृत्तम् ]

अहिंसायां लाभाः सकलगुणदाः सन्ति बहवः ।  
न कश्चित्प्राणीह प्रभवति ततो वैरकरणः ॥  
प्रतिष्ठायां तस्या सऽमुर—नर दैत्याः सुमनसो  
ह्यजाता मित्रत्वं निखिल सुखमस्मै प्रददति ॥ १ ॥

अहिंसावृत्तिर्यो नर इह भवेच्चेद् भुवि यदा ।  
ततस्तस्मिन्दैवी भवति खलु शक्तिश्च महती ॥  
स सर्वेषाम्पूज्यो दिवि भुवितले दिशु दशसु ।  
भयं नैव क्वापि प्रभवति च तस्यार्द्रमनसः ॥ २ ॥

समस्तं लोकं यो ह्यनुभवति ह्य्यात्म सदृशम् ।  
तथैवस्वात्मानं सकल — भुवनेष्वप्यनुभवेत् ।  
न तस्य व्यामोहः मनसि समुदेत्येकमुमते  
दिदृक्षोस्तुल्यत्वं क्वचिदपि च शोकोऽपि न भवेत् ॥ ३ ॥

वृतायेनाऽहिंसा भवति स नरः शङ्कर इव ।  
समेषां कल्याणं रचयितुमसौ शक्तिसहितः ॥  
अतस्मास्मिन्सर्वे विदधति सुविश्वासममलं (मनघम्)  
न कश्चिज्जीवः सम्प्रभवति च तस्याऽहितकरः ॥ ४ ॥

सुसाध्यास्ताः सर्वाः सविधमुपयान्तीह मतयः ।  
क्रियाश्चानिर्देश्या स्व-यमनुफलन्तीह भुवनै ॥  
न कश्चिद्देवोऽपि प्रभवति च तस्य स्वहरणः ।  
पिशाचाः प्रेतास्ते नहि किमपि दुःखं प्रददति ॥ ५ ॥

‘पुष्पवत्या’ महासत्या अहिंसा साधिता धिया ।  
अतस्तस्याः क्रियाः सर्वाः सिद्धिदाः सम्भवन्त्यहो ॥ ६ ॥



सत्य पञ्चकम्

(स्रग्धरा वृत्तम्)

॥१॥

सत्यं शुद्धस्वरूपं परमहितकरं, सर्वं विश्वासपात्रम् ।  
सत्ये सिद्धा प्रतिष्ठा भवति सुमनसां धर्म आभाति सत्ये ॥  
सत्येऽहिंसा स्थिताऽस्ति प्रकटित विभवा सत्यमाश्रित्य देवाः ।  
सत्यं सत्यं वसन्ति स्वरपि दिवि सदा सत्यमेव प्रपन्नम् ॥

॥२॥

सत्याग्नास्तीह किञ्चिन्महदधिकतमं पावनं भूर्भुवः स्व—  
लोकैष्वेतेषु पुन्यं व्रतमति सुखदं सूर्यं वद्यत्तमोहम् ॥  
धृत्वायन्मानवोऽस्मिञ्जगति बहुतमां नैव मज्जत्यघाब्धौ ।  
तीर्त्वा संसारवाग्धि प्रमुदितहृदयो दीव्यति ब्रह्मलोके ॥

॥३॥

देवोऽप्यस्मा द्विभेति व्रतधरपुरुषात् सत्यवावकर्मशीलात्  
गच्छेद्यद्यत्प्रदेशं रविरिव सुदिनं तत्र तत्र प्रकुर्यात् ॥  
सर्वेषामात्मतुल्यः प्रभवति स पुमान् सुप्रियो दिव्य पुंसाम् ।  
साध्याःप्रेताः पिशाचा अपि च निशिचराः प्रेक्ष्यतं मुक्ति मौयुः ॥

॥४॥

कीदृक्सत्यस्वरूपं सुरनरमुनयः सुरयश्चैव सर्वे ।  
व्यामोहं तत्र तेऽयुः शततमपि तद्भागमाख्यातुमीशाः ॥  
ज्ञातुं द्रष्टुं तथैव स्व मनसि नितरां चिन्तितुं नो बभूवुः ॥  
एतावांस्तन्महिम्नोऽभवदनुपमः श्रेष्ठ योगो गरीयान् ॥

॥५॥

वीरस्तीर्थङ्करो मे मनसि तमसोत्खात्य भूलं यदस्ति ।  
सत्यप्रज्ञाङ्करं तं सपदि मलहरं कल्पवृक्षादपीड्यम् ॥  
रतनं चिन्तामणेरप्य—धिकतममहन्मूल्यवत्सूर्यनुत्पल्यं ।  
तेजस्वि प्रोन्नतं तन्निखिलभयहरं सोल्लसनसद्घातु ॥

॥६॥

सत्यमेव जयत्यत्र तस्मात्सत्यव्रतं जनाः ।  
पालयन्तु वदाम्येतत्, श्री पृष्कर गुरोर्वचः ॥  
“पुष्पवत्य”हमेतस्य महिमानं मनोहरम् ।  
जानामि सत्य सान्निध्यं श्रावकाः भजतोत्तमम् ॥



## महासती प्रभावतीजी महाराज द्वारा प्रणीत साहित्य

और

### उसका शास्त्रीय मूल्यांकन

—डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया

(विद्यावारिधि साहित्यलंकार

—एम. ए., पी.एच. डी., डी. लिट.)

महासती पुष्पवती जी संस्कृत की भाँति हिन्दी काव्य रचना में भी समान गतिशील है, समय-समय उपदेशप्रधान भजन, स्तवन एवं कविताएँ लिखती रहती हैं, किन्तु उनका संकलन-संपादन अब तक नहीं किया जा सका। दूसरी बात, आपको स्वतन्त्र काव्य रचना में इतनी रुचि ही नहीं है। फिर भी आपने पूज्य माताजी श्री प्रभावती जी म० द्वारा रचित चरित काव्यों का कुशलतापूर्वक संपादन और नव-संस्करण किया है जिसमें पद-पद पर आपके श्रम व काव्य चातुर्य का संदर्शन होता है। वे काव्य प्रकाशित हो चुके हैं।

किसी विद्वान ने लिखा है, तथा यह अनुभव सिद्ध भी है कि—“लेखन से भी संपादन करना अधिक कठिन है। कभी-कभी तो संपादक को मूल रचना में इतना संशोधन-संस्कार करना पड़ता है कि उसका नव काया-कल्प ही हो जाता है। अतः लेखक से भी अधिक वैशिष्ट्य संपादक का है। संपादक की कुशलता रचना में नव प्राण-संचार कर देती है। इस दृष्टि से महासतीजी द्वारा संपादित साहित्य का सृजनधर्मी दृष्टि से एक स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है।

प्रकाशित काव्य रचनाओं पर प्रसिद्ध साहित्य मनीषी डा० प्रचंडिया की विद्वत्तापूर्ण समीक्षा यहां मननीय है।

—सम्पादक

महासती साध्वी प्रभावती जी महाराज द्वारा प्रणीत साहित्य और उसका शास्त्रीय मूल्यांकन | २४१





श्रमण संतों की परम्परा अर्वाचीन नहीं है। इस परम्परा में जहाँ साधक साधु-संतों का समागम रहा है, वहाँ सुधी साध्वियों का योगदान भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। श्वेताम्बर श्रमण परम्परा में स्थानकवासी परम्परा अपनी जागरूकता के लिए आरम्भ से ही विख्यात रही है। इसी ख्याति प्राप्त ज्ञान-गौतमी में श्री चन्दनबाला श्रमणों संघ की प्रवर्तिनी विदुषी महामती श्री सोहनकुंवर जी का नाम बड़े महत्त्व का है। आपकी सुशिष्या प्रतिभामूर्ति सुधी साध्वी महासती श्री प्रभावती महाराज एक ओर जहाँ साध्वीचर्या-तपस्या में तेजस्वी आदर्श की स्थापना करती हैं, वहीं दूसरी ओर साहित्यसर्जना में वे अपने समय की अगुआ की सफल भूमिका निर्वाहन में पहल करती हैं। आपके साहित्य में स्वान्तःमुखाय की सुगन्ध प्रकीर्ण है तो दूसरी ओर परजनहिताय और लोक-मंगल की उदात्त भावना की निष्कम्प शिखा भी प्रज्वलित है। यहाँ साध्वी महाराज के द्वारा प्रणीत साहित्य-सम्पदा का शास्त्रीय निकष पर मूल्यांकन करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

साध्वी श्री प्रभावती जी महाराज ने भारतीय जनभाषा तथा राजभाषा हिन्दी में गद्य तथा पद्य दोनों ही रूपों में विभिन्न काव्यरूपों में साहित्य सृजन किया है। काव्य में चरित्रकाव्य, भजन तथा तत्क जैसे सशक्त काव्यरूपों में सात ग्रन्थों का सृजन किया है। गद्य-लेखन में आपने बोधकथा तथा प्रवचन के रूप में अनेक विचारपूर्ण निबन्धों की रचना की है। अब प्रत्येक कृति का साहित्यिक मूल्यांकन करना यहाँ असंगत न होगा।

#### □ पुरुषार्थ का फल

'पुरुषार्थ का फल' एक पौराणिक चरित्र काव्य है। इसकी रचना प्रसिद्ध जैन ऐतिहासिक कथानक चन्द्रसेन—चन्द्रावती के कथावृत्त पर आधारित है। यह वस्तुतः एक रूपक काव्य है, जिसमें चन्द्रसेन पुरुषार्थ का प्रतीक है और चन्द्रावती अभीप्सित लक्ष्य का। लक्ष्य प्राप्त्यर्थं पुरुषार्थ का उपयोग परम

अपेक्षित होता है। कवयित्री ने सरल किन्तु सरस भाषा-शैली में राजकुमार चन्द्रसेन को एक दृढ़-प्रतिज्ञ, कठोर संकल्प तथा उत्साह का उन्नायक के रूप में चित्रित किया है। कृति का मुख्य संदेश है कि प्रत्येक कार्य-सिद्धि में अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं। कवयित्री ने कथा के तारतम्य को चिरं-जीवी बनाया है जिसमें प्रभावना के साथ राक्षसों से घमासान युद्ध, अघोरियों से भिड़न्त का सजीव वर्णन किया है। राक्षसों के घर जाकर कथानायक प्राणों को हथेली पर रखकर चन्द्रावती को मुक्त कराता है। इतने से काव्यात्मक वर्णन में श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शांत रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रस्तुत कृति में कवयित्री का जीवन-रसवती तत्त्वज्ञान पद-पद पर व्यक्त हुआ है जिसे माधुर्य काव्याभिव्यक्ति के माध्यम से जीवन का उदात्त संदेश शब्दायित किया गया है। कृति में पुरुषार्थ की प्रेरणा तथा लक्ष्य के प्रति तन्मय भाव से समर्पित हो जाने का उद्बोध अभिव्यक्त है।

#### □ साहस का सम्बल

दिव्यात्माओं के आदर्श जीवन की कहानी चरित्रकाव्य का मुख्य विषय होती है। साहस का पक्ष भी चन्द्राप्रभु के चरित्र में अन्तर्कथा के रूप में समाहत श्रीमेन—हरिसेन के जीवनवृत्त पर आधृत है। विदुषी कवयित्री ने श्रीसेन और हरिसेन इन दोनों भाइयों के चरित्र द्वारा सत्य, दया, विनय-शीलता, सेवापरायणता जैसे उदात्त गुणों की प्रतिष्ठा की है। चरित्र में स्पष्ट किया गया है कि सांसारिक सुख यथार्थ सुख नहीं है, वह मात्र सुखा-भास है। पारमार्थिक सुख ही यथार्थ सुख है और हमें उसी को पाने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

श्रीसेन और हरिसेन दोनों ही भाइयों के मन में जब वैराग्य उत्पन्न होता है तब उन्हें सांसारिक वैभव त्यागने में कोई कष्ट नहीं होता। ये तुरन्त श्रमण-जीवन स्वीकार कर लेते हैं। कवयित्री ने इतने से कथावृत्त को इतने प्रभावक और मोहक



शैली में व्यक्त विधा है कि पाठक का मन एक बार को विरागता में डूब जाता है। काव्य का लक्ष्य यही पर पूर्णता प्राप्त करता है।

प्रस्तुत काव्य की रचना दोहा, चौपाई, छन्दों में हुई है जिसे कवयित्री ने राधेश्याम की तर्ज पर व्यवस्थित किया है। सारे काव्य में प्रसाद गुण की रसधार प्रवाहित हो उठी है। काव्य में सरसता, सरलता और सुबोधता का अपूर्व संगम मुखर हो उठा है। विवेच्य काव्य में अनुप्रास, उपमा तथा रूपक अलंकारों का सहज प्रयोग द्रष्टव्य है। पूरे काव्य में वैराग्य रस की अजस्र धारा प्रवाहित है, जिसमें आज के जीवन की व्याकुलता और त्रास-पूर्णता का सहज समाधान शब्दायित है। प्रस्तुत काव्य वैराग्य के साथ-साथ नैतिक काव्य की कोटि में सहज रूप से समाहित हो जाता है।

#### □ सुधा-सिन्धु

प्रस्तुत काव्य का कथानक पौराणिक है जिसका नायक है—सिन्धुकुमार। मनचली कन्या द्वारा अनैतिक आरोप लगाने के फलस्वरूप नायक को राज्यसे निष्कासित किया जाता है। नायक अपने आदर्शवादी सम्पन्न चरित्र, वीरता तथा कर्तव्यपरायणता के बलबूते पर वह देश-देशान्तरों की यात्रा करता है और अपनी सूझ-बूझ से सुधाकुमारी राजकन्या से विवाह कर लेता है। अपनी नवविवाहिता को राजकुमारी बनाने के व्याज से वह घोर परिश्रम करता है और अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ अन्ततः सफलता अर्जित करता है। वह अपने पुरुषार्थ के बल पर विशाल राज्य का स्वामी बन जाता है। न्याय, नीति तथा सदाचारपूर्वक शासन करता हुआ एक आदर्श राजा का चरित्र प्रस्तुत करता है।

जहाँ तक काव्यकला का प्रश्न है, प्रस्तुत काव्य इसका एक अनूठा उदाहरण है। इसमें भाषा और शैली की दृष्टि से सरलता और सुबोधता का आद्यन्त प्रयोग हुआ है। इसमें लोक-नीति, धर्म तथा समाज मर्यादा आदि की प्रेरणा प्रस्तुत काव्य

में सहज ही व्यंजित की गई है। विचार और व्यंजना में कहीं कुछ भी थोपा हुआ नहीं है। प्रस्तुत काव्य में उपमा, रूपक, श्लेष तथा यमक आदि अलंकारों का यथायोग्य उपयोग किया गया है। इनके प्रयोग से अर्थ-व्यंजना में, उत्कर्ष में वर्द्धन हुआ है, किसी प्रकार का बोझ नहीं। भाषा की सुकुमारता और सरलता ने काव्य को मिठास से भर दिया है। दोहा तथा राधेश्यामी तर्ज पर लिखा गया काव्य जीवन्त ध्वन्यात्मकता से मुखर हो उठा है।

#### □ कल्पतरु

कवयित्री का कल्पतरु नामक चरित्र काव्य वस्तुतः एक प्रौढ़ रचना है। इसमें कवयित्री का जीवन्त अनुभव तथा अन्तरंग अभिव्यक्त हुआ है। कथा कंचनपुर के राजघराने पर आधारित है। राजकुमारी पद्मा और नन्दग्राम का पद्मसेन के दिव्य चरित्र का लेखा-जोखा प्रस्तुत काव्य में व्यंजित है। कथावृत्त सुव्यवस्थित और किसी भी प्रबन्ध काव्य की पात्रता रखता है तथापि कवयित्री ने इसे एक छोटे से चरित्रकाव्य में ही निबद्ध कर दिया है। रचना की भाषा-शैली वस्तुतः प्रवाहमयी है, प्रसादांत है। काव्य में स्थान-स्थान पर अलंकारों का सुन्दर प्रयोग तथा लोकोक्तियों का सार्थ प्रयोग कथन में कमनीयता उत्पन्न कर उठा है। इस काव्य में नायक के गुणों की प्रधानता रहती है सो विवेच्य काव्य में परिलक्षित है। पद्मसेन में शूर-वीरता, उदारता, ब्रह्मचर्य आदि मानवी गुणों को उजागर किया गया है। श्रृंगार, वीर, करुण तथा अन्त में कथा का अवसान शान्तरस में हो जाता है। काव्य में त्याग की अमरता को सर्वोपरि सिद्ध किया है। नायक काम तथा अर्थ नामक पुरुषार्थों को हीन दृष्टि से देखता है और प्रवीणदृष्टि स्थिर रहती है धर्म तथा मोक्ष पुरुषार्थ पर। यही भारतीय संस्कृति की देन है। प्रस्तुत काव्य में इसी उदात्तता का संचार प्रस्तुत किया गया है। कवयित्री अपने उद्देश्य में आशातीत सफलता प्राप्त करती है।



कवयित्री द्वारा चार चरित्र काव्य रचे गये हैं, जिनमें दिव्यात्माओं के आदर्श जीवन की क्रमिक यात्रा व्यंजित की गई है तथा प्राणी के सम्मुख एक आदर्श जीवन यात्रा को प्रस्तुत कर उन्मार्ग से सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी गई है। शब्द शक्तियों का शुद्ध प्रयोग, अलंकारों का सहज उपयोग तथा प्रभावक भाषा-शैली का व्यवहार इन काव्यों में शक्ति पैदा करता है। नायक के चरित्र-चित्रण में साहस, शक्ति का अदम्य भण्डार मुखर हो उठा है जो अशुभ से जूझकर शुभोपलब्धि में सहायक सिद्ध होता है। मनीषी महिलामणि श्री प्रभावती जी ने इन सत्यों को सफलतापूर्वक शब्दायित किया है।

#### □ प्रभावती शतक

चरित काव्यों के अतिरिक्त कवयित्री ने प्रभावती शतक नामक काव्य की भी रचना की है। संख्यापरक काव्यरूपों में कुलक, अष्टक आदि की परम्परा में शतक काव्य रचने की परिपाटी अर्वाचीन नहीं है। संस्कृत वाङ्मय में शतक काव्यों की एक सुदूर परम्परा रही है, वही हिन्दी में भी अवतरित हुई और नीति, उपदेश तथा संदेश विषयक मन्तव्यों के लिए इस काव्यरूप का व्यवहार किया जाता रहा है। हिन्दी की शतक परम्परा में प्रस्तुत काव्य अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

शतक काव्य में किसी भी छन्द के शत अथवा इससे अधिक का होना शतक के लिए आवश्यक है। हिन्दी में उद्भव शतक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन हिन्दी कवियों ने अनेक शतक काव्य रचे हैं, जिनमें श्रृंगार, नीति तथा उपदेश विषयों की प्रधानता रही है। प्रभावती शतक इसी परम्परा में एक वेजोड़ काव्य है। इसमें महासती द्वारा अपने जागतिक तथा विरागी जीवन की प्रमुख जीवंत घटनाओं को व्यंजित किया गया है। महाकवि बनारसीदास की भाँति 'अर्द्धकथानक' जैसा ग्रन्थ रचा है शतक के रूप में कवयित्री ने 'प्रभावती शतक'। इसे आत्म-कथा भी कहा जा सकता है, पर वैसे प्रवृत्ति हो, पर शक्ति नहीं है।

जन्मभूमि, परिवार, शिशुता का सौष्ठव, स्वसुरालय की देहली सब—सुख, एक दुःख, पुत्र-पुत्री की दीक्षा, स्वयं की दीक्षा, जीवनचर्या, चालीस चतुर्मास, शिष्याओं के नाम, उपकारिणी वाणी, स्वर्गवास के समय, सेवाभावी सतियाँ प्रभावती जी के पुत्र-मुनि, स्थायी स्मृतिपूर्वक शतक १०६ दोहा आदि छन्दों के द्वारा सम्पन्न किया गया है। भाषा बोलचाल की सरल तथा शैली प्रवाहपूर्ण है। मानवी गुणों का उद्घाटन प्रस्तुत कृति में सहज में ही हो जाता है।

#### □ संगीत-प्रभा

कवयित्री ने भजन भी रचे हैं। प्रस्तुत कृति में भजनों का ही प्राधान्य है। संकलन में ६६ भजन हैं जिनमें तीर्थंकरों की वन्दना, बारह भावना तथा धर्म के दस लक्षण प्रमुख हैं। त्रिविध राग-रागिनियों में निबद्ध भजनों का यह संकलन महिलामण्डल के गाने-दुहराने के लिए परम उपयोगी है। काव्य के माध्यम से जो बात प्रभावकारी रूप में दूसरों के सामने प्रस्तुत की जा सकती है उतनी गद्य में नहीं। भजनों के द्वारा किसी भी भाष्य की आवश्यकता नहीं रह जाती। उनमें व्यंजित आध्यात्मिकता सहज में ही आत्मसात् हो जाती है। कवयित्री ने तत्कालीन लोक में प्रचलित संगायन की तर्जों को अपनाया है और उसी पर आधारित सारे भजन रच डाले हैं जो जैन भक्तों में श्रद्धापूर्वक गाये-दुहराये जाते हैं।

#### □ प्रभा-पीयूष-घट

यह कवयित्री का दूसरा भजनों का संकलन है, जिसमें साठ भजनों की रचना की गई है। सभी भजन वजनदार हैं और धार्मिकता से सम्पन्न हैं। प्रत्येक भजन में कोई न कोई संदेश दिया गया है। प्रवचन में जो स्थान दृष्टान्त का है, वही काव्य में भजन का है। भजन अपने आप में उपदेश होते हैं। उन्हें स्वयं गाया जाए और अपनाया जाए। वे स्वयं उपदेश हैं और स्वयं ही उपदेशक भी। नाना विषयों पर अपने जीवन के अनुभवों का निचोड़ इसमें कवयित्री ने व्यंजित किया है। त्रिविध राग-



रागिनियों पर आधृत यं भजन आज भी जीवित है और कल भी जीवित रहने की अर्थमत्ता इनमें विद्यमान है। यही कवयित्री की सबसे बड़ी विशेषता है।

इस प्रकार कवयित्री द्वारा काव्य कृतियों का संक्षिप्त परिचय के आधार पर यह सहज में कहा जा सकता है कि महासती प्रभावती जी के काव्य में ध्वन्यात्मकता है, प्रभावणीलता है और है गजब की सुबोधता। भाषा में सरल्य है। शैली में गजब की लोकप्रियता है। जैसा भी कण्ठ हो यदि इस काव्य को दुहराएगा तो मन झूम जाएगा, यह तय है। अलंकार हैं पर वे किसी पांडित्य प्रदर्शन के लिए काव्याभिव्यक्ति में गृहीत नहीं हुए हैं। अर्थ-उत्कर्ष के लिए सहज में प्रयोग बन पड़ा है। लोक में प्रचलित रस, छन्द तथा राग-रागिनियों के प्रयोग से कवयित्री ने काव्य को सरस बनाया है।

काव्य यदि अभिव्यक्ति की कसौटी है तो गद्य लेखन की कसौटी है अर्थात् गद्य को सरस बनाना दुर्ह ही नहीं जटिल भी है। विदुषी लेखिका के गद्य में लघु कथा और निबन्ध जैसी विधाओं में भी अपनी सफल लेखिनी चलाई है। यहाँ उनकी गद्यात्मक कृतियों का संक्षेप में अनुशीलन करना आवश्यक है।

#### □ जीवन की चमकती प्रभा

विचार संप्रेषण में कथा का योगदान आदिम है। दादी और नानी की क्रीड़ा में बैठकर शिशु कथा को सुनकर ही अपने ज्ञान को विस्तार देते हैं। उन्हें सद्-असद का बोध हुआ करता है। विदुषी लेखिका ने भी अपनी आरम्भिक कृतियों में कथा को ही प्राथमिकता दी है। अठारह कथाओं का यह संकलन हमें अठारह प्रकार के उपदेशों का धर्म लाभ प्रदान करता है। ये लघु कथाएँ हैं अथवा बोध कथाएँ यह निर्णय कर पाना सरल नहीं है। सबकी सब पौराणिक गर्भ से निसृत हैं किन्तु अपने

ढंग से उनका मार्जन किया गया है इस क्रिया में लेखिका की सूझ-बूझ मुखर हो उठी है।

भाषा सरल है और सुबोध है। शैली जिसे सुनकर श्रोता और पाठक पूरे मन से डूब जाता है, विभोर हो जाता है। रचना कौशल का आधार इस पर निर्भर करता है कि उसके श्रोता बखूब सुनते हैं अथवा ऊबते हैं। कहानी के अन्त में उपदेश मुखरित है यही लेखिका का लक्ष्य रहा है। पाठक इस प्रकार असद् से हटकर सद् की ओर उन्मुख होता है।

#### □ प्रभा प्रवचन

निबन्ध का मौखिक रूप ही प्रवचन कहलाता है। इसमें उपदेश की सामग्री व्यवस्थित होकर एकमेव होकर अन्तर् से निकल कर बाहर आती है। हृदय की वाणी सत्य-शिव और सुन्दर होती है। प्रभा-प्रवचन की पूरी वाणी सत्य, शिव और सुन्दर की त्रिवेणी से अनुप्राणित है। दस प्रवचनों का यह संग्रह लेखिका की प्रौढ़ वैचारिकता का प्रतीक है। भाषा और शैली प्रभावक है। विचारों के अनुरूप सफल वाहक की भूमिका का निर्वाह करने में वह सक्षम है। हिन्दी में जो स्थान सरदार पूर्ण सिंह का है वही स्थान श्रमण समाज में निबन्ध लेखन में महासती प्रभावती जी को प्राप्त है। इतने से निबन्धों में सुधी लेखिका ने सिद्ध कर दिया है कि उनकी वैचारिक साधना कितनी गहरी है और वह कितनी पक चुकी है। सारे के सारे दृष्टान्त इस प्रकार दिए गए हैं कि लगता है कि वे लेखिका अथवा साधिका के अन्तर्मन को उद्घाटित करने के लिए लालायित हैं। श्रोताओं को एकदम आप्लावित करने में वे सफलता प्राप्त करते हैं।

वाणी चरित्र की प्रतिध्वनि हुआ करती है। प्रस्तुत कृति में महासती जी का पूरा चरित्र पूरी साधना के साथ प्रकट हुआ है। पूरी कृतियों में वे सहज हैं किन्तु इसमें वे व्यवस्थित है। लगता है साधक की साधना का जो स्वत्व है वह इस अभिव्यक्ति में एकदम मुखर हो उठा है। एक भी शब्द



उनकी भावुकता का मुहताज नहीं है। परिपक्व विचार ने उसी शब्दावली को आमंत्रित किया है जिसमें अभिव्यक्ति की शक्ति है और पैनापन है। यह कृति लेखिका का हिन्दी साहित्य को विशेष अनुदान है।

प्रसिद्ध चिन्तक तथा साधक उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री के शब्दों में प्रभा-प्रवचन में परम विदुषी साध्वीरत्न के अनुभवों का साक्षात्कार, उनके गहन अध्ययन का निचोड़, जीवन की बहु-आयामी व्यापकता, अनुभव, नीति, व्यवहार धर्म, साधना और चिन्तन का नवनीत अभिव्याप्त है। यह वस्तुतः जीवन का भाष्य है।

जहाँ प्रस्तुत प्रवचनों का संकलन साहित्यिक निधि का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ वह पाठकों अथवा श्रोताओं को सन्मित्र की सहकारिता प्रदान करता है। सीख जैसी सम्पदा पाकर उसका पाठक लाभान्वित होता है और दुहाई देता है पूजनीया माताजी को। इससे बढ़कर कृति-लेखन की सफलता और क्या हो सकती है? प्रवचनों की शैली वर्तमान है और है उसमें जीवन्त प्रेरणा फूंकने की अदम्य सामर्थ्य।

सब मिलाकर यह सहज में कहा जा सकता है कि विदुषी लेखिका धर्म की प्रचारिका मात्र ही

नहीं है अपितु सुधी लेखिका भी सिद्ध हुई है। उन्हें कवयित्री के रूप में सदा स्मरण किया जावेगा। भजनों का लेखा-जोखा तो हजार-हजार महिलाओं के समूह में आकण्ठित गूँज रहा है। गूँज की गरिमा जीवन को उदात्तता प्रदान करती है वस्तुतः यह बहुत बड़ी देन है। यही शिव है, यही सत्य है और है सुन्दर। बोध कथाओं का संकलन पाठक को सुबोधता है। एक ही बैठक में यदि किसी को शिक्षा का मोदक आस्वादित हो जाए तो आज के सन्नास से भरे वातावरण में और क्या कुछ चाहिए? प्रवचनों का संग्रह जीवन-पाथेय है जिसे पाकर किसी भी यात्री को सफलता तक पहुँचाने का दावा है।

साध्वी महासती जी आज सशरीर हमारे बीच नहीं हैं। उनका साहित्य हमारे सामने है। प्रवचनों को मैं कई बार बाँच गया हूँ। बराबर लगता रहा है कि उन्हें बाँचता रहूँ। सद्साहित्य लेखक का स्मारक होता है। प्रभावती जी का साहित्य उनके अभाव को मिटाता है और 'प्रोक्सी' की भूमिका अदा करता है। इस प्रकार वे अपने सुधी साहित्य के व्याज से अमर हैं। अजर हैं। मैं हिन्दी पाठकों का इतने पवित्र साहित्य को पारायण करने की हार्दिक संस्तुति करता हूँ और साधुवाद देता हूँ उन्हें जिन्होंने इसे प्रकाशित किया है, मुलभ कराया है।

## प्रभु का स्वरूप :

- नमक की पुतली ने सागर से पूछा—“तुम्हारी गहराई कितनी है ?”
- सागर ने कहा—“भीतर उतरकर देखो !”
- पुतली भीतर गई और उसी में समा गई !
- साधक ने प्रभु से पूछा—“प्रभु ! तुम्हारा स्वरूप क्या है ?”
- प्रभु ने कहा—“मन के भीतर झाँक कर देखो”
- साधक मन के भीतर उतरा और स्वयं प्रभु स्वरूप बन गया।
- सागर को जानने का अर्थ है—सागर में विलीन होकर सागर बन जाना।
- प्रभु को जानने का अर्थ है—प्रभु स्वरूप को पाकर स्वयं प्रभु बन जाना।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि



महासती प्रभावती जी की एक काव्य कृति

## साहस का सम्बल : समीक्षण

—डॉ० नित्यानंद शर्मा पी-एच. डी. डी. लिट्  
(पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी-विभाग जोधपुर)

महासती प्रभावतीजी स्थानकवासी जैन परम्परा की एक प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। उनमें सहज कवित्वशक्ति थी। उनके द्वारा प्रणीत श्रीसेन-हरिसेन नामक काव्य का मैंने आदि से लेकर अन्त तक अवलोकन किया। इस काव्य की कथावस्तु प्राचीन जैनाचार्य चन्दाप्रभु के चरित्र में अन्तर्कथा के रूप में आई है। अतीत काल से ही मानव कथाप्रिय रहा है। कथा के द्वारा जो बात प्रतिपादित की जाती है, वह सहज ग्राह्य होती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश के साहित्य में कथा-साहित्य का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में विपुल कथा-साहित्य लिखा गया है, और उस कथा-साहित्य ने जन-जीवन में अभिनव चेतना का संचार किया है। संस्कृत साहित्य में पंचतन्त्र और हितोपदेश का अपना अनूठा महत्त्व रहा है तो अंग्रेजी साहित्य में ईसप, फेबिल्स का महत्त्व भी किससे छिपा हुआ है? परम विदुषी महासती प्रभावतीजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कथा की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखा है—

कहानियों में क्या नहीं, भरा पड़ा है ज्ञान। नहीं दिया तो दीजिए, आप अभी भी ध्यान ॥  
कहानियों में नीतियाँ, कहानियों में धर्म। कहानियों में है न क्या, कर्म, अकर्म, विकर्म ॥  
कहानियों में रस भरे, मिलते रीति रिवाज। कहानियों से क्या नहीं, बदला गया समाज ॥

भारतीय सूर्धन्य मनोविषयों ने कला, कला के लिए है; इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। कला जीवन के लिए है। वही बात काव्य के लिए भी है। काव्य निर्माण का भी एक उद्देश्य होता है, और वह उद्देश्य है—सत्य का जन-जीवन में प्रचार करना, जीवन को सत्य-शिव-सुन्दरम् से मंडित करना। विदुषी लेखिका ने श्रीसेन और हरिसेन इन दोनों भ्राताओं के चरित्र के द्वारा सत्य, दया, विनयशीलता, सेवापरायणता प्रभृति सद्गुणों की प्रतिष्ठा की है। और साथ ही यह दिखाने का प्रयास किया है कि सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं है, सुखाभास है। वह आकाश-कुमुद की तरह है। पारमार्थिक सुख ही सच्चा सुख है, और उसी सुख को प्राप्त करने का प्रयास होना चाहिए। राज्यासक्ति, परिवार-आसक्ति एक ऐसा विष है, जो जीवन को विकृत बनाता है। जन-जन के अन्तर्मानस में राग-द्वेष के दावानल को सुलगाता है। जीवन को विषाक्त बनाता है, इसलिए लेखिका ने आसक्तियों से वचने का पवित्र संदेश इस चरित्र के माध्यम से दिया है।

जब अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं। भोगों की वास्तविकता का पता लग जाता है, तो आसक्ति के तार कच्चे धागों की तरह टूट जाते हैं। जहाँ आसक्ति है, वहीं बन्धन हैं। अनासक्त व्यक्ति बन्धनों में बंध नहीं सकता। उसे भोग, रोग की तरह प्रतीत होते हैं, और राज्य कारागृह की तरह लगता है। फिर वह उसमें बंधता नहीं, किन्तु मुक्त होने के लिए छटपटाता है। श्रीसेन और हरिसेन दोनों ही भाइयों के अन्तर्मानस में जब वैराग्य का पयोधि उछालें मारता है तब राज्य-वैभव को ठुकराकर त्याग वैराग्य से छलछलते हुए श्रमण जीवन को स्वीकार करने के लिए वे तत्पर हो जाते हैं। उनके हृत्तंत्री के सुकुमार तार झनझना उठते हैं कि मानव को राज्य और परिवार के बन्धन में नहीं बंधना चाहिये। देखिए कवयित्री के शब्दों में—

साहस का सम्बल : समीक्षण | २४७



धक्कार राज्य को जिसका मोह बड़ा है। जिससे न सूझता सर पर काल खड़ा है ॥  
ज्यों भँवर फूल पर रहते जीव लुभाई ।  
परिवार कुटुम्ब बड़ा बंधन है मन का। मिलता न समय भी धर्म ध्यान चिन्तन का  
श्री सरितासुत का चिन्तन क्रम बदला ही ॥

जिस कवि और लेखक की अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होगी, उतनी ही अभिव्यक्ति सशक्त और प्राणवान होगी। कवयित्री ने अपने काव्य में सूक्तियाँ और उक्तियाँ इस प्रकार जड़ दी हैं, मानो स्वर्ण में नगीने जड़ दिए गए हों। जो अपनी चमक और दमक से जनमानस को मुग्ध कर दें। सत्य, धर्म, विनय, आदि सद्गुणों के सम्बन्ध में लेखिका की कलम ने कमाल ही दिखाया है। उनकी उक्तियाँ बड़ी मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं 'जिओ और जीने दो' का सिद्धान्त लेखिका ने कितने सजीव शब्दों में प्रयुक्त किया है—

हम लड़ें न परस्पर करें न छीना-झपटी। दिल सरल बनायें क्यों कहलायें कपटी ॥  
लो प्रेमभाव, सद्भाव शान्ति अपनाई।

प्रस्तुत काव्य का प्रणयन दोहे, चौपाई और राधेश्याम की तर्ज पर किया गया है। सर्वत्र काव्य में प्रसाद गुण व्याप्त है। सरसता, सरलता और सुबोधता का ऐसा त्रिवेणी संगम हुआ है, जिसमें अवगाहन करने वाला पाठक सदा-सर्वदा के लिए पाप-ताप व सन्ताप से मुक्त हो जाता है। ग्रन्थ को पढ़ते समय राष्ट्रीय कवि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-ग्रन्थों का स्मरण हो आता है। महासती जी की सहज प्रतिभा सर्वत्र मुखरित हुई है। लगता है—कवयित्री को काव्य बनाने के लिए प्रयास करने की आवश्यकता नहीं हुई है, वह सहज ही बन गया है। भाषा भावों को वहन करने में सक्षम है। भाषा बहुत ही सरल और सहज है। तत्सम, तद्भव शब्दों का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ ही प्रतिदिन जीवन-व्यवहार में आने वाले विदेशी शब्दों का प्रयोग भी यथास्थान हुआ है। कहीं पर त्वरप्रतिज्ञार्थ, प्लावित, आक्रन्दन जैसे संस्कृतनिष्ठ शब्द हैं तो कहीं पर फरमाया, मालजादी, खुलासा, नक्की आदि शब्दों का सार्थक प्रयोग हुआ है।

प्रस्तुत काव्य में अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग भावोत्कर्ष में बहुत ही सहायक हुआ है। अलंकार स्वतः ही आए हैं; लेखिका को प्रयास करने की आवश्यकता ही नहीं हुई है।

जिस पावन-पवित्र उद्देश्य से इस चरित्र-मूलक काव्य का सृजन किया गया है उसमें लेखिका पूर्ण सफल रही है। जैनश्रमण और श्रमणियों का जीवन त्यागमय होता है। भौतिकवाद की आँधी में जहाँ मानव अध्यात्म को भुलाकर भौतिक ऋद्धि, समृद्धि और उपलब्धि के लिए ललक रहा है; वैज्ञानिक चिन्तन मानव को भौतिक सुख-सुविधाएँ अधिकाधिक प्राप्त कराने के लिए प्रयत्नशील हैं; आज वैज्ञानिकों की कृपा से भौतिक सुख-सुविधाओं के अम्बार लग चुके हैं। प्राचीन युग में जो सुविधाएँ राजा-महाराजाओं को नहीं थीं, वे सुविधाएँ सामान्य नागरिकों को भी प्राप्त हैं तथापि जन-जीवन में अशान्ति का साम्राज्य है। द्रौपदी के दुःकाल की तरह तृष्णाएँ बढ़ रही हैं। उनकी शान्ति का उपाय इस काव्य में विदुषी लेखिका ने प्रतिपादित किया है।

लेखिका का गम्भीर अध्ययन और प्रकृष्ट प्रतिभा का काव्य में सर्वत्र संदर्शन होता है। लेखिका जैन साध्वी हैं, इसलिए उनके काव्य में वैराग्य रस की प्रधानता होना स्वाभाविक और सहज है। आज शिक्षा के क्षेत्र में नैतिक शिक्षा की ओर चिन्तकों का ध्यान केन्द्रित हुआ है और उस दृष्टि से यह चरित्र काव्य नैतिक काव्य की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। मुझे आशा ही नहीं; अपितु दृढ़-विश्वास है कि इस काव्य के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि होगी। ❀



प्रवचन—साहित्य—समीक्षा

## साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी की प्रवचन शैली

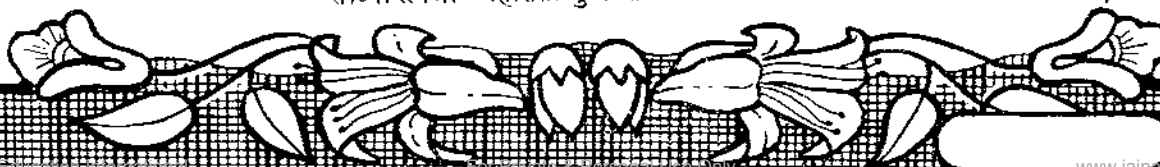
—डॉ. नरेन्द्र भानावत

(एसोशियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)

भारतीय सन्त परम्परा की तरह साध्वी परम्परा का भी अपना विशिष्ट स्थान है। ७० महावीर स्वामी ने जिस चतुर्विध संघ की स्थापना की, उसके अंग हैं—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका। महावीर के शासन में १४००० साधु थे और ३६००० साध्वियाँ। साध्वियों का नेतृत्व महासती चन्दनवाला के हाथों में था। चन्दनवाला की यह साध्वी परम्परा आज तक अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है। इसी परम्परा की जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं विदुषी महासती श्री पुष्पवतीजी। आपका जन्म १८ नवम्बर, १९२४ में उदयपुर में सेठ श्री जीवनसिंहजी बरड़िया की धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमदेवी की कुक्षि से हुआ। आपका नाम रखा गया—सुन्दर-कुमारी। आप जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा की धनी थीं। आपकी दृष्टि अन्तर्भेदिनी और विचार उदात्त थे। यही कारण है कि आपने अपने नाम के अनुरूप सौन्दर्य की खोज की। आपको सांसारिक बाह्य सौन्दर्य आकर्षित नहीं कर सका। आप उस अनन्त सौन्दर्य की खोज में रहीं जो शब्द, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श से परे देहातीत ही, इन्द्रियातीत ही

और अनन्त विभु से साक्षात्कार कराता हो। जो नश्वर है, जीर्ण-शीर्ण है, उसमें आपको सुन्दरता के दर्शन नहीं हुए। जहाँ अभाव है वहाँ सौन्दर्य कैसा? वैभव कैसा? सौन्दर्य और वैभव वहाँ है जहाँ अभाव नहीं। इस अनन्त सौन्दर्य की खोज और उसकी जिज्ञासा के फलस्वरूप ही आपने १४ वर्ष की अवस्था में १२ फरवरी १९३८ को अध्यात्म योगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म० सा० के सान्निध्य में उनकी आज्ञानुवर्तिनी शिष्या महासती श्री सोहनकंदर जी के नेत्राश्रय में भागवती दीक्षा अंगीकृत कर ली। आपका पूरा परिवार ही वीतरागिता के लिए समर्पित परिवार है। आपकी माता प्रभावतीजी श्रमण संघ की श्रेष्ठ साध्वी थीं और आपके भाई श्री देवेन्द्रमुनिजी जीवन मूल्यवाही उदात्त भावना के श्रेष्ठ सन्त साहित्यकार हैं।

महासती श्री पुष्पवतीजी का व्यक्तित्व पुष्प की तरह कोमल और मधुर है। आपने जैन-जैनतर ग्रन्थों का मन्थन कर जो मकरन्द निकाला, वह प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी है। आपने राजस्थान एवं मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र के विविध





क्षेत्रों में पद यात्रा कर अपने सद्गुण मकरन्द और सहक से जन-जन को सुवासित और पुष्ट किया है।

आप एक सच्ची जैन साध्वी हैं। अपनी दैनन्दिन-चर्या में आप नित्य प्रति स्वाध्याय और ध्यान का अभ्यास करती हैं। स्वाध्याय और ध्यान के मणिकान्चन संयोग से जो अनुभूतियाँ आपको प्राप्त होती रहती हैं, उन्हें आप अपनी वाणी के माध्यम से समय-समय पर व्यक्त करती रही हैं। आपकी यह वाणी पुस्तकीय वाणी न होकर अनुभूति के आधार पर जीवन-सत्य को उद्घाटित करने वाली वाणी है। इसीलिए उसमें जन-मन की गहराई तक प्रभावित करने की क्षमता है। आपकी वाणी साधारण वचन नहीं, वह 'प्रवचन' है। क्योंकि उसमें आत्म-चेतना का विशेष प्रभाव और आत्म-बल की विशेष प्रभा है। जब वचन के साथ आचरण जुड़ता है तब वह प्रवचन बन जाता है। प्रवचन की शक्ति तीर की तरह वेधने वाली होती है। प्रसिद्ध जैन आचार ग्रन्थ 'वृहत्कल्पभाष्य' में कहा है—

गुणसुदृढयस्स वयणं घय-परिसत्तुण्व पवओ भवइ ।  
गुणहीं स्स न सोहइ नेहविहूणो जह पईवो ॥

गुणवान व्यक्ति का वचन घृत सिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी एवं पथ-प्रदर्शक होता है जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित (तेल जून्य) दीपक की भाँति निस्तेज और अन्धकार से परिपूर्ण।

कहना न होगा कि महासती पुष्पवतीजी के प्रवचन गुणसम्पन्न होने के कारण तेजस्विता और ताजगी लिए हुए हैं।

यों तो महासतीजी जहाँ-जहाँ भी विचरग करती हैं, यथावसर जनमानस को धर्मोपदेश देती ही हैं। यदि उनकी समस्त देशना संकलित की जाय तो कई ग्रन्थ भरे जा सकते हैं। पर इस समय हमारे समक्ष उनके प्रवचनों का प्रतिनिधि संकलन 'पुष्प पराग' है जो साहित्य वाचस्पति श्री देवेन्द्र

मुनिजी द्वारा सम्पादित होकर जुलाई १९५२ में श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल उदयपुर द्वारा प्रकाशित है। इस संकलन में साध्वीश्री के १३ प्रवचन संग्रहीत हैं। उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और स्याद्वाद, इन जीवन मूल्यों पर शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है।

प्रत्येक मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है और अपने कर्मानुसार जीवन यापन कर मरण को प्राप्त होता है। जीवन की सार्थकता अपने से परे जो जीवन-जगत और शेष सृष्टि है, उसके साथ प्रेम, मैत्री, सहयोग और सत्य का सम्बन्ध स्थापित करने में है। भ० महावीर ने जीवन की सार्थकता के लिए पाँच महाव्रतों-अणुव्रतों और तथागत बुद्ध ने पंचशील का विधान किया है। महासतीजी ने अपने प्रवचनों में इन्हीं जीवन मूल्यों का धर्मशास्त्र, लोकशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विवेचन-विश्लेषण किया है। अपने विवेचन में उनका बहुआयामी और बहुश्रुत व्यक्तित्व स्पष्टतः शक्तिता प्रतीत होता है। संक्षेप में उनके प्रवचन साहित्य की विशेषताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

(१) महासतीजी जिस विषय का वर्णन करती हैं, वे उसके शब्दार्थ को स्पष्टकर उसकी परिभाषा निर्धारित कर विषय के स्वरूप का विश्लेषण करती चलती हैं। अपने स्वरूप-विश्लेषण में उनकी दृष्टि किसी मत, परम्परा या सम्प्रदाय में न उलझकर चित्तवृत्ति के रूप में उसका विवेचन करती है। अहिंसा के सम्बन्ध में उनके ५ प्रवचन हैं। अहिंसा उनकी दृष्टि में जैनधर्म का प्राणतत्व है। अहिंसा को समग्र रूप से समझने के लिए वे उसके प्रवृत्त्यात्मक और निषेधात्मक दोनों पक्षों पर प्रकाश डालते हुए कहती हैं—'जैन दर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं। (क) नहीं मारना यह अहिंसा का एक पहलू है, (ख) मैत्री, करुणा, दया, सेवा यह उसका दूसरा



पहलू है। प्रथम पक्ष नकारात्मक है, जबकि द्वितीय पक्ष सकारात्मक है। यदि हम केवल अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही विचार करें तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभाव रखना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उन्हें कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी सम्यक् प्रकार से चिन्तन करना होगा। जैन आगम प्रश्न-व्याकरण में जहाँ अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिये गये हैं। वहाँ पर उसे दया, रक्षा, अभय आदि नामों से भी अभिहित किया गया है। (पृष्ठ २)

निषेधात्मक अहिंसा को समझाने की दृष्टि से भी वे उसके आन्तरिक और बाह्य भेद करती हैं। आन्तरिक विधेयात्मक अहिंसा में उन्होंने सहानुभूति, संवेदना, प्रेम, वात्सल्य, आत्मौपम्य, सम्यक्त्व और आत्मीयता आदि गुणों को समाविष्ट किया है। इसी प्रकार बाह्य विधेयात्मक अहिंसा के अन्तर्गत करुणा, दया, सेवा, मैत्री, क्षमा, नम्रता, मुदिता, या प्रमोद, माध्यस्थ, सहयोग, सह-अस्तित्व, दान और परोपकार को गिनाया है। (पृष्ठ ३०)

इसी प्रकार सत्य का विवेचन करते हुए उसके तीन रूपों तत्त्व, तथ्य और वृत्ति पर प्रकाश डालते हुए साध्वीजी लिखती हैं—मैंने आपको सत्य के प्रचलित तीन अर्थ बताये—पहला तत्त्व रूप अर्थ है जिसमें सिद्धान्त तत्त्व या प्राकृतिक नियम आदि का समावेश हो जाता है, दूसरा तथ्य रूप अर्थ जो प्राणियों की हित दृष्टि को लेकर वाणी से प्रयुक्त होता है; तभी सत्य बनता है और तीसरा वृत्ति रूप अर्थ जिसमें प्रतिज्ञा, नियम, वचन, समय आदि का यथार्थ पालन किया जाता है। [पृ० १२३]

अचौर्य व्रत की विवेचना में वे चोरी की विभिन्न परिभाषा देकर उनके प्रकारों का विविध दृष्टियों से उल्लेख करती हैं। 'आवश्यक सूत्र' में आये हुए चोरी के ५ प्रकारों का शास्त्रीय उल्लेख करने के साथ-साथ वे स्थूल चोरी के ६ प्रकारों का भी वर्णन

करती हैं। छन्न चोरी, नजर चोरी, ठगी चोरी, उद्घाटक चोरी, बलात् चोरी और घातक चोरी [पृष्ठ १८५]। इन चोरियों के अलावा भी वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नये ढंग की जिन चोरियों का प्रचलन बढ़ा है। उनका वर्गीकरण करते हुए साध्वीजी ने नाम चोरी, धरोहर अथवा गिरवी रखी वस्तु का प्रयोग, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह, शक्तियों का समाज हित में उपयोग न करना, उपकार विस्मृत, सभ्य चोरी आदि का भी उल्लेख किया है। [पृ० १८७]

ब्रह्मचर्य को भी वे संकीर्ण अर्थ में नहीं लेतीं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म का अर्थ आत्मा और परमात्मा दोनों हैं और चर्य का अर्थ है—विचरण करना। उन्हीं के शब्दों में 'इस प्रकार "ब्रह्मचर्य" का अर्थ हुआ—आत्मा में रमण करना, आत्मा की सेवा में विचरण करना अथवा परमात्म भाव में रमण करना, परमात्मा की सेवा में विचरण करना। ब्रह्म का अर्थ बृहद् या महान् भी होता है। इस दृष्टि से महात् या बृहत् में रमण करना ब्रह्मचर्य है। (पृ. २०२) फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने काम तत्त्व का जो विवेचन किया है, उसके परिप्रेक्ष्य में भी साध्वीजी ने काम शक्ति के शोधन की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हुए उसे आत्म शक्ति के रूप में प्रकट करने की प्रेरणा दी है।

परिग्रह-अपरिग्रह के विवेचन में साध्वीजी ने बाह्य और आन्तरिक परिग्रह की चर्चा करते हुए इच्छा और मूर्च्छा को परिग्रह की जड़ माना है और साम्प्रदायिकता, कट्टरता, प्रादेशिकता, शिष्यमोह आदि के रूप में बढ़ते हुए परिग्रह के नये-नये रूपों की खूब खबर ली है।

अपने अन्तिम निबन्ध में जैन दर्शन की अपूर्व देन के रूप में स्याद्वाद का स्वरूप द्रव्यदृष्टि और पर्याय दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि साध्वीजी ने अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए उसकी शाब्दिक एवं स्वरूप-



गत विवेचना के साथ-साथ उससे सम्बन्धित सूक्ष्म वृत्तियों का तुलनात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। जिससे सम्बन्धित जीवन मूल्यों को गहराई के साथ व्यापक फलक पर समझने में मदद मिली है।

(२) साध्वीश्री अपने प्रवचनों में धर्म को नैतिक मूल्य और सामाजिक शक्ति के रूप में प्रस्तुत करने में विशेष सचेष्ट दिखाई पड़ती हैं। उनकी दृष्टि में अहिंसा, सत्य, आदि जीवन मूल्य अचल नहीं हैं। वे सामाजिक सम्बन्धों का सरोकार पाकर सचल और गतिमान हो उठते हैं। इसी बिन्दु से धर्म समाजीकरण की प्रक्रिया अथवा सामुदायिक चेतना के विकास का माध्यम बनता है।

भोगलिप्सा और संकुचित स्वार्थवृत्ति के कारण व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि जीवन मूल्यों का सही आचरण नहीं कर पाता। जब वह उन्हें ब्राह्म प्रदर्शन, दिखावा और नामवरी के लिए ओढ़ने लगता है तब धर्म आचरण का विषय न बनकर प्रदर्शन बन जाता है। आज व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि जीवन मूल्यों को तथाकथित धार्मिक लोगों ने बाजार मूल्य बना लिया है। वे सिक्के या मुद्रा के रूप में उससे कुछ न कुछ खरीदना चाहते हैं। ऐसे लोगों पर साध्वीजी ने जगह-जगह कठोर प्रहार किया है। कुछ उदाहरण देखिये—

(i) मान लीजिए, एक व्यक्ति धनाढ्य है, वह दान करता है, उसने यात्रियों के लिए धर्मशाला बनवा दी है, गरीबों की सेवा के लिए उसने कोई संस्था खोल दी है किन्तु दूसरी ओर से वह शोषण का कुचक्र भी चला रहा है, अपने नौकरों से उनके सामर्थ्य से अधिक काम लेता है, जरा से देर से आने पर केतन काट लेता है। तो ये बातें उस सेवा और दान के साथ कैसे मेल खा सकती हैं? यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई एक बोतल रक्त निकालकर बदले में एक दो बूंदें रक्त दे दे, या सौ-दा सौ घाव करके एक दो घावों पर मरहम पट्टी कर दे। अतः ऐसे

दान और ऐसी सेवा का क्या अर्थ है? [पृष्ठ २०]

(ii) बहुधा देखा जाता है कि लोग अपने प्रेमास्पद प्रभु के लिए आँसू बहाते हैं, अपने आराध्य के सम्मुख बैठकर विलाप करते हैं, याचना करते हैं कि उन्हें शरीर के कारागार से मुक्त करके अपने अभीष्ट प्रेमी अर्थात् प्रेमास्पद प्रभु के साथ एकरूप कर दिया जाय। इस प्रकार की उनकी व्याकुलता देखकर उनके भक्त या प्रेमी होने का अनुमान लगा लिया जाता है। लेकिन वे ही व्यक्ति जब अपने आस-पास के दुखी और क्लान्त मनुष्यों को देखकर मौन और उदासीन रहते हैं, किसी पीड़ित को देखकर दया, संवेदना अथवा करुणा से द्रवित नहीं होते, तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे परमात्मा के भक्त या प्रेमी नहीं, अपितु प्रेम का प्रदर्शन करने वाले होंगी हैं। प्रेमत्व से ओतप्रोत व्यक्ति का हृदय करुणा, दया, धमा आदि से अवश्य ही सराबोर होता है।

[पृष्ठ ३०]

(iii) सत्य का सर्वांगीण स्वरूप समझने के लिए दृष्टि का शुद्ध, स्पष्ट और सर्वांगीण होना बहुत आवश्यक है। जिसकी दृष्टि पर अज्ञान और मोह का काला पर्दा पड़ा हुआ है, जो साधना के लिए वेष पहनकर तो सुसज्जित हो गया है, लेकिन जिसे यह पता नहीं है कि सत्य का आचरण क्यों करना चाहिए? सत्य का स्वरूप क्या है? सत्य से जीवन को क्या लाभ है? असत्य से क्या हानि है? ऐसा व्यक्ति यदि भय से या दबाव से या इसी तरह प्रलोभन से या स्वार्थ से सत्य बोल भी देता है तो उससे वह कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, सत्य उसके लिए कर्म काटने का साधन नहीं बनता। अगर सत्य बोलूंगा तो मालिक तरक्का कर देगा, या इनाम देगा, और असत्य बोलूंगा तो मालिक या पिता नाराज हो जायेंगे, अथवा समाज में मेरी बदनामी होगी, ऐसा सोचकर जो सत्य बोलता है, वह सत्य चरित्र का अंग नहीं है, और न इससे आत्म-विशुद्धि ही हो सकती है, ऐसा भगवान् महावीर का स्पष्ट आघाथ है। [पृष्ठ १०१]



(iv) कई गृहस्थ श्रावक-श्राविका भी धर्मलाभ या धर्मदलाली के तीव्र आवेश से प्रेरित होकर अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों या साधु-साध्वियों की वृद्धि की इच्छा-पूच्छा करते हैं और कई अनुचित कृत्य भी करते हैं। यह भी परिग्रह का एक रूप है।

[पृष्ठ २६०]

(३) साध्वीश्री का शास्त्रीय ज्ञान अगाध एवं लोक जीवन का अनुभव गहरा और यथार्थ है। गाँव-गाँव, नगर-नगर विचरण करने से लोकमानस से और लोकभूमि से आपका जीवन्त सम्पर्क है। इस कारण आपके प्रवधानों में जहाँ एक ओर शास्त्रीय वैभव है वहाँ दूसरी ओर लोकगन्ध की मधुर महक है। विषय प्रतिपादन में जैन परम्परा से संबद्ध होकर भी आप भारतीय एवं पाश्चात्य बहुमुखी विचारधाराओं का यथा-स्थान उल्लेख करती चलती हैं। आपके प्रवचनों में जहाँ एक ओर आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, सूत्रकृतांग, भगवती सूत्र, ज्ञातासूत्र आदि जैन आगमों के उद्धरण हैं वहीं रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, गीता, योगवाशिष्ठ, चाणक्यनीति, योगशास्त्र, छान्दोग्य उपनिषद्, मार्कण्डेय पुराण, दीर्घनिकाय धम्मपद आदि अनेक ग्रन्थ उद्धृत हैं। यही नहीं, लोक-संस्कृति और लोक-जीवन को व्याख्यायित करने वाले संत कबीर, महात्मा तुलसीदास, संत तुकाराम, भक्त हरिदास आदि अनेक लोक कवियों एवं भक्त कवियों के अनुभूतिप्रवण पद और दोहे अभीष्ट तथ्य को संपुष्ट करने के लिए जगह-जगह अपनी वहरंगी छटा बिखेरते चलते हैं। इस वैविध्य के कारण आपके प्रवचन पढ़ते समय समग्र मानवता एवं विश्व साहित्य की भावात्मक एकता का बोध होता चलता है।

(४) साध्वी जी महान आगमिक एवं आगमेतर ज्ञान होते हुए भी अपने कथ्य को जटिल और बोझिल नहीं बनाती हैं। गम्भीर विषय को सहज, सरल बनाकर प्रस्तुत करने में आप सिद्धहस्त हैं।

जिस प्रकार माँ वात्सल्य रस में ओतप्रोत होकर अपने बच्चे को स्नेहपूर्वक कोई बात समझाती है, छोटे-छोटे उदाहरण और दृष्टान्त देकर अपने कथन की पुष्टि करती है और बालक उसे सहज ग्रहण कर लेता है, इसीप्रकार साध्वीश्री भी माँ भारती के रूप में भारतीय संस्कृति की उदात्त परम्परा को विश्व के बालकों के सामने आत्मीयता का स्पर्श देकर प्रस्तुत करती हैं। आपके प्रवचनों में स्थान-स्थान पर पौराणिक, आगमिक, आगमेतर, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक प्रेरक प्रसंग, रोचक दृष्टान्त, अनेक कथाएँ, महापुरुषों के जीवन प्रसंग, साहित्यकारों और वैज्ञानिकों के रोचक अनुभव विषय की गम्भीरता में सरलता का रंग और हृदय का सारल्य घोलते चलते हैं। कहीं महावीर और बुद्ध की कृष्णा, रतिदेव का त्याग, महात्मा गाँधी की सत्यनिष्ठा, टालस्टाय का शान्ति-संदेश, बर्ट्रैंड रसेल का इतिहास-बोध, रामानुज का भक्ति भाव, रामतीर्थ का लोकानुभव प्रतिविम्बित है। तो कहीं जीवन और समाज के साधारण भाई-बहिनों के जीवन-प्रसंग हैं जो अपनी साधरणता में असाधारणता छिपाये हुए हैं। इस संदर्भ में मदनबाई पारख का उदाहरण उल्लेखनीय है।

(५) साध्वी श्री का कथ्य जितना समृद्ध है उतना ही समृद्ध आपका प्रवचन-शिल्प है। आपकी भाषा परिमाजित और परिष्कृत है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली का बाहुल्य होने पर भी वह क्लिष्ट नहीं है क्योंकि आप जो कुछ कहती हैं वह मस्तिष्क से सोचकर नहीं बरन् हृदय से अनुप्रेरित होकर। इसीलिए उसमें शास्त्रीयता का पुट होते हुए भी वह जनपद की आबोहवा से सिक्त है। विविध भाषाओं का ज्ञान होने से आप यथाप्रसंग संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के शब्दों, पदों, कहावतों, मुहावरों आदि का प्रयोग करती चलती हैं। ये प्रयोग अंगूठी में जड़े हुए नगीने की भाँति प्रतीत होते हैं।

साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजी की प्रवचन शैली | २५३



भाषा ज्ञान चाहे कितना भी बहुआयामी हो, यदि शैली प्रभावपूर्ण और प्रवाही नहीं है तो कथ्य भली प्रकार सम्प्रेषित नहीं हो सकता। साध्वी जी के प्रवचनों में भाषा-प्रवाह के साथ-साथ शैलीगत सौन्दर्य की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं उपमा और रूपकों का यथा-स्थान प्रयोग तथा प्रभावपूर्ण आत्म-स्पर्शी सूक्तियों का निर्माण।

अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर उपमा और रूपक जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया गया है। इस कारण अहिंसा, सत्य, करुणा, जैसी अमूर्त भावनाएँ मूर्ति-वन्त होकर पाठक के हृदय-पटल पर बिम्ब सा खड़ा कर देती हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दृष्ट्य हैं :-

१. अहिंसा एक महासरिता के समान है। जब वह साधक के जीवन में इठलाती-बलखाती चलती है, तब साधक का जीवन सरसब्ज और रमणीय बन जाता है। (पृष्ठ-३)

२. जैसे हवाई जहाज में दो यन्त्र होते हैं, एक यन्त्र हव ई जहाज की रफतार को घटाता-बढ़ाता है और दूसरा यन्त्र दिशा का बोध कराता है। इसी प्रकार अहिंसा के साथ भी दोनों प्रकार के द्रव्य-भाव रूप या बहिरंग-अन्तरंग रूप यन्त्र आवश्यक है। (पृष्ठ-९)

३. करुणा जब मानव हृदय से निकल जाती है तब वह दुझा हुआ दीपक-सा बन जाता है। (पृष्ठ-६६)

४. आप अहिंसा की रेलगाड़ी में बैठे हैं; कहीं उसके नीचे स्वार्थ और अहंकार की पटरियाँ तो नहीं छिपी हैं? वह अन्याय और अत्याचार का धुंआ तो नहीं उगल रही है? (पृष्ठ-६६)

५. व्यक्ति के मन का केमरा जैसा होता है वैसी ही तस्वीर खिंच जाती है। (पृष्ठ-११०)

६. अगर आप जीवन रूपी उद्यान में लगे हुए तन, मन और वचन रूपी पेड़-पौधों की निगरानी

नहीं रखेंगे, उसमें लगी हुई पाँचों इन्द्रियों रूपी लताओं की सुरक्षा—व्यवस्था नहीं रखेंगे, तब उनमें लगे हुए ब्रह्मचर्य, वीर्य-संयम, निग्रह आदि फूलों का तथा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक बलरूपी फलों की प्राप्ति कैसे होगी? (पृष्ठ-२२४)

७. दान के लिये धन संग्रह करने की लालसा (इच्छा) कीचड़ में पैर डालने के समान है। (पृष्ठ-२७४)

सूक्ति सामान्य कथन न होकर अनुभूत सत्य की सार्वकालिक अभिव्यक्ति होती है। उसमें सूक्ति का अनुभूत सत्य, गहन लोक-सवेदन और शाश्वत मृत्यवन्ता निहित रहती है। साध्वी श्री पुष्पवतीजी के प्रवचनों में इस प्रकार की अनेक सूक्तियाँ हैं। जिनमें एक ओर शाश्वत जीवन मृत्य प्रतिविम्बित हैं तो दूसरी ओर वर्तमान जीवन और समाज को सम्यक् दिशाबोध है। कुछ सूक्तियों के उदाहरण देखिये—

१. मनुष्य को विकास की ओर ले जाने वाली आन्तरिक प्रेरणा-अंतःचेतना अहिंसा है। (पृष्ठ-८)

२. सच्चे प्रेम में देना ही देना होता है, लेने की भावना को वहाँ अवसर नहीं रहता। (पृष्ठ-३५)

३. प्रेम अन्तःकरण की ऐसी उपज है जो शुष्क से शुष्क, कठोर से कठोर और दिशाभ्रान्त जीवन को सरस, और स्निग्ध बना देती है। (पृष्ठ-३५)

४. अपनी आत्मा का जगत के साथ आत्मौ-पम्य भाव से अनुबन्ध जोड़ना ही योग है। (पृष्ठ-५५)

५. दया का आचरण करके ही मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है। (पृष्ठ-६२)

६. जीवित हृदय वही है, जहाँ करुणा है, अन्यथा केवल वह माँस का टुकड़ा है। (पृष्ठ-६६)



७. मित्रता तभी होती है, जब दिल में पार-  
दर्शिता हो, सरलता हो, विश्वास हो । (पृष्ठ-६७)

८. देह मर सकता है, मगर मंत्रो नहीं, क्योंकि  
वह तो देहातीत आत्मा के साथ होती है ।  
(पृष्ठ-६७)

९. जो व्यक्ति भय और स्वार्थ, लोभ और  
दवाव से सच बोलता है तो वह सच बोलना सत्य  
की परछाई मात्र है । (पृष्ठ-१०१)

१०. सत्य को सजाने से सत्य निर्विकार नहीं  
रहता, उसमें विकार आ जाता है । (पृष्ठ-१०५)

११. दिमाग में विचारों की भोड़ इकट्ठी हो  
जाना या निरर्थक विचार ठूस लेना भी परिग्रह है ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि साध्वी  
जी की प्रवचन-कला चित्त के मनोरंजन के लिए  
न होकर चित्त की निर्मलता के लिए है । सच्चे  
अर्थों में वह धर्मकला है, क्योंकि उसका मूल लक्ष्य  
विभाव से स्वभाव में आना है । साध्वी श्री जी के  
प्रवचनों में साधना का बल, चिन्तन की ताजगी  
और लोक संग्रही दृष्टि है ।



## पण्डित कौन ?

पण्डित कौन ?

क्या जिसने शब्द शास्त्र के अनेक रूप, सूक्तियाँ और चाटूक्तियों का  
पाठ कर रखा है, वह पण्डित है ?

क्या जिसने ब्राह्मण कुल में जन्मधारण किया, वह पण्डित है ?

क्या जिसने शिर पर तिलक आदि लगा रखा हो, और विद्वानों की  
पक्ति में नाम लिखवा लिया हो वह पण्डित है ?

नहीं ! नहीं !!

पण्डित की व्याख्या करते हुए भगवान महावीर ने कहा है—

जो आरम्भ-हिंसा, वैर विरोध, क्लेश एवं दोष से उपरत अर्थात् मुक्त  
है, वही पण्डित है,

तथागत बुद्ध ने पण्डित की परिभाषा की है—

बहुत अधिक बोलने से कोई पण्डित नहीं होता, वास्तव में जो क्षमा-  
शील, वैर रहित और सदा निर्भय है, वही पण्डित कहलाता है,

इसीप्रकार का भाव महाभारतकार व्यास ने व्यक्त किया है—

सर्दी-गर्मी, भय और अनुराग, सम्पत्ति और दरिद्रता जिसके कार्य  
में विघ्न नहीं डालते वही व्यक्ति पण्डित कहलाता है,

और कबीरदास तो पण्डित की परिभाषा में बिल्कुल दो टूक बात  
ही कह गए—

पण्डित की इन बहुविध परिभाषाओं का निचोड़ मेरे अनुभव ने यों  
प्रस्तुत किया है—जो वैर-विरोध से मुक्त होकर, सर्वत्र बहणा, स्नेह एवं  
सद्भाव का अमृत वर्षाता हुआ अभय एवं अदीन भाव से अपने लक्ष्य की  
ओर अग्रसर होता रहे वही सच्चा पण्डित है,

उपाचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री



समण-सासण-पहाविगा-अमर-साहिगा-पुफ्फवई

—डॉ० उदयचंद्र जैन, उदयपुर

अट्ठ-गुण-सम्म-जुत्तं पलयं पउरो वि विग्घ-संघाओ ।  
 तस्स उसहस्स णमामि कय-कुवियप्प-णासणो अहं ॥१॥  
 तं जिणवरं वंदे वि जस्स केवलणाणेण पयासिओ ।  
 तिहुवण-लोगं णिच्चं अंतिम-तित्थयरं समइं ॥२॥  
 अमर-खेयर-वंदियं भव-भयच्छेय-करण-संजुत्ता ।  
 सासय कल्लाण-जुत्ता सब्ब-मोक्ख-मग्गरय मुणीणं ॥३॥  
 सयल-णाण-विण्णाण-वेत्ता जिणवसह सासणरक्खा ।  
 सण्णाण-कंठाभरण-गणाहीसाणं थोमि अहं ॥४॥

समण-सासण-पहाविगा-अमर साहिगा

समणसंघ परंपरा अइ-पुरा विज्जए अस्सि लोए ।  
 चहुविह-तित्थ-ठावणा भगवय-महावीरस्स पच्छा ॥५॥  
 सु-सुय-पहाण-सीसा-वि जाआ गोयम-गणहरा साहुणो ।  
 देदिव्वमाण-णक्खयव्व आगम कुसला बहुणाणी ॥६॥  
 चन्दणविव सुरहीओ चंदणबाला-पमुह-समणी जाआ ।  
 करलुंच-केसरासी अंतेवासी महावीरस्स ॥७॥  
 वीर णिव्वाण-वीए सदीए महमंती सगडाल-सुआ ।  
 अज्ज-थूलभट्ट-सत्त बहिणी जक्ख-जक्खविण्णाई ॥८॥  
 अज्ज दिक्खं णेरुण गुण-गण-सामिद्धि हेउणो णिच्चं ।  
 मोह-खोह-हीणट्ठं सु-झाण-मग्गम्मि रआ-सआ ॥९॥  
 समय-समयम्मि देसे बहु-सुभ-बहु-णाणी-आगम-कुसला ।  
 चरिय-णिट्ठ-सज्जायी धम्मसदा वि समणी जावा ॥१०॥



आगम-रहस्स-गाया वीरा वीराणुगामिणी सीसा ।  
 भागाइ-भाव-जुत्ता अण्णा अप्पम्मिरआ जुत्ता ॥११॥  
 विक्कम-संवद -उणवीसपणसत्त - पोस - किण्हदसमोए ।  
 रायट्ठाण-संभरे च अपुव्व-गुण कण्णा जाया ॥१२॥  
 जुग--पवट्टयकंतियारी--आइरिय--सिरी--अमरसिहमुणी ।  
 गंगा-सम णिम्मलो हि सज्जग-सतेय-संतरयण-गणी ॥१३॥  
 जोईहर-संजमरअ-पहर-मइ-तक्कपुण्ण मेहासती ।  
 जोग सत्थ-आगम-सिद्धहत्थ-पसत्त-गुरु-गुणगणधणी ॥१४॥  
 अरही दिक्ख-पविण्णा सई-वीरा-सद्दा सुय-संपण्णा ।  
 वीरा कम्मे वीरा सद्दा संजम-तवे पसिद्धा ॥१५॥  
 फत्तू-रयणा-चड्ढणा लाहा य चउपमुह-सीसा तीए ।  
 आगम-कुसलाधीरा परमविउसी पववणमहुरा ॥१६॥  
 रयणाए बहुसीसा सासण पहाविगा लछ्मासमणी ।  
 एग-रंहा-महासई तीए नवला विमुद्धमई ॥१७॥  
 उदयपुरम्मि णयरम्मि ओसवाल-वंस-बरडिया-परिवारस्स ।  
 कण्हड्यालालस्स च महाजणस्स उयारकुलो ॥१८॥  
 सो समणोवासगो वि धम्म-परायण-धम्माणुरागी हि ।  
 पुण्णेण पत्त-सावग-कुल-समुद्-रयणव्व दुल्लहं ॥१९॥  
 जहा समुद्दे रयणं बहुमुल्लं होइ अस्सिं लोयम्मि ।  
 तथा मणुजाण जम्मं धम्मणिट्ठ-जण-पत्त-दुल्लहं ॥२०॥  
 जीवणमीह वरडिया पवित्त-पउत्त-जुत्त-पुत्त-जाओ ।  
 तस्स धम्म-परायणा भज्जा पेम्मकुवर-जाया ॥२१॥  
 संवद -- उणवीसइगअस्सी -- सत्तमी -- मगसिरतिहीए ।  
 एग - सुंदरीबाला सुंदरकुवरकण्णा जाया ॥२२॥  
 अवर-सुसीलकुंवरा धम्म-गुण-सुसील-संपण्णा होइ ।  
 सा वि अइ-धम्म-रत्ता विमला-गंगा विव गहीरा वि ॥२३॥  
 तत्तोवदेस-जुत्तं महासई-सोहणकंवर-बाला वि ।  
 सम्म-भत्ति-रसजुत्तं ताए दिक्खा धरिअ-वाला ॥२४॥  
 सक्कय-पाइय-णिण्णा होऊण कव्व-वागरण-अहिरआ ।  
 आगम-रहस्सबोहूँ णिच्चं जण्णसीला भूया ॥२५॥  
 एग-चक्केण ण रहं पजाइ इह भूयलम्मि ठाणम्मि ।  
 एसा जाणिऊण सा गइ-सील-समणी-संघाए ॥२६॥





तण-धण-कंचण-पुत्त-मित्त-सयल-असारिआ लोणे णिच्चं ।  
एणं तु सार-भूयं अप्पणो सुधम्मो हि सम्मं ॥२७॥  
असार-भूय-संसार-जलबुब्बुव्व अथिरा असब्भूया ।  
एण-थिर-भूय अप्पा जो जाणइ सो होइ तव रत्ता वि ॥२८॥

बाला सुन्दरकुंवरा—

पेम्मकुंवर-पढम-बाला-अइ-मणोण्ण-धम्म-णिउणा ।  
सुह-लक्खण-लक्खिआ वि जण-मण-वल्लहा जाया सा ॥२९॥  
जा जा सिक्ख-सिक्खिआ सा अइ-सुह-पवरा भविआ जाइ ।  
विज्जावंतबाला सज्जाय-ज्ञाण-संजुत्ता य ॥३०॥  
संसारस्स सव्वे हि अट्ठा णिरट्ठा असार ह्वा य ।  
केवलसार-भूयं तवप्पहाण-चरियं लोए ॥३१॥  
एवं चित्तऊण सा बाला सील-धम्मे हि सया रआ ।  
अप्प-सहावं मग्गे अप्पणो ज्ञाणं सआ कआ ॥३२॥  
इणं सरीरं वयणं सील-संजम-तव-गुणलंकिआ ।  
जइ विज्जाए भूसिया तो जम्म-सहलं इहलोयम्मि ॥३३॥  
विज्जामाणो पुरिसो सक्कारं जाइ कोविदेहि भवे ।  
विज्जावंता बाला सव्वसेट्ठ-पयं पण्णेइ ॥३४॥  
विज्जा जसस्सरी ही पुसं विज्जा कल्लाण-कारणी ।  
सम्मं आराहिया च विज्जा-देवया वि काम-दायिणी वि ॥३५॥  
विज्जा कामदुह-धेणु-विज्जा-चित्तामणि-रयण-जणाणं ।  
धम्म-अत्थ-कम्मदायी विज्जा सव्वफल-दायिणी वि ॥३६॥  
विज्जा-बंधु-मित्तं च विज्जा-सव्व-कल्लाण-कारकं वि ।  
विसय-विमुत्ता विज्जा सव्वत्थ-साहिणी वि हवे ॥३७॥  
विज्जट्ठी सव्वट्ठी विज्जट्ठी दंसण-णाण-चर-हारी ।  
विज्जा खलु सव्वेसि मूलं कप्परुक्खं विव जगे ॥३८॥  
वीर-हिमालय-णिसिय-णाण-गंगा-अइ-णिम्मला भवे ।  
पसंत-गहीर-जलम्मि णहाणं एव सव्वसेट्ठं ॥३९॥  
जहा गगणम्मि सूरु देदिव्वमाण-सय-परं पगासिओ ।  
तहा सुंदरीबाला अप्प-अप्पाणं करेइ सा ॥४०॥  
एगदिवसम्मि णयरे सोहण-कुंवर-महासइ-समागया ।  
ताए जिण-वाणीए अपुव्व-धम्म-बुड्डी जाया ॥४१॥  
डगर-डगर-गाव-गाव-णयर-णयर-जण-मण-अइ-पहाविआ ।  
सव्वे जणा कहेंति उदयपुरे धम्मधण्ण-कया ॥४२॥



दत्तचित्ता पसण्ण-वयण-धम्म-अणुरत्त-बाला सुंदरी ।  
 कुल-मंडल-सील-सत्थ-बुद्धि-तव-चरण-मण-विमुद्धी ॥४३॥  
 सुउववासेणं वओ वएण तवो तवेण इंदियज्जिओ ।  
 इंदिय-जएणं समो समेणं होइ मुत्तिमग्गो ॥४४॥  
 जहि पेच्छए लोयं तहिं जम-सासणो अवस्सं अत्थि ।  
 जहिं चिट्ठइ तहिं तं सूलासणो समं आसणं ॥४५॥

उदयपुर-महिमा—

मेवाड-सु-भूमीए वीर-वीरंगणा पभूया जगे ।  
 सुरम्म-रम्मारामा जस्स पए पए सुविट्ठया ॥४६॥  
 आरावली पव्वओ वीरावली तवावली खु अत्थि ।  
 उत्तंग-सिहरम्मि वि पमुदिय-णर-णारि-संघाणं ॥४७॥  
 झर-झर-झरंत-णिज्जर-कण-कणंत-दिगदिगंतकंतिल्लो ।  
 मयरंद-पाण-भमरावली-विरायमाण-उववणो वि ॥४८॥  
 कम्हीरव्व सुंदरो उदयपुरो वि वट्टए भरहत्ते ।  
 सु-राय-रायट्ठाणे वीरप्पयाव भूमीए हु ॥४९॥  
 अइ-रमणीयो णयरो परिमंडिय-पोक्खर-सिहरविभूसो ।  
 जस्सिं सिहरतलम्मि वि णाणाखणणसंपदा अत्थि ॥५०॥  
 फतहसायर-सुरम्मो अइ-रम्मो कल-कलंत-णीर-रवो ।  
 भमणसीलसव्व-जणा आणंदा हींति णावारूढा ॥५१॥  
 अवर सख्वसायरो मुज्झति जणाण रम्मरूवेणं ।  
 ताणं तडावली अवि दिण्णेस-रासि-रासिआ मणा ॥५२॥  
 एगाक्षील-मज्झम्मि अइ-सोहणीय-णेहरू-उज्जाणं ।  
 फतहसायरोवरितले आरावली-वाडिया अत्थि ॥५३॥  
 ताए वाडियाए वि पयाव-सरइ-पट्ट-वेतकासो ।  
 तं पावं गच्छऊण जणा आणंदा-जुत्ता हींति ॥५४॥

उवज्जाय-पोक्खरो मुणो—

गुण-गणालंकिओ सया समण-संघ-तेअपुंज-मुणिवंत ।  
 पोक्खरो पोक्खरसमो मुणिवर-जग-जण-मण जयवंत ॥५५॥  
 जहा तित्थिसिरोमणी तित्थो पुक्खररायो लोयम्मि ।  
 तहा मुणि-संघम्मि खलु उवज्जाय-पोक्खरो मुणो ॥५६॥  
 अणेणं मुणिणा समं सत्थ-सायर-पारस्स वर-तरणी ।  
 जिणवयणमिमं हेऊं भूयो भूयो वि गुण-लहरी ॥५७॥

समण सासण-पहाविगा-अमर-साधिगा-पुष्पवई । २२६



गुण-गुण-गारवेण सुंदरकुवरी पुष्पवद्-महासई ।  
 जाया भक्ति-भावं हि आगम-सुत्त-पह-अणुगामिणी ॥१८॥  
 ण केवल-णय-पमाणी आगम-रहस-सव्व-दंसण-णाणी ।  
 तक्कपवीण-वय-उडू णिम्मलपण्णा य बुद्धमई ॥१९॥  
 विज्जाइ सम्मसहा अपुव्वगुरुभत्ती-चरितणिट्ठा ।  
 तेणं जिणवयणरसं णिसुणिऊणं अइ-संतुट्ठा ॥२०॥  
 सुधम्म-पयाररत्ता देसदेसंतरं गमणागमणं ।  
 इदियं दण्डऊणं संवेगमुक्क-सीलधरा सा ॥२१॥  
 पुष्पवई-समणीए पंचास-वास-दिक्ख-समय-जाया ।  
 सुधण्णा सि तुमं जा विगप्प-संकप्प-जालाए ॥२२॥  
 बोहिता भव्वलोक्यं तव-सूसिय-तणू-वत्त-णीसेस-रागा ।  
 सज्जाणड्ढा गुरुणं स-समय-विहिणा सारणाई करिता ॥२३॥  
 सूरीसो चित्तवेगो समण-परिवुडो देसयंता जणाणं ।  
 धम्मं तित्थेसरुत्तं विहरइ वसुइ संजमुज्जोय-जुत्ता ॥२४॥  
 एसा समणी-समणी सव्वलोक्य-भव्व-जणाणं वसुहि ।  
 णियय-अवत्था-सरिसं सलाह-णिज्जं च होउ जणा ॥२५॥  
 इइ भणइ गणिदे ज्ञाणतत्तं महद्धा  
 जण-सदसि मुणिद्दा पातुसाभत्ति भाजो ।  
 घण-पुलकिय-मुहुर-गत्तमविर मुहाजं  
 दिणकर-करयोग-आकरा वम्बुजाणं ॥२६॥  
 किं अयं अमर सग्गो किं णु जइणाणु भावो  
 किमुत्त णियइ-एसा किं धीमंतो पहावो ।  
 इइ वितत वितक्केहि कुऊहा दिक्खमाणा  
 जयइ गुरु-समाजेहि-भत्तु-अट्ठाण-भूमी ॥२७॥  
 तुमं सुधीरासमणी तुमं चंदणामहासइव्व सई ।  
 तुमं गहीरा-उयही तुमं जण-कल्लाण-कारणी ॥२८॥  
 परं पदं परं सुहं जिणागम-परमक्खरं तुमं अत्थि ।  
 इमं जाणिऊणं हं 'उदय' गुण-णिहाणं होमि ॥२९॥

□



# जैन दर्शन इतिहास और साहित्य



चतुर्थ खण्ड



## भारतीय दर्शनों

में

### आत्मतत्त्व

—डा. एम. पी. पटैरिया

भारतीय दर्शन का चिन्तन-क्षितिज बहु आयामी है। 'जीव' और 'जगत्' के अस्तित्व की परिचर्चाओं के साथ-साथ उनका स्वरूप निर्धारण, दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। किन्तु, जगत् दावानल से विदग्ध जीवात्मा की दुःख-निवृत्ति कैसे हो? इस दिशा में जब वह शोधलीन हुआ, तब उसे ऐसी अनुभूतियाँ हुईं कि जगत् के समस्त दुःखों से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय 'आत्म-साक्षात्कार' हो सकता है। इस अनुभूतिपरक प्रेरणा ने, दर्शन को आत्मान्वेषण की ओर प्रवृत्त किया। फलतः जिन-जिन महर्षियों/आचार्यों ने आत्म-साक्षात्कार में सफलता पाई, उन्होंने, अपनी अनुभूतियों को एक व्यवस्थित स्वरूप दे दिया। ताकि, उनके साधना-अनुभवों का लाभ उठाकर दूसरे लोग भी आत्म-साक्षात्कार कर सकें; जगत् के कष्टों से हमेशा-हमेशा के लिए छुटकारा पा सकें।

जो जन्मता है, वह मरता भी है। जन्म और मृत्यु के बीच उसे कई रूपों/स्थितियों/अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। मृत्यु के बाद भी, उसे फिर जन्म लेना/मरना पड़ता है। जन्म-मृत्यु का यह सिलसिला, जीव और जगत् को इस कदर साथ-साथ बांधे रखता है कि कोई भी जीवात्मा, अपनी संसारावस्था से उन्नत/शुद्ध स्थिति के बारे में सोच तक नहीं पाता। आत्म-साक्षात्कार करने वाले ऋषियों/आचार्यों ने, इन सारी स्थितियों की विवेचना भी अपनी अनुभूतियों में सिलसिलेवार की; और अन्तिम निष्कर्ष के रूप में, यह बात जोर देकर कही, कि दुनियाँ के जंजाल से छूटने का एकमात्र साधन 'आत्म-साक्षात्कार' ही है। इसी कारण, भारतीय दर्शनों का जो स्वर उभरा है, उसमें 'आत्म-तत्त्व' को मौलिक आधार मानने की गूँज, साफ-साफ सुनाई पड़ रही है।

अनेकों भारतीय ऋषियों/आचार्यों ने 'आत्म-साक्षात्कार' किया; किन्तु उनके ढंग और अनुभूतियाँ अपने-अपने तरह के थे। जिस ऋषि/आचार्य ने जिन-जिन तौर-तरीकों को अपनाकर 'आत्म-साक्षात्कार' करने में सफलता पाई, उन तरीकों/अनुभवों के अनुरूप उसने अपने शिष्यों/प्रशिष्यों को भी प्रशिक्षित किया। फलस्वरूप, कालान्तर में, आत्म-साक्षात्कार के तमाम तरह के तौर-तरीके और भिन्न-भिन्न तरह के अनुभव, जब आम आदमी के सामने आये, तो उसे लगा—'एक ही आत्मतत्त्व के बारे में, अलग-अलग तरह की मान्यताएँ क्यों/कैसे आ सकती हैं?'

जैनाचार्यों की मान्यता है—प्रत्येक द्रव्य/तत्त्व, अनन्त धर्मों वाला है। जिन-जिन ऋषियों/आचार्यों ने आत्म-साक्षात्कार किया, यदि उनके अनुभवों/विश्लेषणों में कहीं कुछ भिन्नता है, तो यह नहीं मानना चाहिए कि उनके द्वारा किया गया आत्म-साक्षात्कार, और उसकी विवेचना मलत/असत्य/



मिथ्या है। बल्कि, मानना यह चाहिए कि उन सबके अनुभवों/विश्लेषणों को मिलाकर, आत्म-तत्त्व का जो स्वरूप निखरता/स्पष्ट होता है; वही उसका समग्र स्वरूप होगा। क्योंकि, जिस ऋषि/आचार्य ने आत्मा के जिस स्वरूप का साक्षात्कार/विश्लेषण किया, सिर्फ वही स्वरूप आत्मा का नहीं है। बल्कि वे सारे स्वरूप, आत्म-तत्त्व के उन भिन्न-भिन्न पहलुओं से जुड़े हैं, जिन पहलुओं का साक्षात्कार, अलग-अलग ऋषियों/आचार्यों के द्वारा किया गया। यह एक अलग बात है कि चिन्तन/समीक्षण के प्रसंग में, इन भिन्न-भिन्न पहलुओं को, पृथक्-पृथक् इस आशय से विवेचित किया जाये कि उनके पारस्परिक साम्य/वैषम्य को स्पष्ट समझा जा सके। इसी भावना से, भारतीय दर्शनों में आत्म-तत्त्व का सैद्धान्तिक विश्लेषण और उसकी समीक्षा, यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

### चार्वाक दर्शन में आत्म-चिन्तन

आत्म-तत्त्व का सबसे स्थूल स्वरूप, चार्वाक दर्शन में देखा जा सकता है। यद्यपि चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त/आचार का कोई व्यवस्थित/सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; तथापि, उसके नाम से, विभिन्न शास्त्रों/ग्रन्थों में जो उल्लेख आये हैं, उन्हीं को, उसकी परम्परा का मान लिया गया। एक विलक्षण तथ्य तो यह है, आत्मा के स्थूल/भौतिक स्वरूप के बहुत सारे वर्णन, उपनिषदों में भी पाये गये हैं। इन सबको मिलाकर, आत्मा की स्थूलता को प्रकट करने वाले, सारे सिद्धान्तों को, यहाँ एक क्रम से दिया जा रहा है।

**भूतचैतन्यवाद**— प्रत्येक प्राणी में, स्वतन्त्र बुद्धि/विवेक पाये जाते हैं। जैसे किसी को मिठाई खाने में आनन्द की अनुभूति होती है, तो कोई खट्टी चीजों में विशेष रस—आनन्द अनुभव करता है; और तीसरा, चटपटे/चरपरे स्वाद में आनन्दमग्न हो जाता है। इसी तरह, यह माना जा सकता है, कि जिसे, जिस वजह/तरह से दुःखों से छुटकारा मिल जाये, वही उसका आत्मा/आत्म-साक्षात्कार स्वीकार कर लिया जाये; यह मानना स्वाभाविक है। चार्वाकों की मान्यता है कि आत्मा एक है। वह स्वतन्त्र है, चैतन्ययुक्त है, और कर्मों का कर्ता है। चूँकि यह, भूत समुदाय के मिश्रण से उत्पन्न होता है इसलिए वह प्रत्यक्ष द्वारा जाना जा सकता है।

शरीर में जो चेतनता है, वह भूत/तत्त्व समुदाय के सम्मिलन से अपने आप पैदा हो जाती है; इसमें कोई महत्त्वपूर्ण कारण अपेक्षित नहीं होता है, जैसे, दो/चार पदार्थों को साथ-साथ मिला देने पर उनमें से मादकता पैदा होती है।

यहाँ, ध्यान देने की बात यह है कि जिन कुछ पदार्थों को साथ-साथ मिलाया जाता है, उनमें, कोई पदार्थ ऐसा नहीं होता, जो अपने में से मादकता उगा सके। किन्तु, परस्पर मेल के बाद, उनमें से मादकता अपने-आप पैदा हो जाती है। इसी तरह, पृथिवी-जल-तेज और वायु, इन चार भूतों/पदार्थों में से किसी भी एक में, चेतनता नहीं पायी जाती; किन्तु चारों का मिलाप/मिश्रण हो जाने पर, उनमें से चेतनता अपने आप उभर आती है। जैसे बरसात में मेंढक आदि तमाम कीड़े-मकोड़े, भूतों में से अपने आप पैदा हो जाते हैं। यही बात, मनुष्य आदि जीवों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

**वेहात्मवाद**— लोक व्यवहार में, सहज ही हम देखते हैं कि घर में आग लग जाने पर, हर व्यक्ति, अपने आपको बचाकर भाग निकलता है; भले ही, उसके बच्चे, पत्नी आदि, जलते हुए घर में क्यों न रह जायें। इस मानसिकता से यह तथ्य स्पष्ट होता है, कि व्यक्ति को, पुत्र आदि की अपेक्षा अपना देह अधिक प्रिय होता है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' चूँकि सारी क्रियायें, देह में/देह के द्वारा ही



सम्पन्न होती हैं; यहाँ तक कि चेतनता भी देह में ही पायी जाती है। इसलिए, चार्वाकों का कहना है— 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'—यानी, चैतन्ययुक्त देह ही आत्मा है। इस सिद्धान्त के अनुसार, शरीर के मृत हो जाने पर, न तो चेतनता शेष बचती है, न ही देह-क्रियायें रह जाती हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में यही आशय, इन शब्दों में प्रकट किया गया है—'स वा एष अन्नरसमयः पुरुषः'<sup>1</sup>। 'मैं मोटा हूँ' 'मैं दुबला हूँ' 'मैं काला हूँ' इत्यादि अनुभवों से भी यह निश्चय होता है कि 'देह ही आत्मा है'। यही 'देहात्मवाद' है।

**मन आत्मा है**—कुछ चार्वाकचार्य यह भी कहते हैं—शरीर की सभी कार्य प्रणाली 'मन' के अधीन होती है। मन, यदि व्यवस्थित/एकाग्र न हो, तो शरीर और उसके अङ्गोपाङ्ग ठीक से कार्य नहीं कर पाते। चूँकि मन स्वतंत्र है और ज्ञान भी कराता है। इसलिए 'मन' को ही 'आत्मा' स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी सिद्धान्त को 'आत्म-मनोवाद' कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् का भी कहना है—'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'<sup>2</sup>।

**इन्द्रियात्मवाद**—शरीर, इन्द्रियों के भी अधीन होता है। यानी, इन्द्रियाँ ही सारे के सारे कार्य करती हैं। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—'ते ह प्राणाः पितरं प्रेत्य ऊचुः'<sup>3</sup>। 'मैं अन्धा हूँ' 'मैं बहरा हूँ' इत्यादि अनुभवों में, यह माना गया कि 'अहं' पद से 'आत्मा' का अर्थ प्रकट होता है। इस मान्यता के अनुसार चार्वाकों का एक वर्ग 'इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं', यह मानता है।

इस मान्यता के भी दो भेद हैं। एक समुदाय के अनुसार 'एक देह में, एक ही इन्द्रिय, आत्मा होती है' यह माना गया है। इसे 'एकेन्द्रियात्मवाद' कहा गया। दूसरे समुदाय के अनुसार 'इन्द्रियों के समूह' को आत्मा माना गया। इस मान्यता को 'मिलितेन्द्रियात्मवाद' कहा गया।

**प्राणात्मवाद**—इन्द्रियाँ, प्राणों के अधीन होती हैं। देह में प्राणों की प्रधानता होती है। प्राणवायु के निकल जाने पर, देह और इन्द्रियाँ भी मर जाती हैं। प्राणों के रहते हुए ही शरीर जिंदा रहता है और इन्द्रियाँ भी कार्य करती हैं। भूख/प्यास लगने पर 'बुभुक्षितोऽहं' 'पिपासितोऽहं' आदि अनुभव प्राणों का धर्म है। इसलिए, कुछ आचार्यों का कहना है—'प्राण एवात्मा'। तैत्तिरीयोपनिषद् ने भी प्राणात्मवाद का समर्थन करते हुए कहा है—'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'<sup>4</sup>।

**पुत्र आत्मा है**—बेटे को सुखी/दुःखी देखकर पिता सुख/दुःख का अनुभव करता है। संसार में कई बार, ऐसे दृश्य देखे गये हैं, कि बेटे के मर जाने पर, उसके विरह-दुःख से पिता भी मर गया। इस लोक-व्यवहार के आधार पर, कुछ चार्वाक आचार्यों का कहना है—'पुत्र ही आत्मा है।' इस मान्यता के समर्थन में कौषीतकी उपनिषद् का कहना है—'आत्मा वै जायते पुत्रः'<sup>5</sup>।

**अर्थ/धन आत्मा है**—धन, सबका परमप्रिय है। धन के बिना आदमी दुःखी रहता है। और कभी-कभी तो धन के अभाव में वह मर भी जाता है। धन होने पर सुखी होना, न होने पर दुःखी रहना, एक सामान्य लोक-व्यवहार है। जिसके पास धन है, वह स्वतंत्र है, सब कुछ करने में समर्थ है। इसलिए, धनी को 'महान्' और 'ज्ञानी' तक कहा जाता है। जो धनी है, धन का विनाश/क्षय हो जाने पर, वह अपने प्राण त्याग देता है, यह भी कई अवसरों पर देखा गया है। इस व्यवहार के आधार पर कुछ चार्वाक मानते हैं—'लौकिकोऽर्थ एवात्मा'। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस मान्यता के समर्थन में कहा गया है—'अर्थ एवात्मा'<sup>6</sup>।

1. तैत्तिरीयोपनिषद्—2/1/1

4. तैत्तिरीयोपनिषद्—2/2/1

2. तैत्तिरीयोपनिषद्—2/3/1

5. कौषीतकी उपनिषद्—1/2

3. छान्दोग्योपनिषद्—5/1/7

6. बृहदारण्यकोपनिषद्—1/4/8





इन सिद्धान्तों को ध्यान से देखने पर, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकांश सिद्धान्त, लोक-व्यवहार पर आधारित हैं। शायद इसीलिए, इनके आचार्यों का 'लोकायत' नाम भी दे दिया गया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन सारे सिद्धान्तों में पदार्थों/भूतों की ही प्रधानता है। इसलिए, इन सिद्धान्तों को भूतवाद/भौतिकवाद जैसे नामों से भी व्यवहृत किया गया।

चार्वाक, चूंकि भूतों से हटकर अन्य कुछ भी विमर्श नहीं करते। इसलिए इन्होंने आकाश, प्राण और मन की भी, भौतिकता को ही स्वीकार किया है। छान्दोग्योपनिषद् ने 'मन' को 'अन्नमय' और प्राणों को जलीय पदार्थ माना है। और, दोनों की भौतिकता को स्पष्ट करते हुए कहा है—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः॥ आपः पीतस्त्रेधा विधीयते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तः भूचं, यो मध्यस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणाः' ॥

### बौद्धदर्शन में आत्म-विचारणा

तथागत बुद्ध को जब तत्त्वज्ञान हुआ था, तभी उन्हें आत्मसाक्षात्कार भी हुआ था। किन्तु, जीवन का परम लक्ष्य 'आत्म-साक्षात्कार' ही है, यह जानते हुए भी उन्होंने 'आत्मा' के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा। उनकी धारणा थी—'वर्तव्यनिर्वाणों की उपासना से, और तपस्या से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इसी से, स्वतः ही आत्मज्ञान हो जायेगा'। इस कारण उन्होंने कर्म सम्बन्धी उपदेश को प्राथमिकता दी। आत्मा, शरीर से भिन्न है या अभिन्न? आत्मा, मूर्त है या अमूर्त?—मृत्यु के बाद भी उसका अस्तित्व रहता है या नहीं? इत्यादि आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देने के बजाय, उन्होंने मीन रहना ही श्रेष्ठ समझा। इसलिए, बौद्धदर्शन में आत्मविषयक चर्चाओं का प्रायः अभाव ही देखा/पाया जाता है।

वच्चगोत्तमिषु के उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में धारण किये गये मौन के विषय में, और उन प्रश्नों के उत्तर के विषय में भी, उनके प्रमुख शिष्य आनन्द ने, जब बुद्ध से प्रश्न किया तो उन्होंने कहा—'आनन्द! 'आत्मा है', यदि मैं यह कहता हूँ, तो उन श्रमण-ब्राह्मणों का सिद्धान्त पुष्ट होता है, जो आत्मा की स्थिरता/नित्यता में विश्वास करते हैं। 'आत्मा नहीं है' यदि यह कहता हूँ, तो उन श्रमण-ब्राह्मणों के सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जो आत्मा के शून्यवाद में विश्वास रखते हैं।'

बुद्ध और आनन्द के इस संवाद पर, पाश्चात्य विद्वान् अल्डेनबर्ग का मानना है—'आत्मा के अस्तित्व और अभाव, दोनों से परे रहकर दिये गये उत्तर का यही आशय लिया जायेगा कि 'आत्मा नहीं है' ॥

बावजूद उक्त स्थिति के, बौद्धदर्शन में रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार और विज्ञान नाम के पाँच स्कंधों के संघात/संयोग/मेल रूप में आत्मा की स्वीकृति पायी जाती है। इस स्वीकृति पर अपनी टिप्पणी करते हुए रोज डेविड्स ने लिखा है—'रूप-वेदना आदि पाँचों स्कंधों के संयोग के बिना, जीवात्मा ठहर नहीं पाता और इनका संयोग, क्रियमाण के अभाव में असम्भव हो जाता है। क्रियमाण भी एक और दूसरे क्रियमाण के बिना सम्भव नहीं होता। और, 'विभाग' स्वीकार किये बिना, यह दूसरा क्रियमाण भी स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं है। यह एक ऐसा तिरोभाव है, जो पहिले/वाद के समय में, कभी भी पूरा



नहीं हो पायेगा। इस तरह, यह एक ऐसी शाश्वत/अविच्छिन्न प्रक्रिया है, जिसमें नाम, रूप आदि कुछ भी तो स्थायी नहीं है<sup>9</sup>।

विद्वानों की इसी तरह की टीका/टिप्पणियों के परिप्रेक्ष्य में, बौद्धों का आत्मा-विषयक अभिप्राय यह स्पष्ट होता है—‘आत्मा, न तो वह है, जो पञ्चस्कन्ध का स्वरूप है; न ही उस स्कन्ध रूप से सर्वथा भिन्न है। यह आत्मा, न तो केवल शरीर-मन का सम्मिश्रण मात्र है, न ही कोई इस तरह का नित्य पदार्थ है, जो कि परिवर्तनों के विप्लव से सर्वथा मुक्त रह सके’<sup>10</sup>।

### वैदिक वाङ्मय में आत्म-चर्चा

दुःख-निवृत्ति का प्रमुख कारण आत्म-साक्षात्कार है, यह मानकर, वैदिककालीन जीवात्मा, जब आत्मान्वेषण में प्रवृत्त हुआ, तो उसने देखा कि देवोपासना/स्तुति आदि से भी दुःख-निवृत्ति हो जाती है। इसलिए वह इन्द्र, वरुण, आदि देवों को ही ‘आत्मा’ के रूप में मान बैठा। यह तथ्य, वेद संहिताओं के अवलोकन से स्पष्ट होता है। किन्तु जिसने, जब-जब भी जिस किसी देवता की स्तुति की, तब-तब उपास्य/स्तुत्य देव को ही उसने ‘महान्तम’ माना। पर, सभी देव तो ‘महान्तम’ हो नहीं सकते—यह विवेक जागृत होने पर, उनके मनो में एक जिज्ञासा जागी—‘सबसे महान् कौन है?’ इस के समाधान में यह माना गया कि जो देव, सबसे महान् हो, वस्तुतः वही आत्मा है। इसी तरह की भावनाओं के रूप में, आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा की क्रमिक प्रगति वेदों में देखी जा सकती है।

यह बात अलग है कि उपनिषदों में, आत्मा को देवताओं से पृथक् रूप में स्वीकार कर लिया गया। केनोपनिषद् कहती है<sup>11</sup>—‘जिस आत्मा के अन्वेषण में लोग लगे हुए हैं, वह देवताओं से भिन्न है। क्योंकि, देवताओं में जो देवत्व शक्ति है, वह ब्रह्मप्रदत्त है। इसलिए, आत्मा, देवताओं से भिन्न है—यह तथ्य यक्ष-देव सम्वाद में स्पष्ट हुआ है।’

ब्राह्मणों/आरण्यकों में आत्मा— ब्राह्मण ग्रन्थों में पहले तो मित्र, बृहस्पति, वायु, यज्ञ आदि को ‘ब्रह्म’ रूप में माना गया<sup>12</sup>। बाद में, इन सब देवताओं की उत्पत्ति ब्रह्म से वतलाकर, ब्रह्म तत्त्व का व्यापक रूप प्रदर्शित किया गया। यहाँ ‘आत्मा’ और ‘ब्रह्म’ दोनों को ही अलग-अलग कहा गया है। ब्रह्म, देवताओं का उत्पादक होने पर भी उनसे अभिन्न माना गया। और, आत्मा को देवताओं से भिन्न स्वीकार किया गया। यानी, ब्राह्मणों/आरण्यकों में, देवताओं की उत्पत्ति के कारणस्वरूप ब्रह्म से ‘आत्मा’ का स्वरूप पृथक् स्वीकार किया गया।

शतपथ ब्राह्मण में ‘शरीर का मध्यम भाग आत्मा है’<sup>13</sup> कहने के साथ-साथ त्वचा, शोणित, मांस और अस्थियों के लिए, फिर बोट में मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त के लिए भी ‘आत्मा’ शब्द का प्रयोग किया गया। यहीं पर, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय अवस्थाओं के लिए भी ‘आत्मा’ शब्द का प्रयोग है<sup>14</sup>। जबकि जमिनीय ब्राह्मण में आकाश से अभिन्न मानकर आत्मा की पृथक् सत्ता दिखलाई गई है<sup>15</sup>।

9. महावग—1/6/38

10. पृग्लपञ्चति

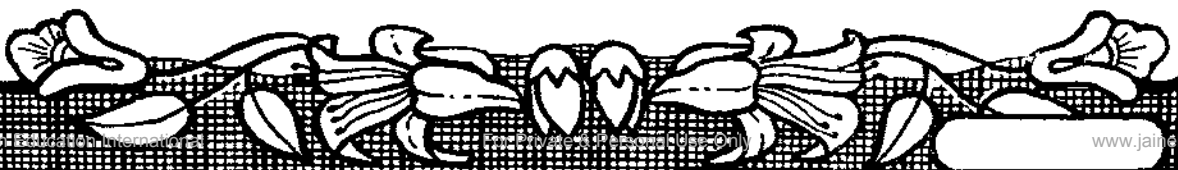
11. केनोपनिषद्—1/5/9

12. शतपथ ब्राह्मण—9/3/2/4

13. वही—9/3/2/4

14. शतपथ ब्राह्मण—7/1/1/18

15. जमिनीय ब्राह्मण—2/54



तत्तिरीय आरण्यक में आत्मा को प्राणों से अभिन्न मानते हुए उसे 'विज्ञानमय' 'आनन्दमय' स्वीकार किया गया है<sup>16</sup> । और अन्त में उसका स्वरूप-परिचय दिया गया है । ऐतरेय ब्राह्मण में द्यौ और पृथिवी के मध्यवर्ती आकाश से अभिन्न 'आत्मा' कहा गया है<sup>17</sup> । जब कि ऐतरेय आरण्यक में 'आत्मा' से ही लोक की सृष्टि कही गई है, और उसके सोपाधि-निरुपाधि स्वरूपों का वर्णन करके, चित्पुरुष ब्रह्म से उसकी एकता स्वीकार की गई है<sup>18</sup> । दूसरे स्थल पर, स्पष्ट कहा गया है—शुद्ध चैतन्य से भिन्न, अन्य कोई पदार्थ, संसार में नहीं है । देवता, जंगम और स्थावर जीव, जो कुछ भी इस संसार में विद्यमान हैं, वह सब आत्मा ही है । इसी से सबकी सृष्टि होती है, और सबका लय भी इसी में होता है<sup>19</sup> ।

इस तरह, आत्मा के स्थूलतम, परिच्छिन्न स्वरूप से लेकर सूक्ष्मतम, सर्वव्यापक स्वरूप तक का वर्णन आरण्यकों में पाया जाता है ।

### उपनिषत्साहित्य में आत्म-विचारणा

उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' है । वेद-संहिताओं से लेकर आरण्यकों तक जिस 'ब्रह्म' को आत्मा से भिन्न प्रतिपादित किया गया था, वही ब्रह्म, उपनिषत्साहित्य में आत्मा से अभिन्न मान लिया गया<sup>20</sup> । इसके साथ-साथ, यह भी स्वीकार किया गया कि 'आत्मा' के अलावा, अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ, संसार में 'सत्' नहीं है । बृहदारण्यकोपनिषद् का, आत्मा के सम्बन्ध में यह कथन द्रष्टव्य है—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमयः .....धर्ममयो अधर्ममयः सर्वमयः' इत्यादि<sup>21</sup> ।

यही आत्मा/ब्रह्म, प्राण-अपान-व्यान-उदान वायु के रूप में, हमारे शरीर की रक्षा करता है; यही आत्मा, भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से हम सबका उद्धार करता है । इसी के ज्ञान/साक्षात्कार से, पुत्र, धन, स्वर्ग आदि की अभिलाषा से मुक्त हुआ जीव संन्यस्त हो जाता है ।<sup>22</sup> चूँकि, यह आत्मा अखण्ड है, पूर्ण है; इसलिए, सत्-असत्, दीर्घ-लघु, दूर-समीप, आदि परस्पर विरोधी धर्मों का वह आधार होता है । इसी वजह से, अलग-अलग दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से, उसका वर्णन अनेक तरह से किया है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है, कि 'ब्रह्म' सम्बन्धी ज्ञान, पहले-पहल, क्षत्रियों में ही था । उन्हीं से ब्राह्मणों ने इस विद्या को प्राप्त किया । इसमें, यह भी स्पष्ट कहा गया है कि अपनी तपस्या के बल पर, कोई भी ब्रह्म को जान/प्राप्त कर सकता है । क्योंकि, यह आत्मा न तो वेदों के अध्ययन से जाना/पाया जा सकता है, न ही बुद्धि/शास्त्रों से उसे प्राप्त किया जा सकता है । बल्कि, जो जीवात्मा, अपने आत्मा का वरण करता है, वही जीवात्मा, अपने आत्मा को प्राप्त करता है ।<sup>23</sup> यही बात कठोपनिषद् में भी यों कही गई है :<sup>24</sup>—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।  
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ॥

16. तैत्तिरीयारण्यक—9/1

17. ऐतरेयब्राह्मण—1/3/3

18. ऐतरेय आरण्यक—2/4/1/3

19. वही—2/6/1

20. बृहदारण्यकोपनिषद्—2/5/19

21. वही—4/4/5

22. वही—4/5/6

23. वही—4/4/19

24. कठोपनिषद्—1/2/23



**जीवात्मा का स्वरूप**—मर्त्य-अमर्त्य, स्थिर-अस्थिर स्वरूप वाला ब्रह्म/परमात्मा, अविद्या से संश्लिष्ट होने पर 'जीवात्मा' कहलाता है<sup>25</sup>। पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार, वह सुख/दुःख का उपभोग करता है, और जन्म/मरण को प्राप्त करता है; बल्कि, जन्म लेने से पूर्व ही अपने स्थूल, सर्वांगपूर्ण शरीर को ग्रहण कर लेता है। पश्चात् इह/परलोक का भ्रमण करता हुआ, स्वप्न तक में दोनों लोकों का ज्ञान/अनुभव, एक ही समय में प्राप्त करता है। इसी से वह सुख/दुःख का अनुभव करता है।

**जन्मान्तर व्यवस्था**—स्थूल शरीर की शक्ति कम हो जाने पर, वह जाग्रत अवस्था से स्वप्न अवस्था में प्रवेश करता है; फिर, जर्जरित, स्थूल शरीर को छोड़कर, अविद्या के प्रभाव से, दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है। इस 'शरीर-परित्याग' को 'मरण' कहा जाता है। मरण की अवस्था में जीवात्मा, दुर्बल और संज्ञाहीन होकर, हृदय में स्थित हो जाता है। मरण के समय, सबसे पहले उसके रूप/ज्ञान नष्ट होते हैं, फिर अन्य इन्द्रियों के साथ-साथ, उसका अन्तःकरण भी शिथिल हो जाता है। इस समय हृदय के ऊर्ध्वभाग में एक 'प्रकाश' उदित होता है; जोकि शरीर के छिद्रों में से होकर, शरीर से बाहर निकल आता है। इस प्रकाश के साथ-साथ, उसकी जीवन-शक्ति भी बाहर निकल जाती है। इस स्थिति में भी, उसमें 'वासना' स्पष्ट दिखाई देती है। इस वासना के ही प्रभाव से, जीव के जन्मान्तर का स्वरूप निश्चित होता है<sup>26</sup>।

**परमपद प्राप्ति**—जीवात्मा, अपने वर्तमान जन्म में, जो/जैसा करता है, उसी के अनुसार उसे अगला जन्म प्राप्त होता है। इसलिए, हर जीवात्मा को, अपना अगला जन्म सम्यक् बनाने के लिए शुभ कर्म करने चाहिए; ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग का अभ्यास और सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। शुभ कर्मों के करने से शुभ देह-स्वरूप और स्थान प्राप्त होता है<sup>27</sup>। यदि कोई जीवात्मा, अपने जीवन काल में तपस्या/पुण्योदय के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है, तो, इससे उसकी वासना का और किये हुए कर्मों का विनाश हो जाता है। सञ्चित कर्मशक्ति का ह्रास हो जाना ही 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है। जीवन्मुक्त अवस्था में, प्रारब्ध के योग से प्राप्त स्थूल शरीर ही रह जाता है। बाद में, प्रारब्ध के नष्ट हो जाने पर, उसका शरीर भी छूट जाता है। और, जीवात्मा 'आत्म-साक्षात्कार' का अनुभव करने लगता है। यानी, 'परमपद' को प्राप्त कर लेता है।

## न्यायदर्शन में आत्म-विवेचना

ज्ञान का जो अधिकरण होता है, वही 'आत्मा' है। आत्मा द्रष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य और व्यापक है<sup>28</sup>। नैयायिकों की मान्यता है—बाह्य इन्द्रियों से और मन से, आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान रूप लिंगों के द्वारा, आत्मा के पृथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इस प्रसंग में 'आत्मा' का आणव्य 'जीवात्मा' है। इसी को 'बद्ध आत्मा' कहा जाता है।

सुख/दुःख की विचित्रता से यह सिद्ध होता है कि हर शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्मा है। वही उस शरीर का, और उसके सुखों/दुःखों का भोक्ता होता है। मुक्त अवस्था में भी हर जीवात्मा स्वतन्त्र और एक-दूसरे से अलग रहता है। इसी आधार पर नैयायिकों ने मुक्त आत्माओं का अनेकत्व माना है।<sup>29</sup>

25. बृहदारण्यकोपनिषद्—2/3/1

26. वही—4/4/2

27. वही—शांकर भाष्य—4/4/2

28. न्याय भाष्य—1/1/9

29. Conception of Matter—Dr. Umesh Chandra, Chap. 11, p. 372-76.



न्यायदर्शन के अनुसार जीवात्मा ज्ञान का अधिकरण है। फिर भी वह स्वभाव से ज्ञानशून्य है। अतएव जड़ है। आत्मा में स्वभावतः चतन्य का अभाव है। मन के संयोग से उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। अर्थात्, 'ज्ञान' आत्मा का 'स्वाभाविक' धर्म न होकर 'आगन्तुक' धर्म ठहरता है। इसी बात को ध्यान में रखकर महाकवि श्रीहर्ष ने नैयायिकों का परिहास करते हुए कहा<sup>30</sup>—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।

आत्मा के गुण—न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान, सुख, दुःख आदि आत्मा के गुण हैं<sup>31</sup>। उसके मन, वाणी और शरीर के शुभ-अशुभ परिणामों से उत्पन्न होने वाले शुभ-अशुभ संस्कार आत्मा में अधिष्ठित रहते हैं। ये संस्कार, मृत्यु के बाद भी, जीवात्मा के साथ, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करते हैं। इन्हीं के प्रभाव से आत्मा भोगशील होता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि, चूँकि आत्मा त्रिभु/सर्वव्यापी है। फिर, वह जहाँ कहीं भी कैसे आ/जा सकता है? वह, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कैसे कर सकता है?...नैयायिक कहते हैं, इस तरह की शङ्का उचित नहीं है। क्योंकि आत्मा, त्रिभु/व्यापक है। इससे उसके सभी संस्कार, सब जगह, हमेशा मौजूद रहते हैं। हालांकि नैयायिक, संस्कारों को 'मन' में नहीं मानते हैं, किन्तु, स्थूल शरीर में मन का संयोग होने पर, उसमें जीवात्मा के संस्कार जब उद्बुद्ध होते हैं, तभी वह भोगशील बन पाता है। यद्यपि, एक शरीर को छोड़कर, दूसरे शरीर में मन ही प्रवेश करता है, तथापि मोटी बुद्धि से, कहा यही जाता है—'जीवात्मा के साथ उसके संस्कार भी जाते हैं।' यह कथन, जीवात्मा का मन से सम्बन्ध होने के कारण, किया जाता है।

मोक्ष—इक्कीस प्रकार के दुःखों और उनके कारण का विनाश हो जाने पर आत्मा मुक्त होता है। यानी, इक्कीस प्रकार के दुःखों से हमेशा-हमेशा के लिये छूट जाना 'मुक्ति' है। इसका दूसरा नाम 'अपवर्ग' भी है। इक्कीस प्रकार के दुःख ये हैं—'मन के साथ छः इन्द्रियाँ, उनके रूप-रस आदि छः विषय, इन छः ही प्रकार के इन्द्रिय-विषयों के छः प्रकार के ज्ञान, सुख और दुःख। इन्हीं से दुःख उत्पन्न होता है। अतः इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति को नैयायिक 'मोक्ष' कहते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया—शास्त्रों के समालोचनजन्य ज्ञान से पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उससे, पदार्थों में तमाम दोष दिखलाई देने लगते हैं। इसी से, जीवात्मा को संसार के प्रति विरक्ति हो जाती है। वह मोक्ष की कामना करने लगता है। अब, वह गुरु के उपदेश से अष्टांग योग का अभ्यास करता है, तथा ध्यान और समाधि में पूर्ण परिपक्वता पा लेने पर 'आत्म-साक्षात्कार' कर लेता है। आत्म-साक्षात्कार हो जाने से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पाँच क्लेशों का विनाश हो जाता है<sup>32</sup>। और वह निष्कर्म हो जाता है। उसके कर्मजन्य संस्कारों की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अतः उसमें कर्म-संचय क्रिया का अभाव हो जाता है।

जीवात्मा में जो पूर्वजन्मोपाजित संस्कारों और कर्मों का संचय रहा होता है, वह योगाभ्यास से सम्यग्ज्ञान हो जाने पर, उन-उन कर्मों के भोगयोग्य भिन्न-भिन्न शरीरों को काय-व्यूह से उत्पन्न करता है, तथा इन शरीरों की तीव्र कर्मभोग्य सामर्थ्य से, समस्त भोगों का उपभोग करके पूर्वजन्मोपाजित कर्मों

30. नैषधीयचरितम् - 17/75

31. न्यायसूत्र—प्रज्ञस्त पादभाष्य—पृ० 70

32. पातञ्जल योगदर्शनम्—2/3/9



का विनाश कर देता है। जिससे उसके भावी शरीरों का विनाश हो जाता है। अब, उसका जो मौजूदा शरीर बचा रह जाता है, उसके मर जाने पर, इक्कीसों प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इसी स्थिति में मोक्ष को प्राप्त हुआ जीवात्मा 'मुक्त' कहलाता है<sup>33</sup>। यही अभिप्राय आचार्य गौतम ने इस तरह से व्यक्त किया है<sup>34</sup>—'मिथ्याज्ञानस्य विनष्टे सति रागद्वेषादीनामपि नाशस्ततश्च प्रवृत्तेरभावस्तदनन्तरञ्च पुनर्जन्माभावोऽन्ते च दुःखानामभावात् 'मुक्तिः' भवतीति'।

### मीमांसा दर्शन में आत्मविचार

नैयायिकों की तरह मीमांसा दर्शन में भी शरीर-इन्द्रिय आदि से भिन्न 'आत्मा' की सत्ता मानी गई है। किन्तु, इस दर्शन में, 'आत्मा' को भी एक 'द्रव्य' माना गया है। वेदों में कहा गया है—'यज्ञ के बाद यजमान स्वर्गलोक जाता है। मर जाने पर, यजमान का शरीर तो यहीं जला दिया जाता है। इसलिए, शरीर स्वर्ग नहीं जाता। जो जाता है, वही 'आत्मा' है। इसी तरह 'सोऽयं जीवन मरणयोर्बन्धनान्मुच्यते' इस कथन से भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुक्त होने वाला शरीर-इन्द्रिय से भिन्न, अविनाशी, एक लोक से दूसरे लोक में जाने वाला 'जीवात्मा' ही है<sup>35</sup>। यद्यपि आत्मा में ज्ञान का उदय है, पर, स्वप्न अवस्था में ज्ञान का विषय उपस्थित न रहने से ज्ञान का भी अभाव रहता है। इस मान्यता के अनुसार मीमांसक का आत्मा जड़ रूप भी है, और बोधरूप भी है।

वास्तव में तो आत्मा नित्य होने के कारण कभी नष्ट नहीं होता। यही कर्ता-भोक्ता होता है। और, 'अहं' इस अनुभूति के द्वारा जाना जाता है। विभु होने के कारण सब जगह मौजूद रहता है। इसलिए देश-काल से परिच्छिन्न, यह शुद्ध ज्ञान स्वरूप<sup>36</sup>, समस्त पदार्थों का ज्ञाता<sup>37</sup> है। एक शरीर में मौजूद आत्मा दूसरे शरीरों में मौजूद आत्माओं से भिन्न है। अतः आत्माएँ अनेक हैं। मीमांसकों की यह स्पष्ट मान्यता है। जीवात्माओं की अनेकता/भिन्नता स्वीकार करने पर ही 'बद्ध'/'मुक्त' आत्माओं की व्यवस्था बन पाती है। अन्यथा, एक जीवात्मा के 'मुक्त' हो जाने पर सभी जीवात्माओं को मुक्त हो जाना चाहिए<sup>38</sup>। यह जीवात्मा स्वानुभव से जाना जाता है। इसलिए इसका मानस प्रत्यक्ष भी यहाँ स्वीकार किया गया है<sup>39</sup>।

**मुक्ति का स्वरूप**—यह शरीर भोगों का आयतन/घर/केन्द्र है। इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं। शब्द, स्पर्श, रूप आदि इन्द्रियों के विषय भोग्य हैं। 'प्रपञ्च' पद/शब्द इन्हीं के लिये प्रयोग किया जाता है। इन्हीं सबसे जीवात्मा सुख/दुःख का साक्षात् अनुभव करता है, और अनादिकाल से 'बद्ध' बना पड़ा है। इसलिए, इन तीनों का आत्यन्तिक विनाश 'मोक्ष' है। यह, भट्टमत में स्वीकार किया गया है।

पहले से उत्पन्न शरीर, इन्द्रियाँ और इन्द्रिय विषयों का विनाश, भावी शरीर, इन्द्रियाँ और इन्द्रिय विषयों का उत्पन्न न होना 'आत्यन्तिक—विनाश' कहा जाता है। इसके पश्चात् सुख-दुःख रहित मुक्त जीव 'स्वस्थ' हो जाता है। अर्थात्, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि से रहित अपने स्वरूप में स्थित जीव, ज्ञानशक्ति, सत्ता और द्रव्यत्व से सम्पन्न हो जाता है।

**मुक्ति प्रक्रिया**—पूर्वजन्म में कमाये गये धर्म-अधर्म/पुण्य-पाप आदि का, उनके फल का उपभोग

33. (क) न्यायसूत्र— 4/2/38— 46

(ख) तर्कवादभाष्य—पृ०—91-92

34. न्यायसूत्र—1/1/2

35. (क) श्लोकवार्तिक—1/5,

(ख) शास्त्रदीपिका—1/1/5

36. शास्त्रदीपिका—पृ० 123

37. वही—पृ 123

38. वही—पृ० 123—24

39. श्लोकवार्तिक—1/5



करने से विनाश हो जाता है।<sup>40</sup> इनका नाश हो जाने पर सुख-दुःख का भी नाश हो जाता है जिससे पूर्व जन्म के बन्धनों से जीव मुक्त हो जाता है। काम्य कर्मों का परित्याग कर देने से, भावी धर्म-अधर्म आदि की, और उनके फलों की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए उनका भी अभाव हो जाता है। वेदविहित कर्मों को करते हुए भी निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देने से, नये शरीर आदि की उत्पत्ति नहीं होती। अतः पूर्वशरीर का विनाश हो जाने के बाद, जीव मुक्त होकर स्वरूप में स्थित हो जाता है। मोक्ष अवस्था में जीव में सुख, आनन्द और ज्ञान रहते हैं। इस तरह, भट्ट मीमांसक के मतानुसार 'प्रपञ्च सम्बन्ध का विलय' ही मोक्ष है।

मुक्त जीव का स्वरूप — मुक्त अवस्था में शरीर का, और मन के सम्बन्ध का भी अभाव हो जाता है। फिर वहाँ मुक्त जीव को 'स्व-ज्ञान' कैसे होता है? चूँकि, मनः-शरीर आदि के साधनों के अभाव में आत्मा भी अपने आपको जानने में समर्थ नहीं रहता, इसलिये, मोक्ष हो जाने पर, जीवात्मा को अपना ज्ञान नहीं होता; किन्तु, उसमें ज्ञानशक्ति का लोप कभी भी नहीं होता; वह तो उसमें रहती ही है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप यही है। इसी स्वरूप में, वह मोक्ष में रहता है<sup>41</sup>।

प्रभाकर के मत में, धर्म/अधर्म का निरवशेष विनाश हो जाने पर, देह का आत्यन्तिक विनाश ही 'मोक्ष' है। वस्तुतः तो धर्म-अधर्म के वशीभूत हुआ जीवात्मा नाना-योनियों में परिभ्रमण करता है। इसलिए, धर्म-अधर्म का विनाश हो जाने पर, इसी के कारण उत्पन्न देह-इन्द्रियों आदि के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर दुःखों से और बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।

मुक्ति पाने की इच्छा रखने वाला जीव, सांसारिक दुःखों से उद्विग्न हो जाता है। संसार में विशुद्ध सुख का अभाव है। इसलिए, सांसारिक दुःखों से मुक्त हुआ जीवात्मा, सांसारिक सुखों से भी पराङ्मुख हो जाता है फिर वह मोक्ष के लिये प्रयत्नशील बनता है। बन्ध के कारणों का, पाप के हेतु-भूत निषिद्ध कर्मों का वह परित्याग करता है, पूर्वजन्म में अजित कर्मफलों का उपभोग करके उनका विनाश करता है। और, योगशास्त्रों में बतलाये गये शम-दम-ब्रह्मचर्य आदि योग के अंगों का पालन करके आत्मज्ञान प्राप्त करता है और, धर्म-अधर्म आदि संस्कारों का विनाश करता है; तब कहीं वह इस संसार से मुक्त होता है। फिर इस संसार में नहीं आता<sup>42</sup>। मुक्त अवस्था में, जीव की सत्ता मात्र रहती है। आत्मा, चूँकि सत्त्वयुक्त होता है, और अकारण रूप होता है; इसलिए वह 'अविनाशी' बन जाता है; और, सब जगह रहने के कारण 'विभु' भी होता है<sup>43</sup>।

इस विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भट्ट और प्रभाकर के मत में फर्क यह है कि भट्ट ने सिर्फ कर्मफलों का उपभोग कर लेने से ही धर्म/अधर्म का विनाश मान लिया है; जबकि प्रभाकर ने उक्त उपभोग के साथ-साथ शम-दम आदि योगाङ्गों के परिपालन से प्राप्त आत्मज्ञान को भी धर्म-अधर्म के विनाश में आवश्यक माना है<sup>44</sup>। भट्टमत में प्रपञ्च सम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है; जबकि प्रभाकर मत में धर्म-अधर्म का निरवशेष विनाश, तथा प्राप्त देह का आत्यन्तिक विनाश 'मोक्ष' माना है।

उक्त दोनों सिद्धान्तों में जो पारस्परिक भिन्नता परिलक्षित होती है, वह वास्तविक नहीं है। क्योंकि भट्टमत में 'तीनों प्रकार के बन्धों का आत्यन्तिक विलय' मोक्ष माना गया है<sup>45</sup>। तो प्रभाकर मत

40. शास्त्रदीपिका—पृ० 130

41. वही—पृ० 130

42. प्रकरण पञ्चिका—पृ० 154-157

43. वही—पृ० 157

44. वही—(काशी संस्करण) पृ० 156

45. शास्त्रदीपिका—पृ० 125



में 'देह का आत्यन्तिक उच्छेद' मोक्ष माना गया है<sup>46</sup>। एक मत में शरीर सम्बन्ध के विलय को और दूसरे मत में शरीर के ही उच्छेद को, मोक्ष का कारण माना गया है। शरीर का उच्छेद हो जाने पर, शरीर सम्बन्धों का उच्छेद हो जाना स्वाभाविक है। अतः दोनों मतों में कोई विशेष फर्क नहीं है।

सांख्यदर्शन में आत्म-चिन्तन

सांख्यदर्शन में मूलतत्त्व तीन हैं—व्यक्त, अव्यक्त, और ज्ञ। इनमें से 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' जड़ हैं। केवल 'ज्ञ' ही चेतन है। 'ज्ञ' को 'पुरुष' भी कहा गया है। परोक्ष होने के कारण 'पुरुष' को न तो बुद्धि से जाना जाता है, न ही उसका प्रत्यक्ष होता है। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। अतः इसकी सत्ता/अस्तित्व की सिद्धि करने के लिये किसी सहयोगी 'लिङ्ग' के न होने से, अनुमान द्वारा भी इसका ज्ञान नहीं किया जा सकता। सांख्यों की मान्यता है कि मात्र 'शब्द'/'आगम' ही इसके अस्तित्व की सिद्धि में सहयोगी है। सांख्य शास्त्रों में 'ज्ञ' के अस्तित्व सम्बन्धी अनेकों प्रमाण मिलते हैं। जिन्हें देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'ज्ञ' की सिद्धि आगम/आप्तवचन से हो जाती है। सांख्यों का यह पुरुष अहेतुमान्, नित्य, सर्वव्यापी, त्रिगुणातीत और निष्क्रिय है।

पुरुष की अनेकता/बहुत्व के विषय में, विद्वानों में एकमत्य नहीं है। ईश्वरकृष्ण 'तथा च पुमान्'<sup>47</sup>, पद के द्वारा इसके 'एकत्व' और 'प्रकृति के साथ सादृश्य' प्रकट करते हैं। इस पद के भाष्य में गौड़पादाचार्य ने भी 'पुमानप्येकः' पद के द्वारा ज्ञ/पुरुष का एकत्व सिद्ध किया है। जबकि अन्य टीकाकारों ने पुरुष का 'बहुत्व' सिद्ध किया है। इसका मुख्य आधार 'पुरुषबहुत्वं सिद्ध'<sup>48</sup> पद जान पड़ता है। किन्तु, इस सन्दर्भ में जो विशेषण-शब्द जनन-मरण-करण आदि प्रयोग किये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पुरुष के बहुत्व का यह वर्णन, उसके शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से नहीं किया गया है। बल्कि, सांसारिक/बद्ध पुरुष की वहाँ पर अपेक्षा जान पड़ती है।

बद्ध पुरुष की अनेकता—सांख्यदर्शन में शुद्ध स्वरूप वाला पुरुष/ज्ञ एक ही है। किन्तु, बद्ध/सांसारिक पुरुष बहुत हैं। इन सांसारिक पुरुषों के जन्म-मृत्यु, और इन्द्रिय-समूह के सत्ता/स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में निधत पाये जाते हैं। इन सब की अलग-अलग ढंग की प्रवृत्ति, और सत्त्व-रज-तम रूप त्रैगुण्य की विषमता, यह सिद्ध करते हैं कि बद्ध/सांसारिक पुरुषों की विविधता/बहुत्व है<sup>49</sup>। यदि बद्ध पुरुषों में भी एकत्व मान लिया जाता है, तो किसी एक पुरुष के जन्म लेने पर, सबको जन्म ले लेना चाहिए; एक के मर जाने पर सबको मर जाना चाहिए। किसी एक के अंधा/बहिरा हो जाने पर, सबको अंधा/बहिरा हो जाना चाहिए। लोक व्यवहार में ऐसा दृश्य दिखाई नहीं देता; जिससे, यही सिद्ध होता है कि पुरुष-बहुत्व का विश्लेषण, उसकी संसारावस्था को लक्ष्य करके ही सांख्यदर्शन में किया गया है।

'ज्ञ' के बहुत्व में आपत्तियाँ—कुछ विद्वान्, हठपूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि सांख्यदर्शन में 'ज्ञ'/'शुद्धात्मा' का ही बहुत्व स्वीकार किया गया है। इन्हें विचार करना चाहिए कि शुद्ध स्वरूप 'ज्ञ' मुक्त अवस्था वाला होता है। वह, न तो कभी जन्म लेता है, न ही मरता है। इसलिए, उसको अंधा/बहिरा होने, या किसी कार्य में संलग्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। न ही उसमें सत्त्व-रज-तम आदि गुणों की

46. प्रकरणपञ्चिका—पृ० 156

47. सांख्यकारिका—11

48. सांख्यकारिका—18

49. वही—18





उपस्थिति रहती है। इन तमाम गुणों का शुद्ध स्वरूप में अभाव होने पर भी, उसमें सिर्फ 'बहुत्व' कैसे घटित हो सकता है? अतः 'पुरुषबहुत्वं सिद्धं' का अर्थ/आशय, यही लिया जाना चाहिए कि जन्म-मरण आदि की अपेक्षा से, त्रैगुण्य विपर्यय की अपेक्षा से बद्ध/सांसारिक पुरुष ही बहुत्व को प्राप्त होता है।

सांख्यदर्शन में पुरुष को अनादि अविद्या के संसर्ग से, अनादिकाल से बद्ध माना गया है। इसीलिए वह शरीरी होता है। इसी की संज्ञा 'पुरुष' है। इसी के लिये 'बहुत्व' विशेषण प्रयोग किया जाता है। इसी का प्रत्यक्ष होता है; और अनुमान द्वारा ग्रहण करने के लिये 'संघात परार्थत्वात्' आदि पाँच हेतु बतलाये गये हैं। न कि प्रत्यक्ष से अगम्य, शुद्ध स्वरूप के ग्रहण के लिये। अतः 'पुरुषबहुत्वं सिद्धं' पद से ईश्वरकृष्ण का अभिप्राय बद्ध पुरुष के बहुत्व से है, यही मानना चाहिए।

'ज्ञ' की त्रिविधता—श्रीमद्भगवद्गीता की तरह, सांख्यदर्शन में भी पुरुष का त्रैविध्य माना गया है। ये तीनों रूप हैं—१. निलिप्त-ज्ञ, २. बद्धपुरुष-जीवात्मा, और ३. मुक्तात्मा। तत्त्वकौमुदी के मंगला-चरण में पं० वाचस्पति मिश्र ने यही कहा है—

अजाये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां मुक्तभोगां नुमस्तात् ।

यहाँ पर मिश्र महोदय ने बहुवचन के प्रयोग से बद्ध/मुक्त दोनों का बहुत्व माना है। बद्ध आत्माएँ, अनादिकाल से संसार में हैं। यदि सभी आत्माएँ बंधी ही रह जायें, तो 'निलिप्त' 'त्रिगुणातीत' जैसे विशेषण शब्दों के प्रयोग का अर्थ/आशय क्या लिया जायेगा ?

सांख्यों की मान्यता के अनुसार, मुक्त अवस्था में भी, पुरुष तत्त्वगुण से अछूता नहीं रहता है। इसलिए मुक्तावस्था में भी इन्होंने 'पुरुष' की परस्पर भिन्नता मानी है। यह मान्यता स्पष्ट करती है कि जिसे 'निलिप्त' और 'त्रिगुणातीत' स्वभाव वाला कहा गया है, वह बद्ध/मुक्त अवस्थाओं से भिन्न, तीसरी, शुद्ध अवस्था वाला 'ज्ञ' ही हो सकता है। इस तरह सांख्यदर्शन में बद्ध/सांसारिक और मुक्त आत्माओं का बहुत्व, तथा शुद्ध स्वरूप वाले 'ज्ञ' का एकत्व माना जाना, स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन तीनों प्रकारों/स्वरूपों का स्वतंत्र अस्तित्व है। जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सांख्यदर्शन में बद्ध, मुक्त और शुद्ध स्वरूप में ज्ञ/पुरुष का त्रैविध्य माना गया है।

जो शुद्ध स्वरूप वाला ज्ञ/पुरुष है, उसमें अलिङ्गत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व, अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व, साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, औदासीन्य, द्रष्टृत्व, अकर्तृत्व आदि सभी धर्म/गुण उसके निलिप्त होने पर ही सिद्ध हो पाते हैं।

पुरुष का बन्ध—सांख्य पुरुष स्वभाव से निलिप्त निस्संग, त्रिगुणातीत, नित्य है। अविद्या भी नित्य है और इन दोनों का संयोग भी नित्य है। अविद्या/प्रकृति जड़स्वरूप है। इसमें पुरुष का प्रतिबिम्ब जब भी प्रतिभासित होने लगता है। जिससे वह निष्क्रिय, निलिप्त, निस्त्रैगुण्य होने पर भी कर्ता, भोक्ता और आसक्त जैसा जान पड़ता है। प्रकृति-पुरुष के इस आरोपित-स्वरूप को ही सांख्यों ने 'बन्ध' माना है।

बन्ध-विच्छेद—प्रकृति/पुरुष दोनों को ही अपने-अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना, सांख्यदर्शन में बन्ध का अभाव/विच्छेद माना गया है। इसी को 'विवेक बुद्धि' भी कहा गया है। यही पुरुष की 'मुक्ति' है। इसकी प्रक्रिया निम्नलिखित तरह से समझी जा सकती है :—

१२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



'ज्ञान' से अविद्या का नाश हो जाने पर प्रकृति/पुरुष अपने-अपने स्वरूप को जानने लगते हैं<sup>50</sup>। यह ज्ञान ही विवेकबुद्धि उत्पन्न करता है। विवेकबुद्धि उत्पन्न हो जाने पर पुरुष अपने निर्लिप्त/निस्संग स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ हो पाता है। इसके पश्चात्, ज्ञान के अलावा धर्म, अधर्म आदि सात भावों का प्रभाव जब नष्ट हो जाता है, तब, उसके लिये सृष्टि का कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्रकृति, इस उद्देश्य के पूर्ण हो जाने पर विरत हो जाती है। और पुरुष, 'कैवल्य' को प्राप्त कर लेता है। किन्तु, प्रारब्ध कर्मों और पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण, कैवल्य पाते ही शरीर नष्ट नहीं होता; अतः इन कर्मों का भोग कर लेने के बाद, संस्कारों का विनाश हो जाने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है। तब, पुरुष को 'विदेह कैवल्य' प्राप्त हो पाता है। यानी विवेकबुद्धि प्राप्त हो जाने पर जी, जीव का शरीर तब तक चलता रहता है, जब तक उसके प्रारब्ध कर्मों का उपभोगपूर्वक क्षय नहीं हो जाता। इसी के बाद, वह निरपेक्ष, साक्षी, द्रष्टा होकर, प्रकृति को देखता हुआ भी उसके बन्धन में फिर से नहीं बंधता<sup>51</sup>।

### अद्वैत/शाङ्कर वेदान्त में आत्म-चिन्तन

अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से, एकमात्र तत्त्व 'ब्रह्म'/'आत्मा' है। वह आनन्दस्वरूप वाला है<sup>52</sup>। ब्रह्म से भिन्न अन्य सब कुछ 'अज्ञान'/'माया' कहा गया है। यहाँ पर माया/अवस्तु का ज्ञान आवश्यक माना गया है। ताकि 'वस्तु' तत्त्व/आत्मा 'अवस्तु' से पृथक् हो सके। अवस्तु के ज्ञान के बिना, मन-वाणी से अगोचर वस्तु/आत्मा का ज्ञान सामान्य जनों को नहीं हो पाता।

शाङ्कर वेदान्त में ब्रह्म के अलावा अन्य सारे पदार्थ 'असत्' हैं। इन सब का आरोप ब्रह्म में होता है। यानी, इस आरोप का अधिष्ठान/आधार 'ब्रह्म' होता है। माया, अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा जो सर्जना करती है, वह मायिक/भ्रान्त होती है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान से जो/जितने भी कार्य होते हैं, सिर्फ वे ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही 'विवर्त' है, यह माना गया है।

चैतन्य के दो रूप—सर्वव्यापी चैतन्य ब्रह्म, एक निर्विशेष तत्त्व के रूप में माना गया है। इसके स्वरूप के दो प्रकार बतलाये गये हैं—(१) चैतन्यरूप (२) माया/उपाधिरूप। इन दोनों रूपों से ही आकाश आदि की सृष्टि होती है। इस सृष्टि में, जब उपाधियुक्त चैतन्य की प्रधानता होती है, तब सृष्टि का निमित्त कारण चैतन्य होता है। और जब माया रूप उपाधि की प्रधानता होती है, तब माया/उपाधि विशिष्ट चैतन्य को सृष्टि का उपादान कारण माना जाता है।

जीवस्वरूप—यहाँ विज्ञानमय कोष से आवृत चैतन्य को 'जीव' पद से कहा गया है। चैतन्य, चूँकि व्यापक, निष्क्रिय, विभु और सर्वत्रस्थित माना गया है। उसमें गमन-अगमन आदि क्रियाएँ नहीं होतीं। इसलिये यहाँ, वस्तुतः विज्ञानमय कोष ही चैतन्य की सहायता से इह/परलोक को प्राप्त होता है। यही जीवात्मा कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी होता है। बद्ध होने से, यही मुक्ति को प्राप्त करता है।

अद्वैत दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्वीकार किया गया है। उपाधि बल से दोनों में जो भेद है, वह कल्पित है। इस उपाधि के नष्ट हो जाने पर, जीवात्मा अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है। यही तो ब्रह्म/परमात्मा का स्वरूप है। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा, यही सब भली-भाँति बतलाया गया है।

50. सांख्य कारिका—37

51. सांख्य कारिका—65

52. सच्चिदानन्दं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्मणो विद्यात् ।



जैनदर्शन में आत्मविचार

जैन दर्शन जगत् को मूलतः 'जीव' और 'अजीव' दो तत्त्वों में विभाजित करता है। 'आत्मा'/ 'चेतन' को 'जीव' कहा गया है। 'जीव' के/बद्ध और 'युक्त' दो सामान्य भेद कहे गये हैं। जन्म-मृत्यु के चक्र में संसरण करता हुआ और इसी में अनुरक्त 'जीव' विविध कर्मों को करता है और 'बन्ध' को प्राप्त होता है। कर्मबन्धन से युक्त जीव को 'बद्ध'/'संसारी' कहा जाता है<sup>53</sup>। जिन्होंने बन्ध को नष्ट कर दिया, वे 'मुक्त' जीव हैं।

**जीव-स्वरूप**—त्रैकालिक जीवन गुण से युक्त होने से 'जीव' संज्ञा सार्थक कही गई है। 'जीवन' का आधार दशविध 'प्राण' बतलाये गये हैं। यह व्यवहार दृष्टि है। निश्चय दृष्टि से, जिसमें 'चेतना' पायी जाये, वह 'जीव' है<sup>54</sup>। जैनदर्शन में चेतना को 'भावप्राण' भी कहा गया है।

**जीव का लक्षण**—जैनदर्शन में जीव का लक्षण 'उपयोग' कहा गया है। उपयोग, चेतना का अनुविधायि परिणाम होता है<sup>55</sup>। इसे 'ज्ञान' और 'दर्शन' नाम से दो भेदों वाला बतलाया गया है। इन दोनों के धारक को 'जीव' कहा जाता है।

**जीव के गुण**—स्वरूप-लक्षण के अनुसार जीव 'उपयोगमय' है। इसमें रहने वाली चेतना/उपयोग में संकोच/विस्तार की सामर्थ्य होती है। इसलिये वह चीटी और हाथी जैसे शरीरों में, उनकी देह के प्रमाण में, रहता है। इसलिये उसे 'स्वदेहप्रमाण' माना गया। अनादि कर्मबन्ध के कारण, वह नानाविध कर्मों को करता है, और उनके फलों को भी भोगता है। अतः वह 'कर्ता' और 'भोक्ता' भी है। अरूपी होने के कारण उसे 'अमूर्त' माना गया। और वह, स्वभावतः 'ऊर्ध्वगमनशील' है। संसारावस्था से 'मुक्त' हो जाने पर उसे 'सिद्ध' कहा जाता है।

**जीव का द्रव्यत्व**—'जीव' में अचेतन पदार्थों की तरह, 'प्रदेश' और 'अवयव' भी माने गये हैं। उसे, इसी कारण 'अस्तिकाय' कहा गया<sup>56</sup>। उसमें प्रतिक्षण परिममन क्रिया होती रहती है। फिर भी वह अपने मूलरूप/गुणों को नहीं छोड़ता। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, उसमें मदा पाये जाते हैं। इन कारणों से इसे भी एक द्रव्य माना गया<sup>57</sup>।

**आत्मा का लक्षण**—जैन वाङ्मय में 'अतति/गच्छति इति आत्मा' रूप में 'आत्मा' की परिभाषा दी गई है। 'गमन' अर्थवाली धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं। इसलिए, जो 'ज्ञान' आदि गुणों में आ-समन्तात् रहता है, अथवा, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप त्रिक के साथ, जो समग्रतः रहता है, वह 'आत्मा' है<sup>58</sup>।

**आत्मा के भेद**—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा 'एक' है। किन्तु, पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से परिणामात्मक होने के कारण, इसके तीन प्रकार माने गये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा<sup>59</sup>। संसारी आत्मा/जीव, शरीर आदि पर-द्रव्यों में 'आत्मबुद्धि' रखता है। अतः वह 'बहिरात्मा' है<sup>60</sup>। जब, उसकी यह पर-बुद्धि दूर हो जाती है, यानी उसके 'मिथ्यात्व' के मिट जाने पर, उसमें 'सम्यक्त्व' आ जाता है, तब वह 'अन्तरात्मा' बन जाता है<sup>61</sup>। अन्तरात्मा के भी 'उत्तम' 'मध्यम' और 'जघन्य' तीन प्रकार हैं।

53. तत्त्वार्थराजवातिक—2/10/1

54. वही—1/4/7

55. तत्त्वार्थराजवातिक—2/8/1

56. द्रव्यसंग्रह—23, 24

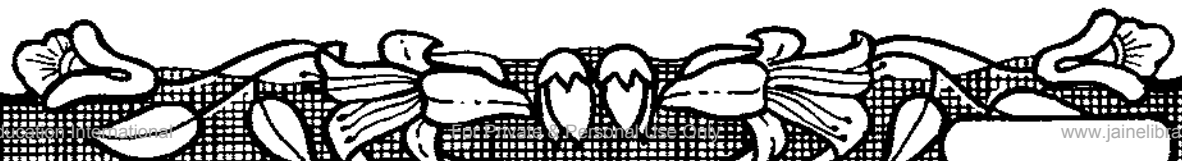
57. पञ्चास्तिकाय—9/12/13

58. बृहद्द्रव्यसंग्रह—57

59. मोक्षप्राप्त—4

60. अष्टात्म कमलमार्तण्ड—3/12

61. वही—3/12



‘परमात्मा’, ‘सकल’ और ‘विकल’ भेद से, दो प्रकार का माना गया है। सर्वज्ञ/अर्हन्त को ‘सकल परमात्मा’ और ‘सिद्ध’ ‘परमेष्ठी’ को ‘विकल परमात्मा’ बताया गया है<sup>62</sup>।

**बन्ध प्रक्रिया**—जैनदर्शनियों ने मन, वचन और काय में ‘स्पन्दन’/क्रिया मानी है। इसे वे ‘योग’ कहते हैं<sup>63</sup>। राग-द्वेष के निमित्त से, जब-जब भी ये स्पन्दन होते हैं, तब, हर स्पन्दन के द्वारा, एक अचेतन द्रव्य/कर्मपरमाणु, बीजरूप में, जीव में प्रवेश कर जाता है। और, आत्मा के साथ चिपक/बंधकर रह जाता है। समय आने पर, यही सुख/दुःख देने में समर्थ हो जाता है। इसी को ‘कर्म’ और ‘कर्मबन्ध’ समझना चाहिए<sup>64</sup>। जीव के राग-द्वेष आदि वासनाएँ, तथा कर्मबन्ध की परम्परा बीज-वृक्ष की तरह अनादि हैं। राग-द्वेषपूर्वक होने वाले मन-वाणी-शरीर के स्पन्दनों से नये-नये कर्मों का बन्ध होता है। यहाँ, राग-द्वेष की उत्पत्ति से ‘भावास्रव’, और इन दोनों से युक्त परिस्पन्दन के साथ बीजरूप कर्मपुद्गल के प्रवेश को ‘द्रव्यास्रव’ कहा जाता है। भावास्रव से ‘भावबन्ध’ और ‘द्रव्यास्रव’ से ‘द्रव्यबन्ध’ होता है<sup>65</sup>। इसके अलावा ‘मिथ्यात्व’ ‘अविरति’ ‘प्रमाद’ और ‘कषाय’ को बन्ध का प्रमुख कारण माना गया है।

बन्धकारणों से आत्मा के मूलगुण/धर्म प्रभावित होते हैं। जिससे वह ‘परभाव’ परिणति करता हुआ, संसारावस्था को और सुदृढ़ बनाता रहता है।

**मोक्ष**—जो कर्म, आत्मा के साथ चिपके/बंधे हैं, उनका सर्वथा उच्छेद/विनाश हो जाना ‘मोक्ष’<sup>66</sup> है। कर्मबन्ध का विनाश हो जाने पर आत्मा स्वतंत्र हो जाता है। और अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

**मोक्ष प्रक्रिया**—जैनदर्शन, कर्मबन्ध विनाश/मोक्ष की प्रक्रिया को ‘संवर’ और ‘निर्जरा’ रूप में, दो चरणों में बाँटता है। प्रथम चरण में, नये-नये कर्मों को बंधने से रोकना, और दूसरे चरण में, पूर्व में बंधे कर्मों का उच्छेद करना, विहित किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र<sup>67</sup>, स्थानाङ्ग सूत्र<sup>68</sup> और दशाश्रुतस्कन्ध<sup>69</sup> में मोक्ष-प्रक्रिया, कर्म-विच्छेद का क्रम वर्णित है। इनका संाराश इस तरह है।

जीव, राग-द्वेष और मिथ्यात्व को जीतकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की आराधना में तत्पर होता है। और, आठ प्रकार की कर्मप्रश्रियों को भेदने/छेदने का प्रयत्न करता है। इस प्रयास में वह सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की अट्टाईस प्रकृतियों को नष्ट करता है। फिर, पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्मों का युगपत् एक साथ क्षय करता है। इसके बाद, उसमें आवरण रहित, अनन्त और परिपूर्ण केवलज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं। इन दोनों का सद्भाव होने तक ज्ञानावरणीय आदि चारों घनघाति कर्मों का विनाश हो (चुका होता है। इसी अवस्था में उसे ‘सर्वज्ञ’/‘अर्हन्त’/‘केवली’ जैसे नामों से सम्बोधित किया गया है। इसी अवस्था को वेदान्त की ‘जीवन्मुक्त’ अवस्था जैसा कह सकते हैं। इसके उपरान्त जब केवली/सर्वज्ञ की आयु का मात्र एक मुहूर्त शेष रह जाता है, तब, वह सबसे पहले अपने मानसिक स्पन्दन को रोकता है, फिर वाणी और शरीर के स्पन्दन को, और श्वासोच्छ्वास को रोककर, शुक्लध्यान की चतुर्थ श्रेणी—शैलेशीकरण—में स्थित हो जाता है।

62. समाधितत्र—5

64. कर्मप्रकृति—प्रस्तावना,

66. तत्त्वायंसूत्र—सर्वावितिद्धि—1/4

68. स्थानाङ्गसूत्र—3/3/190]

63. तत्त्वायंसूत्र—6/1

65. पञ्चास्तिकाय—147

67. दशवैकालिकसूत्र—4/14-25,

69. दशाश्रुतस्कन्ध—5/1/3, 5/11,16



ध्यान की यह स्थिति, पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल जितने समय में, 'वेदनीय' 'आयुष्य' 'नाम' और 'गोत्र' चार अघाति कर्मों का, एक साथ क्षय कर देती है। फलतः, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने के साथ-साथ औदारिक, कर्मण और तैजस शरीरों से भी, उसे हमेशा-हमेशा के लिये मुक्ति प्राप्त हो जाती है। अब, वह अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से लोकाग्र तक पहुंचता है, और 'सिद्ध'/'मुक्त' बन कर ठहर जाता है<sup>70</sup>।

### आत्म-सिद्धान्तों का समालोचन

**चार्वाक**—चार्वाक मान्यता के आचार्य मूलतः प्रत्यक्षवादी थे। उनके अनुसार पृथिवी-जल-तेज और वायु, इन चारों भूतों से ही सृष्टि की संरचना, और देह की उत्पत्ति होती है। देह में चैतन्य का समावेश भी, इन्हीं चारों के संयोग से होता है। इस तरह, इनके अनुसार, चैतन्य-विशिष्ट देह ही 'आत्मा' है। इससे भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि से मिलने वाला सुख ही स्वर्गसुख है। और लोक व्यवहार में मान्यता प्राप्त 'राजा' ही 'परमेश्वर' है। तथा, देह का नाश हो जाना ही 'मोक्ष' है।

चार्वाक की मान्यता है—'जो दिखलाई देता है, वही विश्वसनीय है'। इस मान्यता के अनुसार, दृश्यमान जड़ पदार्थ ही विश्वसनीय ठहरते हैं। 'आत्मा' 'ईश्वर'/'परमात्मा', पुनर्जन्म आदि तथा आस्तिक दर्शनों में माने गये जो तत्त्व इन्द्रियगम्य नहीं हैं, वे भी, अदृश्य होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं। ऐसे पदार्थों के प्रति जिज्ञासा को चार्वाकचार्वाय कपोलकल्पना/मूर्खता मानते हैं। यही इनका जड़वादी/भूतवादी सिद्धान्त है।

'भूतवाद' के अनुसार, प्रत्येक वस्तु, पहले जड़/अचेतन अवस्था में रहती है। बाद में, उनके सम्मेल से, उसमें चेतना उत्पन्न हो जाती है। यानी, स्वभावतः जड़ पदार्थों का परिणाम 'चेतना' है।

यहाँ जो चेतन तत्त्व माना गया है, वह ज्ञान, बुद्धि और अनुभव से युक्त है। इस दृष्टि से, अब तक की सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया में, एकमात्र मनुष्य ही महानतम है। फिर भी उसे शाश्वत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह, देश/काल की सीमितता में परिवेष्टित है। अतएव, वह एकदेशीय और नश्वर है। वस्तुतः, वह ऐसे ही तत्त्वों से उत्पन्न माना गया है।

इस देहात्मवाद के बारे में आचार्य शङ्कर का कहना है<sup>71</sup>—'देह ही आत्मा है' यह प्रतीति ही जीवात्मा के समस्त कार्यों/व्यापारों में मूल कारण होती है। आत्मा को देह से भिन्न मानने वाले भी व्यावहारिक रूप में, देहात्मवादी सिद्ध होते हैं। किन्तु, यहाँ पूर्व उल्लिखित विवेचनों से यह स्पष्ट है, कि चार्वाकों के अलावा, अन्य समस्त तत्त्वज्ञों ने, आत्मा का स्वरूप, देह से भिन्न ही माना है।

**बौद्ध**—बौद्धदर्शन में जीव, जगत् और जन्म के विषय में 'प्रतीत्य समुत्पाद' के आधार पर विचार किया गया है। यह एक मध्यममार्गीय सिद्धान्त है। इसके अनुसार, एक ओर तो वस्तु समूह के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं माना गया है। किन्तु, 'वे वस्तुएँ नित्य हैं' यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, उनकी उत्पत्ति, अन्याश्रित मानी गई है। दूसरी ओर, वस्तु समूह का पूर्ण विनाश नहीं माना गया। बल्कि, माना यह गया, उनका अस्तित्व, विनाश के बाद भी, इस संसार में रहता है। इस तरह, वस्तुतत्त्व, न तो पूर्णतया नित्य है, न ही सर्वथा विनाशशील है।<sup>72</sup>

70. उत्तराध्ययन—20/71/73,

71. शंकरभाष्य की प्रस्तावना और समन्वयसूत्र भाष्य के अन्त में

72. भारतीय दर्शन—डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 351



बुद्ध के इस सिद्धान्त में 'आत्मा' को कोई स्थान नहीं है। उपनिषत्क आत्मा की तरह, इनका आत्मा भी न तो नित्य है, न ही अविनाशी है। बल्कि, इनकी दृष्टि में 'आत्मवाद' महा-अविद्या रूप है। इसी अविद्या के कारण, जीवात्मा द्वादश अवस्थाओं के भ्रमचक्र में परिभ्रमण करता रहता है।

रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार और विज्ञान, इन पाँचों के समूह/संघात रूप में आत्मा को मानने के सिद्धान्त में, कोई वास्तविकता नहीं जान पड़ती। क्योंकि, बुद्ध के मत में, जगत् के सारभूत उक्त पञ्चस्कन्ध भी अनित्यात्मक हैं, और दुःखस्वरूप हैं। पञ्चस्कन्ध के विषय में 'इदं मदीयम्' 'अयमहम्' 'अयं ममात्मा' आदि प्रकार की कल्पना भी सर्वथा अनुचित जान पड़ती है। क्योंकि वे, रोग/बाधायस्त और क्षणिक हैं। इसलिए उन्हें 'आत्मपदवाची' न मानकर 'दुःखपदवाची' माना जायेगा। इससे भी आगे, बौद्धों ने यहाँ तक स्पष्ट कहा है—'इनके द्वारा मानव जाति का कोई भी कल्याण सम्भव नहीं होता। फिर उनके ऊहापोह की आवश्यकता ही क्या है?' इस तरह उन्होंने पञ्चस्कन्ध से उत्पन्न 'शरीर', और उसमें स्थित 'आत्मा' को भी अवास्तविक ठहराया है।

बुद्ध से पहले, दार्शनिक जगत् में आत्मा का जो स्थान था, और उससे सम्बन्धित, परम्परागत जो सिद्धान्त मौजूद थे, उनका मनन करने के बाद, उन्होंने यह निष्कर्ष दिया—'शरीर ही आत्मा है'—यह एक एकान्त कथन है। 'शरीर से आत्मा भिन्न है'—यह दूसरा एकान्त कथन है। इन दोनों कथनों से परे रहने वाला, मध्यम मार्ग रूपी सिद्धान्त यह है—'नामरूप से षडायतन, षडायतनों से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, और जाति से जरा-मरण की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति का यही क्रम है।

इस तरह बुद्ध ने शाश्वतवाद/उच्छेदवाद की अतिवादिता से दूर रहकर कहा है—'जगत् में दुःख, सुख, जन्म, मरण, बन्ध, मोक्ष आदि सभी हैं; किन्तु, इनका आधारभूत कोई आत्मा नहीं है। ये सारी अवस्थाएँ, एक दूसरी नई अवस्था को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती हैं। पूर्व अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था का न तो सर्वथा उच्छेद होता है, न ही वह सर्वथा स्थायी रहती है। यानी पूर्व अवस्था का अस्तित्व ही उत्तरवर्ती अवस्था को उत्पन्न करता है।

**वैदिक सिद्धान्त**—जिस विधान से प्रकृति के नियम शासित हैं, वह धर्म-विधान है। जहाँ यह धर्म-विधान है, वहाँ इसके नियामक किसी 'चेतन' की स्वीकृति भी आवश्यक हो जाती है। जड़ प्रवाह रूप जगत् व्यापार का संचालक, कल्याणी बुद्धि से सम्पन्न चेतन पुरुष ही हो सकता है। यह कर्म-जगत्, उसी धर्मप्रवण/विचारशील के आधीन है। वही इस जगत् का नियन्ता, शास्ता, अधिष्ठाता है। वेदों में, इसी चेतन पुरुष का साक्षात्कार निर्दिष्ट है। उसे, यहाँ 'देवता' नाम से कहा गया है। ये वैदिक देवता अदृष्ट शक्ति रूप चैतन्य के विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं। उन्हें विश्वनियन्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

वेदों में 'बहुदेववाद' और 'एकदेववाद' रूप में, देववाद के दो रूप विद्यमान हैं। वेदान्त में जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य जिस तरह से प्रतिपादित किया गया है, उसका मूल रूप वेदों में कहीं-कहीं दिखाई दे जाता है। ऋग्वेद में ऐसे विश्लेषण, अपेक्षाकृत अधिक हैं।<sup>73</sup> अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और माया के द्वैत की जो कल्पना की गई है, उसका दिग्दर्शन, इस श्रुतवाक्य में स्पष्ट दिखालाई देता है<sup>74</sup>—

73. ऋग्वेद—2/3/23/46, 3/7/14/5

74. वही—4/7/33/18



रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।  
इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ॥

अर्थात्, सर्वव्यापक चित्स्वरूप परमात्मा, प्रत्येक शरीर में निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ, जीवभाव को प्राप्त होता है। जैसे—घड़े में स्थित जल में प्रतिबिम्बित आकाश, घटाकार/घटभाव को प्राप्त करता है।

**उपनिषदसिद्धान्त**— उपनिषदों में आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है। जन्म-मरण से रहित यह आत्मा शरीर का नाश हो जाने पर भी अस्तित्व में रहता है। उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यही तथ्य यमराज द्वारा नचिकेता को दिये गये उपदेश में स्पष्ट हुआ है।<sup>75</sup>

उपनिषदों का ब्रह्म भी सत्, व्यापी, नित्य, अनन्त, शुद्ध और चेतन है। यह समस्त आत्माओं का आत्मा है। इसी से जगत् का विस्तार होता है और अस्तित्व बना रहता है। जगत् का सम्पूर्ण विलय भी इसी में रहता है। प्रकृति और इसकी शक्तियाँ, ब्रह्म के ही अंश हैं। इस तरह उपनिषदों का ब्रह्म समस्त प्राणियों में अन्तर्भूत, किंवा विश्वरूप है।

उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहाँ 'जीव' (संसारी-आत्मा) वैयक्तिक आत्मा है। 'आत्मा' तो 'परमात्मा' है ही। ये दोनों, क्रमशः अधकार/प्रकाश रूप हैं। इनमें, जीवात्मा अनुभवयुक्त है। अतः, वह पूर्वकृत कर्मों के फलबन्ध से वह बँधा रहता है। जबकि आत्मा, 'नित्य' और 'कर्मबन्ध-मुक्त' है।

इस तरह के आत्मा का उद्देश्य आत्मज्ञान प्राप्त करना, और वाद में अपने बन्धनों तथा द्वैतभाव को तोड़/छोड़कर, अपने वास्तविक स्वरूप, परमात्मत्व का सांनिध्य प्राप्त करना होता है।

अनन्त कर्मबन्ध से बँधे हुए जीव की मुक्ति के लिये, मोक्ष मार्ग का निर्देश देते हुए कहा गया है—हेतुरूप ब्रह्म की उपासना से विशुद्ध मोक्ष, और कार्यरूप जगत् की उपासना से मोक्षरूप फल (कर्मफल) प्राप्त होता है। जो, इन दोनों तथ्यों को युगपत् जानता है, वह 'मृत्यु'/'असम्भूति' को जीतकर, 'मोक्ष'/'सम्भूति' को प्राप्त करता है।<sup>76</sup>

इस तरह, भारतीय तत्त्वविद्या की स्रोत रूप उपनिषदों में, जीवन की विभिन्न धाराओं का वर्णन, एक महोदधि में विलय की तरह प्रतिपादित किया गया है। यानी, अनेकता में एकता की स्थापना की गई है। इनका मुख्य महत्व यह है कि ये उपनिषत्, मानवता के लिए श्रेयस्कर/हितकर, दोनों ही प्रकार के तत्त्वों का समानता के साथ प्रतिपादन करती हैं।

**न्यायदर्शन**— न्यायदर्शन में आत्मा को स्पर्श आदि गुणों से रहित, ज्ञान/चैतन्य का अमूर्त आश्रय, और निराकार स्वीकार किया गया है। वह देश/काल के बन्धन से मुक्त, सीमातीत, विभु और नित्य है। वह इन्द्रियों का उपभोक्ता भी है। मन को, आत्मा और इन्द्रियों का संदेशवाहक माना गया है और बुद्धि को आत्मा का गुण। इस तरह आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है। शरीर के साथ आत्मा का संयोग 'पूर्वकृत' के उपभोग के लिए होता है। इसलिए नैयायिक शरीर को आत्मा का 'भोगायतन' मानते हैं।

न्याय-सिद्धान्तों के अनुसार, अनादिकाल से ही एक-एक जीव का मन के साथ संयोग है। इस

75. कठोपनिषद्—1/2/12

76. ईशोपनिषद्—12/14



संयोग का हेतु 'अविद्या' है। यह जीव, अनन्त शरीरों में भ्रमण, मन के साथ करता है। मुक्त अवस्था में भी यह मन, प्रत्येक अवस्था के साथ रहता है। इसी कारण, एक आत्मा को दूसरी आत्माओं से भिन्न माना गया है। आशय यह है कि जीव 'मन' से कभी भी मुक्त नहीं होता। 'जीव' व्यापक है, किन्तु मन के संयोग के कारण वह 'अव्यापक' जैसा जान पड़ता है; और इसी के संयोग के कारण, अनादि कर्म-संस्कारोंवश, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता रहता है।

यद्यपि समस्त दुःखों का विनाश हो जाने पर, आत्मा का 'मुक्त' हो जाना नैयायिकों ने माना है; किन्तु, मन से इसे मुक्ति नहीं मिल पाती। इस कारण, संसारावस्था में स्थित आत्मा, और मुक्त अवस्था में स्थित आत्मा में सिर्फ यह अन्तर होता है कि संसारावस्था में, इसके ज्ञान-मुख-दुःख आदि गुण उत्पन्न होते रहते हैं; मुक्त अवस्था में ये गुण उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उस अवस्था में, इन गुणों की स्वरूप-योग्यता तो उसमें रहती ही है।

इस तरह आत्मा को संसारावस्था में दूसरे द्रव्यों से पृथक् मानने में, उसके 'गुणास्तित्व' को, और मुक्त अवस्था में इन गुणों की 'स्वरूप योग्यता' का पृथक्त्व साधक माना गया है। इससे, यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि मुक्त जीव में भी 'स्वरूप-योग्यता' जैसी संसारावस्था रहती है। यदि उस मुक्त जीव को, किसी तरह शरीर आदि साधन वहाँ मिल जायें, तो उसमें और संसारी जीव में, कोई फर्क न रह जाये।

**मीमांसा सिद्धान्त**—मीमांसा दर्शन में 'आत्मा' शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न और 'नित्य' है। 'यजमानः स्वर्गं याति' इस तरह के श्रुतिवाक्यों में 'यजमान' शब्द से उसका 'शरीर' ग्रहण नहीं किया जाता, वरन् उसका 'जीवात्मा' ही ग्रहण किया जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर, उसके द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का संचय आत्मा में हो जाता है। कर्मों के इसी संग्रह से, दूसरे जन्म में आत्मा 'सशरीरी' बनता है और पूर्व में किए गए कर्मों का फल भोगता है। यह आत्मा 'नित्य' होने के कारण, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त माना गया है। किन्तु उसे 'कर्ता' 'भोक्ता' भी माना गया है। 'अहं' अनुभूति के द्वारा उसे प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है। वह विभु है, ज्ञाता है, और ज्ञेय भी है।

यह दर्शन, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्माओं को मानता है और, उनमें मौजूद 'चैतन्य' को यह 'औपाधिक' गुण मानता है। जब यह मुक्त/सुषुप्त अवस्था में होता है, तब ये औपाधिक गुण उसमें नहीं रहते। इसलिए, आत्मा जड़रूप हो जाता है। 'जड़' होने के कारण वह 'बोध्य' भी हो जाता है।

यदि प्रत्येक शरीर में स्थित आत्माओं को एक मान लिया जाये, तो एक 'जीव' द्वारा किए गये कर्मों का फल, दूसरे जीवों को भी भोगना पड़े। चूँकि 'कर्म' और 'कर्मफल' की विवेचना, मीमांसकों का मुख्य प्रतिपाद्य है। इसी की व्यवस्था के लिए, प्रत्येक शरीर में आत्मा की भिन्नता स्वीकार की गई है।

प्रभाकर के मत में भी आत्मा जड़ स्वभाव वाला है। किन्तु, उसका 'ज्ञान' 'स्वप्रकाशक' है। प्रभाकर की यह विवेचना, भट्ट की अपेक्षा, श्रेष्ठ और बुद्धियुक्त जान पड़ती है। मीमांसकों ने, नैयायिकों की ही तरह, आत्मा का 'बहुत्व', और मुक्त अवस्था में भी उसे 'स्वतन्त्र' तथा 'एक दूसरे से भिन्न' माना है।

**सांख्य-सिद्धान्त**—सांख्यदर्शन में एक चेतन तत्त्व 'पुरुष' और दूसरा अचेतन तत्त्व 'प्रकृति' है। अनादिकाल से अविद्या के संसर्ग से प्रकृति-पुरुष दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। इससे पुरुष का प्रति-बिम्ब प्रकृति में निरन्तर पड़ता रहता है। चेतन के इस प्रतिबिम्ब सम्पर्क से, प्रकृति में चेतन जैसी





सामर्थ्य आ जाती है। पुरुष के प्रतिबिम्ब से प्रभावित प्रकृति के गुणों का आरोप पुरुष में भी हो जाता है। जिससे, स्वभावतः निर्लिप्त, त्रैगुण्यरहित, असंगी पुरुष स्वयं को कर्ता/भोक्ता आदि रूपों में अनुभूत करने लगता है। इन दोनों में परस्पर अध्यासित आरोप, जब ज्ञान के द्वारा नष्ट होते हैं, तब, पुरुष, अपने को प्रकृति से भिन्न अनुभव करने लग जाता है। प्रकृति भी पुरुष का परित्याग कर देती है, और उसके लिए की जाने वाली सर्जना, से विराम ले लेती है। इसी को 'विवेक बुद्धि'/'भेदबुद्धि'/'कैवल्य प्राप्ति' कहा गया है। इसी से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। अतः विवेकबुद्धि उत्पन्न हो जाने के पश्चात् पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहकर ही प्रकृति को देखता है। उसके बन्धन में फिर नहीं आता। 'पुरुष' की यही भोक्षावस्था है।

सांख्यों ने मुक्त अवस्था में भी 'पुरुष' को प्रकृति का अंशक माना है। इस मान्यता से यह स्पष्ट होता है कि मुक्त-अवस्था में वह न तो प्रकृति से सर्वथा 'मुक्त' हो पाता है, न ही सत्त्वगुण से। क्योंकि उसमें सत्त्वगुण का, कुछ न कुछ अंश बचा ही रहता है। इसके बिना उसमें देखने की सामर्थ्य नहीं आ सकती।<sup>77</sup> और, जब वह वहाँ देखने में लीन होता है, तब, उसमें तमोगुण का भी अभिभव अवश्य हो जाता है।<sup>78</sup> सांख्यदर्शन मानता है कि गुण, परस्पर अभिभव का सहारा लेकर, मिश्रित रूप से ही अपना व्यवहार/व्यापार करते हैं। फिर सत्त्व और तम दोनों ही गुणों में, पुनः एक दूसरे को अभिभूत करने की आशंका बनी रहती है। इस स्थिति में, यह कैसे माना जा सकता है कि मुक्त पुरुष को दुःखों की आत्यन्तिक/एकान्तिक रूप से दुःखों से निवृत्ति मिल जाती है? वैसे भी सांख्यदर्शन में किसी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं माना गया। अपितु, पदार्थ के एक रूप से दूसरा रूप परिणमित होता देखा जाता है। इसी तरह, मुक्त अवस्था में भी कोई स्थिति ऐसी नहीं मानी जा सकती, जिसमें तमोगुण का भी अभाव हो सकता हो। वाचस्पति मिश्र ने भी यही आशय तत्त्व कौमुदी में व्यक्त किया है।<sup>79</sup>

सांख्यदर्शन पुरुष में जिस विवेकख्याति/भेदबुद्धि की प्राप्ति को मुक्तिरूप में स्वीकार करता है, वह ख्याति/बुद्धि सत्त्वगुण रूप ही होती है। इसलिए मुक्त अवस्था में यदि ख्याति/बुद्धि की मौजूदगी मानी जाती है, तो वहाँ सत्त्वगुण की भी स्थिति अवश्य मानी जायेगी। इससे उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध भी अवश्य सम्भावित हो जाता है। इस दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि सांख्यों का पुरुष, मुक्त अवस्था में भी वस्तुतः प्रकृति से मुक्त नहीं हो पाता।

अद्वैत-सिद्धान्त—बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त, अन्तःकरण की वृत्तियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से विज्ञानमय कोश की, तथा उससे आवृत चैतन्य जीव की उत्पत्ति होती है। इस मान्यता के अनुसार 'शरीर' और 'आत्मा' दोनों को ही 'जीव' मानकर, उसे 'ईश्वर का अंश' कहा गया है। माया का परिणाम होने के कारण, स्थूल/सूक्ष्म शरीरों वाला 'आत्मा' ही 'जीव' कहा गया है। आत्मा के प्रत्येक व्यवहार में स्वतःप्रामाण्य माना गया है। यही आत्मा, आनन्द-ज्ञानस्वरूप, सत्, कूटस्थ नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त तथा जाता है। इस मान्यता में 'आत्मा' और 'ब्रह्म' की एकता स्पष्ट है। प्रत्यक्ष/व्यक्तिगत आत्मा ही बुद्धि, मन आदि की वृत्तियों से आवृत चेतना है। जबकि 'ब्रह्म' विशुद्ध, विनिर्मुक्त चेतना है। माया का बशीभूत हुआ और अन्तःकरण की वृत्तियों से आवद्ध ब्रह्म ही आत्मरूप को प्राप्त होता है। जैसे घट के छिन्न-भिन्न हो जाने पर घटाकाश, वाह्याकाश में सम्मिलित होकर, उसी जैसा हो जाता है। इसी तरह, आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है।

77. सांख्यकारिका—तत्त्वकौमुदी—(मात्त्विकया-भेदोऽन्त्येव) 65

78. वही—(अन्योन्याभिभवा०) 12

79. वही—तत्त्व कौमुदी—1



यह दृश्यमान जगत् माया का विलास है, इसलिए मिथ्या है। संश्लेष ही जीव का 'बन्ध' है। असत्यरूप सांसारिक पदार्थ, माया के परिणाम से 'सत्य' जंसे प्रतिभासित होते हैं। किन्तु, जब जीवात्मा का परमात्मा के साथ साक्षात्कार हो जाता है, तब उसका 'जीवत्व' नष्ट हो जाता है। यही उसके बन्ध का विनाश है। इसके उपरान्त, जीवात्मा का ब्रह्म में विलय हो जाना, उसका 'मोक्ष' होता है। अविद्या के कारण वह 'ब्रह्मत्व' से च्युत होकर 'जीवत्व' को प्राप्त होता है। इसी अविद्या के कारण 'आत्मा'/'परमात्मा' में, 'जीव'/'ब्रह्म' में द्वैत प्रतिभासित होता है।

जन्म सिद्धान्त—जन्मदर्शन, 'आत्मा' को एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मानता है। उसकी संसारावस्था, स्वयं की प्रवृत्तियों से उत्पन्न कर्मबंध के कारण उत्पन्न होती है। 'कर्मबंध' का हेतु, उसका मिथ्याज्ञान-दर्शन माने गये हैं। यह हेतु, उसके पूर्वजन्मों के अशुभ-व्यवहारों से उत्पन्न 'आवरणीय' कर्म-जनित होते हैं। आवरण, उसके सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान की सामर्थ्य को ढक लेते हैं। जिससे उसकी प्रवृत्ति पर-पदार्थों में 'आत्मपरक' होने लगती है। यही प्रवृत्ति, उसके भव-संसरण की संचालिका होती है।

पर-प्रवृत्ति के इस रहस्य को समझ लेने वाला जीवात्मा, अपने में से 'मिथ्यात्व' को हटाकर 'सम्यक्त्व' को जागृत करता है। जिससे उसकी प्रवृत्ति आत्मपरक होने लगती है। शनैः शनैः, वह आत्म-गुणों/शक्तियों को प्राप्त करने लगता है, और बंधे हुए कर्मों को सर्वथा नष्ट कर लेने के बाद, वह अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेता है। इस तरह, संसारी जीवात्मा, परमात्मा बन जाता है।

### निष्कर्ष

भारतीय दर्शनों के आत्मचिन्तन की समीक्षा से यह निष्कर्ष ज्ञात होते हैं—

(१) चार्वाकाचार्यों ने 'आत्मा' को भौतिक स्वरूप के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं माना। किन्तु, उनकी गान्यता में महत्वपूर्ण तत्त्व यह है कि वे, आत्मा की और सृष्टि की भी उत्पत्ति, असत् पदार्थों से नहीं मानते। उनके सिद्धान्तों के अनुसार, यह दृश्यमान जगत् 'सत्' है। इसका सर्वथा विनाश नहीं होता। इसे वे वास्तविक, स्वाभाविक और प्राकृतिक मानते हैं।

(२) बौद्धों ने पञ्चस्कन्धात्मक आत्मा के स्वरूप का जो वर्णन किया है, उसके अनुसार आत्मा का कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता। उनका जो 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है, वह, विभिन्न प्रश्नों से व्यथित मानस को क्षणिक तुष्टि देने के लिये कल्पित किया गया वाग्जाल मात्र जान पड़ता है। क्योंकि, जब दुःख-सुख, जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदि का आधारभूत तत्त्व ही कोई न होगा, तब, कौन दुःख-सुख का भागी होगा? कौन जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होगा? और कौन अच्छे/बुरे कर्म-फलों से बन्धन को प्राप्त होगा? इस सबसे छुटकारा/मोक्ष भी कौन प्राप्त करेगा?

(३) वेदों में, आत्मवर्णन के रूप में 'बहुदेववाद' या 'एकेश्वरवाद' के जो वर्णन मिलते हैं, उनसे यह अनुमान होता है कि जो ऋषि, जिस देवता के प्रभाव/क्षेत्र में रहा, उसने, उसी का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित किया। देवताओं में आत्मा/परमात्मा की जो परिकल्पना की गई है, उसका आशय यही जान पड़ता है कि उस समय के लोगों के अभिप्रेत पदार्थों/कामनाओं की पूर्ति, जिन-जिन देवताओं की उपासना से हो जाती रही, उन्हीं देवताओं को उन्होंने लोक में सर्वश्रेष्ठ मान लिया।

(४) उपनिषत्कालीन महर्षि, दिन-रात तत्त्व-गदेषणाओं में तल्लीन रहे; उनके जो अनुभव, आज हमें मिलते हैं, उनमें, आज के अनेक सिद्धान्तों के बीज-दिन्दु ही नहीं पाये जाते हैं, बल्कि, उन सब की सैद्धान्तिक विवेचना भी स्पष्टतः देखते हैं। जीवन और जगत् की व्याख्या, किसी एक तरीके से, ठीक ठीक नहीं की जा सकती। क्योंकि यह जगत्, यथार्थतः अनन्तधर्मात्मक है। उपनिषत्कालीन आचार्यों ने,



जगत् की व्याख्या, कई दृष्टिकोणों से की है। उनकी इस पद्धति में, आज के हर तरह के प्रश्नों का, और उनके समाधानों का निदर्शन सहज ही देख सकते हैं। जगत् के एक-एक स्वरूप की विवेचना, और उसके स्वरूप से जुड़े प्रश्नों के उत्तर आदि सबको मिलाकर, समुचित रूप से जब तक विचारणा/चिन्तना नहीं की जायेगी, तब तक, जगत् के विश्वरूप की को जाने वाली व्याख्या/विवेचना में समग्रता नहीं आ सकती।

(५) नैयायिकों ने जो आत्म-विवेचन किया है, उसमें आत्मा के सर्वविध दुःखों का अभाव 'मोक्ष' बतलाया गया है। किन्तु, वहाँ/मोक्ष में, आत्मा के साथ 'मन' का संयोग बना रहता है। जिससे उसे 'परमात्मा' कैसे माना जा सकेगा? उसमें मन की उपस्थिति से, सांसारिक प्रवृत्ति के विधायक अवसरों/साधनों को नकारा नहीं जा सकता। अतः उनकी 'सांसारिकता' और 'मोक्ष'/'मुक्ति' में कोई खास फर्क नहीं जान पड़ता।

(६) मीमांसादर्शन की आत्म-विवेचना को देखकर यह कहा जा सकता है कि एक तो उनका आत्मा 'जड़' है; दूसरे, वे स्वर्ग से भिन्न, किसी ऐसे 'मोक्ष' को नहीं मानते, जिसे प्राप्त कर लेने पर, जीवात्मा को पुनः संसार में न आना पड़े।

(७) सांख्यदर्शन भी मोक्ष में 'सत्त्व' गुणरूपा 'बुद्धि' की सत्ता मानता है। जिससे उसका 'पुरुष' समग्रतः 'ज्ञ' के स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। बल्कि, वह वहाँ प्रकृति से पराङ्मुख रहकर भी, एक तरह से उससे संश्लिष्ट ही रहता है।

(८) अद्वैतवेदान्त में सब कुछ ब्रह्मरूप माना गया है। फिर माया से, और जगत् के असत् रूप से संश्लिष्ट रहने पर भी 'आत्मा' की कोई हानि नहीं मानी जानी चाहिए। किन्तु, यह वास्तविकता नहीं जान पड़ती कि सारा का सारा जगत् ब्रह्मरूप ही है। यदि सारा विश्व ब्रह्मरूप ही होता, तो ब्रह्मरूप जगत्/माया का अभाव कैसे हो सकता है? यदि उसका अभाव मान लिया जाये, तो ब्रह्म के भी अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

(९) जैनदर्शन ने जीव-अजीव की तर्क-संगत भेद-कल्पना की है। चेतन में अचेतन के सम्मिलन की न्यूनाधिकता के अनुसार, उसने आत्मा के गुणात्मक विकास के सोपानों की विवेचना की है। वह मानता है, कि जिस 'जीव' में जितनी मात्रा में 'अचेतन' का अधिक अंश होगा, वह आत्मिक गुणों के विकास क्रम में, उतना ही पीछे रहेगा। और जिस 'जीव' में 'अचेतन' का अंश जितनी मात्रा में न्यूनतम/कम होता चला जायेगा, वह आत्मिक गुणों की विकास-प्रक्रिया में, उतना ही आगे/ऊपर पहुँचता जायेगा। अचेतन के अधिक अंश वाले जीव को 'मोक्ष' प्राप्त कर पाना, अधिक मुश्किल होता है। किन्तु, न्यून/कम अंश वाला 'जीवात्मा' शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

दरअसल, जैनदर्शन, 'जीव' को चेतन-अचेतन की मिश्रित अवस्था मानता है। जिस दिन/क्षण, उसमें से अचेतन का सर्वांशतः निर्गम/पृथक्त्व हो जाता है, उसी दिन/क्षण, वह जीव, संसार से 'मुक्त' हो जाता है। और मुक्त आत्मा में फिर दुबारा अचेतन का प्रवेश नहीं हो पाता; जैनदार्शनिक मान्यता का यह महत्त्वपूर्ण/उज्ज्वल पक्ष है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि प्रायः सभी दार्शनिक, 'आत्मा' और 'मोक्ष' के स्वरूप की विवेचना, अलग-अलग तरह से करते आये हैं। ज़रूरत इस बात की है, इनके पारस्परिक विरोध/मतवैभिन्न्य पर आग्रह-बुद्धि न रखकर, उसमें सापेक्ष/समन्वित दृष्टि से प्रवेश किया जाये, तो हर आत्मचिन्तक/शोधार्थी के लिये, यह श्रेयस्कर विधि सिद्ध हो सकेगी। □



## जं न अं ग आ ग म सा हि त्य

में

### पू जा श ब्द का अर्थ

—श्री दलसुख मालवणिया

वर्तमान समय में जैन समाज में कुछ आचार्य जिनप्रतिमा की तरह अपने ही नव अंगों की पूजा करवाते हैं। इस विषय में समाज में काफी विवाद चल रहा है। अतः हम यहाँ पूजा के सन्दर्भ में कुछ चिन्तन करें, यह आवश्यक है।

जैन विश्वभारती, लाडनू द्वारा प्रकाशित "आगम शब्द कोष" में जैन अंग आगमों में जो-जो शब्द जहाँ-जहाँ पर प्रयुक्त हुए हैं उनके सन्दर्भ दिये गये हैं। अतः पूजा, पूजार्थी, पूजना जैसे शब्दों का अंग आगमों में कहीं-कहीं पर प्रयोग हुआ है, उनकी अन्वेषणा करना सरल हो गया है। एतदर्थ पूर्वोक्त कोण का आश्रय लेकर हम यहाँ पूजादि शब्द एवं उनके अर्थ, जो टीकाओं में यत्र-तत्र दिये गये हैं, उसका सार देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

टीकाकार पूजा शब्द का जो अर्थ करते हैं उस पर हम बाद में चिन्तन करेंगे। सर्वप्रथम मूल आगम ग्रन्थों में ही पूजा शब्द का जो अर्थ फलित होता है, स्पष्ट होता है, उसकी हम समीक्षा कर रहे हैं।

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में तैथिकों की चर्चा की गई है। उसमें लोकायत या चार्वाक या शरीर को ही आत्मा मानने वाले अनुयायी पूजा किस तरह करते थे, उसका स्पष्ट निर्देश मिलता है। जो इस प्रकार है—

"तुमं पूजयामि तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा"<sup>1</sup>

स्पष्ट है कि पूज्य को अशनादि, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाँव पीँछने का वस्त्र आदि देना ही पूजा है।

अङ्ग आगम में जहाँ-जहाँ पर पूजा शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ पर टीकाकार जो अर्थ करते हैं उसके कुछ दृष्टांत यहाँ द्रष्टव्य हैं।

सूत्रकृतांग (१. १४. ११) में प्राप्त पूजा शब्द का अर्थ टीकाकार इस प्रकार करते हैं—

"अभ्युत्थानविनयादिभिः पूजा विधेयति"

(—आगमो० पृ० २४५, दिल्ली पृ० १६४)

1. आगमोदय आवृत्ति पृ० 277 उसकी दिल्ली से प्रकाशित फोटो न० 185



सूत्रकृताङ्ग (१. १६. ४) में—

“एत्थ वि निगमंत्थे णो पूयासक्कारलामट्ठी”

ऐसा पाठ है, उसकी टीका में कहा गया है कि—“नो पूजा सत्कार नामार्थो किन्तु निजंरापेक्षी”

—आगमो० पृ० २६५; दिल्ली पृ० १७७

स्थानाङ्ग में (आगमो० सूत्र ४६६) छठाणा अणत्तवओ अहिताते असुभाते ..... भवति । तं जहा ..... पूतासक्कारे । छठाणा अत्तवत्तो हिताते ..... भवति । तं ..... जाव पूतासक्कारे” उसकी टीका में श्री अभयदेव कहते हैं कि—“अनात्मवान् सकषाय इत्यर्थः ..... पूजास्तवादिरूपा, तत्पूर्वकः सत्कारो वस्त्राभ्यर्चनम्, पूजायां वा आदरः पूजा-सत्कार इति”

(—आगमो० पृ० ३५८; दिल्ली पृ० २३६)

स्थानाङ्ग में छद्मस्थ की पहचान के प्रसंग में कहा गया है कि—“सत्तहि ठाणेहि छउमत्थं जाणेज्जा तं पाणे अइवाएत्ता भवति ..... पूतासक्कारमणुवुहेत्ता भवति” (आगमो० सूत्र ५५०) उसकी टीका इस प्रकार है—“पूजा सत्कारं-पुष्पाच्चर्चनं-वस्त्राद्यर्चनं अनुबृंहयिता-परेण स्वस्य क्रियमाणस्य तस्य अनुमोदयिता, तद्भावे हर्षकारी इत्यर्थः”

—आगमो० पृ० ३८६, दिल्ली पृ० २६०

स्थानाङ्ग (सूत्र ७५६) “दसविहे आसंसप्पओगे ..... पूयासंसप्पतोगे .....” दस प्रकार से मनुष्य प्रशंसा व्यापार करता है उसमें से एक है—पूजाशंसाप्रयोग । उसकी टीका में श्री अभयदेव लिखते हैं कि—“तथा पूजा-पुष्पादिपूजनं मे स्यादिति पूजाशंसाप्रयोगः ।”

—आगमो० पृ० ५१५, दिल्ली पृ० ३४४.

इस प्रकार के आशंसा प्रयोग करणीय नहीं है ऐसा श्री अभयदेव का भी अभिप्राय है । इसी सूत्र में सत्कार आशंसा को पृथक् माना है और उसकी टीका में टीकाकार लिखते हैं कि—“सत्कारः प्रवर-वस्त्रादिभिः पूजनम्, तन्मे स्यादिति सत्काराशंसा प्रयोग इति ।” इससे यह ज्ञात होता है कि सूत्रकार को पूजा और सत्कार अर्थ इष्ट है, पूजा के द्वारा सत्कार ऐसा अर्थ इष्ट नहीं है ।

समवायाङ्ग सूत्र में ३६वें समवाय में उत्तराध्वयन के ३६ अध्ययन गिनाने हैं उसमें ग्यारहवां अध्ययन ‘बहुश्रुतपूजा’ नामक है । उसमें गा० १५-३३ में बहुश्रुत की अनेक उपमाओं के द्वारा प्रशंसा की गई है । यही उसकी पूजा है—ऐसा मानना चाहिए ।

भगवती सू० ५५६ में “पूया सक्कार थिरिकरणट्टयाए” ऐसा पाठ है । किन्तु टीका में मात्र उसकी संस्कृत छाया ही दी गई है । पूजा शब्द का अर्थ नहीं दिया है ।

पूयण-पूयणा—

आचारांग (१-१-१) में “इमस्स चैव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए” इत्यादि पाठ है जिसकी अनेक बार पुनरावृत्ति की गई है । उसकी टीका में पूजन के विषय में श्री शीलांक लिखते हैं कि—“पूजनं पूजा-द्रविण-वस्त्रान्नपान-सत्कार-प्रणाम सेवा विशेषरूपम् ।”

—आगमो० पृ० २६, दिल्ली पृ० १८

आचारांग (३. ३. ११६) में “दुहओ जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जंसि एगे पमायति” पाठ है । उसकी टीका श्री शीलांक इस प्रकार करते हैं—“तथा पूजनायमपि प्रवर्तमानाः कर्मोत्सवैरात्मानं भावयन्ति मम हि कृतविद्यस्योपचितद्रव्य प्राग्भास्य परो दान-मान-सत्कार-प्रणाम-सेवाविशेषैः पूजां करिष्यतीत्यादि पूजनं, तदैवमर्थं कर्मोपचिनोति ।”

—आगमो० पृ० १६६, दिल्ली पृ० ११३



प्रश्नव्याकरण सूत्र में—“न वि वंदनाते, न वि माणनाते न वि पूयणाते..... भिक्खं गवेसियव्वं” पाठ है।

जैन विश्व भारती प्रकाशित ६.६. उसकी टीका में आचार्य अभयदेव ने लिखा है—“नापि पूजनया-तीर्थनिर्माल्यदान-मस्तकगन्ध-क्षेप-मुखवस्त्रिका-नमस्कारमालिका-दानादि-लक्षणया”

—आगमो० १०१०६

सूत्रकृतांग (१. २. २. ११) में पाठ है “जाविय वंदण-पूयणा इहं” उसकी टीका में आचार्य शीलांक लिखते हैं—“राजादिभिः कायादिभिः वंदना, वस्त्रपात्रादिभिश्च पूजना”

—आगमो० पृ० ६४, दिल्ली पृ० ४३

सूत्रकृतांग (१. ३. ४. १७) में पाठ है—जेहि नारीण संजोगा पूयणा पिटुतो कता” उसकी टीका में आ० शीलांक लिखते हैं कि—“तथा तत्संगार्थमेव वस्त्रालंकारमात्यादिभिः आत्मनः ‘पूजना’ कामविभूषा पृष्ठतः कृता”

—आगमो० पृ० १००, दिल्ली पृ० ६७।

सूत्रकृतांग (१. २. २. १६) में—“नोऽवि य पूयणपत्थए सिया” पाठ है उसकी टीका आ० शीलांक इस प्रकार करते हैं—“न च उपसर्गसहन द्वारेण पूजाप्रार्थकः प्रकर्षाभिलाषी स्यात् भवेत्”

—आगमो० पृ० ६५, दिल्ली पृ० ४४

सूत्रकृतांग (१. २. ३. १२) में “निव्विंदेज्ज सिलोग-पूयणं” पाठ है उसकी टीका में आ० शीलांक ने लिखा है कि—“निव्विन्देत्-जुगुप्सयेत् परिहरेत् आत्मशलाघां स्तुतिरूपां तथा पूजनं वस्त्रादिलाभरूपं परिहरेत्”

—आगमो० पृ० ७३, दिल्ली पृ० ४६

सूत्रकृतांग (१. ६. २२) में “जा य वंदण पूयणा” पाठ है उसकी टीका आ० शीलांक ने इस प्रकार की है “तथा या च सुरासुराधिपति चक्रवर्ति बलदेव वासुदेवादिभिः वंदना, तथा सत्कार पूर्विका वस्त्रादिना पूजना”

—आगमो० पृ० १६-१-२ दिल्ली पृ० २२१-२

सूत्रकृतांग (१५-११) में “वसुमं पूयणासु (स) ते अणासए” कहा है उसकी टीका में आ० शीलांक ने इस प्रकार कहा है—“किं भूतोऽसौ अनुशासक इत्याह—वसु द्रव्यं, स च मोक्षं प्रति प्रवृत्तस्य संयमः, तद्विद्यते यस्यासौ वसुमान्। पूजनं देवादिकृतमशोकादिकमास्वादयति उपभुङ्क्त इति पूजनास्वादकः। ननु चाधाकर्मणो देवादिकृतस्य समवसरणादेरूपभोगात् कथमसौ सत्संयमवान् इत्याशंक्याह न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो यस्य असौ अनाशयः, यदि वा द्रव्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके भावतोऽनास्वादकोऽसौ, तदुत गार्ह्याभावात्।”

—आगमो० पृ० २५७, दिल्ली पृ० १२७

पुनर्दिष्ट—

समवायांग सूत्र (समवाय ३०) में तीस महाभोहनीय स्थान के वर्णन के प्रसङ्ग में ३४वीं गथा निम्नोक्त/है उसमें तीसवां स्थान है

अपस्समाणो पस्सामि देवे जक्खे य गुज्जमे ।

अण्णाणी जिणपूयट्ठी महामोहं पकुव्वइ ॥ ३४ ॥

उसकी टीका आचार्य अभयदेव इस प्रकार करते हैं—“अपश्यन्नपि यो ब्रूते पश्यामि देवानित्यादि-स्वरूपेण अज्ञानी जिनस्येव पूजां अर्थयते यः स जिनपूजार्थी गोजालकवत्। स महामोहं प्रकरोतीति।”

—आगमो० पृ० ५५, दिल्ली पृ० ३७

जैन अंग आगम साहित्य में पूजा शब्द का अर्थ : पं० दलसुख मालवणिया | २५



पूयण काम—

सूत्रकृतांग (१-४-१-२६) में गाथा है कि—

वालस्स मंदयं वीयं जं कडं अवजाणइ भुज्जो ।  
दुगुणं करेइ से पावं पूयणकामो विसन्नेसी ॥ २६ ॥

प्रस्तुत गाथा की टीका में आ० शीलांक लिखते हैं कि—“किमर्थमपलपति इत्याह—पूजनं-सत्कार-पुरस्कारस्तत्कामः तदभिलाषी मा मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति ।

—आगमो० पृ० ११४, दिल्ली पृ० ५-७६

पूयणद्विठ—

सूत्रकृतांग (१-१०-१३) में गाथा है कि—

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा अमुच्छिए ण य अज्जोववन्ने ।  
धितिमं विभुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोगगामी य परिव्वएज्जा ॥ २३ ॥

उक्त गाथा की टीका में आ० शीलांक लिखते हैं कि—“तथा संयमे धृतिर्यस्यासौ धृतिमान्, तथा स बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन विमुक्तः, तथा पूजनं वस्त्र-पात्रादिना, तेनार्थः पूजनार्थः स विद्यते यस्यासौ पूजनार्थी, तदेवभूतो न भवेत्, तथा श्लोकः—

“श्लाघा कीर्तिस्तद्गामी न तदभिलाषुकः परिव्रजेतदिति ।

कीर्त्यर्थी न काञ्चनक्रियां कुर्यादित्यर्थः ॥”

—आगमो० पृ० १६५, दिल्ली पृ० १३०

स्पष्ट है कि अंग आगमों में पूजा शब्द का मुख्य अर्थ पूज्य के अंगों की पूजा ऐसा नहीं है किन्तु पूज्य को आवश्यक वस्तुओं का समर्पण है । अतः पूजा एवं दान में क्या भेद है ? वह भी यहाँ विचारणीय है । पूज्य के पास जाकर वस्तुओं का अर्पण पूजा है जबकि पूज्य स्वयं दाता के पास जाकर जो ग्रहण करता है, वह दान है । इस प्रकार पूजा एवं दान में भेद किया जा सकता है । पूजा शब्द के स्थान पर अर्चा शब्द का प्रयोग ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी की कथा में किया गया है । समग्र अंग आगमों में यह एक ही उल्लेख जिन प्रतिमा का अर्चा के विषय में किया गया है यह भी उल्लेखनीय है । पाठ है—

“जिणपडिमणं अच्चणं करेइ”—नाया० १-१६-७५१ (जैन विश्व भारती लाइब्ररी की आवृत्ति) ।

आगमोदय समिति की नायाधम्मकहा मूल में पाठ अधिक है किन्तु टीका में कहा गया है कि उपरोक्त पाठ के अनुसार संक्षिप्त पाठ भी मिलता है ।



## पु ष्य : ए क ता त्ति व क वि वे च न

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

जीवन एक द्वन्द्व है। उस द्वन्द्व में दो विरोधी शक्तियाँ सक्रिय हैं—राग-विराग, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म आदि। इन सबका सापेक्ष रूप से कथन किया जाता है, क्योंकि अपने आप में शुभ या अशुभ कुछ नहीं है। मनुष्य की वृत्तियाँ ही अपनी प्रवृत्तियों को शुभ-अशुभ कहकर निर्दिष्ट किया करती हैं। इसलिए इनको समझने के लिए नयीं एवं सापेक्षता का ज्ञान आवश्यक है। जीवन की प्रत्येक क्रिया हमारे परिणामों से परिचालित होती है। भाव ही मनुष्य के पाप-पुण्य बन्ध के कारण तथा जीवन-मरण-मोक्ष के कारण हैं। पाप-पुण्य आदि जिन कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, व्यवहार नय से जीव उन शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से होने वाले सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। स्वामी कार्तिकेय का कथन है—

जीवो वि पावं अइ-तिव्व-कसाय-परिणदो णिच्चं ।

जीवो वि ह्वइ पुण्णं उवसम-भावेण संजुत्तो ॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १६०

अर्थात् जब यह जीव अत्यन्त तीव्र कषाय रूप परिणमन करता है तब पापरूप होता है और जब उपशमभावरूप परिणमन करता है तब पुण्यरूप होता है। दूसरे शब्दों में, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व आदि परिणामों से युक्त जीव पापी है, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र तथा क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्ररूप परिणामों से युक्त पुण्यात्मा है।

जब यह जीव पूर्ण वीतराग हो जाता है तो पुण्य और पाप दोनों से रहित हो जाता है। इस प्रकार भावों के तीन भेद किये गये हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। (पाप का ही दूसरा नाम अशुभ है और पुण्य का दूसरा नाम शुभ है तथा धर्म का दूसरा नाम शुद्ध है।) आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।

असुहं च अट्टरुद्धं सुहधम्मं जिणवरिदिहि ॥

—भावपाहुड, ७६

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने भावों के तीन प्रकार कहे हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। उनमें से आर्त्त-रौद्र ध्यान अशुभ हैं और धर्म-ध्यान शुभ है। शुद्ध भाव वाले तो सदा अपने शुद्ध स्वभाव में लीन रहते हैं।

पंडित जयचन्द्र जी छावड़ा 'भावपाहुड' की भाषावचनिका (गाथा ११८) में कहते हैं—

पूर्व कह्या जिनवचन तं पराड्-मुख मिथ्यात्व सहित जीव तिस तं विपरीत कहिये जिन आज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव है सो विशुद्धभाव कू प्राप्त भया शुभकर्म कू बांधै है जातें याकै सम्यक्त्व के

पु ष्य : ए क ता त्ति व क वि वे च न | २७





माहात्म्य करि ऐसे उज्ज्वल भाव हैं ताकरि मिथ्यात्व की लार बन्ध होती पाप प्रकृतीनि का अभाव है, कदाचित् किंचित् कोई पाप प्रकृति बंधै है तिनिका अनुभाग मन्द होय है, कछु तीव्र पाप फल का दाता नाही तातैं सम्यग्दृष्टि शुभकर्म का ही बांधने वाला है। ऐसे शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का संक्षप करि विधान सर्वज्ञदेव नैं कह्या है सो जाननां।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि एक ही जीव काल-भेद से कभी पुष्परूप परिणाम करने के कारण पुष्पात्मा और पापरूप परिणाम करने के कारण पापात्मा कहा जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि जीव शुभ कर्म को करने वाला तथा शुभ भावों का आराधक होता है। क्योंकि जब जीव सम्यक्त्व सहित होता है तब तीव्र कषायों का समूल उन्मूलन हो जाता है और इसलिए वह पुष्पात्मा कहलाता है। अतएव पुण्य शुभ भाव है। शुभ भाव परम्परित मोक्ष का कारण कहा जाता है। शुभ भाव के बिना जीव शुद्ध दशा में नहीं पहुँच सकता। पुण्य एक ऐसी स्थिति है जिसमें पहुँचकर मनुष्य पाप की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो सकता है और धर्म की वृत्ति में भी लग सकता है। इस कारण से पुण्य को समझना अत्यन्त आवश्यक है। पुण्य को ठीक से नहीं समझने के कारण आज अनेक पन्थ बन गये हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि लौकिकता में किसी सीमा तक पुण्य उपादेय है, किन्तु परमार्थ में हेय ही है। योगीन्द्रदेव का कथन है—

पावे णारेउ तिरिउ जिउ पुण्णे अमर विमाणु ।

मिस्से माणुसगइ लहइ दोवि खये णिब्वाणु ॥

अर्थात् पाप से जीव नरक और तिर्यन्त्र गति में जाता है, पुण्य से देव होता है और पुण्य-पाप के मेल से मनुष्य होता है। जब पुण्य-पाप दोनों का क्षय कर देता है तब मोक्ष प्राप्त करता है।

पुण्य किसे कहते हैं ?

‘पुण्य’ शब्द की व्युत्पत्ति है—‘पुनातीति पुण्यम्’। जिससे आत्मा में उपशम भाव प्रकट होता है और जो आत्मा की शुद्धि का कारण है उसे पुण्य कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द जीव के शुभ परिणाम को ‘पुण्य’ कहते हैं। पुण्य और पाप दोनों ही जीव के साथ बने रहने वाले नित्य परिणामी नहीं हैं। किन्तु संसार की अच्छी या बुरी स्थिति इन दोनों परिणामों के बिना नहीं बन सकती। आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन की ओर तो सभी का ध्यान रहता ही है कि जिस जीव का राग प्रशस्त (शुभ) है, जिसके परिणामों में अनुकम्पा या दया है और जिसका मन मलिन नहीं है उसके पुण्य का आस्रव होता है। उनके ही शब्दों में—

रागो जस्स पसत्थो अणुकम्पा सहिदो य परिणामो ।

चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥ —पंचास्तिकाय, १३५

किन्तु यह कथन किसके लिए है इस पर प्रायः ध्यान नहीं देते। आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं—

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि त्तिव्हेण ।

मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अण्णा ॥ —मोक्षपाहुड, २८

पं० जयचन्द जी छावड़ा अर्थ करते हुए कहते हैं—योगी ध्यानी मुनि है सो मिथ्यात्व अज्ञान पाप-पुण्य इनिकू मन, वचन, काय करि छोड़ि मौनत्रत करि ध्यान विषैं तिष्ठ्या अत्मा कू ध्यावै है।

२८ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



यही बात 'पंचास्तिकाय' में भी स्पष्ट की गई है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदब्बेसु ।

णासवदि सुहं असुहं समसुह-दुक्खस्स भिक्खुस्स ॥ —पंचास्तिकाय १४२

अर्थात् जिस श्रमण (साधु) के सभी द्रव्यों में राग-द्वेष, मोह आदि विद्यमान नहीं होते उसके शुभ-अशुभ भावों का आस्रव भी नहीं होता ।

संक्षेप में अध्यात्म ग्रन्थों में 'पुण्य-पाप' का वर्णन 'आस्रवाधिकार' में किया गया है और पुण्य-पाप का निबेध 'संवराधिकार' में किया गया है । इसी प्रकार से श्रमण साधुओं के लिए पुण्य-पाप समान रूप से बताया गया है । वास्तविकता भी यही है कि जो ध्यान, तप आदि में, शुद्धात्मानुभूति में लीन रहता है वह शुभ-अशुभ भावों के चक्कर में नहीं पड़ता । वह शुद्ध आत्मानुभव में रहने की ओर उन्मुख रहता है । किन्तु साधारण जनों की स्थिति उससे भिन्न होती है । अतः क्या पुण्य उनके लिए सर्वथा हेय हो सकता है, यह एक जटिल प्रश्न है ? इसका समाधान यह है कि प्रवृत्ति में किसी सीमा तक पुण्य उपादेय है; क्योंकि गुणस्थानों में ज्यों-ज्यों भूमिका के अनुसार जीव आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों पुण्य-प्रकृतियाँ बढ़ती जाती हैं । किन्तु मोक्षमार्गी उनकी अभिलाषा नहीं करता है । उसकी दृष्टि में पुण्य सर्वथा हेय ही होता है । यदि ऐसा न हो तो वह उत्थान नहीं कर सकता ।

क्या पुण्य संबंधा हेय है ?

जो लोग यह कहते हैं कि पुण्य विष्ठा के समान त्याज्य है यह वास्तविकता में अतिशयोक्ति है । पाप और पुण्य बंध की दृष्टि से लोहे और सोने की बेड़ियाँ तो हैं पर वे समान कार्य करने वाली नहीं हैं । पुण्य तुच्छ नहीं है । क्योंकि सारे संसार की प्रवृत्ति अशुभ और शुभ पर आधारित है । जो प्रवृत्ति में भी उसे व्यर्थ समझते हैं, वे अपने जीवन को सुधारने में असमर्थ रहते हैं । जब पुण्य के प्रति हमारी वृत्ति उपेक्षित हो जाती है तब न हम शुद्धोपयोग में ही लग पाते हैं और न शुभोपयोग की वृत्ति जाग्रत हो पाती है । ऐसी स्थिति में केवल वाणी और चर्चा में हम शुद्ध उपयोग की बात करते हैं और व्यवहार में हमारा अधिकतर समय अशुभ कार्यों में व्यतीत होता है । आज के आत्मवादी लोगों का जीवन इसी प्रकार का दिखाई पड़ता है । वे पुण्य-पाप को सर्वथा हेय एवं विष्ठा के समान मानते हैं, पर पूर्वजन्म के पुण्योदय से जो वैभव उन्हें प्राप्त होता है उसका वे बराबर भोग करते हैं । इसका अर्थ तो यही है कि पुण्य के फल की चाह है और उसका उपयोग भी करते हैं । जो पुण्य का उपयोग करता है वह उससे विरत कैसे है ? यह जीवन की विडम्बना है कि कथनी में कुछ है और करनी में कुछ है । स्वानुभूति के गीत गाने से स्वानुभूति नहीं हो सकती । स्वानुभूति तो चारित्र्य गुण की पर्याय है । वह आत्मा की निराकुल, कषायविहीन एवं चारित्र्यगुण की शुद्ध अवस्था में प्रकट होती है । स्वानुभूति मतिज्ञान की पर्याय नहीं है । आचार्य गुणभद्र पुण्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पुण्यं त्वया जिन विनेयविधेयमिष्टं

मत्यादिभिः परमनिर्वृत्तिसाधनत्वात् ।

नैवामराखिलसुखं प्रति तच्च यस्माद्

बन्धप्रदं विषयनिष्ठमभीष्टघाति ॥ ७६/५३३ ॥

अर्थात् है जिनेन्द्र ! आपने जिस पुण्य का उपदेश दिया है वही ज्ञान आदि के द्वारा परम निर्वाण का साधन होने से इष्ट है तथा भव्य जीवों के द्वारा साधने योग्य है । देवताओं के सभी सुख देने वाला

पुण्य : एक तात्त्विक विवेचन : डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री | २६



जो पुण्य है वह पुण्य नहीं है, क्योंकि उससे कर्मबन्ध होता है और जीव विषय-वासनाओं में उलझ जाता है तथा परमपुरुषार्थ मोक्ष से हट जाता है ।

जो पुण्य को मिथ्यात्व कहकर उसका अनादर करते हैं वे वास्तव में भूल पर हैं । क्योंकि पुण्य मिथ्यात्व नहीं है । पुण्य के उदय से जो देवादिक के वैभव प्राप्त होते हैं उन वैभवों की आकांक्षा रखना और केवल इसलिए पुण्य को मोक्ष का कारण मानना मिथ्यात्व है । परन्तु 'पुण्यभाव मोक्ष का कारण है' ऐसा कथन करना व्यवहार है । क्योंकि पुण्य-पाप का भेद अघातिया कर्मों की दृष्टि से है, घातिया कर्म की अपेक्षा तो दोनों समान हैं । कषाय चाहे तीव्र हो अथवा मन्द हो वह कषाय ही है । 'समयसार' में भी अशुभकर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील कहा गया है । आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

कम्ममसुहं कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुशीलं ।

किह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥

—समयसार, १४५

अर्थात् जो अशुभकर्म है वह तो निन्दनीय है, बुरा है इसलिए नहीं करने योग्य है । परन्तु शुभ कर्म पुण्यरूप है, सुहावना है, सुखदायक है इसलिए उपादेय है, यह कथन व्यवहार से है । परमार्थ से पुण्य और पाप दोनों संसार को बनाए रखने वाले हैं । अतएव कुशील और सुशील को एक ही वर्ग का कहा गया है । परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी इस का विशेष अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं—आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ ऋषि, मुनि, योगी लोग जो कि एकान्त निराकुलता के ग्राहक होते हैं उन्हीं को लक्ष्य में लेकर लिखा है । इसलिए लिखते हैं कि है साधो ! तुम लोगों के लिए जिस प्रकार चोरी करना, झूठ बोलना आदि कर्म हेय हैं, उसी प्रकार दान, पूजा आदि कर्म भी तुम्हारे लिए कर्त्तव्य नहीं हैं । क्योंकि उनको करते रहने पर भी निराकुलता प्राप्त नहीं हो सकती है । निराकुलता के लिए तो केवल आत्मनिर्भर होना पड़ेगा । इससे यदि कोई गृहस्थ भी अपने लिए ऐसा ही समझ ले तो या तो उसे गृहस्थाश्रम छोड़ देना होगा, नहीं तो यह मनमानी करके कुगति का पात्र बनेगा । अतः उसे तो चोरी-जारी आदि कुकर्म से दूर रहकर परिश्रमशीलता, परोपकार, दान, पूजा, आदि सत्कर्म करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को निभाना चाहिए ।

पं० बनारसीदास जी नाटक समयसार में कहते हैं—

मोह को विलास यह जगत को वास में तो, जगत सों शून्य पाप पुण्य अन्ध रूप है ।

पाप किने कौन किये करे करिहै सो कौन, क्रिया को विचार सुपने की दौर धूप है ॥ ६१ ॥

एक और पं० बनारसीदास जी जहाँ पाप-पुण्य को अन्धरूप बतलाते हैं वहीं 'बनारसीविलास' में पुण्य का महत्व बतलाते हुए कहते हैं—

पूरव करम दहै सरवज्ञ पद लहै;

गहै पुण्यपंथ फिर पाप में न आवना ।

करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै,

लागै दान-शील-तप सफल सुहावना ॥

पावै भवसिंधु तट खोलै मोक्षद्वार पट,

शर्म साथ धर्म की धरा में करै भावना ।

एतै सब काज करै अलख को अंग धरै,

चेरी विदानन्द की अकेली एक भावना ॥ ८६ ॥

३० | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



इस प्रकार से पुण्य परम्परित मोक्ष का कारण है। सच्चे पुण्य को प्राप्त कर लेने के पश्चात् पाप में लौटकर नहीं आना पड़ता। इसलिए पं० आशाधर जी ने 'सागारधर्माभूत' में कहा है—

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः ।

तं दुष्यन्तमतो रक्षेद्वीरः समयभक्तितः ॥

—सागारधर्माभूत, ६१

### पुण्य की यथार्थता

जैनधर्म का महत्व निर्दिष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिपादन किया है कि सभी धर्मरूपी रत्नों में जिनधर्म श्रेष्ठ है। उत्तम जैनधर्म में धर्म का स्वरूप इस प्रकार है—

पूयादिसु व्रयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

--भावपाहुद्ध, ८३

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में पूजादिक को तथा व्रतों को पुण्य कहा है और मोह, क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म बताया है। पंछित जयचन्द्र जी छावड़ा इस की व्याख्या करते हुए कहते हैं—जिनमत में जिन भगवान् ऐसे कह्या है जो पूजादिक विषै अर व्रतसहित होय सो तो पुण्य है, तहाँ पूजा अर आदि शब्द करि भक्ति-वन्दना, वैयावृत्य आदिक लेना। यह तो देव, गुरु, शास्त्र के अर्थ होय है बहुरि उपवास आदिक व्रत हैं जो शुभक्रिया हैं। इनि में आत्मा का राग सहित शुभ परिणाम है ताकरि पुण्यकर्म निपजे हैं तातैं इनि कूं पुण्य कहे हैं, याका फल स्वर्गादिक भोग की प्राप्ति है। बहुरि मोह का क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम लेणें, तहाँ मिथ्यात्व तो अतत्त्वार्थश्रद्धान है, बहुरि क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह तो द्वेष प्रकृति हैं, बहुरि माया, लोभ, हास्य, रति, पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन विकार ऐसे सात प्रकृति रागरूप हैं। इनिके निमित्त तैं आत्मा का ज्ञान, दर्शन स्वभाव विकार सहित क्षोभ रूप चलाचल व्याकुल होय है, यातैं इनिका विकारनि तैं रहित होय तब शुद्ध दर्शन ज्ञान रूप निश्चय होय सो आत्मा का धर्म है; इस धर्म तैं आत्मा के आगामी कर्म का तो आस्रव रकि संवर होय है अर पूर्व बंधे कर्म तिनिकी निर्जरा होय है, संपूर्ण निर्जरा होय तब मोक्ष होय है; तथा एकदेश मोह के क्षोभ की हानि होय है तातैं शुभ परिणाम कूं भी उपचार करि धर्म कहिये है, अर जे केवल शुभ परिणाम ही कूं धर्म मानि सन्तुष्ट हैं तिनिकें धर्म की प्राप्ति नाही है, यह जिनमत का उपदेश है।

### व्यवहार चारित्र्य : पुण्य

'अशुभ भावों से हटकर शुभ भावों में लगना' यह धर्म की प्रथम व्यावहारिक उत्थानिका है। आचार्य कुन्दकुन्द, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'असुहादो विणिविती, सुहे पविती य जाण चारित्त' कह कर पुण्य को चारित्र्य रूप निरूपित किया है। 'चारित्तं खलु, धम्मो' चारित्र्य ही निश्चय से धर्म है। व्यवहार में भी चारित्र्य धर्म है और निश्चय में भी चारित्र्य धर्म है। अतः चारित्र्य धर्म है, इस में किसी को विवाद नहीं है। लोक में भी चरित्र से व्यक्ति परखा जाता है। 'सोना जानिए कसने से, आदमी जानिए बसने से।'

### कंसा पुण्य उपादेश है ?

विना श्रद्धान और ज्ञान के आचरण शुद्ध नहीं होता है। अतएव ज्ञानी के पुण्यमूलक कर्मों में तथा क्रियाओं में और अज्ञानी के कार्यों में महान् अन्तर देखा जाता है। पुण्य की क्रियाओं को करते हुए

पुण्य : एक तात्त्विक विवेचन : डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री | ३१



भी पुण्य में तृष्णा नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार से एक मनुष्य बीमार हो जाने पर रोग तथा अशक्ति को दूर करने के लिए औषध का सेवन करता है और दूसरा काम-भोग-शक्ति बढ़ाने के लिए औषध-सेवन करता है, इन दोनों में अत्यन्त दृष्टि-भेद है। उसी प्रकार से अज्ञानी और ज्ञानी के पुण्य में बड़ा अन्तर है। स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—

जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसय-सोक्ख-तण्हाए ।

दूरे तस्स विसोही विसोहि-मूलाणि पुण्थाणि ॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४११

अर्थात् जो कषायवान होकर विषय-सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उससे विशुद्धि दूर है और पुण्यकर्म का मूल विशुद्धि है।

साधुजनों को सम्बोधित करते हुए आगे कहा गया है—

पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्ण-संपत्ती ।

इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह ॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४१२

अर्थात् पुण्य के आशय से जो पुण्य किया जाता है उससे पुण्य का बन्ध नहीं होता, किन्तु इच्छा रहित व्यक्ति को ही पुण्य की प्राप्ति होती है। यह जानकर योगियों को पुण्य में भी आदर भाव नहीं रहना चाहिए। जो भोगों की तृष्णा से पुण्य करता है उसे सातिशय पुण्य का बन्ध नहीं होता। निरतिशय पुण्य का बन्ध होने से वह सानुराग होकर भोगों का सेवन करता हुआ पुनः नरक आदि दुर्गति में चला आता है। इसलिए उसका निषेध किया गया है। परन्तु सातिशय पुण्य उपादेय है। जो मोक्ष-प्राप्ति की भावना से शुभ कर्मों को करता है वह मन्दकषायी होने से सातिशय पुण्य का बन्ध तो करता ही है, परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। अतएव विषय-सुख की चाह से पुण्य करना हेय कहा गया है; न कि पुण्य का एकान्त निषेध किया गया है। क्योंकि जीव-दया आदि जितने भी अहिंसामूलक भाव तथा कर्म हैं सभी में शुभ भावों को महत्त्व दिया गया है। आचरण की विशुद्धि के लिए श्रद्धान और ज्ञान की विशुद्धता सापेक्ष है। अतएव एकान्ततः पुण्य का सर्वथा निषेध करना जिनागम के अनुकूल नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पाप तथा पुण्य में भेद है, पाप से पुण्य में विशेषता है। इसलिए पाप छोड़ने का तथा पुण्य करने का उपदेश दिया जाता है। किन्तु यह भी निश्चित है कि मोक्षमार्ग में, परमार्थ की दृष्टि में पुण्य और पाप में कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि पुण्य और पाप दोनों आस्रव के कारण हैं। यद्यपि त्याग को धर्म कहा जाता है, किन्तु त्याग का त्याग धर्म कैसे हो सकता है? यथार्थ में धर्म वस्तु-स्वभाव में है। अतः स्वभाव को छोड़कर विभाव में आना या स्वभाव का त्यागना धर्म नहीं है। त्याग तो विभाव का, कषाय का, इन्द्रिय विषय का तथा हिंसा का होना चाहिए। अहिंसा के त्याग को धर्म कैसे कहा जा सकता है? यदि भाव की दृष्टि से विचार किया जाए तो अशुद्ध भाव के त्याग को ही त्याग कहते हैं। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के भाव अशुद्ध कहे गये हैं। व्रत में अशुभ भाव का त्याग होता है, किन्तु शुभ भाव का ग्रहण किया जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग व्रत है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

धर्मेण परिणतात्मा यदि युद्धसंप्रयोगयुत् ।

प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥

धर्म में परिणमित स्वरूप वाला आत्मा यदि युद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभ उपयोग वाला हो तो स्वर्ग के सुख को (बन्ध दशा को) प्राप्त करता है।



यथार्थ में जो पुण्य की वांछा करता है वह विषय-सुख का ही अभिलाषी है। जिसे लौकिक सुखाभासों में ही आनन्द आता है वही पुण्य को चाहता है और पुण्य की प्राप्ति से सांसारिक भोग-वैभव मिलता है। पुण्यकर्म जीव को राज्यादि देकर नरकादि दुःख उत्पन्न कराते हैं। इसलिये ज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि पुण्य भी अच्छे नहीं हैं। कारण यह है कि निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द अतीन्द्रिय सुख का अनुभव है उससे विपरीत जो देखे, सुने, भोगे जाते हैं उन इन्द्रियों के भोग की वांछा ही दुःखदायी है। फिर निदानपूर्वक विषय-सुख की अभिलाषा से किए गए दान, तप आदि से उपाजित पुण्यकर्म हेय ही हैं। क्योंकि राज्य आदि की विभूति को प्राप्त कर अज्ञानी जीव विषय-भोगों को छोड़ नहीं सकता और उसका फल गृह होता है कि रावण आदि की तरह वह नरकादिक के दुःख प्राप्त करता है।

श्रीमद् योगीन्द्रदेव के शब्दों में—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।

मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होइ ॥ २६० ॥

पुण्य से धन की समृद्धि प्राप्त होती है जिससे अभिमान होता है और मान से बुद्धि-भ्रम होता है। बुद्धि के भ्रमित होने से अविवेकी के पाप होता है इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न हो तो भला है।

पुण्य कर्म के क्षय का कारण नहीं है। यद्यपि आगम में ऐसा कहा है कि सम्यक्त्व सहित पुण्य का उदय भला है, सम्यग्दर्शन के सम्मुख होकर मरण को भी प्राप्त करे तो अच्छा है, किन्तु यह भी कहा गया है कि सम्यक्त्वी तीर्थकरनाम प्रकृति आदि पुण्य प्रकृतियों को अवांछित वृत्ति से ग्रहण करता हुआ उनको त्यागने योग्य समझता है, उपादेय नहीं मानता है।

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि घातिकर्मों का बन्ध भी शुभ परिणामों से होता है। जो शुभ परिणाम पुण्य का कारण है वह पाप का कारण भी हो सकता है। अतः ज्ञानी पुण्य को भी परिग्रह समझता है। इतना ही नहीं, समस्त शुभ कर्मों को भोगियों के भोग का मूल मानता है। केवल निज शुद्धात्मा या परमात्मा को ही उपादेय मानता है। कहा भी है—

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं

त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः ।

उभय समयसारं सारतत्त्वस्वरूपं

भजतु भवविमुक्त्यै कोऽन दोषो मुनीशः ॥ —नियमसार कलश, ५६

संक्षेप में, इस विवेचन का सार यही है कि भूमिका के अनुसार श्रावक तथा श्रमण के पुण्य की प्रवृत्ति एवं शुभ परिणाम होते हैं, उनका निषेध नहीं किया गया है; किन्तु पुण्य करने लायक नहीं है, दृष्टि में सर्वथा हेय है और प्रवृत्ति में भी उपादेय नहीं है। यह अवश्य है कि पुरुषार्थ की अशक्यता होने से बाह्य प्रवृत्तियों में पर का अवलम्बन लेता है, किन्तु वह स्वावलम्बी जीवन का पथिक स्वावलम्बन के सिवाय अन्य किसी को इष्ट नहीं समझता है। □□



## जैन प्रमाणवाद

का

### पुनर्मुक्तियों का

—डा. संगमलाल पांडेय

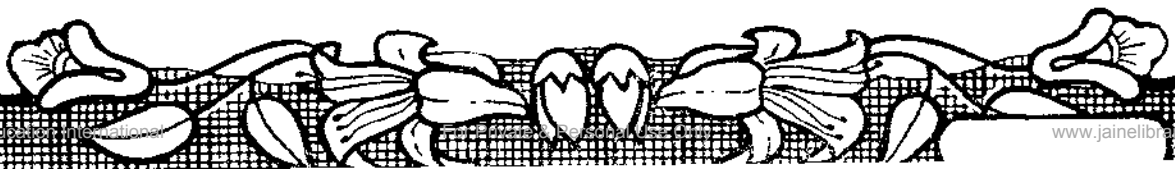
प्रमाण की परिभाषा के बारे में जैन दार्शनिकों में ऐकमत्य नहीं है। उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, हेमचन्द्र सूरि आदि प्रमुख जैनतर्कशास्त्रियों ने प्रमाण की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। उदाहरण के लिये, सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं—प्रमाण वह है जो आत्मा और विषय को प्रकाशित करता है।<sup>1</sup> माणिक्यनन्द कहते हैं कि प्रमाण वह है जो अनधिगत या अपूर्व अर्थ का ज्ञान कराता है<sup>2</sup> और हेमचन्द्र सूरि कहते हैं—कि प्रमाण वह है जो सम्यक् अर्थ-निर्धारण करता है।<sup>3</sup> अब प्रश्न है—जैनतर्कशास्त्र में यह मत-भेद क्यों हैं? वास्तव में जैनतर्कशास्त्री अपने समकालीन भारतीय तर्कशास्त्र का परिशीलन करते रहे और जैनतर तर्कशास्त्र से प्रभावित होते रहे। यही कारण है कि प्रमाण के बारे में उनकी अनेक परिभाषायें हैं।

परन्तु तर्कशास्त्र के प्रत्येक विषय की जैन परिभाषा देना तर्कतः असम्भव तथा अनावश्यक है। प्राचीन काल में तर्कशास्त्र को संस्कृत भाषा अथवा संस्कृत व्याकरण की भांति सभी भारतीय दार्शनिकों के लिये मान्य होना चाहिये था क्योंकि वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र या सर्वमान्य है। किन्तु साम्प्रदायिकता के युगों में तर्कशास्त्र के इस सर्वमान्य स्वरूप का साक्षात्कार जैनतर्कशास्त्री न कर सके। असंगत और विफल होते रहने पर भी वे प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि की जैन परिभाषा देने का प्रयास करते रहे; किन्तु आज ऐसे प्रयासों का महत्व नहीं है। आज हमें प्रमाण की ऐसी परिभाषा देने का प्रयास करना चाहिये जो सर्वमान्य हो, और जिसका सम्बन्ध सम्प्रदाय-विशेष से न हो। कदाचित् इस ओर स्वयं जैनतर्कशास्त्र के इतिहास का विकास होता रहा है, कम से कम हेमचन्द्र सूरि ने जो प्रमाण की परिभाषा दी है, वह ऐसा संकेत देती है। उनकी प्रमाण-परिभाषा सर्वमान्य होने का दावा करती है। उनके अनुसार सम्यक् अर्थ का निर्धारण प्रमाण है।<sup>4</sup>

पुनश्च, प्राचीन जैन आचार्यों ने ज्ञान तथा प्रमाण में कोई अन्तर नहीं किया था। किन्तु हेमचन्द्र सूरि ने यह अन्तर किया है जो ठीक ही है। हिन्दू नैयायिकों ने प्रमा या सम्यक्ज्ञान के कारण को प्रमाण कहा है<sup>5</sup> और इस प्रकार प्रमाण का सम्बन्ध सत्य ज्ञान से जोड़ा है। पहले प्रमाण अनुभव का साधन माना जाता था किन्तु कालान्तर में वह सत्यापन या प्रमाणीकरण की प्रक्रिया हो गया। वह अनुभव-साधन से परोक्ष-साधन हो गया।

किन्तु प्रमाण की चाहे जो परिभाषा हो, प्रमाण दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इसे सभी जैन आचार्य मानते हैं। फिर वे प्रत्यक्ष को परोक्ष से ज्येष्ठतर प्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष परोक्षपूर्वक होता है।<sup>6</sup> इससे स्पष्ट है कि जैन आचार्य प्रत्यक्षवादी (Empiricist) नहीं हैं। उनकी

३४ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



स्थिति कांट जैसी है। वे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों को अन्वोन्याश्रित मानते हैं। अतः जैसे वे प्रत्यक्षवादी नहीं हैं, वैसे ही बुद्धिवादी (Rationalist) भी नहीं हैं। उनका मत कांट के आलोचनावाद (Criticism) के सन्निकट है।

किन्तु कांट का आलोचनावाद शुद्ध ज्ञानमीमांसा का सिद्धान्त है और जैन प्रमाणवाद ज्ञान-मीमांसा से अधिक मूल्यमीमांसा (Axiology) से सम्बन्धित है। उन्होंने आलोचनावाद का प्रयोग अपने सांख्यवाद (Pragmatism) के लिये किया है। प्रमाण अर्थ का सम्यक् निर्धारण है और अर्थ हेय, उपादेय तथा उपेक्षणीय तीन प्रकार का है।<sup>17</sup> इस प्रकार त्रिमूलीय अर्थ के विनिश्चय का साधन प्रमाण है। इन तीन अर्थों का विनिश्चय करने के अनन्तर उपादेय को प्राप्त करना और हेय तथा उपेक्षणीय का परिहार करना जैन प्रमाणवाद का मुख्य लक्ष्य है। सांख्यिक होने के कारण जैन प्रमाणवाद कांट के आलोचनावाद से भी अधिक गहन और व्यापक है। इसने कांट के प्रत्यक्ष और संप्रत्यय दोनों को परोक्ष के अन्तर्गत रखा है और फिर परोक्ष का आलोचनात्मक समन्वय उस ज्ञान से किया है जिसे कांट तर्क-ब्राह्म मानता है और जो समाधि-ज्ञान या अलौकिक ज्ञान है। जैनियों का यह सांख्यिक आलोचनावाद आधुनिक विश्व-संस्कृति और मूल्यमीमांसा के लिये अत्यन्त सारगर्भित है। यह सभी प्रकार के अनुभवों के सत्यापन का मानदण्ड प्रस्तुत करता है। इसका महत्व आधुनिक युग में बढ़ता जा रहा है, क्योंकि आज नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के क्षेत्रों में भी तर्कशास्त्र का विकास हो रहा है।

किन्तु जैन प्रमाणवाद इतना ही नहीं है, उसका समुचित परिचय प्राप्त करने के लिये जैनतर्कशास्त्र और इसके ससूत्रे इतिहास का विचार करना है। जैनियों के लिये प्रमाणवाद एक तार्किक दृष्टिकोण है। वह तर्कशास्त्र का पर्याय है क्योंकि कम से कम माणिक्यनन्दि और हेमचन्द्रसूरि के न्याय-ग्रन्थों से यह स्पष्ट है। इस प्रकार प्रमाणवाद के विशेष विवेचन में ससूत्रे तर्कशास्त्र के स्वरूप और महत्व का विवेचन अपेक्षित है। जो यहाँ थोड़े समय में सम्भव नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम प्रमाणवाद का सामान्य विवेचन नहीं कर सकते हैं। स्वयं जैनियों के अनुसार परिभाषा या लक्षण द्विविध है—सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण। इस सिद्धान्त का उपयोग करते हुए हम यहाँ प्रमाणवाद का सामान्य विवेचन करना चाहते हैं। हमारा प्रयोजन यहाँ जैनतर्कशास्त्र की उन विशेषताओं को जानना है जो जैनियों के लिये आवश्यक हैं, जिनका विकास केवल जैनियों ने किया है और जिनका महत्व आज शुद्ध विज्ञान के युग के लिये भी बहुत बड़ा है।

परन्तु ऐसा विवेचन करने के पूर्व हम पहले उन धारणाओं का निराकरण करना चाहते हैं जो जैनतर्कशास्त्र के बारे में अत्यन्त प्रचलित हैं।

जैनतर्कशास्त्र के बारे में प्राचीन काल से ही तीन धारणाएँ चली आ रही हैं। एक, जैनतर्कशास्त्र भारतीय दर्शन के अन्य तर्कशास्त्रों से विशेषतः न्याय-दर्शन के तर्कशास्त्र से भिन्न है और जैन विद्वानों ने न्याय-दर्शन और बौद्धदर्शन के तर्कशास्त्रों के सामानान्तर अपना स्वतन्त्र तर्कशास्त्र बनाने का प्रयास किया है। दूसरे, जैनतर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध जैन-ज्ञानमीमांसा और जैनतत्त्व-मीमांसा से है। तीसरे, जैन दार्शनिकों का विचार है कि जैनतर्कशास्त्र अन्य भारतीय तर्कशास्त्रों से श्रेष्ठतर है। अब तर्कशास्त्र के आधुनिक विकास के आधार पर इन तीनों धारणाओं को भ्रान्त सिद्ध किया जा सकता है। प्राचीनकाल में तर्कशास्त्र का आधार ज्ञानमीमांसा था और ज्ञानमीमांसा का आधार तत्त्वमीमांसा था। सम्भवतः इसी कारण जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोण से अपने-

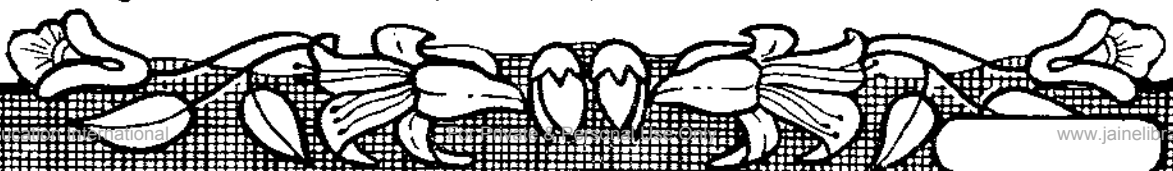




अपने तर्कशास्त्र का विकास किया। परन्तु यदि हम उनके तर्कशास्त्र की तुलना न्याय-दर्शन के तर्कशास्त्र से करें तो पता चलेगा कि वास्तव में इन तीनों के तर्कशास्त्र में कोई मौलिक अन्तर नहीं है और ये तीनों एक ही प्रकार के तर्कशास्त्र की स्थापना करते हैं। आधुनिक युग में तर्कशास्त्र ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा से स्वतन्त्र हो गया है। इसलिये आज यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई है कि तर्कशास्त्र किसी तत्त्वमीमांसा या ज्ञानमीमांसा से निकला हुआ शास्त्र नहीं है। उदाहरण के लिये, भारतीय न्याय-वाक्य जैन, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, और वेदान्ती सभी के दर्शनों में मूलतः एक ही है। उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा तर्कशास्त्र के मुख्य विषय हैं। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के इस मत को सभी मानते हैं। हेतु तर्कतः सत्य या आभासित होता है, इसको भी वे सभी मानते हैं। इस प्रकार देखने से स्पष्ट है कि वास्तव में विभिन्न दर्शनों के होते हुए भी भारत में एक ही प्रकार का तर्कशास्त्र विकसित हुआ। उस तर्कशास्त्र को हिन्दू, बौद्ध और जैन के वर्गों में बाँटना प्राचीन विद्वानों का वर्गीकरण-दोष था, जिसके चक्कर में गेरवात्स्की, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, एच० एन० रैन्डल, सुखलाल संघवी आदि आधुनिक विद्वान भी पड़ गये हैं। भारत में जो तर्कशास्त्र विकसित हुआ है वह द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र है। वह हिन्दू, जैन, बौद्ध न होकर शुद्ध भारतीय है। पुनश्च सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने जैनतर्कशास्त्र के बारे में एक और भ्रान्त धारणा फैला दी है। वह यह है कि जैनतर्कशास्त्र मध्ययुगीन भारतीय तर्कशास्त्र है<sup>8</sup> किन्तु वास्तव में प्राचीनकाल से लेकर आज तक जैन दार्शनिक तर्कशास्त्र का विकास करते आये हैं। महावीर स्वामी (५६६-५०७ ई० पू०) भद्रबाहु (प्रथम), उमास्वाति (प्रथम शताब्दी ईसवी), भद्रबाहु द्वितीय (३७५ ई०), सिद्धसेन दिवाकर (४८० ई०), जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण समन्तभद्र (६०० ई०), अकलंक (७५० ई०), माणिक्यनन्दि (८०० ई०), मल्लवादी (८२७ ई०), हेमचन्द्रसूरि (११०० ई०), हरिभद्र (११२० ई०), मल्लिसेन (१२६२ ई०), यशोविजय (१७वीं शताब्दी), सुखलाल संघवी (२०वीं शताब्दी) आदि जैनियों ने तर्कशास्त्र का विकास किया है और इनका काल प्राचीनकाल से लेकर आज तक है। वास्तव में समस्त जैनतर्कशास्त्र प्राचीन न्याय तर्कशास्त्र की परम्परा में है। उसे मध्ययुगीन या आधुनिक नहीं कहा जा सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि तर्कशास्त्र में जैनियों का मुख्य योगदान क्या है जिसका महत्व आज भी है। हम नहीं मानते कि जैनतर्कशास्त्र का महत्व केवल जैनधर्म के लिये है। हमारे विचार से जैनतर्कशास्त्र का महत्व किसी धर्म या सम्प्रदाय के लिये नहीं, अपितु तर्कशास्त्र के लिये ही है। तर्कशास्त्र का जो महत्व मानव ज्ञान-विज्ञान में है वही महत्व प्राचीन काल में सामान्यतः जैनतर्कशास्त्र का था। यही कारण है कि परम्परोपजीवी जैनियों में वह आज तक जीवित है। किन्तु उनके लिये जैनतर्कशास्त्र का जो महत्व है वह हम लोगों के लिये जो जैनी नहीं है, नहीं है। अतः देखना है कि हमारे लिये जैनतर्कशास्त्र का क्या महत्व आज है ?

इस प्रसंग में सबसे पहले कहा जा सकता है कि जैनतर्कशास्त्र का ऐतिहासिक मूल्य है। प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय तर्कशास्त्र जिन-जिन स्थितियों से गुजरा है उनका सजीव वर्णन जैन तर्कशास्त्र में सुरक्षित है।<sup>9</sup> तर्कशास्त्र का आरम्भ धर्म से सम्बन्धित कुछ पदों से निर्वचन से हुआ। भद्रबाहु की निर्युक्तियाँ ऐसा ही निर्वचन करती हैं।<sup>10</sup> इन निर्वचनों को लेकर तार्त्विक तर्कशास्त्र का विकास हुआ, जिसका वर्णन सिद्धसेन दिवाकर का सन्मति तर्कप्रकरण करता है। इसी से न्याय पैदा होता है जो बुद्धि को सत् की ओर ले जाने के कारण न्याय कहलाता है। सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार इस अवस्था को सूचित करता है।<sup>11</sup> फिर इसके बाद विवेचन, विश्लेषण और विवाद प्रकट होते हैं, जिनको लेकर मीमांसा उत्पन्न होती है। समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा इस अवस्था को व्यक्त करती है।<sup>12</sup> न्याय और



मीमांसा दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुए अकलंक ने सिद्धिनिश्चय और न्यायनिश्चय लिखकर सूचित किया कि वास्तव में तर्कशास्त्र में सिद्धि-प्रक्रिया और विनिश्चयप्रक्रिया का महत्व अधिक है।<sup>13</sup> फिर इनकी परीक्षा का प्रश्न उठता है और तर्कशास्त्र सम्बन्धी सभी विवेचनों की परीक्षा का महत्व बढ़ता है जिसकी अभिव्यक्ति माणिक्यनन्दि के परीक्षामुखशास्त्र में होती है।<sup>14</sup> परीक्षा का आधार प्रमाण होता है इस कारण तर्कशास्त्र की अग्रिम अवस्था प्रमाण मीमांसा हो जाती है जिसका विकसित रूप हमें हेमचन्द्र की प्रमाण मीमांसा में मिलता है।<sup>15</sup> आगे चलकर प्रमाण से भी अधिक महत्त्व तर्क या तर्कणा का हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति यशोविजय की तर्कभाषा में होती है। इस प्रकार निर्युक्तिशास्त्र से लेकर तर्कशास्त्र के विकास की सभी अवस्थाओं का वर्णन जैनदर्शन में सुरक्षित है। जैनप्रमाणवाद का यही ऐतिहासिक योगदान है।

दूसरे, जैनतर्कशास्त्र का तुलनात्मक और आलोचनात्मक महत्त्व है। यह बड़े महत्त्व की बात है कि जैनतर्कशास्त्रियों ने सांख्य, न्याय, मीमांसा, चार्वाक मतों के लक्षणों और सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया और उनकी आलोचना की। उदाहरण के लिये, हेमचन्द्र सूरि ने प्रमाण की उन परिभाषाओं का खण्डन किया जिन्हें न्याय, मीमांसा और बौद्ध दर्शन के विद्वानों ने दिया था। अनेक जैन तर्कशास्त्रियों ने बौद्ध न्याय-ग्रन्थों पर और चार्वाक न्याय-ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी की। किन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि न्याय-दर्शन के तर्कशास्त्री बौद्ध तर्कशास्त्रियों के द्वारा किये गये अपने सिद्धान्तों के खण्डन से परिचित हैं और उनको उत्तर भी देते हैं, तथापि वे जैनियों के द्वारा किये गये तुलनात्मक और आलोचनात्मक अनुशीलन से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। यही हाल बौद्ध, मीमांसा और सांख्य के परवर्ती विद्वानों का भी है। अतः हम कह सकते हैं कि जैनियों ने भारतीय तर्कशास्त्र-सम्बन्धी विभिन्न लक्षणों और सिद्धान्तों का जो तुलनात्मक और आलोचनात्मक परिशीलन किया वह आधुनिक भारतीय तर्कशास्त्र को विकसित करने में सहायक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है।

तीसरे, तर्कशास्त्र का अध्ययन बुद्धि को विमल बनाता है, उसे कुशाग्र करता है। इस तथ्य को सभी प्राचीन दार्शनिकों ने धर्म के सन्दर्भ में कहा है। किन्तु जिस प्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क प्रकरण में तर्कशास्त्र को महत्त्व दिया है वैसे प्राचीन साहित्य में बहुत कम देखने को मिलता है। उनके मत से तर्कशास्त्र प्रभावक शास्त्र है और उसके ज्ञाता को अकल्पित सेवन के लिये प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता है।<sup>16</sup>

इस प्रकार जैन तर्कशास्त्रियों ने तर्कशास्त्र को उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। वह तर्कशास्त्र की गरिमा का अद्वितीय उदाहरण है।

चौथे, जैन तर्कशास्त्र का भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व भी कम नहीं है। जैनों ने प्राकृत, संस्कृत, गुजराती और हिन्दी में अच्छा तर्कशास्त्र साहित्य निर्मित किया है। इन सभी भाषाओं में प्राकृत भाषा का महत्त्व तर्कशास्त्र के इतिहास में क्या है? इस प्रश्न को हल करने का एक मात्र साधन जैनतर्कशास्त्र है क्योंकि जैनियों ने प्राकृत भाषा में तर्कशास्त्र लिखे और जैनैतर तर्कशास्त्रियों ने प्राकृत भाषा में तर्कशास्त्र नहीं लिखे। बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि बौद्धों के धर्मग्रन्थ पालि भाषा में हैं तथापि इस भाषा में उनका एक भी तर्कशास्त्र ग्रन्थ नहीं है। प्राकृत भाषा संस्कृत और हिन्दी के बीच की कड़ी है। इसी प्रकार प्राकृत भाषा का तर्कशास्त्र भी संस्कृत भाषा के तर्कशास्त्र और हिन्दी भाषा के तर्कशास्त्र के बीच की कड़ी है। भाषा और तर्क का सम्बन्ध बहुत गाढ़ा है, यह तथ्य प्राचीन भारतीय दार्शनिकों को वैसे ही विदित था



जैसे आधुनिक दार्शनिकों को विदित है। किन्तु फिर भी जैनेतर तर्कशास्त्रियों ने प्राकृत भाषा में तर्कशास्त्र के ग्रन्थ नहीं लिखे। कदाचित् उन्होंने तर्क को बोलचाल की भाषा से सम्बन्धित नहीं किया था। जैनियों ने तर्क को बोल-बाल की भाषा से सम्बन्धित करके सिद्ध किया है कि तर्कशास्त्र एक जीवन्त शास्त्र है, और उसका महत्त्व दैनिक जीवन, भाषण और चिन्तन के लिये है। आधुनिक युग में जब प्राकृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गयी तब जैन विद्वानों ने गुजराती और हिन्दी में तर्कशास्त्र लिखकर बोलचाल की भाषा से इसको पुनः जोड़ दिया है। पंडित सुखलाल संघवी ने यह महान कार्य किया है।

पाँचवें, अभी तक जिन मूल्यों का हमने विवेचन किया है वे उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना तर्कशास्त्र का सांख्यवहारिक महत्त्व है। जैनियों ने बकवाद के लिये अथवा विवाद के लिये तर्कशास्त्र का सृजन नहीं किया। उनका तर्कशास्त्र प्रत्यक्षवादी तर्कशास्त्र तथा प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र नहीं है। जिस प्रकार न्यायदर्शन ने प्रत्यक्षवादी तर्कशास्त्र और बौद्धों ने प्रत्ययवादी (Idealistic) तर्कशास्त्र को जन्म दिया, उसी प्रकार जैनियों ने सांख्यवहारिक तर्कशास्त्र (Pragmatic Logic) को जन्म दिया। जैनतर्कशास्त्र वैसे ही सांख्यवहारिक है जैसे जॉन डिवी और क्वाइन का सांख्यवहारिक तर्कशास्त्र। और यह वैसे ही नैयायिकों के तर्कशास्त्र से भिन्न है जैसे आज क्वाइन का तर्कशास्त्र कार्नेप के तर्कशास्त्र से भिन्न है। जैनियों का सांख्यवहारिक दृष्टिकोण उनके स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में भली-भाँति सुरक्षित है। पुनः परन्तु इसकी सर्वांग सुन्दर व्याख्या हेमचन्द्र सूरि के प्रमाण मीमांसा में मिलती है। हेमचन्द्र सूरि ने सम्यग् अर्थ निर्णय को प्रमाण कहा—सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। फिर अर्थ की व्याख्या करते हुये उन्होंने कहा कि जो हेय, उपादेय या उपेक्षणीय हो वह अर्थ है। अर्थ और प्रमाण की ये परिभाषायें जैन तर्कशास्त्र के सांख्यवहारिक स्वरूप को उजागर करती हैं, पुनश्च जैनियों का नयवाद जो प्रत्येक कथन के व्यावहारिक मूल्य का अनुसंधान करता है उनके संन्यवहार का सबसे बड़ा प्राभाष्य है।

छठे, जैनियों ने एक अभितर्कशास्त्र (Metalogic) को जन्म दिया जो उनका समस्त भारतीय तर्कशास्त्र में सबसे बड़ा योगदान है। उन्होंने तर्कशास्त्र का मूल बोलचाल के प्रकथनों में ढूँढ़ा, और नयवाद का सिद्धान्त खोजा। किसी एक दृष्टिकोण से कहा गया प्राकथन नय है।<sup>17</sup> प्रामाण्य के दृष्टिकोण से वह सत्य (प्रमाणनय) असत्य (दुर्नय) और सत्यासत्य निरपेक्ष या अनिश्चित (नय) हो सकता है।<sup>18</sup> यहाँ जैनियों ने वास्तव में सत्यता के तीन मूल्यों की खोज की है, जिनकी जानकारी पश्चिम में केवल २०वीं सदी में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हो पायी है। सत्यता के इन तीन मूल्यों की तुलना लुकासेविगज के तीन सत्यता मूल्यों से की जा सकती है। प्रमाण नय स्याद्वाद है, दुर्नय एकांगी नय या असत्य नय है और नय अनिश्चित है। इस प्रकार सत्य, अनिश्चित और असत्य इन तीन सत्यता-मूल्यों को खोज जैनियों की बहुत बड़ी खोज है। उन्होंने तीन मूल्यों वाले तर्कशास्त्र का अधिक विकास नहीं किया और द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र के बल पर ही अनुमान किया। परन्तु आज उनके नयवाद के आधार पर त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र की संरचना की जा सकती है।

अभितर्कशास्त्र के रूप में जैनियों ने सामान्य भाषा का तार्किक अनुशीलन किया। उन्होंने सप्तभंगी नय का सिद्धान्त बनाया, जिससे किसी विषय से सम्बन्धित सात प्रकार के कथन हो सकते हैं। यद्यपि इन सात प्रकार के कथनों का उपयोग उन्होंने अपने न्याय-वाक्य में नहीं किया तथापि उन्होंने इनके द्वारा अर्थ के विभिन्न प्रकारों को सुझाया है और किसी सन्दर्भ-विशेष में उससे सम्बन्धित अर्थ-ग्रहण पर बल दिया है।



इस प्रकार आधुनिक युग में हम प्राचीन जैनतर्कशास्त्र का उपयोग तर्कशास्त्र के लिये कर सकते हैं। उसके आधार पर हम वम से वम तीन दिशाओं में भारतीय तर्कशास्त्र का विकास कर सकते हैं।

पहला, हम जैनतर्कशास्त्र की परम्परा के अनुकूल एक अभितर्कशास्त्र विकसित कर सकते हैं जो आधुनिक पाश्चात्य अभितर्कशास्त्र से भिन्न है।

दूसरा, हम एक त्रिमूर्तीय तर्कशास्त्र विकसित कर सकते हैं, या जैन त्रिमूर्तीय तर्कशास्त्र को लुकासेविग्ज के त्रिमूर्तीय तर्कशास्त्र से जोड़ सकते हैं।

तीसरे, हम सामान्य लोकभाषा में तर्कशास्त्र-परम्परा को विकसित कर सकते हैं जिसका सूत्रपात जैनियों ने अपने नयवाद में किया है। यही जैनतर्कशास्त्र का आधुनिक महत्व है।

इस प्रकार अब स्पष्ट है कि जैनतर्कशास्त्र का प्रमाणवाद किसी म्यूजियम की वस्तु नहीं है। उसका आज भी महत्व है। जिस प्रकार जैन विद्वान् अनेकान्तवाद के आधार पर आज-कल सभी धर्मों का समन्वय कर रहे हैं उसी प्रकार उन्हें आज-कल विविध तर्कशास्त्रियों और अभितर्कशास्त्रियों का भी समन्वय करना चाहिये या कम से कम उनका तुलनात्मक और आलोचनात्मक अनुशीलन करना चाहिये। अगर इतना वे इस युग में करते हैं तब वे तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अपनी परम्परा का पूर्ण निर्वाह करते हैं। यदि वे कोई नया तर्कशास्त्र या अभितर्कशास्त्र नहीं बनाते और आधुनिक सभी तर्कशास्त्रों और अभितर्कशास्त्रों के समन्वयात्मक अनुशीलन तक ही अपने को सीमित रखते हैं तो भी उनका कार्य सर्वथा मौलिक, प्रशंसनीय और युगीन होगा। हमारे मत से जो भी लोग यह कार्य आज कर रहे हैं वे सभी जैन परम्परा का ही पालन कर रहे हैं। आज के विभिन्न तर्कशास्त्रों में इतना अन्तर होता जा रहा है, कि एक दूसरे की भाषा को भी नहीं समझ सकता है। इस तार्किक परिस्थिति का सामना करना और सभी तर्कशास्त्रों को एक दूसरे के सन्निकट लाना और एक को दूसरे के लिये बोधगम्य बनाना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना किसी मौलिक तर्कशास्त्र का सृजन करना। हम मानते हैं कि ज्ञान एक और अखण्ड है। इसलिये यह समन्वयात्मक कार्य सम्भव है। इस प्रकार जैन प्रमाणवाद की आधुनिक दिशा अत्यन्त सुस्पष्ट हो जाती है।



1. प्रमाण स्वपराभासि—न्यायावतार 1

2. अपूर्वार्थ विज्ञानम्—परीक्षामुखशास्त्र 1/1

3. सम्यगर्थनिर्धारणं प्रमाणः—प्रमाणत्रयी माला ।

4. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्—प्रमाणमीमांसा ।

5. प्रमाकरणम् प्रमाणम्—तर्कभाषा पृष्ठ 13 (विश्वेश्वर कृत व्याख्या)

6. प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणान्तर पूर्ववत्वोपलब्धेः । (प्रमाणमीमांसा 1/10 वृत्ति)

7. प्रमाणमीमांसा—1/2 की वृत्ति ।

8. देखिये उनका मूल—इण्डियन लाजिक ।

9-16. सन्मतितर्थ प्रकरण की प्रस्तावना—(सुखलाल संघवी पृष्ठ 4) ।

17. एकदेश विजिष्टोर्धो नयस्य विषयोमतः । (न्यायावतार 29) ।

18. स्याद्वाद मंजरी, मल्लिसेन, श्लोक—28

जैन प्रमाणवाद का पुनर्मूल्यांकन : डा० संगमलाल पाण्डेय | ३६



## जैन वाक्य-दर्शन

—डा. सागरमल जैन

वाक्य भाषायी अभिव्यक्ति की एक महत्वपूर्ण इकाई है। वाक्य की परिभाषा को लेकर विभिन्न दार्शनिकों के विचारों में मतभेद पाया जाता है। प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम जैन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करेंगे और उसके बाद वाक्य की परिभाषा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिक व धारणाओं को और उनकी जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षा को प्रस्तुत करेंगे तथा यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन दार्शनिकों ने वाक्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, वह किस सीमा तक तर्क-संगत है।

जैनदर्शन में वाक्य का स्वरूप—

प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “अपने वाक्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए एक दूसरे की परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है।”<sup>1</sup> वाक्य की इस परिभाषा से हमारे सामने दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि वाक्य की रचना करने वाले पद अपने वाक्यार्थ का अवबोध कराने के लिए परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं किन्तु उनसे निर्मित वह वाक्य अपने वाक्यार्थ का अवबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे शब्दों में, अपना अर्थबोध कराने में वाक्य स्वयं समर्थ होता है किन्तु पद स्वयं समर्थ नहीं होते हैं। जब सापेक्ष या साकांक्ष पद परस्पर मिलकर एक ऐसे समूह का निर्माण कर लेते हैं जिसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बनता है। संक्षेप में साकांक्ष/सापेक्ष पदों का निरपेक्ष/निराकांक्ष समूह वाक्य है। पदों की सापेक्षता और उनसे निर्मित समूह की निरपेक्षता ही वाक्य का मूल तत्व है। वाक्य का प्रत्येक पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता है। वह दूसरे के बिना अपूर्ण सा प्रतीत होता है। अपने अर्थबोध के लिए दूसरे की आकांक्षा या अपेक्षा रखने वाला पद साकांक्ष पद कहलाता है और जितने साकांक्ष पदों को मिलाकर यह आकांक्षा पूरी हो जाती है, वह इकाई वाक्य कही जाती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार जहाँ वाक्य में प्रयुक्त पद सापेक्ष या साकांक्ष होते हैं वहाँ उन पदों से निर्मित वाक्य अपना अर्थबोध कराने की दृष्टि से निरपेक्ष या निराकांक्ष होता है। वस्तुतः परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले सापेक्ष या साकांक्ष पदों को मिलाकर जब एक ऐसे समूह की रचना कर दी जाती है जिसे अपने अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बन जाता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य में पदों की दृष्टि से सापेक्षता और पद-समूह

१. (अ) पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति ।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. ४५८

(ब) पदानां पुनर्वाक्यार्थप्रत्यायने विधेयेऽन्योन्यनिर्मितोपकारमनुसरतां वाक्यान्तरस्थ पदोपेक्षा रहिता संहतिर्वाक्य-  
मभिधीयते ।

—स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ९४१

४० | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



की दृष्टि से निरपेक्षता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य एक इकाई है जो सापेक्ष या साक्षात् पदों से निमित्त होकर भी अपने आप में निरपेक्ष होती है। पद वाक्य के आवश्यक अंग हैं और वाक्य इनसे निमित्त एक निरपेक्ष इकाई है। वाक्य खण्डात्मक इकाइयों से रचित एक अखण्ड रचना है।

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत और उनकी समालोचना<sup>१</sup>

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्यपदीय से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें उस काल में प्रचलित वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं का एक संक्षिप्त परिचय मिल जाता है।<sup>२</sup>

आरण्यतशब्दः संघातो ज्ञाति-संघातवतिनी । एकोऽनव्ययशब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहतिः ॥

परमाद्यं पृथक् सर्वपदं साक्षात्क्षमित्यपि । वाक्यं प्रतिमतिभिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ॥

—वाक्यपदीय २/१-२

भारतीय दार्शनिकों को ये वाक्य के स्वरूप को लेकर दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। व्याकरणिकों का मत है कि वाक्य एक अखण्ड इकाई है। वे वाक्य में पद को महत्वपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जबकि दूसरा दृष्टिकोण जिसका समर्थन न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शन करते हैं, वाक्य को खण्डात्मक इकाइयों अर्थात् शब्दों और पदों से निमित्त मानता है। इनके अनुसार पद वाक्य का एक महत्वपूर्ण अंग है और अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर कि क्रियापद (आख्यात पद) अथवा उद्देश्य पद आदि में कौन सा पद वाक्य का प्राण है—इन विचारकों में भी मतभेद पाया जाता है। वाक्यपदीय के आधार पर प्रभाचन्द्र ने वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न मतों का उल्लेख कर उनकी समीक्षा की है।

(१) आख्यातप ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों के अनुसार आख्यातपद या क्रियापद ही वाक्य का प्राण है। वही वाक्य का अर्थ वहन करने में समर्थ है। क्रियापद के अभाव में वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं होता अतः वाक्यार्थ के अवबोध में क्रियापद अथवा आख्यातपद ही प्रधान है, अन्य पद गौण हैं।

इस मत की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है या सापेक्ष होकर वाक्य है? यदि प्रथम विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि आख्यातपद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है तो यह मान्यता दो दृष्टिकोणों से युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि प्रथम तो अन्य पदों से निरपेक्ष होने पर आख्यातपद न तो पद ही रहेगा और न 'वाक्य' के स्वरूप को प्राप्त होगा। दूसरे यदि अन्य पदों से निरपेक्ष आख्यातपद अर्थात् क्रियापद को ही वाक्य माना जाये तो फिर आख्यातपद का ही अभाव होगा क्योंकि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद, वह है जो उद्देश्य और विधेय के अथवा अपने और उद्देश्य के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करता है। उद्देश्य या विधेय पद से निरपेक्ष होकर तो वह अपना अर्थात् आख्यातपद का स्वरूप ही खो चुकेगा

१. विस्तृत विवेचन एवं मूल सन्दर्भ के लिए देखें—

(अ) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. ४५८ से ४६५। (ब) स्यादवादरत्नाकर पृ० ६४१-६४७।

(स) भाषातत्त्व एवं वाक्यपदीय पृ० ८५ से ९६।

२. प्रमेयकमलमार्तण्ड के पृ० ४५९ पर उद्धृत वाक्यपदीय के ये दो श्लोक अशुद्ध हैं—हमने उन्हें शुद्ध करके दिया है। उसमें दूसरे श्लोक के प्रथम चरण में 'पदमाद्यं पदं चान्त्यं' ऐसा पाठ है जबकि अन्यत्र 'पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं' ऐसा पाठ मिलता है जो कि अधिक शुद्ध है।

जैन वाक्य दर्शन : डा० सागरमल जैन | ४१



क्योंकि निरपेक्ष होने से वह न तो उद्देश्य पद और विधेय पद के सम्बन्ध को और न उद्देश्य पद और अपने सम्बन्ध को सूचित करेगा। पुनः यदि आख्यातपद अन्य पदों से सापेक्ष होकर वाक्य है तो वह कथञ्चित् सापेक्ष होकर वाक्य है या पूर्णतया सापेक्ष होकर वाक्य। इसमें भी प्रथम मत के अनुसार यदि यह माना जाये कि वह कथञ्चित् सापेक्ष होकर वाक्य है तो इससे तो जैन मत का ही समर्थन होगा। पुनः यदि दूसरे विकल्प के अनुसार यह माना जाये कि वह पूर्ण सापेक्ष होकर वाक्य है तो पूर्ण सापेक्षता के कारण उसमें वाक्यत्व का ही अभाव होगा और वाक्यत्व का अभाव होने से उसके प्रकृत अर्थ अर्थात् आख्यात स्वभाव का ही अभाव होगा, वह अर्द्धवाक्यवत् होगा क्योंकि पूर्ण सापेक्ष होने के कारण उसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा बनी रहेगी। अन्य किसी की अपेक्षा रहने से वह वाक्य के स्वरूप को प्राप्त नहीं होगा क्योंकि वाक्य तो सापेक्ष पदों की निरपेक्ष संहति अर्थात् इकाई है। अतः जैनों के अनुसार कथञ्चित् सापेक्ष और कथञ्चित् निरपेक्ष होकर ही आख्यातपद वाक्य हो सकता है। इसका तात्पर्य है कि वह अन्य पदों से मिलकर ही वाक्य स्वरूप को प्राप्त होता है। आख्यातपद वाक्य का चाहे एक महत्वपूर्ण अंग हो, किन्तु वह अकेला वाक्य नहीं है।

यह सत्य है कि अनेक स्थितियों में केवल क्रियापद के उच्चारण से सन्दर्भ के आधार पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, किन्तु वहाँ भी गौरवरूप से अन्य पदों की उपस्थिति तो है ही। 'खाओ' कहने से न केवल खाने की क्रिया की सूचना मिलती है, अपितु खाने वाले व्यक्ति और खाद्य वस्तु का भी अव्यक्त रूप से निर्देश होता है क्योंकि बिना खाने वाले और खाद्य वस्तु के उसका कोई मतलब नहीं है। हिन्दी भाषा में 'लीजिए' 'पाइए' आदि ऐसे आख्यातपद हैं जो एक-एक होकर भी वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, किन्तु इनमें अन्य पदों का गौरवरूप से संकेत तो हो ही जाता है। संस्कृत भाषा में 'गच्छामि' इस क्रियापद के प्रयोग में 'अह' और 'गच्छति' इस क्रियापद के प्रयोग में 'सः' का गौरवरूप से निर्देश तो रहा ही है। क्रियापद को सदैव व्यक्त या अव्यक्त रूप में कर्त्तापद की अपेक्षा तो होती ही है अतः आख्यात पद अन्य पदों से कथञ्चित् सापेक्ष होकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करता है—यह मानना ही समुचित है और इस रूप में यह मत जैन दार्शनिकों को भी स्वीकार्य है।

## (२) पदों का संघात वाक्य है

बौद्ध दार्शनिकों का यह कहना है कि पदों का संघात ही वाक्य है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मात्र पद समूह संघात नहीं है। मात्र पदों को एकत्र रखने के वाक्य नहीं बनता है। वाक्य बनने के लिए 'कुछ और' चाहिए और 'कुछ और' पदों के एक विशेष प्रकार के एकीकरण से प्रकट होता है। यह पदों के अर्थ से अधिक एवं बाहरी तत्त्व होता है। पदों के समवेत होने पर आये हुए इस 'अर्थाधिक्य' को ही संघातवादी वाक्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार संघातवाद में वाक्य को पद के समन्वित समूह के रूप में और वाक्यार्थ को पदों के अर्थ समन्वित समूह के रूप में स्वीकार किया जाता है किन्तु यहाँ संघात ही महत्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि वह पदों के अर्थ में कुछ नयी बात को भी जोड़ता है। इस मत के अनुसार पदों के संघात में कुछ, एक ऐसा नया तत्त्व होता है जो पदों के अलग-अलग होने पर नहीं होता है। उदाहरण के रूप में 'घोड़ा' 'घास' 'खाता है', ये तीन पद अलग-अलग रूप में जिस अर्थ के सूचक हैं, इनका संघात या संहति अर्थात् 'घोड़ा घास खाता है' उससे भिन्न अर्थ का सूचक है। इस प्रकार संघातवादी पदों के संघात को ही वाक्यार्थ के अवबोध का मुख्य आधार मानते हैं।

संघातवाद की इस मान्यता की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखते हैं कि पदों का यह संघात या संगठन देशकृत है या कालकृत। यदि पदों के संघात को देशकृत अथवा कालकृत माना जाये तो यह विकल्प युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि 'वाक्य के सुनने में क्रमशः उत्पन्न एवं ध्वंस होने वाले पदों का एक ही देश में या एक ही काल में अवस्थित होकर संघात बनाना सम्भव नहीं है। पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वाक्यरूपता को प्राप्त पद वाक्य से भिन्न है या अभिन्न है। वे भिन्न नहीं हो सकते क्योंकि भिन्न रहने पर पर वे वाक्यांश नहीं रह जायेंगे और



वाक्य के अंश के रूप में उसकी प्रतीति नहीं होगी। पुनः जिस प्रकार एक वर्ण का दूसरे वर्ण से संघात नहीं होता उसी प्रकार एक पद का भी दूसरे पद के साथ संघात नहीं होता है। पुनः यदि संघात अभिन्न रूप में है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है तो वह सर्वथा अभिन्न है या कथञ्चित् अभिन्न है। यदि सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो संघात संघाती के स्वरूप वाला हो जायेगा, दूसरे शब्दों में पद ही वाक्यरूप हो जायेगा और ऐसी स्थिति में संघात का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। यदि यह संघात कथञ्चित् अभिन्न और कथञ्चित् भिन्न है तो ऐसी स्थिति में जैन मत का ही समर्थन होगा क्योंकि जैन आचार्यों के अनुसार भी पद वाक्य से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न होते हैं। इस रूप में तो यह मत जैनों को भी मान्य होगा अर्थात् जैन मत का ही प्रसंग होगा।

### (३) सामान्यतत्त्व (जाति) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य मात्र पदों का संघात नहीं है। वाक्य के समस्त पदों के संघात से होने वाली एक सामान्य प्रतीति ही वाक्य है। इन विचारकों के अनुसार पदों के संघात से एक सामान्य तत्त्व जिसे वे 'जाति' कहते हैं, उत्पन्न होता है और वह संघात में अनुस्यूत सामान्य तत्त्व ही वाक्य है। वाक्य में पदों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती है अपितु वे सब मिलकर एक सामान्य तत्त्व का अर्थबोध देते हैं और यही वाक्यार्थ होता है। इस मत के अनुसार यद्यपि पदों के संघात से ही वाक्य बनता है फिर भी यह मत वाक्य से पृथक् होकर उन पदों की अर्थबोध सामर्थ्य को स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि वाक्य में प्रत्येक पद अपनी सत्ता रखता है तथापि वाक्यार्थ एक अलग इकाई है और पदों का कोई अर्थ हो सकता है तो वाक्य में रहकर ही हो सकता है; जैसे शरीर का कोई अंग अपनी क्रियाशीलता शरीर में रहकर ही बनाये रखता है, स्वतन्त्र होकर नहीं। पद वाक्य के अंग के रूप में ही अपना अर्थ पाते हैं।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यदि जाति या सामान्यतत्त्व का तात्पर्य परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि यह दृष्टिकोण तो स्वयं जैनों को भी स्वीकार्य है। किन्तु जाति को पदों से भिन्न माना जायेगा तो ऐसी स्थिति में इस मत में भी वे सभी दोष उपस्थित हो जायेंगे जो संघातवाद में दिखाये गये हैं क्योंकि जिस प्रकार पद संघातपदों से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न होकर ही अर्थबोध प्रदान करता है उसी प्रकार यह जाति या सामान्यतत्त्व भी पदों से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न रहकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करा सकता है क्योंकि सामान्यतत्त्व या जाति को व्यक्ति (अंश) से न तो पूर्णतः भिन्न माना जा सकता है और न पूर्णतः अभिन्न ही। पद भी वाक्य से न तो सर्वथा भिन्न होते हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। उनकी सापेक्षिक भिन्नाभिन्नता ही वाक्यार्थ की बोधक बनती है।

### (४) वाक्य अखण्ड इकाई है

वैयाकरणिक वाक्य को एक अखंड सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार वाक्य अपने आप में एक इकाई है और वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिस प्रकार पद को बनाने वाले वर्णों में पदार्थ को खोजना व्यर्थ है उसी प्रकार वाक्य को बनाने वाले पदों में वाक्यार्थ का खोजना व्यर्थ है। वस्तुतः एकत्व में ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस मत के अनुसार वाक्य में पद और वर्ण का विभाजन समीचीन नहीं है। वाक्य जिस अर्थ का द्योतक है, वह अर्थ पद या पद-समूह में नहीं है। वाक्य को एक इकाई मानने में जैन आचार्यों को भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे स्वयं वाक्य को सापेक्ष पदों की एक निरपेक्ष इकाई मानते हैं। उनका कहना केवल इतना ही है कि वाक्य को एक अखण्ड सत्ता या निरपेक्ष इकाई मानते हुए भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उसकी रचना में पदों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अंश से पूर्णतया पृथक् अंशों की कल्पना जिस प्रकार समुचित नहीं—उसी प्रकार पदों की पूर्ण उपेक्षा करके वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं है। वाक्य निरपेक्ष इकाई होते हुए भी सापेक्ष पद समूह से ही निमित्त है। अतः वे भी वाक्य के महत्वपूर्ण घटक हैं, अतः अर्थबोध में उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।





प्रभाचन्द्र वाक्य के इस अखण्डता सिद्धान्त की समालोचना करते हुए कहते हैं कि वाक्य एक अविभाज्य एवं अपद इकाई है, यह मान्यता एक प्रकार की कपोल-कल्पना ही है क्योंकि पद के बिना वाक्य नहीं होता है, वाक्य में साक्षात् पदों का होना नितान्त आवश्यक है। वाक्य में पदों की पूर्ण अवहेलना करना या यह मानना कि पद और पदार्थ का वाक्य में कोई स्थान ही नहीं है, एक प्रकार से आनुभविक सत्य से विमुख होना ही है। प्रभाचन्द्र ने इस मत के सम्बन्ध में वे सभी आपत्तियाँ उठायी हैं जो कि स्फोटवाद के सम्बन्ध में उठायी जा सकती हैं। यह मत वस्तुतः स्फोटवाद का ही एक रूप है जो वाक्यार्थ सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करता है कि पद या उनसे निर्मित वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं है, किन्तु स्फोट (अर्थ का प्राकट्य) ही अर्थ को प्रतिपादक है। शब्दार्थ के बोध के सम्बन्ध में स्फोटवाद एक मात्र और अन्तिम सिद्धांत नहीं है क्योंकि यह इसका उत्तर नहीं दे पाता है कि पदाभाव में अर्थ का स्फोट क्यों नहीं हो जाता। अतः वाक्य की अखण्ड और अनवयव नहीं माना जा सकता। क्योंकि पद वाक्य के अपरिहार्य घटक हैं और वे शब्दरूप में वाक्य से स्वतन्त्र होकर भी अपना अर्थ रखते हैं, पुनः पदों के अभाव में वाक्य नहीं होता है अतः वाक्य को अनवयव नहीं कहा जा सकता।

#### (५) क्रमवाद एवं उसकी समीक्षा

क्रमवाद भी संघातवाद का ही एक विशेषरूप है। इस मत के अनुसार पद को वाक्य का अपरिहार्य अंश तो माना गया है किन्तु पदों की सहव्यति की अपेक्षा पदों के क्रम को वाक्यार्थ के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। क्रम ही वास्तविक वाक्य है। जिस प्रकार वर्ण यदि एक सुनिश्चित क्रम में नहीं हों तो उनसे वाक्य नहीं बनता है, उसी प्रकार यदि पद भी निश्चित क्रम में न हों तो उनसे वाक्य नहीं बनेगा। सार्थक वाक्य के लिए पदों का क्रमात्मक विन्यास आवश्यक है। पद-क्रम ही वस्तुतः वाक्य की रचना करता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है। पदों का एक अपना अर्थ होता है और एक विशिष्टार्थ। पदों का एक विशिष्ट अर्थ उनमें क्रमपूर्वक विन्यास-दशा में ही व्यक्त होता है। पदों का यह क्रमपूर्वक विन्यास ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करता है।

साथ ही क्रमवाद काल की निरन्तरता पर बल देता है और यह मानता है कि काल का व्यवधान होने से पद-क्रम टूट जाता है और पदक्रम के टूटने से वाक्य नष्ट हो जाता है। क्रमवाद में एक पद के बाद आने वाले दूसरे पद को प्रथम पद का उपकारक स्वीकार किया जाता है। पदों का यह नियत क्रम ही उपचीयमान अर्थात् प्रकट होने वाले अर्थ का द्योतक होता है।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत को संघातवाद से अधिक भिन्न नहीं मानते हैं, मात्र अन्तर यह है कि जहाँ संघातवाद पदों की सहव्यतिता पर बल देता है, वहाँ क्रमवाद उनके क्रम पर। उनके अनुसार इस मत में भी वे सभी दोष हैं जो संघातवाद में हैं क्योंकि यहाँ भी देश और काल की विभिन्नता का प्रश्न उठता है। एक देश और काल में क्रम सम्भव नहीं और अलग-अलग देश और काल में पदों की स्थिति मानने पर अर्थबोध में कठिनाई आती है। यद्यपि वाक्य विन्यास में पदों का क्रम एक महत्वपूर्ण तथ्य है किन्तु यह क्रम साक्षात् पदों में जो कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रूप से वाक्य में स्थित हैं, ही सम्भव है।

#### (६) बुद्धिगृहीत तात्पर्य ही वाक्य है— इस मत का स्वरूप एवं समीक्षा

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि शब्द या शब्द-समूह बाह्यकार मात्र है, वाक्यार्थ उसमें निहित नहीं है। अतः वाक्य वह है जो बुद्धि के द्वारा गृहीत है। बुद्धि की विषयगत एकाग्रता से ही वाक्य बोला जाता है और उसी से वाक्य के अर्थ का ग्रहण होता है। वाक्य का जनक एवं कारण बुद्धि तत्त्व है। वक्ता द्वारा बोलने की क्रिया तभी सम्भव है, जब उसमें सुविचारित रूप में कुछ कहने की इच्छा होती है। अतः बुद्धि या बुद्धितत्त्व ही वाक्य का जनक होता है। बुद्धि के अभाव में न तो वाक्य का उच्चारण सम्भव है और श्रोता के द्वारा उसका अर्थ ग्रहण ही सम्भव है। अतः वाक्य का आधार बुद्धि-अनुसंहति है।



जैनाचार्य प्रभाचन्द्र इस दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए प्रश्न करते हैं कि यदि बुद्धि तत्त्व ही वाक्य का आधार है तो वह द्रव्यवाक्य है या भाववाक्य। बुद्धि को द्रव्यवाक्य कहना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि द्रव्यवाक्य तो शब्द ध्वनि रूप है, अचेतन है और बुद्धितत्त्व चेतन है अतः दोनों में विरोध है। बुद्धि को द्रव्यवाक्य नहीं माना जा सकता। पुनः यदि यह मानें कि बुद्धितत्त्व भाववाक्य है तो फिर सिद्धसाध्यता का दोष होगा। क्योंकि बुद्धि की भाववाक्यता तो सिद्ध ही है। बुद्धितत्त्व को भाववाक्य के रूप में ग्रहण करना जैनों को भी इष्ट है। इस सम्बन्ध में बुद्धिवाद और जैन दार्शनिक एकमत ही हैं। वाक्य के भावपक्ष या चेतनपक्ष को बौद्धिक मानना जैनदर्शन को भी स्वीकार्य है और इस दृष्टि से यह मत जैनमत का विरोधी नहीं है।

(७) आद्य पद (प्रथम पद) ही वाक्य है—इस मत का स्वरूप एवं समीक्षा

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य के प्रथमपद का उच्चारण ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य रखता है। इस मत के अनुसार कर्ता का अभिप्राय प्रथम पद के उच्चारण मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि अन्य पद तो विवक्षा को बहन करने वाले होते हैं। वाक्यपदीय में कहा गया है कि क्रिया से यदि कारक का विनिश्चय सम्भव है तो फिर कारक के कथन से भी क्रिया का निश्चय सम्भव है। यह सिद्धान्त यद्यपि वाक्य में कारक पद के महत्व को स्पष्ट करता है फिर भी पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि चाहे वाक्य का प्रथम पद अर्थात् कारक पद ही अथवा अंतिम पद अर्थात् क्रियापद हो वे अन्य पदों की अपेक्षा से ही वाक्यार्थ के बोधक होते हैं, यदि एक ही पद वाक्यार्थ के बोध में समर्थ हो तो फिर वाक्य में अन्य पदों की आवश्यकता ही नहीं रह जावेगी। दूसरे शब्दों में, वाक्य में उनके अभाव का प्रसंग होगा। यह सही है कि अनेक प्रसंगों में प्रथम पद (कारक पद) के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। उदाहरण रूप में, जब राज दीवार की चुनाई करते समय 'ईट' या 'पत्थर' शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता यह समझ जाता है कि उसे ईट या पत्थर ढोने का आदेश दिया गया है। यहाँ प्रथम पद का उच्चारण सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ का बहन करता है किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि वह 'ईट' या 'पत्थर' शब्द प्रथम पद के रूप में केवल उस सन्दर्भ विशेष में ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करते हैं उससे पृथक् ही करके नहीं। राज के द्वारा उच्चारित 'पत्थर' शब्द 'पत्थर साओ' का सूचक होगा जबकि छात्र-पुलिस सघर्ष में प्रयुक्त 'पत्थर' शब्द अन्य अर्थ का सूचक होगा। अतः कारक पद केवल किसी सन्दर्भ विशेष में ही वाक्यार्थ का बोधक होता है, सर्वत्र नहीं। अतः एकान्तरूप से कारक पद को वाक्य मान लेना उचित नहीं है। 'राम' शब्द का उच्चारण किसी सन्दर्भ में वाक्यार्थ का बोधक हो सकता है, सदैव नहीं। इसलिए केवल आदि पद या कारकपद को वाक्य नहीं कहा जा सकता। केवल 'पद' विशेष को ही वाक्य मान लेना उचित नहीं है, अन्यथा वाक्य में निहित अन्य पद अनादश्यक और निरपेक्ष होंगे और इस स्थिति में उनसे वाक्य बनेगा ही नहीं। पद सदैव साक्षात् होते हैं और उन साक्षात् पदों से निर्मित वाक्य निरासाक्ष होता है। अतः वाक्य में पदों का स्थान महत्वपूर्ण होते हुए भी वे स्वतन्त्र रूप से वाक्य नहीं कहे जा सकते हैं।

(८) साक्षात् पद ही वाक्य है

कुछ विचारकों के अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद वाक्य के अंग के रूप में साक्षात् होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। इस मत में प्रत्येक पद वा व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जाता है। इस मत के अनुसार पदों का अपना निजी अर्थ उनकी सहभूत या समवेत स्थिति में भी रहता है। यह मत वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता और उनके महत्व को स्पष्ट करता है। संघातवाद से इस मत की भिन्नता इस अर्थ में है कि जहाँ संघातवाद और क्रमवाद में पद को प्रमुख स्थान और वाक्य की गौण स्थान प्राप्त होता है वहाँ इस मत में पदों को साक्षात् मानकर वाक्य को प्रमुखता दी जाती है। यह मत मानता है कि पद वाक्य के अन्तर्गत ही अपना अर्थ पाते हैं, उससे बाहर नहीं। वस्तुतः यह अवधारणा जैन-दर्शन के अत्यन्त निकट है, क्योंकि जैन दार्शनिक भी साक्षात् पदों की निरपेक्ष संहति को ही वाक्य कहते हैं।

जैन वाक्य दर्शन : डा० सागरमल जैन | ४५



## वाक्य के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

जैन मत साक्षात्क पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहता है किन्तु वह पद और वाक्य दोनों पर ही समान बल देता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार न तो पदों के अभाव में वाक्य सम्भव है और न वाक्य के अभाव में पद ही अपने विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन करने में सक्षम होते हैं। पद वाक्य में रहकर ही अपना अर्थ पाते हैं, उससे स्वतन्त्र होकर नहीं। अतः पद और वाक्य दोनों का सापेक्षिक अस्तित्व एवं सापेक्षिक महत्व है। दोनों में से कोई भी एक दूसरे के अभाव में अपना अर्थबोध नहीं करा सकता है। अर्थबोध कराने के लिए पद को वाक्यसापेक्ष और वाक्य को पद-सापेक्ष होना होगा। जैन-मत में ऊपर वर्णित सभी मतों की सापेक्षिक सत्यता का स्वीकार किया जाता है किन्तु किसी एक पक्ष पर अनावश्यक बल नहीं दिया जाता है। उनका कहना यह है कि पद और वाक्य एक दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर अर्थबोध कराने में समर्थ नहीं हैं। उनकी अर्थबोध सामर्थ्य उनकी पारस्परिक सापेक्षता में निहित है। विभिन्न पदों की पारस्परिक सापेक्षता (साक्षात्कता) और पद एवं वाक्य की सापेक्षता में ही वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। परस्पर निरपेक्ष पद तथा वाक्य-निरपेक्ष पद और पद-निरपेक्ष वाक्य की न तो सत्ता ही होती है और न उनमें अर्थबोध कराने की सामर्थ्य ही होती है। अतः वाक्य को परस्पर सापेक्ष पदों की निरपेक्ष संहति मानना ही अधिक तर्क-संगत है।

## वाक्यार्थ बोध सम्बन्धी सिद्धान्त

वाक्यार्थ (वाच्य-विषय) का बोध किस प्रकार होता है। इस प्रश्न को लेकर भारतीय चिन्तकों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। नैयायिक तथा भाट्ट मीमांसक इस सम्बन्ध में अभिहितान्वयवाद की स्थापना करते हैं। इनके विरोध में मीमांसक प्रभाकर का सम्प्रदाय अन्विताभिधानवाद की स्थापना करता है। इन सिद्धान्तों का विवेचन और जैन दार्शनिकों के द्वारा की गई इनकी समीक्षा को प्रस्तुत करते हुए यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वाक्यार्थ बोध के सम्बन्ध में समुचित दृष्टिकोण क्या हो सकता है ?

## अभिहितान्वयवाद पूर्वपक्ष

कुमारिलभट्ट की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में हमें सर्वप्रथम पदों के श्रवण से उन पदों के वाच्य-विषयों अर्थात् पदार्थों का बोध होता है। उसके पश्चात् उनके पूर्व में अज्ञात पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है और उनकी सम्बद्धता के बोध से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थ के प्रति पदार्थों का ज्ञान ही कारणभूत है, दूसरे शब्दों में पदों के अर्थपूर्वक ही वाक्यार्थ अवस्थित है। संक्षेप में पदों से अभिधायक के द्वारा पदार्थ का बोध होता है, फिर वक्ता के तात्पर्य अर्थात् वक्ता द्वारा किये गये विभक्ति प्रयोग के आधार पर उन पदों के पारस्परिक सम्बन्ध/अन्वय का ज्ञान होता है और इस अन्वय-बोध अर्थात् पदों की पारस्परिक सम्बद्धता के ज्ञान से वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है। क्योंकि इसमें अभिहित अर्थात् पद द्वारा वाच्य पदार्थ के अन्वय अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में वाक्यार्थ का ज्ञान तीन चरणों में होता है—प्रथम चरण में पदों को सुनकर उनके वाच्य अर्थात् पदार्थों का बोध होता है, उसके पश्चात् दूसरे चरण में उन पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) का ज्ञान होता है। तब तीसरे चरण में इस अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य से स्वतन्त्र पदों/शब्दों का एक अलग अर्थ होता है और पदों के इस अर्थ के ज्ञान के आधार पर ही वाक्यार्थ का निश्चय होता है। दूसरे शब्दों में वाक्यार्थ का बोध पदों के अर्थ-बोध पर ही निर्भर करता है, पदों के अर्थ से स्वतन्त्र होकर वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता है। अभिहितान्वयवाद के

१ (अ) पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावनावतः ॥—मीमांसाश्लोकवार्तिक वाक्य० १११

(ब) पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थितः ॥ —वही ३३६

४६ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



अनुसार पदों का वाक्य से एवं दूसरे पदों से निरपेक्ष या स्वतन्त्र अर्थ भी होता है किन्तु वाक्य का पदों के अर्थ से निरपेक्ष अपना कोई अर्थ नहीं होता। वाक्यार्थ पदों के वाच्यार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय पर निर्भर करता है। जब तक पदों के अर्थों अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है तब तक वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है। वाक्यार्थ के बोध के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रथम, पदों के अर्थ का ज्ञान और दूसरे, पदों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान। पुनः पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के भी चार आधार हैं—(१) आकांक्षा, (२) योग्यता, (३) सन्निधि और (४) तात्पर्य।

(१) आकांक्षा—प्रथम पद को सुनकर जो दूसरे पद को सुनने की जिज्ञासा मन में उत्पन्न होती है—उसे ही आकांक्षा कहा जाता है। एक पद को दूसरे पद की जो अपेक्षा रहती है वही आकांक्षा है। आकांक्षा रहित अर्थात् परस्पर निरपेक्ष गाय, अश्व, पुष्प, स्त्री आदि अनेक पदों के उच्चारण से वाक्य नहीं बनता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार भी साकांक्ष अर्थात् परस्पर सापेक्ष पद ही वाक्य की रचना करने में समर्थ होते हैं।

(२) योग्यता—‘योग्यता’ का तात्पर्य है कि अभिहित पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में विरोध या बाधा नहीं होना चाहिए अर्थात् उनमें पारस्परिक सम्बन्ध की सम्भावना होना चाहिए। उदाहरणार्थ ‘आग से सींचो’ इस पद समुदाय में वाक्यार्थ बोध की योग्यता नहीं है, क्योंकि आग का सींचने से कोई सम्बन्ध नहीं है। यथार्थतः असम्बन्धित या सम्बन्ध की योग्यता से रहित पदों से वाक्य नहीं बनता है।

(३) सन्निधि—सन्निधि का तात्पर्य है, एक ही व्यक्ति द्वारा बिना लम्बे अन्तराल के पदों का उच्चारण होना। न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा बिना अन्तराल के अर्थात् एक साथ बोले गये पदों से वाक्य बनते हैं और न एक ही व्यक्ति द्वारा लम्बे अन्तराल अर्थात् घण्टे-घण्टे भर बाद बोले गये पदों के उच्चारण से वाक्य बनता है।

(४) तात्पर्य—वक्ता के अभिप्राय को तात्पर्य कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार—यह भी वाक्यार्थ के बोध की आवश्यक शर्त है। बिना वक्ता के अभिप्राय को समझे वाक्यार्थ का सम्यक् निर्णय सम्भव नहीं होता है। विशेष रूप से तब जब कि वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द द्व्यर्थक हो, जैसे ‘सन्धव’ लाओ—इस वाक्य का सम्यक् अर्थ वक्ता के अभिप्राय के अभाव में नहीं जाना जा सकता है। इसी प्रकार जब कोई शब्द किसी विशिष्ट अर्थ या व्यंग के रूप में प्रयुक्त किया गया हो या फिर वाक्य में कोई पद अव्यक्त रह गया हो। विभक्ति प्रयोग वक्ता के तात्पर्य को समझने का एक आधार है।

संक्षेप में, पदों को सुनने से प्रथम अनन्वित (असम्बन्धित) पदार्थ उपस्थित होते हैं फिर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य अर्थात् विभक्ति प्रयोग के आधार पर उनके परस्पर सम्बन्ध का बोध होकर वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है।

#### अभिहितान्वयवाद की समीक्षा<sup>१</sup>

जैन तार्किक प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में कुमारिलभट्ट के अभिहितान्वयवाद की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि यदि वाक्य को सुनकर प्रथम परस्पर असम्बन्धित या अनन्वित पदार्थों का बोध होता है और फिर उनका पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय ज्ञात होता है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उनका यह अन्वय (सम्बन्धीकरण) किस आधार पर होता है? क्या वाक्य से बाह्य किन्हीं अन्य शब्दों/पदों के द्वारा इनका अन्वय या पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है या बुद्धि (ज्ञान) के द्वारा इनका अन्वय ज्ञात होता है? प्रथम विकल्प मान्य नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण पदों के अर्थों को विषय करने वाला ऐसा कोई अन्वय का निमित्तभूत अन्य शब्द ही नहीं है। पुनः जो शब्द/पद वाक्य में

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) पृ० ४६४-४६५



अनुपस्थित हैं उनके द्वारा वाक्यस्थ पदों का अन्वय नहीं हो सकता है। यदि दूसरे विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि ये बुद्धि के द्वारा अन्वित होते हैं या बुद्धितत्त्व इनमें अन्वय/सम्बन्ध देखता है तो इससे कुमारिल का अभिहितान्वयवाद का सिद्ध न होकर उसका विरोधी सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद ही सिद्ध होता है। क्योंकि पदों को परस्पर अन्वित रूप में देखने वाली बुद्धि तो स्वयं ही भाववाक्य रूप है। यद्यपि कुमारिल की ओर से यह कहा जा सकता है कि चाहे वाक्य अपने परस्पर अन्वित पदों से भिन्न नहीं हो क्योंकि वह उन्हीं से निमित्त होता है, किन्तु उसके अर्थ का बोध तो उन अनन्वित पदों के अर्थ के बोध पर ही निर्भर करता है, जो सापेक्ष बुद्धि में परस्पर सम्बन्धित या अन्वित प्रतीत होते हैं। इसके प्रत्युत्तर में जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र का तर्क यह है कि पद अपने धातु, लिग, विभक्ति, प्रत्यय आदि से भिन्न नहीं है, क्योंकि जब वे कहे जाते हैं तब अपने अवयवों सहित कहे जाते हैं और उनके अर्थ का बोध उनके परस्पर अन्वित अवयवों के बोध से होता है, अर्थात् चाहे वाक्य का हो या पद का हो, हमें जो भी बोध होता है वह अन्वितों का होता है, अनन्वितों का नहीं होता है। यद्यपि अपने अभिहितान्वयवाद के समर्थन हेतु कुमारिल यह तर्क भी दे सकते हैं कि लोक व्यवहार एवं वेदों में वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए निरंश शब्द/पद का प्रयोग होता है, धातु लिग विभक्ति या प्रत्यय का पृथक् प्रयोग नहीं होता है धातु, लिग, विभक्ति, प्रत्यय आदि तो उनकी व्युत्पत्ति समझाने के लिए उनसे पृथक् किये जाते हैं। एक शब्द एक वर्ण के समान अनवयव (निरंश) होता है, उसके अर्थ को समझने के लिए कल्पना के द्वारा उसके अवयवों को एक दूसरे से पृथक् किया जाता है। वह तो अपने में निरंश होने के कारण अनन्वित ही होता है, अनन्वय तो किया जाता है। कुमारिल के इस तर्क के विषुद्ध प्रभाचन्द्र का कहना है कि जिस आधार पर शब्द को अपने अर्थ-बोध के लिए निरंश अखण्ड इकाई माना जा सकता है उसी आधार पर वाक्य को भी निरंश माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि वाक्य की संरचना को स्पष्ट करने के लिए शब्दों को (कल्पना में) पृथक् किया जाता है। परन्तु: वाक्य अखण्ड इकाई है अतः उसमें अन्वितों का ही अभिधान होता है। लोक व्यवहार में एवं वेदों में वाक्यों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि पदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति के लिए किया जा सके। वाक्यार्थ ही क्रिया का प्रेरक होता है, पदार्थ नहीं। अतः वाक्य को एक इकाई मानना होगा और इस रूप में वह अन्वित पदों का ही अभिधान करेगा।

इस प्रकार प्रभाचन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार शब्द, शब्द से धातु, लिग, प्रत्यय आदि आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होते हैं उसी प्रकार वाक्य से पद भी आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होता है। प्रथम तो पद अपने वाक्य के घटक पदों से अन्वित या सम्बद्ध होता है और अन्य वाक्य के घटक पदों से अनन्वित या असम्बद्ध होता है। साथ ही वह अन्वित होकर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है दूसरे द्रव्यवाक्य में शब्द अलग-अलग होते हैं किन्तु भाववाक्य (बुद्धि) में वे परस्पर सम्बन्धित या अन्वित होते हैं।

मेरी दृष्टि में यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वाक्यों से पृथक् शब्दों का अपना अर्थ होता हो, किन्तु जब वे वाक्य में प्रयुक्त किये गये हों, तब उनका वाक्य से स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं रह जाता है। उदाहरण के रूप में शतरंज खेलते समय उच्चरित वाक्य यथा—'राजा मर गया' या 'मैं तुम्हारे राजा को मार दूँगा'—में पदों के वाक्य से स्वतन्त्र अपने निजी अर्थों से वाक्यार्थ बोध में कोई सहायता नहीं मिलती है। यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का एक विशिष्ट अर्थ होता है जो प्रयुक्त शब्दों/पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों पर बिलकुल ही निर्भर नहीं करता है। अतः यह मानना कि वाक्यार्थ के प्रति अनन्वित पदों के अर्थ ही कारणभूत है, न्यायसंगत नहीं है।

## अन्विताभिधानवाद पूर्वपक्ष

मीमांसा दर्शन के दूसरे प्रमुख आचार्य प्रभाकर के मत को अन्विताभिधानवाद कहा गया है। जहाँ कुमारिल भट्ट अपने अभिहितान्वयवाद में यह मानते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पहले पदार्थ अभिहित होता है और उसके बाद उन पदार्थों के अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है—वहाँ प्रभाकर अपने अन्विताभिधानवाद में यह मानते हैं कि अन्वित पदार्थों का ही अभिधा शक्ति से बोध होता है। वाक्य में पद परस्पर सम्बन्धित होकर ही वाक्यार्थ का बोध



कराते हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान (अन्वय) से वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य से प्रयुक्त पदों का सामूहिक या समग्र अर्थ होता है और वाक्य से पृथक् उनका कोई अर्थ नहीं होता है।<sup>1</sup>

इस सिद्धान्त में पद से पदार्थ-बोध के पश्चात् उनके अन्वय को न मानकर वाक्य को सुनकर सीधा अन्वित पदार्थों का ही बोध माना गया है। इसलिए इस सिद्धान्त में तात्पर्य-शक्ति की भी आवश्यकता नहीं मानी गई है। इस मत के अनुसार/पदों को सुनकर संकेत ग्रहण केवल या अन्वित पदार्थ में नहीं होता है, अपितु किसी के साथ अन्वित या सम्बन्धित पदार्थ में ही होता है। अतएव अभिहित का अन्वय न मानकर अन्वित का अभिधान मानना चाहिए, यही इस मत का सार है। यह मत मानता है कि वाक्यार्थ वाच्य ही होता है, तात्पर्य शक्ति से बाद को प्रतीत नहीं होता है।

उदाहरण के रूप में, ताण खेलते समय उच्चरित वाक्य 'ईंट चनो' के अर्थबोध में प्रथम पदों के अर्थ का बोध फिर उनके अन्वय से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है, अस्तु सीधा ही वाक्यार्थ का बोध होता है। क्योंकि यहाँ ईंट शब्द ईंट का वाचक न होकर ईंट की आकृति से युक्त ताण के पत्तों का वाचक है और चलना शब्द गमन क्रिया का वाचक न होकर पत्ता डालने का वाचक है। इस आधार पर अन्विताभिधान की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में पद परस्पर अन्वित प्रतीत होते हैं। प्रत्येक पूर्ववर्ती पद अपने परवर्ती पद से अन्वित होकर ही वाक्यार्थ बोध कराता है अतः वाक्य को सुनकर अन्वितों का ही अभिधान (ज्ञान) होता है।

यद्यपि यह सिद्धान्त यह मानता है कि पद अपने अर्थ का स्मारक (स्मरण कराने वाला) होता है किन्तु वाक्यार्थ के बोध में वह अन्य पदों से अन्वित (सम्बद्ध) होकर ही अर्थबोध देता है अपना स्वतन्त्र अर्थबोध नहीं देता है।

#### अन्विताभिधानवाद की समीक्षा<sup>2</sup>

प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं—

प्रथमतः यदि यह माना जाता है कि वाक्य के पद परस्पर अन्वित अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्धित होकर ही अनुभूत होते हैं अर्थात् अन्वित रूप में ही उनका अभिधान होता है तो फिर प्रथम पद के श्रवण से वाक्यार्थ का बोध हो जाता चाहिए। ऐसी स्थिति में अन्य पदों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जायेगा। साथ ही प्रथम पद को वाक्यत्व प्राप्त हो जायेगा अथवा वाक्य का प्रत्येक पद स्वतन्त्र रूप से वाक्यत्व का प्राप्त कर लेगा। पूर्वोक्त पदों के परस्पर अन्वित होने के कारण एक पद के श्रवण से ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जायेगा। प्रभाचन्द्र के इस तर्क के विरोध में यदि अन्विताभिधानवाद की ओर से यह कहा जाये कि अविबक्षित (अवाञ्छित) पदों के व्यवच्छेद (निषेध) के लिए अन्य पदों का उच्चारण व्यर्थ नहीं माना जा सकता है तो जैन दर्शन का प्रयुक्त यह होगा कि ऐसी स्थिति में अन्वित प्रथम पद के द्वारा जो प्रतिपत्ति (अर्थबोध) हो चुकी है, वाक्य के अन्य पदों के द्वारा मात्र उसकी पुनरुक्ति होगी अतः पुनरुक्ति का दोष तो होगा ही। यद्यपि यहाँ अपने बचाव के लिए अन्विताभिधानवादी यह कह सकते हैं कि प्रथम पद के द्वारा जिस वाक्यार्थ का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ है अन्य पद उसके सहायक के रूप में गौण रूप से उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं अतः यहाँ पुनरुक्ति का दोष नहीं होता है किन्तु जैनों को उनकी यह दलील मान्य नहीं है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की यह मान्यता भी समुचित नहीं है कि पूर्व-पदों के अभिधेय से अन्वित अन्तिमपद के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सम्बन्ध में जैन तार्किक का कहना है कि जब सभी पद परस्पर अन्वित हैं तो फिर यह मानने का क्या आधार है कि केवल अन्तिम पद के अन्वित अर्थ की प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ का बोध होता है और अन्य पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है।

1 देखें—काव्य प्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर) पृ० 37

2 प्रमेयकमलमार्तण्ड 3/101, पृ० 459-464



प्रभाकर अपने अन्विताभिधानवाद के पक्ष में यह तर्क दे सकते हैं कि उच्चार्यमान पद का अर्थ अभिधीयमानपद (जाने गये पूर्ववर्ती पद) से अन्वित न होकर गम्यमान अर्थात् पदान्तरों से गोचरीकृत पद (ज्ञात होने वाले उत्तरवर्ती पद) से अन्वित होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पूर्व-पद अपने उत्तरपद से अन्वित होता है। अतः किसी एक पद से ही वाक्यार्थ का बोध होना सम्भव नहीं होगा। उनकी इस अवधारणा की समालोचना में जैनों का कहना है कि प्रत्येक पूर्वपद का अर्थ केवल अपने उत्तरपद से अन्वित होता है, ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि अन्वय-सम्बद्धता सापेक्ष होती है अतः उत्तरपद भी पूर्वपद से अन्वित होगा। इसलिए केवल अन्तिम पद से ही वाक्यार्थ का बोध मानना स्वयं अन्विताभिधानवाद की दृष्टि से तो तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में मीमांसक प्रभाकर कह सकते हैं कि पदों के दो कार्य होते हैं। प्रथम, अपने अर्थ का कथन करना और दूसरा, पदान्तर के अर्थ में गमक व्यापार अर्थात् उनका स्मरण कराना। अतः अन्विताभिधानवाद मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु जैनों की दृष्टि में उनका यह मानना भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि पद-व्यापार से समान अर्थ-बोध होने पर भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानना उचित नहीं है।

पुनः प्रभाचन्द्र की ओर से यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि बुद्धिमान व्यक्ति पद का प्रयोग पद के अर्थ-बोध के लिए करते हैं या वाक्यार्थ बोध के लिए? पद के अर्थबोध के लिए तो कर नहीं सकते क्योंकि पद प्रवृत्ति का हेतु नहीं है। यदि दूसरा विकल्प माना जाये कि पद का प्रयोग वाक्य के अर्थबोध के लिए करते हैं तो इससे अन्विताभिधानवाद ही सिद्ध होगा। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य प्रभाचन्द्र कहते हैं कि 'वृक्ष' पद के प्रयोग से शाखा, पल्लव आदि से युक्त अर्थ का बोध होता है। उस अर्थबोध से 'तिष्ठति' इत्यादि पद स्थान आदि विषय का सामर्थ्य से बोध कराते हैं। स्थान आदि से अर्थबोध में 'वृक्ष' पद की साक्षात् प्रवृत्ति नहीं होने से उसे उस अर्थ-बोध का कारण नहीं माना जा सकता है। यदि यह माना जाए कि वृक्षपद 'तिष्ठति' पद के अर्थ-बोध में परस्पर से अर्थात् परोक्षरूप से कारण होता है तो मानना इसलिए समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी मानना होगा कि हेतु वचन की साध्य की प्रतिपत्ति में प्रवृत्ति होने के कारण अनुमान ज्ञान शब्दिक ज्ञान है, जो कि तर्कसंगत नहीं है।

पुनः मीमांसक प्रभाकर इसके प्रत्युत्तर में यदि कहें कि हेतु-वाचक शब्द से होने वाली हेतु की प्रतीति ही शब्द-ज्ञान है, शब्द से ज्ञात हेतु के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है उसे शाब्दिक ज्ञान न मानकर अनुमान ही मानना होगा अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा तो जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर में कहेंगे कि फिर वृक्ष शब्द से स्थानादि की प्रतीति में भी अतिप्रसंग दोष तो मानना होगा। क्योंकि जिस प्रकार हेतु शब्द का व्यापार अपने अर्थ (विषय) की प्रतीति कराने तक ही सीमित है उसी प्रकार वृक्ष शब्द का व्यापार भी अपने अर्थ की प्रतीति तक ही सीमित होगा।

जैन दार्शनिकों की अन्विताभिधान के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि विशेष्यपद विशेष्य को विशेषण सामान्य से या विशेष-विशिष्ट से या विशेषण-उभय अर्थात् सामान्य-विशेष दोनों से अन्वित करके कहेगा? प्रथम विकल्प अर्थात् विशेष्य विशेषण सामान्य से अन्वित होता है यह मानने पर विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है—क्योंकि विशेष्य पद सामान्य विशेषण से अन्वित होने पर विशेष वाक्यार्थ का बोध नहीं करा पायेगा। दूसरा विकल्प मानने पर निश्चयात्मक ज्ञान संभव नहीं होगा—क्योंकि (मीमांसकों के अनुसार) शब्द से जिसका निर्देश किया गया है, ऐसे प्रतिनियत विशेषण से अपने उक्त विशेष्य का अन्वय करने में संशय उत्पन्न होगा। क्योंकि विशेष्य में दूसरे अनेक विशेषण भी सम्भव हैं अतः यह विशेष्य अमुक विशेषण से ही अन्वित है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकेगा। यदि पूर्वपक्ष अर्थात् मीमांसक प्रभाकर की ओर से यह कहा जाये कि वक्ता के अभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उस विशेष्य में अन्वय हो जाता है तो यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि जिस पुरुष के प्रति शब्द का उच्चारण किया गया है उसे तो वक्ता का अभिप्राय ज्ञात नहीं होता है अतः विशेष्य के बारे में विशेषण का निर्णय सम्भव नहीं होगा। यदि यह कहा जाये कि वक्ता को अपने अभिप्राय का बोध होता ही है अतः वह तो प्रतिनियत विशेषण का निश्चय कर ही लेगा।



किन्तु ऐसा मानने पर शाब्दिक कथन करना अनावश्यक होगा क्योंकि शब्द का कथन दूसरों को अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिए होता है, स्वयं अपने लिए नहीं। तीसरा विकल्प अर्थात् विशेष्यपद विशेष्य को उभय अर्थात् विशेषण सामान्य और विशेषण-विशेष से अन्वित कहता है, मानने पर उभयपक्ष के दोष आवेंगे अर्थात् न तो विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होगा और न निश्चयात्मक ज्ञान होगा।

इसी प्रकार की आपत्तियाँ विशेष्य को क्रियापद और क्रियाविशेषण से अन्वित मानने के सम्बन्ध में भी उपस्थित होंगी। पुनः पूर्वपक्ष के रूप में सीमांकक प्रभाकर यदि यह कहे कि पद से पदांतर अर्थ का निश्चय होता है और फिर वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है किन्तु ऐसा मानने पर तो रूपादि के ज्ञान से गंधादि का निश्चय भी मानना होगा, जो कि तर्कसंगत नहीं है। अतः अन्विताभिधानवाद अर्थात् पदों से पदान्तरो के अर्थों का ही कथन होता है और अन्वित पदों के अर्थ की प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा प्रभाकर का मत श्रेयस्कर नहीं।

वस्तुतः अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। जैन दार्शनिक अभिहितान्वयवाद की इस अवधारणा से सहमत हैं कि पदों (शब्दों) का वाक्य से स्वतन्त्र अपना निजी अर्थ भी होता है किन्तु साथ ही वे अन्विताभिधानवाद से सहमत होकर यह भी मानते हैं कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य पदों पर आश्रित होता है अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पद परस्पर अन्वित या सम्बन्धित होते हैं। सम्पूर्ण वाक्य के श्रवण के पश्चात् ही हमें वाक्यार्थ का बोध होता है उसमें पद परस्पर अन्वित या सापेक्ष ही होते हैं, निरपेक्ष नहीं हैं—क्योंकि निरपेक्ष पदों से वाक्य की रचना ही संभव नहीं होती है। जिस प्रकार शब्द अपने अर्थबोध के लिए वर्ण-सापेक्ष होते हैं, उसी प्रकार पद अपने अर्थबोध के लिए वाक्य-सापेक्ष होते हैं। जैनाचार्यों के अनुसार परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य होते हैं। अतः वाक्यार्थ का बोध पद-सापेक्ष और पद के अर्थ का बोध वाक्य-सापेक्ष है।

यद्यपि इस समग्र विवाद के मूल में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ कार्य कर रही हैं। अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य पद-सापेक्ष होता है। वे वाक्य में पदों की सत्ता को महत्वपूर्ण मानते हैं। पद ही वह इकाई है, जिस पर वाक्यार्थ निर्भर करता है। जबकि अन्विताभिधानवाद में पदों का अर्थ वाक्य-सापेक्ष है। वाक्य से स्वतन्त्र वे न तो पदों की कोई सत्ता ही मानते हैं और न उनका कोई अर्थ ही है। वे वाक्य को ही एक इकाई मानते हैं। अभिहितान्वयवाद में पद मुख्य और वाक्य गौण है जबकि अन्विताभिधानवाद में वाक्य मुख्य और पद गौण है, यही दोनों का मुख्य अन्तर है जबकि जैन दार्शनिक पद और वाक्य दोनों को परस्पर सापेक्ष और वाक्यार्थ से बोध में समान रूप से बलशाली एवं आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार वे इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करते हुए कहते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पद और वाक्य दोनों की ही महत्वपूर्ण भूमिका है अतः किसी एक पर बल देना समीचीन नहीं है। पद और वाक्य न तो एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं और न पूर्णतः अभिन्न हैं अतः वाक्यार्थ बोध में कियों की भी उपेक्षा सम्भव नहीं है।



पुष्प-सूक्ति-कलियाँ—□

आरोग्य का इच्छुक दूषित आहार-विहार व गन्दे वातावरण से परहेज करता है उसी प्रकार, श्रावक या लोक-सेवक, समाज सेवक, व्यक्तिगत स्वार्थों और क्षुद्र लोभ आदि से अपने को दूर रखे।

□ ————— पुष्प-सूक्ति-कलियाँ

जैन वाक्य दर्शन : डा० सागरमल जैन | ५१





भारतीय न्याय के परिप्रेक्ष्य में

## जैन-न्याय में अनुमान-विमर्श,

—डा. दरबारीलाल कोठिया

जैन वाङ्मय में अनुमान का क्या रूप है और उसका विकास किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में हम प्रस्तुत में विचार करेंगे।

### (क) षट्खण्डागम में हेतुवाद का उल्लेख

जैन श्रुत का आलोचन करने पर ज्ञात होता है कि षट्खण्डागम में श्रुत के पर्याय-नामों में एक 'हेतुवाद'<sup>1</sup> नाम भी परिगणित है, जिसका व्याख्यान आचार्य वीरसेनने 'हेतु द्वारा तत्सम्बद्ध अन्यवस्तु का ज्ञान करना' किया है और जिस पर से उसे स्पष्टतया अनुमानार्थक माना जा सकता है, क्योंकि अनुमान का भी 'हेतु से साध्य का ज्ञान करना' अर्थ है। अतएव हेतुवाद का व्याख्यान हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, युक्तिशास्त्र और अनुमानशास्त्र किया जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने सम्भवतः ऐसे ही शास्त्र को 'युक्त्यनुशासन'<sup>2</sup> कहा है और जिसे उन्होंने दृष्ट (प्रत्यक्ष) और आगम से अविरुद्ध अर्थ का प्ररूपक बतलाया है।

### (ख) स्थानांगसूत्र में हेतु-निरूपण

स्थानांगसूत्र<sup>3</sup> में 'हेतु' शब्द प्रयुक्त है और इसका प्रयोग प्रमाण सामान्य<sup>4</sup> तथा अनुमान के प्रमुख अंग हेतु (साधन) दोनों के अर्थ में हुआ है। प्रमाण सामान्य के अर्थ में उसका प्रयोग इस प्रकार है—

१. हेतु चार प्रकार का है—

- (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) आगम

गौतम के न्यायसूत्र में भी ये चार भेद अभिहित हैं। पर वहाँ इन्हें प्रमाण के भेद कहा है।

हेतु के अर्थ में हेतु शब्द निम्न-प्रकार व्यवहृत हुआ है—

२. हेतु के चार भेद हैं—

- (१) विधि-विधि—(साध्य और साधन दोनों सद्भावरूप हों)  
 (२) विधि-निषेध—(साध्य विधिरूप और साधन निषेधरूप)  
 (३) निषेध-विधि—(साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप)  
 (४) निषेध-निषेध—(साध्य और साधन दोनों निषेध रूप हों)

इन्हें हम क्रमशः निम्न नामों से व्यवहृत कर सकते हैं—

- (१) विधिसाधक विधिरूप<sup>5</sup> अविरुद्धोपलब्धि<sup>6</sup>  
 (२) विधिसाधक निषेधरूप विरुद्धानुपलब्धि

५२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शांग, इतिहास और साहित्य



- |                              |                                |
|------------------------------|--------------------------------|
| (३) निषेधसाधक विधिरूप        | विरुद्धोपलब्धि                 |
| (४) प्रतिषेधसाधक प्रतिषेधरूप | अविरुद्धानुपलब्धि <sup>7</sup> |

इनके उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं—

- (१) अग्नि है, क्योंकि धूम है ।
- (२) इस प्राणी में व्याघ्रविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है ।
- (३) यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है ।
- (४) यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है ।

### (ग) भगवतीसूत्र में अनुमान का निर्देश

भगवतीसूत्र<sup>8</sup> में भगवान् महावीर और उनके प्रधान शिष्य गीतम (इन्द्रभूति) गणधर के संवाद में प्रमाण के पूर्वोक्त चार भेदों का उल्लेख आया है, जिनमें अनुमान भी सम्मिलित है ।

### (घ) अनुयोगद्वारसूत्र में अनुमान-निरूपण

अनुमान की कुछ अधिक विस्तृत चर्चा अनुयोगद्वारसूत्र में उपलब्ध होती है । इसमें अनुमान के भेदों का निर्देश करके उनका सोदाहरण निरूपण किया गया है ।

#### १. अनुमान-भेद

इसमें<sup>9</sup> अनुमान के तीन भेद बताए हैं । यथा—

- (१) पुब्बवं (पूर्ववत्)
- (२) सेसवं (शेषवत्)
- (३) विट्ठसाहम्मवं (दृष्टसाधर्म्यवत्)

(१) पुब्बवं<sup>10</sup>—जो वस्तु पहले देखी गयी थी, कालान्तर में किञ्चित् परिवर्तन होने पर भी उसे प्रत्यभिज्ञा द्वारा पूर्व लिंगदर्शन से अवगत करना 'पुब्बवं' अनुमान है । जैसे बच्चपन में देखे गये बच्चे को युवावस्था में किञ्चित् परिवर्तन के साथ देखने पर भी पूर्व-चिह्नों द्वारा ज्ञात करना कि 'वही शिशु' है । यह 'पुब्बवं' अनुमान क्षत्र, वर्ण, लक्षण, मस्सा और तिल प्रभृति चिह्नों से सम्पादित किया जाता है ।

(२) सेसवं<sup>11</sup>—इसके हेतुभेद से पाँच भेद हैं—

- (क) कार्यानुमान
- (ख) कारणानुमान
- (ग) गुणानुमान
- (घ) अवयवानुमान
- (ङ) आश्रयी-अनुमान

(क) कार्यानुमान—कार्य से कारण को अवगत करना कार्यानुमान है । जैसे—शब्द के शंख को, ताड़न से भेरी को, ढाङने से वृषभ को, केकारव से मयूर को, हिनहिनाने (ह्लिषित) से अश्व को, गुलमुलायित (चिघाङने) से हाथी को और घणघणायित (घनघनाने) से रथ को अनुमित करना ।<sup>12</sup>

(ख) कारणानुमान—कारण से कार्य का अनुमान करना कारणानुमान है । जैसे—तन्तु से पट का, बीरण से कट का, मृत्पिण्ड से घड़े का अनुमान करना । तात्पर्य यह कि जिन कारणों से कार्यों की उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा उन कार्यों का अवगम प्राप्त करना 'कारण' नाम का 'सेसवं' अनुमान है ।<sup>13</sup>



(ग) गुणानुमान—गुण से गुणी का अनुमान करना गुणानुमान है। यथा—गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, स्पर्श से वस्त्र का और निकष से सुवर्ण का अनुमान करना।<sup>14</sup>

(घ) अवयवानुमान—अवयव से अवयवी का अनुमान करना अवयवानुमान है। यथा—सींग से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, शुण्डादण्ड से हाथी का, दाह से बराह का, पिच्छ से मयूर का, लांगूल से वानर का, खुर से अश्व का, नख से व्याघ्र का, बालाग्र से चमरी गाय का, दो पैर से मनुष्य का, चार पैर से गौ आदि का, बहुपाद से कनगोजर (पटार) का, केसर से सिंह का, फकुभ से वृषभ का, चूड़ीसहित बाहु से महिना का, बद्धपरिकरता से योद्धा का, निवास से महल का, धान्य के एक कण से द्रोणपाक का और एक गाय से कवि का अनुमान करना।<sup>15</sup>

(ङ) आश्रयी-अनुमान—आश्रयी से आश्रय का अनुमान करना आश्रयी-अनुमान है। यथा—धूम से अग्नि का, बलाका से जल का, विशिष्ट मेघों से वृष्टि का और शील-सदाचार से कुलपुत्र का अनुमान करना।<sup>16</sup>

शेषवत् के इन पाँचों भेदों में अविनाभावी एक से शेष (अवशेष) का अनुमान होने से उन्हें शेषवत् कहा है।

(३) द्विट्ठसाहस्रमव<sup>17</sup>—इस अनुमान के दो भेद हैं—

(क) सामान्यद्विट्ठ (सामान्य-दृष्ट)

(ख) विशेषद्विट्ठ (विशेष-दृष्ट)

(क) किसी एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओं का साधर्म्य ज्ञात करना या बहुत वस्तुओं को एक-सा देखकर किसी विशेष (एक) में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है। यथा—जैसा एक मनुष्य है, वैसे बहुत से मनुष्य हैं। जैसे बहुत से मनुष्य हैं, वैसे एक मनुष्य है। जैसा एक करिशावक है वैसे बहुत से करिशावक हैं। जैसे बहुत से करिशावक हैं, वैसे एक करिशावक है। जैसा एक कार्षापण है, वैसे अनेक कार्षापण हैं। जैसे अनेक कार्षापण हैं, वैसे एक कार्षापण है। इस प्रकार सामान्यधर्मदर्शन द्वारा ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान का प्रयोजन है।

(ख) जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान कराता है वह विशेषदृष्ट है। यथा—कोई एक पुरुष बहुत से पुरुषों के बीच में से पूर्वदृष्ट पुरुष का प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। या बहुत से कार्षापणों के मध्य में पूर्वदृष्ट कार्षापण को देखकर प्रत्यभिज्ञा करना कि यह वही कार्षापण है। इस प्रकार का ज्ञान विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है।

२. कालभेद से अनुमान का त्रैविध्य<sup>18</sup>

काल की दृष्टि से भी अनुयोग-द्वार में अनुमान के तीन प्रकारों का प्रतिपादन उपलब्ध है। यथा—१. अतीत-कालग्रहण, २. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और ३. अनागतकालग्रहण।

१. अतीतकालग्रहण—उत्तृण वन, निष्पन्नशस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीर्घिका तडाग आदि देखकर अनुमान करना कि सुवृष्टि हुई है, यह अतीतकालग्रहण अनुमान है।

२. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण—भिक्षाचर्या में प्रधुर भिक्षा मिलती देख अनुमान करना कि सुभिक्ष है, यह प्रत्युत्पन्नकालग्रहण अनुमान है।

३. अनागतकालग्रहण—बादल की निर्मलता, कृष्ण पहाड़, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन, वातोद्भ्रम, रक्त और प्रस्निग्ध संख्या, वारुण या माहेन्द्र सम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात उनको देखकर अनुमान करना कि सुवृष्टि होगी, यह अनागतकालग्रहण अनुमान है।

उक्त लक्षणों का विपर्यय देखने पर तीनों कालों के ग्रहण में विपर्यय भी हो जाता है। अर्थात् सूखी जमीन, शुष्क तालाब आदि देखने पर वृष्टि के अभाव का, भिक्षा कम मिलने पर वर्तमान दुर्भिक्ष का और प्रसन्न दिशाओं आदि

५४ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



के होने पर अनागत कुवृष्टि का अनुमान होता है, यह भी अनुयोगद्वार में उदाहरण अभिहित है। उल्लेखनीय है कि कालभेद से तीन प्रकार के अनुमानों का निर्देश चरक-सूत्रस्थान (अ० ११/२१, २२) में भी मिलता है।

न्यायसूत्र<sup>19</sup>, उपायहृदय<sup>20</sup> और सांख्यकारिका<sup>21</sup> में भी पूर्ववत् आदि अनुमान के तीन भेदों का प्रतिपादन है। उनमें प्रथम दो वही हैं जो ऊपर अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट हैं। किन्तु तीसरे भेद का नाम अनुयोगद्वार की तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोद्भूत है। अनुयोगद्वारगत पूर्ववत् जैसा उदाहरण उपायहृदय (प० १३) में भी आया है।

इन अनुमानभेद-प्रभेदों और उनके उदाहरणों के विवेचनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम के न्यायसूत्र में जिन अनुमानभेदों का निर्देश है वे उस समय की अनुमान चर्चा में वर्तमान थे। अनुयोगद्वार के अनुमानों की व्याख्या अभिधामूलक है। पूर्ववत् का शाब्दिक अर्थ है पूर्व के समान किसी वस्तु को वर्तमान में देखकर उसका ज्ञान प्राप्त करना। स्मरणीय है कि दृष्टव्य वस्तु पूर्वोत्तर काल में मूलतः एक ही है और जिसे देखा गया है उसके सामान्यधर्म पूर्व काल में भी विद्यमान रहते हैं और उत्तरकाल में भी वे पाये जाते हैं। अतः पूर्वदृष्ट के आधार पर उत्तरकाल में देखी वस्तु की जानकारी प्राप्त करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रक्रिया में पूर्वांश अज्ञात है और उत्तरांश ज्ञात। अतः ज्ञात से अज्ञात (अतीत) अंश की जानकारी (प्रत्यभिज्ञा) की जाती है। जैसा कि अनुयोगद्वार और उपायहृदय में दिये गये उदाहरण से प्रकट है। शेषवत् में कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी एवं आश्रय-आश्रयी में से अविनाभावी एक अंश को ज्ञात कर शेष (अवशिष्ट) अंश को माना जाता है। शेषवत् शब्द का अभिधेयार्थ भी यही है। साधर्म्य को देखकर तत्तुल्य का ज्ञान प्राप्त करना दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है। यह भी वाच्यार्थमूलक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के तुल्य हैं। पर शब्दायं क अनुसार यह अनुमान सामान्यदर्शन पर आश्रित है। दूसरे, प्राचीन काल में प्रत्यभिज्ञान को अनुमान ही माना जाता था। उसे पृथक् मानने की परम्परा दार्शनिकों में बहुत पीछे आयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुयोगद्वारसूत्र में उक्त अनुमानों की विवेचना पारिभाषिक न होकर अभिधामूलक है।

पर न्यायसूत्र के व्याख्याकार वात्स्यायन के उक्त तीनों अनुमान-भेदों की व्याख्या वाच्यार्थ के आधार पर नहीं की। उन्होंने उनका स्वरूप पारिभाषिक शब्दावली में ग्रथित किया है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि पारिभाषिक शब्दों में प्रतिपादित स्वरूप की अपेक्षा अवयवार्थ द्वारा विवेचित स्वरूप अधिक मौलिक एवं प्राचीन होता है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि अभिधा के अनन्तर ही लक्षणा या व्यंजना या रूढ़ शब्दावली द्वारा स्वरूप-निर्धारण किया जाता है। दूसरे, वात्स्यायन की त्रिविध अनुमान-व्याख्या अनुयोगद्वारसूत्र की अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं विकसित है। अनुयोगद्वारसूत्र में जिस तथ्य को अनेक उदाहरणों द्वारा उपस्थित किया है उसे वात्स्यायन ने संक्षेप में एक-दो पंक्तियों में ही निबद्ध किया है। अतः भाषा विज्ञान और विकास सिद्धान्त की दृष्टि से अनुयोगद्वार का अनुमान-निरूपण वात्स्यायन के अनुमान-व्याख्यान से प्राचीन प्रतीत होता है।

### ३. अवयव चर्चा

अनुमान के अवयवों के विषय में आगमों में तो कोई कथन उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उनके आधार से रचित तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थसूत्रकार<sup>23</sup> ने अवयव अवयवों का नामोल्लेख किये बिना पक्ष (प्रतिज्ञा), हेतु और दृष्टान्त इन तीनों के द्वारा मुक्त-जीव का ऊर्ध्वगमन सिद्ध किया है, इससे ज्ञात होता है कि आरम्भ में जैन परम्परा में अनुमान के उक्त तीन अवयव मान्य रहे हैं। समन्तभद्र<sup>25</sup>, पूज्यपाद<sup>24</sup> और सिद्धसेन<sup>25</sup> ने भी इन्हीं तीन अवयवों का निर्देश किया है। भद्रबाहु<sup>26</sup> ने दशकैकालिकनिर्युक्ति में अनुमानवाक्य के दो, तीन, पाँच, दश और दश इस प्रकार पाँच तरह से अवयवों की चर्चा की है। प्रतीत होता है कि अवयवों की यह विभिन्न संख्या विभिन्न प्रतिपाद्यों<sup>27</sup> की अपेक्षा बतलाई है।



ध्यातव्य है कि वास्त्यायन द्वारा समालोचित तथा युक्तिदीपिकाकार द्वारा विवेचित जिज्ञासादि दशावयव भद्रबाहु के दशावयवों से भिन्न हैं ।

उल्लेखनीय है कि भद्रबाहु ने मात्र उदाहरण से भी साध्य सिद्धि होने की बात कही है जो किसी प्राचीन परम्परा की प्रदर्शक है<sup>29</sup> ।

इस प्रकार जैनागमों में हमें अनुमान-मीमांसा के पुष्कल बीज उपलब्ध होते हैं । यह सही है कि उनका प्रतिपादन केवल निःश्रेयसाधिगम और उसमें उपयोगी तत्त्वों के ज्ञान एवं व्यवस्था के लिए ही किया गया है । यही कारण है कि उनमें न्यायदर्शन की तरह वाद, जल्प और वितण्डापूर्वक प्रवृत्त कथाओं, जातियों, निग्रहस्थानों, छलों और हेत्वादासों का कोई उल्लेख नहीं है ।

## ४. अनुमान का मूल-रूप

आगमोत्तर काल में जब ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसा का विकास आरम्भ हुआ तो उनके विकास के साथ अनुमान का भी विकास होता गया । आगम-वर्णित मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों को प्रमाण कहने और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो भेदों में विभक्त करने वाले सर्वप्रथम आचार्य गुद्धपिच्छ<sup>29</sup> हैं । उन्होंने<sup>30</sup> शास्त्र और लोक में व्यवहृत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन चार ज्ञानों को भी एक सूत्र द्वारा परोक्ष-प्रमाण के अन्तर्गत समाविष्ट करके प्रमाणशास्त्र के विकास का सूत्रपात किया तथा उन्हें परोक्ष प्रमाण के आद्यप्रकार मतिज्ञान का पर्याय प्रतिपादन किया । इन पर्यायों में अभिनिबोध का जिस क्रम से और जिस स्थान पर निर्देश हुआ है उससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार<sup>31</sup> ने उसे अनुमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है । स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व को प्रमाण और उत्तर-उत्तर को प्रमाण-फल बतलाना उन्हें अभीष्ट है । मति (अनुभव-धारणा) पूर्वक स्मृति, स्मृतिपूर्वक संज्ञा, संज्ञा-पूर्वक चिन्ता और चिन्तापूर्वक अभिनिबोध ज्ञान होता है, ऐसा सूत्र से ध्वनित है । यह चिन्तापूर्वक होने वाला अभिनिबोध अनुमान के अतिरिक्त अन्य नहीं है । अतएव जैन परम्परा में अनुमान का मूलरूप 'अभिनिबोध' और पूर्वोक्त 'हेतुवाद' में उसी प्रकार समाहित है जिस प्रकार वह वैदिक परम्परा में 'वाकोवाक्यम्' और 'आन्वीक्षिकी' में निविष्ट है ।

उपर्युक्त मीमांसा से दो तथ्य प्रकट होते हैं । एक तो यह कि जैन परम्परा में ईस्वी पूर्व शताब्दियों से ही अनुमान के प्रयोग, स्वरूप और भेद-प्रभेदों की समीक्षा की जाने लगी थी तथा उसका व्यवहार हेतुजन्य ज्ञान के अर्थ में होने लगा था । दूसरा यह कि अनुमान का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक था । स्मृति, संज्ञा और चिन्ता जिन्हें परवर्ती जैन ताकिकों ने परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वतन्त्र प्रमाणों का रूप प्रदान किया है, अनुमान (अभिनिबोध) में ही सम्मिलित थे । वादिराज<sup>32</sup> ने प्रमाणनिर्णय में सम्भवतः ऐसी ही परम्परा का निर्देश किया है जो उन्हें अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करती थी । अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव जैसे परोक्ष ज्ञानों का भी इसी में समावेश किया गया है ।<sup>33</sup>

## ५. अनुमान का ताकिक विकास

अनुमान का ताकिक विकास स्वामी समन्तभद्र से आरम्भ होता है । आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भ्रस्तोत्र में उन्होंने अनुमान के अनेकों प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उनके उपादानों—साध्य, साधन, पक्ष, उदाहरण, अविनाभाव आदि का निर्देश है । सिद्धसेन का न्यायावतार न्याय (अनुमान) का अवतार ही है । इसमें अनुमान का स्वरूप, उसके स्वार्थ-परार्थ द्विविध भेद, उनके लक्षण, पक्ष का स्वरूप, पक्ष प्रयोग पर बल, हेतु के तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति द्विविध प्रयोगों का निर्देश, साध्य-वैधर्म्य-हृष्टान्तद्वय, अन्तर्व्याप्ति के द्वारा ही साध्यसिद्धि होने पर भार, हेतु का अन्यथानुपपत्तिलक्षण, हेत्वाभास और हृष्टान्तभास जैसे अनुमानोपकरणों का प्रतिपादन किया गया है । अकलंक के न्याय-विवेचन ने तो उन्हें 'अकलंक-न्याय' का संस्थापक एव प्रवर्तक ही बना दिया है । उनके विशाल न्याय-प्रकरणों में न्यायविनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय जैन प्रमाण-शास्त्र के मूर्धन्य ग्रंथों में परिगणित हैं ।

५६ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्त जयपताका आदि ग्रन्थों में अनुमान चर्चा निहित है। विद्यानन्द ने अष्टसहस्री तत्त्वार्थश्लोकवातिक, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा जैसे दर्शन एवं न्याय-प्रबन्धों को रचकर जैन न्याय वाङ्मय को समृद्ध किया है। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख, प्रभाचन्द्र का प्रमेयवमलमातण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-युगल, अभयदेव की सम्मित-तर्कटीका, देवसूरि का प्रमाणनयतस्वालोकालंकार, अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय टीका, बादिराज का न्यायविनिश्चय-विवरण, लघुअनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्र की प्रमाण भीमांसा, धर्मभूषण की न्यायदीपिका और यशोविजय की जैन तर्कभाषा जैन अनुमान के विवेचक प्रमाण ग्रन्थ हैं।

### संक्षिप्त अनुमान-विवेचन

अनुमान का स्वरूप

व्याकरण के अनुसार 'अनुमान' शब्द की निष्पत्ति अनु + मा + ल्युट् से होती है। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है ज्ञान। अतः अनुमान का शाब्दिक अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान। अर्थात् एक ज्ञान के बाद होने वाला उत्तरवर्ती ज्ञान अनुमान है। यहाँ 'एक ज्ञान' से क्या तात्पर्य है? मनीषियों का अभिमत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक ज्ञान है जिसके अनन्तर अनुमान की उत्पत्ति या प्रवृत्ति पायी जाती है। गौतम ने इसी कारण अनुमान का 'तत्पूर्वकम्<sup>34</sup>—प्रत्यक्षपूर्वकम्' कहा है। वात्स्यायन<sup>35</sup> का भी अभिमत है कि प्रत्यक्ष के बिना कोई अनुमान सम्भव नहीं। अतः अनुमान के स्वरूप-लाभ में प्रत्यक्ष का सहकार पूर्वकारण के रूप में अपेक्षित होता है। अतएव तर्कशास्त्री ज्ञान—प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थ से अज्ञात—परोक्ष वस्तु को ज्ञानकारी अनुमान द्वारा करते हैं।<sup>36</sup>

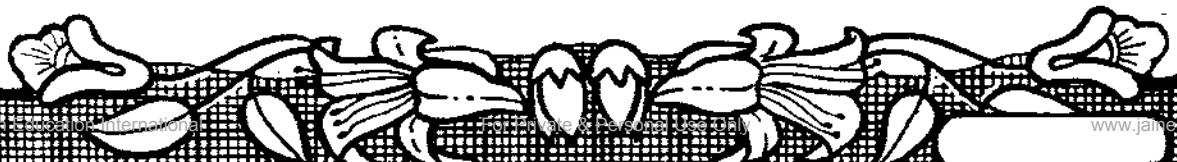
कभी-कभी अनुमान का आधार प्रत्यक्ष न रहने पर आगम भी होता है। उदाहरणार्थ, शास्त्रों द्वारा आत्मा की सत्ता का ज्ञान होने पर हम यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा शाश्वत है, क्योंकि वह सत् है।' इसी कारण वात्स्यायन<sup>37</sup> ने 'प्रत्यक्षागमाभ्रितमनुमानम्' अनुमान को प्रत्यक्ष या आगम पर आश्रित कहा है। अनुमान का पर्यायशब्द अन्वीक्षा<sup>38</sup> भी है, जिसका शाब्दिक अर्थ एक वस्तुज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् दूसरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है। यथा—धूम का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अग्नि का ज्ञान करना।

उपर्युक्त उदाहरण में धूम द्वारा बल्लि का ज्ञान इसी कारण होता है कि धूम बल्लि का साधन है। धूम को अग्नि का साधन या हेतु मानने का भी कारण यह है कि धूम का अग्नि के साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध अविनाभाव है। जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि अवश्य रहती है। इसका कोई अपवाद नहीं पाया जाता है। तात्पर्य यह कि एक अविनाभावी वस्तु के ज्ञान द्वारा तत्सम्बद्ध इतर वस्तु का निश्चय करना अनुमान है।<sup>40</sup>

अनुमान के अंग

अनुमान के उपर्युक्त स्वरूप का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि धूम से अग्नि का ज्ञान करने के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—१. पर्वत में धूम का रहना और २. धूम का अग्नि के साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध होना। प्रथम को पक्षधर्मता और द्वितीय को व्याप्ति कहा गया है। यही दो अनुमान के आधार अथवा अंग हैं।<sup>41</sup> जिस वस्तु से जहाँ सिद्धि करना है उसका वहाँ अनिवार्य रूप से पाया जाना पक्षधर्मता है। जैसे धूम से पर्वत में अग्नि की सिद्धि करना है तो धूम का पर्वत में अनिवार्य रूप से पाया जाना आवश्यक है। अर्थात् व्याप्य का पक्ष में रहना पक्षधर्मता है।<sup>42</sup> तथा साधनरूप वस्तु का साध्यरूप वस्तु के साथ ही सर्वदा पाया जाना व्याप्ति है। जैसे धूम अग्नि के होने पर ही पाया जाता है—इसके अभाव में नहीं, अतः धूम की बल्लि के साथ व्याप्ति है। पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों अनुमान के आधार हैं। पक्षधर्मता का ज्ञान हुए बिना अनुमान का उद्भव सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ—पर्वत में धूम की वृत्तित्ता का ज्ञान न होने पर वहाँ उससे अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता। अतः पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार व्याप्ति का ज्ञान भी अनुमान के लिए परमावश्यक है। यतः पर्वत में धर्मदर्शन के अनन्तर भी तब तक अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक धूम का अग्नि के साथ अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित न हो जाए।

जैन-न्याय में अनुमान-विमर्श : डॉ० दरबारीलाल कोठिया | ५७



इस अनिवार्य सम्बन्ध का नाम ही नियत साहचर्य सम्बन्ध या व्याप्ति है।<sup>43</sup> इसके अभाव में अनुमान की उत्पत्ति में धूम-ज्ञान का कुछ भी महत्व नहीं है। किन्तु व्याप्ति-ज्ञान के होने पर अनुमान के लिए उक्त धूमज्ञान महत्वपूर्ण बन जाता है और वह अग्निज्ञान को उत्पन्न कर देता है। अतः अनुमान के लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति इन दोनों के संयुक्त ज्ञान की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि जैन तार्किकों<sup>44</sup> ने व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमान के लिए आवश्यक माना है, पक्षधर्मता के ज्ञान को नहीं क्योंकि अपक्षधर्म कृतिकोदय आदि हेतुओं से भी अनुमान होता है।

## (क) पक्षधर्मता

जिस पक्षधर्मता का अनुमान के आवश्यक अंग के रूप में ऊपर निर्देश किया गया है उसका व्यवहार न्याय-शास्त्र में कब से आरम्भ हुआ, इसका यहाँ ऐतिहासिक विमर्श किया जाता है।

कणाद के वैशेषिकसूत्र और अक्षपाद के न्यायसूत्र में न पक्ष शब्द मिलता है और न पक्षधर्मता शब्द। न्यायसूत्र<sup>45</sup> में साध्य और प्रतिज्ञा शब्दों का प्रयोग पाया जाता है, जिनका न्यायभाष्यकार<sup>46</sup> ने प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्म अर्थ प्रस्तुत किया है और जिसे पक्ष का प्रतिनिधि कहा जा सकता है, पर पक्ष शब्द प्रयुक्त नहीं है। प्रशस्तपादभाष्य<sup>47</sup> में यद्यपि न्यायभाष्यकार की तरह धर्मों और न्यायसूत्र की तरह प्रतिज्ञा दोनों शब्द एकत्र उपलब्ध हैं। तथा लिंग को त्रिरूप बतला कर उन तीनों रूपों का प्रतिपादन काश्यप के नाम से दो कारिकाएँ उद्धृत करके किया है।<sup>48</sup> किन्तु उन तीन रूपों में भी पक्ष और पक्षधर्मता शब्दों का प्रयोग नहीं है।<sup>49</sup> हाँ, 'अनुमेय सम्बद्ध लिंग' शब्द अवश्य पक्षधर्मता का बोधक है। पर 'पक्षधर्म' शब्द स्वयं उपलब्ध नहीं है।

पक्ष और पक्षधर्मता शब्दों का स्पष्ट प्रयोग सर्वप्रथम सम्भवतः बौद्ध तार्किक शंकरस्वामी के न्यायप्रवेश<sup>50</sup> में हुआ है। इसमें पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, पक्षवचन, पक्षधर्म, पक्षधर्मवचन और पक्षधर्मत्व ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साथ में उनका स्वरूप-विवेचन भी किया है। जो धर्मों के रूप में प्रसिद्ध हैं वह पक्ष है। 'शब्द अनित्य है' ऐसा प्रयोग पक्षवचन है। 'क्योंकि वह कृतक है' ऐसा वचन 'पक्षधर्म' (हेतु) वचन है। 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, यथा घटादि' इस प्रकार का वचन 'सपक्षानुगम (सपक्षसत्त्व)' वचन है। 'जो नित्य होता है वह अब तक देखा गया है, यथा आकाश' यह 'व्यतिरेक (विपक्षसत्त्व)' वचन है। इस प्रकार हेतु को त्रिरूप प्रतिपादन करके उसके तीनों रूपों का भी स्पष्टीकरण किया है। वे तीन रूप हैं—१. पक्षधर्मत्व, २. सपक्षसत्त्व और ३. विपक्षसत्त्व। ध्यान रहे, यहाँ 'पक्षधर्मत्व' पक्षधर्मता के लिए ही आया है। प्रशस्तपाद ने जिस तथ्य को 'अनुमेयसम्बद्धत्व' शब्द से प्रकट किया है उसे न्यायप्रवेशकार ने 'पक्षधर्मत्व' शब्द द्वारा बतलाया है। तात्पर्य यह कि प्रशस्तपाद के मत से हेतु के तीन रूपों में परिगणित प्रथम रूप 'अनुमेयसम्बद्धत्व' है और न्यायप्रवेश के अनुसार 'पक्षधर्मत्व'। दोनों में केवल शब्द-भेद है, अर्थभेद नहीं। उत्तरकाल में तो प्रायः सभी भारतीय तार्किकों के द्वारा तीन रूपों अथवा पांच रूपों के अन्तर्गत पक्षधर्मत्व का बोधक पक्षधर्मत्व या पक्ष धर्मता पद ही अभिप्रेत हुआ है। उद्योतकर<sup>51</sup>, वाचस्पति<sup>52</sup>, उदयन<sup>53</sup>, मंगेश,<sup>54</sup> केशव<sup>55</sup> भ्रूति वैदिक नैयायिकों तथा धर्मकोटि<sup>56</sup>, धर्मोत्तर<sup>57</sup>, अचंठ<sup>58</sup> आदि बौद्धतार्किकों ने अपने ग्रन्थों में उसका प्रतिपादन किया है। पर जैन नैयायिकों ने<sup>59</sup> पक्षधर्मता पर उतना बल नहीं दिया, जितना व्याप्ति पर दिया है। सिद्धसेन<sup>60</sup>, अकलंक<sup>61</sup>, विशानन्द<sup>62</sup>, वादीभसिंह<sup>63</sup> आदि ने तो उसे अनावश्यक एवं व्यर्थ भी बतलाया है। उनका मन्तव्य है<sup>64</sup> कि 'कल सूर्य का उदय होगा, क्योंकि वह आज उदय हो रहा है,' 'कल शनिवार होगा, क्योंकि आज शुक्रवार है,' 'ऊपर देश में वृष्टि हुई है, क्योंकि अधोदेश में प्रवाह दृष्टिगोचर हो रहा है,' 'अद्वैतवादी को भी प्रमाण इष्ट है, क्योंकि इष्ट का साधन और अनिष्ट का दूषण अन्यथा नहीं हो सकता' जैसे प्रचुर हेतु पक्षधर्मता के अभाव में भी मात्र अन्तर्व्याप्ति के बल पर साध्य के अनुमापक हैं।

## (ख) व्याप्ति

अनुमान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य अंग व्याप्ति है। इसके होने पर ही साधन साध्य का



गमक होता है, उसके अभाव में नहीं। अतएव इसका दूसरा नाम 'अविनाभाव' भी है। देखना है कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग कब से आरम्भ हुआ है।

अक्षपाद<sup>65</sup> के न्यायसूत्र और वात्स्यायन<sup>66</sup> के न्यायभाष्य में न व्याप्ति शब्द उपलब्ध होता है और न अविनाभाव। न्यायभाष्य<sup>67</sup> में मात्र इतना मिलता है कि लिग और लिगी में सम्बन्ध होता है अथवा वे सम्बद्ध होते हैं। पर वह सम्बन्ध व्याप्ति अथवा अविनाभाव है, इसका वहाँ कोई निर्देश नहीं है। गौतम के हेतु लक्षण-प्रदर्शक सूत्रों<sup>68</sup> से भी केवल यही ज्ञात होता है कि हेतु वह है जो उदाहरण के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से साध्य का साधन करे। तात्पर्य यह कि हेतु को पक्ष में रहने के अतिरिक्त पक्ष में विद्यमान और विपक्ष से व्यावृत्त होना चाहिए, इतना ही अर्थ हेतु-लक्षण सूत्रों में ध्वनित होता है, हेतु को व्याप्त (व्याप्तिविशिष्ट या अविनाभावी) भी होना चाहिए, इसका उनसे कोई संकेत नहीं मिलता है। उद्योतकर<sup>69</sup> के न्यायवातिक में अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्द प्राप्त हैं। पर उद्योतकर ने उन्हें परमत के रूप में प्रस्तुत किया है तथा उनकी आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायवातिककार को भी न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकार की तरह अविनाभाव और व्याप्ति दोनों अमान्य हैं। उल्लेख्य है कि उद्योतकर अविनाभाव और व्याप्ति की आलोचना (न्यायवा० १/१/५, पृष्ठ ५४, ५५) कर तो गये। पर स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था में उनका उपयोग उन्होंने असन्दिग्ध रूप में किया है।<sup>70</sup> उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्र<sup>71</sup> ने अविनाभाव को हेतु के पाँच रूपों में समाप्त कह कर उसके द्वारा ही समस्त हेतु रूपों का संग्रह किया है। किन्तु उन्होंने भी अपने कथन को परम्परा-विरोधी समझ कर अविनाभाव का परित्याग कर दिया है और उद्योतकर के अभिप्रायानुसार पक्ष-धर्मत्वादि पाँच हेतुरूपों को ही महत्व दिया है, अविनाभाव को नहीं। जयन्त भट्ट<sup>72</sup> ने अविनाभाव को स्वीकार करते हुए भी उसे पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपों में समाप्त बतलाया है।

इस प्रकार वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट के द्वारा जब स्पष्टतया अविनाभाव और व्याप्ति का प्रवेश न्याय-परम्परा में हो गया तो उत्तरवर्ती न्यायग्रन्थकारों ने उन्हें अपना लिया और उनकी व्याख्याएँ आरम्भ कर दीं। यही कारण है कि बौद्ध ताकिकों द्वारा मुख्यतया प्रयुक्त अनन्तरीयक (या नान्तरीयक) तथा प्रतिबन्ध और जैनतर्कग्रन्थकारों द्वारा प्रधानतया प्रयोग में आने वाले अविनाभाव एवं व्याप्ति जैसे शब्द उद्योतकर के बाद न्यायदर्शन में समाविष्ट हो गये एवं उन्हें एक-दूसरे का पर्याय माना जाने लगा। जयन्त भट्ट<sup>73</sup> ने अविनाभाव का स्पष्टीकरण करने के लिए व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध और साध्याविनाभावित्व को उसी का पर्याय बतलाया है। वाचस्पति मिश्र<sup>74</sup> कहते हैं कि हेतु का कोई भी सम्बन्ध हो उसे स्वाभाविक एवं नियत होना चाहिए और स्वाभाविक का अर्थ वे उपाधिरहित बतलाते हैं। इस प्रकार का हेतु ही गमक होता है और दूसरा सम्बन्धी (साध्य) गम्य। तात्पर्य यह कि उनका अविनाभाव या व्याप्ति शब्दों पर जोर नहीं है पर उदयन<sup>75</sup>, केशव मिश्र<sup>76</sup>, अन्नभट्ट<sup>77</sup>, विश्वनाथ पंचानन<sup>78</sup> प्रभृति नैयायिकों ने व्याप्ति शब्द को अपनाकर उसी का विशेष व्याख्यान किया है तथा पक्षधर्मता के साथ उसे अनुमान का प्रमुख अंग बतलाया है। गंगेश और उनके अनुवर्ती वर्द्धमान उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि नव्य नैयायिकों<sup>79</sup> ने तो व्याप्ति पर सर्वाधिक चिन्तन और निबन्धन भी किया है। गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में अनुमानलक्षण<sup>80</sup> प्रस्तुत करके उसके व्याप्ति<sup>81</sup> और पदाधर्मता<sup>82</sup> दोनों अंगों का नव्यपद्धति से विवेचन किया है।

वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद के भाष्य<sup>83</sup> में अविनाभाव का प्रयोग अवश्य उपलब्ध होता है और उन्होंने अविनाभूत लिग को लिगी का गमक बतलाया है। पर वह उन्हें त्रिलक्षणरूप ही अभिप्रेत है।<sup>84</sup> यही कारण है कि टिप्पणकार<sup>85</sup> ने अविनाभाव का अर्थ 'व्याप्ति' एवं 'अव्यभिचरित सम्बन्ध' दे करके भी शंकरमिश्र द्वारा किये गये अविनाभाव के खण्डन से सहमति प्रकट की है और 'वस्तुतस्त्वनौपाधिकसम्बन्ध एवं व्याप्ति'<sup>86</sup> इस उदयनोक्त<sup>87</sup> व्याप्ति लक्षण को ही मान्य किया है। इससे प्रतीत होता है कि अविनाभाव की मान्यता वैशेषिक दर्शन की भी स्वोपज्ञ एवं मौलिक नहीं है।





मीमांसादर्शन में कुमारिल के मीमांसाश्लोकवातिक<sup>88</sup> में व्याप्ति और अविनाभाव दोनों शब्द मिलते हैं। पर उनके पूर्व न जैमिनिसूत्र में वे हैं और न शाबरभाष्य में।

बौद्ध ताकिक शंकरस्वामी के न्यायप्रवेश<sup>89</sup> में भी अविनाभाव और व्याप्ति शब्द नहीं हैं। पर उनके अर्थ का वाचक नान्तरीयक (अन्तरीयक) शब्द पाया जाता है। धर्मकीर्ति<sup>90</sup>, धर्मोत्तर<sup>91</sup>, अचंठ<sup>92</sup> आदि बौद्ध नैयायिकों ने अवश्य प्रतिबन्ध और नान्तरीयक शब्दों के साथ इन दोनों का भी प्रयोग किया है। इनके पश्चात् तो उक्त शब्द बौद्ध तर्कग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध हैं।

### प्रश्न और समाधान

तब प्रश्न है कि अविनाभाव और व्याप्ति का मूल उद्भव स्थान क्या है? अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद और कुमारिल ने पूर्व जैन ताकिक समस्तभद्र<sup>93</sup> ने, जिनका समय<sup>94</sup> विक्रम की दूसरी-तीसरी शती माना जाता है, अस्तित्व को नास्तित्व का और नास्तित्व को अस्तित्व का अविनाभावी बतलाते हुए अविनाभाव शब्द का व्यवहार किया है। एक दूसरे स्थल<sup>95</sup> पर भी उन्होंने उसे स्पष्ट स्वीकार किया है। और इस प्रकार अविनाभाव का निर्देश मान्यता के रूप में सर्वप्रथम समस्तभद्र ने किया जान पड़ता है। प्रशस्तपाद की तरह उन्होंने उसे त्रिलक्षणरूप स्वीकार नहीं किया। उनके पश्चात् तो वह जैन परम्परा में हेतुलक्षणरूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। पूज्यपाद<sup>96</sup> ने, जिनका अस्तित्व-समय ईसा की पाँचवी शताब्दी है, अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। सिद्धमेन<sup>97</sup>, पात्रस्वामी<sup>98</sup>, कुमारनन्द<sup>99</sup>, अकलक<sup>100</sup>, माणिक्यनन्द<sup>102</sup> आदि जैन तर्क-ग्रन्थकारों ने अविनाभाव, व्याप्ति और अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व तीनों का व्यवहार पर्यायशब्दों के रूप में किया है। जो (साधन) जिस (साध्य) के बिना उत्पन्न न हो उसे अन्यथानुपपन्न कहा गया है<sup>102</sup>। असम्भव नहीं कि शाबरभाष्यगत<sup>108</sup> अर्थापत्त्युत्पापक अन्यथानुपपन्नमान और प्रभाकर की बृहती<sup>104</sup> में उसके लिए प्रयुक्त अन्यथानुपपत्ति शब्द अर्थापत्ति और अनुमान को अत्रिन्न मानने वाले जैन ताकिकों से अपनाये गये हों, क्योंकि ये शब्द जैन न्यायग्रन्थों में अधिक प्रचलित एवं प्रयुक्त मिलते हैं और शान्तरक्षित<sup>105</sup> आदि प्राचीन ताकिकों ने उन्हें पात्रस्वामी का मत कहकर उद्धृत तथा समालोचित किया है। अतः उसका उद्गम जैन तर्कग्रन्थों से बहुत कुछ सम्भव है।

प्रस्तुत अनुश्लेषन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन में आरम्भ में पक्षधर्मता (सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति सहित) को तथा मध्यकाल और नव्ययुग में पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों को अनुमान का आधार माना गया है। पर जैन ताकिकों ने आरम्भ से अन्त तक पक्षधर्मता (अन्य दोनों रूपों सहित) को अनावश्यक तथा एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव, अन्यथानुपपन्नत्व) को अनुमान का अपरिहार्य अंश बतलाया है।

### अनुमान-भेद

प्रश्न है कि अनुमान कितने प्रकार का माना गया है? अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम कणाद<sup>106</sup> ने अनुमान के प्रकारों का निर्देश किया है। उन्होंने इसकी स्पष्टतः संख्या का तो उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके प्रकारों को गिनाया है। उनके परिगणित प्रकार निम्न हैं— (१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोग, (४) विरोध और (५) समवायि। यतः हेतु के पाँच भेद हैं, अतः उनसे उत्पन्न अनुमान भी पाँच हैं।

न्यायसूत्र<sup>107</sup>, उपायहृदय<sup>108</sup>, चरक<sup>109</sup> सांख्यकारिका<sup>111</sup> और अनुयोगद्वारसूत्र<sup>111</sup> में अनुमान के पूर्वोल्लिखित पूर्ववत् आदि तीन भेद बताये हैं। विशेष यह कि चरक में श्रित्वसंख्या का उल्लेख है, उनके नाम नहीं दिये। सांख्यकारिका में भी त्रिविधत्व का निर्देश है और केवल तीसरे सामान्यतोद्दष्ट का नाम है<sup>112</sup>। किन्तु माठर<sup>113</sup> तथा युवितवीपिकाकार<sup>114</sup> ने तीनों के नाम दिये हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। अनुयोगद्वार में प्रथम दो भेद तो वही हैं, पर तीसरे का नाम सामान्यतोद्दष्ट न होकर दृष्टसाध्यवत् नाम है।



इस विवेचन से ज्ञात होता है कि ताकिकों ने उस प्राचीन काल में कणाद की पंचविध अनुमान-परम्परा को नहीं अपनाया, किन्तु पूर्ववदादि त्रिविध अनुमान की परम्परा को स्वीकार किया है। इस परम्परा का मूल क्या है? न्यायसूत्र है या अनुयोगद्वारसूत्र आदि में से कोई एक? इस सम्बन्ध में निर्णयपूर्वक कहना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पूर्वागत त्रिविध अनुमान की कोई सामान्य परम्परा रही है जो अनुमानचर्चा में वर्तमान थी और जिसके स्वीकारने में किसी को सम्भवतः विवाद नहीं था।

पर उत्तरकाल में यह त्रिविध अनुमान-परम्परा भी सर्वमान्य नहीं रह सकी। प्रशस्तपाद<sup>115</sup> ने दो तरह से अनुमान-भेद बतलाये हैं—१. दृष्ट और २. सामान्यतोदृष्ट। अथवा १. स्वनिश्चितार्थानुमान और २. परार्थानुमान। मीमांसादर्शन में शबर<sup>116</sup> ने प्रशस्तपाद के प्रथमोक्त अनुमान-द्वैविध्य को ही कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है—१. प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और २. सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध। सांख्यदर्शन में ताचस्पति<sup>117</sup> के अनुसार वीत और अवीत ये दो भेद भी मान लिये हैं। वीतानुमान को उन्होंने पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट द्विविधरूप और अवीतानुमान को शेषवत् रूप मानकर उक्त अनुमानत्रैविध्य के साथ सम्बन्ध भी किया है। ध्यातव्य है कि सांख्यों की सप्तविध अनुमान-मान्यता का भी उल्लेख उद्योतकर<sup>118</sup>, वाचस्पति<sup>119</sup> और प्रभाचन्द्र<sup>120</sup> ने किया है। पर वह हमें सांख्यदर्शन के उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्त नहीं हो सकी। प्रभाचन्द्र ने तो प्रत्येक का स्वरूप और उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट भी किया है।

आगे चलकर जो सर्वाधिक अनुमानभेद-परम्परा प्रतिष्ठित हुई वह है प्रशस्तपाद की उक्त—१. स्वार्थ और २. परार्थ भेद वाली परम्परा। उद्योतकर<sup>121</sup> ने पूर्ववदादि अनुमानत्रैविध्य की तरह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान-भेदों का भी प्रदर्शन किया है। किन्तु उन्होंने और उनके उत्तरवर्ती वाचस्पति तक के नैयायिकों ने प्रशस्तपादनिर्दिष्ट उक्त स्वार्थ-परार्थ के अनुमान-द्वैविध्य को अंगीकार नहीं किया। पर जयन्तमट्ट<sup>122</sup> और उनके पश्चात्वर्ती केशव मिश्र<sup>123</sup> आदि ने उक्त अनुमानद्वैविध्य को मान लिया है।

बीद दर्शन में दिङ्नाम से पूर्व उक्त द्वैविध्य की परम्परा नहीं देखी जाती है परन्तु दिङ्नाम<sup>124</sup> ने उसका प्रतिपादन किया है। उनके पश्चात् तो धर्मकीर्ति<sup>125</sup> आदि ने इसी का निरूपण एवं विशेष व्याख्यान किया है।

जैन ताकिकों<sup>126</sup> ने इसी स्वार्थ-परार्थ अनुमान-द्वैविध्य को अंगीकार किया है और अनुयोगद्वारादिप्रतिपादित अनुमानत्रैविध्य को स्थान नहीं दिया, प्रत्युत उसकी समीक्षा की है।<sup>127</sup>

इस प्रकार अनुमान-भेदों के विषय में भारतीय ताकिकों की विभिन्न मान्यतायें तर्कग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। तथ्य यह कि कणाद जहाँ साधनभेद से अनुमानभेद का निरूपण करते हैं वहाँ न्यायसूत्र आदि में विषयभेद तथा प्रशस्तपादभाष्य आदि में प्रतिपत्ताभेद से अनुमान-भेद का प्रतिपादन ज्ञात होता है। साधन अनेक हो सकते हैं, जैसा कि प्रशस्तपाद<sup>128</sup> ने कहा है, अतः अनुमान के भेदों की संख्या पांच से अधिक भी हो सकती है। न्यायसूत्रकार आदि की दृष्टि में चूँकि अनुमेय या तो कार्य होगा, या कारण या अकार्यकारण। अतः अनुमेय के त्रैविध्य से अनुमान त्रिविध है। प्रशस्तपाद द्विविध प्रतिपत्ताओं की द्विविध प्रतिपत्तियों की दृष्टि से अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो ही भेद मानते हैं, जो बुद्धि को लगता है, क्योंकि अनुमान एक प्रकार की प्रतिपत्ति है और वह स्व तथा पर दो क द्वारा की जा जाती है। सम्भवतः इसी से उत्तरकाल में अनुमान का स्वार्थ-परार्थ द्वैविध्य सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ।

#### अनुमानान्वय

अनुमान के तीन उपादान हैं<sup>129</sup>, जिनसे वह निष्पन्न होता है—१. साधन, २. साध्य और ३. धर्मी। अथवा<sup>130</sup> १. पक्ष और २. हेतु ये दो उसके अंग हैं, क्योंकि साध्यधर्म विशिष्ट धर्मों को पक्ष कहा गया है, अतः पक्ष को कहने से धर्म और धर्मी दोनों का ग्रहण हो जाता है। साधन गमकरूप से उपादान है, साध्य गम्यरूप से और



धर्मी साध्यधर्म के आधार रूप से, क्योंकि किसी आधार-विशेष में साध्य की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। सच यह है कि केवल धर्म की सिद्धि करना अनुमान का ध्येय नहीं है, क्योंकि वह व्याप्ति-निश्चयकाल में ही अवगत हो जाता है और न केवल धर्मों की सिद्धि अनुमान के लिए अपेक्षित है, क्योंकि वह सिद्ध रहता है। किन्तु 'पर्वत अग्नि-वाला है' इस प्रकार पर्वत में रहने वाली अग्नि का ज्ञान करना अनुमान का लक्ष्य है। अतः धर्मी भी साध्यधर्म के आधार रूप से अनुमान का अंग है। इस तरह साधन, साध्य और धर्मी ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनों के अंग हैं। कुछ अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी नहीं होता। जैसे—सोमवार से मंगल का अनुमान आदि। ऐसे अनुमानों में साधन और साध्य दो ही अंग हैं।

उपर्युक्त अंग स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमान के कहे गये हैं। किन्तु वचनप्रयोग द्वारा प्रतिवादियों या प्रतिपाद्यों को अभिधेय प्रतिपत्ति कराना जब अभिप्रेत होता है तब वह वचनप्रयोग परार्थानुमान-वाक्य के नाम से अभिहित होता है और उसके निष्पादक अंगों को अवयव कहा गया है। परार्थानुमानवाक्य के कितने अवयव होने चाहिए, इस सम्बन्ध में तार्किकों के विभिन्न मत हैं। न्यायसूत्रकार<sup>132</sup> का मत है कि परार्थानुमानवाक्य के पाँच अवयव हैं— १. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन। भाष्यकार<sup>132</sup> ने सूत्रकार के उक्त मत का न केवल समर्थन ही किया है, अपितु अपने काल में प्रचलित दशावयव मान्यता का निरास भी किया है। वे दशावयव हैं— उक्त पाँच तथा ६. जिज्ञासा, ७. संशय, ८. शक्यप्राप्ति, ९. प्रयोजन और १०. संशयव्युदास।

यहाँ प्रश्न है कि ये दश अवयव किनके द्वारा माने गये हैं? भाष्यकार ने उन्हें 'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते'<sup>133</sup> शब्दों द्वारा 'किन्हीं नैयायिकों' की मान्यता बतलाई है। पर मूल प्रश्न असमाधेय ही रहता है।

हमारा अनुमान है कि भाष्यकार को 'एके नैयायिकाः' पद से प्राचीन सांख्यविद्वान युक्तिदीपिकाकार अभिप्रेत हैं, क्योंकि युक्तिदीपिका<sup>134</sup> में उक्त दशावयवों का न केवल निर्देश है किन्तु स्वमतरूप में उनका विशद एवं विस्तृत व्याख्यान भी है। युक्तिदीपिकाकार उन अवयवों को बतलाते हुए प्रतिपादन करते हैं<sup>135</sup> कि 'जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास ये पाँच अवयव व्याख्यांग हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन ये पाँच परप्रतिपादनांग। तात्पर्य यह है कि अभिधेय का प्रतिपादन दूसरे के लिए प्रतिज्ञादि द्वारा होता है और व्याख्या जिज्ञासादि द्वारा। पुनरुक्ति, वैयर्थ्य आदि दोषों का निरास करते हुए युक्तिदीपिका में कहा में कहा गया है<sup>136</sup> कि विद्वान-सब के अनुग्रह के लिए जिज्ञासादि का अभिधान करते हैं। अतः व्युत्पाद्य अनेक तरह के होते हैं—सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न। अतः इन सभी के लिए सन्तों का प्रयास होता है। दूसरे, यदि वादी प्रतिवादी से प्रश्न करे कि क्या जानना चाहते हो? तो उसके लिए जिज्ञासादि अवयवों का वचन आवश्यक है। किन्तु प्रश्न न करे तो उसके लिए वे नहीं भी कहे जाएँ। अन्त में निष्कर्ष निकालते हुए युक्तिदीपिकाकार<sup>137</sup> कहते हैं कि इसी से हमने जो वीतानुमान के दशावयव कहे वे सर्वथा उचित हैं। आचार्य<sup>138</sup> (ईश्वरकृष्ण) उनके प्रयोग को न्यायसंगत मानते हैं। इससे अवगत होता है कि दशावयव की मान्यता युक्तिदीपिकाकार की रही है। यह भी सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण या उनसे पूर्व किसी सांख्य विद्वान् ने दशावयवों को माना हो और युक्तिदीपिकाकार ने उसका समर्थन किया हो।

जैन विद्वान् भद्रबाहु<sup>139</sup> ने भी दशावयवों का उल्लेख किया है। किन्तु उनके वे दशावयव उपर्युक्त दशावयवों से कुछ भिन्न हैं।

प्रशस्तपाद<sup>140</sup> ने पाँच अवयव माने हैं। पर उनके अवयव-नामों और न्यायसूत्रकार के अवयवनामों में कुछ अन्तर है। प्रतिज्ञा के स्थान में तो प्रतिज्ञा नाम ही है। किन्तु हेतु के लिए अपदेश, दृष्टान्त के लिए निदर्शन, उपनय के स्थान में अनुसन्धान और निगमन की जगह प्रत्याम्नाय नाम दिये हैं। यहाँ प्रशस्तपाद<sup>141</sup> की एक विशेषता उल्लेखनीय है। न्यायसूत्रकार ने जहाँ प्रतिज्ञा का लक्षण 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' यह किया है वहाँ प्रशस्तपाद ने 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी

२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



प्रतिज्ञा' यह कहकर उसमें 'अविरोधी' पद के द्वारा प्रत्यक्ष-विरुद्ध आदि पाँच विरुद्धसाध्यों (साध्याभासों) का भी निरास किया है। न्यायप्रवेशकार<sup>143</sup> ने भी प्रशस्तपाद का अनुसरण करते हुए स्वकीय 'पक्षलक्षण में 'अविरोध' जैसा ही 'प्रत्यक्षाविरुद्ध' विशेषण किया है और उसके द्वारा प्रत्यक्षविरुद्धादि साध्याभासों का परिहार किया है।

न्यायप्रवेश<sup>143</sup> और माठरवृत्ति<sup>144</sup> में पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकृत हैं। धर्मकीर्ति<sup>145</sup> ने उक्त तीन अवयवों में से पक्ष को निकाल दिया है और हेतु तथा दृष्टान्त ये दो अवयव माने हैं। न्यायविन्दु और प्रमाण-वास्तिक में उन्होंने केवल हेतु को ही अनुमानावयव माना है<sup>146</sup>।

मीमांसक विद्वान् णालिकानाथ<sup>1</sup> ने प्रकरणपंचिका में, नारायण भट्ट<sup>148</sup> ने मानमेयोदय में और पार्थसारथि<sup>149</sup> ने न्यायरत्नकर में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों के प्रयोग को प्रतिपादित किया है।

जैन तार्किक समन्तभद्र का संकेत तत्त्वार्थसूत्रकार के अभिप्रायानुसार पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों को मानने की ओर प्रतीत होता है। उन्होंने आप्तमीमांसा (का० ६, १७, १८, २७ आदि) में उक्त तीन अवयवों से साध्य-सिद्धि प्रस्तुत की है। सिद्धसेन<sup>150</sup> ने भी उक्त तीन अवयवों का प्रतिपादन किया है। पर अकलंक<sup>151</sup> और उनके अनुवर्ती विद्यानन्द<sup>152</sup>, माणिक्यनन्द<sup>153</sup>, देवसूर<sup>154</sup>, हेमचन्द्र<sup>155</sup>, धर्मभूषण<sup>156</sup>, यशोविजय<sup>157</sup> आदि ने पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव स्वीकार किये हैं और दृष्टान्तादि अन्य अवयवों का निरास किया है। देवसूर<sup>158</sup> ने अत्यन्त व्युत्पन्न की अपेक्षा मात्र हेतु के प्रयोग को भी मान्य किया है। पर साथ ही वे यह भी बतलाते हैं कि बहुलता के एक मात्र हेतु का प्रयोग न होने से उसे सूत्र में ग्रथित नहीं किया। स्मरण रहे कि जैन-न्याय में उक्त दो अवयवों का प्रयोग व्युत्पन्न प्रतिपाद्य की दृष्टि से अभिहित है किन्तु अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यों की अपेक्षा से तो दृष्टान्तादि अन्य अवयवों का भी प्रयोग स्वीकृत है<sup>159</sup>। देवसूर<sup>160</sup>, हेमचन्द्र,<sup>161</sup> और यशोविजय<sup>162</sup> ने भद्रवाहुकथित पक्षादि पाँच शुद्धियों के भी वाक्य में समावेश का कथन किया और उनके दशावयवों का समर्थन किया है।

#### अनुमान-दोष

अनुमान-निरूपण के संदर्भ में भारतीय तार्किकों ने अनुमान के सम्भव दोषों पर भी विचार किया है। यह विचार इसलिए आवश्यक रहा है कि उससे यह जानना शक्य है कि प्रयुक्त अनुमान सदोष है या निर्दोष? क्योंकि जब तक किसी दोष के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि या असिद्धि नहीं कर सकता। इसी से यह कहा गया है<sup>163</sup> कि प्रमाण से अर्थ संसिद्धि होती है और प्रमाणाभास से नहीं। और यह प्रकट है कि प्राभाण्य का कारण गुण है और अप्रामाण्य का कारण दोष। अतएव अनुमानप्रामाण्य के हेतु उसकी निर्दोषता का पता लगाना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि तर्क-ग्रन्थों में प्रमाण-निरूपण के परिप्रेक्ष्य में प्रमाणाभास निरूपण भी पाया जाता है। न्यायसूत्र<sup>164</sup> में प्रमाणपरीक्षा प्रकरण में अनुमान की परीक्षा करते हुए उसमें दोषांश का और उसका निरास किया गया है। वात्स्यायन<sup>165</sup> ने अननुमान (अनुमानाभास) को अनुमान समझने की चर्चा द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि दूषितानुमान भी सम्भव है।

अब देखना है कि अनुमान में क्या दोष हो सकते हैं और वे कितने प्रकार के सम्भव हैं? स्पष्ट है कि अनुमान का गठन मुख्यतया दो अंगों पर निर्भर है—१ साधन और २ साध्य (पक्ष)। अतएव दोष भी साधनगत और साध्यगत दो ही प्रकार के हो सकते हैं और उन्हें क्रमशः साधनाभास तथा साध्याभास (पक्षाभास) नाम दिया जा सकता है। साधन अनुमान-प्रासाद का वह प्रधान एवं महत्वपूर्ण स्तम्भ है जिस पर उसका भव्य भवन निर्मित होता है। यदि प्रधान स्तम्भ निर्बल हो तो प्रासाद किसी भी क्षण क्षतिग्रस्त एवं धराशायी हो सकता है। सम्भवतः इसी से गौतम<sup>166</sup> ने साध्यगत दोषों का विचार न कर मात्र साधनगत दोषों का विचार किया और उन्हें अवयवों की तरह सोलह पदार्थों के अन्तर्गत स्वतन्त्र पदार्थ (हेत्वाभास) का स्थान प्रदान किया है। इससे गौतम की दृष्टि में उनकी अनुमान में प्रमुख



प्रतिबन्धकता प्रकट होती है। उन्होंने<sup>167</sup> उन साधनगत दोषों को, जिन्हें हेत्वाभास के नाम से उल्लिखित किया गया है, पाँच बतलाया है। वे हैं—१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। हेत्वाभासों की पाँच संख्या सम्भवतः हेतु के पाँच रूपों के अभाव पर आधारित जान पड़ती है। यद्यपि हेतु के पाँच रूपों का निर्देश न्यायसूत्र में उपलब्ध नहीं है। पर उसके व्याख्याकार उद्योतकर प्रभृति ने उनका उल्लेख किया है। उद्योतकर<sup>168</sup> ने हेतु का प्रयोजक समस्त रूप सम्पत्ति को और हेत्वाभास का प्रयोजक असमस्तसम्पत्ति को बनना कर उन रूपों का संकेत किया है। वाचस्पति<sup>169</sup> ने उनकी स्पष्ट परिचयना भी कर दी है। वे पाँच रूप हैं—सत्त्वसत्त्व, सत्त्वसत्त्व, विप्रभासत्त्व, अवाधिविषयसत्त्व और असत्त्वनिपत्त्व। इनके प्रभाव में त्रैलोक्यमान पाँच ही सम्भव हैं। जयन्तभट्ट<sup>170</sup> ने तो स्पष्ट लिखा है कि एक-एक रूप के अभाव में पाँच हेत्वाभास होत हैं। न्यायसूत्रकार ने एक-एक पृथक् सूत्र द्वारा उनका निरूपण किया है। वात्स्यायन<sup>171</sup> ने हेत्वाभास का स्वरूप देते हुए लिखा है कि वे हेतुनग्राह्य (पाँच) रहित हैं परन्तु कतिपय रूपों के रहने के कारण हेतु-सादृश्य से हेतु की तरह आभासित होते हैं उन्हें अहेतु अर्थात् हेत्वाभास कहा गया है। सर्वदेव<sup>172</sup> ने भी हेत्वाभास का यही लक्षण दिया है।

कणाद<sup>173</sup> ने अप्रसिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उनके भाष्यकार प्रशस्तपाद<sup>174</sup> ने उनका समर्थन किया है। विशेष यह कि उन्होंने<sup>175</sup> काश्यप की दो कारिकाएँ उद्धृत करके पहली द्वारा हेतु को त्रिरूप और दूसरी द्वारा उन तीन रूपों के अभाव से निष्पन्न होने वाले उक्त विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध तीन हेत्वाभासों को बताया है। प्रशस्तपाद<sup>176</sup> का एक वैशिष्ट्य और उल्लेख्य है। उन्होंने निदर्शन के निरूपण-सन्दर्भ में बारह निदर्शनाभासों का भी प्रतिपादन किया है, जबकि न्यायसूत्र और न्यायभाष्य में उनका कोई निर्देश प्राप्त नहीं है। पाँच प्रतिज्ञाभासों (प्रक्षाभासों) का भी कथन प्रशस्तपाद<sup>177</sup> ने किया है, जो बिलकुल नया है। सम्भव है, न्यायसूत्र में हेत्वाभासों के अन्तर्गत जिस कालातीत (वाधितविषय-कालात्यपापदिष्ट) का निर्देश है उसके द्वारा इन प्रतिज्ञाभासों का संग्रह न्यायसूत्रकार को अभीष्ट हो। सर्वदेव<sup>178</sup> ने छह हेत्वाभास बताये हैं।

उपायहृदय<sup>179</sup> में आठ हेत्वाभासों का निरूपण है। इनमें चार (कालातीत, प्रकरणसम, सव्यभिचार और विरुद्ध) हेत्वाभास न्यायसूत्र जैसे ही हैं तथा शेष चार (वाक्यलज, सामान्यलज, संशयसम और वर्ण्यसम) नये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें अन्य दोषों का प्रतिपादन नहीं है। पर न्यायप्रवेश<sup>180</sup> में पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास इन तीन प्रकार के अनुमान-दोषों का कथन है। पक्षाभास के नौ<sup>181</sup>, हेत्वाभास के तीन<sup>182</sup>, और दृष्टान्ताभास के दश<sup>183</sup> भेदों का सोदाहरण निरूपण है। विशेष यह कि अनेकान्तिक हेत्वाभास के छह भेदों में एक विरुद्धाव्यभिचारी<sup>184</sup> का भी कथन उपलब्ध होता है, जो तार्किकों द्वारा अधिक चर्चित एवं समालोचित हुआ है। न्यायप्रवेशकार<sup>185</sup> ने दश दृष्टान्ताभासों के अन्तर्गत उभयासिद्ध दृष्टान्ताभास को द्विविध वर्णित किया है और जिससे प्रशस्तपाद जैसी ही उनके दृष्टान्ताभासों की संख्या द्वादश हो जाती है। पर प्रशस्तपादोक्त द्विविध आश्रयासिद्ध उन्हें अभीष्ट नहीं है।

कुमारिल<sup>186</sup> और उनके व्याख्याकार पार्थसारथि<sup>187</sup> ने मीमांसक दृष्टि से छह प्रतिज्ञाभासों, तीन हेत्वाभासों और दृष्टान्तदोषों का प्रतिपादन किया है। प्रतिज्ञाभासों में प्रत्यक्षविरोध, अनुमानविरोध और शब्दविरोध ये तीन प्रामः प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेशकार की तरह ही हैं। हाँ, शब्दविरोध के प्रतिज्ञातविरोध, लोकप्रसिद्धिविरोध और पूर्व-संज्ञत्वविरोध ये तीन भेद किये हैं। तथा अर्थापत्तिविरोध, उपमानविरोध और अभावविरोध ये तीन भेद संख्या नये हैं, जो उनके मतानुरूप हैं। विशेष<sup>188</sup> यह कि इन विरोधों को धर्म, धर्मों और उभय के सामान्य तथा विशेष स्वरूपगत बतलाया गया है। त्रिविध हेत्वाभासों के अवान्तर भेदों का भी पदर्शन किया है और न्यायप्रवेश की भाँति कुमारिल<sup>189</sup> ने भी माना है।

सांख्यदर्शन में युक्तिदोषिका आदि में तो अनुमानदोषों का प्रतिपादन नहीं मिलता। किन्तु माठर<sup>190</sup> ने असिद्धादि चौदह हेत्वाभासों तथा साध्यविकलादि दश साध्यर्म्य-बंधर्म्य निदर्शनाभासों का निरूपण किया है। निदर्श-



नाभासों का प्रतिपादन उन्होंने प्रशस्तपाद के अनुसार किया है। अन्तर इतना ही है कि माठर ने प्रशस्तपाद के बारह निदर्शनाभासों में दश को स्वीकार किया है और आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासों को छोड़ दिया है। पक्षाभास भी उन्होंने नौ निर्दिष्ट किये हैं।

जैन परम्परा के उपनव्व न्यायग्रन्थों में सर्वप्रथम न्यायावतार में अनुमान-दोषों का स्पष्ट कथन प्राप्त होता है। इसमें पञ्चादि तीन के बचन को परार्थानुमान कहकर उसके दोष भी तीन प्रकार के बतलाये हैं<sup>191</sup> १. पक्षाभास, २. हेत्वाभास और ३. दृष्टान्ताभास। पक्षाभास के सिद्ध और बाधित ये दो<sup>192</sup> भेद दिखाकर बाधित के प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित—ये चार<sup>193</sup> भेद गिनाये हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन<sup>194</sup> हेत्वाभासों तथा छह साधर्म्य और छह<sup>195</sup> वैधर्म्य कुल बारह दृष्टान्ताभासों का भी कथन किया है। ध्यातव्य है कि साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्य दृष्टान्ताभास तो प्रशस्तपादभाष्य और न्यायप्रवेश जैसे ही हैं किन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न प्रशस्तपादभाष्य में हैं<sup>196</sup> और न न्यायप्रवेश<sup>197</sup> में। प्रशस्तपादभाष्य में आश्रयासिद्ध, अननुगत और विपरीतानुगत ये तीन साधर्म्य तथा आश्रयासिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यनिदर्शनाभास हैं। और न्यायप्रवेश में अनन्वय तथा विपरीतान्वय ये दो साधर्म्य और अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्य दृष्टान्ताभास उपलब्ध हैं। पर हाँ, धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु<sup>198</sup> में, उनका प्रतिपादन मिलता है। धर्मकीर्ति ने सन्दिग्धसाध्यादि उक्त तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभासों और सन्दिग्धव्यतिरेकादि तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासों का स्पष्ट निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्ति ने न्यायप्रवेशगत अनन्वय, विपरीतान्वय, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इतने चार साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों को अपनाते हुए अप्रदागितान्वय और अप्रदागितव्यतिरेक इन दो नये दृष्टान्ताभासों को और सम्मिलित करके नव-नव साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास प्रतिपादित किये हैं।

अकलंक<sup>199</sup> ने पक्षाभास के उक्त सिद्ध और बाधित दो भेदों के अतिरिक्त अनिष्ट नामक तीसरा पक्षाभास भी वर्णित किया है। जब साध्य शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध होता है तो उसके दोष भी बाधित, अनिष्ट और सिद्ध ये तीन कहे जाएँगे। हेत्वाभासों के सम्बन्ध में उनका मत है कि जैन-न्याय में हेतु न त्रिरूप है और न पाँच रूप; किन्तु एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) रूप है। अतः उसके अभाव में हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये उसी का विस्तार हैं। दृष्टान्त के विषय में उनकी मान्यता है कि वह सर्वत्र आवश्यक नहीं है। जहाँ वह आवश्यक है वहाँ उसका और साध्यविकलादि दोषों का कथन किया जाना योग्य है।

माणिक्यनन्दि<sup>200</sup>, देवसूरि<sup>201</sup>, हेमचन्द्र<sup>202</sup> आदि जैन ताकिकों ने प्रायः सिद्धसेन और अकलंक का ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार भारतीय तर्कग्रन्थों के साथ जैन तर्कग्रन्थों में भी अनुमानस्वरूप, अनुमानभेदों अनुमानांगों, अनुमानावयवों और अनुमानदोषों पर पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है। □

#### सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

1. "हेतुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो ।—भूतबलि-पुष्पदन्त, षट्खण्डा० 5/5/51, शोलापुर संस्करण 1965
2. दृष्टान्तगम्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।—समन्तभद्र, युक्त्यनुशा० का० 48, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली।

जैन-न्याय में अनुमान-विमर्श : डॉ० दरबारीलाल कोठिया | ६५



3. अथवा हेऊ चउव्विहे पणत्ते तं जहा—पच्चव्वे अनुमाने उवमे आगमे । अथवा हेऊ चउव्विहे पणत्ते तं जहा—अत्थि तं अत्थि सो हेऊ, अत्थि तं णत्थि सो हेऊ, णत्थि तं अत्थि सो हेऊ, णत्थि त णत्थि सो हेऊ ।

—स्थानांग सू०, पृ० 309-310

4. हिनोति परिच्छिन्नार्थमिति हेतुः ।

5. धर्मभूषण, न्यायदी०, पृ० 95-99

6. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख 3/57-58

7. तुलना कीजिए—

(1) पर्वतो यमग्निमान् धूमत्वान्मथानुपपत्तेः—धर्मभूषण, न्यायदी०, पृ० 95 ।

(2) यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याघ्रविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।

(3) नास्त्यत्र शीतस्पर्शं औष्ण्यात् ।

(4) नास्त्यत्र धूमो नामनेः ।

—माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख 3/87, 76, 82

8. गोयसा णो तिणट्ठे समट्ठे । से किं तं पमाणं ? पमाणे चउव्विहे पणत्ते । तं जहा—पच्चव्वे अनुमाने ओव्वमे जहा अनुभोगद्वारे तहा णेयव्वं पमाणं ।

—भगवती० 5,3,191-92

9-10-11. अनुमाने तिविहे पणत्ते । तं जहा—(1) पुव्ववं, (2) सेसवं, (3) दिट्ठसाहम्मवं । से किं पुव्ववं ? पुव्ववं—माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं ।

काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वाल्लेण केणई ॥

तं जहा—खेत्तेण वा, वण्णेण वा, लंछणेण वा, मसेण वा, तिलेण वा । से तं पुव्ववं । से किं तं सेसवं ? सेसवं पंचविहं पणत्तं । तं जहा—(1) कज्जेणं, (2) कारणेणं, (3) गुणेणं, (4) अवयवेणं, (5) आसएणं ।

—मुनि श्री कन्हैयालाल, अनुयोगद्वार सूत्र, मूलसुत्ताणि, पृ० 539

12. कज्जेणं—सखं सद्देणं, भेरि ताहिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं ।

—अनुयोग० उपक्रमाधिकार, प्रमाणद्वार, पृ० 539 ।

13. कारणेणं—तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिडकारणं, से तं कारणेणं ।

—वही, पृ० 540

14. गुणेणं—सुवण्णं निकसेणं, पुक्कं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं, से तं गुणेणं ।

—वही, पृ० 540

15. अवयवेणं—महिसं सिणेणं, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थिं विसासेणं, वराइं दाढाएणं, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वधं नहेणं, चरि बालगेणं, वाणरं लंगुलेणं, दुप्पयं मणुस्सादि, चउप्पयं गबयादि, बहुपयं गोमि आदि, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा-परिअर-बंधेण भडं जाणिज्जा, महिसियं निवसणं, सित्थेण दोणपागं, कवि च एककाए गाहाए, से तं अवयवेणं ।

—वही, पृ० 540

16. आसएणं—अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागेणं, वुट्ठिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं । से तं आसएणं । से तं सेसवं ।

—वही, पृ० 540-41

17. से किं तं दिट्ठसाहम्मवं ? दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पणत्तं । तं जहा—सामम्मदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च ।

—वही, पृ० 541-42

18. तस्स समासओ तिविहं गहणं भवई । तं जहा—(1) अतीतकालगहणं, (2) पडुप्पणंकालगहणं, (3) अणागय-कालगहणं ।

—वही, पृ० 541-42

19. अक्षपाद, न्यायसू०, 1/1/5

20. उपायहृदय, पृ० 13

21. ईश्वरकृष्ण, सा० का० 5,6

22. त० सू० 10/5, 6, 7

23. आप्तमीमांसा 5, 17, 18 तथा युक्त्यनु० 53

24. स० सि० 10/5, 6, 7



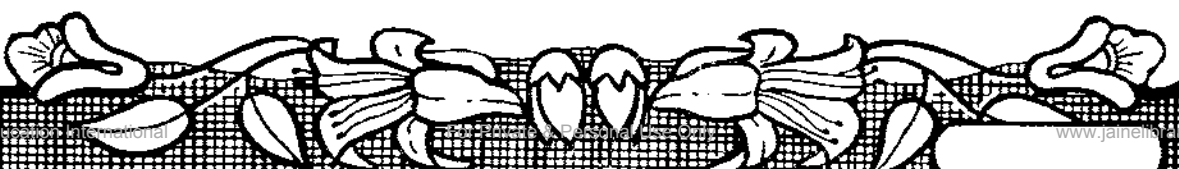
25. न्यायव० 13, 14, 17, 18, 19
26. दशव० नि० गा०, 49-137
27. प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ।—प्र० परी० पृ० 45 में उद्धृत कुमारनन्दि का वाक्य ।
28. श्री दलसुखभाई मालवणिया, आगम युग का जैन दर्शन, प्रमाण खण्ड, पृ० 157
29. मन्त्रश्रुतावधिमनःपर्ययकैवलानि ज्ञानम् । तत्प्रमाणे । आद्ये परीक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् ।  
—तत्त्वा० सू०, 1/9, 10, 11, 12
30. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्तामिनिबोध इत्यनर्थात्तरम् ।—वही, 1/13
31. गृहपिच्छ, त० सू०, 1/13
32. अनुमानमपि द्विविधं गौण मुष्यविकल्पात् । तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति ।  
—वादिराज, प्र० नि० पृ० 33, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई ।
33. अकलंकदेव, त० वा०, 1/20, पृ० 78, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
34. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् ।—न्यायसू० 1/1/5
35. अथवा पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम् । यथा धूमेनाग्निरिति ।  
—न्यायभा० 1/1/5, पृ० 22
36. यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य बह्वर्ग्रहणमनुमानम् ।—वही, 1/1/47, पृष्ठ 110
37. वही, 1/1/1, पृष्ठ 7
38. वही, 1/1/1, पृष्ठ 7
39. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।—माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख 3/15
40. व्याप्यस्य ज्ञानेन व्यापकस्य निश्चयः, यथा बह्विधमस्य व्यापक इति धूमस्तस्य व्याप्त इत्येवं तयोर्भूयः सहचारं पाकस्थानादौ दृष्ट्वा पश्चात्पर्वतादौ उद्भूयमानशिख्य धूमस्य दर्शने तत्र बह्विरस्तीति निश्चयते ।  
—वाचस्पत्यम्, अनुमान शब्द, प्रथम जिल्द, पृष्ठ 181, चौखम्बा, वाराणसी सन् 1962 ई०
41. अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्ति पक्षधर्मता च ।—केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनु० निरू० पृष्ठ 88-89
42. व्याप्यस्य पर्वतादिभूतित्त्वं पक्षधर्मता ।—अन्नम्भट्ट, तर्कसं० अनु० वि० पृष्ठ 57
43. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यं नियमो ध्याप्तिः ।  
—तर्क सं०, पृष्ठ 54 ; तथा केशवमिश्र, तर्कभा०, पृष्ठ 72
44. पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः । अन्तव्याप्येतरतः सैव गमकत्व प्रसाधनो ॥  
—वादीभसिंह, स्या० सि० 4/83/84
45. साध्य निर्देशः प्रतिज्ञा ।  
—अक्षपाद, न्यायसू० 1/1/33
46. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्य निर्देशः अनित्यः शब्द इति ।  
—वात्स्यायन, न्यायभा०, 1/1/33 तथा 1/1/34
47. अनुमेयोद्देशो विरोधी प्रतिज्ञा । प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोपदेश-विषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा ।  
—प्रशस्तपाद, वैशि० भाष्य पृष्ठ 114
48. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ।—वही, पृष्ठ 100
49. प्र० भा०, पृष्ठ 100
50. पक्षः प्रसिद्धो धर्मो……। हेतुस्त्रिरूपः । किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्त्वं विपक्षे त्वास्तवमिति । तद्यथा । अनित्यः शब्द इति पक्षवचनम् । कृतकत्वादिति पक्षधर्मवचनम् । यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति सपक्षानुसन्धवचनम् । यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशमिति व्यतिरेकवचनम् ।  
—शंकरस्वामी, न्याय प्र०, पृष्ठ 1-2





51. उद्योतकर, न्यायवा०, 1/1/35, पृष्ठ 129-131
52. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी०, 1/15, पृष्ठ 171
53. उदयन, किरणा०, पृ० 290, 294
54. त० चि० जागदी० टी०, पृ० 13, 71
55. केशव मिश्र तर्कभा० अनु० निरू०, पृ० 88-89
- 56-57. धर्मकीर्ति, न्यायवि०, द्वि० परि० पृ० 22
58. अर्चट, हेतुवि० टी०, पृ० 24
59. न्यायवि० 2/176
60. सिद्धसेन, न्यायच० का० 20
61. न्यायवि० 2/221
62. प्रमाण परीक्षा, पृ० 49
63. वादीप्रसिंह, स्या० सि०, 4/87
64. अकलंक, लघीय० 1/3/14
65. न्यायसू० 1/1/5; 34, 35
67. लिंग-लिंगिनो सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते । लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते ।  
—न्यायभा० 1/1/5
68. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्य-साधनं हेतुः । तथा वैधर्म्यात् ।  
—न्यायसू० 1/1/34, 35
69. (क) अविनाभावेन प्रतिपादयतीति चेत् । अथापीदं स्यात् अविनाभावोऽग्नि-धूमयोरतो धूमदर्शनायाम्निं प्रतिपद्यत इति । तत्र । विकल्पानुपपत्तेः । अग्निधूमयोरविनाभाव इति कोर्धः ? किं कार्यकारणभावः उतैकार्यसमवायः तत्सम्बन्धमात्रं वा ।  
—उद्योतकर, न्यायवा० 1/1/5, पृ० 50 चौखम्भा, काशी, 1916 ई०
- (ख) अधोत्तरभवधारणमवगम्यते तस्य व्याप्तिरर्थः तथाप्युनेषमवधारितं व्याख्या न धर्मो, यत् एव करणं ततो-न्यत्रावधारणमिति । सम्भवव्याख्या चानमेयं नियत— ।  
—वही, 1/1/5, पृ० 55-56
70. (क) सामान्यतोदृष्टं नाम अकार्यकारणीभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषणेन विशेष्यमणो धर्मो गम्यते एत् सामान्यतोदृष्टं यथा बलाकया सलिलानुमानम् ।  
—न्यायवा० 1/1/5, पृ० 47
- (ख) प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकं, सदिति सजातीये स्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि ।  
—वही, 1/1/15, पृ० 49
71. यद्यप्यविनाभावः पक्षेषु चतुर्षुर्वा रूपेषु लिंगस्य समाप्यते इत्याविनाभावेनैव सर्वाणि लिंगरूपाणि संगृह्यन्ते, तथाप्योह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोःसंगृहे गावलीबर्दन्त्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि संगृह्णाति ।  
—न्यायवा० ता० टी०, 1/1/5, पृ० 178
72. एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते ।  
—न्यायकलिका, पृ० 2
73. अविनाभावो व्याप्तिनियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः ।  
—न्यायकलिका, पृ० 2
74. तस्माद्यो वा स वा स्तु, सम्बन्धः, केवलं यस्यासी स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धोति युज्यते । तथा हि धूमादीनां वह्न्यादि-सम्बन्धः स्वाभाविकः, न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः ।—तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तो नुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः ।  
—न्याया० ता० टी० 1/1/5, पृ० 165
75. किरणा० पृ० 290, 294, 295-302
76. तर्कभा० पृ० 72, 78, 82, 83, 88
77. तर्कसं० पृ० 52-57
78. सि० मु० का०, 68, पृ० 51-55
79. इनके ग्रन्थोद्धरण विस्तारभय से यहां अप्रस्तुत हैं ।
80. त० चि०, अनु० खण्ड, पृ० 13
81. वही, पृ० 77-82, 86-89, 171-208, 209-432
82. वही अनु० ख०, पृ० 623-631
- 83-84. प्र० भा० पृ० 103 तथा 100
85. वही, दृग्विद्वारा शास्त्री, टिप्प०, पृ० 103
86. प्र० भा० टिप्प०, पृ० 103
87. किरणा०, पृ० 297
88. मी० श्लोक अनु० खं० श्लोक 4,12,43 तथा 161
89. न्या० प्र० पृ० 4-5
90. प्रमाण वा० 1/3, 1/32 तथा न्यायवि० पृ० 30,93 ; हेतु वि० पृ० 54

६८ । चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



91. न्याय वि० टी०, पृ० 30
92. हेतुवि० टी०, पृ० 7-8, 10-11 आदि
93. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामीः समन्तभद्र, पृ० 196
94. अस्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।  
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ॥—आप्तमी० का० 17-18
95. धर्मधर्म्याविनाभावः सिद्धयत्यन्योत्यवीक्षया ।—वही, का० 75
96. स० सि० 5/18, 10/4
97. न्यायाव० 13, 18, 20, 22
98. तत्वसं० पृ० 406 पर उद्धृत 'अन्यथानुपपन्नत्वे' आदि का० ।
99. प्र० प० पृ० 49 में उद्धृत 'अन्यथानुपपत्येकलक्षण' आदि कारि०
100. न्या० वि० 2/197, 323, 327, 329
101. परी० सु० 3/11, 15, 16, 94, 95, 96
102. साधन प्रकृताभावेननुपपन्नं ।—न्यायवि० 2/69, तथा प्रमाण स० 21
103. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽप्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना ।—शाबरभा० 1/1/5, बृहती, पृ० 110
104. केयमन्यथानुपपत्तिर्नाम ?— न हि अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षसमधिगम्या ।—बृहती पृ० 110-111
105. तत्वसं० पृ० 405-408
106. वैशेष० सू० 9/2/1
107. न्यायसू० 1/1/5
108. उपायहृदय पृ० 13
109. चरकसूत्रस्थान 11/21, 22
110. सां० का० का० 5
111. मुनि कन्हैयालाल, अनुयो० सू० पृ० 539
112. सां० का० का० 6
113. माट्टर वृ० का० 5
114. युक्तिदी० का० 5, पृ० 43-44 ।
115. प्रश० भा० पृ० 104, 106, 113
116. शाबर भा० 1/1/5, पृ० 36
117. सां० तं० कौ०, का० 5, पृ० 30-32
118. न्यायवा० 1/1/5, पृ० 57
119. न्यायवा० ता० टी०, 1/1/5, पृ० 165
120. न्याय कु० च० 3/14, पृ० 462
121. न्यायवा० 1/1/5, पृ० 46
122. न्यायम० पृ० 130, 131
123. तर्कभा० पृ० 79
124. प्रमाणसमु० 2/1
125. न्याय वि० पृ० 21, द्वि० परि०
126. सिद्धसेन न्यायाव० का० 10 । अकलंक सि० वि० 6/2, पृ० 373 । विद्यानन्द, प्र० प० पृ० 58 । माणिक्यनन्दि,  
परी. सु. 3/52, 53 । देवसूरि, प्र. न. त. 3/9, 10 । हेमचन्द्र, प्रमाणमी. 1/2/8, पृ. 39 आदि ।
127. अकलंक, न्यायविनि० 341, 342 । स्याद्द्वर. पृ. 527 आदि ।
128. प्रग. भा. पृ. 104
129. धर्मभूषण, न्यायदी. तृ. प्रकाश, पृ 72
130. वही, पृ. 72-73
131. न्याय सू. 1/1/32
- 132-133. न्यायभा. 1/1/32, पृ. 47
- 134-135. तस्य पुनरवयवाः—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-साक्ष्यप्राप्ति-संशयव्युदास-लक्षणाश्च व्याख्यांगम्, प्रतिज्ञा-हेतु-  
दृष्टान्तोपसंहार-निसमनानि पर-प्रतिपादनांगयिति । —युक्तिदी. का. 6, पृ. 47
136. अत्रधूमः—न, उक्तत्वात् । उक्तमेतन् पुरस्तात् व्याख्यांगं जिज्ञासादयः । सर्वस्य चानुग्रहः कर्तव्य इत्येवमर्थं च  
शास्त्रव्याख्यानां विपश्चिदभिः प्रत्याख्यते, न स्वार्थं सस्वद्वज्जबुद्धयर्थं वा । —वही, का. 6, पृ. 49
137. 'तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः । तस्य पुरस्तात् प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते ।' —यु. दी. का. 6, पृ. 51  
'अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च । तत्र जिज्ञासादयो व्याख्यांगम्, प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनांगम् । तानुत्तरत्र  
वक्ष्यामः ।' —वही, का. 1 की भूमिका पृ. 3



138. युक्तिदीपिकाकार ने इसी बात को आचार्य (ईश्वरकृष्ण) की कारिकाओं—1, 15, 16, 35 ओर 57 के प्रतीकों द्वारा समर्पित किया है ।—यु. दी. का. 1 की भूमिका पृ. 3
139. दशवं ति. गा. 49-137 ।
140. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः । —प्रश. भा. पृ. 114
141. वही, पृ. 114, 115
142. न्याय प्र. पृ. 1
143. वही, पृ. 1, 2
144. माठर वृ. का. 5
145. वादन्या. पृ. 61 । प्रमाण वा. 1/128 । न्यायवि. पृ. 91
146. प्रमाण वा. 1/128 । न्यायवि. पृ. 91
147. प्र. पं. पृ. 220
148. मा. मे. पृ. 64
149. न्यायरत्ना. पृ. 361 (मी. श्लोक अनु. परि. श्लोक 553)
150. न्याय व. 13-19
151. न्या. वि. का. 381
152. पत्रपरी. पृ. 18
153. परीक्षामु. 3/37
154. प्र. न. त. 3/28, 23
155. प्र. मी. 2/1/9
156. न्याय. दी. पृ. 76
157. जैनत. पृ. 16
158. प्र. न. त. 3/23, पृ. 548
159. परी. मु. 3/46 । प्र. न. त. 3/42 । प्र. मी. 2/1/10
160. प्र. न. त. 3/42, पृ. 565
161. प्र. मी. 2/1/10, पृ. 52
162. जैनत. भा. पृ. 16
163. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तवाभासाद्विपर्ययः ।—माणिक्यनन्दि परी. मु. मंगलश्लो. 1
164. न्यायसू. 2/1/38, 39
165. न्यायभा. 2/1/39
166. न्यायसू. 1/2/ 4-9
167. सव्यभिचार विरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ।—न्यायसू. 1/2/4
168. समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च ।—न्यायवा. 1/2/4, पृ. 163
169. न्याय वा. ता. टी. 1/2/4, पृ. 330
170. हेतोः पंचलक्षणानि पञ्चधर्मत्ववादीनि उक्तानि । तेषामेकीकापाये पंच हेत्वाभासा अवन्ति असिद्ध-विरुद्ध-अनेकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः । —न्यायकलिका, पृ. 14; न्याय पं. पृ. 101
171. हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवाभासनाः ।—न्यायभा. 1/2/4 की उत्थानिका पृ. 63
172. प्रमाणमं. पृ. 9
173. वै. सू. 3/1/15
174. प्रश. भा. पृ. 101-102
175. प्रश. भा. पृ. 100
176. प्र. भा., पृ. 122-23
177. वही, पृ. 115
178. प्रमाणमं. पृ. 9
179. उ. ह., पृ. 14
180. एषां पञ्चहेतुदृष्टान्ताभासानां वचनानि साधनाभासम् ।—न्या. प्र. पृ. 2-7
- 181-82-83. वही, 2, 3-7



- |  |  |
|--|--|
| 184. वही. पृ. 4                                  | 185. न्यायप्र. पृ. 7                         |
| 186. मी. श्लोक अनु. श्लोक 58-69, 108             | 187. न्याय रत्ना. मी. श्लोक. अनु. 58-69, 108 |
| 188. मी. श्लो. अनु. परि. श्लोक 70 तथा व्याख्या   | 189. वही, अनु. परि. श्लोक 92 तथा व्याख्या    |
| 190. माठर वृ. का. 5                              | 191. न्यायव. का. 13, 21-25                   |
| 192-93. न्यायाव., का 21                          | 194. वही, का. 22-23                          |
| 195. वही, का. 24-25                              | 196. प्रश. भा. पृ. 123                       |
| 197. न्यायप्र. पृ. 5-7                           | 198. न्या. वि. तृ. परि. पृ. 94-102           |
| 199. न्यायविनि. का. 172, 299, 365, 366, 370, 381 |  |
| 200. परीक्षामुख 6/12-50                          | 201. प्रमाणन. 6/38-82                        |
| 202. प्रमाणमी. 1/2/14, 2/1/16-27                 |  |

पुष्प-चिन्तन-कलिका

एक वार पत्ते ने वृक्ष से कहा—मैं कितने समय से तुम्हारे से बंधा रहा हूँ। मैं अब इस परतंत्र जीवन का अनुभव करते-करते ऊब गया हूँ। कहा भी है 'सर्वम् परवशं दुखं, सर्वम् स्ववशम् सुखं'। अब मैं सर्वतंत्र स्वतंत्र होकर विश्व का आनन्द लूटूँगा।

वृक्ष ने कहा—वत्स! तुम्हारी शोभा और जीवन परतंत्रता पर ही आधृत है। तुम देखते हो कि मेरा भाई—फल वृक्ष से मुक्त होकर मूल्यवान हो गया है। दुकानदार उसे टोपले में पत्तों की गद्दी बिछाकर सजाता है वैसे मैं भी आदर प्राप्त करूँगा पर तुम्हारी यह कमनीय कल्पना मिथ्या है। तुम अपना स्थान छोड़ोगे तो कूड़े-कॉकट की तरह फेंके जाओगे। बिना योग्यता के एक दूसरे की देखा-देखी करना हितावह नहीं है।



## आचार्य जिनसेन

का

## दार्शनिक दृष्टिकोण

—डा. उदयचंद्र जैन

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। ये हमारी संस्कृति एवं धर्म के संरक्षण और सर्वसाधारण जनों को नीति, चारित्र्य, योग, सदाचार आदि की शिक्षा देने वाले महान्तम ग्रन्थ हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य धार्मिक संस्कारों को दृढ़ तथा सरल, सुबोध भाषा में अध्यात्म के गूढ़ तत्वों को समझाना रहा है, इसलिए ये ज्ञान-विज्ञान के कोश कहे जाते हैं। क्योंकि इनमें सभी वेद और उपनिषदों के ज्ञान को विभिन्न कथानकों के माध्यमों से समझाने का प्रयास किया गया है।

पुराण-साहित्य का विकास आज से नहीं अपितु प्राचीन काल से ही होता आया है। इनकी कथा, कहानी एवं दृष्टांत प्राचीन ही हैं। जैसा भाषा-शैली में समयानुसार परिवर्तन होता चला गया, वैसा ही पुराण का रूप भी होता चला गया, फिर भी इनमें प्राचीनता का अभाव नहीं हुआ।

ये सर्वसाधारण के उपकार की दृष्टि से ही लिखे गये हैं। तत्वों का विवेचन लोकोपकारी कथानकों, प्रभावशाली दृष्टांतों एवं नैतिक विचारों को उपस्थित कर गहन सिद्धान्तों को भी बोधगम्य बना दिया। जिसका फल वर्तमान युग में स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

यद्यपि आज इसे स्वीकार नहीं किया जाता। यदि हम इनके विशिष्ट पहलुओं पर विचार करके देखें तो इनकी शिक्षा को भी किसी भी युग में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। रूस, अमेरिका आदि जैसे पाश्चात्य बड़े-बड़े देश हमारी संस्कृति से यों ही प्रभावित नहीं हो जाते? आज जो कुछ भी हम देख रहे हैं वह सब पुराण-साहित्य का ही योगदान कहा जा सकता है।

अतः यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि पुराण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लोक-प्रिय और अनुपम रत्न हैं।

### जैनदर्शन का भारतीय दर्शन में स्थान

भारतीय संस्कृति की परम्परा अति प्राचीन मानी जाती है। मनुष्य ने अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए किसी न किसी दृष्टिकोण का सहारा अवश्य लिखा होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति की प्राचीनता के साथ दार्शनिक प्राचीनता अवश्य दिखलाई देती है। परन्तु इसका प्रारम्भ कब हुआ, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

७२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



दार्शनिक विचारधारा के आदि स्रोत वेद और उपनिषद् माने गये हैं। इनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा दर्शन के साथ जैन-बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं छोड़ दिया जाता है। जो कुछ भी हो अन्य दर्शनों के साथ जैन दर्शन का भी स्वतंत्र विकास हुआ है।

जैनदर्शन का अनेकांत सिद्धांत समन्वयात्मक दृष्टि के आदर्श को लिए हुए है, जो भारतीय दर्शन को सन्देह से मुक्त करके भारतीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास का अनुपम साधन कहा जा सकता है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने जैनदर्शन के प्राक्कथन में लिखा है “भारतीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैनदर्शन का अत्यन्त महत्व है। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परम-सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैनदर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है उसकी समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता”<sup>1</sup>

जैनदर्शन एक बहुतत्त्ववादी दर्शन है, जिसने वस्तु को अनन्तधर्मात्मक बतलाकर ‘स्याद्वाद’ की निर्दोष शैली को प्रतिपादित किया। अहिंसा की विचारधारा को जनसाधारण के जीवन के विकास के लिए उपयोगी कहा और कर्म के सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति को महान् बतलाया।

जैनदर्शन के क्षेत्र में प्रस्तुत पुराण का महत्व

यह तो इस पुराण का नाम लेते ही सिद्ध हो जाता है कि यह जैनदर्शन का अनुपम रत्न है। डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य ने आदिपुराण को जैनागम के प्रथमानुयोग ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा है तथा इसे समुद्र के समान गम्भीर बतलाया है।<sup>2</sup>

जैन-साहित्य का विकासक्रम तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति से माना जाता है। इन्होंने विक्रम की प्रथम षताब्दि में नवीन शैली से दार्शनिक दृष्टि को सामने रखकर तत्त्वनिरूपण किया था। उसी के आधार पर पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि महान् आचार्यों ने सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवातिक, तत्त्वार्थश्लोकवातिक, आदि महाभाष्य लिखे गये। जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे ही दार्शनिकों ने जैन दार्शनिकता का अपनी-अपनी शैली में प्रतिपादन शुरू कर दिया।

८ वीं शताब्दि तक जैनदर्शन का अधिक परिष्कृत रूप सामने आ गया था। ९वीं शती में जिनसेन ने भी पूर्वाचार्यों द्वारा जिन कथानकों, तत्त्वों का जिस रूप में वर्णन किया गया है, उसी का आधार लेकर काल वर्णन, कुलकरो की उत्पत्ति, वंशावली, साम्राज्य, अरहंत अवस्था, निर्वाण और युग के विच्छेद<sup>3</sup> का वर्णन किया है।

आदिपुराण के विषय में जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य ने पुराण तथा अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि “आगमरूपी समुद्र से उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्न को कौस्तुभ मणि से भी अधिक मानकर अपने हृदय में धारण करें, क्योंकि इसमें सुभाषितरूपी रत्नों का संचय किया गया है। यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा बहुत दूर है इस विषय में भुझे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबसे श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य का मार्ग मेरे आगे है, इसलिए मैं भी उनके मार्ग का अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्ग का आलम्बन कर अवश्य ही पुराण पार हो जाऊँगा”<sup>4</sup>

1. जैनदर्शन पृ० 15-16
3. आदिपुराण 1/158-162

2. आदिपुराण प्रस्तावना—पृ० 50
4. उत्तर पुराण 43/35-40

आचार्य जिनसेन का दार्शनिक दृष्टिकोण : डॉ० उदयचन्द्र जैन | ७३



उत्तम मनुष्यों की हित में प्रीति होती है और साधारण मनुष्यों को जो इष्ट है वही प्रिय होता है, यह पुराण हितरूप भी है और प्रिय भी है अतः सभी को अच्छी तरह संतुष्ट करता है ।

जैन सिद्धान्त में आत्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन किया गया । और जैनाचार्यों ने आत्म-तत्त्वज्ञान पर विशेष जोर दिया है । इसी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की दृष्टि को रखकर जिनसेनाचार्य ने भी पुराण की रचना की, जिसमें उन सभी सिद्धान्तों का कथानकों के साथ समावेश हो गया, जिन्हें पूर्वाचार्यों ने लिपिबद्ध किया था ।

अतः प्रस्तुत पुराण जैनागमों और जैनदर्शन में अपना महत्वपूर्ण रखता है । इसलिए यह पुराण श्रेष्ठ कहा जाता है । इसकी श्रेष्ठता का एकमात्र कारण है स्वाध्याय ।

भारतीय दर्शन मूलतः आध्यात्मिक दर्शन है । इसे वैदिक और अवैदिक दो रूप में विभाजित किया जा सकता है । न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा और वेदांत वैदिक दर्शन हैं । वेद को प्रमाण मानने के कारण यह वैदिक दर्शन माने जाते हैं । सांख्य और मीमांसा निरीश्वरवादी कहे जाते हैं, फिर भी वेदों को प्रमाण मानने के कारण वैदिक दर्शन हैं ।

न्याय-वैशेषिक आत्मा, ईश्वर, जगत् और मोक्ष के विषय में समान मत रखते हैं । ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है । जगत् का प्रत्येक परमाणु नित्य है । ईश्वर की तरह वे अनादि और अनन्त हैं । उनको नष्ट नहीं किया जा सकता है । ईश्वर जगत् के परमाणुओं का निर्माण करता है, इसलिए वह जगत् का निमित्त कारण कहा जाता है और परमाणु जगत् के उपादान कारण हैं । सांख्य निरीश्वरवादी दर्शन है । इसमें प्रकृति और पुरुष को ही विशेष महत्व दिया है । पुरुष ही दुःख-निवृत्तिकर मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है । योगदर्शन सांख्य की तरह निरीश्वरवादी नहीं है । उसने ईश्वर को जगत् का कारण माना है । जब व्यक्ति अपनी चितवृत्तियों से रहित हो जाता है, तब वह ईश्वरीय कारणों को प्राप्त कर लेता है, स्वयं ईश्वर नहीं बन जाता है । मीमांसा ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते हुए भी सर्वज्ञ को विशेष महत्व देता है । वेदांत दर्शन ब्रह्म का स्वरूप ही सब कुछ मानता है । अज्ञान का अभाव हो जाने से जीव ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है । बौद्ध का ईश्वर सुगत है, वे उसकी ही भक्ति-आराधना आदि करते हैं, पर उसे अन्य दार्शनिकों की तरह इष्ट अनिष्ट फल देने वाला नहीं मानते । इसलिए बौद्ध भी अनीश्वरवादी है । जैनदर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही परमात्मा रूप स्वीकार करता है । प्रत्येक आत्मा अनन्त ऐश्वर्य भुणों से युक्त है, जो आत्मा शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है, वही परमात्मा कहलाने लगता है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि आत्मा ही परमात्मा रूप है, प्रत्येक आत्मा परम-पद को प्राप्त कर सकता है ।

आचार्य जिनसेन ने भी ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार किया है, पर वेदांत दर्शन की तरह ब्रह्म-स्वरूप ही सब कुछ नहीं माना । अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच-परमेष्ठियों को वे पंच-ब्रह्मस्वरूप मानते हैं । जो योगिजन परमतत्त्व परमात्मा का बार-बार ध्यान करते हैं, वे 'ब्रह्मतत्त्व' को जान लेते हैं । इससे आत्मा में जो परम आनन्द होता है, वही जीव का सबसे बड़ा ऐश्वर्य है ।<sup>1</sup>

इस तथ्य से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा ही ब्रह्मतत्त्व रूप है, प्रत्येक आत्मा ब्रह्मतत्त्व रूप है । इस ब्रह्मतत्त्व की शक्ति की अभिव्यक्ति का नाम परमात्मा या परमब्रह्म है । यह परमब्रह्म ही ऐश्वर्य

1. आदिपुराण 21/229-237



गुणों से युक्त होने के कारण ईश्वर कहा जा सकता है, पर यह ईश्वर जगत् का कर्ता, हर्ता नहीं जैसा कि अन्य वैदिक दर्शनों में माना गया है ।

#### जगत् का अस्तित्व

सभी भारतीय दर्शन जगत् को सत्य मानते हैं । न्याय-वैशेषिक जगत् को सत्य मानकर दिक् में अवस्थित मानते हैं । उनका कहना है कि जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से हुई है और ईश्वर ने ही इन जगत् के परमाणुओं की उत्पत्ति की है । इसलिए ईश्वर की तरह जगत् के परमाणु भी अनादि और अनन्त हैं । सांख्य-योग सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों को प्रकृति के परिणाम कहते हैं । ये परिणाम सत्त्वरूप हैं । अतः जगत् भी सत्य है । मीमांसादर्शन भी न्याय-वैशेषिक की तरह जगत् को सत्य मानते हैं । वेदांत ने व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य माना है । बौद्ध-जैन भी जगत् को नित्य मानते हैं ।

जैनदर्शन जगत् को जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्य रूप मानता है । ये छह द्रव्य नित्य हैं इसलिए यह जगत् भी नित्य है, इसे किसी ईश्वर ने नहीं बनाया, न ही इसका कभी नाश हो सकता है । न्याय-वैशेषिक की इस दृष्टि को अवश्य ध्यान में रखा जा सकता है कि उन्होंने जगत् को परमाणुओं से निर्मित बतलाया है । जैनदर्शन भी परमाणु को मानता है, पर पुद्गल परमाणुओं की उत्पत्ति ईश्वर ने की है ऐसा कदापि नहीं मानता । परन्तु इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि यह दृश्यमान जगत् किन्हीं न किन्हीं पदार्थों के संयोग से अवश्य बना हुआ है, वे पदार्थ या द्रव्य कौन से हैं इसका उल्लेख पूर्व में ही किया गया है ।

विश्व (जगत्) के समस्त पदार्थ किसी न किसी रूप में अवश्य बने रहते हैं, इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जगत् अवश्य है और इस जगत् में जीव और पुद्गल की क्रियाएँ भी देखी जाती हैं, इनकी क्रियाओं के निमित्त कारण धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं । इसलिए जैनदर्शन इन द्रव्यों के समूह को 'जगत्' 'लोक' या विश्व कहता है ।

#### आत्मा का अस्तित्व

भारतीय दार्शनिक आत्मा को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं । न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानता है और इसे ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता स्वीकार करता है तथा ज्ञान को वे आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं । जैनदर्शन ज्ञान को आत्मा का ही गुण मानता है । न्याय-वैशेषिक जब आत्मा का मन और शरीर से संयोग होता है तभी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानते हैं । मीमांसादर्शन का मत भी यही है । वह भी चैतन्य और ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानता है तथा सुख-दुःख के अत्यन्त विनाश होने पर आत्मा अपनी स्वाभाविक मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर लेता है, इस समय आत्मा चैतन्य रहित हो जाता है । सांख्य-योग चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं मानता, अपितु चेतन-स्वरूप मानता है । आत्मा (पुरुष) अकर्ता है, वह सुख-दुःख की अनुभूतियों से रहित है । प्रकृति अपने आपको तदाकार करने के कारण सुख-दुःख रूप है और यही सत्त्व क्रियाशील है । और पुरुष शुद्ध चैतन्य और ज्ञानस्वरूप है । वेदान्तदर्शन आत्मा को ही सत्य मानता है, जो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है । अवैदिक दर्शनों में चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता है, वह तो केवल चैतन्य-युक्त शरीर को ही सब कुछ मानता है । बौद्ध अनात्मवादी है वह आत्मा को अनित्य मानता है । शून्यवाद विज्ञानवादी का कहना है कि आत्मा क्षणिक है, विज्ञान-संतान मात्र है । जो क्षण-क्षण में जल के बबूले की तरह परिवर्तनशील है । लेकिन जैनदर्शन आत्मा को नित्य मानता है । यह अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख

आचार्य जिनसेन का दार्शनिक दृष्टिकोण : डॉ० उदयचन्द्र जैन | ७५





और अनन्तवीर्य से युक्त है। जब तक यह बाह्य क्रियाओं में लगा रहता है तब तक उसके यह गुण आच्छादित ही रहते हैं और जब कर्मों का आवरण हट जाता है तब वही आत्मा इन गुणों से युक्त होकर परमात्म रूप को प्राप्त कर लेता है। आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था का नाम ही जैनदर्शन में परमात्मा कहा गया है।

आदिपुराणकार ने आत्मा को ज्ञानयुक्त कहा है।<sup>1</sup> ज्ञान आत्मा का निज गुण है, आगन्तुक गुण नहीं है। तत्त्वज्ञ पुरुष उन्हीं तत्त्वों को मानते हैं, जो सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए हों।<sup>2</sup>

मोक्ष

भौतिकवादी चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन मोक्ष के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। और सभी ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के कारण को मोक्ष कहा है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग के अनुसार दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद हो जाने का नाम मोक्ष है और यह तत्त्वज्ञान से ही होता है। मीमांसा दर्शन भी दुःख के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष मानता है। वेदान्त दर्शन ने जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव को मोक्ष कहा है। विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द की अवस्था ही ब्रह्म है। और यह अवस्था अविद्या रूप बन्धन के कारण के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है। बौद्ध ने निर्वाण को माना है। यह सब प्रकार के अज्ञान के अभाव की अवस्था है। धम्मपद में निर्वाण को एक आनन्द की अवस्था, परमानन्द, पूर्ण-शांति, लोभ, घृणा तथा भ्रम से मुक्त कहा है।<sup>3</sup>

जैनदर्शन ने आत्मा की विशुद्ध अवस्था को मोक्ष कहा है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से अनन्तसुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है और यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप साधन से प्राप्त होता है। इस अवस्था में वह अनन्त चैतन्यमय गुण से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में इस आत्मा का न तो अभाव होता है, न ही अचेतन, न ही दीपक की तरह आत्मा का बुझना निर्वाण है। किसी भी 'सत्' का विनाश नहीं होता इसलिए आत्मा का अभाव नहीं हो सकता। कर्मपुद्गल परमाणुओं के छूट जाने पर ही मोक्ष होता है। इस अवस्था में आत्मा निज स्वरूप में अवस्थित रहता है।

कर्म और पुनर्जन्म के विषय को भी चार्वाक को छोड़कर सभी ने स्वीकार किया है। भारतीय दर्शन का कर्मसिद्धान्त शाश्वत नियम पर आधारित है। और इस नियम के अनुसार शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगना पड़ता है तथा बँधे हुए कर्मों के अनुसार पृथक्-पृथक् पर्यायों में जीव की उत्पत्ति होती है। संसाररूप अवस्था में जन्म मरण का चक्र बराबर चलता रहता है। इसके अभाव में जीव स्वतन्त्र हो जाता है।

आचार्य जिनसेन ने जीव की अवस्था के लिए स्वतन्त्रता और परतन्त्रता इन दो शब्दों का प्रयोग किया, जो अपने आप में नवीनतम हैं। उन्होंने बतलाया कि "संसार में यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि कर्मबन्धन के वश में होने से यह जीव अन्य के आश्रित होकर जीवित रहता है, इसलिए वह परतन्त्र है। जीवों की इस परतन्त्रता का अभाव होना ही स्वतन्त्रता है।<sup>4</sup> अर्थात् कर्मबन्धन जीव के परतन्त्रता के कारण कहे जा सकते हैं और कर्मबन्धनरूप परतन्त्रता (संसार) का अभाव जीव की स्वतन्त्रता (मोक्ष) का परिचायक है।

1. आदिपुराण 5/68

2. आदिपुराण 5/85

3. धम्मपद - 202-3

4. आदिपुराण 42/79-81



जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को क्रमशः अक्षरलिपि और अंकलिपि का ज्ञान कराया। राज्य-व्यवस्था के लिए कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन किया। वीर प्रकृति वाले क्षत्रिय, व्यापार और कृषि प्रधान वृत्ति वालों को वैश्य और शिल्प, नृत्य-संगीत आदि कलाओं में निपुण होने से उन्हें शूद्र वर्ण की संज्ञा दी। भगवान् ऋषभदेव के द्वारा श्रमण धर्म स्वीकार कर लेने के उपरान्त भरतचक्रवर्ती ने व्रत, ज्ञान और चारित्र्य में निपुण व्यक्तियों को ब्राह्मण कहा। इस तरह गुण और कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की।

ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों द्वारा प्रजा के लिए आजीविका करने का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म है। लिखकर आजीविका करना मषिकर्म है। जमीन को जोतना-बोना कृषिकर्म है। शास्त्र पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदि के द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म है। व्यापार करना वाणिज्य है और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्पकर्म है। उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करती थी।<sup>1</sup>

भगवान् ऋषभदेव कर्मभूमि व्यवस्था के अग्रदूत होने से आदिपुरुष<sup>2</sup> या आदिनाथ कहलाये। उन्होंने राज्य-व्यवस्था और समाज-कल्याण की भावना से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। नृत्य करने वाली नीलांजना को नष्ट हुआ देखते ही उन्होंने सोचा कि इस संसार में सुख किंचित् भी नहीं है। मनुष्य का यह शरीर एक गाड़ी के समान है जो दुःख रूपी खोटे बर्तनों से भरी है, यह कुछ ही समय में नष्ट हो जावेगी।<sup>3</sup>

#### जैनतत्व की प्राचीनता

आगमों में जो तत्त्व विचार किया गया है वह भगवान् महावीर के समय से निश्चित ही पुराना है, क्योंकि महावीर ने जो तत्त्वदर्शन का विवेचन किया, वह पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित किया हुआ अवश्य है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध करना सम्भव नहीं, फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि लोक-व्यवस्था, षड्द्रव्य, सप्त-तत्त्व, कर्मसिद्धान्त एवं वर्ण-व्यवस्था आदि का विचार आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव द्वारा किया जा चुका था। उन्हीं के सिद्धान्तों का विचार "आदिपुराण" में विस्तृत रूप से किया गया है।

आदिपुराण में तीर्थंकर, आचार्य और मुनियों के उपदेशों का सम्यक् विवेचन किया गया है। इन उपदेशों द्वारा व्यक्ति के आचरण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का ज्ञान कराया गया है तथा दार्शनिक एवं तत्त्वज्ञान का विशेष उल्लेख किया गया है। तत्त्व की परिभाषा जिनसेन के शब्दों में निम्न प्रकार है :—

"जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते"<sup>4</sup>—अर्थात् जीवादि समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व है।<sup>5</sup> यह तत्त्व सामान्य दृष्टि से एक है और जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है तथा जीव के भी संसारी और मुक्त ये दो भेद माने गये हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं : भव्य और अभव्य। आचार्य जिनसेन ने तत्त्व के चार भेद बताये हैं जो अपने आप में एक नवीन शैली को दर्शाते हैं :—

1. आदिपुराण 16/179 से 187 तक

3. आदिपुराण 15/32

4. आदिपुराण 24/86

2. आदिपुराण 1/15

"तमादिदेवं नाभेयं वृषभं वृषभद्वयम्।"

5. आदिपुराण 24/87

आचार्य जिनसेन का दार्शनिक दृष्टिकोण : डॉ० उदयचन्द्र जैन | ७७



१. मुक्त जीव, २. भव्य जीव, ३. अभव्य जीव, ४. अजीव ।

सूक्तिक और असूक्तिक अजीव के दो भेद हो जाने के कारण प्रकारान्तर से तत्त्व के निम्न भेद<sup>१</sup> कहे जा सकते हैं :—

१. संसारी, २. मुक्त, ३. सूक्तिक, ४. असूक्तिक ।

प्रयोजनीभूत सप्त तत्त्व हैं जिनका पूर्व में वर्णन किया जा चुका है । इन तत्त्वों का विवेचन करते हुए आचार्य जिनसेन ने मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने वाले मुनियों के रहन-सहन, आचार-विचार एवं उनके गमनागमन के नियमों का भी वर्णन किया है ।

मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने वाले साधक सब प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, जिन्हें अपने शरीर के प्रति ममत्व नहीं है, जो धर्म में स्थित हैं और संतोष की भावना से जिन्होंने तृष्णा को दूर कर दिया है ऐसे गृह-रहित मुनिराज श्मशान, वन की गुफाओं में निवास करते हैं तथा सिंह, रीछ, भेड़िया, व्याघ्र, चीता आदि जंगली पशुओं की भयंकर गर्जना वाले स्थान में स्वाध्याय तप, ध्यान आदि दैनिक क्रियाओं को करते हुए पर्यकासन से बैठकर, वीरासन से बैठकर अथवा एक करवट से ही सोकर रात्रियाँ बिता देते हैं ।<sup>२</sup>

वे रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए सांसारिक कार्यों को छोड़कर त्रसकाय, वनस्पतिकाय, पृथिवी-काय, जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय इन छह काय के जीवों की बड़े यत्न से रक्षा करते हैं । वे हृदय में दीनता से रहित अत्यन्त शांत, परम उपेक्षा सहित, तीन गुणियों के धारक तथा जिनके श्रुतज्ञान ही नेत्र हैं, जो परमार्थ को अच्छी तरह जानते हैं । इसलिए वे मुनिजन समीचीन मार्ग का निरन्तर चिंतन करते हुए आहार<sup>३</sup>—विहार आदि क्रियाओं को करते रहते हैं ।

तत्त्व-विचार

“भारतीय साहित्य में तत्त्व के विषय में गम्भीर रूप से विचार किया गया है । “तत्” शब्द से “तत्त्व” शब्द बना है । संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम है । सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं । “तत्” शब्द से भाव अर्थ में “त्व” प्रत्यय लगकर “तत्त्व” शब्द बना है । जिसका अर्थ होता है उसका भाव—“तस्य भावः तत्त्वम्” । अतः वस्तु के स्वरूप को और स्वरूपभूत वस्तु को तत्त्व कहा जाता है ।

दर्शन साहित्य के क्षेत्र में तत्त्व का प्रयोग गम्भीर चिन्तन-मनन के लिए हुआ है । चिन्तन-मनन का प्रारम्भ ही तत्त्व—वस्तुस्वरूप के विश्लेषण से होता है । कि तत्त्वम्—तत्त्व क्या है । यही मूलभूत जिज्ञासा दर्शन क्षेत्र में है ।<sup>४</sup>



1. आदिपुराण 24/88

3. आदिपुराण 24/199-208

2. आदिपुराण 24/172-192

4. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण—देवेन्द्रमुनि शास्त्री



## 'तत्त्वमसि' वाक्य

[जैन-दर्शन और शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में]

—डा. दामोदर शास्त्री

प्रत्येक दर्शन परमतत्त्व के साक्षात्कार करने का मार्ग प्रशस्त करता है। जैसे विविध नदियाँ विविध मार्गों से बहती हुई भी एक समुद्र में ही जाकर गिरती हैं, वैसे ही सभी दर्शनों का गन्तव्य स्थल एक ही है, मार्ग या प्रस्थान का क्रम भले ही पृथक्-पृथक् हो।<sup>1</sup>

प्रत्येक दर्शन की अपनी तत्त्व मीमांसा होती है, जिसके आधार पर वह सत्य की व्याख्या करता है। जैनदर्शन की भी एक सुदृढ़ दार्शनिक परम्परा भारत में प्राचीनकाल से विकसित होती रही है। जैन धर्म व दर्शन के प्रथम (वर्तमान कल्प के) व्याख्याता ऋषभदेव माने गए हैं। ये ऋषभदेव वे ही हैं जिन्हें भागवत पुराण में महान् योगी, तथा भगवान् का एक अवतार माना गया है।<sup>2</sup> यही कारण है कि जैन धर्म की शिक्षा में तथा भागवत पुराण के ऋषभ की शिक्षा में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है। दूसरी ओर, वेदान्त दर्शन भी वेद, उपनिषद्, गीता आदि के माध्यम से प्राचीनतम विचारधारा के रूप में पल्लवित होकर परवर्तीकाल में विविध शाखाओं वाले एक सुदृढ़ विशाल वृक्ष के रूप में फलता-फूलता रहा है।

दोनों दर्शनों के सम्बन्ध में सामान्यतः यही धारणा है कि वेदान्तदर्शन आस्तिक है और जैन दर्शन नास्तिक। आस्तिकता व नास्तिकता की परिभाषा के पचड़े में पड़ना यहां प्रासंगिक न होगा। हमारा तो यही मत है कि जो भी धर्म या दर्शन आत्मा, पुर्नजन्म, परलोक, कर्म-बन्ध, कर्म-मोक्ष आदि तत्त्वों को मानता हो, वह आस्तिक ही है। आचार्य पाणिनि तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि भी उक्त मत का प्रतिपादन करते हैं।<sup>3</sup> इस दृष्टि से दोनों दर्शन आस्तिक ही हैं।

दोनों दर्शनों में कुछ साम्य है, वैषम्य भी है। विषमता पर विचार करना परस्पर दूरी पैदा करता है। फलस्वरूप अज्ञानता बढ़ती है, भ्रान्तियाँ पनपती हैं। प्रायः जनता में विषमता को ही उजागर किया जाता रहा है जिससे सम्प्रदायवाद तथा परस्पर कटुता बढ़ती रही है। यहाँ दोनों की समानता के तथ्यों में से एक तथ्यविशेष पर प्रकाश डालना प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है।

1. (क) रघुवंश 10/26, गीता—11/28, मुण्डकोप. 3/2/8, भागवत पु. 10/87/31, बृहदा. उप. 2/4/11, प्रश्नोप. 6/5, महाभारत-शांति पर्व—2/9/42-43।

(ख) ज्ञानसाराष्टक (यशोविजय)—16/6, सिद्धसेन—द्वात्रिंशिका—5/15।

2. भागवत पु. 5/3-6 अध्याय।

3. अष्टाध्यायी (पाणिनि) सू. 4/4/60, तथा महाभाष्य (पतञ्जलि)।



वेदान्त दर्शन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस महावाक्य के माध्यम से मुमुक्षु आत्मा को परब्रह्म से एकता हृदयंगम कराई गई है। उक्त महावाक्य (शांकर) वेदान्त तथा जैनदर्शन, दोनों में समान रूप से उपयोगिता रखता है। किन्तु दोनों दर्शनों में उसकी उपयोगिता के प्रतिपादन की रीति भिन्न-भिन्न है। जैन-दर्शन में इस महावाक्य की उपयोगिता किस प्रकार प्रतिपादित/स्वीकृत है—इसे सनज्ञो से पूर्व यह समझना उचित होगा कि जैनदर्शन का वेदान्त विचारधारा के प्रति क्या दृष्टिकोण है, उसकी तत्त्व/सत्य को परखने-समझने की पद्धति क्या है, तथा परमात्म-तत्त्व व आत्मतत्त्व के स्वरूप को किस रूप में स्वीकार गया है। जैन-दर्शन की मौलिक तत्त्वमीमांसा या सत्य-परीक्षण की पद्धति का परिचय निम्न प्रकार है—

#### तत्त्व-दर्शन की जैन-पद्धति

जैनदृष्टि से तत्त्व अनिर्वचनीय है।<sup>1</sup> किन्तु उस अनिर्वचनीयता को प्रतिष्ठापना जिस विचार-पद्धति द्वारा की गई है, वह विशेष मननीय है। हमारा, सामान्य जन का, ज्ञान सोपाधिक (विभावज्ञान) होता है।<sup>2</sup> सर्वज्ञ केवली, तीर्थंकर आदि इसके अपवाद हैं। इन्द्रियों की दुर्बलता या विकृति होने पर तो हमें वस्तु का सही ज्ञान ही नहीं पाता, किन्तु यदि इन्द्रियाँ अ विकृत व सक्षम हों तो भी संसार की सभी वस्तुओं को हम नहीं देख सकते। किसी एक वस्तु को भी देश व काल की उपाधि के साथ ही जान पाते हैं, अर्थात् किसी वस्तु की अतीत व अनागत स्थिति को नहीं जान पाते, इसी तरह अत्यन्त दूरी या किसी आवरण व व्यवधान के होने पर भी किसी वस्तु को नहीं देख पाते। जो वस्तु दिखाई भी पड़ती है, उसका भी बाह्य स्थूल रूप ही हमें दृष्टिगोचर हो पाता है। वस्तु का बाहरी रूप प्रतिक्षण निरन्तर परिवर्तनशील है। बीज से वृक्ष पैदा हुआ। वृक्ष को काटा तो लकड़ी बनी। लकड़ी जली और कोयला बन गई। कोयला जला तो राख बन गया। वृक्ष और राख—इन दोनों स्थितियों के मध्य हमें विविध अवस्थाएँ तो दिखाई पड़ती हैं, किन्तु इन विविध अवस्थाओं में भी एक आधारभूत तत्त्व, जो उत्पत्ति व नाश की प्रक्रिया से सर्वथा असम्पृक्त है, दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। वस्तुतः तत्त्व का समग्र रूप तो सृजन, ध्वंस और स्थिति (ध्रुवता) की त्रिलक्षणता में निहित है।<sup>3</sup>

हमारी दृष्टि या तो संश्लेषणात्मक होती है तो कभी विश्लेषणात्मक। संश्लेषणात्मक दृष्टि केवल ध्रुव तत्त्व पर केन्द्रित रहती है, और विश्लेषणात्मक दृष्टि सृजन-ध्वंसात्मक परिवर्तन पर। एक उदाहरण लें—गाय दूध देती है, दूध से दही बनता है, दही से लस्सी बनती है। इन परस्पर पदार्थों में हमारा व्यवहार कभी भेदपरक होता है तो कभी अभेदपरक।<sup>4</sup> जैसे, कोई दवाई दूध से ली जाती है, तो कोई दवाई दही से। दूध से लेने वाली दवाई कभी दही से नहीं ली जाती, और दही से ली जाने वाली दवा कभी दूध से नहीं ली जाती। यहां दवा लेने वाले व्यक्ति की दृष्टि भेदपरक/विशेषपरक है। किन्तु किसी व्यक्ति को डाक्टर ने गोरस-सेवन का परामर्श दिया हो, या किसी व्यक्ति ने गोरस-त्याग का व्रत लिया हो, उसकी

4. तत्त्वं वागतिवति (पद्मनन्दि पंचविंशतिका—11/10, 23/20)।

5. नियमसार—11 (आ. कुन्दकुन्द)।

6. ब्रवचनसार (कुन्दकुन्द)—100-101, तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वामि)—5/29, पंचाध्यायी (पं. राजमल)—1/90-92, 86।

7. सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोक-संव्यवहारः (सर्वार्थसिद्धि—1/33)।

८० | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



दृष्टि में दूध और दही दोनों ही समान हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दूध, दही, लस्सी इन सब में एक 'गोरस' तत्त्व समान रूप से अनुस्यूत है, जो ध्रुव है। इसी प्रकार सोने के विविध आभूषणों में परस्पर-भिन्नता भी है, सुवर्णत्व की दृष्टि से अभेद भी है। सुवर्ण का अभ्यर्थी किसी भी आभूषण को समान रूप से देखेगा। किन्तु सुवर्णकलशार्थी तथा सुवर्णमुकुटार्थी इन दोनों में, पहले व्यक्ति को दुःख और दूसरे को सुख उस समय होगा जब सुवर्णकलश को तोड़कर सुवर्णमुकुट बनाया जाता होगा, जबकि सुवर्ण के अभ्यर्थी को न दुःख होगा और न सुख।<sup>8</sup> अस्तु,

संश्लेषणात्मक दृष्टि में वस्तु नित्य, अविनश्वर, सत्, एक, सामान्य, व अभेदात्मक है, जबकि विश्लेषणात्मक दृष्टि में वह अनित्य, क्षणिक, असत्, अनेक, विशेष व भेदरूप है। वस्तुतः वस्तु समग्ररूप में भेदाभेदात्मक, सदसदात्मक, एकानेकात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक है।<sup>9</sup> इस तरह प्रत्येक वस्तु परस्पर-विरुद्ध अनेक अनन्त धर्मों का अधिष्ठान है।<sup>10</sup>

विचार-अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रत्येक वस्तु की सत्ता सापेक्ष होती है—अर्थात् वह अपेक्षाभेद से सद्रूप व असद्रूप—दोनों होती है। वस्तुतः नित्यत्व धर्म अनित्यत्व धर्म का अविनाभावी है।<sup>11</sup> जैन दृष्टि से भाव की तरह अभाव भी वस्तुधर्म है।<sup>12</sup> घड़ा है—इस कथन में 'है' यह पद घड़े की आपेक्षिक सत्ता को ही व्यक्त करता है, न कि निरपेक्ष सत्ता को। वह नियत स्थान, क्षेत्र, रूप, आकार, गुण विशेष की सत्ता को ही द्योतित करता है। दार्शनिक भाषा में घड़ा 'घड़ा' रूप में ही है, अर्थात् वह अन्य द्रव्यरूप (पट आदि) में बहुत कुछ 'नहीं' भी है, वह पार्थिव है, भौतिक है, अचेतन है; किन्तु वह जलात्मक, अभौतिक या चेतन आदि नहीं भी है। अपने नियत अवयवों से, अपने ही नियतकाल से, अपने नियत गुणादि से सम्बद्धता की अपेक्षा से ही उसका अस्तित्व है। संक्षेप में, प्रत्येक द्रव्य अनन्तानन्त स्वतन्त्र इकाइयों में विभक्त है, प्रत्येक इकाई भी अनन्त-अनन्त त्रैकालिक अवस्थाओं में विभक्त है। पूर्ण सत्य वही कहा जाएगा—जो द्रव्य की समष्टि को अपने अन्दर समेटने की क्षमता रखता हो। कहना न होगा कि सीमित ज्ञान-शक्ति वाले सांसारिक प्राणी समग्र वस्तु का साक्षात्कार कभी नहीं कर पाते, और कुछ जान भी पाते हैं तो धर्मों की परस्परविरुद्धता को वाणी से कह भी नहीं पाते। चूंकि भाषा की शक्ति सीमित है, इसलिए वस्तु के परस्पर-विरुद्ध धर्मों का, या उसके अनन्त धर्मों का, अथवा उसकी भेदाभेदात्मकता, नित्यानित्यात्मकता आदि का, एक साथ कथन सम्भव नहीं है, इसलिए वस्तु 'अवक्तव्य' है। वास्तव में हमारा सारा शाब्दिक व्यवहार, अभिप्राय-विशेषवश वस्तु के अनन्तधर्मों तथा परस्परविरुद्ध अनेक धर्म-युगलों में किसी एक ही धर्म-विशेष पर केन्द्रित रहता है। उक्त धर्मविशेषाश्रित कथन पूर्ण 'असत्य' नहीं; तो पूर्ण सत्य भी नहीं कहा जा सकता। जैनदृष्टि से यह 'सत्य का अंश' कहा जाता है।<sup>13</sup>

8. आप्तमीमांसा (समन्तभद्र)—69, 59, अध्यात्मोपनिषद् (यशोविजय) 1/44, तुलना—पातंजल महाभाष्य—1/1/1, योगसूत्रभाष्य—4/13, प्रवचनसार—2/101-102।

9. पद्मनन्दि पंचविंशतिका—4/59।

10. अनन्तधर्मणस्तत्त्वम् (समयसार-कलश—आ० अमृतचन्द्र—2)।

11. सम्मतितर्क (सिद्धसेन)—3/1-4, प्रवचनसार—2/100-101।

12. युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र)—59, न्यायावतार (सिद्धसेन)—16, सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद)—9/2।

13. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (विद्यानन्दि)—1/6 सूत्र पर श्लोक सं. 6, जैन तर्कभाषा (यशोविजय)—नय विवरण।

'तत्त्वमसि वाक्य' : डॉ० दामोदर शास्त्री | ८१



यह तो हुई सामान्यजनों की बात। सर्वज्ञ केवली तीर्थंकर भी, जिन्हें सम्पूर्ण लोक के अनन्त पदार्थों का, तथा उनकी अनन्त इकाइयों—अनन्त त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल अवस्थाओं को स्पष्ट देखने की शक्ति प्राप्त है,<sup>14</sup> भाषा की सीमित शक्ति के कारण वस्तु को समग्र रूप से एक साथ कह नहीं पाते, यदि वे क्रमशः भी कहें तो अनन्त काल लग जाएगा। सर्वज्ञ तीर्थंकर ने अपने उपदेश में यह प्रयास किया है कि वस्तु के विविध सत्यांशों को क्रमशः उजागर किया जाय। किन्तु विडम्बना यह भी है कि जो कुछ भी उन्होंने कहा, उसमें से कुछ (अनन्तवाँ) भाग ही लिपिबद्ध किया जा सका,<sup>15</sup> और जो लिपिबद्ध भी हुआ उसमें से बहुत कुछ लुप्त हो चुका है।<sup>16</sup>

#### अनेकान्तवाद-स्याद्वाद पद्धति

जैन दर्शन ने 'परम सत्य' को समझने/समझाने/निरूपित करने के लिए अनेकान्तवाद व स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। अनेकान्तवाद वस्तु में परस्पर-विरुद्ध धर्मों की अविरोधपूर्ण स्थिति का तथा उसकी अनन्तधर्मात्मकता का निरूपण करता है। स्याद्वाद सीमितज्ञानधरी प्राणियों के लिए उक्त अनेकान्तात्मकता को व्यक्त करने की ऐसी—पद्धति निर्धारित करता है जिससे असत्यता या एकांगिता या दुराग्रह आदि दोषों से बचा जा सके। (१) 'यह वस्तु घड़ा ही है', (२) 'यह घड़ा है' (३) 'मेरी अपनी दृष्टि से, या किसी दृष्टि से (स्यात्) यह घड़ा है'—ये तीन प्रकार के कथन हैं। इनमें उत्तरोत्तर सत्यता अधिक उजागर होती गई है। अन्तिम कथन परम सत्य को व्यक्त करने वाली विविध दृष्टियों तथा उन पर आधारित कथनों के अस्तित्व को संकेतित करता हुआ परम सत्य से स्वयं की सम्बद्धता को भी व्यक्त करता है। इसलिए वह स्वयं में एकांगी (एकधर्मस्पर्शी) होते हुए भी असत्यता व पूर्ण एकांगिता की कोटि से ऊपर उठ जाता है। जैसे, अंजलि में गृहीत गंगाजल में समस्त गंगा की पवित्रता व पावनता निहित है, उसी तरह उक्त कथन में सत्यता निहित है। वास्तव में अपने कथन की वास्तविक स्थिति (सापेक्षता का संकेत) बताने से सत्यता ही उद्भासित हो जाती है। जैसे, कोई मूर्ख व्यक्ति यह कहे कि "मैं पंडित हूँ, किन्तु मैं झूठ बोल रहा हूँ" तो वह असत्य बोलने का दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने अपने कथन की वास्तविकता को भी उजागर कर दिया है। ठीक वही स्थिति 'स्यात् घट है' इस कथन की है। यहाँ 'स्यात्' पद से कथन की एकधर्मस्पर्शिता व्यक्त की जा रही है, साथ ही अन्य विरोधी दृष्टि से जुड़े विरुद्धधर्म की सत्ता से भी अपना अविरोध व्यक्त करता है, जिससे उक्त कथन 'सत्य' की कोटि में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही जैन-दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त का हार्द है।

#### विविध प्रस्थानों में वेदान्त दर्शन: जैन दृष्टि से

जैन दर्शन की दृष्टि में सभी विचार-भेदों में वैयक्तिक दृष्टिभेद कारण है। वास्तव में उनमें विरोध है ही नहीं। विरोध तो हमारी दृष्टियों में पनपता है। वस्तु तो सभी विरोधों से ऊपर है। एक ही व्यक्ति किसी का पिता है, किसी का बेटा है, किसी का भाई है तो किसी का पति। उस व्यक्ति का प्रत्येक सम्बन्धी-जन दृष्टिविशेष से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः व्यक्ति पितृत्व, पुत्रत्व आदि विविध धर्मों का

14. तत्त्वार्थसूत्र—1/29, प्रवचनसार—6/37-42, 47-52।

15. समन्वितर्क—2/16, राजवास्तिक—1/26/4, विशेषाक्षयकभाष्य-1094-95, 140-142, आवश्यकनिर्युक्ति 89-90, द्वादशार नयचक्र (चतुर्थ आरा)—पृ. 5, पद्मपुराण—105/107, उग्रादित्यकृत कल्याणकारक—1/49, पृ. 16, पट्टखण्डागम—ध्वला-पुष्पक-12, पृ. 171।

16. तिलोय पण्णत्ति (प्रतिवृषभ)—4/757, 1471, 1583, 2032, 2366, 2753, 2889 आदि-आदि।



पुञ्ज भी है।<sup>17</sup> यही स्थिति परमसत्य के विषय में है। सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से उसका निरूपण करते हैं, किन्तु उन सभी ज्ञात-अज्ञात दृष्टियों का समन्वित रूप ही परम सत्य है। समस्त दृष्टियों को सात वर्गों में जैन आचार्यों ने विभाजित किया है और इन्हें 'नय' नाम से अभिहित किया है। नयों की संख्या सात है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवम्भूत।

इनमें से कोई नय (व्यवहार) भेदग्राही है, कोई (संग्रह) नय अभेदग्राही है।<sup>18</sup> कोई (नैगम) नय संकल्प में स्थित भावी या भूत पदार्थ को विषय करता है तो कोई (ऋजुसूत्र) नय सामान्यजनोचित व्यवहारानुरूप सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मों को विषय करता है, या कार्यकारण, आधार-आधेय की दृष्टि से वस्तु का औपचारिक कथन के आश्रयण को स्वीकृति प्रदान करता है। कोई (ऋजुसूत्र) नय अतीत अनागत रूपों को ओझल कर मात्र वर्तमान प्रत्युत्पन्नअगवर्ती स्थिति को ग्रहण करता है तो कोई (शब्द) नय काल, लिंग, कारक आदि भेद पर आधारित वाच्य पदार्थ के भेद पर, और कोई (समभिरुद्ध) नय पर्याय-भेद से वाच्य पदार्थ-गत भेद पर बल देता है—अर्थात् पदार्थगत स्थिति के अनुरूप ही पर्याय-विशेष के शाब्दिक प्रयोग को उचित ठहराता है। कोई नय (एवम्भूत) अतीत व अनागत पदार्थगत रूपों के स्थान पर वर्तमान अवस्था के अनुरूप ही उस पदार्थ के लिए वाचक शब्द का प्रयोग उचित ठहराता है। व्यवहार में हम सभी किसी न किसी दृष्टि (नय) का आश्रय लेते हैं।<sup>19</sup>

उक्त सभी नयों को दो दृष्टियों में भी बाँटा गया है। वे हैं—द्रव्यास्तिक (अभेदग्राही) व पर्यायास्तिक (भेदग्राही)। सत्यान्वेषी के लिए दोनों दृष्टियाँ समान रूप से आदरणीय मानी गई हैं, वे दो आँखों के समान कही गई हैं।<sup>20</sup> जिस प्रकार मथानी के चारों और लिपटी रस्सी के दो छोरों को दोनों हाथों में लेकर मक्खन निकाला जाता है, उस समय एक छोर को अपनी ओर खींचते हुए दूसरे छोर को ढीला किया जाता है, फिर दूसरे छोर को खींचते हुए पहले छोर को ढीला किया जाता है। उसी प्रकार सत्यान्वेषी को चाहिए कि वह उभय नय को क्रम-क्रम से प्रधानता-गौणता प्रदान करते हुए तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करे,<sup>21</sup> और ज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रसंगानुरूप किसी दृष्टि को हेय या उपादेय करे।<sup>22</sup>

प्रत्येक नय अपने दूसरे नयों के साथ संगति/समन्वय/अविरोध रखे तो वह अनादि अविद्या (मिथ्यात्व) को दूर करने तथा मोक्षोपयोगी ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक हो सकता है, अन्यथा नहीं।<sup>23</sup>

वास्तव में प्रत्येक नय अपने आप में—अपनी अपनी मर्यादा में—सत्यता लिए हुए है, परन्तु अन्य नयों का निराकरण व विरोध प्रदर्शित करने से ही वह 'असत्य' बन जाता है।<sup>24</sup>

17. सन्मतितर्क—3/17-18

18. अष्ट्यात्मसार—18/88

19. इष्टव्य - तत्त्वार्थसूत्र—1/33, तथा उस पर राजवार्त्तिक, सर्वार्थसिद्धि तथा श्लोकवार्त्तिक आदि। स्याद्वाद मंजरी—का. 28, आलाप पद्धति—5, बृहद् नयचक्र—185, हरिवंश पुराण—58/41।

20. समयसार—113-115 पर तात्पर्यवृत्ति।

21. पृथ्वार्थसिद्ध सुपाय—225

22. क्षत्रचूडामणि—2/44, आदिपुराण—20/156-157, उत्तरपुराण—74/549, 56/73-74, नियमसार—52, तथा तात्पर्यवृत्ति गाथा—43 (नियमसार) पर।

23. सर्वार्थसिद्धि—1/33, राजवार्त्तिक—1/33/12, सन्मतितर्क—3/46, 1/21-27, स्वयम्भूतस्तोत्र—1, आप्तमीमांसा—108, गोमटसार—कर्म० 895, कषायप्राभृत—1/13-14, नयचक्र—श्रुत० 11, कातिकेयानु-प्रेक्षा—266, धवला—9/4, 1,45, अष्टप्रात्मोपनिषद् (यशोविजय)—1/36।

24. सन्मतितर्क—1/28, ज्ञानसारष्टक (यशोविजय)—32/2।





जैनदृष्टि से प्रत्येक भारतीय दर्शन किसी न किसी 'नय' से सम्बद्ध है। एक ओर मीमांसक, अद्वैतवादी व सांख्य दर्शन अभेदवादी द्रव्यास्तिक नय को अंगीकार करते हैं, तो दूसरी ओर बौद्धदर्शन भेदवादी पर्यायास्तिक नय को <sup>125</sup> चार्वाकदर्शन व्यवहार नय को, बौद्ध ऋजुसूत्र नय को, नैयायिक-वैशेषिक नैगम नय को, तथा सांख्य व अद्वैतवादी संग्रहनय को अंगीकार कर वस्तु तत्त्व का निरूपण करते हैं।<sup>126</sup>

इन सभी नयों तथा उनके आश्रयित दर्शनों के प्रति जैनाचार्यों की अपनी तटस्थ दृष्टि रही है। इतना ही नहीं, कुछ स्थलों में उनके प्रति पूर्ण आदर भी व्यक्त किया है। जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है—सभी शास्त्रकार महात्मा तथा परमार्थ (उच्च) दृष्टि वाले हैं, वे मिथ्या बात कैसे कह सकते हैं?<sup>127</sup> वस्तुतः उनके अभिप्रायों में भिन्नता है, इसलिए उनके कथन में परस्पर-भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि जितने अभिप्राय होंगे उतनी दृष्टियाँ होंगी और तदनु रूप उतने ही बचन या व्याख्यान के प्रकार होंगे।<sup>128</sup> सच्चा जैनी सभी दर्शनों की एकसूत्रता को ध्यान में रखता है। शास्त्रज्ञ वही है जो सभी दर्शनों को समान आदर से देखता है।<sup>129</sup> सच्चा जैनी अभिमानवश अन्य धर्मों का तिरस्कार नहीं करता।<sup>130</sup> वह सभी दृष्टियों को मध्यस्थता से ग्रहण करता है।<sup>131</sup> मदोद्धत होकर अपने ज्ञान व मत/सम्प्रदाय की महत्ता की प्रशंसा तथा दूसरे की निन्दा से वह दूर रहना पसन्द करता है।<sup>132</sup> आचार्य सिद्धसेन ने स्पष्ट मुझाव प्रस्तुत किया कि दूसरे दर्शनों/धर्मों के सिद्धान्तों को जानना चाहिए, और जान कर सत्य को पुष्ट करने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु उनका खण्डन करने का विचार कदापि उचित नहीं।<sup>133</sup> व्यर्थ या शुष्क वाद-विवाद से हमेशा बचना चाहिए, क्योंकि उससे किसी तत्त्व तंक पहुँचना सम्भव नहीं होता।<sup>134</sup> जैन मत में बुद्ध तत्त्व (परमपद/परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति मध्यस्थ/उदार दृष्टिकोण वाले को ही होती है।<sup>135</sup> मध्यस्थ भाव के साथ किया गया एक पक्ष का ज्ञान भी सार्थक है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं।<sup>136</sup>

कठिनाई यह है कि दर्शन अभिप्राय-भेदों पर ध्यान न देकर परस्पर विवाद में उलझ जाते हैं।<sup>137</sup> जब भी कोई दर्शन दुराग्रहवाद से ग्रस्त हो जाता है, अपनी ही प्रशंसा और दूसरों को अप्रामाणिक बताकर उनकी निन्दा करता है, तो ज्ञान व कर्म की ग्रन्थियों को सुलझाने की अपेक्षा और अधिक उलझा देता है।<sup>138</sup> जैसे कई अन्धे व्यक्ति किसी विशालकाय हाथी को स्पर्श कर, पृथक्-पृथक् आंशिक रूप से तो

25. स्याद्वाद मंजरी, का. 14

26. जैनतर्कभाषा—नयपरिच्छेद, तथा स्याद्वाद मंजरी, का. 14।

27. शास्त्रवार्तासमुच्चय—3/15

28. सन्मतितर्क—3/47

29. अष्टप्रात्मोपनिषद्—1/70

30. रत्नकरणश्रावकाचार—26

31. ज्ञानसार (यशोविजय)—32/2

32. प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति)—91-109

33. द्वात्रिंशिका 8/19, अष्टक प्रकरण—12/1-8

34. यशोविजय कृत द्वात्रिंशिका—8/1-8, 23/1-17, 32, अष्टप्रात्मोपनिषद्—1/74

35. ज्ञानसाराष्टक—15/6, समयसारकलश—341, 248-261

36. अष्टप्रात्मोप. 1/73

37. सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिका—20/4

38. विशेषावश्यकभाष्य—62, सूत्रकृतांग—1/1/23, पद्मनन्दि पंच. 4/5

८४ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



जान लेते हैं, किन्तु कोई अन्धा पूर्ण समग्र ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता,<sup>39</sup> क्योंकि पूर्ण समग्र दर्शन खुली आँखों से, उदार/व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर ही सम्भव है।

इस प्रकार, जैनदृष्टि से वेदान्तदर्शन एक दृष्टिकोण है, जिसे ग्रहण किए बिना पूर्ण सत्य का ज्ञान सम्भव नहीं। इतना ही नहीं, कई विषयों में वेदान्त व जैन दर्शन दोनों की विचार-समता दृष्टिगोचर होती है।

वेदान्तदर्शन, विशेषकर शांकर अद्वैतदर्शन, सामान्यग्राही है। उसकी घोषणा है—एकमात्र ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है—‘ब्रह्म सत्यं जगत् भिष्या’। जैनदर्शन में भी ब्रह्मस्थानीय ‘समस्त पदार्थ-व्यापी’ एक परम सत्ता की कल्पना की गई है।<sup>40</sup> किन्तु जहाँ शांकर वेदान्तसम्मत ब्रह्म ‘प्रज्ञानधन’ है,<sup>41</sup> वहाँ जैनसम्मत उक्त परमसत्ता त्रिदन्दि-उभयद्रव्यव्यापी है।

द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य का कथन करते समय, समस्त गुण-भेद की, तथा गुण-गुणीभेद की वासना मिट जाती है, और एक ‘अखण्डद्रव्य’ प्रतीति में आता है।<sup>42</sup> इस प्रकार, जैनदर्शन तथा वेदान्त दर्शन (शांकर)—दोनों ही ‘एक तत्त्व’ की कल्पना में सहभागी दृष्टिगोचर होते हैं।

ब्रह्म (परमतत्त्व) और जैनदृष्टि

सभी द्रव्यों/पदार्थों की सार्थकता आत्म द्रव्य की सिद्धि में निहित है,<sup>43</sup> और चूँकि आत्मा सभी तत्त्वों में उत्कृष्ट है,<sup>44</sup> अतः वही ‘परमतत्त्व’ है।<sup>45</sup> शुद्धात्मा-प्राप्ति ही निर्वाण है, इसलिए जैन परम्परा में निर्वाण को भी ‘परमतत्त्व’ कहा गया है।<sup>46</sup> जीवादि संसारी बाह्य तत्त्व हेय हैं,<sup>47</sup> और ‘परमतत्त्व’ ही उपादेय और आराध्य है।<sup>48</sup> यहाँ ‘परमात्म तत्त्व’ से शुद्धात्मा (संसार-मुक्त) ग्राह्य है, संसारी आत्मा नहीं।<sup>49</sup> शुद्धात्मा को ही जैन शास्त्र में ‘ब्रह्म’, ‘परब्रह्म’<sup>50</sup> और ‘सहज तत्त्व’<sup>51</sup> भी कहा गया है।

आत्म-तत्त्व के ज्ञात होने पर कुछ ज्ञातव्य नहीं रह जाता, अतः आत्म-ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि है—इस विषय में उपनिषदों<sup>52</sup> तथा जैनदर्शन का<sup>53</sup> समान मन्तव्य है।

39. पद्मनन्दि पंच. 4/7, तुलना—यशोविजयकृत द्वात्रिंशिका-16/25

40. पंचास्तिकाय-8, प्रवचनसार-2/5, सर्वार्थसिद्धि-1/33, पंचाध्यायी-1/8, 264, तत्त्वार्थभाष्य-1/35

[तुलना—मैत्रायणी उप. 4/6, छान्दोग्य उप. 6/2/1]

41. बृहदा. उप. 2/4/9 (शांकरभाष्य)।

42. प्रवचनसार टीका—1/6 (तत्त्वदीपिका)।

43. अध्यात्मसार-18/3

44. नियमसार-92

45. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-204, पद्मनन्दि पंच. 4/44, 23/12

46. योगदृष्टिसमुच्चय-129, 132

47. नियमसार-38

48. पद्मनन्दि पंच-4/44, 60, 75, 22/1-2

49. समयसार-38 पर तात्पर्यवृत्ति टीका

50. नियमसार कलश-25, मोक्षप्राप्त-2, ज्ञानसाराष्टक 8/7, 2/4, 16/6, परमात्मप्रकाश-171

51. नियमसार कलश-176, 184,

52. उपदेशसाहस्री-सम्यग्मति प्रकरण-1-7, बृहदा. उप. 2/4/13-14, 4/5/6, 4/4/12, श्वेता. उप. 1/12, केनोप. 2/13, मुंडकोप. 1/1/3-6

53. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-4/79, भगवती आराधना, 1/9, पद्मनन्दि पंच. 4/20-21, अध्यात्मसार-18/2-3, समयसार गाथा-15 पर तात्पर्यवृत्ति

‘तत्त्वमसि वाक्य’ : डॉ० दामोदर शास्त्री | ८५



अनेकान्तवादी जैनदर्शन में सामान्य तत्त्वों को देखने-समझने-परखने के लिए दृष्टियों-नयों (द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, तथा नैगम आदि सात नयों) की कल्पना है, वैसे ही आत्म-तत्त्व को अध्यात्म-साधना के सन्दर्भ में हृदयंगम करने हेतु दो अन्य विशिष्ट नयों का निरूपण किया गया है। वे हैं— (१) व्यवहारनय, और (२) निश्चयनय।

निश्चयदृष्टि वस्तु में अभेद देखती है। व्यवहारदृष्टि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—इन चारों में से किसी एक प्रकार से या अनेक प्रकार से भेद देखती है, और कभी-कभी पर-द्रव्य के गुणों/धर्मों को भी किसी द्रव्य में औपचारिक दृष्टि से आरोपित कर लेती है। निश्चयदृष्टि की दो कोटियाँ हैं। निचली कोटि (अशुद्ध) आत्म द्रव्य के उन्हीं धर्मों/गुणों को स्वीकार करती है जो परानपेक्ष हों, अर्थात् आत्मा के स्वभाव-भूत धर्मों को ही अंगीकार करती है, किन्तु निश्चयनय की उच्च (शुद्ध) कोटि आत्म द्रव्य के स्वभावभूत गुणों/धर्मों/त्रैकालिक भावों/अवस्थाओं में भी अभेद देखती है, अर्थात् रागादिनिर्मुक्त अखण्ड 'चिन्मात्र' परमतत्त्व का विषय करती है।<sup>54</sup> अद्वैत दृष्टि (शुद्ध निश्चयनय) से आत्मा के बन्ध, मोक्ष, राग, द्वेष, आदि कुछ भी नहीं है। वह सर्वथा शुद्ध व मुक्त है।<sup>55</sup>

शांकर वेदान्तदर्शन में पारमार्थिक, व्यावहारिक व प्रातिभासिक—ये तीन सत्ताएँ मानी गई हैं। इनमें पारमार्थिक व व्यावहारिक सत्ताएँ जैनसम्मत निश्चयनय व व्यवहारनय से सम्बद्ध प्रतिपादित की जा सकती है।

जैन मान्यता के अनुसार, व्यवहारदृष्टि से द्वैत बुद्धि और निश्चयनय से अद्वैत बुद्धि उत्पन्न होती है।<sup>56</sup> द्वैत बुद्धि संसार को—बन्ध को बढ़ाती है, और अद्वैत बुद्धि मोक्ष की ओर परमात्मता की ओर ले जाती है।<sup>57</sup> ज्ञानी व्यक्ति हेयोपादेय-विशेषज्ञ होता है, इसलिए वह दोनों दृष्टियों को जान कर, आत्मकल्याणकारी अद्वैत दृष्टि (निश्चयदृष्टि) को अंगीकार करता है। परम शुद्ध, एक, अखण्ड आत्मा—'चिन्मात्र' को विषय करने वाली शुद्ध निश्चयदृष्टि का अवलम्बन करने से साधक को अद्वैतरूपता प्राप्त हो जाती है।<sup>58</sup>

जैन दर्शन में शुद्ध परमात्मतत्त्व को 'परमार्थ' नाम से तथा इसे विषय करने वाले निश्चयनय को 'परमार्थदृष्टि' नाम से अभिहित किया गया है।<sup>59</sup> परमार्थदृष्टि से अभेद/अखण्ड तत्त्व की अनुभूति

54. समयसार, 141, समयसार कलश-9-10, 120, पद्मनन्दि पंच. 4/5, 17, 32, 75, समयसार गा. 56 व 272 पर आत्मख्याति, आलाप पद्धति-204, 216, प्रवचनसार-1/77 पर तात्पर्यवृत्ति, अध्यात्मसार-9/8, 18/12, 130, 173, 189, 275, 196, यशोविजयकृत द्वात्रिंशिका-21/9.

55. समयसार-14-15, 278-79, 141, पद्मनन्दि पंच. 11/17, परमात्मप्रकाश-65, प्रवचनसार-172, परमात्म-प्रकाश-68.

56. पद्मनन्दि पंच. 4/17,

57. पद्मनन्दि पंच. 4/32-33, 9/29, अध्यात्मसार-18/196,

58. पद्मनन्दि पंच. 4/31, 11/18, समयसार-186, 206, परमात्मप्रकाश-173

59. प्रवचनसार-2/1 ता. वृत्ति, समयसार-151 पर टीकाएँ (आत्मख्याति व तात्पर्यवृत्ति) धृष्टः-पुस्तक-13, पृ. 280, 286



का होना वैदिक<sup>60</sup> एवं जैन<sup>61</sup> दोनों शास्त्रों में समान रूप से माना गया है। आ. शंकर 'परमार्थ' का वर्णन करते हुए इसे अद्वैत दर्शन में कारण मानते हैं। आचार्य शंकर का वचन 'निश्चयेन ब्रह्माहमस्मि'—'इत्यपरोक्षीकृत्य'<sup>62</sup> हमें जैन दर्शन के निश्चयनय का स्पष्ट ध्यान कराता है।

वेदान्तदर्शन की तरह ही,<sup>63</sup> जैनदर्शन का भी चरम लक्ष्य जीव-ब्रह्म की एकता या शुद्ध चैतन्य स्वरूप की अधिगति (प्राप्ति) में पर्यवसित हो जाता है।<sup>64</sup>

जैन दृष्टि से अभेददृष्टि परमब्रह्म तक जाने का, उससे एकात्मता-प्राप्ति का, अर्थात् स्वस्वरूप-स्थिति पाने का एकमात्र साधन है। वस्तुतः तो परमतत्त्व सभी नयों/दृष्टियों से अतीत है।<sup>65</sup> 'नय' एक पक्ष है, उसका काम परमब्रह्म तक का मार्ग दिखाना मात्र है। परमात्मता प्राप्ति होने पर साधक-साध्य, उपासक-उपास्य, हेय-उपादेय-सभी भाव स्वतः समाप्त हो जाते हैं और शुद्ध चिन्मात्र रूप अवशिष्ट रह जाता है।<sup>66</sup> आ. शंकर के मत में भी ब्रह्म की सत्ता अखण्ड है, मन, बाणी व इन्द्रियों से अतीत है, देश-काल आदि मर्यादाओं से अमर्यादित है। उसका व्याख्यान नेति नेति ही हो सकता है।<sup>67</sup> ब्रह्म सच्चिदानन्द है,<sup>68</sup> अपने मूल रूप से कभी भी व्यभिचरित न होने के कारण सत् है, चैतन्य है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।<sup>69</sup> जैनदर्शन भी परमतत्त्व को अखण्ड, नेति-नेति द्वारा वर्ण्य स्वरूप वाला, तथा अवाङ्मनोगोचर मानता है।<sup>70</sup> वेदान्तदर्शन में संसारी जीव व परमात्मतत्त्व 'परब्रह्म' में भेद का कारण/आधार अविद्या या अज्ञान है, वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है।<sup>71</sup> इस अज्ञान का निरस्तीकरण पारमार्थिक ज्ञान से हो जाता है। अविद्या के निरस्त हो जाने पर जीव ब्रह्मरूपता प्राप्त कर लेता है।<sup>72</sup>

60. एकत्वं पारमार्थिकम्, मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्-(ब्रह्मसूत्र-2/1/14 पर शंकर भाष्य)।  
द्र. विष्णुपुराण-1/2/6, 10-13, 2/14/29-31, 2/15/34-35, 2/16/24, 6/8/100, ब्र. सू. 1/1/4/4 (शंकरभाष्य)। ब्र. सू. 2/1/27 (शंकरभाष्य), भागवत पुराण-5/12/11
61. समयसार-8 पर आत्मभ्रयाति व तात्पर्यवृत्ति टीका, समयसार-कलश-18
62. श्वेता. उप. 4/11 पर शंकर भाष्य
63. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृहदा. उप. 2/4/5)। विषयो जीव-ब्रह्मार्थं, शुद्ध चैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तां तात्पर्यात् (वेदान्तसार-4)। आत्मैकत्व-विद्या-प्राप्तये सर्वे वेदान्ता आरभन्ते (ब्र. सू. शंकर भाष्य, प्रस्तावना)।
64. पद्मनन्दि पंच. 4/20-21, कार्तिकेयानुप्रेक्षा-4/79, अध्यात्मसार-18/2, इष्टोपदेश-49,
65. समयसार-142, पद्मनन्दि-11/53, 42-43, समयसारकलश-4, 9,
66. प्रवचनसार-2/80, ज्ञानसाराष्टक (निलोपाष्टक), ज्ञानसार-26/3,
67. वेदान्तसार, 1/1, तैत्ति. उप. 2/4. केनोप. 1/3, 4, मुण्डकोप-3/1/8, गीता-11/8, बृहदा. उप. 4/5/15, कठोप-2/6/12, मांडूक्योप-7, उपदेशसाहस्री-सम्यग्मति प्रकरण-71
68. वेदान्तसार-1, योगतत्त्वोप. 17, 69. तैत्ति. उप. 2/1,
70. आचारांग-5/6/123-125, समयसार-142, पद्मनन्दि पंच. 11/2, 53, 42-43, परमात्मप्रकाश-19-22, समय-सार कलश-4-9,
71. अविद्याकल्पितं वेद्यवेदितवेदनादिभेदम् (ब्र. सू. शंकर भाष्य-1/1/4)। मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः, न वस्तुकृतः (शंकरभाष्य-ब्र. सू. 1/3/19)। अविद्या-निवृत्ती स्वामन्यवस्थानं परप्राप्तिः (तैत्ति. उप. शंकरभाष्य-प्रस्तावना)। अविद्या-निवृत्तिरेव मोक्षः (मुण्डकोप-1/5 शंकरभाष्य)।
72. ब्रह्मसूत्र-2/1/20, शंकरभाष्य



जैनदर्शन में भी परमतत्त्व 'सच्चिदानन्द' रूप है।<sup>73</sup> संसारी जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर, आत्मानात्मविवेक के अनन्तर, रागादि कर्म का क्षय कर सर्वज्ञता तथा सच्चिदानन्दरूपता क्रमशः प्राप्त कर लेता है।<sup>74</sup>

उपर्युक्त दृष्टियों से आ. शंकर तथा जैन दृष्टि में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है।<sup>75</sup>

तत्त्वमसि वाक्य

वेदान्तदर्शन में 'तत्त्वमसि',<sup>76</sup> 'अहं ब्रह्म अस्मि'<sup>77</sup> 'यत्र नान्यत्पश्यति,<sup>78</sup> न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येद्'<sup>79</sup>—इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों के आधार पर परमात्मा व जीवात्मा की एकरूपता को स्वीकारा गया है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ है—बहू तू है। 'बहू' से तात्पर्य है—परोक्ष व सर्वज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य। तत् से तात्पर्य है—प्रत्यक्ष व अल्पज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य। अर्थात् शुद्ध चैतन्य तथा अज्ञानोपहत चैतन्य—दोनों एकरूप हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य के श्रवण-भननादि से जीव को अपने स्वरूप का भान होता है और जीव ब्रह्मरूपता प्राप्त कर लेता है।<sup>80</sup>

जैनदर्शन के अनुसार मुक्त आत्मा स्वशुद्धात्मरूप परब्रह्म से विभक्त होकर नहीं रहती। वास्तव में शुद्ध निश्चयनय के विषय परमात्मतत्त्व की भावना व ध्यान के सोपान पर चढ़ते-चढ़ते, उपासक ही उपास्यरूपता उसी प्रकार प्राप्य कर लेता है जिस प्रकार दीपक की बत्ती दीपक की लौ के रूप में, तथा वृक्ष की लकड़ी परस्पर रगड़ खाकर अग्नि के रूप में प्रकट हो जाती है।<sup>81</sup>

जैनदर्शन साधक को बार-बार यह परामर्श देता है कि अजीवादि में तथा अशुद्ध जीवावस्था में 'अहम्' या 'मम' की मति छोड़कर शुद्ध परमात्मा के साथ 'सोऽहम्' की भावना को दृढ़ करे तो मुक्ति अवश्यम्भावी है।<sup>82</sup> अज्ञान व आवरण के कारण ही परमात्मा व जीव में भेद दृष्टिगोचर होता है। शुद्ध निश्चयनय या परमार्थदृष्टि से जीवात्मा भी शुद्ध चिद्रूप है। साधक इस परमार्थ दृष्टि का ही अवलम्बन ले और परमात्मा को जीव और जीव को परमात्मा—दोनों को एक समझे, तो इस समभाव से शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेता है—

73. पद्मनन्दि पंच. 4/1, हेम. योगशास्त्र-10/1, नियमसार-40 पर ता. वृत्ति, अष्टात्मसार-18/74

74. पद्मनन्दि पंच. 4/26, 11/42, तत्त्वानुशासन-234, 236, इष्टोपदेश-49, समाधिगतक-35, ज्ञानसाराष्टक-12/1, योगसार प्राभृत-5/40, मोक्षप्राभृत-5, नियमसार-7

75. द्र. ब्रह्मसूत्र-1/4 शांकर भाष्य। समयसार 390 व 404 पर आत्मख्याति टीका, एवं समयसारकलश-235

76. छान्दोग्य उप. 6/8/7

77. बृहदा. उप. 1/4/10

78. छान्दोग्य उप. 7/24/1

79. बृहदा. उप. 4/3/33

80. श्रुत्वा तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव सम्पद्यते (सर्वदर्शन-संग्रह—शांकरदर्शन, पृ. 466)।

81. अमितगति द्वात्रिंशिका-29, समाधिगतक-27-28, 97-98

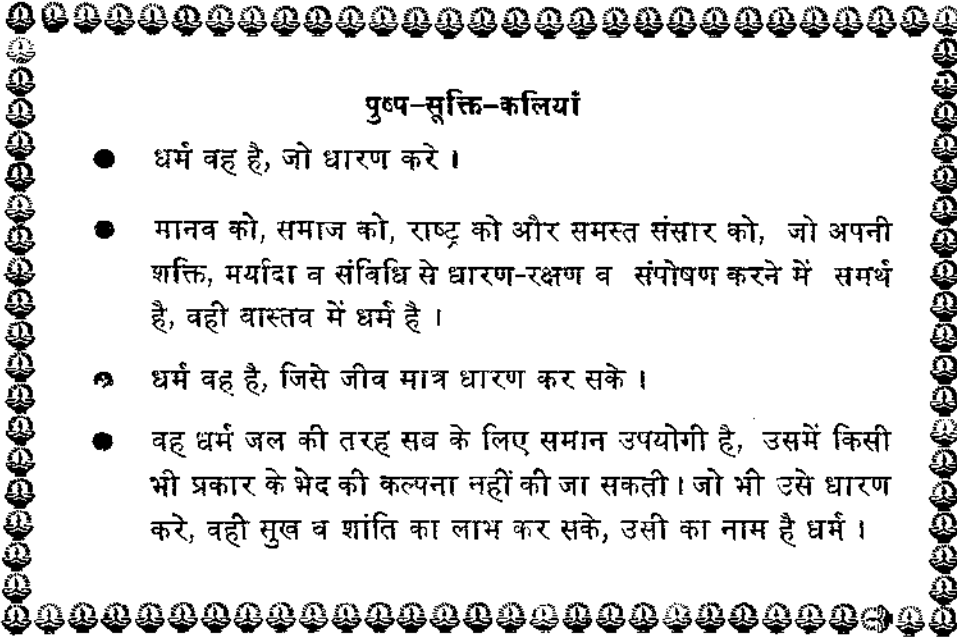
82. नियमसार-96, समयसार 297, समयसारकलश-185, 271, समाधिगतक-23, 28, 43



जो जिणु सो अप्पा मुणहु, इहु सिद्धंतह सारु ।  
 इउ जाणे विण जोइयहो छंडहु मायाचारु ॥<sup>83</sup>  
 जो परम्प्या सो जि हउं जो हउं सो परम्प्यु ।  
 इउ जाणे त्रिणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु ॥<sup>84</sup>  
 एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहि भवतीरु ॥<sup>85</sup>  
 सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलगाणसहाउ ।  
 सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिव लाहु ॥<sup>86</sup>

उपनिषद् आदि में कहा गया है कि ब्रह्म 'विज्ञानघन' है,<sup>87</sup> उसी प्रकार मुक्ति में मात्र 'ज्ञानघनता' ही अवशिष्ट रहती है—ऐसा जैन मत है।<sup>88</sup>

संक्षेप में, वेदान्त (शांकर) तथा जैनदर्शन—दोनों में अन्य मत-भेद होने पर भी इस बात में ऐकमत्य है कि अद्वैतानुभूति ही मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन है, और उस अद्वैतानुभूति के लिए परमार्थदृष्टि का अवलम्बन करना आवश्यक है।



### पुष्प-सूक्ति-कलियां

- धर्म वह है, जो धारण करे।
- मानव को, समाज को, राष्ट्र को और समस्त संसार को, जो अपनी शक्ति, मर्यादा व संविधि से धारण-रक्षण व संपोषण करने में समर्थ है, वही वास्तव में धर्म है।
- धर्म वह है, जिसे जीव मात्र धारण कर सके।
- वह धर्म जल की तरह सब के लिए समान उपयोगी है, उसमें किसी भी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। जो भी उसे धारण करे, वही सुख व शांति का लाभ कर सके, उसी का नाम है धर्म।

83. योगसार (योगीन्दु)-21,

84. योगसार-22

85. योगसार-24

86. योगसार-26

87. बृहदा. उव. 2/4/12

88. समयसार-15 पर आत्मख्याति, समयसार कलश-13, 244-45



## तपः साधना और आज

की

### जीवन्तसमस्याओं के समाधान

—राजीव प्रवंडिया  
( एडवोकेट )

आज हम और हमारा विकास के उत्तुङ्ग शिखर पर है, नये-नये उपकरण, आधुनिक-अत्याधुनिक साधन-प्रसाधन हमने ईजाद/हासिल किये हैं। आज हमारे पास सब कुछ है, किन्तु इस सब कुछ में हमारे बीच जो होना चाहिये, वह नहीं है, यह एक विडम्बना है। स्थायी सुख-शान्ति अर्थात् आनन्द से हम प्रायः वंचित हैं। वह आनन्द जो न कभी समाप्त होने वाला अक्षय कोष/निधि है, जो हमें मोक्ष के द्वार अर्थात् मुक्ति के पार पर ला खड़ा करता है, हमसे न जाने कहाँ गुम हो गया है और हाथ आये हैं मात्र आकर्षण-विकर्षण के रंग-बिरंगे परिधान, नष्ट होने वाली नाना प्रकार की सम्पदायें, बोलती-अबोलती भाषदायें-विषदायें जिनसे सारा का सारा जीवन बाह्य/संसारी प्रभावों में घिर/उलझ जाता है अर्थात् संसार-सागर में डूबता-उतराता रहता है। फलस्वरूप सहजता की ओट में कृत्रिमता मकड़जाल सदृश अपना ताना-बाना बुनने लगती है और हम सब कृत्रिममय होने की होड़ में आज व्यस्त हैं, अस्तु त्रस्त-संत्रस्त हैं। यह सच है, कृत्रिम जीवन से जीवन में तनाव आता है। तनावों से संपृक्त जीवन में अर्सलियत की अपेक्षा दिखावटपने का अंश लगभग शत-प्रतिशत बना रहता है। एक अजीब प्रकार की घुटन, बंचेनी, उकताहट, एक दूसरे में अविश्वास के दौर से हम संसारी जीव बाहर कुछ-भीतर कुछ में जीने लगते हैं। ये कुछ ही तो विकृतियों

को जन्म देते हैं, रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियाँ इनसे उद्भूत होती हैं। जब हमारा जीवन इन दूषित वृत्तियों में सिकुड़-सिमट कर रह जाता है तब जीवन में बसन्त नहीं, पतझड़ का आना होता है, आज व्यक्ति/समाज/राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्र में चारों ओर जो पतझड़ छा रहा है दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण, उसका मूल कारण है हम तपः साधना से हटकर भोग-वासना की दिशा में भटक रहे हैं। यह निश्चित है कि तप से जीवन में बसन्त आता है और भोग से पतझड़। तपःसाधना जीवन को नम्रता, नत्सलता, दया, प्रेम, वसुधैव कुटुम्बकम् की आस्था, सहनशीलता-सहिष्णुता, क्षमादिक उदात्त भावनाओं/मानवीय गुणों से अभिसंचित करती है जबकि भोग में अहंकारिता, कटुता, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, सघर्ष, संकीर्णतादिक अमानवीय/घातक तत्वों का समावेश रहता है। निश्चय ही तपःसाधना में तृप्ति है, जबकि भोग-वासना में वृत्ति है, विकास है कामनाओं का। जितने भोग वासनाओं के हेतु, उपकरण, साधन-सुविधाएँ जुटायीं जाएँगी, अतृप्ति उतनी ही अधिक उद्दीप्त होगी, तब जीवन में बसन्त अर्थात् अनन्त आनन्द नहीं, अपितु पतझड़ अर्थात् विभिन्न काषायिक भाव जो हमारे अस्तित्व, यथार्थ स्वरूप-स्वभाव को घूमिल किये हुए हैं, परिलक्षित/विकसित होंगे। ऐसी स्थिति-परिस्थिति में तप की उपयोगिता-उपादेयता असंदिग्ध है।



प्रस्तुत आलेख में 'तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान' नामक विषय किन्तु परम उपयोगी एवं सामयिक विषय पर संक्षेप में चिन्तन करना हमारा मूल अभिप्रेत है।

भारतीय संस्कृति—वैदिक, बौद्ध तथा जैन—सभी में संसारी जीव के अन्तःकरण की शुद्धता/पवित्रता तथा मोक्ष-प्राप्ति/कर्ममुक्ति पर अत्यधिक बल दिया है अर्थात् जीवन का लक्ष्य ज्ञान-ध्यान-तप पर केन्द्रित किया गया है। तप भारतीय साधना का प्राण-तत्त्व है क्योंकि उससे व्यक्ति का बाह्य-भीतर समग्र जीवन परिष्कृत/परिशाोधित होता हुआ उस चरम बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ से व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रह जाता है अपितु परमात्म अवस्था अर्थात् परमपद/मिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है। तप की इस महिमा-परिभा को देखते हुए वेद-आगम-पिटक सभी एक स्वर से तप को भौतिक सिद्धि-समृद्धि का प्रदाता ही नहीं अपितु आध्यात्मिक तेज-शक्ति-समृद्धि का प्रदाता भी स्वीकारते हैं। तपःसाधना से लक्ष्मि-उपलब्धि, ऋद्धि-सिद्धि, तैजस् शक्तियाँ, अगणित विभूतियाँ सहज ही प्रकट होने लगती हैं।<sup>1</sup> अर्थात् तप से सर्वोत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी प्राप्ति तप से द्वारा न हो सके।<sup>2</sup> तप से प्राणी संसार में विजयश्री एवं समृद्धि प्राप्त कर<sup>3</sup>, संसार की रक्षा कर सकता है।<sup>4</sup> संसार की कोई भी शक्ति तपस् तेज के सम्मुख टिक नहीं सकती।<sup>5</sup> वास्तव में तप मंगलमय है, कल्याणकारी है, सुख प्रदाता है।<sup>6</sup> वह समस्त बाधाओं, अरिष्ट उपद्रवों को शमन करता हुआ क्षमा, शान्ति, करुणा, प्रेमादिक दुर्लभ गुणों को प्राप्त कराता हुआ मोक्ष-पुरुषार्थ को सिद्ध कराता है, अस्तु, वह लौकिक-अलौकिक दोनों ही हित का साधक है।<sup>7</sup> निश्चय ही तप के द्वारा हर प्राणी/जीव, आत्मस्वरूप के दर्शन कर आनन्द को अनुभूति करता है। तपःसाधना व्यक्ति को स्थूल से सूक्ष्म की ओर, बहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर ले जाने में प्रेरणा-स्फूर्ति का संचार करती है, क्योंकि बाहर कोलाहल/हलचल है, दूषण/प्रदूषण है, जबकि भीतर निःस्तब्धता, निश्चलता, शुद्धता है।

विश्व के समस्त दर्शनों में भारतीय दर्शन और भारतीय दर्शन में जैन-दर्शन का अपना स्थान है। जैन-दर्शन में जहाँ

आचार-विचार, इतिहास, संस्कृति, कला-विज्ञान, भूगोल, खगोल-ज्योतिष आदि विविध पक्षों का तलस्पर्शी विवेचन हुआ है, वहाँ साधना-पक्ष में तपःसाधना की विवेचना भी सूक्ष्म तथा तर्कसंगतता लिये हुए है। जैनदर्शन के तप की स्वरूप-पद्धति अन्य दर्शनों की तपःसाधना से सर्वथा भिन्नता रखती है। बौद्ध धर्म में तप की श्रेष्ठता-निकृष्टता पर<sup>8</sup> वैदिक धर्म में तप तैजस् के अर्थ में,<sup>9</sup> साधना के रूप में<sup>10</sup> तथा स्वरूप और ध्येय की दृष्टि से<sup>11</sup> विशद विवेचना की गई है जबकि जैत धर्म में आत्मविकास में सहायक तप की प्रत्येक क्रिया पर अर्थात् तप के समस्त अंगों पर वैज्ञानिक विप्लेषण हुआ है।<sup>12</sup> जैन दर्शन निवृत्तिपरक होने के फलस्वरूप हठयोग अर्थात् तन-मन की विवशता, उस पर बलात् कठोरता के अनुकरण की अपेक्षा सर्वप्रथम साधना की भावभूमि को तैयार कर तन/शरीर को तदनुरूप किया जाता है। अनवरत अभ्यास/साधना की यह प्रक्रिया शनः शनः बाह्य और अन्तःकरण को परिमार्जित करती हुई साधक को तप-साधना में प्रवेश हेतु प्रेरणा प्रदान करती है। यहाँ इस साधना में शरीर-कृशता की अपेक्षा कामिक-कषायों की कृशता पर मुख्य रूप से बल दिया गया है क्योंकि जिस तप से आत्मा का हित नहीं होता, वह कोरा शारीरिक तप निश्चय ही निस्सार है।<sup>13</sup> जैन दर्शन की मान्यता है कि संसारी जीव राग-द्वेषादिक/काषायिक भावों अर्थात् विविध कर्मों से जकड़ा होने के कारण अपने आत्मस्वरूप-स्वभाव (अनन्त दर्शन-ज्ञान, अनन्त आनन्द-शक्ति आदि) को विस्मरण कर अनादिकाल से एक भव/योनि से दूसरे भव/योनि में अर्थात् अनन्त भवों/योनियों में इस संसार-चक्र में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त दुःखों संक्लेशों-विकल्पों में जीता है, अतः दुःखों से निवृत्ति/कर्मबन्ध से मुक्ति अर्थात् आत्म-विकास हेतु/मोक्ष प्राप्त्यर्थ साधना का निरूपण जैन दर्शन का मुख्य लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य हेतु जो साधना की जाती है, वह साधना वस्तुतः तप कहलाती है।<sup>14</sup> नारकी-तिर्यञ्च-देवों-मनुष्यों में मात्र मनुष्य ही तप की आराधना, संयम की साधना कर,<sup>15</sup> अविर्त (हिंसा-झूठ-प्रमाद आदि), कषाय (शोध-मान-माया-लोभ) से विमुक्त होता हुआ तथा कर्मों की संवर-निर्जरा करता हुआ<sup>16</sup> वीतरामता की ओर प्रशस्त होता है। इल्लिये जैन दर्शन में सांसारिक सुखों, फलेच्छाओं, एषणाओं, सांसारिक

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | ६९





प्रवचनाओं हेतु किये जाने वाले तप की अपेक्षा<sup>17</sup> सम्यग्-दर्शन (आत्मवादि तत्त्वों को सही-सही रूप में जानना और उन पर श्रद्धा रखना)—ज्ञान (पर-स्वभेद बुद्धि को समझना)—चारित्र्य (भेदविज्ञानपूर्वक स्व में लय करना) रूपी रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिये, इष्टानिष्ट, इन्द्रिय-विषयों की आकांक्षा का विरोध करने की अपेक्षा निरोध करने के लिये किये जाने वाले तप ही सार्थक तथा कल्याणकारी माने गये हैं।<sup>18</sup>

जैन दर्शन में मर्यादा, व्यवस्था, नियम-विधि उसकी हेयता-उपादेयता आदि पर जो वैज्ञानिक-विश्लेषण हुआ है, वह विश्व के अन्य दर्शनों में दृष्टिगोचर नहीं है। स्वरूप और महत्तादि की दृष्टि से यहाँ तप अनेक संज्ञाओं—सरागतप, वीतरागतप, बालतप तथा अकामतप<sup>19</sup> से अभिहित है। रागादिक व्यामोह के साथ अर्थात् भौतिक प्रतिष्ठा/वैभव-ऐश्वर्य की आकांक्षा, यशोलुपता, स्वर्गिक सुख प्राप्ति हेतु किया गया तप, सरागतप, राग भेदने अर्थात् कर्म-शृंखला से मुक्त, कषायों से अप्रभावीतप, वीतरागतप, यथार्थ ज्ञान के अभाव में अर्थात् अज्ञानता पर आधारित मिथ्यादृष्टिपरक तप, बालतप/अज्ञानतप तथा तप की इच्छा के बिना परवशता-विवशतापूर्वक किया गया तप वस्तुतः अकाम तप कहलाता है। वास्तव में अकाम तप कोई तप नहीं, यह तो मात्र शारीरिक-कष्ट-व्यायाम है। बालतप कर्मबन्ध के हेतु है।<sup>20</sup> इसमें कषाय शीर्षता की अपेक्षा पुष्टता प्राप्त करते हैं, अस्तु ये तप सर्वथा त्याज्य हैं। सरागत तप में राग विद्यमान होने से निम्न स्तर का माना गया है, इसके करने से मिलने वाले फल भी क्षणिक-अल्प-मात्रा में होते हैं।<sup>21</sup> किन्तु वीतरागता से अनुप्राणित तप उत्कृष्ट कोटि का उत्तम फल देने वाला होता है, इसमें समस्त राग-द्वेष का समापन होता है और समता-विराटता के दर्शन होते हैं।<sup>22</sup>

जैन दर्शन आत्म-विकासवादी दर्शन है। आत्मा के विकास में एक सातत्य क्रम है, श्रेणीबद्धता है तथा अस्खलित साधना है। इस दृष्टि से जैन दर्शन में तप को मूलतः दो भागों में विभाजित किया गया है—एक बाह्य तप जिसके अनशन, ऊनोदरी/अवमोक्ष्य, वृत्तिपरिसंख्यान/भिक्षाचरी, रस-परित्याग, काय-व्लेश, प्रतिसलीनता/विविक्त शय्यासन नामक छह प्रभेद हैं, तथा दूसरा

आभ्यन्तर तप जिसमें प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग/कायोत्सर्ग नामक तप समाविष्ट हैं।<sup>23</sup> बाह्य तप बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होता है, इसे दूसरों के द्वारा देखा जा सकता है। इसमें इन्द्रिय-निग्रह होता है किन्तु आभ्यन्तर तप में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा अन्तरंग परिणामों की प्रमुखता रहती है। दूसरों की दर्शनीयता की नहीं अर्थात् आत्म-सर्वेदनशीलता, एकाग्रता, भावों की शुद्धता-सरलता की प्रधानता रहती है।<sup>24</sup> तप-साधना में दोनों प्रकार के तपों का विशेष महत्व है। साधना में जाने वाला साधक सर्वप्रथम बाह्य तपान्तर्गत 'अनशन' में प्रवेश करता है तदनन्तर शनैः-शनैः अभ्यास करता हुआ तथा अनवरत साधना क्रम/बिन्दुओं से गुजरता हुआ आभ्यन्तर तपान्तर्गत ध्यान-व्युत्सर्ग में प्रवेश कर साधना की परिपूर्णता को प्राप्त करता हुआ आत्मा की चरमोत्कर्ष स्थिति में पहुँच जाता है। साधना की इस प्रक्रिया में यदि साधक बाह्यतप में दक्षित बिन्दुओं/भेदों में कदाचित् परिपक्वता प्राप्त नहीं कर पाता तो निश्चय ही वह आभ्यन्तर तप-साधना के क्षेत्र में सही रूप में प्रवेश नहीं कर सकता अर्थात् बाह्यतप के बिना अन्तरंग तप और अन्तरंग तप के बिना बाह्यतप निरर्थक प्रमाणित होते हैं, इनका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, शाश्वत है।

### (१) अनशन

तप-साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट साधक को सर्वप्रथम अनशन तप के सम्पर्क में आना होता है। अनशन तप के विषय में जैन-ग्रन्थों में विस्तृत चर्चा की गई है। ऐसी कोई भी क्रियाएँ जो तीन गुणियों-मनसा-वाचा-कर्मणा से भोजन लेने में निमित्त का कार्य करती हैं, उन समस्त क्रियाओं का त्यागना-छोड़ना अनशन कहलाता है।<sup>25</sup> अनशन का अर्थ है—आहार का त्याग। चित्त का निर्मलता ध्यक्त के भोजन/आहार पर निर्भर हुआ करता है। अपरिमित-असंवनीय/असात्त्विक/अमर्यादित/अस्तुलित आहार जीवन में आलस्य, तन्मा-निद्रा, मोह-वासना आदि कुप्रभावों/कुत्सित वृत्तियों को उत्पन्न कर साधना में व्यवधान उत्पन्न करता है, अरु आहार का त्याग शक्त्यानुसार सावधि अथवा जीवनपर्यन्त तक के लिये किया जाता है। सावधि में यह कम से कम एक दिन-रात्रि, उत्कृष्ट छह महीने



अथवा एक वर्ष की अवधि तक का होता है।<sup>26</sup> आहार-त्याग अवधि की इस निश्चितता और अनिश्चितता के आधार पर अनशन के दो भेद जैनागम में किये गये हैं— एक इत्वरिक और दूसरा यावत्कालिक।<sup>27</sup> इत्वरिक में आहार-त्याग की सीमा निर्धारित-निश्चित रहती है अर्थात् भोजन की आकांक्षा सीमा-समाप्त के बाद बनी रहती है। यह सावकाश, इत्तरिय, अवधृतकाल, अद्धानशन, उपवास आदि संज्ञाओं में अभिहित है। जबकि यावत्कालिक में सीमावधि नहीं रहती है, इसमें पुनः आहार ग्रहण करने की आकांक्षा समाप्त हो जाती है। यह भी यावज्जीव, यावत्कालिक, यावज्जीवित, अनवधृतकाल, सर्वानशन, सकृदधुक्ति आदि नामों में उल्लिखित है।<sup>28</sup> इत्वरिक और यावत्कालिक अनशन के अनेकानेक प्रभेद जैनागम में स्पष्टतः परिलक्षित हैं।<sup>29</sup> जो आहार त्यागने की सीमा और प्रवृत्ति को दर्शाते हैं।

आहार त्यागने का मूलोद्देश्य शरीर से उपेक्षा, अपनी चेतनवृत्तियों को भोजनादि के बन्धनों से मुक्त करना, धुंधलादि में साम्यरस से च्युत न होना अर्थात् सर्व प्रकार की इच्छा-आसक्ति के त्यागने से रहा है। शरीर एवं प्राणों के प्रति ममत्व भावों का विसर्जन अर्थात् समस्त तृष्णाओं का समापन तथा अन्तरंग में विषय-विकारो/कर्म-कषायों से विमुक्ति/निर्जरा एवं आत्मबल की वृद्धि हेतु आहार का त्याग परमापेक्षित है।<sup>30</sup> निश्चय ही आहार-त्याग से प्राण-मन-इन्द्रिय संयम की सिद्धि होती है जिससे संसारी प्राणी समस्त पापक्रियाओं से मुक्त होकर, सम्पूर्ण अहिसादिद्वय का पालन करता हुआ महाव्रती बनता है।<sup>31</sup>

आहार-त्याग अर्थात् अनशन आध्यात्मिक जीवन में/साधना के क्षेत्र में तो उपयोगी है ही, साथ ही अनेकानेक सांसारिक समस्याओं के निराकरण का एक अमोघ साधन भी है। हिंसा, आक्रोश, द्वेष, राग की वृद्धि घर-सभाज, राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो आज प्रज्वलित है, उसका मूल कारण है अनशन तप की अनुपस्थिति। यह निश्चित है कि व्यक्ति का उदर अन्न के अभाव में अथवा अन्न की अतिरेकता में अपराध, संक्लेश, अनैतिक तथा अपवित्रपूर्ण जीवन जीने को बाध्य करता है। इस अनशन तप से व्यक्ति भूख पर तो विजय प्राप्त कर ही लेता है साथ ही

मानसिक-विकारों से दूर रह सकता है। जो अनशन व्यक्ति अधिकारों का हनन अथवा अन्याय शोषण घटित होने पर किया जाता है, उसे जागतिक अनशन कहा जाता है। इसमें विवशता का प्राधान्य रहता है जबकि आध्यात्मिक साधना में अनशन अन्तश्चेतना को जाग्रत करता है। आत्म-विकास-साधना का यह पहला चरण निश्चय ही वह मजबूत आधारशिला है जिस पर चढ़कर साधक निर्वाध रूप से आगे बढ़ता है।

## २ ऊनोदरी

जैन दर्शन की मान्यताानुसार शरीर मोक्ष-साधना के लिये बना है, भोगवासना के लिये नहीं, अस्तु आत्म-विकास में भूल की अपेक्षा हूक की आवश्यकता रहती है। इस तप का अर्थ भी यही है—आहारादि, कषायादि, उपकरणादि तथा वस्तुसंग्रहादि की कमी करना/रखना अर्थात् कम से कम परिग्रह करना अर्थात् तृप्ति करने वाला तथा दण्ड उत्पन्न करने वाला ऐसा जो आहार, उसका मन, बचन, कायरूप तीनों योगों से त्याग करना।<sup>32</sup> जिससे आत्मसाक्षात्कार अर्थात् वीतराग-मार्ग में कोई किसी भी प्रकार का व्यवधान-बाधा उत्पन्न न हो सके। योगपरक जीवन चर्या में साधक की संग्रह/इच्छावृत्ति के संयमन के आधार पर इस ऊनोदरी<sup>33</sup>/अवमौदर्य<sup>34</sup>/अवमौदरिका<sup>35</sup> तप के अनेक भेद-प्रभेद जैनागमों में वर्णित हैं।<sup>36</sup> वास्तव में यह तप संयम साधना/संकल्प-साधना के लिये किया जाता है।<sup>37</sup> संयम से मन-इन्द्रियजन्य व्यापार अर्थात् कषायजन्य विकार (काम-क्रोध-मान-माया-लोभ) शिथिल हुआ करते हैं। स्पष्ट है कि मन और इन्द्रियों को संयत किये बिना और लासलाओं को वश में किये बिना न व्यक्ति के जीवन में तुष्टि आ सकती है और न समाज, राष्ट्र या विश्व में ही शान्ति स्थापित हो सकती है। निश्चय ही यह संयमवृत्ति जीवन जीने की कला का मार्ग प्रस्तुत करती है। यह संयम आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ-साथ व्यावहारिक क्षेत्र अर्थात् आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी परम उपयोगी एवं कल्याणकारी प्रमाणित हुआ है। यह निश्चित है कि संयम के अभाव में एक दूसरे को हड़पने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी जिससे भय, अशान्ति, संघर्ष नये-नये रूपों में जन्म लेकर विकसित होते



जायेंगे। खाद्य संयम की प्रवृत्ति तथा अनावश्यक संचय वृत्ति की कमी आज के अर्थ-वैषम्यजनित सामाजिक समस्याओं का एक सुन्दर समाधान है। राष्ट्रपिता का यह कथन कि "पेट भरो, पेटी नहीं," इस तप के व्यावहारिक रूप की सार्थकता से अनुप्राणित है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आवश्यकता से कम किन्तु उससे अधिक पचाया गया प्रकृति अनुरूप भोजन व्यक्ति को आरोग्य बनाता है।<sup>38</sup> यह निश्चित है कि इस तप के परिपालन से व्यक्ति मीरोग-स्वस्थ रहता हुआ सम्यक् आराधना कर आनन्दसीमा को स्पर्श कर सकता है। आज जहाँ एक ओर विकास के नाम पर मात्र भोग और श्रौक हेतु सुन्दर से सुन्दरतम आकर्षक फैशनेबुल वस्त्रों-उपकरणों, साज-सज्जा के सामान, शारीरिक सौन्दर्य-प्रसाधन हेतु लिपस्टिक, क्रीम, पाउडर आदि तथा चमड़े से विनिर्मित वस्तुओं का प्रयोग, भोग-उपभोग, जिनसे न केवल तिर्यंचयति के अनगिनत जीवधारियों/प्राणधारियों का हनन ही होता है, अपितु इन चीजों के सेवन करने वाले स्वयं अनेक आपदाओं-विपदाओं तथा मानसिक-शारीरिक विकारों/तनावों/कष्टों से ग्रसित होते हैं, वहाँ तप का यह ऊनोदर भाव कितना सार्थक प्रतीत होगा, यह कहने की नहीं, अपितु अनुभवगम्य है। निश्चय ही इनमें उलझे व्यक्तियों को यह तप राहत देगा तथा एक नयी दिशा दर्शाएगा।

## ३. भिक्षाचरी

साधना के क्षेत्र में व्यक्ति को भोजन की कम, भजन की आवश्यकता अधिक रहती है। वृत्तिपरिसंख्यान<sup>39</sup>/वृत्तिसंक्षेप<sup>40</sup>/भिक्षाचर्या अथवा भिक्षाचरी<sup>41</sup> नामक तप में भोजन, भोजन आदि विषयों से सम्बन्धित रागादिक दोषों के परिहार्य हेतु व्यक्ति आत्म-विकास की साधना करता है। साधना में शरीर व्यवधान उत्पन्न न कर इसके लिये साधक को अभिग्रह अर्थात् नियम-प्रतिज्ञा-संकल्पादि षाथा सन्तोष वृत्ति-समतताभाव के साथ विधिपूर्वक निर्वोष आहार/भिक्षाग्रहण करना होता है।<sup>42</sup> भोजन/आहार में संकल्पादि, परिमाण, संख्यादि-नियमादि के आधार पर जैनागम में इस तप के अनेक भेद-प्रभेद स्थिर किये गये हैं।<sup>43</sup>

'भिक्षाचरी' शब्द श्वेताम्बर परम्परा में गोचरी<sup>44</sup>/

मधुकरी<sup>45</sup> से सम्बोधित किया जाता है। जिस प्रकार गाय स्थान-स्थान पर सूखा-हरा चारा बिना भेदभाव के चरती जाती है तथा भ्रमर पुष्प को बिना क्षति पहुँचाए अपना भोजन/वराग ग्रहण करता चलता है, उसी प्रकार भ्रमण साधक भी भोजन-विशेष के प्रति समत्व भाव न रखते हुए मात्र साधना हेतु शरीर संचालन ही सके इस भावना के साथ अपनी उदर पूर्ति करता है। इस तप का दिन-प्रतिदिन किये जाने का निर्देश जैनधर्म में स्पष्टतः परिलक्षित है क्योंकि इससे साधक आहार कम करता हुआ शरीर को कृशकर सलेखना धारण करता है।<sup>46</sup> भिक्षाचरी का एक ही उद्देश्य है कि साधक में भोजन/आहार के प्रति राग की शनैः शनैः कम होते जाने की प्रवृत्ति और यह वृत्ति साधक के स्वयं भीतर के प्रस्फुटित होती है, किसी बाह्य-विवशता से नहीं। वास्तव में इस तप के माध्यम से व्यक्ति-व्यक्ति में आहार/भोजन पर जय-विजय प्राप्त करने की शक्ति जाग्रत होने लगती है। फिर साधक का ध्यान भोजन, नाना व्यंजनो-पकवानों में नहीं, साधना के विविध आयामों में रमण करता है।

## ४. रस-परित्याग

इन्द्रियनिग्रह हेतु, आलस्य-निद्रा पर विजय प्राप्त्यर्थ तथा सरलता से स्वाध्याय-सिद्धि के लिये सरस व स्वा-दिष्ट, प्रीतिवर्धक तथा स्निग्ध आदि भोजन का मनसा-वाचा-कर्मणा के साथ यथासाध्य त्याग, रस-परित्याग तप कहलाता है।<sup>47</sup> तपःसाधना में रस, विकृति, चंचलता अर्थात् उत्तेजना उत्पन्न कर साधक के लक्ष्य में नाना प्रकार के व्यवधान उत्पन्न करते हैं। साधना के मार्ग में इनसे अवरोधता आती है। अस्तु रस अर्थात् दूध, दही, घी, तेल, गुड़ आदि साधना के लिये सर्वथा त्याज्य हैं।<sup>48</sup> निश्चय ही ये रस विकृति एवं विगति के हेतु हैं।<sup>49</sup> इन रसों के त्यागने की विधि-नियम-प्रक्रिया-संख्यादि के आधार पर यह तप जैनागम में अनेक भागों में विभाजित किया गया है।<sup>50</sup>

आज जहाँ एक ओर भक्ष्य-अभक्ष्य का ध्यान न रखते हुए अभक्ष्य अर्थात् मांस, अण्डे, मद्य (शराब), धूम्रपान आदि का सेवन, आधुनिक-अत्याधुनिक, साज-सज्जा से सुसज्जित, सुख-सुविधाओं से संपृक्त, आकर्षक-खर्चिले होटलों में खाने



का प्रचलन आधुनिक सभ्यता का एक अंग बन गया है, वहाँ इस रस-परित्याग तप की कितनी आवश्यकता एवं साधकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। निश्चय ही जिस भोजन से, जो मानव स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है, स्वस्थ विचार, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया, क्षमादि समस्त गुणों का समापन होता हो, मोहादिक कुत्सित वृत्तियों, भोग-वासनादिक तामसी वृत्तियों, मान-अभिमानादि काषायिक-विकारों का प्रादुर्भाव होता हो, तथा आत्मतत्त्व का अपकर्षण होता हो, सर्वथा अस्वाद्य-अभक्ष्य कहलाएगा। आज इन्हीं भोजन का मात्र रस-लोलुपता हेतु निर्बाध रूप से सेवन किया जा रहा है जिसके दूषित परिणाम आज हमारे बीच में हैं। ऐसी स्थिति-परिस्थिति में यह तप निश्चय ही एक उत्तम टॉनिक का कार्य करेगा।

#### ५. कायक्लेश

आत्म-साधना में शरीर को साधनानुकूल बनाने के लिये अर्थात् शरीर के प्रति ममत्व का विसर्जन, अनासक्त भाव का बोध उत्पन्न कराने के लिये अर्थात् शरीर और उसमें निवास करने वाली आत्मा एक नहीं, अलग-अलग है, यह अनुभूति-शक्ति जाग्रत कराने के लिये साधक द्वारा इस नश्वर शरीर को भिन्न-भिन्न प्रकार से अनगिनत असहनीय वेदना-पीड़ा-कष्ट पहुँचाना, कायक्लेश तप कहलाता है।<sup>54</sup> तपःसाधना में यह तप श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवें स्थान पर तथा दिग्म्बर आम्नाय में यह छठवें स्थान पर रखा गया है। किन्तु इसके भौतिक स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों परम्पराओं में इसका मूलोद्देश्य एक ही है—काया को कष्ट देना/देह का दमन करना/इन्द्रियों का निग्रह करना अर्थात् आत्मकल्याणार्थ शरीर के प्रति ममत्वमोह का विसर्जन। यह शरीर के कर्दंनरूप तप अनेक उपायों द्वारा सिद्ध होता है, फलस्वरूप जैनागम में इसके अनेक भेद-प्रभेद स्थिर किये गये हैं।<sup>52</sup>

शारीरिक कष्ट या तो प्रकृतिजन्म या उपसर्गों (देव-मनुष्य-तिर्यञ्च गति के जीवधारियों) द्वारा जिसे परीषद् या उदीरणा के रूप में जिसे कायक्लेश कहते हैं, साधक को भोगने/सहने पड़ते हैं।<sup>58</sup> इस प्रकार साधक स्वकृत एवं परकृत दोनों प्रकार के शारीरिक-मानसिक कष्टों को सहन करता हुआ मात्र आत्म-चित्तन में लीन रहता है। ध्यान में केन्द्रित होने के लिये इस तप की साधना परभावश्यक

है।<sup>54</sup> निश्चय ही इस तप के माध्यम से शीत, वात, आतप, उपवास, तृषा, क्षुधा आदि असहनीय से असहनीय विकट परिस्थितियों में/वातावरण में भी साधक समता भाव और सहजवृत्ति के साथ जीवन का वास्तविक आनन्द उठा सकता है। आज की आपाधापी, अस्थिर, हिंसात्मक स्थिति में भयाक्रान्त व्यक्ति को निर्भयता, निडरता, सहिष्णुता, सहनशीलता तथा शक्ति-सामर्थ्य अर्थात् आत्म-बल के जागरण के लिये कायक्लेश तप की नितान्त आवश्यकता रहती है। निश्चय ही इस तप की भूमिका आज के घिनौने वातावरण में बुझते हुए दिग्गो को प्रज्वलित करने के समान है।

#### ६. प्रतिसंलीनता

शरीर-इन्द्रिय-मन-वचन आदि का संयमन, एकान्त स्थल पर रहना अर्थात् भोग से योग की ओर, विभावों से स्वभाव की ओर अर्थात् सांसारिक/काषायिक वृत्तियों से असांसारिक वृत्तियों/तपःसाधना की ओर अर्थात् बहिर्मुख से अन्तर्मुख की ओर लं जाने की प्रक्रिया/साधना, प्रतिसंलीनता<sup>55</sup>/संलीनता<sup>56</sup>/विविक्तशयनाशन<sup>57</sup> अथवा विविक्तशय्यासन अथवा विविक्तशय्या तप कहलाती है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिसंलीनता तप बाह्य तप के छठवें जबकि दिग्म्बर आम्नाय में विविक्तशय्यासन पाँचवें क्रम में निर्दिष्ट किया गया है।

कर्म-विपाक से विमुक्ति हेतु तपःसाधना जिना व्यवधान के निर्बाध रूप से चलती रहे, इस हेतु जैनागम में इस तप के इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता तथा विविक्तशय्यासन नामक चार भेद किये गये हैं।<sup>58</sup> इन्द्रिय प्रतिसंलीनता में इन्द्रियों को आत्म-केन्द्र की ओर मोड़ देना/सिकोड़ लेना अर्थात् संलीन कर देना होता है। जबकि कषाय प्रतिसंलीनता में काम-क्रोध-मान-माया-लोभादिक कषायों और उनकी प्रकृतियों को नियन्त्रण में रखना होता है। वास्तव में कषाय प्रत्येक जीव के जन्म-मरण अर्थात् सांसारिक भ्रमण के निमित्त का कारण बनते हैं।<sup>59</sup> योग प्रतिसंलीनता में साधक द्वारा मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को कम अर्थात् अन्तर्मुखी बनाया जाता है। विविक्तशय्यासन जैसा कि नाम से स्पष्ट है—एकान्त स्थल। इसमें साधक को ऐसे स्थानों पर अपनी दैनिक आवश्यक क्रियायें जैसा उठना, बैठना, शयन करना आदि

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | ६५



जहाँ किसी भी प्रकार का व्यामोह/ममत्व का अवसर न मिलता हो तथा ध्यान-साधना में किसी भी प्रकार का विघ्न-व्यवधान उत्पन्न न होता हो। कौन-कौन से स्थान साधुओं के ठहरने और न ठहरने के योग्य हैं, जैनागम में इसका विशद विवेचन हुआ है।<sup>60</sup>

निश्चय ही इस तप द्वारा साधक असद्वृत्तियों से हटकर सद्वृत्तियों में अपने मन-वचन और शरीर को तन्मय करता हुआ सुप्त अन्तर्बुद्धि-तन्मयता को जाग्रत कर सकता है। काम-वासना, अहं-भावना, क्रोध-ज्वाला, कपट, छल, प्रवंचना, तथा दूसरों के धन-सम्पत्ति हड़पने की प्रक्रिया की वृद्धि जो आज प्रज्वलित है जिससे परिवार-समाज-राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अस्थिरता-असामाजिकता तथा अराजकता-आतंकवादिता का शोर-शरावा परिलक्षित है, शान्त-शमन हो सकती है।

तपःसाधना के छठवें क्रम तक पहुँचकर साधक को यह अनुभव होने लगता है कि जीवन जीने का लक्ष्य मात्र उदरपूर्ति के साधन-उपकरण जुटाने/एकत्रित करने अर्थात् इन्द्रियजन्य व्यापारों में खपाने की अपेक्षा आत्म-शोधन-विकास में ही होना श्रेयस्कर एवं सार्थक है। साधना के प्रथम चार चरण आहार त्याग से सम्बन्धित हैं क्योंकि बिना आहार-शुद्धि के शरीर-शुद्धि और तज्जन्य चित्त-शुद्धि का होना नितान्त असम्भव है। शेष दो चरणों में शरीर की शुचिता पर बल दिया गया है जिससे मन विकृति से हटकर निवृत्ति की ओर उन्मुख होता हुआ साधना-पथ पर नैरन्तर्य आगे बढ़ने की प्रवृत्ति हो सके।

## ७. प्रायश्चित्त

प्रमाद अथवा अज्ञानता में हुए पापों/अपराधों/दोषों/भूलों का संशोधन/शुद्धीकरण/निराकरण/परिहार तथा भविष्य में इन कार्यों की पुनरावृत्ति न होने देने का स्वकृत सकल्प, प्रायश्चित्त तप कहलाता है।<sup>61</sup> यह आभ्यन्तर तप का प्रथम चरण है। इस तप से साधक में अर्जव गुण अर्थात् मनसा-वाचा-कर्मणा में एकरूपता, समरसता का संचार होता है। साधक शनैः-शनैः साधनापथ में निर्बाध रूप से आगे बढ़ता जाता है अर्थात् शुद्ध-निर्मल-पवित्र सरल-स्वभावी हो जाता है अर्थात् बाहर-भीतर की अन्तर-

रेखा मिट-समिट जाती है। जो वह भीतर है, वही बाहर और जो बाहर है, वही भीतर। उसका आचरण दर्पण सदृश धवल-उज्ज्वल रहता है। जब व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप-गुणों का चिन्तवन करता है, तो प्रायश्चित्त-प्रवृत्ति उसमें उद्भूत होती है, वह सहज भाव से किये गये दोषों का परिहार करने के लिये सदा तत्पर रहता है। निश्चय ही यह तप पापमुक्ति का मार्ग-प्रदर्शक है। दोष-निवारण के अनेक साधन-उपाय होने के कारण जैनागम में इस तप के अनेक भेद-प्रभेद स्थिर किये हैं जिनकी संख्या कहीं पर नौ है<sup>62</sup> तो कहीं पर दस<sup>63</sup> और कहीं-कहीं पर नौ व दस दोनों ही दृष्टव्य है।<sup>64</sup>

इस प्रायश्चित्त तप की उपयोगिता को देखते हुए बड़े-बड़े साधु-सन्त, ऋषि-आचार्यों ने इसे अपने दैनिक जीवन का एक अंग बनाया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जैसे प्रबुद्ध सन्तों की दैनिक डायरी का निरन्तर उपयोग इसका स्पष्ट प्रमाण है। आज के कृत्रिमता व्यस्तता में अनुप्राणित तथा छोटे-बड़े विभिन्न अपराधों से संपुक्त जीवन में यदि कोई भी व्यक्ति प्रत्येक दिन किसी भी क्षण अथवा सोने से पूर्व अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लेखे-जोखे को समभाव अथवा निर्लिप्त भाव से निहारे अर्थात् प्रायश्चित्त तप को अपनाये तो निश्चित ही वह व्यक्ति साधारण से साधारण और जघन्य से जघन्य अपराध-भूलों को भविष्य में न करने का संकल्प लेगा तथा तदनु रूप अपनी दैनिक चर्चा का संचालन करेगा। यह प्रायश्चित्त भाव अपराधियों को एक बार पुनः सादगीपूर्ण जीवन जीने का मार्ग प्रस्तुत करता है। इसलिये समय-समय पर सन्त-मनीषियों ने जेलों में, अपराधी-स्थलियों में जा-जाकर अपराधियों का हृदय परिवर्तन कराया, उन्हें सम्यक् साधना का उद्बोधन दिया और ज्ञान दिया जाग्रत जीवन-चर्चा जीने का। निःसन्देह यदि यह प्रायश्चित्त भाव जन-जन तक पहुँचे, इसकी उपयोगिता-उपादेयता को बताया जाय तो जो आज अपराध-अपराधी दिन प्रतिदिन नये-नये रूपों में जन्म ले रहे हैं, विकसित अथवा पनप रहे हैं, वे समूल नष्ट-विनष्ट हो जायेंगे और एक अपराधी जीवन सादगी-मर्यादा-कर्तव्य-परायणतादि से युक्त-संयुक्त होगा। निश्चय ही यह प्रायश्चित्त तप की व्यावहारिक उपयोगिता कहलाएगी।



८. विनय

आत्म-विकास हेतु, ज्ञान प्राप्त्यर्थं तथा कर्म-विनयन अर्थात् कर्म-निर्जरा के लिये संयम-साधना, अनुशासन-आराधना, अहंकार-विसर्जन, मृदुता-नम्रतापूर्ण व्यवहार, गुरुजन का सम्मान-आदर-भक्ति तथा गुणों की उपासना आदि मानवीय तत्त्वों का दैनिक जीवन में प्रयोग करना वस्तुतः विनय कहलाता है।<sup>65</sup> यह परम सत्य है कि विनय मोक्ष का सोपान है, इससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की त्रिवेणी प्रस्फुटित होती है। विनय के अनेक भेद-प्रभेद जैनाग्रम में वर्णित हैं जिनकी संख्या कहीं पर तीन,<sup>66</sup> कहीं चार<sup>67</sup> तो कहीं पर पाँच<sup>68</sup> अथवा सात<sup>69</sup> तक गिनायी गयी है।

आध्यात्मिक साधना में विनय का होना जहाँ आवश्यक है वहीं सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में इसकी उपयोगिता भी असंदिग्ध है। जिस समाज में यदि गुणों का सम्मान-पूजा न हो, वह समाज उन्नति की अपेक्षा अवनति के कगार पर होता है। निश्चय ही इस तप के माध्यम से हमारे व्यवहार में गुणों का आदर-सम्मान परिलक्षित है। आज शिक्षादि के क्षेत्र में जहाँ अनुशासन-हीनता, उद्दण्डता, उग्रता, अहंकारितादि का वातावरण आच्छादित है, वहाँ जीवन में विनय का होना परम आवश्यक है क्योंकि शिक्षार्जन का आधार-स्तम्भ विनय होता है। जहाँ अभिमान होता है, वहाँ विनय नहीं होता, नम्रता वहाँ टिक नहीं सकती। यह अभिमान आत्मा को नरक की ओर ले जाता है<sup>70</sup> जबकि विनय उसे धर्म के पास पहुँचाता है क्योंकि धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम फल है।<sup>71</sup> विनयपूर्वक पढ़ी गई विद्या लोक-परलोक दोनों में सर्वत्र फलवती होती है। अस्तु विनय से हीन समस्त शिक्षा निरर्थक है। यह सत्य है कि विनयहीन व्यक्ति में सदा सद्गुणों का अभाव रहता है। कोई भी लौकिक कार्य बिना गुरु की विनय के पूरे नहीं होते, अस्तु गुरुओं का अतिशय विनय करना अपेक्षित रहता है। शिक्षार्जन करने का उद्देश्य भी यही है कि उससे विनय, बल और विवेक की भावना जागृत हो। इतिहास साक्षी है कि विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी हुए। अनेक संतों ने भी विनय के बल पर ही मोक्षमार्ग प्रशस्त

किया। निश्चय ही विनय से तप, संयम और ज्ञान की सिद्धि होती है। यदि हमें इक्कीसवीं शती में जीना है तो विनय को जीवन का एक आवश्यक अंग बनाना होगा, तभी जीवन सार्थक एवं स्व-पर के लिये कल्याणकारी होगा।

९. वैयावृत्य

आत्म-साधना में लीन, गुणों के आगार, तपस्वी-संयमी, आचार्य-मनीषी, आदि की बहुविध क्षेत्रों में, निष्कामभाव में, निःकांक्षित होकर अर्थात् मात्र श्रद्धा भाव से सेवा-शुश्रूषा तथा उपासनादि करना वैयावृत्य कहलाता है।<sup>72</sup> वैयावृत्य से साधक को आगतिक क्षेत्र में श्रद्धा, बल, यश, वैभव तथा ऐश्वर्यादि की उपलब्धि तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मों की निर्जरा कर तीर्थङ्कर पद अर्थात् मोक्ष पदवी प्राप्ति होती है।<sup>73</sup> सेवा-शुश्रूषादि के विविध आयागों के आधार पर जैनाग्रम में इस तप के अनेक प्रकार बताये गये हैं।<sup>74</sup> जिनका परिपालन कर साधक अशुभ से शुभ और शुभ से प्रशस्त शुभ की ओर सदा उन्मुख रहता है।

आध्यात्मिक के साथ-साथ सामाजिकता के क्षेत्र में यह तप मनुष्य में परस्परोग्रहो जीवानाम् अर्थात् एक दूसरे का सहयोग व उपकार करने की वृत्ति,<sup>75</sup> दया, करुणा, स्नेह-वत्सलता, बंधुत्व-अपनत्व, विनय की भावना तथा कर्तव्यपरायणता का बोध उत्पन्न कराता है। इस तप की महिमा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इससे विश्व के समस्त जीवों में—अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, मजदूर-मालिकों आदि के मध्य पड़ी खाइयाँ/भेद-भाव का समापन तथा धर्म-जातीय, भाषायी विवादों का शमन अर्थात् अपेक्षित समता भाव का उदय होगा।

आज के विषाक्त युक्त वातावरण में, जहाँ सेवा करने का विशाल क्षेत्र है, इस तप के माध्यम से, अपनी सुख-सुविधाओं, एषणाओं-आकांक्षाओं को त्यागते हुए अदश, अशक्त-असहाय, दीन-पीड़ितों, रोगियों को उपहास, हीन, अनादर, तिरस्कार-घृणा तथा हेय की दृष्टि से न देखते हुए उनकी तन-मन-धन से एकरूप होकर तन्मयता के साथ सेवा-शुश्रूषा करना परम उपयोगी एवं स्व-पर-

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | ६७



कल्याणकारी होगा। निश्चय ही इससे सुखी-समृद्ध तथा उल्लास का वातावरण उत्पन्न होगा जिसका यत्र-तत्र-सर्वत्र अभाव है।

### १०. स्वाध्याय

सत् शास्त्रों का मर्यादापूर्वक, विधि सहित, अध्ययन, अनुचितन तथा मनन अर्थात् आत्मा का हित/कल्याण करने वाला अध्ययन अर्थात् सम्पद्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को आराधना करना, स्वाध्याय कहलाता है।<sup>76</sup> आत्म-कल्याण के लिये ज्ञान की आराधना अपेक्षित है। इसलिये तत्त्व-ज्ञान का पठन-पाठन तथा उसका स्मरण आदि बातें स्वाध्याय की कोटि में आती हैं।<sup>77</sup> जैनागम में इसके अनेक प्रकार दर्शाये गये हैं।<sup>78</sup> स्वाध्याय के विषय में जैनागमों में यह स्पष्ट किया है कि स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधि से तथा योग्य द्रव्य, क्षेत्र व काल में ही किया जाना श्रेयस्कर रहता है, अन्यथा वह अस्वाम, कलह, व्याधि तथा वियोग उत्पन्न करता है।<sup>79</sup>

यह परम सत्य है कि स्वाध्याय से बुद्धि में तीक्ष्णता, निर्मलता आती है, इन्द्रियों और मन को वश में करने की क्षमता विद्यमान रहती है। वास्तव में स्वाध्याय में सम्पत्त्व की प्रधानता रहती है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो मनुष्य आलसी और प्रमत्त होते हैं, न उनकी प्रज्ञा बढ़ती है और न ही उनका श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) ही बढ़ पाता है। जैनाचार्यों ने शास्त्राध्ययन के लिये अविनीत, चटोरा, झगड़ालू और धूर्त लोगों को अव्योग्य बताया है।<sup>80</sup> इसका मूल कारण है कि वह आगमपाठी जो चारित्र्य गुण से हीन है, आगम (शास्त्र) को अनेक बार पढ़ लेने पर भी संसार-समुद्र में डूब जाता है।<sup>81</sup> चरित्र स्वाध्याय का एक महत्वपूर्ण अंग है। सच्चरित्र साधक के लिये शास्त्र का थोड़ा सा अध्ययन भी कल्याणकारी होता है।<sup>82</sup>

स्वाध्याय की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादित करने वाले) कर्म क्षय हो जाते हैं।<sup>83</sup> समस्त दुःखों का समापन सहज में ही हो जाता है।<sup>84</sup> निश्चय ही स्वाध्यायी-साधक अपनी पंच इन्द्रियों का संवर करता है, मन आदि गुप्तियों को भी पालने वाला होता है और एकाग्रचित्त हुआ विनय

से संयुक्त होता है।<sup>85</sup> प्रवचन के अभ्यास से अर्थात् परमागम के पढ़ने पर सुमेरु-पर्वत के समान निष्कम्प-निश्चल, आठ मल रहित, तीन मूढ़ता (लोकमूढ़ता-देवमूढ़ता-गुरुमूढ़ता) रहित सम्पद्दर्शन होता है, उसे देव, मनुष्य, तथा विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं और अष्ट कर्मों के उन्मूलित होने पर प्रवचन के अभ्यास से ही विशद सुख भी प्राप्त होता है।<sup>86</sup> स्वाध्याय तप के द्वारा प्रज्ञा में अतिशय, अध्यवसाय, प्रशस्ति, परम सवेग, तपवृद्धि व अतिचार-शुद्धि आदि भी प्राप्त होती है।<sup>87</sup>

स्वाध्यायतप में फलेच्छा के निषेध का भी जैनागमों में स्पष्ट उल्लेख है। समस्त आगम का अभ्यास और चिर-काल तक धीरे तपश्चरण करके भी यदि प्राणी सम्पत्ति आदि का लाभ तथा प्रतिष्ठा आदि चाहता है, तो निश्चय ही वह विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपस्वरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट कर देता है जिसके द्वारा सुन्दर व सुस्वादु फले हुये रसीले फल प्राप्त हुआ करते हैं।<sup>88</sup> जो प्राणी केवल कर्म-मुक्ति की इच्छा से स्वाध्याय तप करते हैं, जिनमें इस लोक के फल की इच्छा बिल्कुल नहीं होती, उन्हें ज्ञान-लाभ होता है। साथ ही उन्हें आत्म-शुद्धि का स्थायी सुख भी सहज में ही प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही लोकेषणा से रहित स्वाध्याय आत्मोपयोगी होता है।

आज समाज, देश-राष्ट्र में ज्ञान-कुन्दता, चरित्र-ह्रास क्षण-क्षण में उत्तेजना-वासनादि, कलुषित वृत्तियाँ, द्वेष, घृणा, ईर्ष्यादि चारों ओर आच्छादित हैं उसका मूल कारण है सही विशाददर्शन का अभाव। किसी भी समाज का, राष्ट्र का मेरुदण्ड उसका युवावर्ग हुआ करता है। आज युवा समुदाय की मानसिक भूल की खुराक साहित्यिक-स्वाध्याय की अपेक्षा सस्ता-बाजारू, अश्लील, तामसी-राजसी वृत्तियों को उद्रेक करने वाला साहित्य है। जबकि सत् साहित्य के सतत् स्वाध्याय से व्यक्ति के ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र बढ़ता/फैलता है। साथ ही सद्-विचार, सद्संस्कार, अनन्त आनन्द, निर्विकारिता, एकाग्रता, चित्त की स्थिरता-निर्मलता संकल्प-स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है। निश्चय ही स्वाध्याय एक एक उत्कृष्ट तप कहा जाएगा।<sup>89</sup>

### ११. ध्यान

मन के चिन्तन का एक ही वस्तु/आलम्बन पर



अवस्थान/उहराव/केन्द्रित करना जैनागमों में ध्यान कहा गया है।<sup>90</sup> ध्यान मन की बहुमुखी चिन्तन धारा को एक ही ओर प्रवाहित करता है, जिससे साधक अनेकचित्तता से दूर हटकर एकचित्त में स्थित होता है। वास्तव में एकचित्तता ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चित्त का निरोध करना ध्यान है। ध्यान-साधना में ध्याता/साधक सदा ध्येय को देखा करता है। ध्याता ध्येय की सम्प्राप्ति हेतु मन, वचन व काय (शरीर) का एकीकरण/योग करता है, जिसे जैनागमों में कायिक, वाचिक तथा मानसिक ध्यान कहा गया है। कायिक-ध्यान में शरीर का शिथिलीकरण/स्थिरीकरण किया जाता है। वाचिक ध्यान में वक्ता का ध्येय के साथ में योग अर्थात् ध्येय और वचन में समापत्ति, दोनों का एकरस कर देना होता है तथा मानसिक ध्यान में मन का ध्येय के साथ योग किया जाता है।<sup>91</sup>

तपःसाधना में ध्यान का स्थान सर्वोपरि है। इसका मूल कारण है कि ध्यान के द्वारा साधक में मानसिक शक्ति और सामर्थ्य का पुञ्ज प्रकट होता है तथा कर्मों की जब-दस्त शृंखलाओं का टूटना भी होता है अर्थात् कर्मों का क्षय होना होता है। कर्मक्षय होने पर साधक संसार के आवागमन की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है, मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।<sup>92</sup>

जैनागमों में आभ्यन्तर तपःसाधनान्तर्गत ध्यान को कहीं पर पाँचवें<sup>93</sup> और कहीं-कहीं पर छठवें क्रम में रखा गया है।<sup>94</sup> चित्त का प्रवाह चहुँमुखी होने के कारण ध्यान को आर्त्त-रौद्र-धर्म-शुक्ल नामक चार भागों में वर्गीकृत किया गया है।<sup>95</sup> जिसके अनेक प्रभेद भी स्थिर किये हैं।<sup>96</sup> इनमें आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के परिवर्धक हैं, अस्तु अप्रशस्त हैं, अशुभ हैं। किन्तु धर्म और शुक्ल निर्वाण के साधक हैं, अस्तु प्रशस्त एवं शुभ हैं। धर्मध्यान शुक्लध्यान की प्रारम्भिक अवस्था है। जीव के आध्यात्मिक विकास के क्रम को गुणस्थान/जीवस्थान कहा जाता है।<sup>97</sup> इसके चौदह क्रम/गुण जैनागमों में निदिष्ट हैं।<sup>98</sup> धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक और शुक्लध्यान आठवें से चौदहवें-गुणस्थान तक रहता है। चौदहवें गुणस्थान में साधक पूर्ण रूप से निर्वाण/सिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है।<sup>99</sup>

आज हमारा समस्त जीवन हर क्षण आर्त्तता रौद्रता में ही व्यतीत होता है। बहुत कम क्षण ऐसे होते हैं जो धर्म में और विरल क्षण ही शुक्लध्यान की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह निश्चित है कि आज के व्यस्त एवं त्रस्त जीवन में मन, विचारों, कल्पनाओं, स्मृतियों, वृत्तियों, कामनाओं और विकार-वासनाओं आदि अन्य अनेक रूपों में सक्रिय रूप से संश्लिष्ट रहता है जिसके दूषित-घातक परिणाम आज प्रत्यक्षतः परिलक्षित हैं।

शिक्षा, व्यवसाय, सरकारी-गैर-सरकारी कार्यालयों आदि में तथा वाहन चालन आदि में अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज चित्त की एकाग्रता का सर्वथा अभाव होने से दिन-प्रतिदिन क्षण-प्रतिक्षण घटनाएँ-दुर्घटनाएँ तथा अनेक असावधानियाँ घटित हो रही हैं। वास्तव में चित्त-एकाग्र का प्रबलतम एवं उत्कृष्ट साधन है—ध्यान। ध्यान के माध्यम से मन की चंचलता, अस्थिरता, अशान्ति तथा व्यथतादि मिटती है। आनन्द-सुख के स्रोत जो भीतर सुप्त/बन्द हैं, जाग्रत होते हैं/खुलते हैं। निश्चय ही ध्यान की साधना मन को निर्विषय बनाने की अद्भुत प्रक्रिया है। इससे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। आत्म-बोध-होने पर दुःख का सागर और अज्ञानता का बादल सान्त हो जाता है/कट-छंट जाता है।

## १२. व्युत्सर्ग

तपःसाधना का यह अन्तिम चरण है। इसमें सर्व प्रकार का त्याग अर्थात् बहिरंग में शरीर-आहार-उपकरणादि तथा अन्तरंग में राग-द्वेषादिक काषायिक वृत्तियों का छूटना होता है। साधक साधना की इस चरम स्थिति पर पहुँच कर पूर्णरूप से निःसंग, अनासक्त तथा आत्मध्यान में लवलीन हो जाता है।<sup>100</sup> उसे यह अनुभव होने लगता है कि यह शरीर भोग, यज्ञ-प्रतिष्ठा आदि समस्त बाह्य तत्त्वों में राग-द्वेष रखने की अपेक्षा इन सबमें उपेक्षा, उदासीनता रखने के लिये तथा आत्म तत्त्व के चिन्तन में ही लगाने के लिये बना है। वास्तव में यह शरीर और उसका समस्त व्यापार निरर्थक है, निःसार है। जबकि इस नश्वर-अचेतन शरीर में विराजमान चेतनशक्ति अर्थात् आत्म तत्त्व ही सार है, अस्तु उसका चिन्तन स्व एवं पर दोनों के लिये उपयोगी एवं कल्याणकारी है।

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | ६६





निश्चय ही यह भावना साधक को बहिर्जंगत से अन्तर्जंगत की ओर उन्मुख करने में परम सहायक-सिद्ध होती है।

जैनागमों में कहीं-कहीं पर व्युत्सर्ग के स्थान पर कायोत्सर्ग का उल्लेख मिलता है।<sup>101</sup> कायोत्सर्ग में भी शरीर के साथ-साथ सर्वप्रकार के ममत्व का त्यागना होता है। ममता हटते ही साधक में समता के भाव उदय होने लगते हैं। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी माध्यस्थ भावना जाग्रत रहती है। देव-मनुष्य-तिर्यञ्च सम्बन्धी भयंकर से भयंकर उपसर्गों की चिन्ता न करते हुए सम्यक्-रूप से अर्थात् मन-वचन-काय अर्थात् समभाव से साधक साधना में अपने चित्त को एकाग्र किये रहता है।<sup>102</sup> वास्तव में कायोत्सर्ग में जो साधक सिद्ध हो जाता है, वह सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप में भी सिद्धहस्त हो जाता है।<sup>103</sup>

जैनागमों में व्युत्सर्ग<sup>104</sup>/कायोत्सर्ग<sup>105</sup> अनेकानेक भेदो-प्रभेदों में वर्णित हैं। सर्वार्थसिद्धि में व्युत्सर्ग तीन प्रकार से स्पष्ट किया गया है। एक में ममकार एवं अहंकार आदि का त्याग, दूसरे में कायोत्सर्ग आदि करना तथा तीसरे में व्युत्सर्जन करना होता है।<sup>106</sup>

इस तप के प्रभाव से प्राणी-प्राणी में समभाव, तटस्थता/निष्पक्षता, जो है उसके स्वरूप की प्रतीति, चिन्तनात्मक दृष्टि, विषम परिस्थितियों में सहिष्णुता, निर्भयता तथा बलिदान-कर्तव्य की भावना-आस्था सदा विद्यमान रहती है जिसकी आज के विषादयुक्त वातावरण में परम-वश्यकता है। निश्चय ही यह तप भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ शरीर के प्रति जो ममत्व है, उसे समाप्त कर प्रसन्नता-आनन्द का वातावरण प्रदान कराएगा।

उपयुक्त पक्तियों में कथ्य विचार से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जैन तपःसाधना शरीर को कष्ट देने की अपेक्षा उसे विकार-विवर्जित बनाती है। इसमें अन्तःकरण को शुद्ध किया जाता है, सुप्त चेतना को जगाया जाता है अर्थात् अंतरंग की शक्ति का उद्घाटन होना होता है। साधक कभी अनशन करके तो कभी भूख से कम खाकर, कभी सीमित पदार्थ ग्रहण कर तो कभी किसी रस को तजकर शरीर को नियन्त्रित करता हुआ चेतन-अवचेतन मन में प्रविष्ट वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है। इन सबके लिये ज्ञान-ध्यान, पठन-पाठन-चिन्तवन आदि में वह लीन रहता है। संसारी-बाह्य प्रभावों से अपने को अलग करता हुआ साधक अन्ततोगत्वा आत्मस्वभाव अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति में जीवन को तपःसाधना/अध्यात्म साधना में खपा देता है। वास्तव में तप की साधना जीवन का एक अनिवार्य अंग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तप की आवश्यकता पग-पग पर बनी रहती है। संसार की समस्त समस्याएँ-बाधाएँ तपमय जीवन से ही समाप्त हुआ करती हैं। अस्थिरता, अशान्ति, बेचैनी, एक अजीब प्रकार की उकताहट-निराशादि के वातावरण में तप-साधना जीवन को एक नया आयाम देती है, स्फूर्ति और शक्ति का संचार करती है। जिस प्रकार सूर्य-रश्मियाँ संसार को प्रतिदिन एक नया जीवन देती हैं, उसी प्रकार यह तपःसाधना संसारी प्राणी को एक नई चेतना देगी, जागृति देगी। निश्चय ही इससे अग-जग में एक नया दिन, एक नई रात और एक नया रूप प्रस्फुटित होगा।

#### सन्वर्ध ग्रन्थ सूची—

१. (क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार २७०, माथा १४६२
- (ख) राजवातिक, ६/६/२७/५६६/२२
२. (क) भगवती आराधना, मूल/१४७२-१४७३
- (ख) गोपथ ब्राह्मण, २/५/१४
- (ग) कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/६
- (घ) तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/७/७०
- (ङ) मनुस्मृति, ११/२२६
- (च) मुण्डकोपनिषद्, १/१/८

३. (क) शतपथ ब्राह्मण, ३/४/४/२७
- (ख) सामवेद पूर्वार्धिक १/११/१०
४. अथर्ववेद, ११/५/४
५. मनुस्मृति, ११/२३८
६. (क) दशवर्कालिक, १/१
- (ख) वाल्मीकि रामायण, ७/८४/६
७. आत्मानुशासन, श्लोक ११४
८. मज्झिमनिकाय कन्दरक सूत्र।

— भगवन् बुद्ध, पृष्ठ २२०,

१०० | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



६. सामवेदपूर्वाधिक, १/११/१०  
 १०. मुण्डक उपनिषद्, १/१/८  
 ११. देवाद्विज—गुरुप्राज्ञ .....तपोमानसमुच्यते ।  
 —श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय १७

१२. (क) जैनधर्म में तपः स्वरूप और विश्लेषण  
 —लेखक-मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज, पृ० १४५.  
 (ख) जैन आचारः सिद्धान्त और स्वरूप  
 —देवेन्द्र मुनि शास्त्री  
 (ग) धर्म दर्शन : मनन और मूल्यांकन  
 —देवेन्द्र मुनि शास्त्री

१३. (क) आचारंग सूत्र, १/४/३  
 (ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३८/३५  
 (ग) उत्तराध्ययन सूत्र, २०/६  
 (घ) दशवैकालिकसूत्र, १०/७  
 (ङ) सोहोओ तवो । —आवश्यक निर्युक्ति, १०३  
 (च) विसयकसाय विणिग्गह भावं काउण क्षाणसिज्झीए  
 —वारस अणुवेक्खा, गाथा संख्या ७७,

१४ (क) सर्वार्थसिद्धि, ६/६/४१२/११,  
 (ख) कर्मदहनात्तपः ।  
 राजवातिक, ६/१६/१८/६१६/३१  
 (ग) तत्त्वसार, ६/१८/३४४  
 (घ) कर्ममलविलयहेतोर्बोधदशा तप्यते तपः प्रोक्तम् ।  
 —पद्मनन्दिपंचविंशतिका, अधिकार संख्या १,  
 श्लोक संख्या ६८,  
 (ङ) जम्हा निकाइयाणअवि कम्माण तवेण होइ  
 निज्जरणं ।  
 —नव तत्त्वप्रकरण, ११, भाष्य ६०, देवगुप्तिसूरि-  
 प्रणीत ।

(च) तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः ।  
 —आवश्यक मलयगिरि, खण्ड २, अध्याय १  
 (छ) तवोणाम तावयति अट्ठविहं कम्ममंठि नासेत्ति  
 वुत्तं भवइ ।  
 —दशवैकालिक, जिनदःसचूर्णि, पृष्ठ १५

१५. (क) गेरइएसु ओराल्लिय सरीरस्स उदयाभावादो  
 पंचमहव्वयाभावादो ।  
 —धवला, १३/५,४,३१/६१/५  
 तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०१

(ख) संयमनारांहेतेण तवो आराहिओहवेणियमा ।  
 —भगवती आराधना, मूल, ६/३२  
 (ग) संजमहीणो य तवो जइवरइ गिरत्थयं सत्वं ।  
 —शीलपाहुड, मूलगाथा ५

(घ) सम्मदिट्ठिस्सवि अवरिदस्स ण तवो महागुणो  
 होदि ।  
 —मूलाचार, गाथा ६४०

१६. (क) बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा-  
 होदि..... ।  
 —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०२

(ख) तपसा निर्जराश्च ।  
 —तत्त्वार्थ सूत्र, ६/३

(ग) कायमणोवचिमुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अण्येयविहं  
 सो कम्मणिज्जराए विपुलाए वट्ठदे मणुस्सोत्ति  
 —राजवातिक, ८/२३/७/५८४

(घ) तपसश्च प्रभाषेण निर्जोर्णं कर्म जायते ।  
 —न्यायविनिश्चय, मूल, ३/५४/३३७

(ङ) जेणह्वे संवरणं तेण दुणिज्जरणमिदि जाणे ।  
 —बारस अणुवेक्खा, ६६

(च) तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ  
 जिणवयणे..... ।  
 —भगवती आराधना, मूल १८५४/१६६४

(छ) जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधपोहि अप्पाणं..... ।  
 —पंचास्तिकाय, मूल, १४५

(ज) दशवैकालिक, ६३

१७. (क) इह-पर लोय-सुहाणं गिरवेक्खो जो करेदि  
 समभावो । विवहंकायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो  
 तस्स ।  
 —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूलगाथा, ४००

(ख) राजवातिक, ६/१६/१६/६१६/२४

(ग) णो पूयणं तवसा आवहेज्जा । तेसि पि न तवो  
 सुद्धो ।  
 —सूत्रकृतज्ञ ७-८/२७-२४

१८. तपोमनोऽकायाणांतपनात् संनिरोधनात् । निरुच्यते  
 दृगाद्याविभावायेच्छा निरोधनम् ।  
 —अनगर धर्मानृत, ७/२/६५६

१९. जैनधर्म में तपः स्वरूप और विश्लेषण  
 —मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज, पृष्ठ १३६-४०

—मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज, पृष्ठ १३६-४०

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०१

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०१

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०१

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०१



२०. (क) अज्ञानकृतधोत्रं तपः कर्मणो बन्धहेतुत्वाद् बालव्यपदेशेनप्रतिषिद्धत्वे सति ।

—समयसार आत्मख्याति, गाथा १५२,

(ख) यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बालामिथ्या दृष्ट्यादयस्तेषां तपः बालतपः अग्निप्रवेशकारीष साधनादि प्रतीतम् ।

—राजवातिक, ६/१२/७/५१२/२८

(ग) बालतपो मिथ्यादर्शनोपेतभनुपाय कायव्लेश प्रचुरं निकृति बहुलजनत धारणम् ।

—सर्वार्थसिद्धि, ६/२०/३३६/१

(घ) जस्स वि दुप्पणिहिआ होंति कसायः तवं चरंतस्स सो बालतवरसी वि व गयण्हाण परिस्समं कुणइं ।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति, ३००

(ङ) प्रवचनसार, ३/३८

२१. जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण

—मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृष्ठ १३६

२२. निशीथभाष्य, गाथा ३३३२

२३. (क) दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुण्येव्वो एककेव्वो वि छडा जघाकम्मं तं पख्वेमो ।

—मूलाचार, गाथा ३४५

(ख) सर्वार्थसिद्धि, ६/१६/४३८/२

(ग) अनशनावमोदर्थं.....छयानान्युत्तरम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र, ६/१६-२०

(घ) द्रव्य संग्रह, ५७/२२८

(ङ) चारित्रसार, १३३,

(च) सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरअन्तरो तथा..... ज्ञाणं च विउस्सग्गो एस अब्भिन्तरो तवो ।

—उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/७-८-६

२४. (क) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्पर प्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् । कथमस्याभ्यन्तरत्वम् । मनोनियमनार्थत्वात् ।

—सर्वार्थसिद्धि, ६/१६-२०/४३६/३-६

(ख) राजवातिक, ६/१६/१७-१८/६१६/२६

(ग) अनगार धर्मांशु, ७/६, ३३

(घ) बाह्यतपः बाह्यशरीरस्यं परिशोधनेन कर्मक्षपण हेतुत्वादिति । आभ्यन्तरं चित्तनिरोधप्राधान्येन कर्मक्षपण हेतुत्वादिति ॥

—समवायार्थ, ६, अभयदेव वृत्ति

(ङ) अभिन्तरए.....प्रतीयमानत्वाच्चेति ।

—ओपपातिक सूत्र, ३०, अभयदेववृत्ति

(च) सन्मार्गज्ञाः अभ्यन्तराः । तदवगम्यत्वात् षटादिव तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति ।

—भगवती आराधना, वि० १०७

२५. अनशनं नाम अशनत्यागः । स च त्रिप्रकारः..... ऐतेषा मनोवाक्कार्याक्रियाणां कर्मोपादान कारणानां त्यागोऽनशनं चारित्रमेव ।

—भगवती आराधना, वि० ६/३२

२६. (क) जो मणि-इदिय विज्जई.....तवं अणसणं होदि । —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४०-४४१

(ख) चतुर्थाद्धर्धवर्षान्त उपवासोऽथवाऽमृतैः ।

सकृदभुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोजशनमित्यर्थाः ॥

—अनगार धर्मांशु ७/११

(ग) तत्थ चउत्थ-छट्ठम-इसम-दुआलस..... गाम तवो । —धवला, १३/५,४,२६

(घ) आवश्यकनिर्युक्ति ।

२७. (क) इतिरियं यावज्जीव दुविह पुण अणसणं मुणेदध्वं —मूलाचार, ३४७

(ख) भगवती सूत्र, २५/७

२८. (क) इत्तरिय मरणकाला य अणसणा दुविहं भवे..... —उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/६

(ख) अनवधूनकालमादेहोपरमात् ।

—राजवातिक, २/१६/२

(ग) अद्धानसणं सन्वाणसणंदुविहं तु अणसणं भणियं । —भगवती आराधना, २०६

(घ) अनगार धर्मांशु, ७/११

(ङ) अद्धानशन सर्वानशन द्विविकल्पमनशनमिहोक्तम् । विहृतिभृतोद्धानशनं सर्वानशनं तनुत्यागे ॥

—ज्ञानदीपिका पंजिका, ७/११

१०२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



३९. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/१०-११  
 (ख) जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण  
 लेखक मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृ० १८१-१९६  
 (ग) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ६०१
३०. (क) राजवात्तिक, ६/१६/१,१६  
 (ख) यस्यसकलकालमेव सकल पुद्गलाहरण शून्य-  
 मात्मानमवबुद्धयमानस्य.....बलीयस्त्वात् ।  
 —प्रवचनसार—तत्त्व प्रकाशिका, २२७  
 (ग) उत्तराध्ययन सूत्र, २६/३५  
 (घ) जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण  
 —लेखक-देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृष्ठ २११  
 (ङ) दृष्टफलानपेक्षां संयमसिद्धि — रागच्छेदकर्म  
 विनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम् ।  
 —सर्वार्थसिद्धि, ६/१६  
 (च) चारित्रसार, १३४/४  
 (छ) स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनात्सयात् ।  
 —अनशारधर्मांमृत, ७/१२
३१. (क) किमट्ठमेसो कीरदे ? पाणिदियसंजमट्ठं,  
 भुत्तीए उह्यासंजम अविणाभाव दसणादो ।  
 —धवला, १३/५,४,२६  
 (ख) इति यः षोडशायामानममयति परिभुक्त सकल  
 सावद्य.....महाव्रतित्वमुपचारात् ।  
 —पुरुषार्थ सिद्ध युपाय, १५७, १५८, १६०
३२. योगत्रयेण तृप्तिकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां  
 निराकृतिः अवमोदयम् ।  
 —भगवती आराधना, वि०, ६/३२/१७
३३. (क) समवायांग, ६  
 (ख) भगवती सूत्र, २५/७  
 (ग) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/८
३४. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, ६/१६  
 (ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/१४-२३
३५. (क) औपपातिक सूत्र, ३०  
 (ख) भगवती सूत्र, २५/७
३६. (क) स्थानाङ्ग सूत्र, ३/३८१  
 (ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/१४-२४  
 (ग) ओमोयरिया दुविहा-दब्बमोयरिया य भावमोय-  
 रिया । —भगवती सूत्र
३७. (क) संजम प्रजागर दोष प्रशम-संतोष स्वाध्यायादि  
 सुखसिद्धयर्थमवमोदयम् ।  
 —सर्वार्थसिद्धि, ६/१६/४३८/७  
 (ख) धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि ।  
 ण य इदियप्पदोसयरी उमोदरितवोवुत्तो ॥  
 —मूलाचार, ३५१
३८. कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्मयं द्रव्य-गुरु लाघवं स्वबलम् ।  
 ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजेस्तस्य ॥  
 —प्रशमरति प्रकरण, १३७
३९. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१६
४०. समवायांग, सम० ६
४१. (क) स्थानाङ्ग सूत्र, ३/३/१८२  
 (ख) भगवती सूत्र, २५/७/११५  
 (ग) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/३५  
 (घ) औपपातिक ३०
४२. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, २४/११-१२  
 (ख) पिण्डनियुक्ति, ६२-६३  
 (ग) धर्म, दर्शन : मनन और मूल्यांकन  
 —लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री  
 अध्याय क्रियात्मक धर्म/दर्शन, पृष्ठ ३५  
 (घ) भायेण-भायण-धर-वास-दादारा वृत्तीणाम् ।....  
 ...सो वृत्तिपरिसंख्यानं णाम तपो त्ति भणिद  
 होदि । —धवला, १३/५,४,२६  
 (ङ) एकादिग्गह पमाणं किञ्चा संकल्प कल्पिय विरसं ।  
 भोज्जं पसुव्व भुंजदि वित्ति पमाणं तवो तस्स ॥  
 —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४५  
 (च) एकवस्तु दशागार-पान मुद्गादि गोचरः ।  
 संकल्प क्रियते यत्र वृत्ति परिसंख्याहि तत्तपः ॥  
 —तत्त्वार्थसार, ७/१२  
 (छ) गीयर पमाण दायग भायण णाणाविद्याण  
 जं गहणं ।  
 तह एसणस्स गहणं विविघस्सवृत्तिपरिसंखा ॥  
 —मूलाचार, गाथा, ३५५

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०३



- (ज) एकामारसप्त वैश्वमेरुध्यादंशःमादि विषयः  
संकल्पोवृत्ति परिसंख्यानम् ।  
—राजवार्तिक, ६/१६/४/६१८/२४
४३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२५  
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ६
४४. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२५  
(ख) दशवैकालिक सूत्र, ५/१/३ हरिभद्रीय टीका,  
पत्र. १६३  
(ग) आचारांग सूत्र, २/१
४५. दशवैकालिक सूत्र १/५
४६. (क) वृत्ति परिसंख्यानमाशानिकृत्यर्थंभवन्तव्यम् ।  
—सर्वार्थसिद्धि, ६/१६  
(ख) अणुपुष्पेणाहारं सेवन्ततो य सल्लिइह देहं  
वृत्ति परिसंख्यानमिति ।  
—भगवती आराधना, व विजयो० टीका, १४७
४७. इन्द्रिय-दर्पनिग्रह-निद्राविजय-स्वाध्याय सुख सिद्ध्या-  
द्यर्थं.....रस परित्यागः । —सर्वार्थसिद्धि, ६/१६
४८. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/१०  
(ख) खीरदहिसपिमाई पणीयं पाणभोयणं ।  
परिवज्जण रसाणं तु भणियं रस विवज्जण ॥  
—उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२६  
(ग) खीरदधि सधितेल्ल गुडाण पत्तेगदो व सर्वेसि  
णिज्जूहण मोगाहिम पण कुसण लोणमादीणं ।  
—भगवती आराधना, २१५  
(घ) रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेधुदधिसर्पिणाप् ।  
एक द्वित्रीणिचत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा ॥  
—तत्त्वार्थसार अधिकार ६, श्लोक ११  
(ङ) रसगोचरगाढं मत्यजन् त्रिधा रस परित्यागः ।  
—भगवती आराधना, वि०, ६/३२/१८  
(च) घृतादिवृष्यरस परित्यागश्चतुर्थं तपः ।  
—सर्वार्थसिद्धि, ६/१६/४३८/६  
(छ) राजवार्तिक ६/१६/५/६१८/२६  
(ज) खीरदहिसपि तेल गुड लवणाणं च जं परिच्यय-  
णं तित्तकङ्कसायं विलमधुररसाणं च जं चयणं ।  
—मूलाचार, गाथा, ३५२
४९. (क) तत्रमनसोविकृतिहेतुत्वाद् विगति हेतुत्वाद् वा  
विकृतयो विगतयो । —प्रवचनसारोद्धार,  
वृत्ति, (प्रत्याख्यान द्वारं)  
(ख) मनसोविकृति हेतुत्वाद् विकृतयः ।  
—योगशास्त्र, ३ प्रकाश वृत्ति  
(ग) मूलाराधना, ३/२१३-२१५  
(घ) स्थानाङ्ग सूत्र, ६/६७४, ४/२७४
५०. (क) से कि तं रस परिच्छाए ? रस परिच्छाए  
अणुगविहे पण्णत्ते तं जहा—णिग्विगए, पणीय-  
रसविवज्जए—जहा उववाइए जावं लूहाहारे ।  
से ति रस परिच्छाए ।  
—भगवती सूत्र, २५/७/११६  
(ख) से कि तं रस परिच्छाए ? अणुगविहे पण्णत्ते ।  
.....लूहाहारे । —श्रीपपातिक, सम० ३०  
(ग) तत्त्वार्थसार, ६/११
५१. (क) अन्नं इमं शरीरं अन्नो जीवुत्ति एवकयबुद्धी ।  
दुक्ख परिकिलेसकरं छिद ममत्तं—सरीराओ ।  
—आवश्यकनियुक्ति, १५४७  
(ख) नत्थि जीवस्स नासुत्ति ।  
—उत्तराध्ययन सूत्र, २/२७  
(ग) वोसिरो सब्बसो कायं न म देहे परीसहा ।  
—आचारांग सूत्र, १/८/८/२१  
(घ) कायसुखाभिलाषत्यजन् कायक्लेशः ।  
—भगवती आराधना, विजयोदया, ६/३२/१८  
(ङ) दुस्सह-उवसग्गजई आतावण-सोय-वाय-खिण्णो  
वि । जो णवे छेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो  
तस्स । —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूलगाथा, ४५०
५२. (क) ऊर्ध्वाकधियनैः शवादियनैर्वीरासनाद्यसनेः.....  
सद्ध्यानिसिद्धयं भजेत् ।  
—अनगारधर्माभृत, ७/३२/६८३  
(ख) आतपस्थान वृक्ष भूलोनिवासो निरावरणशयनं  
बहुविध प्रतिमा स्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः ।  
—सर्वार्थसिद्धि, ६/१६  
(ग) आयबिल णिव्वियद्धी एयट्ठाणं छट्ठमाइख-  
वणेहि । जं करइ तणुतावं कायकिलेसो मुणे-  
यव्वो । —वसुनन्दि श्रावकाचार, ३५१



- (घ) राजवार्तिक, ६/१६/१३/६१६/१५
- (ङ) ठाणस्सणाराणेहिंय विविहहिं पडमग्गेहिं बहुगेहिं।  
अणुविचि परिताओ कायकिलेसो ह्वदि एसो ॥  
—मूलाचार, मूलगाथा, ३५६
- (च) सतविधे कायकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—ठाणा-  
तिए, उक्कुडयासणिए, पडिमठाई, वीरासणिए,  
णेसज्जिए, दण्डायतिए, लमडसाई ।  
—स्थानाङ्ग सूत्र, ७/४६
- (छ) ठाणावीरासणाइया जीवस्स उ सुहावहा ।  
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहिंया ॥  
—उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२७
- (ज) औपपातिक सूत्र, ३६
- (झ) मूलाराधना, ३/२२२
- (त) तत्त्वार्थसूत्र—श्रुतसागरीय वृत्ति, ६/१६
- (थ) भगवती सूत्र—२५/७/११७
५३. (क) जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण  
—लेखक, मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज,  
पृष्ठ २८३-२८५
- (ख) परीषहस्यास्य च को विशेषः ? यहच्छोपनि-  
पतितः परीषहः स्वयंकृतः कायकलेशः ।  
—सर्वार्थसिद्धि, ६/१६/४३६/१
- (ग) यहच्छाया समागतः परीषहः स्वमेवकृतः काय-  
कलेशः, इति परीषह कायकलेशयोविशेषः ।  
—तत्त्वार्थ सूत्र, श्रुतसागरीय वृत्ति, ६/१६
५४. (क) किमट्ठमेसो करिदे ? सोद-वादादवेहिं बहु-  
दोववासेहिं तिसा-छुहादि-वाहाहिं विसंटडुलास-  
णेहिं य ज्जाण परिचयट्ठं.....ओत्थयस्स-  
ज्जाणाणुक्कीदो । —धवला, १३/५,४,२६
- (ख) चारित्रसार, १३६
- (ग) श्रावकोवीर धयहिः प्रतिभातापनादिषु । स्यान्ना-  
धिकारी सिद्धान्त-रहस्याध्ययनेऽपि च ॥  
—सागर धर्मश्रुत, ७/५०
५५. से कि ते पडिसंलीणया ? चउव्विहा पण्णत्ता, तं  
जहा—इन्दियपडिसंलीणया, कसायपडिसंलीणया, जोग  
पडिसंलीणया विवित सयणासण पडिसंलीणया ।  
—औपपातिक सूत्र, १६
५६. उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/८
५७. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, ६/१६
- (ख) मूलाराधना, ३/२२८, २६, ३२
५८. भगवती सूत्र, २५७
५९. आचारांगनियुक्ति, १८६
६०. (क) जो रागदोसहेदुभासणसिज्जादियं परिच्चयइ ।  
.....एदं तवं होदि ॥  
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४७-४४९
- (ख) शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तु पीडाविरहितेषु  
संयतस्य मय्यानमबाधात्यय ब्रह्मचर्यं स्वाध्याय  
व्यानादि प्रसिद्धयर्थं कर्तव्यमिति पञ्चमंतपः ।  
—सर्वार्थसिद्धि, ६/१६
- (ग) कलहो बोलो झंझावामोहोममत्ति च.....पंच  
समिदो तिगुत्तो आवट्ठ परायणोहोदि ।  
—भगवती आराधना, २३२-२३३
- (घ) गिरिकंदरं मसानं सुण्णागारं च एकस्समूलं वा ।  
ठाणं विराग—बहुल धीरो भिक्खूणि सेवेऊ ॥  
—मूलाचार, ६५०
- (ङ) कृतिमाश्च शून्यागारादियो मुक्त मोचितावासा ।  
अनात्मोद्देश्यनिर्वितीता निरारम्भाः सेव्याः ॥  
—राजवार्तिक, ६/६/१६
- (च) मंथव्वणट्ट जट्ठस्सचक्क जंतग्गि कम्म फरस्से  
य ।.....समाधीए बाधादो ।  
—भगवती आराधना, ६३३, ६३४
६१. (क) प्रायः पापं विनिदिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम् ।  
—धर्मसंग्रह, अधिकार ३
- (ख) अपराधी वा प्रायः चित्तं शुद्धिः । प्राय सचित्तं  
प्रायश्चित्तं-अपराधविशुद्धिः ।  
—राजवार्तिक, ६/२२/१
- (ग) कायवरोहेण मसवेयणिव्वेएण मगावराहणिरायं  
रहरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं  
णाम तवोकम्मं । —धवला, १३
- (घ) प्रमाददोष परिहारः प्रायश्चित्तम् ।  
—सर्वार्थसिद्धि, ६/२०
- (ङ) पावं छिदई जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णइ तेण ।  
—पंचाशक-सटीक, १६/३

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया । १०५



(च) पायच्छित्तं ति तवो जेण.....वामाइ ।

—मूलाचार गाथा, ३६१ व ३६३

(छ) जो चितइ अप्पाणं णाणसरुत्तं पुणो पुणो णाणी ।

विकहुविरत्तचित्तो पायच्छित्तं वरं तस्सं ॥

—कालिकेयानुप्रेक्षा, ४५५

(ज) पायः प्रचुर्येण निविकारं चित्तं प्रायश्चित्तम् ।

—नियमसार (तात्पर्याख्यावृत्ति), ११३

(झ) प्रायोलोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिं कुट्टिक्या ।

प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते ॥

—अनगर धर्माभूत, ७/३७

६२. आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय विवेकव्युत्सर्गतपच्छेद परिहारोपस्थापनाः ।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ६/२२

६३. (क) आलोचनपडिकमणं उभयविवेगो तद्वा विउस्सगो ।

तवच्छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सहहणा ॥

—मूलाचार, गाथांक, ३६२

(ख) चारित्रसार १३७/३

(ग) ध्रुवला, १३/५, ४, २६

(घ) औपपातिक सूत्र, २०

(ङ) से किं त पायच्छित्तेण दसविहे पण्णत्ते, त जहा—

आलोचणारिहे जाव पारांचियारिहे । से त्तं

पायच्छित्ते । —भगवती सूत्र, २५/७/१२५

(च) उत्तरज्ज्ञयणाणि, द्वितीय भाग, अध्ययन ३०,

श्लोक ३१, टिप्पण संख्या ११

६४. णवविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते.....अणवट्ठप्वारिहे ।

—स्थानांग सूत्र ६/४२

दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते.....पारांचियारिहे ।

—स्थानांग सूत्र, १०/७२

६५. (क) पूज्येष्वानुरो विनयः ।

—सर्वार्थसिद्धि, २/२०/४३६/७

(ख) दंसणणाण चरित्ते सुविमुद्धो जो ह्वेइ परिणामो ।

वारस भेदे वि तवे सो च्चिण्ण विणयो हने तेसि ॥

—कालिकेयानुप्रेक्षा, ४५७

(ग) सम्यग्ज्ञानादिषु भोक्ष साधनेषु.....विनय

सम्पन्नता ।

—राजवातिक, ६/२४/२/५२६/१७

(घ) रत्नप्रयवत्सु नीचैर्बृवत्तिविनयः ।

—ध्रुवला, १३/५, ४, २६/६३/४

(ङ) विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः ।

—भगवती आराधना विजयोदया ३००/५११/२१

(च) जम्हा विणयइ कम्मं अट्ठविहं चाउरंत मोक्खायं ।

तम्हा उ वयंति वि उ विणयति विलीण संसारा ॥

—स्थानांग वृत्ति, ६

(छ) मूलाचार, गाथा १८८ से २१२ तक

६६. विणओ तिविहो णाण-दंसण-चरित्त विणओत्ति ।

—ध्रुवला, ८/३, ४१/८८

६७. (क) ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचारः ।

—तत्त्वार्थसूत्र, ६/२३

(ख) चारित्रसार, १४७/५

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र, ७/३०

६८. लोमाणुवित्तविणओ अस्थानमित्ते य कामंतते य ।

भय विणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्ख विणओ य ।

—मूलाचार, गाथांक, ५८०

६९. (क) भगवती सूत्र, २५/७/१२६-१४१

(ख) औपपातिक सूत्र ४०

(ग) सत्तविहे विणये पण्णत्ते, त जहा—णाणविणए,

दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वय-

विणए, कायविणए, लोमोवयार विणए ।

—स्थानांग सूत्र, ७/१३०

७०. स्थानांग सूत्र, ४/२

७१. (क) एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमोपसे मोक्खो ।

—दशवैकालिक सूत्र, ६/२/२

(ख) ज्ञानदर्शनचारित्र्यतप सामतीचाराः अशुभक्रियाः ।

तासाम पोहंतं विनयः ।

—भगवती आराधना, विजयोदया ६

७२. (क) व्यापत्ति व्ययनोदः पदयोः संवाहनं च गुणघ्नान् ।

वैयानृत्यं या वानुपग्रहोऽज्योऽर्षि संयमिनां ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ११२

१०६ । चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



(ख) व्यापदि यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् ।

—धवला, १३/५, ४, २६/६३/६

(ग) तेषामाचार्यादीनां व्याधि परीषद्ः मिथ्यात्वाद्यु-  
पनिपाते प्रासुकौषधिभक्त पान प्रतिश्रय पीठ  
फलक संस्तरणादिभिर्घर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः  
सम्यक्त्व प्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्यम् ।  
बाह्यस्पोषधभक्तपानादेरसंभवेऽपि स्वकायेन-  
श्लेष्मसिषाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तादानु-  
कल्यानुष्ठानं च वैयावृत्यमिति कथ्यते ।

—राजवातिक, ६/२४/१५-१६/६२३/३१

(घ) जो उवयरदि जदीणं उवसग्न जराइ खीर  
कायाणं । पूषादिसु णिरवेख वेज्जावच्चं  
तवो तस्स ॥

—कातिकेयानुप्रेक्षा, मूलगाथा ४५६

(ङ) कायापीडा दुष्परिणामव्युदासार्थं कायचेष्ट्या  
द्रव्यान्तरेणोपदेशेन च व्यावृत्तस्य यत्कर्म  
तद्वैयावृत्यं । —चारित्रसार, १५०/३

(च) अनगार धर्माभूत, ७/७८/७११

(छ) गुणवद् दुःखोपनिपाते निरवर्धेन विधिना तद-  
पहरणं वैयावृत्यम् ।

—सर्वार्थसिद्धि, ६/२४/३३६/३

(ज) जैन-धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण

लेखक—मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृष्ठ  
४२२-४२३

७३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, २६/३

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र, ५/१

(ग) ताए एवं विहाए एक्काए (वेज्जावच्च जोयजुत्त-  
दाए) । —धवला, ८/३, ४१/८८/१०

(घ) वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीतिमन्यते ।

—भगवती आराधना, मू० व वि० ३२६/५४१

७४. (क) गुणधीए उवज्जाए तवस्सिस्से य दुब्बले ।  
साह्वणे कुलसंधे समणुण्णे य चापदि ।

—मूलाचार गाथाङ्क, ३६०

(ख) आचार्योवाध्याययतपस्विश्रीमग्लानगणकुल संघ-  
साधु मनोज्ञानाम् । —तत्त्वार्थ सूत्र, ६/२४

(ग) धवला, १३/५, ४, २६/६३/६

(घ) भावपाहुइ, टीका, ७८/२२४/१६

(ङ) दशविधे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा—आयरिय-  
वेयावच्चे, उवज्जायवेयावच्चे थेरवेयावच्चे,  
तवस्सिस्सेयावच्चे, गिलाणवेयावच्चे, सेह्वेयावच्चे  
कुलवेयावच्चे, गणवेयावच्चे, संघवेयावच्चे,  
साहम्मियवेयावच्चे ?

—स्थानाङ्ग सूत्र, १०/१७

(च) से कि वेयावच्चे ? वेयावच्चे दसविधे पण्णत्ते,  
तं जहा.....से तं वेयावच्चे ।

—भगवती सूत्र, २५/७/१४२

(छ) औपपातिक सूत्र, २०

७५. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, ५/२१

(ख) जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण

—लेखक—मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज,  
पृष्ठ ४४०-४४१

७६. (क) सुब्हु आ—मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय ।

—स्थानाङ्ग अभयदेववृत्ति, ५/३/४६५

(ख) अज्झयणम्मि रओ सया—अज्झयणं सज्जाओ  
भण्णइतम्मि सज्जाए सदा रतो भविज्जति ।

—दशवैकालिक, जिनदासचूणि, २८७

(ग) स्वाध्याये—वाचनादौ ।

—दशवैकालिक इरिभ० वृत्ति, २३५

(घ) स्वस्मैहितौऽध्यायः स्वाध्यायः ।

—चारित्रसार, १५२

(ङ) स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मारणं  
च । —चारित्रसार, ४४

(च) अनगार धर्माभूत, ७/८२

(छ) बारसंगं जिणक्खादं सज्जायं कथितं बुद्धं ।

—मूलाचार, ४४

(ज) अगगवाहिर-आमम-वायण-पुच्छणानुपेहा-परियदृण  
धम्मकहाओ सज्जाओ णाम ।

—धवला, १३/५, ४, २६

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०७





(झ) पूयादिषु गिरवेकखो जिण-सत्थं जो पठेइ भती ।  
कम्ममल सोहणट्ठसुय—लाहो सुहयरो तस्स ॥  
—कालिकेयानुप्रेक्षा, ४६२

७७. चारित्रसार, पृष्ठ ४४; पंक्ति ३

७८. (क) मूलाचार, गाथांक ३६३

(ख) प्रच्छन्नं संशयोच्छिद्यं निश्चित-दृढनाम वा ।  
प्रश्नोऽधीति प्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि ॥  
—अनगार धर्माभूत, ७/८४

(ग) पंचविहे सज्जाए पण्यत्ते, तं तहा—वायणा,  
पुच्छणा, परियट्ठणा, अनुपेहा, धम्मकहा ।  
—स्थानाङ्ग, ५/२२०

(घ) वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।  
—तत्त्वार्थसूत्र ६/२५

(ङ) भगवती सूत्र, २५/७

७९. धवला, पुस्तक संख्या ९, खण्ड ४, भाग १, गाथा ११९

८०. स्थानाङ्ग सूत्र, अध्याय ४ गाथा ३

८१. आवश्यकनिर्युक्ति, ६१

८२. आवश्यकनिर्युक्ति, ६८

८३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, अध्यायन २९, गाथा २८

(ख) बहुभवे संचियं खलु सज्जाएण खणे खवई ।  
—चन्द्रप्रज्ञप्ति ६१

८४. सज्जाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो ।  
—उत्तराध्ययन सूत्र, २६/१०

८५. भगवती आराधना, मूल, गाथा संख्या १०४

८६. तिलोपपणत्ति, अधिकार संख्या १, गाथा ५१

८७. सर्वार्थसिद्धि, अ० ९, सू० २५, पृष्ठ ४४३

८८. आत्मानुशासन, श्लोक १८६

८९. 'स्वाध्यायः एक उत्कृष्ट तप लेखक—राजीव  
प्रचंडिया, एडवोकेट, स्वाध्याय प्रेमी स्मृति अंक  
(जयगुंजार मासिक) अक्टूबर-नवम्बर १९८०, चतुर्थ  
अध्याय, पृष्ठ ८७

९०. (क) ....एकाग्रचित्तान्निरोधोऽध्यायनम् ।.....

—तत्त्वार्थसूत्र, ६/२७

(ख) चित्तावस्थानमेवा वत्युम्मि, छउमत्थाणं ज्ञाणं ।  
—ध्यानशतक, गाथा ३

(ग) ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेक प्रत्यय संतितः ।  
—अभिधान चिन्तामणिकोष, आचार्य हेमचन्द्र,  
१/४८

(घ) चित्तस्तेगमया हवई ज्ञाणं ।  
—आवश्यकनिर्युक्ति, १४५६

(ङ) यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् । अस्तितर  
ध्यानमत्रापिक्रमोनाप्यक्रमोऽर्थतः ।

—पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, ८४२

(च) एकाग्र ग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये । व्यग्रं हि  
ज्ञानमेवस्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ।  
—तत्त्वानुशासन, ५६

(छ) चित्त विक्षेपत्यागो ध्यानम् ।  
—सर्वार्थसिद्धि, ६/२०

९१. यथामानसिकं ध्यायमेकाग्रं निश्चलं मनः ।  
.....  
.....

दृष्टां वजंयतो ध्यानं वाचिकं कथितं जिनेः ॥  
—लोकप्रकाश, ४२१-४२२

९२. भारतीय योगसाधना में ध्यान  
लेखक—राजीव प्रचंडिया, एडवोकेट, तुलसी प्रज्ञा,  
अंक ११-१२, फरवरी-मार्च, १९८२, पृष्ठ ९७

९३. उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/९

९४. (क) तत्त्वार्थसूत्र, ६/२०

(ख) मूलाचार, ३६०

९५. (क) भगवती सूत्र, २५/७/१३

(ख) आर्तरीद्रधर्मशुक्लानि —तत्त्वार्थसूत्र, ६/२८

(ग) भगवती आराधना मूल, १६६६-१७००

(घ) अनगारधर्माभूत, ७/१०३/७२७

९६. (क) तत्रार्तं बाह्याध्यात्मिक भेदात् द्विविकल्पम् ।  
—चारित्रसार, १६७, १७०, १७२/३

(ख) भगवती सूत्र, १५/७/१४५-१४६-१४७-१४८

(ग) ज्ञानार्णव, २५

(घ) महापुराण, २१/३१

(ङ) द्रव्यसंग्रह, ४८

१०८ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



- (च) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७५-४७६  
 (छ) तत्त्वानुशासन, ४७-४९  
 (ज) स्थानाङ्ग ४/६५-७१  
 (झ) राजवातिक, १/७/१४  
 (त) हरिवंश पुराण, ५६/३८-५०  
 (थ) धवला, १३/५, ४, २६  
 (द) मूलाचार, ३९८
९७. (क) समवायांग, १४वाँ समवाय  
 (ख) समयसार, गायान्ङ्क ५५  
 ९८. (क) कर्मग्रन्थ, ४/२  
 (ख) समवायाङ्ग, १४/१  
 (ग) गोमटसार, गाथा १२/१३
९९. भारतीय योगसाधना में ध्यान, लेखक—राजीव प्रचंडिया एडवोकेट, तुलसीप्रज्ञा, अंक—११-१२, फरवरी, मार्च १९८२
१००. (क) निःसंग-निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः । —तत्त्वार्थ राजवातिक, ६/२६/१०  
 (ख) बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधाः बन्धहेतवः । येस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥ —अनगर धर्मानृत, ७/६४  
 (ग) सरीराहेसु हु मणवयण पबुत्तीओ ओसारियज्जे-यम्मि । एयभेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम ॥ —धवला, ८/३, ४१/८५
१०१. (क) कायाहंपरदब्धे धिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं । तस्स हवे तणु सग्गं जो ज्ञावड्ढणिव्वि अप्पेण ॥ —नियमसार, १२१  
 (ख) नियमसार, तात्पर्याख्यावृत्ति, ७०  
 (ग) परिमितकाल विषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः । —राजवातिक, ६/२४/११  
 (घ) देहे ममत्व निरासः कायोत्सर्गः । —भगवती आराधना वि० ६/३२  
 (ङ) देवस्सियणियमादिसु जहुत्त माणेण उत्तकालमिह । जिणगुणा चिन्तण जुत्तोकाओसग्गो तणुविस्सग्गो । —मूलाचार, २८
- (च) जल्लमललित्तगत्तो दुस्सह्वाहीसु णिप्पडीयारो ।..... देहेविण्णम्मयत्तो काओसग्गो ताओ तस्स ॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४६७-४६८
१०२. आवश्यकनिर्युक्ति, १५४९
१०३. जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण  
 लेखक—मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृ० ५२३
१०४. (क) से कि दब्धविसग्गे ? सरीरविसग्गे, उवहि विसग्गे, भत्तपाण विसग्गे । से तं दब्ध विसग्गे । —भगवती सूत्र, २५/७/१५०  
 (ख) से कि ते भावविसग्गे ? भावविसग्गे तिविहे पणत्ते, तं जहा—कसायविसग्गे, संसारविसग्गे, कम्मविसग्गे । —भगवती सूत्र, २५/७/१५१
- (ग) बाह्याभ्यन्तरोपधयोः । —तत्त्वार्थसूत्र, ६/२६  
 (घ) तत्त्वार्थसार, ७/२९  
 (ङ) मूलाचार, ४०६  
 (च) चारित्रसार, १५४-१५५
१०५. (क) अमितगति श्रावकाचार, ८/५७-६१  
 (ख) मूलाचार, ६७३-६७७  
 (ग) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, १४५९-१४६०  
 (घ) सो पुण काउस्सग्गो दब्धतो भावतो य भवित । दब्धतो काम्चेट्ठानिरोहो भावतो काउस्सग्गो ज्ञाणं ॥ —आवश्यकचूणि  
 (ङ) धर्म-दर्शन : मनन और मूल्यांकन  
 लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० १२८
- १०६- आत्माऽऽत्मीय संकल्पत्यायो व्युत्सर्गः । कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः । व्युसर्जनम्-व्युत्सर्गस्त्यागः । —सर्वार्थसिद्धि, ६/२०-२२-२६

तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान : राजीव प्रचंडिया | १०९



जैन-बौद्ध विनय का तुलनात्मक अध्ययन

## श्रमण आचार-सीमांसा

डा. भागचन्द्र जैन

जैन-बौद्धधर्म श्रमण संस्कृति के अन्यतम अंग हैं। आचार उनको प्रधान दृष्टि है। अहिंसा और समता उनकी मूल आधारशिला है। बौद्धधर्म की तुलना में जैनधर्म निर्दिवाद रूप से प्राचीनतर है। त्रिपिटक में प्रतिबिम्बित जैन इतिहास और सिद्धान्त इस तथ्य के स्वयं प्रतिपादक हैं।<sup>1</sup> इतना ही नहीं, बल्कि महात्मा बुद्ध ने जैन दीक्षा लेकर कठोर योग साधना की थी, यह भी मज्झिमनिकाय से प्रमाणित होता है।

तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध देश, काल, क्षेत्र और भाव की दृष्टि से समकालीन रहे हैं। इसलिए उनमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जैनधर्म अनेक कारणों से भारत के बाहर अधिक नहीं जा सका जबकि बौद्धधर्म अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण बाहर विदेशों में अधिक फूला-फला। इस विकासात्मकता के फलस्वरूप बौद्धधर्म सिद्धान्त की दृष्टि से भी कहीं का कहीं पहुँच गया। यहाँ तक कि तान्त्रिकता के बीभत्स रूप ने उसे अपनी जन्मभूमि से भी अदृश्य-सा करने में अहं भूमिका अदा की। दूसरी ओर जैनधर्म का न इतना अधिक विकास हुआ है और न वह अधिक फैल ही पाया है।

बौद्धधर्म के विकासात्मक वैविध्य को विनय के साथ सीमित करने के बावजूद प्रस्तुत निबन्ध का विस्तार रोका नहीं जा सकता। इसलिए जैनाचार के साथ तुलना करते समय हमने स्थविरवादी विनय को ही सामने रखा है।

जैनधर्म की आचार-व्यवस्था को समझने के लिए पाँच साधन द्रष्टव्य हैं—(i) आगम, (ii) सूत्र (बृहत्कल्प, व्यवहार, निशोथ आदि), (iii) आचार्य की आज्ञा, (iv) धारणा, और (v) जीत (परम्परा)। बौद्धधर्म में इस दृष्टि से चार महापदेशों का उल्लेख मिलता है—(i) बुद्ध, (ii) संघ, (iii) मात्रिकाधर स्थविर; और (iv) बहुश्रुत स्थविर (दीर्घनिकाय, महापरिनिव्वाणमुत्त)। यहाँ अन्तर यह है कि बौद्ध विनय का मूल उद्भावन म. बुद्ध से हुआ है जबकि प्राचीनता की दृष्टि से जैनधर्म ने उस स्थान पर आगम और परम्परा को प्रतिष्ठापित किया है।

1. विशेष देखिए, लेखक का ग्रन्थ (Jainism in Buddhist Literature), नागपुर, 1972

श्रमण आचार की बौद्धधर्म में विनय कहा गया है। स्थविरवादियों का विनय पालि में, सर्वास्तिवादी, आर्यगुप्तक, महीशासक एवं महासाधिकों का चीनी में तथा मूलसर्वास्तिवादियों का चीनी, तिब्बती अनुवाद तथा मूल संस्कृत में है।

११० | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



दोनों धर्मों के प्रासाद रत्नत्रय के सबल स्तम्भों पर खड़े हुए हैं। जैनधर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को मोक्ष का मार्ग मानता है और बौद्धधर्म प्रज्ञा, शील, समाधि से निर्वाण तक पहुँचाता है। महावीर और बुद्ध दोनों ने संसार को अनित्य और दुःखदायी माना है। उनकी दृष्टि में सांसारिक पदार्थ, क्षणभंगुर हैं और उनका मोह जन्म-मरण की प्रक्रिया को बढ़ाने वाला है। इसका मूल कारण अविद्या, मिथ्यात्व अथवा राग-द्वेष है। रागद्वेष से अशुद्ध भाव, अशुद्ध भाव से कर्मों का आगमन, बन्धन और उदय, उदय से गति, गति से शरीर, शरीर से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषय-ग्रहण और विषय-ग्रहण से सुख-दुःखानुभूति। महावीर ने इसी को **भवचक्र** कहा है और रागद्वेष से विनिर्मुक्ति को ही मोक्ष बताया है। बुद्ध ने इसी को **प्रतीत्यसमुत्पाद** कहा है जिसे उन्होंने उसके अनुलोम-विलोम रूप के साथ सम्बोधिकाल में प्राप्त किया था। उत्तरकाल में प्रतीत्यसमुत्पाद का सैद्धान्तिक पक्ष दार्शनिक रूप से विकसित हुआ और यह विकास स्वभावशून्यता तक पहुँचा।

#### भेदविज्ञान और धर्मप्रविचय

जैनधर्म में जिसे तत्त्वदृष्टि अथवा भेदविज्ञान कहा है (समयसार, आत्मख्याति, ११८) बौद्धधर्म में उसी को धर्मप्रविचय की संज्ञा दी गई है। धर्मप्रविचय का अर्थ है—साश्रव-अनाश्रव का ज्ञान। इसी को 'प्रज्ञा' कहा गया है। प्रज्ञा का तात्पर्य है—अनित्य आदि प्रकारों से धर्मों को जानने वाला धर्म। यह एक कुशल धर्म है जो मोहादि के दूर होने से उत्पन्न होता है।<sup>2</sup> इसी प्रज्ञा को तत्त्वज्ञान कहा गया है। जैनधर्म इसे 'सम्यग्ज्ञान' कहता है। अष्टसाहस्रिका में प्रज्ञापारमिता को बुद्ध का धर्मकाय माना गया है। दोनों की व्याख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

#### सम्यग्दर्शन और बोधिचित्त

जैनदर्शन जिसे सम्यग्दर्शन कहता है, बौद्धदर्शन में उसे 'बोधिचित्त' कहा गया है। बोधिचित्त उत्तरकालीन बौद्धधर्म के विकास का परिणाम है। बोधिचित्त शुभ कर्मों की प्रवृत्ति का सूचक है उसकी प्राप्ति हो जाने पर साधक नरक, तिर्यक्, यमलोक, प्रत्यन्त जनपद, दीर्घायुषदेव, इन्द्रियविकलता, मिथ्या-दृष्टि और चित्तोत्पाद-विरागिता इन आठ अक्षणों ने विनिर्मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में साधक समस्त जीवों के उद्धार के उद्देश्य से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए चित्त को प्रतिष्ठित कर लेता है। बोधिचर्यावितार में इसके दो भेद किये गये हैं—

#### बोधि प्रणिधिचित्त और बोधिप्रस्थान चित्त

स्व-पर भेदविज्ञान अथवा हेयोपादेय ज्ञान सम्यग्दर्शन है। वह कभी स्वतः होता है, कभी परोपदेशजन्य होता है। संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भवित, अकुम्पा और वात्सल्य से आठ गुण सम्यग्दृष्टि के होते हैं। निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन बोधिचित्त अवस्था में दिखाई देते हैं पर उसके अन्य भेद बोधिचित्त के भेदों के साथ मेल नहीं खाते। सम्यग्दृष्टि के सभी भाव ज्ञानमयी होते हैं। मिथ्यात्व आदि कर्म न होने के कारण ज्ञानी को दुर्गति प्रापक कर्मबन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि भी अधिकांश अक्षणों से विनिर्मुक्त रहता है। वह नरक, तिर्यक्, नपुंसक, स्त्रीत्व तथा निम्न कुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता।<sup>3</sup>

2 त्रिसुद्धिमग्न, पृष्ठ 324

3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 35-36



श्रमण-श्रमणी विनय

गृहावास आर्तध्यान का कारण है, काम-क्रोधादि वासनाएँ उसमें जाग्रत होती हैं, चपल मन को वश में करना कठिन हो जाता है। इसलिए व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण करता है।<sup>4</sup> महात्मा बुद्ध भी इस तथ्य से अपरिचित नहीं रहे। उन्होंने लिच्छविपुत्र सुनक्खत्त से यही कहा कि भिक्षु बनने का मूल उद्देश्य समाधि भावनाओं की प्राप्ति और निर्वाण का साक्षात्कार करना है।<sup>5</sup> पर कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि कतिपय लोग प्रव्रज्या किसी दूसरे ही उद्देश्य से लिया करते थे। सामञ्जस्य-सुत्त में सत्कार, मधुर भोजन और अपराध क्षमा को प्रव्रज्या के बाह्य/सद्यः लाभों में गिनाया है। अभय देव ने कुछ और गहराई से इन कारणों पर विचार किया है। उन्होंने ऐसे दस कारण प्रस्तुत किए हैं—छन्दा (स्वयं की इच्छा), २. रोषा (क्रोधजन्य), ३. परिद्युना (दरिद्रताजन्य) ४. स्वप्ना, ५. प्रतिश्रुता, ६. स्मारणिका, ७. रोगिणिका, ८. अनाहता, ९. देव संज्ञप्ति और १०. वत्सानुबन्धिका।<sup>6</sup> वहीं कुछ और भी कारण दिये हैं—इहलोक प्रतिबद्धा, परलोक प्रतिबद्धा, उभयतः प्रतिबद्धा, पुरतः प्रतिबद्धा, पृष्ठतः प्रतिबद्धा।

प्रव्रज्या ग्रहण करने वाला शान्त और चरित्रवान् हो। कुरूप, हीनाधिक अंग वालों, कुष्ठ आदि रोग वालों को दीक्षा का अधिकारी नहीं माना जाता।<sup>7</sup> महावग्ग में भी प्रव्रज्या के अयोग्य व्यक्तियों को बताया है—कुष्ठ, फोड़ा, चर्मरोग, सूजन और मृगी व्याधियों से पीड़ित, राजसैनिक, ध्वजबन्ध डाकू, चोर, राजदण्ड प्रापक, ऋणी और दास। दोनों धर्म लगभग समान विचार वाले हैं।

जैनधर्म में दीक्षाकाल का कोई विशेष समय निर्धारित नहीं है। बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग और प्रशान्त भाव हो जाने पर कभी भी दीक्षा ली जा सकती है।<sup>8</sup> इसलिए बाल दीक्षा के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। अतिशुक्त कुमार की आयु दीक्षा के समय मात्र छः वर्ष थी।<sup>9</sup> पर साधारणतः आठ वर्ष से कुछ अधिक अवस्था होने पर ही दीक्षा दी जाती है और दीक्षा देने वाला एक गुरु होता है। इस दीक्षा को प्रव्रज्या कहा जाता है और छह माह बाद उसकी उवट्ठावणा होती है। इस छह माह के काल को शिक्षाकाल (सेहभूमि) कहा जाता है। इस काल में साधक के सफल हो जाने पर उवट्ठावणा दे दी जाती है अन्यथा छेदीपस्थापना परिहार हो जाता है।

बौद्धधर्म में प्रारम्भ में बुद्ध 'एहिभिव्खू' कहकर साधक को दीक्षित करते थे और कुछ काल बाद उपसंपदा देकर संघ में पूर्ण प्रवेश दे दिया जाता था। बाद में प्रव्रज्या और उपसंपदा त्रिशरण देकर दी जाने लगी। भिक्षुओं को भी दीक्षित करने का अधिकार दे दिया गया। संघ को अनुशासित करने के लिए उपाध्याय और आचार्य की नियुक्ति की गई। प्रव्रज्या के लिए पन्द्रह तथा उपसंपदा के लिए बीस वर्ष की अवस्था का निर्धारण हुआ। श्रमणों को दस शिक्षामदों का पालन करना आवश्यक बताया गया—पाणा-तिपात, अदिन्नादान, मुसावाद, सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठान, विकाल भोजन, नच्चगीतवादितविसूकदासन, मालागन्ध विलेपन धारण-मण्डन, विभूषणट्ठान, उच्चासयन-महासयन और जातरूपरजतपडिग्गहण से दूर रहना। ज्ञप्ति चतुर्थ कर्म का भी प्रारम्भ हुआ।

4. ज्ञानार्णव, 4-10

6. स्थानांग, अभयदेव टीका, पत्र 449

8. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, 173

5. दीर्घनिकाय, महालिसुत्त

7. योगसार, 8:52 ; बोधपाहुड टीका, 49

9. भगवती सटीक भाग 1, 5-4-188

११२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



यहाँ उवट्टावणा और उपसंपदा में अर्थभेद है। जैनधर्म में बौद्धधर्म की उपसंपदा के अर्थ में उवट्टावणा का प्रयोग हुआ है। उपसंपदा को समाचारी के भेदों में सम्मिलित किया गया है। ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए साधक जब किसी अन्य गण-गच्छ के विशिष्ट गुरु के समीप जाता है तब उसकी इस गमन क्रिया को उपसंपदा कहा जाता है।<sup>10</sup> यहाँ उपाध्याय को आचार्य से बड़ा माना गया है।

जैनाचार में दस प्रकार का कल्प (आचार) बताया है। उसमें सचेतल-अचेतल, दोनों परम्पराएँ हैं। दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक दो लंगोटी और दो न्यून प्रमाण काषाय चादर तथा एक मात्र लंगोटी रखते हैं। वहाँ मुनि को किसी भी प्रकार के वस्त्र रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। पाणिपात्री होने के कारण पात्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती। कमण्डलु और पिच्छिका अवश्य साथ रहते हैं। श्वेताम्बर श्रमण मुखवस्त्रिका, रजोहरण और एक दो अथवा तीन चादर रखते हैं। इस विषय में सम्प्रदायगत मतभेद भी है।

बौद्धधर्म में मूलतः चार प्रकार का निश्चाय मिलता है<sup>11</sup>—(१) भिक्षा मांगना और पुरुषार्थ करना। संघभोज, उद्दिष्ट भोजन, निमंत्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक भोजन आदि भी विहित है। (२) श्मशान आदि में पड़े चिथड़ों से चीवर तैयार करना। क्षौम, कापासिक, कौशेय, कम्बल, सन और भंग का वस्त्र भी विधेय है। तीन चीवरों का विधान था—उत्तरासंग अन्तर्वासक एवं संधाटी। उपासकों से ग्रहण करने के लिए चीवर-प्रतिग्राहक, चीवरनिधायक, चीवर भाजक जैसे पदों पर भिक्षुओं को नियुक्त किया जाता था। इनको रखने के लिए एक भाण्डागारिक भी होता था। इन चीवरों को काटने, सीने और रंगने का भी विधान है। आसनों के लिए प्रत्यस्तरण, योगियों के लिए कोपीन, वार्षिक साटिका, मुंह पीछने के लिए अंगोछा एवं थैला आदि रखा जाता था। जूते पहनने का भी विधान है रुग्णावस्था में; पर आरोग्यावस्था में विहार में भी जूता पहनना निषिद्ध था। साधारणतः चमड़े का उपयोग वर्जित था। जैन भिक्षुओं में यह सब निषिद्ध है। नये दीक्षित जैन साधु को रजोहरण, गोच्छक प्रतिग्रह अर्थात् पात्र एवं तीन वस्त्र तथा साध्वी के लिए चार पूरे वस्त्रों को ग्रहण करने का विधान है। साधु के लिए अवग्रहान्तक अर्थात् गुह्य देशनिधानक रूप कच्छा एवं अवग्रहपट्टक अर्थात् गुह्यदेशाच्छादक रूप पट्टा रखना वर्ज्य है। साध्वी इनका उपयोग कर सकती है। बृहत्कल्प में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पांच प्रकार के वस्त्रों का उपयोग विहित माना गया है—जागिक, भागिक, सानक, पोतक और तिरोटपट्टक। रजोहरण के लिए दिगम्बर साधु मयूर-पंख का उपयोग करते हैं और श्वेताम्बर परंपरा में और्णिक, औष्टिक, सानक, वच्चकचिप्पक और मुंज-चिप्पक धागों को कल्प्य बताया है। निर्दोष वस्त्र की कामना, धाचना और ग्रहण अनुमत है पर उनका धोना और रंगना निषिद्ध है। इसी प्रकार सादे अलावू, काष्ठ व मिट्टी के पात्र रखना कल्प्य है पर धातु के पात्र रखना वर्जित है। वृद्ध साधु भाण्ड और मात्रिका भी रख सकता है।

आवश्यकसूत्र में सचेतल साधु को चौदह पदार्थ ग्रहणीय बताये हैं—अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोचन, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषधि, भेषज। उत्तराध्ययन में आहार ग्रहण के छः कारण दिये गये हैं—१. क्षुधा शान्ति, २. वैयावृत्य, ३. ईर्यपथ, ४. संयम, ५. प्राण-प्रत्यय, और ६. धर्मचिन्ता। संखडि (सामूहिक भोजन), उद्दिष्ट, सचित्त आहार वर्जित है। बौद्धधर्म में ऐसे कोई नियम नहीं है। वहाँ उद्दिष्ट विहार में स्वयं पकाया भोजन भी विहित है। भोजन के बाद अरण्य

10. उत्तराध्ययन, 26-7

11. मज्झिमनिकाय, I, पृष्ठ 14-15



और पुष्करिणी की उपज अर्थात् कमलनाल और आन्नरस भोजन के बाद भी ग्रहणीय माना है। नया तिल, शहद, गुड़, मूंग, नमकीन, पंच गोरस, त्रिकोटिपरिशुद्ध भांस, यवागू, लड्डू भी भक्ष्य माना गया है। पाथेय में तंडुल, मूंग, उड़द, नमक, गुड़, तेल और घी लिया जा सकता है। फलों का रस विकाल भोजन में नहीं गिना जाता।

जैानानार इसकी तुलना में अधिक नियमबद्ध और कठोर है। वहां आहार के ४६ दोषों का वर्णन है जिनसे साधु को निर्मुक्त रहना आवश्यक है—१६. उद्गम दोष, १६. गवेषणा दोष (उत्पादन दोष), १०. ग्रहणैसणा दोष (अशनदोष) और ४. संयोजनादि ग्रासैषणा दोष। सोलह उद्गम दोष<sup>१२</sup>—१. आधाकर्म, २. औद्देशिक, अथवा अधवधि, ३. मिश्र, ४. स्थापित, ५. बलि, ६. पूति, ७. प्राभूत, ८. प्रादुष्कार (संक्रमण व प्रकाशन), ९. शीत, १०. प्रामृष्य, (सवृद्धिक और अवृद्धिक) ११. परिवर्त, १२. अभिघट, १३. उद्भिन्न, १४. मालारोहण, १५. आच्छेद्य, १६. अनिमृष्ट। इसी प्रकार अन्य दोष भी दृष्टव्य हैं। पिण्डनिर्युक्ति में ग्रासैषणा में अकारण दोष मिलाकर ४७ आहार-दोषों का उल्लेख मिलता है। अट्टाईस मूल गुणों के अन्तर्गत दिगम्बर परम्परा में मान्य स्थिति भोजन और एकभक्तव्रत का पालन भी मुनि करता है। पंक्ति बद्ध सात घरों से लाया भोजन करणीय है। भोजन में कोई गृद्धता न हो। आहार सादा हो, दातार पर उसका कोई बोझ न हो, भ्रामरी वृत्ति हो। बौद्धधर्म में इस प्रकार के विशेष प्रतिबन्ध नहीं हैं।

जैनधर्म में बाईस परीषहों का वर्णन मिलता है जिन्हें श्रमण-श्रमणी सहन करते हैं। इनके सहन करने से कर्म-निर्जरा होती है। बौद्धधर्म मध्यममार्गी होने के कारण तप की उतनी कठोर साधना का निर्धारण तो नहीं कर सका पर उसका कुछ अंश तो उपलब्ध होता ही है। मज्झिमनिकाय के सन्वासव सुत्तन्त में आश्रवों का क्षय सात प्रकार से बताया है—१. दर्शन (विचार), २. संवर, ३. प्रतिसेवन, ४. अधिवासन (स्वीकार), ५. परिवर्जन, ६. विनोदन (विनिर्मुक्ति-हटाना), और ७. भावना। इन प्रसंगों में क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि बाधाओं की चर्चा की है पर वहां यह बताया है कि भिक्षु को भोजन, पानी, वस्त्र आदि उसी परिमाण में ग्रहण करना चाहिए जिससे वह इन बाधाओं से मुक्त हो सके। इसी प्रकार सुत्तनिपात के सारिपुत्तसुत्त में भिक्षुचर्या का वर्णन करते समय इस प्रकार की बाधाओं को सहन करने का उपदेश भिक्षु के लिए दिया गया है। वहां उन्हें परिस्सय (परीषह) भी कहा गया है (विक्खम्मये तानि परिस्सयानि, ४.१६.१५)।

परीषहों की तुलना धुतांग से की जा सकती है। धुतांग का तात्पर्य है क्लेशावरण को दूर करने की ओर ले जाने वाला मार्ग (क्लिससथुननतो वा धुतं)। राग-मोह चरित वालों के राग-मोह आदि दोषों को दूर करने की दृष्टि से इनका उपयोग निर्दिष्ट है। शील की परिशुद्धि के लिए भिक्षु को लोकाभिष (लाभ-सत्कार आदि) का परित्याग, शरीर और जीवन के प्रति निर्ममत्व तथा विषयना भावना से संयुक्त होना चाहिए। इसकी प्रपूर्ति के लिए तेरह धुतांगों का पालन उपयोगी बताया है—पामुकुलिकांग, चीवरिकांग, पिण्डपातिकांग, सापदानचारिकांग, एकासनिकांग, पात्रपिण्डिकांग, खलुपच्छाभक्तिकांग, आरण्यकांग, वृक्षमूलिकांग, अभ्यपकासिकांग, श्मशानिकांग, यथासंस्थरिकांग एवं नैसद्यकांग।

जैन बौद्ध आगमों में कल्प पर भी विचार हुआ है। कल्प का अर्थ है नीति, आचार योग्य। जो कार्य ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह कल्प है।<sup>१३</sup> ये कल्प दस

12. मूलान्तर 427-465

13. प्रथमरत्नप्रकरण, 143



प्रकार के हैं—आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर, राजपिण्ड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासैकवासाता, ओर पर्युषणाकला । ये साधु के दस स्थितिकल्प हैं ।<sup>14</sup>

चुल्लवग्ग में भी दस कल्पों का उल्लेख है पर उनका सम्बन्ध वज्जिपुत्तक भिक्षुओं के आचार से है—शृंगिलवग्ग कल्प, द्वयंगुल, ग्रामान्तर, आवास, अनुमत, आचीर्ण, अमथित, जलोमीपान, अदशक और जातरूपरजत । ये ही कल्प संघभेद के कारण बने थे । इन दस विनयविरुद्ध वस्तुओं के उपयोग का विरोध यश ने किया । परिणामतः द्वितीय संगोति हुई जिसमें वैशाली के वज्जिपुत्तकों का पूर्णतः विरोध हुआ । आध्यात्मिक दृष्टि से ये कल्प यद्यपि गौण कहे जा सकते हैं पर जैन-बौद्ध विनय में इनका उल्लेख तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है ।

महावग्ग के प्रारंभ में ही यह कहा गया है कि महात्मा बुद्ध ने तीर्थंकर महावीर का अनुकरण कर वर्षावास प्रारम्भ किया । उसी क्रम में निगण्ठोपोसथ को भी उन्होंने स्वीकार किया । चतुर्दशी, पूर्णमासी और अष्टमी को सभी भिक्षु एकत्रित होकर प्रातिभोक्ष की आवृत्ति स्थविर भिक्षु के समझ करते । उपोसथ या संघकर्म में सभी भिक्षुओं का उपस्थित होना आवश्यक है । प्रातिभोक्ष का पाठ कर “परिसुद्धोहं आवुसो परिसुद्धो ति मं धारेथ” तीन बार कहा जाता । यदि कोई किसी नियम से च्युत रहता तो वह निश्छल अवसे उसे स्वीकार करता । इसी को प्रवारणा कहा गया है । इसमें दृष्ट, श्रुत और परिशंकित अपराधों का परिमार्जन किया जाता है और परस्पर में विनय का अनुमोदन होता है—अनुजातानि भिक्खवे ..... ।<sup>15</sup> उपोसथ अपने अपने अपराधों की पाक्षिक परिशुद्धि होती है और प्रवारणा में वार्षिक परिशुद्धि होती है । जैन धर्म में उपोसथ जैसा प्रोषधोपवास नामक श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत है । प्रवारणा की तुलना प्रतिक्रमण से की जा सकती है ।

जैनविनय में तप का महत्व बौद्धविनय की अपेक्षा बहुत अधिक है । बाह्यतप के रूप बौद्धधर्म में नहीं मिलते । अन्तरंग तप के छहों प्रकार अवश्य मिल जाते हैं पर उनमें भी वह सघनता नहीं जो जैनधर्म में है । प्रायश्चित्त के आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक ये दसों भेद बौद्ध विनय के विभिन्न रूपों में प्राप्त हो जाते हैं । विनय में अनुशासन बनाये रखने के लिए तथागत बुद्ध ने अनेक प्रकार की दण्ड व्यवस्था की है । स्मृति विनय, अमूढ विनय, प्रतिज्ञातकरण शमथ, तत्पापीयसक जैसे दण्ड कर्मों में आलोचना और प्रतिक्रमण के दर्शन होने हैं । प्रजाजनीय, मानत्व, संघादि-शेष, पाराजिक की तुलना छेद, मूल और पारांचिक से की जा सकती है । गुरुमासिक, लघुमासिक, गुरुचातुर्मासिक और लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त भी उन्हीं कर्मों के साथ बँठ जाते हैं ।

जिन कारणों से चित्त में एकाग्रता की प्राप्ति नहीं होती उन्हें असमाधिस्थान कहा जाता है । उनकी संख्या २० मानी गई है । (१) दवदवचारी—जल्दी-जल्दी चलना, (२) अप्पमज्जियचारी (रजोहरण से मार्ग को बिना प्रमार्जित किये चलना), (३) दुप्पमज्जियचारी, (४) अतिरिक्त सेज्जासणिए—(शय्या का परिमाण अधिक रखना), (५) रातिणिअपरिभासी (गुरु से विवाद करना), (६) थेरोवघाइए (स्थविर का वध आदि करने का विचार), (७) भूओवघाइए (प्राणियों के वध का विचार करना), (८) संजलणं (प्रतिक्षण क्रोध करना), (९) कोहणं (अधिक क्रोध करना), (१०) अभिक्खणं-अभिवत्तणं

14. मूलाचार, 421 ; भगवती आराधना, 427 ; निशाथभाष्य, 593.3

15. महावग्ग, पृ० 167



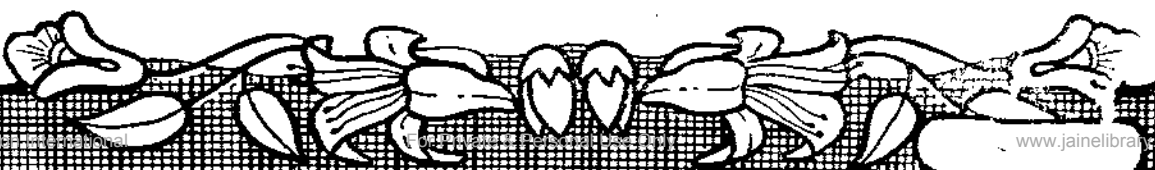


ओहारइत्ता (बारम्बार निश्चयात्मक भाषा बोलना), (११) पिट्ठमंसिए (पेशुन्य करना), (१२) णवाणं अधिकरणं अणुप्पण्णाणं उप्पाइत्ता (नवीन-नवीन विवादों को उत्पन्न करने वाला), (१३) पोराणाणं अधिकरणं खमिअविउसविआणं पुणोदीरित्ता (पुराने शान्त जगड़ों को पुनः खड़ा कर देना), (१४) अकाल सज्जाय कारए (अकाल में स्वाध्याय करना), (१५) ससरक्ख पाणिपाए (सारक्त गृहस्थ से भिक्षा लेना), (१६) सहकरे (उच्च स्वर से स्वाध्याय करना), (१७) झंजकरे (संघ में विभेद पैदा करना), (१८) कलहकरे, (१९) सूरूपभाणभोई (सूर्यास्त तक भोजन करना), (२०) एसणाऽसमिते (एषणा समिति का पालन न करना)।<sup>16</sup> इनमें से कुछ असमाधिस्थानों की तुलना पातिमोक्ख के सेखिय (शैक्ष्य) नियमों के साथ और कुछ की पाचित्तिय नियमों के साथ तुलना कर सकते हैं। इसी प्रकार जैन विनय के शवल दोषों का भी संघादिशेष और पाचित्तिय नियमों में खोजा जा सकता है।

जैन-बौद्ध श्रमण-श्रमणी की विनयगत विशेषताओं को हम नीचे मात्र शाब्दिक तुलना के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं—

जैन श्रमण विनय		बौद्ध श्रमण विनय
(१) गृहवासपरित्याग	—	गृहवासपरित्याग
(२) मुण्डन-केशलुञ्चन अपवाद में उस्तरा से	—	मुण्डन आवश्यक पर केशलुञ्चन वर्जित
(३) दिगम्बरत्व	—	अस्वीकार्य
(४) काषाय और सफेद वस्त्र	—	काषाय वस्त्र
(५) मूलगुण	—	प्रातिमोक्ष संवरशील
(६) पंच समिति	—	भोचर सम्पन्न, कुशल कायवचन-कर्म परिशुद्ध
(८) महाव्रतपालक	—	महाशील पालक
(९) त्रिगुप्तिपालक	—	कायवचन कर्मयुक्त तथा चित्तावशुद्धि
(१०) अप्रमादी	—	स्मृतिमान्
(११) संयमी	—	इन्द्रियगुप्ती
(१२) रत्नत्रय संपन्न	—	प्रज्ञा, शील, समाधि संपन्न
(१३) प्रतिक्रमण	—	प्रातिमोक्ष
(१४) वर्षावास	—	वर्षावास
(१५) असमाधिस्थान—२०-१-३	—	सेखिय ११-२०
रात्तिणि अपरिभासी	—	पाचित्तिय २—ओमसवादे
भूओवघाइए	—	पाचित्तिय ११ (भूतगामपातव्यताप)
संजलणे	—	पाचित्तिय १३—उज्जापने
पिट्ठमंसिए	—	पाचित्तिय ३—पेसुञ्जे
अभिकखणं २ ओहारयत्ता	—	पाचित्तिय ३६ भुत्तावि पुन पवारणे, ३७ भी

16. समवायांग 20; दशाशुक्कख 1; उत्तराद्ययन, 31/14



णवाणं अधिकरणं—१२-१३	—	पाचित्तिय ६३ अधिकरण उक्कोटने
सहकरे	—	सेखिय—१३-१४
ज्ञज्ञकरे	—	संघादिसेस—१०
कलहकरे	—	पाचित्तिय—२
(१६) शबलदोष २१	—	
रहत्थकम्मं करेमाणे	—	संघादिसेस १—नुक्क-विसट्टियं
मैथुन सेवन	—	पाराजिक १, संघादिशेष २
रात्रिभोजन	—	पाचित्तिय ३७ विकालभोजने
औद्देशिक मृषावादन	—	पाचित्तिय १ मुसावादे
औद्देशिक मूलभोजन व कंदभोजन	—	पाचित्तिय ११
क्रीत या उध्वार भोजन ग्रहण	—	निस्सग्गिय २०
करना (६-७)	—	
जलप्रवेश व मायास्थानों का सेवन	—	पाचित्तिय ५७
(१२ व २०)	—	
हिंसा करना (१३)	—	पाराजिक ३, पाचित्तिय ६१
मृषावादन (१४)	—	पाचित्तिय १
अदत्तादान (१५)	—	पाराजिक १
सचित्त भूमि पर बैठना (१६-१६)	—	पाचित्तिय १०-११ सेखिय—७४
सचित्त जलपान करना	—	पाचित्तिय ६२
(१७) पापश्रेणियां	—	किसी को मारने के लिए गड्ढा खोदना
अतिक्रम	—	दुक्कडं
व्यतिक्रम	—	उसमें उसके गिर जाने पर दर्द हो
अनिचार	—	शुल्लच्चय
अनाचार	—	उसके मर जाने पर—पाराजिक
(१८) आसादना दोष	—	सेखिय धम्म ५७-७२
(१९) गुरु-शिष्य विनय	—	गुरु-शिष्य विनय
(२०) शबल	—	खण्डकारी, चिट्टकारी, सबलकारी
(२१) निर्ग्रन्थ तथा सबस्त्र । वस्त्र हों	—	कम्मस्सकारी (अंगुत्तर II. P-६५)
तो जंगिय, भंगिय, साणिय,	—	सबस्त्र । वस्त्र हों—कौशेय, कोजव,
पोत्तग, खोमिय, तुलकड ।	—	शाय, भंग, कंबल, क्षीम । बहुमूल्य वस्त्र
बहुमूल्य वस्त्र निषेध ।	—	ग्रहण निषिद्ध नहीं । तीन संघाटी विहित
(२२) मांस ग्रहण पूर्णतः वर्जित	—	हैं ।
(२३) ईर्यापथगामी (इसका क्षेत्र	—	मांस ग्रहण त्रिकोटि-परिशुद्ध हो ।
अपेक्षाकृत विस्तृत है) ।	—	ईर्यापथगामी (स्थान, गमन, निषद्या और
		शयन में)

श्रमण आचार मीमांसा : डॉ० भागवन्द जैन | ११७



(२४) विभज्जवादी	—	विभज्जवादी
(२५) एक पात्र, और वह भी अलावू, काष्ठ या मिट्टी का	—	मिट्टी व लोहे का पात्र विहित है, काष्ठादि का नहीं।
(२६) उपकरणों में वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपुञ्छन, अवग्रह, तथा कटासन विहित हैं।	—	उपकरणों में कैंची, वस्त्र-खण्ड, सुई, नाली नलिका, गोंद, जलगालन, मसहरी, उदक पान आदि विहित हैं।
(२७) आहार-विहार में प्रतिबन्ध अधिक है।	—	प्रतिबन्ध है, पर उस सीमा तक नहीं।
(२८) स्नान वजित है	—	स्नान की मात्रा अधिक न हो। चूर्णादि का उपयोग न हो।
(२९) आभूषण, साजसज्जा वजित	—	वजित है।
(३०) परक्रिया निषेध	—	परक्रिया निषेध
(३१) संखडि भोजन निषिद्ध	—	संखडिभोजन निषिद्ध
(३२) औद्देशिक भोजन वजित	—	वजित नहीं।
(३३) उपसर्गों की तीव्रता तथा कठोर व्रतों का पालन	—	कठोर व्रत और तप आवश्यक नहीं। अतः उपसर्गों की तीव्रता भी कम है।
(३४) उपानह तथा छत्ते का उपयोग वजित है।	—	वजित नहीं।
(३५) परिग्रह तथा आरम्भ वजित है	—	सीमित है।
(३६) शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए कष्ट सहन या तप आवश्यक है।	—	आवश्यक नहीं। मध्यम मार्ग अनुमत है।
(३७) आहार दोषों का सूक्ष्म विश्लेषण	—	स्थूल विश्लेषण।
(३८) अधर्मक्रिया-स्थानों का सूक्ष्म विश्लेषण	—	अकस्मात् अनर्थदण्डादि को हिंसा रूप नहीं मानता।
(३९) विद्या, मन्त्र-तन्त्र का निषेध फिर भी उनका यदा-कदा अहिंसक प्रयोग प्रचलित है।	—	समानता पर विकास अधिक है। पंच मकारों का भी प्रयोग प्रारम्भ हो गया।
(४०) पंडक आदि को दीक्षा के अयोग्य माना गया।	—	पंडक आदि को उपसंपदा के अयोग्य माना गया।
(४१) आठ वर्ष से कम अवस्था वाले को प्रव्रज्या का निषेध	—	दस वर्ष से कम अवस्था वाले को उपसंपदा का निषेध
(४२) प्रव्रज्या के लिए माता-पिता की अनुज्ञा अनिवार्य है।	—	यहां भी अनुज्ञा अनिवार्य है।



(४३) प्रायश्चित्तस्वरूप दंड-व्यवस्था	—	प्रायश्चित्तस्वरूप दण्ड-व्यवस्था
(४४) प्रायश्चित्त	—	प्रवारणा
(४५) गणित् की योग्यताएँ— आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोग, संघ- परिज्ञा। ये अनेक प्रकार से वर्गीकृत (आयारदसाओ)	—	महावग्ग में भिक्षु की योग्यताएँ— वहुश्रुत, आगतागभो, अम्मधरो, विनय- धरो, मात्तिकाधरो, पण्डितो, व्यत्तो, मेघावी, लज्जी कुक्कुच्चको, सिखाकामो।
(४६) द्वादशानुप्रेक्षा	—	दस अनुस्मृतियाँ
(४७) चार भावनाएँ	—	ब्रह्मविहार चार
(४८) मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, अविरति और योग—बन्धके कारण।	—	अश्रद्धा, आलस, प्रमाद, विक्षेप, संमोह ये पाँच इन्द्रियाँ कर्माश्रव के कारण।
(४९) सम्यक्त्व, व्रतस्थापन, अप्रमाद, उपशांतमोह, एवं क्षीणमोह संपन्न	—	पाँच बल—श्रद्धा, अनालस, अप्रमाद, अविक्षेप और अमोह सम्पन्न।
(५०) अप्रमाद, धर्मानुप्रेक्षा, वीर्य, प्रमोद, मुप्ति, ध्यान एवं माध्यस्थभाव युक्त।	—	सप्तबोध्यंग—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रुब्धि, समाधि उपेक्षा युक्त।
(५१) रत्नत्रय	—	अष्टांगिक मार्ग
(५२) कर्म उपशम, कर्मक्षय	—	कर्म प्रहाण, कर्मसमुच्छेद
(५३) शुभ ध्यान में बाधक स्थलों का त्याग	—	कसिण की खोज में कतिपय विहारों का त्याग
(५४) सम्यग्दर्शन	—	बोधचित्त
(५५) सम्यग्ज्ञान	—	प्रज्ञा
(५६) सम्यक्चारित्र	—	शील और समाधि
(५७) भेदविज्ञान	—	धर्म-प्रविचय

जैन-बौद्ध विनय की यह सामान्य तुलना है। विषय इतना विस्तृत है कि उसे एक अल्पकायिक निबन्ध में समाहित नहीं किया जा सकता। यहाँ मात्र इतना ही कथ्य है कि जैन-बौद्ध विनय परस्पर अधिक दूर नहीं है। उनमें आचारगत समानता काफी है। दोनों की तुलनार्थ दिये गये ये शब्द और विषय अग्रिम अध्ययन के लिए मात्र सांकेतिक हैं।



**कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान**

डा. महेन्द्रसागर प्रतण्डिया

वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ मिलकर भारतीय संस्कृति के रूप को स्वरूप प्रदान करती हैं। वैदिक और बौद्ध संस्कृतियाँ प्रायः किसी न किसी सत्ता, शक्ति, व्यक्ति द्वारा प्रसूत हैं। किन्तु जैन संस्कृति का कोई निर्मापक नहीं है। वह मूलतः कृत नहीं है, सर्वथा प्राकृत है। इसीलिए वह आदि है, अनादि है। जैन संस्कृति में जीव के जन्म-मरण का प्रमुख कारण कषाय और उनका कौतुक माना गया है। यहाँ इसी संदर्भ में संक्षिप्त चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहा गया है। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षड्द्रव्यों का उल्लेख जैन दर्शन में किया गया है। इन सभी द्रव्यों के समीकरण को संसार कहते हैं। प्राण द्रव्य जब पर्याय धारण करता है तब वह प्राणी कहलाता है। प्राणी का कर्म के साथ सम्बन्ध प्रवाहतः अनादि है। जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है यथा—

(१) द्रव्यकर्म

(२) भावकर्म

जड़ तत्त्व जब आत्म तत्त्व के साथ मिलकर कर्म के रूप में परिणत होता है तब उसे द्रव्यकर्म कहा जाता है। राग-द्वेष से अनुप्राणित परिणाम वस्तुतः भावकर्म कहलाते हैं। प्राणी पुराने कर्मों को भोग कर काटता है और नए कर्मों का उपार्जन करता है फलस्वरूप वह भव-बंधन से मुक्त नहीं हो पाता है। जब पुराने कर्मों को नष्ट कर नए कर्मों के उपार्जन का द्वार बंद हो जाता है तब जो आत्मा की अवस्था होती है उसे मुक्ति, मोक्ष अथवा आवागमन के चक्रमण से छुटकारा कहा गया है।

जैन परम्परा में कर्म उपार्जन के कारण सामान्यतः दो प्रकार से माने गए हैं। यथा—

(१) योग

(२) कषाय

योग क्या है? यह एक प्रश्न है। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहा गया है जबकि कषाय है मानसिक आवेग। योग अर्थात् क्रिया कमोपार्जन का मुख्य कारण है किन्तु कषाययुक्त योग महत्त्वपूर्ण कर्मबंध का कारण माना गया है। कषाय रहित कर्म निर्बल और अल्पायु होते हैं अर्थात् वे तुरन्त झड़ जाते हैं किन्तु कषाय सम्पृक्त कर्मबंध अटूट और जटिल होते हैं।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य



अथवा बल सर्वथा विद्यमान रहते हैं। इनका दर्शनावरणी, ज्ञानावरणी, मोहनीय और अन्तर्गत कर्म प्रकृतियाँ घात किया करती हैं। शेष चार कर्मप्रकृतियाँ—वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र क्रमशः कर्म प्रकृति, अनुकूल तथा प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख के अनुभवों का कारण है।

आयुर्कर्म प्रकृति के कारण नरकादि विविध भवों की प्राप्ति होती है। नामकर्म प्रकृति विविध शरीर आदि का कारण है और गोत्रकर्म प्रकृति प्राणियों के उच्चत्व एवं नीचत्व का कारण है। कर्म की तीव्रता और मंदता, कषायों की तीव्रता और मंदता पर निर्भर करती है। अतः यहाँ कषाय और उसके कौतुक पर संक्षेप में चर्चा करना हमें मुख्यतः अभिप्रेत रहा है।

आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम को कषाय कहा जा सकता है। यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार ही कषाय प्रसिद्ध हैं पर इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार की कषायों का निर्देश आगम में उपलब्ध है। कषाय को जानने और पहचानने के लिए अनेक दृष्टियाँ प्रचलित हैं—नोकषाय की दृष्टि से हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, तथा मैथुन भाव उल्लिखित हैं परन्तु ये कषायवत् व्यक्त नहीं होतीं अपितु राग-द्वेष में गर्भित रहती हैं। आत्मा के स्वरूप का घात करने के कारण कषाय वस्तुतः हिंसा है। मिथ्यात्व सबसे बड़ी हिंसा है।

विषयों के प्रति आसक्ति की अपेक्षा से कषाय चार कोटि की मानी गई हैं। यथा—

- |                  |                   |
|------------------|-------------------|
| (१) अनन्तानुबंधी | (२) अप्रत्याख्यान |
| (३) प्रत्याख्यान | (४) संज्वलन       |

इस प्रकार क्रोधादि के भेद से काषायिक आसक्ति को चार-चार भेद करके कुल सोलह प्रभेदों में विभक्त किया जा सकता है। सम्भव है कि किसी व्यक्ति में क्रोधादि की मंदता हो और आसक्ति की तीव्रता अथवा क्रोधादि की तीव्रता हो और आसक्ति की मंदता हो, अतः क्रोधादि की तीव्रता-मंदता को नेष्या द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और आसक्ति की तीव्रता-मंदता को अनन्तानुबंधी आदि द्वारा। कषायों की शक्ति अचिन्त्य है। कभी-कभी तीव्र कषायवश आत्मा के प्रदेश शरीर से निकल कर अपने शत्रु का घात तक कर आते हैं, इसे कषाय समुद्घात कहते हैं।

जैन परम्परा में कषाय के लक्षण सम्बन्धी अनेक रूप से विचार हुआ है। यहाँ पर संक्षेप में उसकी चर्चा करना असंगत न होगा। जो क्रोधादिक जीव के सुख-दुःखरूप बहुत प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूप खेत का कर्षण करते हैं अर्थात् जोतते हैं और जिनके लिए संसार की चारों गतियाँ मर्यादा या मेंड़ रूप हैं, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं।<sup>१</sup> कषाय की चर्चा करते हुए सर्वार्थसिद्धि-कार ने उसका लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—कषाय अर्थात् क्रोधादि कषाय के समान होने से कषाय कहलाते हैं। उपमा रूप अर्थ क्या है? जिस प्रकार नैय श्लेष आदि कषाय श्लेष का कारण हैं उसी प्रकार आत्मा का क्रोधादि रूप कषाय भी कर्मों के श्लेष का कारण है। इसीलिए कषाय के समान यह कषाय है।<sup>२</sup> राजवार्तिककार ने कषाय को वेदनीय कर्म के उदय से होने वाली क्रोधादि रूप कलुषता को कहा है क्योंकि यह आत्मा के स्वाभाविक रूप को कष देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है।<sup>३</sup>

कषाय जैन दर्शन में एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। कष् और आय इन दो शब्दों के योग से कषाय शब्द का गठन हुआ है। कष् शब्द का अर्थ है कर्म अथवा जन्म-मरण और आय का अर्थ है आगम अर्थात् होना। जिससे कर्मों का आगम—आय अथवा बंधन होता है अथवा जिससे जीव को बार-

कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान : डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया | १२१



बार जन्म-मरण के चक्रमण में पड़ना पड़ता है, वस्तुतः वही पड़ाने वाली वृत्ति कषाय है। जो मनोवृत्तियाँ आत्मा को क्लुषित करने वाली हैं जिनके प्रभाव से आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है, वह वस्तुतः कषाय है। आवेग और लालसा विषयक वृत्तियाँ कषाय का प्रजनन करती हैं और इन वृत्तियों का नाना प्रकार से व्यवहार कषाय-कौतुक को जन्म प्रदान करता है।

कषाय के भेद करते हुए जैनाचार्यों ने अनेक विध विचार किया है—सामान्यतः कषाय को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

(१) कषाय (२) नोकषाय<sup>६</sup>

कषाय मुख्यतः चार प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) क्रोध (२) मान  
(३) माया (४) लोभ

इन चारों कषायों को अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, तथा संज्वलन की दृष्टि से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ कही गई हैं।<sup>६</sup> नोकषाय के नौ भेद किए गए हैं। यथा<sup>६</sup>—

(१) हास्य (२) रति  
(३) अरति (४) शोक  
(५) भय (६) जुगुप्सा  
(७) स्त्रीवेद (८) पुल्लिगवेद  
(९) नपुंसकवेद

इस प्रकार कषाय के कुल मिलाकर पच्चीस भेद आगम में उल्लिखित हैं।<sup>७</sup>

आगम में एक संवादात्मक प्रसंग आया है। तीर्थंकर महावीर इन्द्रभूति से कहते हैं कि मूलतः कषाय हैं चार ही..... क्रोध, मान, माया और लोभ। यहाँ इन्हीं चार कषायों के विषय में सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक संक्षिप्त विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। यथा—

#### क्रोध-कषाय

भगवती सूत्र में क्रोध कषाय की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की गई है। क्रोध वस्तुतः एक मानसिक संवेग है, उसकी उत्तेजना अतिरिक्त है जिसके जाग्रत होने से प्राणी भावाविष्ट हो जाता है और तब उसकी विचार-क्षमता तथा तर्क-तेज निस्तेज हो जाता है। आवेग का उत्कर्ष युगुत्सा को जन्म देता है और युगुत्सा कालान्तर में अमर्ष को उत्पन्न कर देता है। अमर्ष का सीधा प्रयोग-परिणाम आक्रमण ही होता है। विचारणीय बात यह है कि क्रोध में आवेग आक्रमण तथा भय में आवेग रक्षा विषयक प्रयास करता है।

क्रोध जगते ही शरीर की दशा में परिवर्तन होने लगते हैं। जीवनवर्षा की पूरी प्रक्रिया प्रभावित हो जाती है। आमाशय की क्रिया शिथिल, रक्तचाप असंतुलित, हृदय की गति में व्यतिक्रम तथा मस्तिष्क में ज्ञानतंतुओं की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी बात को शास्त्रीय शब्दावलि में कहा जा सकता है कि चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित-अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला प्रज्वलन रूप आत्मा का परिणाम वस्तुतः क्रोध कहलाता है।



क्रोध की अनेक पर्याय उल्लिखित हैं। इन्हें दश संज्ञाओं में परिगणित किया जा सकता है। यथा—

- |            |               |
|------------|---------------|
| (१) क्रोध  | (२) कोप       |
| (३) रोष    | (४) दोष       |
| (५) अक्षमा | (६) संज्वलन   |
| (७) कलह    | (८) चाण्डिक्य |
| (९) भंडन   | (१०) विवाद    |

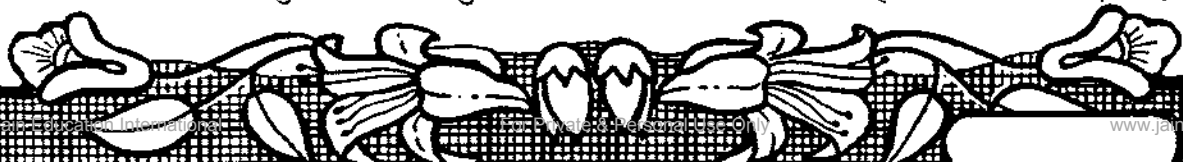
संवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था क्रोध, क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता कोप, क्रोध का परिस्फुटित रूप रोष, स्वयं पर या दूसरे पर थोपना दोष, अपराध को क्षमा न करना अक्षमा, बार-बार जलना और तिलमिला जाना संज्वलन, जोर-जोर से बोलकर अनुचित भाषण करना कलह, रौद्ररूप धारण करना चाण्डिक्य, मारने-पीटने पर उतारू हो जाना—भण्डन तथा आक्षेपात्मक भाषण करना विवाद कहलाता है। विचार करें, ये नाना अवस्थाएँ क्रोध के कारण उत्पन्न होती हैं। आवेग के अनुसार ये सभी अवस्थाएँ उत्पन्न होकर भयंकर रूप धारण करती है।<sup>१</sup>

क्रोध उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हैं—असन्तोष, असफलता, अभाव, प्रतिकूलताएँ आदि। विपरीत एवं विषम परिस्थितियों से प्राणी के अन्दर ही अन्दर झूलाहट पैदा होती है। विचार करें, क्षमा अन्दर से उत्पन्न होती है वह आत्मा का स्वभाव है। क्रोध बाहर से आता है और वह कर्म का स्वभाव है।<sup>२</sup>

क्रोध की पराकाष्ठा और उसका परिणाम युद्ध है। आज विश्व महायुद्ध के वातावरण में जी रहा है। युद्ध में विनाशकारी कौतुक हुआ करते हैं। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू अपनी विदेश यात्रा पर थे और वे सर्वत्र शान्ति की बातें कर रहे थे। बीच में जब किसी मुस्लिम देश में उनका वायुयान रुका तो वहाँ के पत्रकारों ने उन्हें घेर लिया। एक ही प्रश्न था उन सबका कि शान्तिप्रिय देश के प्रधानमंत्री युद्ध-शान्ति के क्या उपाय बतला रहे हैं? नेहरू जी ने सबके प्रश्नों को बड़ी सावधानीपूर्वक सुना और उत्तर देते हुए कहा कि भाई, हमें परस्पर में युद्ध सम्बन्धी बातें करना-कराना बन्द कर देना चाहिए फिर युद्ध नहीं होंगे। वातावरण से युद्ध विषयक चर्चाओं का किसी प्रकार से समापन हो जाएगा तब फिर युद्ध होने की सम्भावना स्वतः ही गिर जाती है। उत्तर सरल था किन्तु था सारपूर्ण। जरा विचार करें कि क्रोध की उम्र ही क्या है? क्रोध की आयु अत्यल्प होती है। यदि कोई पूरे रात-दिन क्रोध करना चाहे तो वह कर नहीं सकता। क्रोध का संवेग उत्कर्ष पर हो तो चतुराई इसमें है कि हमें उस क्षण संयम से काम लेना चाहिए। क्रोधी से कोई सम्बन्ध न रखें और उसे किसी प्रकार का रिसपोन्स न दें, उसके प्रति सजग न हों तो यह तय है कि उसका क्रोध स्वयं शान्त हो जायगा। यद्यपि क्रोध कषाय भयंकर होती है किन्तु होती है क्षण भर के लिए। विरोधी को पाकर वह तत्काल जागती है। इसीलिए लोक जीवन में क्रोध-काल में मौन रखने की बात कही गई है—कहावत भी चल पड़ी कि एक चुप सौ को हराए।

जब क्रोध का संवेग आक्रमण करे तब हमें कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिनसे उसका पोषण होता है। उदाहरणार्थ—क्रोध-काल में भोजन करने की पूर्णतः वर्जना की गई है। क्रोध की अवस्था में भोजन करने से परिणाम नितान्त अशुभ तथा भयंकर होते हैं। एक बार क्रोध करने से

कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान : डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया | १२३





क्रोधी के शरीरजन्य रक्त के सोलह सौ कण जलकर नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उसके सारे जागतिक सम्बन्ध भी प्रभावित हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध करना तो दूर क्रोध सम्बन्धी बातें करने से भी चित्त में दूषण लगता है।

#### मान-कषाय

राग-द्वेष प्राणी की सहज अवस्था को विकृत करता है। क्रोध और मान दोनों ही द्वेष से उत्पन्न होते हैं। निन्दा व्यक्ति में क्रोध पैदा करती है जबकि प्रशंसा से मान का उदय होता है। प्रतिकूलता में क्रोध जगता है और अनुकूलता में मान कषाय उद्बुद्ध होती है।

कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, जाति, रूप तथा ज्ञान आदि अवस्थाओं में व्यक्ति का मद जाग्रत होते ही मान कषाय का जन्म होता है। मान कषाय के उत्पन्न होते ही व्यक्ति में अहं वृत्ति का पोषण होने लगता है। मान की द्वादश अवस्थाओं का उल्लेख भगवती सूत्र में उपलब्ध है। यथा—

(१) मान	(२) मद	(३) दर्प
(४) स्तम्भ	(५) गर्व	(६) अत्युत्क्रोश
(७) पर-परिवाद	(८) उत्कर्ष	(९) अपकर्ष
(१०) उन्नत	(११) उन्नतनाम	(१२) दुर्नाम

अपने किसी गुण पर मिथ्या अहंवृत्ति मान, अहंभाव में तन्मयता मद, उत्तेजनापूर्ण अहं भाव दर्प, अविनम्रता से स्तम्भ, अहंकार से गर्व, अपने को दूसरों से श्रेष्ठ कहना अत्युत्क्रोश, पर-निन्दा से पर-परिवाद, अपना ऐश्वर्य प्रकट करना उत्कर्ष, दूसरों की हीनता प्रकट करना अपकर्ष, दूसरों को तुच्छ समझना उन्नत, गुणी के सामने न झुकना उन्नतनाम तथा यथोचित रूप से न झुकना दुर्नाम नामक मान की विभिन्न अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं।<sup>10</sup>

प्राणी की बहिरात्म-अवस्था में मान कषाय का जन्म-मरण होता रहता है। यहाँ पर को स्व माना जाता है और ऐसी मान्यता से मान कषाय का जन्म होता है। जब पर को पर और स्व को स्व मान लिया जाता है तभी प्राणी की ममत्व बुद्धि का अन्त हो जाता है और उसकी अन्तरात्म-अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है।

मान कषाय के उत्पन्न होते ही प्रेम और उससे सम्बन्धित सारे सम्बन्ध संकीर्ण और विकीर्ण हो जाते हैं। विचार करें कि जब सारे मान समान हो जाते हैं तभी प्रेम की उत्पत्ति होती है। इसी आधार पर मानवी-प्राणी के वैवाहिक संस्कार में दीक्षित होने से पूर्व वर-वधु की जन्म-पत्रिका के आधार पर गुणों का मिलान किया जाता है। जितने अधिक गुणों का मिलान हो जाता है—संजोग उतना ही शुभ और सुखद माना जाता है। मान जिसमें अधिक जाग्रत रहते हैं, प्रेमतत्त्व उसमें उतना ही गिरता जाता है।

आत्मा का उदात्त गुण है ज्ञान, ज्ञानी का लक्षण है कि उसमें सदा विनय की प्रधानता रहती है। किन्तु ज्ञानी को जब अपने ज्ञान का मद उभरता है तो उसका सारा ज्ञान निस्सार और प्रभावहीन हो जाता है। एक घटना का स्मरण हुआ है। यहाँ उसी के उल्लेख से मैं अपनी बात स्पष्ट करूँगा। एक अंधेरी कोठरी में मैं अकेला एकाकी बैठा हुआ था। चित्त में आठ मर्दों के आकार और विकार पैदा हो चुके थे। अनुकूल वातावरण पाकर वे सभी साकार भी हो उठे थे। मेरे पिताश्री इंजीनियर हैं, मामा जी डिप्टी



कलक्टर हैं, मेरी पत्नी अत्यधिक रूपवती-महिला है। मेरे चाचा जी संसारी कुबेर हैं, मेरे ताऊजी वेजोड़ शक्तिवान हैं, मेरे भाई चरित्र-चक्रवर्ती हैं और मेरी बहिन ज्ञानमती हैं, महामनीषी हैं। इन आकारों ने मुझे अद्भुत स्थिति में डाल दिया और मैं अपने को विलक्षण अनुभूत कर उठा। मुझे लगा कि मैं एक वृत्त के केन्द्र पर हूँ और ये विभूतियाँ मेरी परिधि पर निर्बाध चक्कर लगा रही हैं। परिधि पर चक्कर लगाते रहने से इन सभी मदों की अनुभूतियाँ हुआ करती हैं किन्तु जब और ज्योंही प्रकाश का उदय हुआ त्यों ही तत्काल वे परिधि के समग्र आकार विलीन हो गये। कुछ समय के पश्चात् आँखें बन्द करके देखा तो लगा कि परिधि का संसार ही मिट गया है और वहाँ केन्द्र का गहरा आलोक ही आलोक पहरा दे रहा है। सच है जीवन की कोठरी का अंधकार मिटता है ज्ञानालोक से और ज्ञानालोक जगाने से अज्ञान में स्थिर सारे अहंकार स्वयं मिट जाते हैं और जीवन आलोक से भर जाता है तब किसी आकार और विकार की सम्भावना ही नहीं रह जाती।<sup>11</sup>

मद से मन मैला हो जाता है। मन का मल निर्मल हो, इसके लिए आवश्यक है मान का मिटना। प्राणी-प्राणी में मेल तभी होगा, कुटुम्ब की भावना तभी जाग्रत होगी, कलह तभी सुलह में परिणत होगी जब हमारे मन से मान का पूर्णतः विसर्जन हो जाएगा।

माया कषाय

कपट का अपर नाम है माया। मन, वाणी और करनी में इकसारता का अभाव माया कषाय को जन्म देता है। किसी प्राणी के मन में कुछ है, उसी को वह कहता कुछ और है और करता तो सब कुछ और ही है ऐसी स्थिति में उसकी चर्या मायावी कहलाती है। प्राणी का स्वयंजात गुण है आर्जवत्व। ऋजोर्भावः आर्जवम् अर्थात् ऋजुता-सरलता को ही आर्जव कहा है। अनार्जवी चर्या से जीवन जटिलताओं से भर जाता है।

इस प्रकार कपटाचार माया-कषाय का ही परिणाम है। माया की महिमा पन्द्रह अवस्थाओं में परिगणित की गई है। यथा—

(१) माया	(२) उपाधि	(३) निकृति
(४) वलय	(५) गहन	(६) नूम
(७) कल्क	(८) कुरूप	(९) जिह्यता
(१०) किल्बिषिक	(११) आदरणता	(१२) गूहनता
(१३) वंचकता	(१४) प्रतिकुचनता	(१५) सातियोग

कपटाचार से माया, ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार से उपाधि, छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करने से निकृति, वक्रतापूर्ण वचन योग से वलय, ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करने से गहन, ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करने से नूम, दूसरे को हिंसा के लिए उभारने से कल्क, निन्दित व्यवहार से कुरूप, ठगाई के लिए कार्य मन्द करने से जिह्यता, भांडों की भ्रांति कुचेष्टा करने से किल्बिषिकी, अनिच्छित कार्य भी अपनाते से आदरणता, अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करने से गूहनता, ठगी से वंचकता, किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खण्डन करने से प्रतिकुचनता तथा उत्तम वस्तु में हीन वस्तु मिश्रित करने से सातियोग नामक विभिन्न अवस्थाएँ उभर कर समक्ष आती हैं।<sup>12</sup>

कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान : डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया | १२५



आज के सभ्यता प्रधान युग में आस्था का अभाव और व्यवस्था का प्रभाव उत्कर्ष को प्राप्त है। आस्था अन्तरंग की जागृति से सम्बन्धित है इससे जीवन में सरलता उत्पन्न होती है। जबकि व्यवस्था बाहरी वस्तु है इससे जीवन में कुटिलता और जटिलता का प्राधान्य रहता है। विचार करें, व्यवस्था के परिणामस्वरूप आज हर घर में ड्राइंगरूम है पर हर घर ड्राइंगरूम नहीं है। एक ही कमरा साफ-सुथरा है, सज्जित है, शेष कमरे कुचैले हैं, मैले हैं। आगत को ड्राइंगरूम में ही बिठलाया जाता है। उसके पूरे घर की सफाई-सुधराई वहीं से आंकी जाती है। पर वास्तविकता कुछ और ही होती है। इसी व्यवस्था-व्यवहार में माया मुखर हो उठती है।

मायाचारी के चित्त में अद्भुत कार्यक्रमों का संचालन होता रहता है। उसका प्रत्येक कार्य मायामय होता है। राजस्थान के एक मंदिर में मेरा जाना हुआ था। अनेक प्रभु-प्रतिमाएँ वहाँ प्रतिष्ठित थीं। पुजारी कम किन्तु दर्शनार्थी अधिक थे। संयोग से मेरे देखने के समय मन्दिर जी में केवल एक पुजारी पूजा करते मिले थे। मुझे आते देखकर उन्होंने प्रभु-पूजन जोर-जोर से करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके द्वारा आकर्षक शारीरिक मुद्राएँ भी प्रदर्शित हो उठी थीं। इस सारे परिवर्तन को देखकर मैंने कहा था—मेरे भाई, मुझे आते देखकर आपने पूजन जोर-जोर से करना क्यों प्रारम्भ कर दिया था? क्या आप को अपने आराध्य देव के बधिर होने की सूचना मुझे देनी थी? वे उत्तर में मात्र मुसकराए थे, बोले कुछ भी नहीं। विचार करें, आज की उपासना में भी मिलावट है माया की। मायावी इन्सान स्वयंबोध से वंचित है। वह सोया हुआ है और यदि सोया हुआ किसी जगह को जगाये तो इससे बड़ी मखौल और क्या होगी? 13

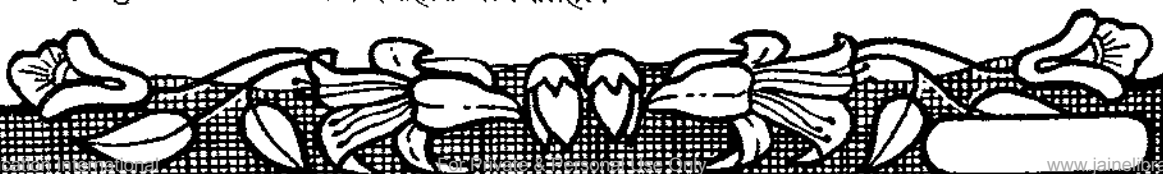
हमारी धार्मिक क्रियाएँ भी माया-मोह से न बच सकीं तो अन्य नाना सांसारिक व्यवहारों की क्या स्थिति होगी? हमारे अन्तरंग की आस्था जैसे कहीं लुक-छिप गई है और हम पूर्णतः व्यवस्था के अधीन हो गये हैं। परिणामस्वरूप हमारा प्राकृत जीवन अप्राकृत अर्थात् बनावटी हो गया है।

जब कोई विदेशी हमारे देश में आते हैं तो व्यवस्था द्वारा उन्हें देश के उन्हीं भागों में घूमने की प्रेरणा और अनुमति दी जाती है जो पूरी तरह से व्यवस्थित हैं, जिन्हें देखकर देश की गरिमा का वर्द्धन होता है। धारणा बनती है कि देश चरम उत्कर्ष को प्राप्त है, पर वास्तविकता इससे भिन्न ही होती है। आज जरा और सावधानीपूर्वक विचार करें कि पूरे दिन बाहर डोलने वाला कामकाजी जब किसी दावत में सम्मिलित होता है तब वह वेस्ट ऑफ दी ट्रंक अर्थात् उत्तमोत्तम कपड़े धारण करता है। उसकी भावना रहती है कि उसका जीवन स्तर श्रेष्ठ प्रमाणित हो। जो भीतर से श्रेष्ठ नहीं है वह श्रेष्ठ होने के लिए व्यवस्थित होने की टोह में रहता है। इस प्रकार की है मायावी चर्या। इससे एक बार चाहे व्यक्ति बाहरी परिधि पर प्रतिष्ठित हो जावे किन्तु अन्तरंग-केन्द्र में अभाव की अकुलाहट से वह प्रभावित होता है। क्योंकि अभाव में ही प्रभाव के दर्शन हुआ करते हैं। माया कषाय मिटे तभी जो है वह मुखर हो उठेगा जिससे व्यक्ति को आत्मिक तोष और संतोष मिलेगा, अकुलाहट का अन्त होगा।

#### लोभ कषाय

लोभ सारे बंधनों का मुख्याधार है। मोहनीयकर्मोदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा अथवा लालसा वस्तुतः लोभ कहलाती है। लोभ कषाय क्रोध, मान और माया नामक कषायों से भी तीव्र और सतेज होती है। प्रारम्भिक कषायें चाहे मन्द और शान्त हो जाएँ परन्तु लोभ कषाय फिर भी शेष

१२६ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



रहती है। कहते हैं कि बारहवें गुणस्थान के उत्तरार्द्ध में लोभ कषाय का समापन हो पाता है, तभी प्राणी तेरहवें गुणस्थान में आरोहण करके वीतरागी बनता है। यही जीव की सर्वज्ञता की अवस्था कहलाती है।

लोभ कषाय की सोलह अवस्थाएँ उल्लिखित हैं। यथा—

- |                |               |              |
|----------------|---------------|--------------|
| (१) लोभ        | (२) इच्छा     | (३) मूर्च्छा |
| (४) कांक्षा    | (५) गृद्धि    | (६) तृष्णा   |
| (७) मिथ्या     | (८) अभिध्या   | (९) आशंसना   |
| (१०) प्रार्थना | (११) लालचपनता | (१२) कामाशा  |
| (१३) भोगाशा    | (१४) जीविताशा | (१५) मरणाशा  |
| (१६) नन्दिराग  |               |              |

संग्रह करने की वृत्ति से लोभ, अभिवाषा से इच्छा, तीव्रता की संग्रह वृत्ति से मूर्च्छा, प्राप्त करने की इच्छा से कांक्षा, प्राप्त वस्तु में आसक्ति होने से गृद्धि, जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति से तृष्णा, विषयों का ध्यान से मिथ्या, निश्चय से डिग जाना वस्तुतः अभिध्या, इष्ट प्राप्ति की इच्छा करने से आशंसना, अर्थ आदि की याचना से प्रार्थना, चाटुकारिता से लालचपनता, काम की इच्छा से कामाशा, भोग्य पदार्थों की इच्छा से भोगाशा, जीवन की कामना से जीविताशा, मरने की कामना से मरणाशा तथा प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग से नन्दिराग नामक लोभ कषाय की सोलह अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं।<sup>14</sup>

सामान्यतः जिनवाणी में उल्लिखित है कि नारकी जीवों में क्रोध की प्रधानता रहती है, तिर्यचों में माया का अतिशय, मानवों में मान कषाय का उत्कर्ष रहता है तथा देवों में लोभ कषाय की प्रचुरता रहती है। इन्हीं कषायों की तीव्रता रहने से प्राणी अपने नये जन्म में कर्मानुसार नाना पर्यायों में आया-जाया करते हैं।

आचार्य अकलंक ने लोभ के तीन प्रकार कहे हैं यथा—<sup>15</sup>

- |              |                |               |
|--------------|----------------|---------------|
| (१) जीवन लोभ | (२) आरोग्य लोभ | (३) उपयोग लोभ |
|--------------|----------------|---------------|

और आचार्य अमृतचन्द्र ने लोभ के चार प्रकार कहे हैं यथा—<sup>16</sup>

- |              |                                      |
|--------------|--------------------------------------|
| (१) भोग      | (२) उपयोग                            |
| (३) जीवन भोग | (४) इन्द्रियों और उनके विषयों का भोग |

लोभी व्यक्ति क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करता और मानापमान का भी विचार नहीं करता। वह योगियों की भांति इन्द्रियों का दमन कर सकता है, सुख तथा वासना का त्याग कर सकता है। यदि कुछ प्राप्त होने की आशा हो तो वह दस गालियाँ भी सहन कर सकता है। करुण स्वर सुनकर भी उसका हृदय पसीजता नहीं, न वह तुच्छ व्यक्ति के सामने दीन बनकर हाथ पसारने से संकोच ही करता है।<sup>17</sup>

क्रोध कषाय शान्त हो जाये तो अन्य तीन कषायों की उपस्थिति बनी रहती है पर यदि लोभ कषाय का शमन हो जाये तो सभी कषाय-कुलों का नाश हो जाता है। इसलिए लोभ को पाप का वाप कहा गया है।

कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान : डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया | १२७



एक संस्मरण का स्मरण हुआ है यहाँ उसी के माध्यम से अपनी बात को स्पष्ट करूँगा। एक संत तपश्चरण के उपरान्त नगर में मधुकरी प्राप्त्यर्थ प्रवेश करते हैं। मधुकरी पाकर वे पुनः अटवी को लौटते हैं और तप में लीन हो जाते हैं। यही उनकी दैनिक चर्या रहती है। पूर्णतः विदेही हैं वे। एक बार मधुकरी देते हुए उनके एक भक्त ने उनसे भारी प्रार्थना की—महात्मन! आप अपने हाथों में मधुकरी पाते हैं। मेरे लिए यह अशोभनीय है। मेरी प्रार्थना है कि आप यह रजत-पात्र अंगीकार कर लीजिए और नित्य मधुकरी इसी में प्राप्त कीजियेगा। अनेक बार इंकार करने पर भी अपने भक्त की प्रसन्नतायें संत ने उस रजत-पात्र को स्वीकार कर लिया और जब संत को रजत पात्र में मधुकरी पाते देखा तो भक्त प्रफुल्लित हुआ और संत पात्र लेकर अटवी की ओर गमन कर गये। सदा की भांति वह आज भी तप में जाने के लिए तैयार हुए कि उन्हें रजत-पात्र को कहीं रखने की आवश्यकता हुई। उन्होंने रजत-पात्र को वृक्ष की खोखर में रख छिपाया। तप में बैठ गए। कुछ ही समय पश्चात् देखते क्या हैं कि संत का मन परेशान है और उन्होंने अपनी आँखें खोल ली हैं। वे उठते हैं और खुवाल में जाकर रजत-पात्र की पड़ताल करते हैं। उसे वहीं सुरक्षित रखा पाकर नाहक दाह में जलने लगते हैं। आज संत सामायिक में एकाग्रचित्त न हो सके, रजत-पात्र ने बाधा उत्पन्न कर दी। विचार करें कि हमारे अन्तर्मन की पवित्रता में ऐसे कितने रजत-पात्र व्यवधान रूप हैं? भूत का भय और भविष्य की चिन्ता व्यक्ति को निरर्थक आकुल-व्याकुल बनाती है। गंगा स्नान व्यर्थ है। शास्त्र-सामायिक में जाना सिडीपंती है यदि हमारा अन्तरंग लोभ कषाय से संपूर्णतः कषा है। लोभ विसर्जन वस्तुतः वृत्ति का पवित्र आमंत्रण है।<sup>18</sup>

इस प्रकार कषाय कौतुक कितने कुटिल और कुचाली है कि प्राणी को वास्तविकता से दूर सुदूर कर देते हैं। प्रेम, प्यार और प्रतीति जैसी उदात्त अवस्थाओं से जीव को वंचित कराने का श्रेय कषाय को ही है। विचार करें कि राग-द्वेष वस्तुतः विषवृक्ष हैं। वासना और कषाय से राग-द्वेष की सर्जना होती है। माया कषाय तथा लोभ कषाय से आसक्ति, आसक्ति से राग एवं क्रोध तथा मान कषाय से घृणा और घृणा से द्वेष उत्पन्न होता है। घृणा और आसक्ति ने ही वैर तथा ममता को प्रोत्साहन दिया है। आज सारा संसार वासना और कषाय की अग्नि में धधक रहा है। इस प्रज्वलन से यदि किसी को मुक्ति पाना है तो उसे विशुद्ध भावना से श्रुत साहित्य, ब्रह्मचर्य तथा तप का परिपालन विवेक और विज्ञान के साथ करना होगा। विचार करें कि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया से मैत्री मिटती है और लोभ से सभी सद्गुणों का विनाश होता है। इस प्रकार कषाय हमारा सर्वनाश करती है। इसके विपरीत शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को तथा सन्तोष से लोभ कषाय को जीतना ही सच्ची पुरुषार्थ-साधना मानी गई है।<sup>19</sup>

विचारप्रधान प्राणी की तीन आत्मिक अवस्थाएँ मानी गईं। यथा—

(१) बहिरात्मा

(२) अन्तरात्मा

(३) परमात्मा

बहिरात्मा में जीव पर-पदार्थ को ही स्व-आत्म पदार्थ मान बैठता है। उसी में लीन होकर अनादिकाल से जन्म-मरण के चक्रमण में सक्रिय रहता है।<sup>20</sup> बहिरात्मा को आत्मा के भिन्न स्वरूप का श्रद्धान नहीं होता और इसीलिए उसे न तो आत्मा के अजर-अमर तथा अविनाशी होने का विश्वास है और नहीं परलोक में आत्मा के आवागमन का श्रद्धान, जहाँ अपने-अपने कर्म का फल प्राप्त करती है। संसार में लीन-प्राणियों की यही दशा है, वे इस मनुष्य शरीर को ही अपना सर्वस्व समझते हैं। शरीर के जन्म को अपना जन्म एवं शरीर के मरण को वे अपना मरण समझते हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में ही वे सच्चा सुख समझते हैं। विषय-भोगों में जो-जो सहायक होते हैं उनसे उसकी प्रगाढ़ प्रीति होती है।

१२८ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



इसीलिए वह अपनी स्त्री से बहुत राग करता है और होता है पुत्र-पौत्रों का अत्यन्त मोही। धन-धान्य का उपाजन भी इसलिए करता है कि अपने कुटुम्ब के साथ वह निर्बाध भोग भोगे।

इस प्रकार मिथ्या बुद्धि के कारण ही वह अज्ञानी स्त्री-पुत्र आदि के होते हुए अपने को सम्पत्ति-वान समझता है। दिन-रात उन्हीं की चिन्ता में फंसा रहता है। कुटुम्ब की विषय-कामनाओं की पूर्ति करता और उनके मोह में उनको हर तरह अनुकूल बनाने के उपाय करता हुआ स्वयं बढ़ता प्राप्त करता है। इस प्रकार उसकी लालसा का अन्त नहीं हो पाता और अन्त में आयु बिताकर अपनी पर्याय छोड़ता है, विलाप करता है कि हाय मैं अमुक काम किए बिना ही चल दिया, यदि पौत्र के दर्शन कर लेता, उसके कतिपय कौतुक और देख लेता तो मेरा जन्म सफल हो जाता।

जरा विचार करें, ये अज्ञानी जीव भोग की तृष्णा में ही अपने दुर्लभ मनुष्यजन्म को नष्ट कर देते हैं। मानव जन्म पाने का कुछ भी मुफल ये प्राप्त नहीं कर पाते और राग-द्वेष, मोह से तीव्र कर्म बांध कर दुर्गति को प्राप्त करते हैं। सच्चे धर्म को, सच्चे आत्म-स्वरूप को, सच्चे सुख को न पहचान कर ये बेचारे अज्ञान के कारण अपनी आत्मिक सुख-शान्ति के भण्डार से सर्वथा वंचित रहते हैं और पुनः-पुनः सांसारिक अर्णव में अवगाहन करते रहते हैं।

देह में आत्म-बुद्धि रखने तथा आत्मा में आत्म-बुद्धि न करने से ही इस जगत की सारी बहिरात्माओं की ऐसी दुर्दशा हो रही है। कर्म का चक्र विचित्र है। कर्म कौतुक ईश्वर की भांति प्रतिध्वनि-वाद जैसा है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा जो ऊर्जा ध्वनि निस्त होती है वह अन्ततः ईश्वर से जा टकराती है। अपने स्वभाव से वह वहाँ से लौटकर पुनः उसी स्थान को आती है, जहाँ से वह चली थी। मान लीजिए, किसी प्राणी ने क्रोध में किसी को गालो दी तो वह ईश्वर से जा टकराती है और वहाँ से लौटकर वह दाता के पास लौटकर जब आती है तब ग्रहण करने में कितना कष्ट होता है, यह वस्तुतः कहने का कम अपितु अनुभव करने का अधिक विषय है। इसी प्रकार कर्मपक्ष जब अपने उदय में आते हैं तब कर्मी दुःख-सुख की अनुभूति करता है। इस सारी प्रक्रिया को अपनी नासमझी के कारण अज्ञानी प्राणी क्रोध, मान, माया और लोभ जैसी कषायों से निरन्तर अनुप्राणित करता रहता है। कषायों के कौतुक बड़े विचित्र हैं। दूसरों पर क्रोध करते हुए क्रोधी अपने इस पुरुषार्थ को सार्थक समझकर सुखी होता है। अमुक पर खूब क्रोध किया और उसे पर्याप्त कष्टायित कर प्रतिकार लिया जा सका है, पर, भला प्राणी यह नहीं जानता है कि क्रोध कषाय की वर्णना लौटकर प्रतिकारी स्वाद से स्वयं को आस्वादित करेगी। यदि यह सत्य और तथ्य जाना जा सके तो फिर कौन ऐसा—निरीह प्राणी होगा जो क्रोध को पर और स्व के लिए आमंत्रित करे।

उपाधि वस्तुतः बोझ है। इसको जितना अधिक उत्कर्षित किया जाएगा कर्ता उतना ही अधिक स्वयं को बोझिल बनाएगा। जागतिक सम्पन्नता में सामान्यतः अपार आकर्षण होते हैं। अज्ञानी इन्हीं आकर्षणों में भ्रमित होकर नाना प्रकार के मान-अभिमान में लीन हो जाता है। मान मिलते रहें अथवा अभिमान सन्तुष्ट होते रहें तो प्राणी जघन्य कष्टों में भी जीने की स्वीकृति दे देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मान की महिमा अनंत है। मान के कौतुक में अद्भुत प्रकार का आकर्षण है। विचारें, जो नहीं है उसका यदि आरोपण किया जाए तो अभाव को श्रणिक सन्तोष मिलता है। किसी कान्स्टेबुल को यदि दीवान जी कह दिया जाए तो उससे अनर्थ कराने में अनुकूलता पाई जा सकती है।

कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान : डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया | १२६



इसी प्रकार नाना मनौतियाँ हैं जिनके द्वारा हमारा निर्मल आत्मन् बन्दी बनता है/रहता है। मान कषाय का यही कौतुक कौशल है जो सामान्य प्राणी को सन्मार्ग से हटाकर उन्मार्ग की ओर ले जाता है।

माया की महिमा असाधारण है। संसार की सपक्षता इसी कषाय पर निर्भर करती है। प्राणी जितना अधिक मायाचारी होगा, उतना ही अधिक वह सपक्ष संसारी होगा। संसार का आकर्षण व्यक्ति को धीरे-धीरे सालता है और जब उसका आर्जवत्व पूर्णतः दब जाता है तभी उसका जीवन वस्तुतः उधार का बन जाता है। वह अपनी स्थिति से कभी संतुष्ट नहीं रह पाता। वह सदा दूसरों को ठगने में अथवा धोखा देने में संतोष रस का आनन्द अनुभव करता है। इस प्रकार की कषैली चर्याएँ हमारे जीवन को प्रभावित किए रहती हैं। जो इस दल-दल से निकलना चाहता है अथवा उबरना चाहता है, उसे ये संसारी प्राणी अपने हास्य का पात्र बनाते हैं और इस प्रकार उनका सतत प्रयास रहता कि प्राणी उनके चक्र से मुक्त न होने पाए।

लोभ का लावण्य निराला है। इससे छूटना साधारण साधक की बिसात नहीं। इसकी चिपकन बड़ी तीव्र होती है। अन्य कषायों की कसावट से ऊपर, सबसे ऊपर इसकी उड़ान होती है। सारी कसावटें हट सकती हैं किन्तु लोभ का प्रलोभ चिपका ही रहता है। इसमें कड़वाहट नहीं, मिठास होती है। इसके कौतुकों में अद्भुत प्रकार की कमनीयता है— कंचन, कामिनी और कुकर्म इसके प्रमुख उपादान हैं। इसके प्रभाव से प्राणी का चित्त विचित्र फिसलन से चिरंजीवी होता रहता है। पर-पदार्थों की नाना पर्यायों में तथा उनके क्षणिक परिवर्तनों में जो स्वयंजात आकर्षण होता है। उसके प्रलोभी प्राणियों में लोभ कषाय की पूर्णतः प्रभावना विद्यमान रहती है। इस कषाय के वशीभूत प्राणी मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। उन्हें सन्मार्ग की अपेक्षा उन्मार्ग को अपनाते हैं सुख का आभास होने लगता है।

मकड़ी के जाले में फँसी मक्खी की भांति कषाय कौतुक व्यक्ति को कर्मजाल में जकड़ लेते हैं उससे निकल पाना कोई सुगम और सरल काम नहीं है। प्रश्न यह है कि इन कषाय चतुष्टय के गुंथल से मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? कषायों से छुटकारा नरक, तिर्यंच तथा स्वर्ग गति में जन्म लेने वाले जीवों को भी सम्भव नहीं होता। इस प्रबन्धन से मुक्ति प्राप्त्यर्थ मनुष्य गति में जन्म लेना एक मात्र साधन है।

सद्चर्या में षट् आवश्यकों की आराधना करने का उल्लेख मिलता है। देव दर्शन, गुरु उपासना स्वाध्याय, संयम, तप और दान—ये षट् आवश्यक कहे गए हैं जिनकी आराधना करने से श्रावक की दिनचर्या अशुभ से शुभ और शुभतर होती है। उसके परिणामों में शान्ति और सन्तोष के संस्कार जागते हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच के दिव्य गुणों का अन्तरंग में जागरण होता है तब क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों की तीव्रता मन्द होती हुई अन्ततः समाप्त हो सकती है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह निष्कर्ष रूप से सहज में कहा जा सकता है कि कषाय ही आत्मा की विकृति का प्रधान कारण है। कषायों का अन्त हो जाना ही भव-भ्रमण का अन्त हो जाना है। जिन-वाणी में प्रचलित प्रसिद्ध उक्ति कितनी सार्थक है—कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. (अ) पंचसंग्रह, प्राकृत, 1-109  
(ब) चारित्रसार, 89-1
2. सर्वार्थसिद्धि, 6-4-320-9
3. (अ) राजवार्तिक, 2-6-2-108-28  
(ब) योगसार, आश्रम, 9-40
4. कषाय पाहुड, 1-1, 13-14, 287-322-1
5. (अ) सर्वार्थसिद्धि, 8-9-386-4  
(ब) राजवार्तिक, 8-9, 15-574-27  
(स) बृहद्नयचक्र, 308
6. (अ) तत्त्वार्थसूत्र 8-9  
(ब) पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, 1077
7. (अ) द्रव्य संग्रह, 13-38-1  
(ब) कषाय पाहुड, 1-1, 13-14  
(स) धवला, 8-3, 6-21
8. भगवती सूत्र, शतक 12-305
9. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, पृष्ठ 624
10. भगवती सूत्र, 1-12, 305
11. अमृत पत्र, डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, पृष्ठ 2 तथा 3
12. भगवती सूत्र, 12-5-4
13. अमृत पत्र, डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, पृष्ठ 3 तथा 4
14. भगवती सूत्र, शतक 12
15. तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्राचार्य
16. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, देवेन्द्र मुनि, पृष्ठ 632
17. अमृत पत्र, डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, पृष्ठ 5-6
18. दशवैकालिक अध्याय 8, सूत्र भाषा 38-39
19. समाधि शतक, आचार्य पूज्यपाद, श्लोकांक 5



कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान : डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया | १३१





जैन आगम में

प्रायश्चित्त : स्वरूप और विधि

डा. पुष्पलता जैन

प्रायश्चित्त साधक और साधना को विशुद्धि से सम्बद्ध, आंतरिक चेतना से उद्भूत, एक पवित्र आभ्यन्तरिक तप है जो किसी चारित्रिक दोष से मुक्त होने के लिए किया जाता है। साधना की निश्चलता और स्वाभाविकता साधक की अन्यतम विशेषता है। यह विशेषता यदि किसी भी कारणवश खण्डित होती है तो साधक पवित्र मन से उसे स्वीकार कर पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति में वापिस पहुँच जाता है। वापिस जाने की इसी प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा जाता है। प्रमादजन्य दोषों का परिहार, भावों की निर्मलता, निःशल्यत्व, अव्यवस्था निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता, आराधना सिद्धि आदि उद्देश्य प्रायश्चित्त की पृष्ठभूमि में होते हैं।<sup>1</sup>

आचार्यों ने प्रायश्चित्त के संदर्भ में प्रायः चार अर्थ किये हैं :—

- |                  |             |
|------------------|-------------|
| (१) अपराध        | (२) लोक     |
| (३) प्राचुर्य और | (४) तपस्या। |

अकलंक<sup>2</sup> और धर्मसंग्रहकार<sup>3</sup> ने प्रायः का अर्थ अपराध करके 'प्रायश्चित्त' को अपराध-शोधन का एक साधन माना है। धवला<sup>4</sup> में इसे लोक वाचक मानकर ऐसी प्रक्रिया का रूप कहा जिससे साधर्म्य और संघ में रहने वाले लोगों का मन अपनी ओर से विशुद्ध हो जाये। प्राचुर्य अर्थ होने पर इसका तात्पर्य है चित्त की अत्यन्त निर्विकार अवस्था<sup>5</sup> और जब उसका अर्थ तपस्या होता है तब प्रायश्चित्त का सम्बन्ध तपस्या से संयुक्त चित्त हो जाता है।<sup>6</sup>

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9 22
2. प्रायः साधु लोक. प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम् ..... अपराधो वा प्रायः चित्तशुद्धिः प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराध विगुद्धिरित्यर्थः, वही, 9 22 ;
3. (क) प्रायः पापं विनिविष्टं चित्तं तस्य विगोधनम् । धर्म संग्रह, 3;  
(ख) प्रायः छिदद् जम्हा पायच्छित्तं त्ति भण्णइ तेण । —पंचाशक सटीक विवरण, 16 3 ।
4. प्रायः इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनोभवेत् ।  
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ —13 5, 4 26, गाथा 9
5. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, 113
6. पद्मचन्द्र कोष, पृष्ठ 258

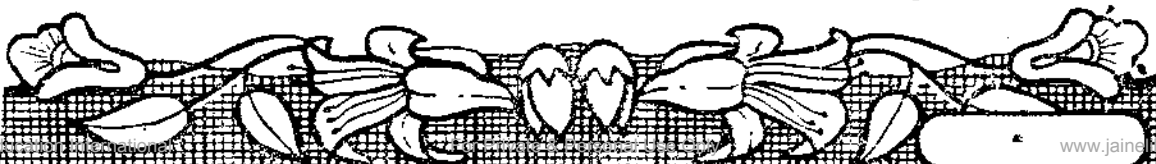
१३२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य

जैनाचार्यों ने प्रायश्चित्त के अर्थ को निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से भी सात बारों का प्रयत्न किया है। निश्चयनय में प्रायश्चित्त का ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप प्रतिध्वनित होता है जिसमें साधक ज्ञानस्वरूप आत्मा का बार-बार चिंतवन करता है और विकथादि प्रमादों से अपना मन विरक्त कर लेता है।<sup>17</sup> जब साधक प्रमादजन्य अपराध का परिहार कर लेता है तब वह प्रायश्चित्त के व्यावहारिक रूप को अंगीकार कर लेता है।<sup>18</sup> प्रायश्चित्त के ये दोनों रूप आध्यात्मिक साधना के लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। मूलाचार (गाथा ३६३) में प्रायश्चित्त के लिए कुछ पर्यायवाची शब्द दिये हैं :— प्राचीन कर्म-क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन, उत्क्षेपण और छेदन। ये नाम भी प्रायश्चित्त के विविध रूपों को अभिव्यक्त करते हैं।

प्रायश्चित्त का सांगोपांग वर्णन छेद सूत्र, व्यवहार-सूत्र, निशीथ, जीतकल्प, मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्माभूत आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अंगों में यद्यपि छुट-पुट उल्लेख मिलते हैं पर उनका व्यवस्थित वर्णन दिखाई नहीं देता।

प्रायश्चित्त को जैनधर्म में तप का सप्तम प्रकार अथवा आभ्यन्तर तप का प्रथम प्रकार माना जाता है। बारह तपों के प्रकारों में बाह्य तप के तुरन्त बाद आभ्यन्तर तप का वर्णन हुआ है जिसका प्रारम्भ प्रायश्चित्त से होता है। इसका तात्पर्य यह माना जा सकता है कि आचार्यों की दृष्टि में विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग की आधारशिला प्रायश्चित्त को स्वीकारा गया है। यह उसके महत्त्व की ओर इंगित करता है क्योंकि अपने अपराध की निश्छल स्वीकृति साधक की आन्तरिक पवित्रता की प्रतिकृति है। प्रायश्चित्त आलोचनापूर्वक ही होता है और जो ऋजुभाव से अपने अपराधों की आलोचना करता है वही प्रायश्चित्त देने योग्य है।

प्रायश्चित्त की परिधि और व्यवस्था स्वयंकृत अपराधों के प्रकारों पर निर्भर रहा करती है। इसी आधार पर आचार्यों ने इसे दस भेदों में विभाजित किया है। मूलाचार (गाथा ३६२) के अनुसार ये दस भेद हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान। भगवती सूत्र (२५७) तथा स्थानांग सूत्र (१०) में अन्तिम भेद परिहार और श्रद्धान के स्थान पर अनवस्थाप्य और पारांचिक भेदों का उल्लेख है। मूलाचार की परम्परा धवला (१३५४२६११), चारित्रभार (पृ० १३७), अनगार धर्माभूत (७३७) आदि ग्रन्थों में देखी जा सकती है। उमास्वाति ने कुछ परिवर्तन के साथ नव भेद ही माने हैं। उन्होंने मूल को छोड़ दिया है और श्रद्धान के स्थान पर उपस्थापना को स्वीकार किया है। ठाणांग (८३ सूत्र ६०५) में अनवस्थाप्य और पारांचिक छोड़कर कुल आठ भेद माने हैं। उसी में अन्यत्र (१०३ सूत्र ७३३) यह संख्या भगवती जैसी दस भी मिलती है। ठाणांग (४१ सूत्र २६३) ही प्रायश्चित्त के चार भेदों का उल्लेख करता है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त (गीतार्थ मुनि द्वारा पाप त्रिशोधक कृत्य)। यहीं उसके चार अन्य प्रकार भी द्रष्टव्य हैं—प्रतिसेवना (प्रति सिद्ध का सेवन करना) २. प्रायश्चित्त (एकजातीय अतिचारों की क्षुद्धि करना) ३. आरोपना प्रायश्चित्त (एक ही अपराध का प्रायश्चित्त बार-बार लेना) ४. परिकुंचना प्रायश्चित्त (छिपाये अपराध का प्रायश्चित्त लेना)। भगवती सूत्र (२५७) में यह संख्या बढ़कर पचास तक पहुँच गयी है—दस प्रायश्चित्त, दस प्रायश्चित्त देने वाले के गुण, दस प्रायश्चित्त लेने वाले के गुण, प्रायश्चित्त के दस दोष और प्रतिसेवना के दस कारण।



प्रायश्चित्त का यह सारा वर्गीकरण कदाचित् व्यक्ति के परिणाम और उसकी मनोवृत्ति पर आधारित रहे हैं। उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो सकता है। आचार्यों ने अपराधों की संख्या को सीमित करने की अपेक्षा प्रायश्चित्त को सीमित करके उसे दस भेदों में वर्गीकृत कर दिया है जिनके आधार पर साधक अप्रशस्त भावों से मुक्त होकर प्रशस्त भावों में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है।

### १. आलोचना

निष्कपट भाव से प्रसन्नचित्त होकर आचार्य के समक्ष आत्म-दोषों की अभिव्यक्त करना आलोचना है।<sup>१</sup> आलोचना करके, साधक पुनः पूर्वस्थिति में पहुँच जाता है। सच्चा आलोचक वही हो सकता है जो जाति, कुल, विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, क्षांति, दांति, निष्कपटता और अपश्चात्तापता गुणों से आभूषित हो।<sup>१०</sup> इसी तरह आलोचना ऐसे साधुओं के समक्ष की जाती है जो बहुश्रुत हों, आचार्य या उपाध्याय हों तथा आठ गुणों से संयुक्त हों—आचारवान्, आधारवान् (अतिचारों को समझने वाला), व्यवहारवान्, अपत्रीडकर (आलोचक साधु की शर्म को दूर करने वाला), प्रकुर्वक (अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ), अपरिस्त्रावी (आलोचक के दोषों को प्रकट न करने वाला), निर्णायक (असमर्थ साधु को क्रमिक प्रायश्चित्त देने वाला), और अपायदर्शी (परलोक आदि का भय दिखाने वाला)।<sup>११</sup>

आलोचना करने वाला साधु यदि यथार्थ साधुत्व से दूर होगा, मायावी होगा तो वह आलोचना निम्नलिखित आठ कारणों से करेगा—१. अपमान निन्दा से बचने के लिए २. तुच्छ जाति के देवों में उत्पन्न होने से बचने के लिए ३. निम्न मानव कुल में उत्पन्न होने से बचने के लिए ४. विराधक समझे जाने का भय ५. आराधक होने की आकांक्षा ६. आराधक न होने का भय, ७. आराधक होने का मायाचार और ८. मायावी समझे जाने का भय। इसी प्रकार आगमों में ऐसे भी कारणों का उल्लेख आता है जिनके कारण मायावी आलोचना प्रतिक्रमण नहीं करते—१. अपराध करने पर पश्चात्ताप की क्या आवश्यकता, २. अपराध से निवृत्त हुए बिना आलोचना की क्या उपयोगिता, ३. अपराध की पुनः प्रवृत्ति ४. अपयश-चतुर्दिशाओं में व्याप्त) ५. अपकीर्ति (क्षेत्रीय बदनामी), ६. अपनय (सत्कार न होना), ७. कीर्ति पर कलंक का भय ८. यश कलंकित होने का भय। मायावी साधक इन कारणों से पश्चात्ताप नहीं करता। वह मन ही मन पश्चात्ताप रूपी आग में जलता रहता है, चारित्रिक पतन से अपमानित होता है और मरकर दुर्गति में जाता है।<sup>१२</sup>

आलोचना निर्दोष होनी चाहिए। उसमें किसी भी तरह का छल-कपट न हो। भगवती आराधना (२५७), ठाणांग (१०७३३), तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक (६२२२) आदि ग्रन्थों में आलोचना के दस दोषों का उल्लेख मिलता है—१. प्रायश्चित्त के समय आचार्य को उपकरण आदि देना ताकि प्रायश्चित्त थोड़ा मिले—आकंपयिता २. अनुमान लगाकर अथवा दुर्बलता आदि का बहाना कर प्रायश्चित्त लेना—अणुमाणइत्ता ३. दूसरों के द्वारा ज्ञात दोषों का प्रकट कर देना और अज्ञात दोषों को छिपा लेना—दिट्टं। राजवार्त्तिक में इसी को मायाचार कहा है। ४. केवल स्थूल दोषों को कहना—बायरं। ५. अल्प दोषों को कहना—सुहुमं। ६. उसी दोष में निमग्न साधु से आलोचना करना—तस्सेवी। ७. एकान्त स्थान में धीरे-

१. भगवतीसूत्र, २५७ टीका; तत्त्वार्थवार्त्तिक १२१

१०. वही, २५७

११. ठाणांग, ८३६०४

१२. ठाणांग, ८३५९७



धीरे आलोचना करना—छत्र । ८. प्रशंसा अथवा पापभीरुता को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भीड़ के समक्ष आलोचना करना—बहुजण । ९. अज्ञानकार के समक्ष आलोचना करना—अव्यक्त और १०. उच्च स्वर से कहना—सदाउलय । अंतिम चार दोषों के स्थान पर तत्त्वार्थवातिक में निम्नलिखित चार दोषों की गणना की गयी है—१. प्रायश्चित्त जानकर आलोचना करना २. कोलाहल में आलोचना करना, ३. गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त की आगम विहितता की जानकारी करना ४. अपने दोष का संवरण करना । इन दोषों से मुक्त होकर निष्कपट वृत्ति से अबोध बालक की तरह सरलतापूर्वक दोष निवेदन करने में इस प्रकार के दोषों से साधक मुक्त हो जाता है ।

ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि साधु और आर्यिका के आलोचना प्रकार में आचार्यों ने कुछ अन्तर रखा है । उदाहरण के तौर पर साधु की आलोचना तो एकांत में आलोचक और आचार्य इन दो उपस्थिति में हो जाती है पर आर्यिका की आलोचना सार्वजनिक स्थान में तीन व्यक्तियों की उपस्थिति में ही होती है ।<sup>13</sup> यह अन्तर कदाचित् प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य को स्वयं पर विश्वास न करने का परिणाम होगा ।

प्रशस्त भावों में केन्द्रित होने के लिए आत्मालोचन कदाचित् सर्वोत्तम साधन माना जा सकता है क्योंकि साधक उसके माध्यम से आत्मस्थ हो जाता है । आचार्य अकलंक ने आलोचना की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा है—“लज्जा और परतिरस्कार आदि के कारण दोषों का निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब न रखने वाले कर्जदार की तरह दुःख का पात्र होना पड़ता है । बड़ी भारी दुष्कर तपस्यायें भी आलोचना के बिना उसी तरह इष्टफल नहीं दे सकतीं जिस प्रकार विरेचन से शरीर की मल शुद्धि किये बिना खाई गई औषधि । आलोचन करके भी यदि गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना संवारे धान्य की तरह महाफलदायक नहीं हो सकता ।<sup>14</sup>

## २. प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण का तात्पर्य है वापिस लौटना । अर्थात् अशुभ योग से शुभयोग में, 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' मानकर प्रवृत्त हो जाना, आत्मगुण में लौट जाना ।<sup>15</sup> आवश्यकनिर्युक्ति (१२३३-१२४४) तथा आवश्यक-चूर्ण में प्रतिक्रमण के निम्न आठ नाम सोदाहरण मिलते हैं—प्रतिक्रमण, परिहरण, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि । इनसे प्रतिक्रमण के भिन्न-भिन्न आयामों पर प्रकाश पड़ता है । दोषों के पीछे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से पांच विशेष कारण होते हैं । इनसे मुक्त होने के लिए साधक अपने दोषों का प्रतिकार करता है । क्षायोपशमिक भावों से औदयिक भाव में जाना और फिर औदयिक से क्षायोपशमिक में वापिस हो जाना यही प्रतिक्रमण है, आचार्य हरिभद्र और हेमचंद्र की दृष्टि में । इसलिए विषय के भेद से प्रतिक्रमण पांच प्रकार का माना जाता है—आश्रवद्वार प्रतिक्रमण, मिथ्यात्व प्रतिक्रमण, कषाय प्रतिक्रमण, योग प्रतिक्रमण, भाव प्रतिक्रमण । अविरति और प्रमाद का समावेश आश्रवद्वार में हो जाता है ।<sup>16</sup>

13. तत्त्वार्थ, 9-22-2

14. वही, 9-22-2

15. स्वस्थानात् यत् परस्थान, प्रमादस्य वशाद् गतम् ।

तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

16. ठाणांग, 5-3-467



प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण में अन्तर यह है कि प्रायश्चित्त आचार्य के समक्ष लिया जाता है पर प्रतिक्रमण में आचार्य की आवश्यकता नहीं होती। उसे साधक स्वयं प्रातः मध्याह्न और सायंकाल कर सकता है। आवश्यकों<sup>17</sup> में उसे स्थान देकर आचार्यो ने उसकी महता को प्रदर्शित किया है। इसमें साधक भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करता है, वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचता है और प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को रोकता है।

अपराध छोटा होने पर भी प्रतिक्रमण किया जाता है। भावपाहुड (७८) में ऐसे छोटे अपराधों का उल्लेख किया है जैसे—छहों इन्द्रियाँ तथा वचनादिक का दुष्प्रयोग, अपना हाथ-पैर आचार्य को लग जाना, व्रत समिति आदि में दोष आ जाना, वैशुन्य तथा कलह करना, वैध्यावृत्त्य-स्वाध्यायादि में प्रमाद यतन करना आदि।

पडिक्रमणवस्सय में भी एक लम्बी लिस्ट दी है जिससे साधक-मुनि को बचना चाहिए—स्थूल-सूक्ष्म हिंसा, गमन दोष, आहार दोष, शल्य, मन-वचन-काय दोष, कषाय, मद, अतिचार, समिति-गुप्ति-दोष, सत्रह प्रकार का अर्षयम, १८ प्रकार का अन्नह्रा, २० असमाधिस्थान, २१ शत्रुलदोष, ३३ आसा-तना आदि।

यह प्रतिक्रमण व्रत रहित स्थिति में भी आवश्यक बताया है। यह शायद इसलिए कि अत्रती साधक का भी झुकाव व्रत की ओर रहता ही है। चारित्रमोहनीय का विशिष्ट क्षयोपशम न होने से व्रत ग्रहण करने में वह कमजोरी महसूस करता है। पर व्रत धारण करने की शुभ प्रतीक्षा तो वह करता ही है। इससे व्रतधारियों के प्रति सम्मान का भाव बढ़ता है तथा व्रत-पालन की दिशा में कदम भी आगे आता है।

सामान्यरूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है—द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। उपयोगरहित सम्यक्दृष्टि का प्रतिक्रमण द्रव्यप्रतिक्रमण है। मुमुक्षु के लिए भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है। कर्मों की निर्जरा रूप वास्तविक फल भावप्रतिक्रमण से ही होता है। वर्तमान में लगे दोषों को दूर करना और भविष्य में लगने वाले दोषों को न होने देने के लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण का मुख्य उद्देश्य है।

पंचाशक (१७ गाथा० ६-४०) में दस कल्पों का वर्णन मिलता है जिनमें प्रतिक्रमण भी है। कल्प का तात्पर्य है साधुओं का अनुष्ठान विशेष अथवा आचार।<sup>18</sup>

### ३. तदुभय

कुछ दोष आलोचना मात्र से शुद्ध होते हैं, कुछ प्रतिक्रमण से तथा कुछ दोनों से शुद्ध होते हैं, यह तदुभय है। जैसे एकेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श, दुःस्वप्न देखना, केश लुंचन, नखच्छेद, स्वप्न दोष, इन्द्रिय का अतिचार, रात्रिभोजन आदि।<sup>19</sup>

17. सामायिक, चतुर्विंशतिस्त्रय, वंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग।

18. जैन बोल संग्रह, भाग 3, पृ० 240; मूलाचार (गाथा 909); पंचाशक, 17, गाथा 6-40

19. अनगार धर्मांमुत्, 7-53



४. विवेक

विवेक का तात्पर्य है त्याग। आधाकर्म आदि आहार आ जाने पर उसे छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है।

५. व्युत्सर्ग

नदी, अटवी आदि के पार करने में यदि किसी तरह का दोष आ जाता है तो उसे कायोत्सर्ग-पूर्वक विशुद्ध कर लिया जाता है। अनगारधर्माभूत तथा भावपाहुड में ऐसे अपराधों की एक लम्बी सूची दी है जिसके लिए व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त करना आवश्यक माना गया है। इसे कायोत्सर्ग भी कहा जाता है। इसमें श्वास का नियमन कर समता का भावन किया जाता है। इससे अनासक्ति और निर्भयता का विकास होता है जो आत्म-साधना के लिए आवश्यक है।<sup>20</sup>

६-१०. तप, छेद आदि अन्य भेद

अनशन, अवमौदर्य आदि तप हैं। यह तप प्रायश्चित्त सशक्त और सबल अपराधी को दिया जाता है। बार-बार अपराध करने पर चिर-प्रव्रजित साधु की अमुक दिन, पक्ष और माह आदि की दीक्षा का छेद करना छेद है। इससे साधु व्यवहारतः अन्य साधुओं से छोटा हो जाता है। मूल प्रायश्चित्त उसे दिया जाता है जो पार्श्वस्थ, अवसन्न कुशील और स्वच्छन्द हो जाता है अथवा उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण, वसतिका आदि का ग्रहण करता है। जिन गुरुतर दोषों से महाव्रतों पर आघात होता है उनके होने पर दीक्षा पर्याय का पूर्णतया छेदन कर दिया जाता है और पुनः दीक्षा दे दी जाती है।<sup>21</sup> इसी को उमास्वाति ने श्रद्धान या उपस्थापना कहा है। अनवस्थाप्य परिहार में विशिष्ट गुरुतर अपराध हो जाने पर साधक को श्रमण संघ से निष्कासित कर गृहस्थ वेश धारण करा दिया जाता है बाद में विशिष्ट तप आदि करने के उपरांत पुनः दीक्षा दी जाती है। पाराचिक परिहार में छह माह से बारह वर्ष तक श्रमण संघ से निष्कासित किया जाता है। यह प्रायश्चित्त उस मुनि को दिया जाता है जो तीर्थंकर, आचार्य, संघ आदि की झूठी निन्दा करता है, विरुद्ध आचरण करता है, किसी स्त्री का शील भंग करता है, वध की योजना बनाता है अथवा इसी तरह के अन्य गुरुतर अपराधों में लिप्त रहता है।

इन प्रायश्चित्तों के माध्यम से साधक अपना अन्तर्मन पवित्र करता है और वह पुनः सही मार्ग पर आरुढ़ हो जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि व्रतों में अतिचार आदि दोष आ जाने पर तुरन्त उसका प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए अन्यथा उसका विस्मरण हो जाता है और फिर वह संस्कार-सा बनकर रह जाता है। जो भी हो, प्रायश्चित्त अध्यात्म यात्रा की एक सीढ़ी मानी जा सकती है जिस पर चढ़कर साधक अपनी साधना में निखार लाता है और अपराधों से बचकर अपनी तपस्या को विशुद्ध कर लेता है।

॥ • ॥

20. तत्त्वार्थवार्तिक, 9-26

21. ध्वला, 13-5 4-26

प्रायश्चित्त : स्वरूप और विधि : डॉ० पुष्पलता जैन | १३७



प्राचीन मालवा के

जैन सन्त और उन की रचनाएँ

डा. तेजसिंह गौड़

मालवा भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। साहित्य के क्षेत्र में भी यह प्रदेश पिछड़ा हुआ नहीं रहा है। कालिदास जैसे कवि इस भूखण्ड की ही देन हैं। यद्यपि संतों को किसी क्षेत्र विशेष से बाँधा नहीं जा सकता और फिर जैन सन्तों का तो सतत विहार होता रहता है। इसलिये उनको किसी सीमा में रखना सम्भव नहीं होता है। उनका क्षेत्र तो न केवल भारत वरन् समस्त विश्व ही होता है। फिर भी जिन जैन सन्तों का मालवा से विशेष सम्पर्क रहा है, जिनका कार्यक्षेत्र मालवा रहा है और जिन्होंने मालवा में रहते हुए साहित्य सृजन किया है, उनका तथा उनके साहित्य का संक्षिप्त परिचय देने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

(१) आचार्य भद्रबाहु—आचार्य भद्रबाहु के सम्बन्ध में अधिकांश व्यक्तियों को जानकारी है। ये भगवान् महावीर के पश्चात् छठवें शेर माने जाते हैं। इनके ग्रन्थ 'दसाड' और 'दस निज्जुति' के अतिरिक्त 'कल्पसूत्र' का जैन साहित्य में बहुत महत्त्व है।<sup>1</sup>

(२) क्षपणक—ये विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। इनके रचे हुए न्यायावतार, दर्शनशुद्धि, सम्मतितर्क सूत्र और प्रमेयरत्नकोष नामक चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें न्यायावतार ग्रन्थ अपूर्व है। यह अत्यन्त लघु ग्रन्थ है, किन्तु इसे देखकर गागर में सागर भरने की कहावत याद आ जाती है, वत्तीस श्लोकों में इस काव्य में क्षपणक ने सारा जैन न्यायशास्त्र भर दिया है। न्यायावतार पर चन्द्रप्रभ चूरि ने न्यायावतार-निवृत्ति नामक विशद टीका लिखी है।

(३) श्री आर्यरक्षित सूरि—नंदीसूत्रवृत्ति से यह प्रतीत होता है कि वीर निर्वाण संवत् ५८४ ई० सन् ५७ में दशपुर में आर्यरक्षित सूरि नामक एक सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हो गये हैं; जो अपने समय के उद्भट विद्वान, सकलशास्त्र पारंगत एवं आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता थे। यही नहीं, यहाँ तक इनके सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है कि ये इतने विद्वान् थे कि अन्य कई गणों के ज्ञान-पिपासु जैन साधु आपके शिष्य

1. संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृ० 112-114



रहकर ज्ञान प्राप्त करते थे। उस समय आर्यरक्षित सूरि का शिष्य होना महान् भाग्यशाली होने का सूचक माना जाता था। फलतः आपके शिष्यों एवं विद्यार्थियों का कोई पार नहीं था।<sup>1</sup>

इनके पिता का नाम सोमदेव और माता का नाम रुद्रसोमा था। पुरोहित सोमदेव स्वयं भी उच्चकोटि के विद्वान् थे। आर्यरक्षित सूरि के लघुभ्राता का नाम फल्गुरक्षित था जो स्वयं भी इनके कहने से जैन-साधु हो गये थे।

आर्यरक्षित सूरि ने आगमों को चार भागों में विभक्त किया। यथा—(१) करण-चरणानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) धर्म-कथानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। इसके साथ ही इन्होंने अनुयोगद्वारसूत्र की भी रचना की, जो जैन दर्शन का प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है। यह आगम आचार्य प्रवर की दिव्यतम दार्शनिक दृष्टि का परिचायक है।

आर्यरक्षित सूरि का देहावसान दणपुर में हुआ था।<sup>2</sup>

(४) श्री सिद्धसेन दिवाकर—श्री पं० सुखलाल जी ने श्री सिद्धसेन दिवाकर के विषय में लिखा है—“जहाँ तक मैं जान पाया हूँ जैन परम्परा में तर्क का और तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मय का आदि प्रणेता है सिद्धसेन दिवाकर।”<sup>3</sup> उज्जैन और विक्रम के साथ इनका पर्याप्त सम्बन्ध रहा है।

इनके द्वारा रचित “सन्मतिप्रकरण” प्राकृत में है। जैनदृष्टि और मन्तव्यों को तर्क शैली में स्पष्ट करने तथा स्थापित करने में जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम ग्रन्थ है। जिसका आश्रय उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर विद्वानों ने लिया है। सिद्धसेन ही जैन परम्परा के आद्य संस्कृत स्तुतिकार है।<sup>4</sup>

श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी<sup>5</sup> ने लिखा है कि जैन ग्रन्थों में सिद्धसेन दिवाकर को साहित्यिक एवं काव्यकार के अतिरिक्त नैयायिक और तर्कशास्त्रज्ञों में प्रमुख माना है। सिद्धसेन दिवाकर का स्थान जैन इतिहास में बहुत ऊँचा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय उनके प्रति एक ही भाव से श्रद्धा रखते हैं। उनके दो स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—कल्याण मंदिर स्तोत्र और वर्धमान द्वात्रिंशिका स्तोत्र।

कल्याण मंदिर स्तोत्र ४४ श्लोकों में है। यह भगवान् पार्श्वनाथ का स्तोत्र है। इसकी कविता में प्रासाद गुण कम और कृत्रिमता एवं श्लेष की अधिक भरमार है। परन्तु प्रतिभा की कमी नहीं है। इसके अन्तिम भिन्न छन्द के एक पद्य में इसके कर्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है, जिसे कुछ लोग सिद्धसेन का ही दूसरा नाम मानते हैं। दूसरे पद्य के अनुसार यह २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया है। भक्तामर के सदृश होते हुए भी यह अपनी काव्य-कल्पनाओं व शब्द योजना में मौलिक ही है।<sup>6</sup>

1. श्रीमद् राजेन्द्रसूरी स्मारक ग्रन्थ, पृ० 453
2. श्री पट्टावली पराम सग्रह, पृ० 137
3. स्व० बाबू श्री बहादुरसिंह जी सिन्धी स्मृति ग्रन्थ, पृ० 10
4. The Jain Sources of the History of Ancient India, Page 150-151
5. संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृ० 117-118
6. (अ) संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृ० 119  
(ब) भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० 125-26

प्राचीन मालवा के जैन सन्त और उनकी रचनाएँ : डॉ० तेजसिंह गौड़ | १३६





वर्द्धमान द्वात्रिंशिका स्तोत्र ३२ श्लोकों में भगवान् महावीर की स्तुति है। इसमें कृत्रिमता एवं श्लेष नहीं है। इसमें प्रासाद गुण अधिक है। भगवान् महावीर को शिव, बुद्ध, ऋषिकेण, विष्णु एवं जगन्नाथ मानकर प्रार्थना की गई है।<sup>1</sup>

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका बड़े-बड़े जैनाचार्यों के की है। इसके रचनाकार को दिगम्बर सम्प्रदाय वाले 'उमास्वामि' और श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले 'उमास्वाति' बतलाते हैं। उमास्वाति के ग्रन्थ की टीका सिद्धसेन दिवाकर ने बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखी है।<sup>2</sup> इनका समय ५५०-६०० इस्वी सन् माना गया है।<sup>3</sup>

(५) जिनसेन—आचार्य जिनसेन पुद्गाट सम्प्रदाय—आचार्य परम्परा में हुए। पुद्गाट कर्नाटक का ही पुराना नाम है, जिसको हरिषेण ने दक्षिणापथ का नाम दिया है। ये जिनसेन आदिपुराण के कर्त्ता श्रावक धर्म के अनुयायी एवं पंचस्तूपान्वय के जिनसेन से भिन्न हैं। ये कीर्तिषेण के शिष्य थे।

जिनसेन का 'हरिवंश पुराण' इतिहासप्रधान चरितकाव्य श्रेणी का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना वर्द्धमानपुर, वर्त्तमान बदनावर जिला धार (म० प्र०) में की गई थी। दिगम्बरीय सम्प्रदाय के कथा संग्रहों में इसका स्थान तीसरा है।<sup>4</sup>

(६) हरिषेण—पुद्गाट संघ के अनुयायियों में एक दूसरे आचार्य हरिषेण हुए। इनकी गुरु परम्परा मौनी भट्टारक श्री हरिषेण, भरतसेन, हरिषेण इस प्रकार बैठती है। आपने कथाकोष की रचना की। यह रचना उन्होंने वर्द्धमानपुर या बद्धवाण—बदनावर में विनायकपाल राजा के राजकाल में की थी। विनायकपाल प्रतिहार वंश का राजा था जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इसका ६८८ वि० का एक दान-पत्र मिला है। इसके एक वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ६८६ शक सम्वत् ८५३ में कथाकोष की रचना हुई। हरिषेण का कथाकोष साढ़े बारह हजार श्लोक परिमाण का बृहद् ग्रन्थ है।<sup>5</sup> यह संस्कृत पद्यों में रचा गया है और उपलब्ध समस्त कथा कोषों में प्राचीनतम सिद्ध होता है। इसमें १५७ कथाएँ हैं।

(७) मानतुंग—इनके जीवन के सम्बन्ध में अनेक विरोधी विचारधाराएँ हैं। मयूर और वाण के समान इन्होंने स्तोत्र काव्य का प्रणयन किया। इनके भक्तामर स्तोत्र का श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय वाले समान रूप से आदर करते हैं। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही कि इसके प्रत्येक चरण को लेकर समस्यापूर्यात्मक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे। इस स्तोत्र की कई समस्या पूर्तियाँ उपलब्ध हैं।<sup>6</sup>

(८) आचार्य देवसेन—देवसेनकृत दर्शनसार का वि० सं० ६६० में धारा के पार्श्वनाथ मंदिर में

1. संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृ० 118

2. वही, पृ० 116

3. The Jain Sources of the History of Ancient India, Page 164.

4. The Jain Sources of the History of Ancient India, Page 195 and onward

5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 351-52

6. अनेकान्त वर्ष 18, किरण 6, पृ० 242 से 246



रचे जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त 'आलाप-पद्धति' इनकी न्याय-विषयक रचना है। एक 'लघुनय चक्र' जिसमें ८७ गाथाओं द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो तथा उनके नैगमादि नौ नयों को उनके भेदोपभेद के उदाहरणों सहित समझाया है। दूसरी रचना बृहन्नयचक्र है जिसमें ४२३ गाथाएँ हैं और उसमें नयों व निक्षेपों का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। रचना के अन्त की ६, ७ गाथाओं में लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण बात बतलाई है कि आदितः उन्होंने दव्वसहाव-पयास (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नाम के इस ग्रन्थ की रचना दोहा बन्ध में की थी किन्तु उनके एक शुभंकर नाम के मित्र ने उसे सुनकर हँसते हुए कहा कि यह विषय इस छन्द में शोभा नहीं देता, इसे गाथाबद्ध कीजिए। अतएव उसे उनके माल्लधवल नामक शिष्य ने गाथा रूप में परिवर्तित कर डाला। स्याद्वाद और नयवाद का स्वरूप समझने के लिए देवसेन की ये रचनाएँ बहुत उपयोगी हैं।<sup>2</sup> इन्होंने आराधनासार और तत्त्वसार नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं। ये सब रचना आपने धारा में ही लिखीं अथवा अन्यत्र यह रचनाओं पर से ज्ञात नहीं होता है।

(६) आचार्य महासेन—आचार्य महासेन लाड़-बागड़ के पूर्णचन्द्र थे। आचार्य जयसेन के प्रशिष्य और गुणाकरसेन सूरि के शिष्य थे। महासेन सिद्धान्तज्ञवादी, वाग्मी, कवि और शब्दब्रह्म के विशिष्ट ज्ञाता थे। यशस्वियों द्वारा सम्मान्य, सज्जनों में अग्रणी और पाप रहित थे। ये परमारवंशीय राजा मुंज द्वारा पूजित थे। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप की सीमा स्वरूप थे और भव्यरूपी कमलों को विकसित करने वाले बान्धव सूर्य थे तथा सिंधुराज के महामात्य श्री पर्वट के द्वारा जिनके चरण कमल पूजे जाते थे और उन्हीं के अनुरोधवश 'प्रद्युम्न चरित्र' की रचना विक्रमी ११वीं शताब्दी के मध्य भाग में हुई है।<sup>3</sup>

(१०) आचार्य अमितगति द्वितीय—ये माधुर संघ के आचार्य थे और माधवसेन सूरि के शिष्य थे। ये वाषपतिराज मुञ्ज की सभा के रत्न थे। ये बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी रचनाएँ विविध विषयों पर उपलब्ध हैं। इनकी रचनाओं में एक पंच-संग्रह वि० सं० १०७३ में मसूतिकापुर (वर्तमान मसूद विलोदा—धार के निकट) में बनाया गया था। इन उल्लेखों से सुनिश्चित है कि अमितगति धारा नगरी और उसके आस-पास के स्थानों में रहे थे। उन्होंने प्रायः अपनी सभी रचनाएँ धारा में या उसके समीपवर्ती नगरों में प्रस्तुत कीं। बहुत सम्भव है कि आचार्य अमितगति के गुरुजन धारा या उसके समीपवर्ती स्थानों में रहे हों। अमितगति ने सं० १०५० से सं० १०७३ तक २३ वर्ष के काल में अनेक ग्रन्थों की रचना वहाँ की थी।<sup>4</sup> अमितगतिकृत सुभाषित-रत्न संदोह में बत्तीस परिच्छेद हैं जिनमें से प्रत्येक में साधारणतः एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें जैन नीतिशास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार किया गया है, साथ-साथ ब्राह्मणों के विचारों और आचार के प्रति इसकी प्रवृत्ति विसंवादात्मक है। प्रचलित रीति के ढंग पर स्त्रियों पर खूब आक्षेप किये गये हैं। एक पूरा परिच्छेद वेश्याओं के सम्बन्ध में है। जैन धर्म के आप्तों का वर्णन २८वें परिच्छेद में किया गया है और ब्राह्मण धर्म के विषय में कहा गया है कि वे उक्त आप्तजनों की समानता नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्त्रियों के पीछे कामातुर रहते हैं, मद्यसेवन करते हैं

1. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ, 544

2. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० 87

3. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० 544-45

4. वही, पृ० 545

प्राचीन मालवा के जैन सन्त और उनकी रचनाएँ : डॉ० तेजसिंह गौड़ | १४१



और इन्द्रियासक्त होते हैं ?<sup>1</sup> अमितगतिकृत श्रावकाचार लगभग १५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है और वह पन्द्रह अध्यायों में विभाजित है, जिनमें धर्म का स्वरूप, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद, सप्त तत्त्व, पूजा व उपवास एवं बारह भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है।<sup>2</sup> आपके योगसार में ६ अध्यायों में नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं।<sup>3</sup> इनकी अन्य रचनाओं में भावना द्वात्रिंशतिका, आराधना सामायिक पाठ और उपासकाचार का उल्लेख किया जा सकता है।<sup>4</sup> सुभाषित रत्न संदीह की रचना वि० ६६८ में हुई थी और उसके बीस वर्ष पश्चात् उन्होंने धर्म परीक्षा नामक ग्रन्थ की रचना की।<sup>5</sup>

आचार्य अमितगति की कुछ रचनाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) जम्बूद्वीप, (२) सार्धद्वयद्वीप प्रज्ञप्ति, (३) चन्द्रप्रज्ञप्ति और (४) व्याख्याप्रज्ञप्ति।<sup>6</sup>

(११) आचार्य माणिक्यनन्दी—आचार्य माणिक्यनन्दी दर्शन के तलदृष्टा विद्वान और त्रैलोक्यनन्दी के शिष्य थे। ये धारा के निवासी थे और वहाँ वे दर्शनशास्त्र का अध्यापन करते थे। इनके अनेक शिष्य थे।<sup>7</sup> नयनदी उनके प्रथम विद्याशिष्य थे। उन्होंने अपने सकल विधि विधान नामक काव्य में माणिक्यनन्दी को महापण्डित बतलाने के साथ-साथ उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप प्रमाण जल से भरे और नय रूप चंचल तरंग समूह से गम्भीर उत्तम, सप्तभंग रूप कल्लोलमाला से विभूषित जिनशासन रूप निर्मल सरोवर से युक्त और पण्डितों का चूड़ामणि प्रकट किया है।<sup>8</sup> माणिक्यनन्दी द्वारा रचित एक मात्र कृति परीक्षामुख नामक एक न्यायसूत्र ग्रन्थ है जिसमें कुल २७७ सूत्र हैं। ये सूत्र सरल, सरस और गम्भीर अर्थ द्योतक हैं। माणिक्यनन्दी ने आचार्य अकलंकदेव के वचन समुद्र का दोहन करके जो न्यायामृत निकाला वह उनकी दार्शनिक प्रतिभा का द्योतक है।<sup>9</sup>

(१२) नयनन्दी—ये माणिक्यनन्दी के शिष्य थे। ये काव्य-शास्त्र में विख्यात थे। साथ ही प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के विशिष्ट विद्वान् थे। छन्द शास्त्र के भी वे परिज्ञानी थे। नयनन्दीकृत "सकल विधि विधान कहा" वि० सं० ११०० में लिखा गया।<sup>10</sup> यद्यपि यह खण्डकाव्य के रूप में है किन्तु विशाल काव्य में रखा जा सकता है। इसकी प्रशस्ति में इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है। उसमें कवि ने ग्रन्थ बनाने के प्रेरक हरिसिंह मुनि का उल्लेख करते हुए अपने से पूर्ववर्ती जैन-जैनैतर और कुछ सम-सामयिक विद्वानों का भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हैं।<sup>11</sup> इनकी दूसरी कृति सुदर्शन चरित्र है। यह अपभ्रंश का खण्डकाव्य है। इसकी रचना वि० सं० ११०० में हुई।<sup>12</sup> यह खण्डकाव्य महाकाव्यों की श्रेणी में रखने योग्य है।

- |  |   |
|--|---|
| 1. संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग 2, कोष, पृ० 286-87  | 2. वही, पृ० 121                                   |
| 3. वही, पृ० 81                                       | 4. संस्कृत साहित्य का इतिहास—गैरोला, पृ० 345      |
| 5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग 2, कोष, पृ० 286-87 | 6. संस्कृत साहित्य का इतिहास, गैरोला, पृ० 345     |
| 7. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० 546        | 8. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग 1, पृ० 26      |
| 9. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० 546        |   |
| 10. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० 64   | 11. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० 547-48 |
| 12. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० 163   |   |

१४२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



(१३) प्रभाचन्द्र—माणिक्यनन्दी के विद्याशिष्यों में प्रभाचन्द्र प्रमुख रहे। ये माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थ के कुशल टीकाकार हैं। दर्शन साहित्य के अतिरिक्त वे सिद्धान्त के भी विद्वान् थे। इन्होंने राजा भोज के द्वारा प्रतिष्ठा मिली थी।

इन्होंने विशाल दार्शनिक ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) प्रमेय कमलमार्तण्ड—दर्शन ग्रन्थ है जो माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख की टीका है। यह ग्रन्थ राजा भोज के राजकाल में लिखा गया। (२) न्याय कुमुदचन्द्र न्याय विषयक ग्रन्थ है। (३) आराधना कथा कोण गद्य ग्रन्थ है। (४) पुष्पदन्त के महापुराण पर टिप्पण। (५) समाधितन्त्र टीका—ये सब ग्रन्थ राजा जयसिंह के समय में लिखे गये। (६) प्रवचन सरोज भास्कर। (७) पंचास्तिकाय प्रदीप। (८) आत्मानुशासन तिलक। (९) क्रियाकलाप टीका। (१०) रत्नकरण्ड टीका। (११) बृहत् स्वयंभू स्तोत्र टीका। (१२) शब्दाम्भोज टीका—ये सब कब और किसके समय में लिखे गये, कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इन्होंने देवनन्दी की तत्त्वार्थवृत्ति के विषय पदों की एक विवरणात्मक टिप्पणी भी लिखी है। इनका समय ११वीं सदी का उत्तरार्द्ध एवं १२वीं सदी का पूर्वार्द्ध ठहरता है।

इनके नाम से अष्ट पाहुड पंजिका, मूलाचार टीका, आराधना टीका आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है, जो उपलब्ध नहीं हैं।<sup>१</sup>

(१४) आशाधर—पं० आशाधर संस्कृत साहित्य के अपारदर्शी विद्वान् थे। ये मांडलगढ़ के मूल निवासी थे किन्तु मेवाड़ पर मुसलमान बादशाह शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर मालवा की राजधानी धारानगरी में स्वयं अपनी एवं परिवार की रक्षा के निमित्त अन्य लोगों के साथ आकर बस गये थे। धारा नगरी उस समय साहित्य एवं संस्कृति का केन्द्र थी, इसीलिए इन्होंने भी वही व्याकरण एवं न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। धारा नगरी से साहित्य एवं संस्कृति का परिज्ञान एवं नलकच्छपुर (वर्तमान नालछा) में साधु जीवन प्राप्त हुआ था। नालछा का नेमिनाथ चैत्यालय उनकी साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। वे लगभग ३५ वर्ष तक नालछा में ही रहे और वहीं एक-निष्ठा से साहित्य सर्जन करते रहे।<sup>२</sup>

पंडित आशाधर बहुश्रुत और बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए। काव्य, अलंकार, कोश, दर्शन, धर्म और वैद्यक आदि अनेक विषयों पर उन्होंने ग्रंथ लिखे थे। वे धर्म के बड़े उदार थे।<sup>३</sup> इनके द्वारा रचित ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है :—

१. सागार धर्मात—सप्त व्यसनों के अतिचारों का वर्णन, श्रावक की दिनचर्या और साधक की समाधि व्यवस्था आदि इसके वर्ष विषय हैं।<sup>४</sup> यह ग्रंथ लगभग ५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है

1. (अ) गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ के आधार पर, पृ० 548 और आगे

(ब) संस्कृत साहित्य का इतिहास, गैरोला, पृ० 355

2. अनेकांत वर्ष 17, किरण 2, जून 1964, पृ० 67

3. संस्कृत साहित्य का इतिहास, गैरोला, पृ० 347

4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, गैरोला, पृ० 346

प्राचीन मालवा के जैन सन्त और उनकी रचनाएँ : डॉ० तेजसिंह गौड़ | १४३



और आठ अध्यायों द्वारा श्रावक धर्म का सामान्य वर्णन, अष्टमूल गुण तथा ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। व्रत प्रतिमा के भीतर बारह व्रतों के अतिरिक्त श्रावक धर्म की दिनचर्या भी बतलाई गई है। अन्तिम अध्याय के ११० श्लोकों में समाधिमरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। रचना शैली काव्यात्मक है। ग्रंथ पर कर्ता की स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है; जिसमें उसकी समाप्ति का समय वि० सं० १२६६ या ई० सन् १२३६ उल्लिखित है।<sup>1</sup>

२. प्रमेय रत्नाकर—यह ग्रंथ स्याद्वाद विद्या की प्रतिष्ठापना करता है।<sup>2</sup>

३. अध्यात्म रहस्य—इसमें ७२ संस्कृत श्लोकों द्वारा आत्मशुद्धि और आत्म-दर्शन एवं अनुभूति का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। आशाधर ने अपनी अनगार धर्माभूत की टीका की प्रशस्ति में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ की एक प्राचीन प्रति की अन्तिम पुष्पिका में इसे धर्माभूत का योगीहोपन नामक अठारहवाँ अध्याय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ का दूसरा नाम योगीहोपन भी है और इसे कर्ता ने अपने धर्माभूत के अन्तिम उपसंहारात्मक अठारहवें अध्याय के रूप में लिखा था। स्वयं कर्ता के शब्दों में उन्होंने अपने पिता के आदेश से आरब्ध योगियों के लिए इसकी रचना की थी।<sup>3</sup>

इनकी अन्य रचनाओं में, ४. धर्माभूत मूल, ५. ज्ञान दीपिका, ६. भव्य कुमुद चंद्रिका—धर्माभूत पर लिखी टीका, ७. मूलाराधना टीका, ८. आराधनासार, ९. नित्यमहोद्योत, १०. रत्नत्रय विधान, ११. भरतेश्वरभ्युदय—इस महाकाव्य में भरत के ऐश्वर्य का वर्णन है। इसे सिद्धचक्र भी कहते हैं। क्योंकि इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में सिद्धि पद आया है। १२. राजमति विप्रलम्भ—खण्ड काव्य है। १३. इष्टोपदेश टीका, १४. अमरकोश, १५. क्रिया कलाप, १६. काव्यालंकार, १७. सहस्र नाम स्तवनटीका, १८. जिनयज्ञकल्पसटीक इसका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार धर्माभूत का एक अंग है। १९. त्रिषष्टि, २०. अष्टांग हृदयोद्योतिनी टीका—वाग्भट के आयुर्वेद ग्रन्थ अष्टांगहृदयी की टीका और २१. भूपाल चतुर्विंशति टीका।<sup>4</sup>

(१५) श्रीचन्द्र—ये धारा के निवासी थे। लाड़ बागड़ संघ और बलात्कार गण के आचार्य थे।

इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं :—

(१) रविषेण कृत पद्म चरित पर टिप्पण, (२) पुराणसार, (३) पुष्पदंत के महापुराण पर टिप्पण, (४) शिवकोटि की भगवती आराधना पर टिप्पण।

अपने ग्रन्थों की रचना इन्होंने विक्रम की ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध (वि० सं० १०८० एवं १०९७) में की।

1. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० 114

2. बीरवाणी, वर्ष 18, अंक 13 पृ० 21

3. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ० 122

4. (अ) बीरवाणी वर्ष 18 अंक 13

(ब) जैन साहित्यको संक्षिप्त इतिहास पृ० 396 विस्तृत परिचय के लिए देखें—“जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 2—पं० परमानन्द शास्त्री, पृ० 408 से आगे।



(१६) भट्टारक श्रुतकीर्ति—ये नंदी संघ बलात्कार गण और सरस्वती गच्छ के विद्वान् थे। ये त्रिभुवन मूर्ति के शिष्य थे। अपभ्रंश भाषा के विद्वान् थे। इनकी चार रचनायें उपलब्ध हैं—(१) हरिवंश पुराण (२) धर्म परीक्षा (३) परमेष्ठि प्रकाश सार एवं (४) योगसार।

(१७) कवि धनपाल—ये मूलतः ब्राह्मण थे। लघुभ्राता से जैनधर्म में दीक्षित हुए। वाकपतिराज मुन्ज की विद्वत् सभा के रत्न थे। मुन्ज द्वारा इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि दी गई थी। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। इनका समय ११वीं सदी निश्चित है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—१. पाइयलच्छी नाम माला—प्राकृत कोश २. तिलक मंजरी—संस्कृत गद्य काव्य, ३. अपने छोटे भाई शोभन मुनिकृत स्तोत्र ग्रन्थ पर एक संस्कृत टीका ४. ऋषभ पंचाशिका—प्राकृत ५. महावीर स्तुति ६. सत्य पुरीय ७. महावीर उत्साह—अपभ्रंश और ८. वीरश्रुई।<sup>१</sup>

(१८) मेस्तु गाचार्य—इन्होंने अपना प्रसिद्ध ऐतिहासिक सामग्री से परिपूर्ण ग्रन्थ 'प्रबन्ध चिन्तामणि' वि० सं० १३६१ में लिखा। इसमें पांच सर्ग हैं। इसके अतिरिक्त विचार श्रेणी, स्थविरावली और महापुरुष चरित या उपदेश शती—जिसमें ऋषभदेव, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान तीर्थंकरों के विषय में जानकारी है, की रचना की।

(१९) तारणस्वामी—ये तारण पंथ के प्रवर्तक आचार्य थे। इनका जन्म पुहुपावती नगरी में सन् १४४८ में हुआ था। आपकी शिक्षा श्रुतसागर मुनि के पास हुई। इन्होंने कुल १४ ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. श्रावकाचार, २. माला जी, ३. पंडित पूजा, ४. कमलवत्तीसी, ५. न्याय समुच्चयसार, ६. उपदेशशुद्धसार, ७. त्रिभंगीसार, ८. चौबीसठाना, ९. ममलपाहु, १०. सुन्न स्वभाव, ११. सिद्ध स्वभाव, १२. खात का विशेष, १३. छद्मस्थवाणी और १४. नाम माला।<sup>२</sup>

(२०) धर्मकीर्ति—इन्होंने पद्मपुराण की रचना सरोजपुरी (मालवा) में की थी। भट्टारक ललितकीर्ति इनके गुरु थे। इन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ को सम्बत् १६६९ में समाप्त किया था। सम्बत् १६७० की प्रति में लिपिकार ने इनको भट्टारक नाम से सम्बोधित किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि पद्मपुराण की रचना के बाद ये भट्टारक बने थे।<sup>३</sup> इनकी दूसरी रचना का नाम हरिवंश पुराण है। हरिवंश पुराण को आश्विन महीने की कृष्ण पंचमी सं० १६७१ रविवार के दिन पूर्ण किया था।<sup>४</sup>

विस्तार भय से अपनी लेखनी को विराम देते हुए जिज्ञासु विद्वानों से अनुरोध है कि इस विषय पर विशेष शोध कर लुप्त साहित्य को प्रकाश में लाने का प्रयास करें। यहां तो केवल गिनती के जैन संतों के नामों और उनके ग्रन्थों को गिनाया गया है। यदि इस विषय पर गहराई से अध्ययन किया जाये तो एक अच्छा शोध प्रबन्ध तैयार हो सकता है।



1. जैन साहित्य और इतिहास, प्रेमी पृ० 468-69
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-4, पृ० 243 से 245, डा० नेमीचन्द शास्त्री।
3. प्रशस्ति संग्रह—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० 9
4. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृ० 541-42

प्राचीन मालवा के जैन सन्त और उनकी रचनाएँ : डॉ० तेजसिंह गौड़ | १४५



## भगवान महावीर एवं बुद्ध :

### एक तुलनात्मक अध्ययन

डा. विजय कुमार जैन

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब तथागत बुद्ध एवं भगवान महावीर का आविर्भाव हुआ, उस समय भारतवर्ष में ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव था। ब्राह्मण अपने त्यागमय आदर्शों से च्युत हो रहे थे। विद्वान् बुद्धिवाद के आधार पर नवीन मार्ग की व्यवस्था में लगे थे। विद्वद्जगत् में नियमन के बिना अराजकता का विस्तार था। आध्यात्मिक विषयों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा था। एक ओर संग्रहवाद की प्रभुता थी दूसरी ओर अन्धविश्वास की। दर्शन के मूल तथ्यों की अत्यधिक मीमांसा इस युग की विशेषता थी। विचार के साथ ही सदाचार का ह्रास हो रहा था। धर्म के बाह्य अनुष्ठानों ने धर्म के भीतरी रहस्य को भुला दिया था। आडम्बरों, देवतावाद, एकेश्वरवाद और कर्मकाण्ड के अनुष्ठान की ओर आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता था।

तथागत बुद्ध एवं भगवान महावीर ने अनाचार से सदाचार की ओर तथा अन्धविश्वास से तर्क की ओर मोड़ा। मानवता के प्रति लोगों के हृदय में आदर का भाव बढ़ाया। निर्वाण की प्राप्ति व्यक्ति के प्रयत्नों के आधार पर साध्य बतलाई तथा वैराग्य की पवित्रता को प्रदर्शित किया।

बुद्ध एवं महावीर दोनों ही श्रमण संस्कृति के पोषक थे। दोनों ने अपने-अपने अलग धर्मतीर्थ की स्थापना की जो आज बौद्ध एवं जैन धर्म के नाम से जाने जाते हैं। दोनों महानुभावों में बहुत सी सदृशता है जिसका हम प्रस्तुत पत्र में विवेचन कर रहे हैं।

तथागत गौतम बुद्ध बौद्धधर्म के संस्थापक हैं। साथ ही बुद्ध परम्परा के अन्तर्गत २५ वें बुद्ध। भगवान् महावीर भी जैनधर्म के अन्तिम २४वें तीर्थंकर हैं एवं जैनधर्म के पुनरुद्धारक। तीर्थ या धर्म की स्थापना करने वालों को तीर्थंकर कहा जाता है। बुद्ध भी तीर्थंकरों के समान ही धर्म की स्थापना करने वाले हैं। भगवान् महावीर एवं अन्य तीर्थंकरों को राग, द्वेष आदि कर्मों को जीतने के कारण "जिन" कहा जाता है और उनके अनुयायियों को आज "जैन" कहा जाता है। उसी प्रकार बुद्ध के अनुयायियों को "बौद्ध" कहा जाता है।

जैन एवं बौद्धधर्म परम्परा में तीर्थंकर एवं बुद्ध के चरित्र एवं वर्णन प्रसंगों में काफी समानता प्रतीत होती है। जैन परम्परा में तीर्थंकरों के वर्णन प्रसंग में उनके नाम व स्थान जहाँ से वे उत्तीर्ण हुए, माता-पिता का नाम, वंश, आयु, ऊँचाई, चिह्न, वर्ण, तपस्या, आसन, निर्वाण स्थल एवं महत्व की पाँच

१४६ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



तिथियों का वर्णन मिलता है—गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण। बौद्ध परम्परा में भी प्रायः समान रूप से बुद्धों के वर्णन मिलते हैं; यथा—बुद्धों का नाम, कितने पूर्व का समय, कल्प, नगर, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, गृही-जीवन, गृहत्याग का वाहन, तपश्चर्याकाल, बोधिवृक्ष, अग्रश्रावक, अग्रश्राविका, परिचारिका का नाम, श्रावक सम्मेलन, आयु। भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों की तरह तथागत बुद्ध की भी पाँच तिथियों का महत्व है—प्रतिसन्धिग्रहण एवं जन्म, गृहत्याग, बोधिलाभ, धर्मचक्रप्रवर्तन एवं परिनिर्वाण।

तीर्थंकर बनने के संस्कार षोडश कारण अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विशिष्ट मान्यताएँ हैं जैसे—तीर्थंकर माता का दूध नहीं पीते, उनको गृहस्थावस्था में ही अवधिज्ञान होता है पर उसका प्रयोग नहीं करते, उनके शरीर की अपनी विशेषताएँ होती हैं जैसे—मूछ दाढ़ी नहीं होती लेकिन शिर पर बाल होते हैं। मनुष्य गति में ही इनकी प्रतिष्ठापना होती है।

इसी प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति के लिए कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ बतलाई गई हैं जिनसे अभिनीहार की सिद्धि होती है। यथा—मनुष्यभव, लिगसम्प्राप्ति हेतु, शास्ता का दर्शन, प्रव्रज्या, गुण सम्प्राप्ति, अधिकार तथा छन्दता। दस पारमिताओं की पूर्ति। स्वयं गौतम बुद्ध ने बोधिसत्व के रूप में ५५० बार विविध योनियों में जन्म लेकर पारमिताओं की पूर्ति की थी।

पारमिताओं की पूर्ति कर बोधिसत्व, तुसितलोक में देवपुत्र के रूप में जन्म लेते हैं। तत्पश्चात् देवताओं द्वारा याचना किये जाने पर पंचमहाविलोकन करते हैं, अर्थात् काल, द्वीप, देश, कुल, माता तथा उनकी आयु पर विचार करते हैं।

जैन तीर्थंकर

- |                    |                   |                 |
|--------------------|-------------------|-----------------|
| (१) श्री ऋषभनाथ,   | (२) अजितनाथ,      | (३) सम्भवनाथ,   |
| (४) अभिनन्दननाथ,   | (५) सुमतिनाथ,     | (६) पद्मप्रभ,   |
| (७) सुपाश्वर्षनाथ, | (८) चन्द्रप्रभ,   | (९) सुविधिनाथ   |
| (१०) शीतलनाथ,      | (११) श्रेयांसनाथ, | (१२) वासुपूज्य, |
| (१३) विमलनाथ,      | (१४) अनन्तनाथ,    | (१५) धर्मनाथ,   |
| (१६) शान्तिनाथ,    | (१७) कुन्धुनाथ,   | (१८) अरनाथ,     |
| (१९) मल्लिनाथ,     | (२०) मुनिसुव्रत,  | (२१) नमिनाथ,    |
| (२२) नेमिनाथ,      | (२३) पार्श्वनाथ,  | (२४) महावीर।    |

बुद्ध

- |                 |                |             |
|-----------------|----------------|-------------|
| (१) दीपंकर,     | (२) कोण्डिन्य, | (३) मंगल,   |
| (४) सुमन,       | (५) रेवत,      | (६) शोभित,  |
| (७) अनोमदर्शी,  | (८) पद्म,      | (९) नारद,   |
| (१०) पद्मोत्तर, | (११) सुमेध,    | (१२) सुजात, |

भगवान् महावीर एवं बुद्ध : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० विजयकुमार जैन | १४७





- |                  |                 |                 |
|------------------|-----------------|-----------------|
| (१३) प्रियदर्शी, | (१४) अर्थदर्शी, | (१५) धर्मदर्शी, |
| (१६) सिद्धार्थ,  | (१७) तिष्य,     | (१८) पुष्प,     |
| (१९) वियश्यी,    | (२०) शिखी,      | (२१) बेस्सभू,   |
| (२२) ककुसन्ध,    | (२३) कोणामन,    | (२४) काश्यप,    |
| (२५) गौतमबुद्ध । |                 |                 |

अब हम भगवान् महावीर एवं तथागत बुद्ध के जीवन परिचय का विवेचन करेंगे—

भगवान् महावीर एवं बुद्ध दोनों क्षत्रिय थे। भगवान् महावीर की पूज्य माता वैशाली गणतन्त्र के राजा चेटक की पुत्री त्रिशला थी। पिता सिद्धार्थ वैशाली के एक उपनगर कुण्डग्राम के शासक थे। इसीलिए महावीर को वैशालीय भी कहा जाता है।

तथागत बुद्ध के वचपन का नाम सिद्धार्थ था जबकि सिद्धार्थ नाम महावीर के पिता का था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन भी शाक्यवंशीय राजा थे तथा माता महामाया थीं। तथागत बुद्ध एवं महावीर दोनों ने ही क्षत्रिय कुल में जन्म लेना उपयुक्त समझा था। जैन मान्यता तो यहाँ तक है कि भगवान् महावीर का जन्म पहले ब्राह्मण माता की कुक्षि में हुआ लेकिन बाद में उसे क्षत्रिय माता के यहाँ बदला गया। गर्भ के समय बुद्ध एवं महावीर की माता को स्वप्नदर्शन हुआ। जैन परम्परा में १४ एवं १६ स्वप्नों की मान्यता है। बुद्ध की माता को बोधिसत्व के कुक्षि में प्रवेश के स्वप्न पर त्रिचार करने पर इनकी महानता का बोध हो जाता है।

दोनों के जन्म से चमत्कार एवं श्रीवृद्धि हुई। विशिष्ट ज्ञानधारी होते हुए भी शिक्षा के लिए आचार्य के पास गए। दोनों का विवाह हुआ (दिगम्बर परम्परा के अनुसार नहीं)। गौतम बुद्ध का विवाह यशोधरा से, महावीर का यशोदा से। गौतम बुद्ध के राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ तथा भगवान् महावीर को पुत्री। भगवान् बुद्ध ने गृहत्याग २९ वर्ष की अवस्था में किया; महावीर ने ३० वर्ष की अवस्था में। भगवान् बुद्ध ने ६ वर्ष तक कठोर तपस्या की एवं ज्ञान प्रक्रिया में समय लगा; भगवान् महावीर को १२ वर्ष। भगवान् बुद्ध ४५ वर्ष उपदेश देते हुए विचरते रहे; भगवान् महावीर ३० वर्ष तक। तथागत बुद्ध का परिनिर्वाण ८० वर्ष की अवस्था में हुआ, महावीर का ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ। दोनों के विचरण स्थल समान प्रदेश थे। दोनों ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना बाद में की।

ज्ञान प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने पहले अनिच्छा प्रकट की तत्पश्चात् ब्रह्मा की प्रार्थना स्वीकार कर पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश दिया। भगवान् महावीर के प्रथम उपदेश के लिए भी देवताओं ने पृष्ठभूमि तैयार की एवं समीकरण की स्थापना की। दोनों ने लोकभाषा को महत्व दिया। बुद्ध ने मागधी भाषा में एवं महावीर ने अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिया।

भगवान् महावीर एवं बुद्ध दोनों के श्रद्धालु उपासक राजा एवं सम्मानित से लेकर दलित वर्ग तक थे। दोनों ने कर्मणा वर्णव्यवस्था का महत्व प्रतिपादन किया। भगवान् बुद्ध एवं महावीर को विविध बाधाओं एवं दुष्परिणामों आदि को भी सहन करना पड़ा। जैसे—भिक्षान्न में बाधा आदि।

१४८ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



अन्य मतावलम्बियों द्वारा गाली एवं पत्थर आदि से चोट, जिसे बुद्ध एवं महावीर अपने अलौकिक प्रभाव से ग्रहण करते थे। दोनों को एक मानव की तरह कष्ट की अनुभूति होती थी। बुद्ध एवं महावीर एक समय एवं एक स्थानों में रहते हुए भी साक्षात् मिले हों ऐसा कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। लेकिन उनके शिष्य एक दूसरे से मिलते थे एवं वाद-विवाद होता था। भगवान् बुद्ध के बहुत से शिष्य निगण्ठों के अनुयायी हो गए थे एवं कई निगण्ठों के शिष्य बुद्ध के अनुयायी हो गए थे।

भगवान् महावीर एवं बुद्ध दोनों ने अपने वचनों को पूर्व तीर्थकरों एवं बुद्धों के द्वारा कथित बतलाया है लेकिन बुद्धों की पूर्व परम्परा का अभी तक कोई साक्ष्य नहीं मिला है जबकि पूर्व तीर्थकर ऋषभदेव एवं पार्श्वनाथ की परम्परा के विभिन्न साक्ष्य मिलते हैं। स्वयं बौद्ध अनुयायी पूर्व बुद्धों की कोई पूजा या उत्सव नहीं मनाते हैं जबकि जैन परम्परा में पूर्व तीर्थकरों की प्रतिमाएँ एवं उनके उत्सव आदि भगवान् महावीर के अनुरूप ही मनाये जाते हैं।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व निगण्ठों की परम्परा विद्यमान थी। भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व जो उपवास, ध्यान, मौन एवं कायोत्सर्ग किया था एवं केशलोच आदि किए थे वे निगण्ठों (जैनों) के अनुरूप थी। लेकिन तथागत बुद्ध ने उनकी निःसार जानकर त्याग दिया एवं मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया।

तथागत बुद्ध ने और भी कई शिक्षाओं में निगण्ठों का अनुकरण किया; जैसे—वर्षावास के नियम प्रतिपादन में, तुणघास आदि के बचाव में, भिक्षुणियों के संघ प्रवेश में।

बुद्ध ने प्रव्रज्या के सम्बन्ध में यह नियम बाद में बनाया कि प्रव्रज्या के पूर्व माँ-बाप की आज्ञा अनिवार्य है। वह भी उनके पिता शुद्धोदन ने निवेदन किया कि प्रव्रज्या के पूर्व माँ-बाप की आज्ञा होनी चाहिए क्योंकि माँ-बाप को कष्ट होता है। भगवान् महावीर ने यह बात उसी समय सोच ली थी जब वे गर्भ में थे; क्योंकि उनको माँ के दर्द की अनुभूति हो गई थी।

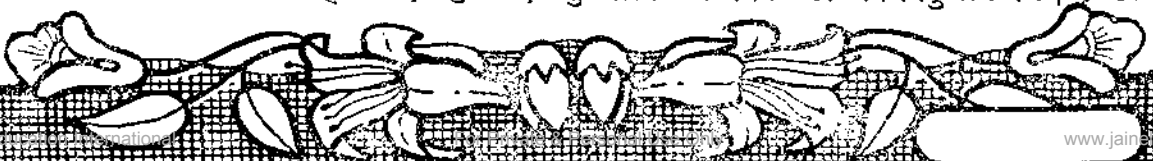
इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थकरों एवं बुद्धों की मान्यताओं में काफी समानता है। भगवान् महावीर एवं बुद्ध की परिस्थितियों एवं जीवन में भी समानता है जिसका हमने संक्षिप्त परिचय दिया है। इसमें अभी विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है जिसका अध्ययन हम अपनी योजना के अन्तर्गत कर रहे हैं।



### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वर्धमान कोष, सम्पादक, मोहनलाल बाठिया एवं श्रीचन्द्र जैन; दर्शन समिति, कलकत्ता, 1980।
  2. तीर्थकर वर्धमान महावीर, पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर, 1974।
  3. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
  4. निदानकथा, सम्पादक महेश तिवारी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1970।
- आल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फेस, 33वां अधिवेशन, कलकत्ता में पढ़ा गया लेख।

भगवान महावीर एवं बुद्ध : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० विजयकुमार जैन | १४६



साम्प्रतिक-विज्ञानस्य परिप्रेक्ष्ये—

## जैन-भू-गोल-विज्ञानम्

स्व. मुनि अभयसागरो गणौ

साम्प्रतिकं विज्ञानम्

यद्यपि विज्ञानं नाम प्राचीनात् कालात् प्रवर्तमानं सदैव साम्प्रतं यावदुपागतं विद्यते तदेव च परस्तादपि प्रवर्त्स्यते किन्तु मानवानां मेधा-महिम्ना काले काले किमपि किमपि नूतन-नूतनं रूपं बिभ्रदितं साम्प्रतिकमिति निगद्यते तत्तत्काल-जनितैः । संसृतेः परिवर्तितानि चक्रेऽराणामिवोर्ध्वाधोभावं मजतां मानवानां स्थितिकाले यथा यथा ह्यास-विकासा भवन्ति ते तदानीन्तनैः प्रवर्तितं परिष्कृतं परिवृंहितञ्च विज्ञानमिति घोष्यते । अधुनातना वैज्ञानिका अपि पूर्वेषां वैज्ञानिकानां विचारानाविष्कारांश्च समवाप्य स्व-स्वबुद्धि-बलोदयेन काश्चिदभिनवान् प्रयोगान् विधायान्नातान् विषय-विशेषान् प्रकाश्य साम्प्रतिकं विज्ञानं साधितवन्तः ।

साम्प्रतिकं भारतीयं विज्ञानं वैदेशिकैरनुसन्धानाभिरभिभूतं विद्यते, यतो हि भूयसा कालेनात्र वैदेश्या एव शासनमकुर्वन् । तैः शासनेन सहैवेदमपि साधितं यद् भारतीयानां मानसं भारतीयमहर्षीणां योग-प्रज्ञासम्पन्नानां विचारेषु श्रद्धां विसृज्य पाश्चात्येषु श्रद्धधाना भवेयुः । दैवदुर्विपाकेन तेषां क्लृप्तमिदं फलितम् । ऋजुधियो भारतीयाः प्रत्यक्षं विद्यमानानि चित्रैः प्रतीयमानानि पुस्तकैः पाठ्यमानानि चित्र-विचित्राण्युपकरणानि तथा जागतिक-मुखोपभोगसाधनानि चमत्कारकारीणि चाकचक्य सम्पादकानि यन्त्रादीनि विलोक्य भृशं तदधीना एव समपद्यन्त । इदमपि तत्रैकं क्लृप्तं तैरक्रियत यद् यान्यस्माकं विज्ञानमयानि शास्त्राणि हस्तलिखितान्यवर्तन्त तान्यपि पारे समुद्रं स्वदेशेषु प्रहितानि विनाशितानि वा ।

‘बीजं कदापि न विनश्यति’—इत्येषा लोक-भणितिः सत्यैवास्ति, अत एवाद्यापि भारते तादृशा विज्ञानविद उत्पन्नाः सन्ति यैर्न केवलं वैदेश्यानां विज्ञानवादप्रसिद्धाः केचन सिद्धान्ता एव विफलाः साधिता अपि तु प्राक्तनाचार्याणां मान्याः सिद्धान्ता अपि ससम्मानं प्रमाणिताः । एवं सत्यपि प्रचार-प्रसारबलैरखिलमपि वास्तविकं विज्ञानं प्रति धूमाकुलितनेत्रमिव विधातुं प्रयतमाना विज्ञानवादिनो मिथ्याऽऽग्रहग्रहिलाः कौतुकं प्रकटय्य वयं वयमिति घोषयन्ति । प्राचीनाः केवलं कल्पनालोके विचरन्तः साधनरहिता आसन् वयं च साधन-सम्पन्ना विविधयन्त्रोपकरणादिधर्तारः प्रत्यक्षं दर्शयितारः प्रामाणिका भवाम इत्युदीरयन्ति सडिण्डिमघोषम् । आत्मसाधनरता लोकोपकारपरायणा आस्तिका मनीषिणश्च तात् प्रत्युपेक्षावन्तः सन्तो न किमपि गदन्ति चिकीर्षन्ति च । परं सोऽयं सांस्कृतिको-विप्लवः कामं यथेष्टं

१५० | चतुर्थं खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



प्रसरिष्यति तदाऽस्माकं पूर्वजानां वैचारिको विधिरेव शोषं यास्यति । तेषां तपोभिरुत्तानि वीजानि पादपत्वं सम्प्राप्य फलवितानि पुष्पितानि फलितानि मूलादेव नङ्क्ष्यन्ति तैश्च शोधं शोधं बहुधा परीक्षं परीक्षञ्च निर्णीताः लौकिक-पारलौकिक-जीवनसाधकाः सिद्धान्ता एव भङ्क्ष्यन्ति निर्लोभं नवनीतत्वेन निरूपिता उपासनाऽर्चनाऽऽचरणरूपा आर्या हृष्टयोऽपि मुद्रिता भविष्यन्ति । को नाम देवेषु धर्मेषु धर्मग्रन्थेषु धर्माचार्येषु च विश्वसिष्यति ? कश्चात्मकल्याणं लोककल्याणं राष्ट्रकल्याणं प्रति चाग्रे वर्धितुमभिलषिष्यति ?

अत एव महाकवेः कालिदासस्योद्घोषमिमं—

“सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते । मूढः सदा परप्रत्यग्नेयबुद्धिः” सावधानतया श्रुत्वा सचिन्तं मीमांसाया अस्त्ययमवसरप्रसर इति सुनिश्चितम् ।

जैन-भूगोल-खगोलादि-विज्ञानम्

जैना आचार्या आदिकालादेवागमेषु श्रद्धधाना अवर्तन्त वर्तन्ते च । जिनोदिता वागेव तेभ्यः सर्वस्वम् । आगमेषु विज्ञानं शास्त्ररूपेण मुखरीभूतम्, न तु शिल्परूपेण । यतो हि विज्ञानशब्दस्य कोशकारा ‘विज्ञानं शिल्प-शास्त्रयो’ रित्यर्थद्वयं सूचयन्ति । शास्त्रं नामानुशासनमभिसंशनञ्च । तत्रापि शास्त्रमनु-शासनरूपेणैव तैः स्वीकृतम् । अत एव ते पूर्वाचार्या जानन्तोऽपि यन्त्राद्युपकरण-प्रतारणे नायाताः । ते यन्त्रादिविषयेऽज्ञा आसन्निति कथनं सर्वथाऽसत् । यतस्तदानीन्तनेषु प्रासङ्गिकेषु वर्णनेषु भूयांसि ताः हंशि वर्णनानि विद्यन्ते यान्यधीत्य जानीमो यदाधुनिका वैज्ञानिकास्तु तस्मिन् विषये गृहीतपल्लवा एव सन्तीति ।

अत्रेदमेकमन्यदपि सुविचारितं तथ्यं विद्यते यत् पूर्वाचार्यास्तपोनिरताः सन्तोऽपि लोकस्थिति-गति-प्रथितानां मीमांसने धर्माध्यैव प्रवृत्ता आसन्, नासीत् तेषां तत्र कोऽपि स्वार्थ-विशेषो न वाऽऽत्मरक्षापने-ऽप्यभूत् तेषां रुचिर्मतिर्वा । धार्मिक चर्यासु पदार्थचिन्तनं । लोक-चिन्तनं वेत्यपि निर्दिष्टवन्त एकाभावशयकी चर्याम् । तस्मादेवागमेषु ज्योतिश्चक्र-जम्बूद्वीपादीनां विशिष्टानि वर्णनानि भगवता विहितानि । ते हि पूर्वं महर्षय आसन् योगप्रज्ञा ऋतम्भराप्रज्ञाः करतलामलकवच्च सकलमपि ब्रह्माण्डं ज्ञातुं समर्थाश्चाभवन् । निःस्वार्थभावेन प्रकाशितं ज्ञानमेव लोककल्याणाय भवति । मनागपि मालिन्ये मनसि सति तस्योद्घाटनं भवत्येव किञ्च तत्र श्रद्धाह्लासोऽपि जायत एवेति सुविदितचरमेव विपश्चिदपश्चिमानाम् ।

जैन-परम्परायां भूगोल-खगोलादि विज्ञानस्याध्यात्मिकं महत्त्वं राराजते । जैनशास्त्राधारेणैदं स्पष्टं भवति यद्यस्मिंल्लोके मानव उत्पन्नस्तस्य स्वरूपादि-परिज्ञानात् स विचारयितुं प्रवर्तते यदस्या भुवः प्रत्येकं प्रदेशे ममानन्तवारं जन्मानि मरणानि चाभवत् । तथाच—

सो को वि णत्थि देसो लोयालोयस्स निरवसेसस्स ।

जत्थ णं सव्वो जीवो जातो मरिदो य बहुवारं ॥

एवं सञ्चिन्त्य तस्मात् पुनः पुनर्जनन-मरणचक्राच्च मुक्तये जागरूको भवति । भोगभूमि-कर्मभूमि-म्लेच्छभूमि-नरकभूम्यादि-विषये तासां स्वरूपाणि विज्ञाय साधकः पुण्यपापानां सुफल-दुष्फलादिभिः सहजं परिचितो भूत्वाऽसत् कर्मभ्यो निवर्तनञ्च कामयते । स्वस्य निरापदं गन्तव्यं निर्धारणाय प्रसज्जते । यदि नाम समस्तस्य लोकस्य तथा पृथ्व्यां स्थितस्य जम्बूद्वीपादिकस्य निरूपणं शास्त्रेषु नाभविष्यत् तदा जीवः स्व-स्वरूप-परिज्ञानादपरिचित एवास्थास्यत् । किञ्च तस्यां स्थितौ, ‘आत्मज्ञानं प्रति श्रद्धान-ज्ञानादीनां सम्भावना अपि विलोपं प्राप्स्यन् । अतः पूर्वाचार्यैरिदं साग्रहं समुपदिष्टं यत्—

जैन-भू-गोल-विज्ञानम् : स्व० मुनि अभयसागरो गणी | १५१



“द्वीप-समुद्र-पर्वत-क्षेत्र-सरित्प्रभृतिविशेषः सम्यक् सकल-नेगमादिनयेन ज्योतिषा प्रवचन मूलसूत्रैर्जन्यमानेन कथमपि भावविद्धिः सद्भिः स्वयं पूर्वापर-शास्त्रार्थं पर्यालोचनेन प्रवचनपदार्थ-विदुषासनेन चाभियोगादिविशेष विशेषेण वा प्रपञ्चेन परिवेद्य (त० सू. ३/४० तमस्य श्लोकवातिके) इति ।”

वस्तुत आन्तरिक्याः सत्ताया ज्ञानेन सह बाह्यसत्ताया ज्ञानमप्यावश्यकं मन्यते । नैतावदेव जैन-परम्परायां सकलमपि सृष्टि विज्ञानं धर्मचर्चारूपेण मान्यं विद्यते यतस्तत् सर्वज्ञस्य जिनेश्वरस्य तपः साधनया प्ररूपितं वर्तते । अथच मोक्षस्य प्रमुखसाधनत्वेन निरूपितस्य ध्यानस्य चतुर्षु भेदेषु ‘धर्मध्यानाभिधे’ भेदे लोकस्य स्वभावाकारयोस्तथा तस्मिन्स्थितानां विविधद्वीपानां क्षेत्राणां समुद्राणां स्वरूपचिन्तने मनोयोगः संस्थान-विचयाख्यं धर्मध्यानं भवति । तत्रादि हैमयोगशास्त्रानुसारं (७/१०-१२) पिण्डस्थे धर्मध्याने याः पार्थिव्याद्या धारणा भवन्ति तासु पार्थिव्यां धारणायां जम्बूद्वीपस्य चिन्तनं प्रशस्तं मन्यते । अत एवाचाराङ्गसूत्रे—

“विदित्ता लोगं वंता लोगसण्णं से मइमं परक्कमेज्जासि ।” इति कथयित्वा—लोकत्रिषयक ज्ञानानन्तरमेव विषयासक्तेस्त्यामे परा क्रमकरणं निर्दिष्टमस्ति । किञ्च चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिप्रभृति ग्रन्थानामध्येतारः श्रोतारश्चापि मोक्षगामिनो भवन्तीत्यपि मनीषिभिराचार्यैः प्रतिपादितम् ।

जैनविज्ञानविदामाचार्याणां सिद्धान्ताः सनातनसत्यतां प्राप्ताः सम्पूर्णाश्च सन्ति । तीर्थङ्करपर-मात्मभिस्ते केवलज्ञानात् प्रत्यक्षीकृता आसन्नतस्तेषां प्रयोगशालासु परीक्षणं नावश्यकमस्ति । ते तु सर्वकाल सिद्धा एव विद्यन्ते । यथा भूगोलशास्त्रं तैरुद्घाटितं तथैव खगोलशास्त्रमपि तैः समुद्घाटितं वर्तते । भारतीय खगोलशास्त्रेषु निर्दिष्टा नक्षत्र-ग्रह-तारादयः पदार्था अपि तावतैव सूक्ष्मेण विधिना गति-स्थिति-प्रकृति-दूरत्व-व्यास-स्थूल-सूक्ष्माद्याकार-प्रकारैश्चिरं परिचायिता अवलोक्यन्ते । अधुनातना यावद्भिन्नरूपकरणैर्य-त्किञ्चिदपि विज्ञातवन्तस्तस्तसु पर्याप्तमधिकं तैः स्पष्टीकृतमभूत् । अत एवेदं निगदितुं वयं शक्नुमो यद् यत्र यत्र विषये वस्तुनि वा साम्प्रतिका वैज्ञानिका वैषम्यं दर्शयन्ति तस्मिन् वास्तविकं वैषम्यं न विद्यते परमेतेषां तावत्या व्यापकदृष्टेरभावोऽपूर्णताकदाग्रह-रूढग्रन्थिबन्धनादीन्वेव तारतम्येन तत्र परिस्फुर-न्तीति ।

वस्तुतो जैनदर्शने तर्कपूर्णसङ्ख्यावद्ध-परिज्ञान-परम्परा तथा सत्यज्ञान-भावना सत्यज्ञानमनु-सरन्त्यौ लक्ष्येते । जैना आचार्याः शून्यस्यानन्तस्य च गणितेन सह तत्त्वज्ञानं सयोज्य शास्त्रीयतां प्रत्याग्रहं प्राचीकटम् । इति ॥

#### साम्प्रतिक-भूगोल-विज्ञाने विप्रतिपत्तयः

आधुनिका विज्ञानविदो यथाऽस्माकं शास्त्रीयं विज्ञानं पूर्णतयाऽनवगत्य तस्मिन् दोषानुद्भाव-यन्ति तथैव वयमपि यदि तेषां वैज्ञानिकं तथ्यमपरिशील्य किमपि कथयामस्तदा तु तत् कैवलं ‘विरोधाय विरोध’ इत्येव साधितं स्याद् अथवा शास्त्राणि प्रति श्रद्धावद्धया धिया तदीयानि सत्यान्यनङ्गीकुर्मस्तदापि तत्रैकान्तिको विरोधः प्रतीयेत । परं यदा वयं तेषां वैज्ञानिकान् सिद्धान्तान् परिशील्य किमपि कथयामस्तेषां नाम्ना स्वीयान् वादान् प्रस्थापयितुं वाञ्छतां विचारान् विरुण्धमस्तदा स विरोधस्तेषां पुनर्विचाराय पुनः परीक्षणायात्मनिरीक्षणाय सम्पूर्ण-सत्यज्ञानाभावोत्थ भावनानां परिष्करणाय भवतीति तत्र न कोऽपि विरोधः प्रत्युत मीमांसा-प्रक्रियैव जागतीति विज्ञेयम् ।

इत्थम्भूतायां मीमांसा-प्रक्रियायां भूगोल-विज्ञानाधारेणैताः विप्रतिपत्तयः पुरस्तादागच्छन्ति ।

१५२ | चतुर्थे खण्डे : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



पृथिव्या आकृति विषये

पृथिव्या आकार-विषये कथयन्ति यत्, "पृथिवी गोलाकारा वर्तते" तदिदं प्रयोग-परीक्षण-सिद्धं तत्त्वमिति । किन्तु वस्तुत इदं नास्ति सत्यम् । यतो हि यैः प्रमाणैर्विज्ञानवादिन इदं साधयन्ति तेष्वेवानेका विप्रतिपत्तय उपस्थिताः सन्ति ! यथा—

१. जलपोत-प्रमाण-साधनायाम्

यदा दूरादागच्छन्त जलपोतं केवलाभ्यां नेत्राभ्यां पश्यामस्तदा तस्योपरितनो भाग एव दृग्गथा-तिथिर्भवति, यदा च स निकटमायाति तदैव पूर्णो दृष्टिगोचरे भवति तत्र कारणं पृथिव्या गोल आकार एवेति । किन्तिवदं कथनं तदाऽस्त्यं सिद्ध्यति यदा दूरवीक्षणयन्त्राधारेण स ईक्ष्यते । तदा तु तस्य पूर्णोऽप्या-कारः परिलक्ष्यत एव ।

२. दीपस्तम्भ-प्रमाण-विधाने

अमरीकास्थस्य 'हेटेरास' संस्थानस्य दीपस्तम्भे २० विंशति कोशदूरस्थोऽस्ति । यथा जलपोतस्य दूरवर्तिन्युपरिभागदर्शने विज्ञानविदनुमतोभुवो वृत्ताकारस्तैर्व्यवधानत्वेन स्वीक्रियते तथा सति स दीपस्तम्भे-ऽतिदूरस्थोऽपि कस्मात् स्पष्टः परिलक्ष्यते ? वैज्ञानिकानां मान्यतानुसारं २० कोश-प्रमाणान्तरे पृथिव्या वक्रता ६०० फुट मित्ता भवति दीपस्तम्भश्च ३०० फुट मित उच्चैर्वर्तते तथापि स सम्पूर्णः परिदृश्यतेऽतो नास्ति गोलाकारता भूमेरिति ।

३. वंशत्रय-स्थापना-प्रमाण-परीक्षायाम्

यदा समुद्रस्य तले त्रयो वंशा एकैकमीलमितेनान्तरेण स्थाप्यन्ते तदा मध्यो वंश उच्चस्तथा-ऽऽद्यान्त्यौ निम्नौ दृश्यन्ते । अतः पृथ्वी वृत्ताकारं विभतीति तेषां मान्यता । किन्तु प्रयोगोऽयं कल्पना घटित एव । न केनापि तथा परीक्षितं न च तथा करणं सम्भवमपि ।

४. क्षितिजस्य गोलाकारता-साधिकायाम्

पृथिवीं गोलाकारां मन्यमाना भूमेः समतले विशाले भागे स्थितवतो दर्शने भुवो गगनस्य संयोजन-मिव प्रतीयते ततः पृथिवी गोलाकाराऽस्तीति साधयन्ति, किन्तु तत्र तथा । तत्र तु दृष्टिभ्रम एष कारणम् । चक्षुषोर्विशिष्ट रचनया तथा प्रतीयते । अस्माकं नेत्रे प्रत्येकं वस्तुना सह ४५% अक्षांशात्मकं कोणं विदधतः । परितस्तथा कोणविधानाद् गोलाकारो दृश्यत इति ।

५. भुवः परिक्रमणे मूलस्थानागमन-प्रतिष्ठापने

अद्यमेकस्तर्क उपस्थाप्यते गोलाकारत्व-प्रमाणाय वैज्ञानिकैर्यन् पृथिव्या एकस्माद् भागाद् यात्रायां प्रचलितो यात्री परिक्रम्य पुनः स्वकीये मूलस्थान आयाति तस्य कारणं गोलाकारतैव । परमिदं कथनं नास्ति प्रमाणसिद्धम् । यतो यात्रिणो दिक्सूचन प्राप्त्यै ध्रुवयन्त्रं सूर्यं तारा वा प्रमाणरूपेण मत्वा यात्राः कुर्वन्ति । एतेषामाधारेण बहुधा दिग्भ्रमा अपि भवन्ति । वर्तुलाकारेण विहिता यात्रा अप्यत एव प्रत्यग् यात्रा एव मन्यत्से ।

एतादृशि भूयांसि प्रमाणानि तैरुपस्थापितानि विचारेण परीक्षणेन च मिथ्या सिद्ध्यन्ति किञ्च-प्रतिप्रमाणैरपि वयं गोलाकारत्वविषये निदिष्टानि तेषां प्रमाणानि निरर्थकानि साधयामः । यथा—

१. हिमालयादधो बहन्तीनां नदीनां दक्षिणां दिशि प्रवाहाः । २. सूर्यग्रहणस्य युगपत् समकाल-ममरीकैशियाभूभागयोर्दर्शनम् । ३. स्वेजकुल्याया गोलाकार-मान्यता-विरहितं निर्माणम् । ४. जलस्य सर्वतो दिक्षु समानावस्थितिः । ५. विषुववृत्तरेखाधारेणोत्तरध्रुवोपरि गत्वोत्तरामरीकायां प्रविश्य पुन-

जैन-भू-गोल-विज्ञानम् : स्व० मुनि अभयसागरो गणी । १५३



दक्षिणामरीकातोऽदक्षिणध्रुवस्पर्शपूर्वकं विषुवृत्तरेखायां गमनम् । ६. पूर्व-पश्चिम-भागयोरेव साहसयात्राः ।  
 ७. केप्टन-जे० रासमहोदयस्य यात्रावृत्तम् । ८. दि इण्टरनेशनल सर्वे कम्पनी-प्रतिवेदम् । ९. केप्टिन  
 मीले, प्रभृतीनां यात्रायां ध्रुवतारकदर्शनम् । १०. उत्तरदक्षिणध्रुवक्षेत्रोदिनानां रात्रीणां च साम्याभावः ।  
 ११. धर्म पुरोहित-फादर जोन्सस्य यात्रा चेन्यादीनि वर्णनानि पदे-पदे वर्तमान वैज्ञानिक सम्मतस्य पृथ्व्या  
 गोलकारता-सिद्धान्तस्य तथ्यराहित्य प्रकटने समर्थानि विद्यन्ते ।

### पृथिव्या गतिविषये

साम्प्रतं यन्त्रवादस्य महिम्ना मानवस्य सकलं जीवनमपि यन्त्रवदेव गतिशीलत्वं विशिष्यानुभवति  
 किन्तु सहैव जडत्वेन तथा मण्डलाकारेण भ्रमण-क्रियात्वेन लक्ष्यहीनत्वमपि वर्धत इति नितान्तं चिन्ता-  
 वहम् । विज्ञाननाम्ना विज्ञानवादं प्रचारयन्तः केचन वैज्ञानिक-मान्याः सम्प्रति कल्पनाप्रचुराणि पूर्णतावि-  
 रहितान्यस्थिराणि वैज्ञानिकसत्यानीति ख्यापयन्तश्च रहस्यानीव प्रकाशयन्तेतमाहम् । यथा ते प्रतिपादयन्ति  
 यत् 'पृथ्वी गोलाकारा विद्यते' किञ्च तथाविधं प्रमाणयितुं नानाविधान्यतध्यान्यति तथ्यत्वेन साधयितुं  
 प्रयतन्ते तथैव 'पृथ्वी परिभ्रमति सूर्यश्च स्थितोऽस्ति' सोऽयं वादोऽपि भूयसा घटाटोपेन प्रचारितः  
 प्रसारितश्च प्रतीयते । भारतीयाः शास्त्रकारास्तु तथा न मन्वन्ते तेषां तु निश्चितं मतमस्ति यत् पृथिवी  
 स्थिरा विद्यते सूर्यश्च भ्रमतीति ।

आधुनिका वैज्ञानिकाः पृथिव्या भ्रमणं तिसृभिर्गतिभिर्भवतीति दर्शयितुं—१. पृथिव्याः प्रथमां  
 गतिं घूर्णनस्वीयाक्षोपरितनीं गतिं, २. सूर्यमभितो वर्तिनीं गतिं तथा ३. सूर्येण सहवर्तिनीं गतिं च  
 सूचयन्ति । एतासां गतीनां सम्यक् समन्वयं संसाध्य पृथिवी गतिमती भवतीति तेषां सिद्धान्तः । एतदेव न,  
 अपितु सिद्धान्तस्यास्य पूर्तये—१. दैनिक—२. वार्षिक—३. केन्द्रीय गतीनां व्यवस्था-विधानेन सहैव  
 नानाविधा उच्चावचा निर्धारणा अपि कृताः । सर्वासु गतिष्वपि परस्परं वैमत्यवारणाय गतीनामपि शीघ्रत्वं  
 श्लथत्वं परीतत्वं विपरीतत्वं वा निर्धार्यं स्वेषु साधितम् ।

ततोऽप्यग्रे सूर्यस्य प्रदक्षिणायै पृथिवी तदीयेन गुस्त्वाकर्षणेनाकृष्टा भवतीत्यपि कल्पितम् ।  
 तेनापि यदा स्वेषु-सिद्धान्त साधनायां बाधा उपस्थितास्तदा 'वातावरणमपि पृथिव्या समं भ्रमती' ति  
 युक्तिः प्ररूपिता । एवमेव बह्व्यो युक्तयो निरूपिता अपि तेषां सिद्धान्तेषु यथेष्टं बोधयितुं समर्था नाभूवन् ।  
 हन्त ! 'भक्षितेऽपि लक्षुने न शान्तो व्याधि' रित्याभाणकः सत्यतां प्राप्तः ।

गतीनां प्रतिघण्टात्मकं प्रवर्तनं दीर्घ-सुदीर्घजवेन प्रधावनं तथा सम्पूर्णं ग्रहमण्डलेन सह परि-  
 भ्रमणं च स्वीकुर्वतां साम्प्रतिक-वैज्ञानिकानां स्वीकृतिष्वपि बहुविधानि वैमत्यानि प्रादुर्भवन्ति । यथा हि—  
 (१) पृथिव्यां ७,२०,०००, ६६,००० तथा १,००० मील मितेन वेगेन भ्रमन्त्यां सत्यां भूमिष्ठाः  
 सर्वे पदार्थाः सुव्यवस्थिताः कथमिव स्थातुं सम्भवेयुः ?

(२) पुनरेतावत्या तीव्रगत्या धावमाना पृथिवी, पश्चिमतः पूर्वा दिशं गच्छन्ती यदि भवेत् तदा  
 सदा सर्वदा पृथ्व्यावायोः सम्मुखीनाया दिशो घर्षणं किंयत् प्रभूतमनुभवगम्यं भवितुमर्हति ?

(३) किञ्चेतावता तीव्रेण वेगेन पृथ्वी भ्रमन्ती स्यात् तदा गगनमुड्डिनः पक्षी पुनः स्वं नीडं  
 कथं प्राप्तुं शक्नुयात् ?

(४) तथा च भूतलं स्थितो मृगयाकरो जनः स्वं लक्ष्यं साधयितुं कथं प्रभवेन्नम ?

(५) वातावरणं दृष्ट्याऽपि जगति किमपि वाहनं शकटं मरुच्चरं वायुयानं वा स्वेन साकं  
 वातावरणमप्यादाय धावमानं भवेत्तदिदं कथं सम्भवेत् ?

१५४ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



(६) नोबल पुरस्कार विजेतुः प्रख्यातस्य सर चन्द्रशेखर वेङ्कटरमण महाभागस्य प्रशोधन-परिणत्यनुसारं “पृथिव्या साकं वातावरणं न भ्रमती” त्यनेन स्पष्टं भवति यत् ‘पृथ्व्या गतिस्तथा वाता-वरणस्य गतिश्च भिन्न-भिन्ने स्त’ इति ।

(७) यदि वा पृथ्वीयं गतिशीला भवेत्तर्हि वायुयानमध्युष्य निराधारे गगने स्थिरीभूय पृथ्व्या गोलो भ्रमेच्छेत्तदा यथेष्टं स्थलेऽवतरणं कथं सफलं भवेत् ? तदा वायुयानस्य गतिशीलकरणावश्यकताऽपि निरर्थिकैव भवति ?

(८) अथ चेयं पृथ्वी सूर्यस्य गुह्यकार्षणेन बद्धाऽऽस्ते । सूर्यश्च सौरिग्रहं प्रति गुह्यकार्षणेनाकृष्टो भवति ततश्च स समस्तं ग्रहमण्डलमादाय प्रधावन्नास्ते । एवं सति पृथिवीयं दिसम्बरमास्ततो जूनपर्यन्तं तु सूर्येण समाकृष्यमाणा सूर्यस्य समीपमभितः शक्नुयान्नाम, परं दिसम्बर पर्यन्तं भूमिस्तु पूर्वतः पश्चिमां दिशं यायात् तथा सूर्यः २० कोटिवर्षेषु चक्रमेकं पूर्णं कुर्वाणो १० कोटिवर्षेष्योऽनन्तरं पूर्वतः पश्चिमो दिशं गच्छेत् तदा जूनतो दिसम्बरं यावत् पूर्वतः पश्चिमां ६६००० मीलमितेन गतिवेगेन यान्तीं पृथिवीं सूर्यः स्वगुह्यत्वा कर्षणेन स्वेन सार्धं (अर्थात् १० कोटि वर्षाणि यावत् पश्चिमातः पूर्वां दिशं गच्छत्) ७२०,००० मीलप्रमाणया तीव्रगत्याऽऽकर्षेत् । इत्थमाकर्षण—विकर्षणयोर्वराक्या भूमेर्गतिरेव कथं भवेत् ? इत्यमेतत् सर्वं भूयसा गाम्भीर्येण, विचारणीयतामर्हति ।

### विसंवादानां बाहुल्यम्

वैज्ञानिकस्य जगतः समक्षमीदृशा बहवो विसंवादा अस्माभिरुपस्थापिताः सन्ति, परं कोऽपि नोत्तरयति केवलमात्मनो दृढमूलात् विचारान् यथाकथञ्चित् प्रचारयति । सन्ति वैज्ञानिकानां सविधे सुबहूनि साधनानि । सर्वकारस्यापि तत्रैवाभिनवेशः । कलेः प्रभावातिशयेन भ्रान्तमस्तिष्का आर्या अपि शास्त्राणि प्रति श्लथ विचाराः सन्ति । आर्यशास्त्राणां वास्तविकं तत्त्वं ज्ञातुं विरला एव प्रवर्तन्ते किञ्च नानाविधानामसुविधानां प्राबल्येन पराभूता इव मारं मारं स्वधर्म-स्वसंस्कृति-स्वशास्त्र-स्वाचार-विमुखाः क्रियन्त इति किन्न चिन्ताया विषयः ।

पृथ्वी स्थिरा विद्यते न च तस्या आकारो गोलो वृत्त रूपो वा । न च सूर्यस्य स्थिरत्यम् । ध्रुव प्रदेशे मास षट्कस्याहोरात्रे कथम् ? आस्ट्रेलिया-भारतयोर्मध्ये ऋतुभेदस्ये किं कारणम् ? चन्द्रस्थास्ति स्वकीयः प्रकाशः, समुद्रे वेलाश्चन्द्रमस आकर्षणाज्ञोद् भवन्ति । गुह्यत्वाकर्षणस्य किं रहस्यम् ? साम्प्रतिकं विश्वं कीदृक्, सापेक्षवादस्य कीदृश उपयोगः ? ध्रुवतारादीनां कुत्र कीदृश्यः स्थितयः ? विज्ञानवादानाम्नाऽऽरोपितानां सिद्धान्तानां कुत्र कथं नैर्बल्यम् ? एपोलोनयानस्य चान्द्री यात्रा किं वास्तविकी ? विज्ञानवादिनां परस्परं कुत्र कथं विवादाः ? इत्येतत् सर्वं स्पष्टतया निदर्शयितुमस्माभिर्नैकशो ग्रन्थाः प्रकाशिताः । पालीताणा नगर्यां शास्त्रीय प्रमाणानुसारं महता व्ययेन ‘जम्बूद्वीप’ स्य प्रवरं स्थापत्यमपि निर्मापितम् । त्रैमासिक रूपेण ‘जम्बूद्वीप’ नामकं पत्रमप्यस्माभिः प्रकाश्यते । अतो जिज्ञासवो नितान्तमामन्त्र्यन्ते लाभ-प्राप्तये सत्यपरिज्ञानाय च ।

शास्त्राणि नैव वितथानि भवन्ति लोके, दासो मतेः परजनस्य तथात्वमेति ।

विज्ञानमुन्नततरं जिनभाषितं तत्, विज्ञाः समीक्ष्य सुहृदं परिशीलयन्तु ॥ १ ॥

तीर्थं शत्रुञ्जयाख्ये महति गुणमये पालिताणाख्यपुर्यां,

जम्बूद्वीपं प्रमाणैर्विरचितमुचितं वीक्ष्य सत्यं विविच्य ।

याथातथ्यं निरूप्यं, नहि-नहि वितथे भ्रान्तमार्गे पतित्वा,

स्वीयं सत्यं सुव्रतं प्रथितमतिशुभं त्याज्यमित्यस्ति वेद्यम् ॥ २ ॥



जैन-भू-गोल-विज्ञानम् : स्व० मुनि अभयसागरो गणी । १५५





## धर्म और विज्ञान

साध्वी मंजूषी

धर्म और विज्ञान शब्द सामने आते ही अनेकों प्रश्न उभरते चले जा रहे हैं। धर्म क्या है ? विज्ञान क्या है ? धर्म और विज्ञान परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ? दोनों में से प्राचीन कौन और अर्वाचीन कौन ? संसार को इनमें से किसकी देन अधिक है ? इत्यादि।

**धर्म क्या है ?**

‘धर्म’ यह बड़ा विचित्र और बड़ा पुराना शब्द हो गया है। इसीलिए इसको लाखों-करोड़ों व्याख्याएँ हो चुकी हैं। विज्ञान के युग में जीने वाले लोग धर्म को कुछ पुराने खयालात के लोगों का दकियानूसीपन समझते हैं और धार्मिक व्यक्ति को १६वीं सदी में जीने वाला मानते हैं।

पर किसी के कुछ भी मानने से दुनिया की वास्तविकता तो बदल जाने वाली नहीं है। रंगीन चश्मा (Goggle) लगा लेने से सूर्य की किरणें बदल नहीं जातीं, हमारी अपनी दृष्टि ही बदलती है।

तो क्या हमारा मान्य धर्म और वास्तविक धर्म अलग अलग हैं ? रंगीन नजरिया हटाएँगे, तो मालूम होगा कि ‘धर्म वस्तु का स्वभाव है’<sup>1</sup>। आत्मा भी एक वस्तु है, इसका स्वभाव है—ज्ञान और दर्शन (जानना और देखना), जगत के रंगमंच पर ज्ञाता-द्रष्टा बनकर (समभावी बनकर) रहना। और हमने कुछ तथाकथित धार्मिकों के बाह्य क्रियाकाण्डों को धर्म मानकर वास्तविक धर्म की खिल्ली उड़ाई है। यह भी सच है कि जब-जब सम्प्रदाय ने धर्म का मुखौटा पहना है, तब-तब हिन्दू-मुसलमान, शिया-सुन्नी, शैव-वैष्णव, जैन-बौद्ध, रोमन कैथोलिक-प्रोटेस्टेन्ट, आदि धार्मिकों ने परस्पर खून की नदियाँ बहाई हैं और धर्म का नाम बदनाम हो गया है।

‘वद अच्छा बदनाम बुरा।’

लेकिन जब हम यह कहते हैं कि पशुओं से अधिक चीज जो मनुष्य के पास है, वह है ‘धर्म’, तब हम व्यापक, सार्वभौम, विश्वजनीन धर्म की ही बात करते हैं।<sup>2</sup>

1. ‘वस्तु महावो धर्मो । .....तमयसार ।

2. आहार-निद्रा-भय-भेषुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामाधिको विशेषो, धर्मेणहीना पशुभिः समाना ॥

१५६ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



किसी भी वस्तु के स्वभाव की पहचान उसके वाह्य लक्षणों से होती है। धर्म के भी विभिन्न लक्षण विभिन्न महापुरुषों ने बताए हैं। जैन दर्शन में वह क्षमा, मार्दव, आर्जव (सरलता), सत्य, संयम, तप, त्याग, निर्लोभता, लघुता और ब्रह्मचर्य—इन दशलक्षणरूप है।<sup>1</sup> तो मनुस्मृति में धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—इन दशलक्षणरूप है।<sup>2</sup> श्रीमद्भागवत में धर्म के ३० लक्षण गिनाये गये हैं, जो उक्त दश लक्षणों का ही विस्तार माने जा सकते हैं।<sup>3</sup>

संख्या कुछ भी हो, आशय यह है कि धर्म सम्मान्य सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक जीवन जीने की एक पद्धति है, कला है, उच्चतम नियमों की पारिभाषिक संज्ञा है।

### विज्ञान

विशिष्ट ज्ञान विज्ञानम्—विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। धर्मशास्त्रों में भी ज्ञान से अगली श्रेणी 'विज्ञान' की मानी गयी है।<sup>4</sup> लेकिन भाषा विज्ञान की दृष्टि से देखा जाए, तो 'विज्ञान' के इस अर्थ में परिवर्तन आ गया है। धर्मशास्त्र-मान्य विज्ञान आत्मा को आत्मा के द्वारा होनेवाला विशेषज्ञान है। जबकि आधुनिक विज्ञान (Science) प्रयोगशाला में विभिन्न परीक्षणों से प्राप्त निर्णयात्मक ज्ञान है। कर्ता यहाँ भी आत्मा ही है, कारण में अन्तर है। विज्ञान के ये निर्णय बदलते भी रहते हैं, जबकि आत्मा की प्रयोगशाला में महावीर द्वारा प्राप्त निर्णय २५०० सालों से विज्ञान के लिए चुनौती बने हुए हैं। साथ ही विज्ञान के प्रकाश में वे सिद्धान्त शुद्ध स्वर्ण के समान और अधिक चमक भी उठे हैं।

उदाहरण के लिए पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति (पाँच स्थावर) की सजीवता कुछ समय पूर्व तक महावीर की एक मनगढ़न्त कल्पना मानी जाती थी, लेकिन आज विज्ञान ने इसे सत्य सिद्ध कर दिया है। श्री एच. टी. ब्रसॅटापेन, सुगाते, बेलमेन आदि वैज्ञानिकों के अनुसार बालक की वृद्धि के समान पर्वत भी धीरे-धीरे बढ़ते हैं<sup>5</sup> और एक दिन ऐसा भी आता है कि क्रमशः वृद्धावस्था प्राप्त ये पर्वत धराशायी हो जाते हैं, जमीन में धंस जाते हैं। अग्नि भी मनुष्य की भाँति ओक्सीजन (Oxygen) पर जिन्दा रहती है। पानी और वायु के विविध प्रकार के रूप, रंग, स्पर्श, आवाज और तापमान आदि से सिद्ध है कि ये भी सजीव हैं। भोजन, पानी, श्वास-प्रश्वास, लाज, संकोच, हर्ष, क्रोध, वृणा, प्रेम, आलिंगन, परिग्रहवृत्ति, सामिष-भोजन, निरामिष-भोजन, सोना, जागना आदि क्रियाओं से वनस्पति की सजीवता तो बहुत अच्छी तरह से सिद्ध हो चुकी है। सूडान और वेस्टइंडीज में एक ऐसा वृक्ष मिला है, जिसमें से दिन में विविध प्रकार की राग-रागिनियाँ निकलती हैं और रात में ऐसा रोना-धोना प्रारंभ होता है मानो परिवार के सब सदस्य किसी की मृत्यु पर बैठे रो रहे हों।<sup>6</sup> हवा में भी ऐसी शुभाशुभ आवाजें प्रायः सभी ने सुनी होंगी। इसका अनुभव मैंने भी प्राप्त किया है। अतः सिद्ध है कि पाँचों स्थावर सजीव हैं।

दूसरा उदाहरण—पहले विज्ञान आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं करता था, जब

1. सप्तवायांग, 10

2. मनुस्मृति, 6/92

3. श्रीमद्भागवत, 7/11/8-12

4. सवर्ण पाण्डेय विष्णुपाण्डेय, पञ्चवखाण्डेय संज्ञा—स्थानांग, 10

5. मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, अ० 2, पृ० 331.

6. वही, पृ० 331



आत्मा ही मान्य नहीं, तो पुनर्जन्म और परलोक को मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, अतः नैतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवनमूल्य भी थोड़े प्रतीत होते हैं। विज्ञान की इस अनास्था से 'ऋण करो और धी पीओ' की प्रवृत्ति बढ़ी। अन्याय, अत्याचार और परराष्ट्र-दमन की नीतियों का बोलवाला हुआ। हिंसा का ताण्डव मचाने वाले विश्व संहारक शस्त्रास्त्रों की दौड़ में सब राष्ट्र 'अहम्अहमिकया' से आगे बढ़ने लगे।

यह जीवन का शाश्वत नियम है कि जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है, तब तक वह मारने वालों को भी नहीं मारता, अपितु ईसा, मंसूर, सुकरात, महावीर आदि की भाँति क्षमा कर देता है। परन्तु, जब उसके मन में से धर्म निकल जाता है तो औरों की कौन कहे, पिता पुत्र को और पुत्र पिता को मार डालता है। अतः यह निश्चित है कि जगत् की रक्षा का कारण धर्म ही है, विज्ञान नहीं।

तीसरा उदाहरण—भगवती सूत्रादि में लेश्याओं के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की शुभाशुभता, लेश्याओं की विद्युतीय शक्ति की कार्यक्षमता का जितना सूक्ष्म एवं विशद वर्णन मिलता है, उतनी गहराई तक विज्ञान अभी तक नहीं पहुँच पाया है, तथापि लेश्याओं के फोटो लेने में वह काफी अंशों तक सफल हो गया है।<sup>1</sup>

इसी प्रकार अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान को वह मस्तिष्क के पिछले हिस्से में स्थित 'पीनियल आर्इ' नाम ग्रंथि का विकास अथवा Sixth Sense का विकास मानने लगा है।

महावीर का 'स्याद्वाद सिद्धान्त' प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन का 'सापेक्षवाद' (Theory of Relativity) बन गया है।

ये हमने दार्शनिक जगत् के उदाहरण देखे। आचारपक्ष के उदाहरण देखें तो वहाँ भी यही प्रतीत होगा कि महावीर के धर्म के नाम पर नंगे पाँव पैदल चलना, रात्रि-भोजन का त्याग करना, बिना छाना पानी काम में नहीं लेना, मुँह ढककर बोलना आदि जो अनेक छोटे-छोटे नियम हैं, उनकी धार्मिक ढकोसला कहकर या 'श्रे वैज्ञानिक युग से पहले की बातें हैं; आज के वैज्ञानिक युग में ये फिट नहीं बैठती' इत्यादि कहकर मखौल उड़ाई जाती थी। आज ये ही बातें विज्ञान ने स्वीकार कर ली हैं। आक्युप्रेसर पद्धति से पाँवों को दबाने का वर्तमान विज्ञान ही महावीर का नंगे पाँव पैदल चलने का विज्ञान है। इसी प्रकार अन्य बातें भी स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर मानी जाने लगी हैं।

इसीप्रकार यह भी हर्ष का विषय है कि आज वैज्ञानिक आत्मा और पुनर्जन्म, लोक और परलोक को मानने लगे हैं।<sup>2</sup> यह विश्वास करने लगे हैं कि आध्यात्मिक जगत् भौतिक जगत् की अपेक्षा अधिक महान् और सशक्त है।<sup>3</sup> सर ए. एस. एडिन्टन मानते हैं कि चेतना ही प्रमुख आधारभूत वस्तु है। पुराना नास्तिकवाद अब पूरी तरह मिट चुका है और धर्म, चेतना तथा मस्तिष्क के क्षेत्र का विषय बन गया है। इस नई धार्मिक आस्था का दृटना संभव नहीं है।<sup>4</sup>

1. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० 336

2. वही, पृष्ठ 337-338

3. इस विषय के विशेष जिज्ञासु देखें—'विज्ञान अने धर्म'—मुनि श्री चन्द्रशेखरविजय जी।

4. सर ओलिवर लॉज—मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, अ० 2, पृ० 331 पर उद्धृत।

5. साइंस एण्ड रिलिजियन—मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, अ० 2, पृ० 331 पर उद्धृत।



दूसरे उदाहरण के रूप में अजीव को लीजिए। महावीर ने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गल—ये पाँच भेद अजीव के माने हैं। अब विज्ञान इन्हें ईथर (Ether), गुरुत्वाकर्षण (gravitation), स्पेस (space), Time और Matter के नाम से पहचानने लगा है।

साथ ही यह भी सिद्ध हो गया है कि ये सभी द्रव्य न तो एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं और न ही एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं।<sup>2</sup> इससे जैन दर्शन के इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि सभी द्रव्य स्वतंत्र परिणमन करते हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है।

यह केवल 'महावीर'—'जैनधर्म से संबंधित महावीर' की चर्चा हुई।

अन्य धर्मों के विषय में भी हम चिन्तन करें तो पायेंगे कि उनमें भी वैज्ञानिक चिन्तन-बिन्दु भरे पड़े हैं। आज से ४० वर्ष पूर्व ढाका विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में डॉ० भटनागर ने कहा था कि 'जर्मनी को अगर वेद न मिले होते तो वे लोग विज्ञान के क्षेत्र में नेता बन सके होते।'

भौतिक-विज्ञान यह मान्य कर चुका है कि 'ऋग्वेद में इन्द्र की प्रार्थनाओं में विद्युत्शास्त्र (Electric Science) है। वरुण की प्रार्थनाओं में जल विज्ञान है। पवमान की प्रार्थनाओं में सब gases का विज्ञान है। भूपन् (सूर्य) की प्रार्थनाओं में अणु-विज्ञान है और अग्नि की प्रार्थनाओं से समग्र ऊर्जा-विज्ञान है।'

मैंने कहीं पढ़ा है कि पाणिनि-व्याकरण के आधार पर वैज्ञानिकों ने वायुयान-विज्ञान का विकास किया है।

नैयायिकों-वैशेषिकों और सांख्यों की सृष्टि-विकास सम्बन्धी मान्यताएँ भी विज्ञान के विकास में उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

यह एक धार्मिक व्यक्ति की वैज्ञानिकता ही है कि वह ग्राम और नगर के सभी प्रकार के प्रदूषणों से दूर एकान्त जंगल की गिरि-कंदरा में निवास करना चाहता है। इसके विपरीत, विज्ञान के कारण प्रदूषण बढ़ता ही जा रहा है।

उदाहरणों का उक्त लेखा-जोखा यद्यपि इस लघुकाय निबन्ध में कुछ विस्तृत प्रतीत होता है, तथापि विषय के स्पष्टीकरण में अतीव आवश्यक है। उक्त उदाहरणों से निर्णीत हो जाता है कि 'विज्ञान' आत्मा को आत्मा द्वारा भी हो सकता है, और बाह्य परीक्षणों द्वारा भी। लेकिन धर्म आत्मा की ही वस्तु है, प्रयोगशाला की नहीं, प्रयोगशाला-जन्य विज्ञान की भी नहीं।

### धर्म और विज्ञान

यह तुलना आत्मधर्म और प्रयोगशाला-जन्य विज्ञान की है। यह विज्ञान हमें भौतिक उत्कर्ष की ओर ले जाने में सहायक है, इन्द्रियों और मन की विषय-सन्तुष्टि/सम्पुष्टि में मददगार है, आराम-परस्त जिन्दगी (Luxurious life) इसी के कारण मनुष्य जी पाता है तथा सुख और सुविधाओं का अंबार

1. मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, अ० 2, पृ० 332



लगा पाता है। यह विज्ञान व्यक्ति को वासनाओं के, आशा-तृष्णा के गर्त में गिराता है, तो समष्टि को तृतीय महायुद्ध के कगार पर ले जाकर खड़ा भी कर देता है।

किसी ऋषि ने कभी कहा था—

अधर्मैधते लोकस्ततो भद्राणि पश्यति ।

ततः सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥

अर्थात् अधर्म की सहायता से मनुष्य ऐश्वर्य-लाभ करता है, अपने मनोरथ सिद्ध करता है, अपने शत्रुओं को जीतता है परन्तु अन्त में समूल ही नष्ट हो जाता है।

आज यदि हम इस श्लोक में 'अधर्म' के स्थान पर 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग कर दें, तो श्लोक बनेगा—

विज्ञाने नैधते लोकस्ततो भद्राणि पश्यति ।

ततः सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥

तात्पर्य स्पष्ट है कि विज्ञान के द्वारा मनुष्य भौतिक-सामग्री और तज्जन्य-सुख प्राप्त कर सकता है, शत्रु पर विजय भी प्राप्त कर सकता है, लेकिन अन्तिम हृथ्र के लिए भी आज उसे तैयार रहना है। यह अन्तिम हृथ्र मनुष्य जाति का समूल सर्वनाश—आज सर्वविदित सुपरिचित तथ्य है।

अस्तु, विज्ञान सिर्फ एक उपलब्धि है। इस उपलब्धि (योग) का क्षेम, इस उपलब्धि का संविभाग और इस उपलब्धि में मन को संतुलित करने की कला तो 'धर्म' ही सिखाता है। विज्ञान के कारण बढ़े हुए वैर-विरोध धर्म से ही समाप्त हो सकते हैं।<sup>1</sup>

सम्प्रदायों के दीवट (दीपाधार) चाहे कितने भी हों, लेकिन धर्म की ज्योति एकसी होती है, वह शाश्वत तत्त्व है। वैज्ञानिक युग में बल्ब के रंग अलग-अलग होने से ज्योति के रंग भी तदनुसार परिवर्तित प्रतीत होते हैं। यही सम्प्रदायों के जन्म का इतिहास है। और यह विविधता ज्योति की अपूर्णता या विविधता नहीं कहला सकती।

लेकिन वैज्ञानिक जगत में दृष्टिक्षेप करने पर प्रतीत होता है कि विज्ञान तो सदा-सर्वदा के लिए अपूर्ण था, है और रहेगा। इसी कारण, गैलीलियो ने कहा कि पृथ्वी घूमती है तो आइन्स्टीन ने कहा कि पृथ्वी स्थिर है। इस तरह एक दूसरे के निर्णयों को काटते रहने के कारण वहां भी सम्प्रदायों का जन्म होता है। क्योंकि विज्ञान अपूर्ण है, अतः यह भेद-रेखा कभी मिटने वाली नहीं है। विज्ञान-ज्योति कभी पूर्ण होने वाली नहीं है।

इसलिए विज्ञान यदि धर्म-ज्योति के प्रकाश में चले, तो विश्व के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है।

निष्कर्ष

ये कुछ भेद होने पर भी हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान से प्राप्त लाभ देश-काल-जाति-देश-भाषा-आचार आदि की सीमाओं से परे हैं, इसी प्रकार धर्म से प्राप्त लाभ भी इन सब सीमाओं से परे हैं—इस दृष्टि से दोनों ही समष्टि-परिव्याप्त हैं। यदि एक-दूसरे में भी परिव्याप्त हो जाएँ, तो दोनों की सहायता से धरती पर ही स्वर्ग उतर आए। जीव की जिजीविषा को सुख-पूर्वक विकास का अवसर मिले। यही तो धर्म का आध्यात्मिक उत्कर्ष है और विज्ञान का भौतिक उत्कर्ष। सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक उत्कर्ष पूर्ण मानव के निर्माण में योग देता है। □

1. नहि वेरेन वेरानि, सम्मति न कदाचन । अबेरेन च सम्मति, एस धम्मो सनत्तनो ॥

—धम्मपद

१६० | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



## आर्ष ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि

और

उ स का अ र्थ अ भि प्रा य

—डा. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

वैदिक, बौद्ध और जैन मान्यताओं पर आधारित संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति का संगठन करती हैं। भारतीय संस्कृति को जानने के लिए इन संस्कृतियों का जानना परम आवश्यक है। इन संस्कृतियों को जानने के लिए मुख्यतया दो स्रोत प्रचलित हैं<sup>1</sup>—

(अ) व्यावहारिक पक्ष

(ब) सिद्धान्त पक्ष

काल और क्षेत्र के अनुसार व्यावहारिक पक्ष में प्रचुर परिवर्तन होते रहे किन्तु वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दावलि में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका। इस प्रकार के साहित्य को समझने-समझाने के लिए उसमें व्यवहृत शब्दावलि को बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। जैन संस्कृति से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ वैदिक और बौद्ध संस्कृतियों की अपेक्षा भिन्न हैं। शब्द का सम्यक् विश्लेषण कर हमें उसमें व्याप्त अर्थात्मा को भली-भाँति जानना और पहचानना चाहिए। ऐसी जानकारी प्राप्त करने के लिए शब्द-साधक को किसी भी पूर्व आग्रह का प्रश्रय नहीं लेना होगा। वह तटस्थभाव से तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक शब्दावलि को जानने का प्रयास करता है।<sup>2</sup>

महात्मा भर्तृहरि का कथन है कि यथा—

सा सर्वं विद्या शिल्पानां कलानां चोपबन्धिनी ।

तद् शब्दाभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ।

अर्थात् समस्त विद्या, शिल्प और कला शब्द की शक्ति से सम्बद्ध है। शब्द शक्ति से पूर्ण या सिद्ध समस्त वस्तुएँ विवेचित और विभक्त की जाती हैं। अभिव्यक्ति एक शक्ति है।<sup>3</sup> अभिव्यक्ति के प्रमुख उपकरणों में भाषा का स्थान महनीय है। अभिव्यक्ति और अर्थ-व्यंजना में शब्द शक्ति की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। शब्द के रूप और अर्थ में काल और क्षेत्र का प्रभाव पड़ा करता है। कालान्तर में उसके स्वरूप और अर्थ में परिवर्तन हुआ करते हैं। परिवर्तन की इस धारा में प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दावलि का अपना अर्थ-अभिप्राय विशेष रूप ग्रहण कर लेता है। शब्द का यही विशेष अभिप्राय अथवा अर्थ वस्तुतः उसका पारिभाषिक अर्थ स्थिर करता है।

आर्ष ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि और उसका अर्थ अभिप्राय : डॉ० आदित्य प्रचण्डिया | १६१



शब्द क्या है ? यह जानना भी आवश्यक है । श्री कालिका प्रसाद शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आकाश में किसी भी प्रकार से उत्पन्न क्षोभ जो वायु तरंग द्वारा कानों तक जाकर सुनाई पड़े अथवा पड़ सके वह शब्द कहलाता है ।<sup>6</sup> शब्द मूलतः एक शक्ति है । वह ब्रह्म है । परमात्मा है । संसार के सभी रसों का परिपाक शब्दों में समाहित है । उसकी महिमा अपार है । शब्द की साधना से सर्वैश्व सध जाता है । साहित्यशास्त्र में शब्द महिमा का अतिशय उल्लेख मिलता है । शब्द मूलतः एक ध्वनि विशेष है । ध्वनि सामान्यतः दो प्रकार की होती है । यथा—

(अ) निरर्थक

(ब) सार्थक

वाद्य यन्त्र (मृदंगादि) से उत्पन्न ध्वनि निरर्थक है और मनुष्य के वाग्यन्त्र से निसृत सार्थक ध्वनि वर्णात्मक ध्वनि कहलाती है । यही वस्तुतः व्याकरण में वह ध्वनि समष्टि है जो एकाकी रूप में अपना अर्थ रखती है । जब शब्द वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होकर विभक्त्यन्त रूप धारण करता है तो वह वस्तुतः पद कहलाता है ।<sup>6</sup> बालक एक शब्द है और जब वह वाक्य के अन्तर्गत 'बालकः पठति' के रूप में प्रयुक्त होता है तो 'बालकः' पद बन जाता है क्योंकि यह प्रथमा विभक्ति का एक वचन है और व्याकरण के अनुसार सुप् विभक्ति प्रत्यय है । 'पठति' दूसरा पद है क्योंकि इसमें तिङ् प्रत्यय है । आचार्य पाणिनि शब्द में विभक्ति के प्रयोग से पद का निर्माण होना मानते हैं ।<sup>7</sup>

भाषाविज्ञान की दृष्टि से शब्द की मान्यता में कालान्तर में परिवर्तन हुआ करता है । शब्द बड़ा स्थूल है और उसमें व्यञ्जित अर्थ उतना ही सूक्ष्म । यद्यपि सूक्ष्म की अभिव्यक्ति स्थूल के माध्यम से सम्भव नहीं होती तथापि जो प्रयत्न हुए हैं उन्हें सादधानीपूर्वक समझने की सर्वथा अपेक्षा रही है । किसी विशिष्ट शास्त्र में जो शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थ की दृष्टि ने उस शब्द को पारिभाषिक शब्द कहते हैं । डॉक्टर रघुवीर के अनुसार जिन शब्दों की सीमा बाँध दी जाती है, वे पारिभाषिक शब्द हो जाते हैं और जिनकी सीमा नहीं बाँधी जाती वे साधारण शब्द होते हैं ।<sup>8</sup> श्री महेन्द्र चतुर्वेदी पारिभाषिक शब्द के दो प्रमुख गुणों का उल्लेख करते हैं ।<sup>9</sup> यथा—

(अ) नियतार्थता

(ब) परस्पर अपवर्जिता

प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का अर्थ नियत निश्चित होता है जिसमें सुनिश्चित अर्थ को ही व्यक्त किया जाता है । सामान्य शब्द का उद्भव जन-साधारण के बीच होता है और वहाँ स्वीकृत होने के बाद वह अपर बौद्धिकता के स्तर तक उठता है परन्तु पारिभाषिक शब्द का जन्म एक सीमित संकुचित बौद्धिक कर्म की सहमति से और उनके बीच होता है ।

भाषा में पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता सतत बढ़ती रहती है । ज्यों-ज्यों ज्ञान-विज्ञान के चरण आगे बढ़ते हैं उनकी उपलब्धियों को मूर्त बोधगम्य रूप देने के लिए पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है । हमारे ज्ञान की वर्द्धमान परिधि में जो भी वस्तु विचार अथवा व्यापार आ जाते हैं उन्हें हम नाम दे देते हैं । यह प्रक्रिया सामान्य शब्दों के जन्म की प्रक्रिया से भिन्न होती है । पारिभाषिक शब्दावलि बौद्धिक तन्त्र की उपज है और जहाँ तक इस तन्त्र की सीमा होती है वहीं तक उसका प्रचार-प्रसार होता है । किसी भी भाषा में समुचित पारिभाषिक शब्दावलि की विद्यमानता उस भाषा-भाषी वर्ग के बौद्धिक उत्कर्ष एवं सम्पन्नता का परिचायक होती है और उसका अभाव बौद्धिक दरिद्रता का । भाषाओं की शब्दावलियों में पारिभाषिक शब्दावलि का महान् स्थान मिस्टर मोरियोपाई के इस कथन

१६२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



से स्पष्ट भाषित हो जाएगा<sup>10</sup>—“यह अनुमान लगाया गया है कि सभी सभ्य भाषाओं की शब्दावलियों में आधे शब्द वैज्ञानिक तथा शिल्प विज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द हैं, जिनमें से बहुत से शब्द पूरी तरह से अन्तर्राष्ट्रीय हैं।”

भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा शिक्षाशास्त्री स्वर्गीय डॉ० शान्ति स्वरूप भटनागर ने लिखा था<sup>11</sup>—“समस्त भारत के शिक्षाशास्त्री इस बात में सहमत हैं कि देश में आधुनिक विज्ञानों के ज्ञान के प्रचार में सबसे बड़ी बाधा समुचित पारिभाषिक शब्दावलि का अभाव है।” पारिभाषिक शब्दों, अर्द्ध पारिभाषिक शब्दों तथा सामान्य शब्दों का यह महान अभाव न केवल हिन्दी में ही है, वरन् भारत की सभी आधुनिक भाषाओं में है।<sup>12</sup>

कभी-कभी एक ही पारिभाषिक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न विषयों या विज्ञानों में भी अलग-अलग हो जाता है। उदाहरण के बतौर, संस्कृत शब्द ‘आगम’ का साधारण अर्थ ‘आना’ होता है। पर निरुक्त में इसका अर्थ ‘किसी शब्द में किसी वर्ण का आना तथा प्रत्यय’ होता है। धर्मशास्त्र में आगम का अर्थ ‘धर्मग्रन्थ और परम्परा से चला आने वाला सिद्धान्त’ होता है। आप्टे के संस्कृत अंग्रेजी कोश में आगम के इन पाँच अर्थों के अतिरिक्त १३ अर्थ और दिये हैं जिनमें चार-पाँच अर्थ पारिभाषिक हैं। इसी प्रकार सन्धि शब्द का साधारण अर्थ मेल है पर संस्कृत व्याकरण और राजनीति में इसके अलग-अलग अर्थ हैं जो मेल-मिलाप से कुछ मिलते हुए भी भिन्न ही हैं। आप्टे ने सन्धि शब्द के भी चौदह अर्थ दिये हैं। संस्कृत ‘लोह’ शब्द का सामान्य अर्थ ‘लोहा’ हम सब जानते हैं पर ‘लोह’ शब्द के अर्थ भी ताँबा, ताँबे का फौलाद, सोना, लाल, लालसा, कोई धातु, रक्त (खून), हथियार और मछली पकड़ने का काँटा भी है। अभी देखते-देखते बौद्ध धर्म का धार्मिक-पारिभाषिक शब्द ‘पंचशील’ राजनैतिक-पारिभाषिक शब्द बन गया और उसका अर्थ सह-अस्तित्व आदि हो गया। इसी प्रकार ‘समय’ शब्द का सामान्य अर्थ काल (Time) का बोधक है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में ‘समय’ के उन्नीस अर्थ उल्लिखित हैं।<sup>13</sup> लेकिन जैन दर्शन में उसका अभिप्राय ‘आत्मा’ से भी है। अतएव ‘समय’ शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। ‘निरोध’ शब्द का जन-सामान्य में अर्थ प्रचलित है—परिवार नियोजन का चर्चित उपकरण। पर जैन दर्शन में इसका अर्थ ज्ञानपूर्वक रोकना है। ‘भव’ का सर्वसामान्य अर्थ है संसार किन्तु जैन दर्शन में ‘भव’ शब्द जन्म से मरण तक की मध्यवर्ती अवधि के लिए प्रयुक्त होता है अतएव जैन दर्शन के उक्त दोनों शब्द भी पारिभाषिक हैं।

इस प्रकार पारिभाषिक अर्थ व्यञ्जना को जाने बिना प्राचीन आर्ष ग्रन्थों का अर्थ समझना प्रायः सम्भव नहीं है। पारिभाषिक शब्दावलि से अपरिचित होने के कारण इन ग्रन्थों में व्यञ्जित अर्थात्मा को समझने-समझाने में बड़ी असावधानी की जा रही है। प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किये बिना कोई अर्थशास्त्री (शब्दार्थशास्त्री—Semasiologist) किसी भी काव्यांश का अर्थ और व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रस्तुत शोध-लेख में आर्ष ग्रन्थों में व्यवहृत कतिपय पारिभाषिक शब्दों का अर्थ अभिप्राय प्रस्तुत करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

**अणुव्रत—**‘अणु’ का अर्थ सूक्ष्म है तथा व्रत का अर्थ धारण करना है। इस प्रकार अणुव्रत शब्द की सन्धि करने पर इस शब्द की निष्पत्ति हुई। अणु नामधारी व्रत अणुव्रत है। निश्चयसम्यक्दर्शन सहित चारित्र्य गुण की आंशिक शुद्धि होने से उत्पन्न आत्मा की शुद्धि विशेष को देशचारित्र्य कहते हैं। श्रावक दशा में पाँच पापों का स्थूलरूप एकदेश त्याग होता है, उसे अणुव्रत कहा जाता है।<sup>14</sup>

आर्ष ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि और उसका अर्थ अभिप्राय : डॉ० आदित्य प्रचंडिया | १६३





अणुव्रत पाँच प्रकार से कहे गए हैं<sup>15</sup>—यथा—

- |                |                 |
|----------------|-----------------|
| (१) अहिंसा,    | (२) सत्य,       |
| (३) अचौर्य,    | (४) ब्रह्मचर्य, |
| (५) अपरिग्रह । |                 |

ये पंचाणुव्रत आचार का मूलाधार हैं । अणुव्रत सम्यक्दर्शन के बिना नहीं होते हैं, ऐसा जैनाचार्यों ने कहा है ।<sup>16</sup> बौद्ध साहित्य में इनका नाम शील है । योगदर्शन में इन्हें यम कहा गया है । अष्टांग योग इन्हीं पर आधारित है ।<sup>17</sup>

अनुयोग—‘अनु’ उपसर्ग को ‘युज्’ धातु से ‘ध्व्’ प्रत्यय करने पर अनुयोग शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ परिच्छेद अथवा प्रकरण है<sup>18</sup> यथा—

अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याये कोऽर्थः । जिनवाणी में वर्णित आगम जिसमें सर्वज्ञ प्रणीत सूक्ष्म दूरवर्ती—भूत व भावी काल के पदार्थों का निश्चयात्मक वर्णन किया गया है, ऐसे आगम के चार भेदों को अनुयोग कहते हैं जिनमें क्रमशः चक्रवर्ती का चरित्र निरूपण, जीव कर्मों, त्रिलोक आदि सप्त तत्त्वों, मुनिधर्म आदि का निरूपण किया गया है ।<sup>19</sup>

बृहद्द्रव्यसंग्रह में अनुयोग चार प्रकार से कहे गये हैं<sup>20</sup>— यथा—

- |                  |                    |
|------------------|--------------------|
| (१) प्रथमानुयोग, | (२) करणानुयोग      |
| (३) चरणानुयोग,   | (४) द्रव्यानुयोग । |

प्रथमानुयोग—इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महान पुरुषों का चरित्र वर्णित है ।

करणानुयोग—यहाँ जीव के गुणस्थान, उसके मार्गणादि रूप, कर्मों तथा त्रिलोकादि का निरूपण हुआ है ।

चरणानुयोग—इसमें मुनिधर्म तथा गृहस्थधर्म का वर्णन हुआ है ।

द्रव्यानुयोग—यहाँ षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, स्व-पर भेदविज्ञानादि का निरूपण हुआ है ।<sup>21</sup>

आरम्भ—आङ् + रम्भ के मेल से ‘आरम्भ’ शब्द निष्पन्न हुआ जिसका अर्थ है चारों ओर से प्राणियों को रंभाने अर्थात् पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति यथा—

आरम्भः प्राणि पीडा हेतुर्व्यापारः ।<sup>22</sup>

‘आरम्भ’ हिंसा के चार भेद—संकल्पी, आरम्भी, उद्यमी तथा विरोधी—में से एक भेदविशेष है । आरम्भी हिंसा किसी भी गृहस्थ के द्वारा किए गए कार्य सम्पादन में जाने-अनजाने रूप से हुआ करती है<sup>23</sup> यथा—

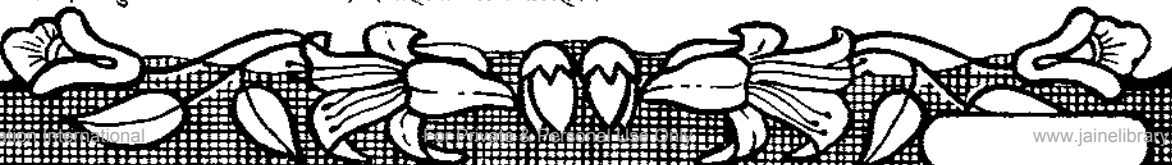
प्राणिप्राण वियोजनं आरम्भोणाम् ।

हिंसनशील अर्थात् हिंसा करना है स्वभाव जिनका वे हिंस्र कहलाते हैं । उनके ही कार्य हिंस्र कहलाते हैं । उनको ही आरम्भ कहते हैं<sup>24</sup>—यथा—

हिंसनशीला, हिंस्राः, तेषां कर्म हिंस्रम्; आरम्भ इत्युच्यते ।

व्रती व्रत-साधना के साधकों को इस प्रकार की हिंसा का भी निषेध होता है ।

१६४ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



**आस्रव**—आङ् + श्रु + अच् प्रत्यय होने पर आश्रव शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है आकर्षण होना ।\* कर्म के उदय में भोगों की जो राग सहित प्रवृत्ति होती है वह नवीन कर्मों को खींचती है अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के आने का द्वार ही आस्रव कहलाता है ।<sup>25</sup> इस प्रकार कर्म के आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणाम का नाम आस्रव है । वस्तु के गुण को तत्त्व कहा गया है । जैन दर्शन में सात तत्त्वों—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, तथा मोक्ष की चर्चा की गई है<sup>26</sup>—यथा—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।

इस प्रकार आस्रव तत्त्व का भेद विशेष है । कार्मण स्कन्ध को आकर्षित करने वाली एक योग नामक शक्ति जीव में होती है जो मन, वच, काय का सहयोग पाकर आत्मा के प्रदेशों में हलचल उत्पन्न करती है । इस योग शक्ति से जो कार्मण स्कन्धों का आकर्षण होता है, उसे आस्रव कहते हैं<sup>27</sup>—यथा—

कायवाङ्मनःकर्मयोगः ॥ १ ॥

सः आस्रवः ॥ २ ॥

राजवार्तिक में पुण्य-पाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहा गया है<sup>28</sup>—यथा—

पुण्यपापागम द्वार लक्षण आस्रवः ।

आस्रव को दो भागों में विभाजित किया गया है<sup>29</sup>—यथा—

आस्रवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणे स विण्णेओ ।

भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥

१. **द्रव्यास्रव**—ज्ञानावरणादिरूप कर्मों का जो आस्रव होता है, वह द्रव्यास्रव है ।

२. **भावास्रव**—जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है, वह भावास्रव कहलाता है ।

द्रव्य

**द्रव्यं पदार्थः** । द्रव्य का अर्थ पदार्थ है । द्रव्य वह मूल विशुद्ध तत्त्व है जिसमें गुण विद्यमान हो तथा जिसका परिणमन करने का स्वभाव है<sup>30</sup>—यथा—

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सम्भाव पज्जयाइं जं ।

दवियं तं भण्णं ते अण्णमृदं तू सत्तावो ॥

गुण, पर्याय, सदा पाए जाएँ, नित्य रूप हो, अनेक रूप परिणति क्रम ही वह द्रव्य है<sup>31</sup>—यथा—

तं परिधाणहि दवु तुहं जं गुण पज्जय-जुत्तु ।

सह भुव जाणहि ताहे गुण कम भुव पज्जउ वुत्तु ॥

वस्तुतः गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं । द्रव्य दो प्रकार से कहे गए हैं<sup>3</sup>—  
यथा—

(क) जीवद्रव्य—जीव चेतनशील द्रव्य है ।

(ख) अजीवद्रव्य—अजीव चेतनाशून्य द्रव्य है ।

\* आस्रव की उक्त व्युत्पत्ति लेखक की स्वनिमित्त लगती है । वस्तुतः द्रव्यसंग्रह के अनुसार ही 'स्' धातु से आस्रव शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ है—बहकर आना ।



अजीव द्रव्य के पाँच भेद किए गए हैं<sup>33</sup>—यथा—

अजीवो पुण जेओ पुग्गल धम्मो अधम्म-आयासं ।

कालो पुग्गल मुत्तो रुवादि गुणो अमुत्ति सेसाहु ॥

अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पाँचों को अजीव द्रव्य जानना चाहिए । इनमें पुद्गल भूतिमान है क्योंकि रूपादि गुणों का धारक है । शेष अमूर्त हैं । भेद इस प्रकार है—

(क) पुद्गल द्रव्य—पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गंध तथा स्पर्श सहित होना है । यह मूर्तीक है । शेष चार अमूर्तीक हैं । जिसमें पूरण—एकीभाव और गलन—पृथक्भाव होता है, वह पुद्गल द्रव्य है ।

पुद्गल के दो भेद हैं—परमाणु और स्कन्ध । अविभाज्य पुद्गल को परमाणु कहते हैं । जो पौद्गलिक पदार्थों का अन्तिम कारण, सूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श युक्त होता है और दृश्यमान कार्यों के द्वारा जिसका अस्तित्व जाना जाता है, उसे परमाणु कहते हैं । परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहते हैं । अजघन्य गुण वाले (दो या दो से अधिक गुण वाले) रूखे एवं चिकने परमाणुओं के साथ एकीभाव होता है । दो से लेकर अनन्त तक के परमाणु एकीभूत हो जाते हैं, उनका नाम स्कन्ध है जैसे दो परमाणुओं के मिलने से जो स्कन्ध बनता है, उसे द्विप्रदेशी स्कन्ध कहते हैं । इसी प्रकार तीन प्रदेशी, दश प्रदेशी, संख्येय प्रदेशी, असंख्य प्रदेशी और अनंत प्रदेशी स्कन्ध होते हैं ।

(ख) धर्मद्रव्य—यह जीव तथा पुद्गल को चलने में सहायक होता है । गति में सहायक होने वाले द्रव्य को धर्मद्रव्य कहते हैं ।

(ग) अधर्मद्रव्य—यह अधर्मद्रव्य जीव तथा पुद्गल को ठहरने में सहायक होता है । स्थिति में सहायक होने वाले द्रव्य को अधर्म कहते हैं ।

(घ) आकाश द्रव्य—छहों द्रव्य का निवास स्थान आकाश द्रव्य है । अवगाह देने वाले द्रव्य को आकाश द्रव्य कहते हैं । अवगाह का अर्थ है अवकाश या आश्रय । आकाश अवगाह लक्षण वाला है । लोकाकाश तथा अलोकाकाश के भेद से आकाश दो प्रकार का है । जो आकाश षड्द्रव्यात्मक होता है उसे लोकाकाश कहते हैं । जहाँ आकाश के अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं होता उस आकाश को अलोक कहते हैं ।

(ङ) काल द्रव्य—जो द्रव्यों के परिणमन होने में सहायक है, वह निश्चयकाल है तथा वर्ष, माह आदि व्यवहार काल है ।

निर्जरा

निर्गताः जरा-वृद्धत्वं न अपितु कर्माणां जीर्णत्व इति निर्जराः । निर्जरा का अर्थ है जरा रहित । बाँधे हुए कर्मों के प्रदेशों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं ।<sup>34</sup> कर्मों की जीर्णता से निवृत्ति का होना निर्जरा कहा गया है<sup>35</sup>—यथा—

पुर्वबद्ध कम्म सद्धणं तु णिज्जरा

अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मों का झड़ना निर्जरा है । आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म प्रदेशों का उस आत्म-प्रदेशों से झड़ना निर्जरा है<sup>36</sup>—यथा

बन्धपदेशागलणं णिज्जरणं

वस्तुतः तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने से जो आत्म-उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं । निर्जरा दो प्रकार से कही गई है<sup>37</sup>—यथा—

१६६ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



(क) सविपाक निर्जरा—अपने समय पर स्वयं कर्मों का उदय में आकर झड़ते रहना ।

(ख) अविपाक निर्जरा—तप द्वारा समय से पहले कर्मों का झड़ना ।

शुभ भावों से पाप की निर्जरा होती है और पुण्य का बन्ध होता है किन्तु शुद्ध भावों से दोनों की निर्जरा होती है ।

लेश्या

लिश्यते इति लेश्याः । कषायं प्रकृतिरेदं लेश्या । लेश्या का अर्थ लेप है<sup>38</sup>— यथा—

लिम्पतीति लेश्या

जो जिसे वह लेश्या है । कषायों से लिप्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शुभ-अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा आत्मा के परिणाम लिप्त करने वाली प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है<sup>39</sup>—यथा—

लिप्पह अप्यो कीरइ एयाह णियय पुण्ण पावं च ।

जीवोति होइ लेसा लेसागुण जाणयक्खाया ॥

अर्थात् जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उसको लेश्या कहते हैं । लेश्या दो प्रकार से कही गई है<sup>40</sup> यथा—

(क) भावलेश्या—जीव के परिणाम स्वरूप भावलेश्या होती है ।

(ख) द्रव्यलेश्या—शरीरनामकर्मोदय से उत्पन्न द्रव्यलेश्या है ।

द्रव्यलेश्या छह प्रकार से वर्णित है जिन्हें दो मुख्य भागों में निम्न प्रकार से विभाजित किया गया है<sup>41</sup>—

(क) शुभलेश्या—

(क) पीत लेश्या—सुवर्ण सदृश वर्ण

(ख) पद्म लेश्या—पद्म समान वर्ण

(ग) शुकल लेश्या—शंख के सदृश वर्ण

(ख) अशुभलेश्या—

(क) कृष्ण लेश्या—ध्रमर के सदृश काला वर्ण

(ख) नील लेश्या—नीलमणि सदृश रंग

(ग) कापोत लेश्या—कपोत सदृश वर्ण

संवर—सम पूर्वक 'वृ' धातु से अप प्रत्यय करने पर 'संवर' शब्द निष्पन्न हुआ है । जैनदर्शन में सप्त तत्त्वों—जीव, अजीव, बंध, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष—में से पाँचवां तत्त्व संवर है । जीव के रागादिक अशुभ परिणामों के अभाव से कर्म वर्गणाओं के आस्रव का रुकना संवर कहलाता है ।<sup>42</sup> आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं<sup>43</sup>—यथा—

आस्रव निरोधः संवरः ।

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारिष्य ये सभी संवर के कारण हैं ।<sup>44</sup> संवर दो प्रकार से कहे गए हैं<sup>45</sup>—यथा—

आषं ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि और उसका अर्थ अभिप्राय : डॉ० आदित्य प्रचंडिया | १६७



(क) भावसंवर—जो चेतन परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण हैं, उसे निश्चय से भावसंवर कहते हैं।

(ख) द्रव्यसंवर—जो द्रव्यास्रव को रोकने में कारण हो, उसे द्रव्यसंवर कहते हैं।

**समिति**—समयन्ति अस्याम् इति। सम् उपसर्ग इण धातु में इकतन प्रत्यय करने पर 'समिति' शब्द बनता है। लोक में इसका अर्थ 'सभा' है और आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति होना माना गया है<sup>46</sup>—

सम्यगिति समितिरिति।

सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है<sup>47</sup>—यथा—

पाणि पीड़ा परिहारार्थं सम्यगमनं समिति।

इस प्रकार जैन दर्शन में चलने-फिरने, बोलने-चालने और आहार ग्रहण करने में, वस्तु को उठाने-धरने में और मल-मूत्र को निक्षेप करने में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना अथवा प्राणी पीड़ा के परिहार के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। वस्तुतः चारित्र के अनुकूल होने वाली प्रवृत्ति को समिति कहा जाता है। इस आधार पर समिति के पाँच भेद किए गए हैं<sup>48</sup>—

(१) ईर्या समिति—इस समिति के अन्तर्गत क्षुद्र जन्तु रहित मार्ग में भी सावधानी से गमन करना होता है। शरीर प्रमाण (या गाड़ी के जुए जितनी) भूमि को आँखों से देखकर चलना ईर्या समिति है।

(२) भाषा समिति—इसमें स्व-परहितकारक वचन बोलना होता है। वस्तुतः निष्पाप भाषा का प्रयोग भाषा समिति है।

(३) एषणा समिति—इसमें आहार बिना स्वाद के ग्रहण करना होता है। निर्दोष आहार, पानी आदि वस्तुओं का अन्वेषण करना एषणा समिति है। एषणा के तीन प्रकार हैं—

(क) गवेषणा—शुद्ध आहार की जाँच।

(ख) ग्रहणेषणा—शुद्ध आहार का विधिवत् ग्रहण।

(ग) परिभोगेषणा—शुद्ध आहार का विधिवत् परिभोग।

(४) आदान निक्षेपण समिति—ज्ञान के उपकरण, संयम तथा शौच के उपकरण यत्नपूर्वक उठाना-रखना। वस्तु, पात्र आदि को सावधानी से लेना-रखना आदान निक्षेप समिति है।

(५) प्रतिष्ठापना समिति—एकान्त स्थान, छिद्र रहित स्थान में सूत्र विष्टा त्याग करना प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं। मल-मूत्र आदि का विधिपूर्वक विसर्जन करना प्रतिष्ठापना समिति है। इसे उत्सर्ग समिति संज्ञा से भी अभिहित करते हैं।<sup>49</sup>

**सल्लेखना**—सल्लेखनं-सल्लेखना। सम्यक् प्रकारेण निरीक्षणं। 'लिख' धातु में ल्युट प्रत्यय करने पर 'लेखना' शब्द निष्पन्न हुआ। इस शब्द में 'सम्' उपसर्ग लगाने पर 'सल्लेखना' शब्द निष्पन्न हुआ जिसका अर्थ है भले प्रकार से लेखना अर्थात् कृश करना। जिनवाणी में भली प्रकार से काय तथा कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना कहा गया है।<sup>50</sup> वस्तुतः मारणान्तिक तपस्या का नाम सल्लेखना है। अन्तिम आराधना को स्वीकार करने वाला श्रावक अनशन करने के लिए उससे पूर्व विविध प्रकार की तपस्याओं के द्वारा शरीर को कृश करता है। अनशन के योग्य बनाता है, उस तपस्या-विधि का नाम मारणान्तिकी सल्लेखना है।

१६८ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



सल्लेखना<sup>51</sup> दो प्रकार की है—

(क) भाव सल्लेखना—कषायों को भली प्रकार से कृण करना ।

(ख) द्रव्य सल्लेखना—भाव सल्लेखना के लिए काय-क्लेशरूप अनुष्ठान करना ।

सल्लेखना योगीगत है जब कि आत्म-हत्या भोगीगत ।<sup>52</sup> योगी तो अपने प्रत्येक जीवन में शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाश की ओर चला जाता है और भोगी अर्थात् आत्म-हत्यारा अपने प्रत्येक जीवन में उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है ।

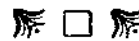
### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', महावीर प्रकाशन, अलीगंज, एटा, (उ० प्र०), सन् 1977, पृष्ठ 1 ।
2. जैन हिन्दी पूजा काव्य में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', सप्तसिन्धु, अगस्त 1978, पृष्ठ 29 ।
3. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का कव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, डॉ० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, डी० लिट्० का शोध प्रबन्ध, सन् 1974, पृष्ठ 3 ।
4. अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन शोध अकादमी, सन् 1981, पृष्ठ 2 ।
5. बृहत् हिन्दी कोश, सम्पादक कालिकाप्रसाद आदि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पृष्ठ 1312 ।
6. अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', परामर्श (हिन्दी), वर्ष 5, अंक 4, सितम्बर, 1984, पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ 322 ।
7. सुप्तिङ्तमपदम् । —अष्टाध्यायी, आचार्य पाणिनि, 1,4,14 ।
8. पारिभाषिक शब्द, डॉ० रघुवीर, संग्रहीत ग्रन्थ—पारिभाषिक शब्दावलि कुछ समस्याएँ सम्पा० डॉ० भोलानाथ तिवारी, प्रथम संस्करण 1973, शब्दकार 2203 गली इकोतान, तुरकमानगेट, दिल्ली-6, पृष्ठ 9 ।
9. पारिभाषिक शब्दावलि और अनुवाद, श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, संग्रहीत ग्रन्थ—पारिभाषिक शब्दावलि कुछ समस्याएँ, पृष्ठ 6 ।
10. Story of Language, Page 271.
11. Foreword to the Comprehensive English-Hindi Dictionary by Dr. Raghuvira.
12. हिन्दी शब्द रचना, माईदयाल जैन, पृष्ठ 206 ।
13. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ 8941 ।
14. (i) बृहद् जैन शब्दार्णव, भाग 2, मास्टर बिहारीलाल, पृष्ठ 629 ।  
(ii) तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 7/2 ।  
(iii) जैन हिन्दी पूजाकाव्य परम्परा और आलोचना, डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैनशोध अकादमी अलीगढ़, पृष्ठ 365 ।

आर्य ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि और उसका अर्थ अभिप्राय : डॉ० आदित्य प्रचण्डिया | १६६



15. पुरुषार्थ सिद्धोपाय, अमृतचन्द्राचार्य, श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास, श्लोकांक 40, पृष्ठांक 28 ।
16. भगवती आराधना, सखारामदोशी, शोलापुर, गाथांक 116, पृष्ठांक 277 ।
17. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृष्ठ 293 ।
18. बृहद् द्रव्य संग्रह, नेमिचन्द्राचार्य, श्रीमद् रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला, आगास, पंक्ति सं० 7, पृष्ठांक 165 ।
19. मोक्षमार्ग प्रकाशक, आचार्यकल्प पं० टोडरमल, अधिकार संख्या 8, पृष्ठांक 268 ।
20. (क) बृहद् द्रव्य संग्रह, पृष्ठ 165, पंक्ति संख्या 1 से 6 तक ।  
(ख) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, स्वाभी समन्तभद्र, पृष्ठ 135 से 137 तक ।
21. जैन हिन्दी पूजाकाव्य परम्परा और आलोचना, डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीर्ति', पृष्ठ 2 से 3 तक ।
22. सर्वार्थसिद्धि, 6/15/333/9 ।
23. धवला पुस्तक, 13/5,4,22/46/12 ।
24. राजवात्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, वि० सं० 2008, 6/15/2/525/25 ।
25. जैन हिन्दी पूजाकाव्य परम्परा और आलोचना, डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीर्ति', पृष्ठ 369 ।
26. तत्त्वार्थ सूत्र सार्थ, उमास्वामि, श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा, सन् 1957, पृष्ठांक 3, अध्याय संख्या 1, सूत्रांक 4 ।
27. तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठांक 76, अध्याय संख्या 6, सूत्रांक 1-2 ।
28. राजवात्तिक 1/4/9,16/26 ।
29. बृहद् द्रव्य संग्रह, पृष्ठ 77, श्लोकांक 29 ।
30. पंचास्तिकाय, 9 ।
31. परमात्मप्रकाश, आचार्य योगीन्द्रदेव, पृष्ठ 56, दोहांक 57 ।
32. जैन हिन्दी पूजाकाव्य परम्परा और आलोचना, पृष्ठ 375 ।
33. बृहद् द्रव्य संग्रह, पृष्ठ 44, श्लोकांक 15 ।
34. जैन हिन्दी पूजा काव्य परम्परा और आलोचना, पृष्ठ 57 ।
35. भगवती आराधना, मूल, 1847/1656
36. बारस अणुवेकला 66 ।
37. सर्वार्थसिद्धि, 8/23/399/9 ।
38. धवला 1/1, 1/4/149/6 ।
39. पंचसंग्रह प्राकृत, 1/142-143 ।
40. सर्वार्थसिद्धि 2/6/159/10 ।
41. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, नेमिचन्द्राचार्य, 704/1141/5 ।
42. जैन हिन्दी पूजाकाव्य परम्परा और आलोचना, पृष्ठ 381 ।
43. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9, सूत्रांक 1 ।
44. भगवती आराधना 38/134/16 ।
45. बृहद् द्रव्य संग्रह, पृष्ठांक 84, गाथांक 34 ।
46. राजवात्तिक, 9/5/2/593/34 ।
47. सर्वार्थसिद्धि 2/409, देवसेनाचार्य, पृष्ठ 7 ।
48. पुरुषार्थ सिद्धोपाय, अमृतचन्द्राचार्य, पृष्ठांक 87, श्लोकांक 203 ।
49. जैन हिन्दी पूजा काव्य परम्परा और आलोचना, पृष्ठ 49-50 ।
50. (क) सर्वार्थसिद्धि 7/22/363/1 ।  
(ख) जैनधर्म, रतनलाल जैन, पृष्ठ 92 ।
51. (क) भगवती आराधना, 206/423 ।  
(ख) आभ्यन्तर सल्लेखना एवं बाह्य संल्लेखना :-अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, पृष्ठ 9 ।
52. श्री बहलभ शताब्दी स्मारिका, पृष्ठ 178 ।



## अभाव प्रमाण—एक चिन्तन

—श्री रमेश मुनि शास्त्री  
(उपाध्याय श्रीपुष्करमुनिजी के सुशिष्य)

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण इन दोनों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान के दो प्रकार हैं—यथार्थ और अयथार्थ। जो ज्ञान सही निर्गमिक है, वह यथार्थ है, जिसमें संशय, विषय और अनङ्गप्रवसाय होता है, वह यथार्थ नहीं है। संशय आदि दावों से रहित यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है। प्रमाण के द्वारा प्रमेयात्मक पदार्थ-स्वरूप को जानने के पश्चात् ही मानव अपने अभीष्ट विषय की प्राप्ति और अनिष्ट विषय के परिहार के लिये तत्पर होता है।

जिसका निश्चय किया जाय, उसे प्रमेय कहते हैं और जिस ज्ञान के द्वारा समग्र-पदार्थ का सुनिश्चय किया जाय, उस सर्वांगग्राही बोध को प्रमाण कहते हैं। प्रमेयात्मक पदार्थ का नय और प्रमाण से सुनिश्चय किया जाता है। ज्ञाता का वह अभिप्राय-विशेष नय कहलाता है।<sup>1</sup> अनेक दृष्टिकोण से परिष्कृत वस्तु तत्त्व के एकांगग्राही ज्ञान को नय कहते हैं। नय प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है। प्रमाण सर्वांगग्राही है और नय अंशग्राही है। प्रमाण यदि सिन्धु है तो नय बिन्दु है। प्रमाण यदि सूर्य है तो नय रश्मिजाल है। प्रमाण सर्वनय रूप है। प्रमाण के दो भेद हैं। प्रथम प्रकार, “प्रत्यक्ष” है और द्वितीय प्रकार है—परोक्ष।<sup>2</sup> प्रत्यक्ष प्रमाण की दो प्रधान शाखाएँ हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। प्रथम शाखा परमार्थाश्रयी है एतदर्थ यह वास्तविक प्रत्यक्ष है। और दूसरी शाखा व्यवहाराश्रयी है एतदर्थ यह औपचारिक प्रत्यक्ष है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में केवल आत्मा की सहायता रहती है।

प्रत्येक द्रव्य का अपना असाधारण स्वरूप होता है। उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होते हैं जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भी अन्ततः द्रव्य की असाधारण स्थितिरूप ही फलित होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप-चतुष्टय से सत् होता है और पर-रूप-चतुष्टय से असत् है। प्रत्येक पदार्थ स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् होने के कारण भाव और अभाव रूप है।<sup>3</sup> पदार्थ सद्-असदात्मक है। उसमें सद् अंश को भाव और असद् अंश को अभाव या प्रतिषेध कहा गया है। वह अभाव चार प्रकार का कहा गया है।<sup>4</sup> उनके नाम इस प्रकार हैं—

अभाव प्रमाण—एक चिन्तन : रमेश मुनि शास्त्री | १७१





१. प्रागभाव ।

३. अत्यन्ताभाव ।

२. प्रध्वंसाभाव ।

४. अन्योन्याभाव ।

यह ध्रुव सत्य है कि द्रव्य की न उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश होता है । किन्तु पर्याय की उत्पत्ति होती है और उसी का विनाश होता है । प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है और वही पर्याय रूप से कार्य होता है । जो पर्याय उत्पन्न होने जा रहा है वह उत्पत्ति के पहले पर्याय रूप में नहीं है । अतएव उसका जो अभाव है, वह प्रागभाव है । घट-पर्याय जब तक उत्पन्न नहीं हुआ, तब तक वह सत् नहीं है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाला है, उसे घट का प्रागभाव कहा जाता है ।

द्रव्य का कभी भी विनाश नहीं होता है । पर्याय का विनाश होता है । अतएव कारण-पर्याय का विनाश कार्य-पर्याय रूप होता है । कोई भी विनाश सर्वथा अभाव रूप या तुच्छ न होकर उत्तर-पर्याय रूप होता है । घट पर्याय विनष्ट होकर कपाल-पर्याय बनता है । अतएव घट-विनाश कपाल रूप है जिसे प्रध्वंसाभाव कहा जाता है ।

एक पर्याय का दूसरे पर्याय में जो अभाव है, वह इतरेतराभाव है, जिसे अन्यापोह भी कहते हैं । प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से निश्चित है । एक का स्वभाव दूसरे का नहीं होता । एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में जो त्रैकालिक अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है ।

इस अभाव प्रमेय को लेकर दार्शनिकों में विभिन्न प्रकार के विचार प्रवृत्त हैं । कोई दार्शनिक अभाव को मानते ही नहीं है, कोई उसे कल्पित मानते हैं, कोई उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, कोई उसे अभावात्मक मानते हैं और कोई उसे भाव-स्वरूप मानते हैं ।

पुनः इस अभाव-प्रमाण के विषय में कई अभिमत हैं । प्रमाण, प्रमेय-साधक होता है, इसमें कोई वाद-विवाद नहीं है । फिर भी सत्य की कसौटी सब की एक नहीं है । एक ही पदार्थ के निर्णय के लिये दार्शनिकों द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रमाण माने गए हैं ।

यदि यह कहा जाय कि अभाव निःस्वरूप होने के कारण असिद्ध है । तो यह आशंका अनुचित है । क्योंकि जैन दर्शन के अभिमतानुसार अभाव-पदार्थ भाव-स्वभाव वाला है । अतएव वह निःस्वरूप नहीं है । यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि भाव-स्वभाव वाले प्रागभावादि अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है ? जैन दार्शनिकों के अभिमत के अनुसार ऋजुसूत्रनय और प्रमाण के द्वारा उन (प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदि) की सिद्धि हो जाती है । जैसा कि कहा है—नय प्रमाणादिति और ऋजुसूत्रनयापर्णादिति ।<sup>5</sup> वर्तमान क्षण के पर्यायमात्र की प्रधानता से पदार्थ का कथन करना "ऋजुसूत्र" है ।<sup>6</sup> इस नय की अपेक्षा से प्रागभाव घटादिकार्य के अव्यवहित पूर्व में रहने वाला उपादान-परिणाम अर्थात् मृत्पिण्ड स्वरूप ही है, और व्यवहारनय की अपेक्षा से मृदादि द्रव्य ही घट-प्रागभाव है ।

प्रध्वंसाभाव की सिद्धि भी ऋजुसूत्र-नय की अपेक्षा से होती है । प्रध्वंसाभाव स्थल में उपादेय क्षण (घटोत्पत्ति स्थिति क्षण) ही उपादान (मृत्पिण्ड रूप कारण) का प्रध्वंसाभाव है । उपादेय क्षण को ही उपादान का प्रध्वंसक्षण माने जाने पर यह आशंका हो सकती है कि उपादेय के उत्तरोत्तर क्षण में प्रध्वंसाभाव का अभाव होने से घट आदि की पुनरुत्पत्ति की आपत्ति होगी । पर इस प्रकार की आशंका उचित नहीं है । क्योंकि कारण में कार्य का नाशकत्व नहीं है । उपादान कारण का विनाश होने पर

१७२ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



उत्तर-पर्याय रूप कार्य की उत्पत्ति होती है न कि कार्य के विनाश में कारण की उत्पत्ति का नियम है। प्रागभाव उपादान है और प्रध्वंसाभाव उपादेय है। प्रागभाव का विनाश करता हुआ प्रध्वंस उत्पन्न होता है। घट-पर्याय कपाल-पर्याय का प्रागभाव है। कपाल-पर्याय घट-पर्याय का प्रध्वंस है। प्रागभाव पूर्वक्षणवर्ती कारणरूप तथा प्रध्वंस उत्तरक्षणवर्ती कार्यरूप है। वस्तुतः दोनों अभाव कथंचित् भावरूप हैं। अतएव उक्त स्थल में दो अभावों में सम्बन्ध मानने का प्रसंग ही नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा से मृदादि स्वद्रव्य ही घटोत्तर-काल में घट-प्रध्वंस कहलाता है, यह स्पष्ट है।

प्रत्येक पदार्थ सद सदात्मक है, इसमें विवाद नहीं है। पर अभावांश भी पदार्थ का धर्म होने से यथासम्भव भाव-ग्राहक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से गृहीत होता है। जैसा कि कहा है—जिस मानव को घटयुक्त भूतल का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे ही घट के अभाव में घटाभाव का भी प्रत्यक्ष आदि से ज्ञान होता है।<sup>17</sup> यह कोई नियम नहीं है कि भावात्मक प्रमेय के ग्राहक-प्रमाण को भावरूप और अभावात्मक प्रमेय के ग्राहक-प्रमाण को अभावात्मक ही होना पड़ेगा अभाव के द्वारा भी भाव का ज्ञान सम्भव है। जैसे मेघाच्छन्न आकाश-मण्डल में वृष्टि के अभाव से अनन्त आकाश में वायु की सत्ता रूप भाव पदार्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार भाव के द्वारा भी अभाव का ज्ञान होता है। अग्नि की सत्ता के ज्ञान से शीताभाव का ज्ञान होता है।

अभाव प्रमाण का खण्डन इस रूप में हुआ है—जब भावाभावात्मक अखण्ड पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत हो जाता है, तो फिर अभावांश के ग्रहण के लिये पृथक् अभाव नामक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। अभाव को यदि न माना जाय तो, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि समस्त-व्यवहार विनष्ट हो जायेंगे। क्योंकि पदार्थ की स्थिति अभाव के अधीन है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि दूध में दही का अभाव प्रागभाव है, दही में दूध का अभाव प्रध्वंसाभाव है। घट में पट का अभाव अन्योन्याभाव है और खर विषाण का अभाव अत्यन्ताभाव है। पर अभाव को भाव-स्वभाव विना माने ये चारों ही अभाव नहीं घट सकते। अतएव अभाव प्रकारान्तर से भाव रूप ही है। अभाव सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु वह भी वस्तु तत्त्व का उसी तरह एक धर्म है, जिस प्रकार भावांश। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक है और इसलिये अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। अभाव विषयक वह ज्ञान ही अभाव प्रमाण सिद्ध हुआ और वह ज्ञान इन्द्रियजन्य होने के कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण के अन्तर्गत है। भावांश ज्ञान के समान अभावांश ज्ञान कराने में चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति अविरोध है।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. (क) नयो ज्ञातुरभिप्रायः—लघीयस्त्रय, श्लोक 55 आचार्य अकलंक ।  
(ख) ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः—सिद्धिविनिश्चय टीका पृष्ठ 517—आचार्य अकलंक ।
2. (क) प्रमाणनयतत्त्वालोक 2/1—श्री वादिदेव सूरि ।  
(ख) प्रमाण मीमांसा 1/1/9—10—आचार्य हेमचन्द्र ।
3. (क) स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावात्मकं वस्तु—स्याद्वाद मंजरी पृष्ठ 176 आचार्य मल्लिषेण ।  
(ख) सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अथवा सर्व-सत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ।  
—प्रमाण मीमांसा पृष्ठ 12, आचार्य हेमचन्द्र ।
4. प्रमाण नयतत्त्वालोकालंकार, परि० 3, सूत्र 52-4 वादिदेव सूरि ।
5. (क) स्याद्वाद रत्नाकर पृष्ठ 575—वादिदेव सूरि ।  
(ख) अष्ट सहस्री पृष्ठ 100—विद्यानन्द स्वामी ।
6. (क) सतां साम्प्रतानामर्थानामधिष्ठान-परिज्ञानम् ऋजुसूत्रः ।—तत्त्वार्थभाष्य—1/35 ।  
(ख) ऋजु वर्तमान क्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्रव्रानतः सूत्रवन्तभिप्रायः ऋजुसूत्रः ।—स्याद्वाद मंजरी पृष्ठ 317 ।
7. अभाव प्रमाणं तु प्रत्यक्षादखेवान्तर्भवतीति ।—स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ 310
8. भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनो निविषयोऽभावः—प्रमाण मीमांसा अ० 1, आ० 1, सू० 12 आचार्य हेमचन्द्र ।



## अनुसन्धान की कार्य-प्रणाली

### विदेशी जैन विद्वानों के सन्दर्भ में

—डा. जगदीश चन्द्र जैन

जैनधर्म और जैनदर्शन पर ढेरों साहित्य प्रकाशित हो रहा है मौजूदा शताब्दी में। एक से एक सुन्दर चमचामाता हुआ डिजाइनदार कवर, बढ़िया छपाई, आकर्षक सज्जा। लेकिन अन्दर के पन्ने पलटने से पता लगता है कि ठगाई हो गई—ऊँची दुकान, फीके पकवान। फिर भी सत्साहित्य की माँग बनी हुई है। देश-विदेश से कितने ही पत्र आते हैं : जैन धर्म पर कोई अच्छी सी पुस्तक बताइये जिसमें रोचक ढंग से जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का वर्णन किया गया हो। दर असल, आजकल के अर्थ प्रधान युग में पुस्तक-लेखन और पुस्तक-प्रकाशन एक व्यवसाय बन गया है, फिर सत्साहित्य का सृजन कैसे हो ? डॉक्टर की पदवी पाने के लिये तो इतनी अधिक मात्रा में शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं कि उनकी तरफ कोई देखने वाला भी नहीं, उनका प्रकाशन होना तो दूर रहा।

विदेशों में ऐसी बात नहीं। जब मैं पश्चिम जर्मनी के कोल विश्वविद्यालय में वसुदेवहिंडि पर शोध कार्य कर रहा था तो प्राच्य विद्या विभाग के हमारे डाइरेक्टर महोदय ने बताया कि मुझे छात्रों के अध्यापन पर इतना जोर देने की आवश्यकता नहीं, अपने शोध कार्य पर ही ध्यान केन्द्रित करना उचित है। और विश्वास मानिये, शोध कार्य के लिये जिन-जिन पुस्तकों की मुझे आवश्यकता हुई—वे बाजार में मोल मिलती हों या नहीं—उन्हें हजारों रुपया खर्च करके उपलब्ध कराया गया। कितनी ही अप्राप्य पुस्तकों को इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन से मंगाकर उनकी जेरोक्स कॉपी सुरक्षित की गई। नतीजा यह हुआ कि प्राचीन जैनधर्म के अध्ययन के लिये कोल विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी अग्रगण्य समझी जाने लगी।

जर्मनी के विद्वान् खूब ही कर्मठ पाये गये। शोध कार्य करने का उनका अपना अलग तरीका है। सामूहिक कार्य (टीम वर्क) की अपेक्षा वैयक्तिक कार्य पर अधिक जोर रहता है। अपना शोध-प्रबन्ध लिखिये, उसे स्वयं टाइप कीजिये। निर्देशक को मान्य न हो तो उसमें संशोधन-परिवर्तन कीजिये। फिर भी

अनुसन्धान की कार्य-प्रणाली विदेशी जैन विद्वानों के सन्दर्भ में : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन | १७५



कड़ी जांच के पश्चात् परीक्षकों द्वारा स्वीकृत हो जाने पर ही पदवी सुलभ नहीं हो जाती। मौखिक परीक्षा के लिये परीक्षकों के समक्ष उपस्थित होकर उनके प्रश्नों के उत्तर दीजिये, अपने विषय का प्रतिपादन करने के लिये भाषण दीजिये और यदि आप उपस्थित विद्वन्मंडली को संतोष प्रदान कर सकें तो ही आप डिग्री पाने के हकदार हो सकते हैं। तत्पश्चात् आपके शोध प्रबन्ध का अमुक भाग उच्च कोटि की पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जाता है जिस पर विद्वानों में चर्चा होती है और इसका निर्णय होता है कि आपने अपने शोध प्रबन्ध द्वारा ऐसे कौन से तथ्य की खोज की है जो अब तक अज्ञात था।

इसे सौभाग्य ही समझना चाहिये कि मुझे कील विश्वविद्यालय में १९७० से १९७४ तक जर्मन विद्वानों के साथ रहते हुए शोध कार्य करने का अवसर मिला। इस बीच मैंने उनके कार्य करने की प्रणाली और उनकी सूझ-बूझ का जायजा लेने का प्रयत्न किया। इस तथ्य को समझने की कोशिश की कि क्या कारण है कि वे लोग किसी जैन ग्रन्थ का अध्ययन कर उस पर अपने सुलझे हुए भौतिक विचार प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं—हम उनके वक्तव्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, जबकि हम उसी ग्रन्थ का बार-बार अध्ययन करते रहने पर भी अपने कोई मौखिक विचार नहीं प्रस्तुत कर पाते - उसकी गहराई में प्रवेश नहीं कर पाते।

प्रसन्नता हुई यह जानकर कि इसी कील विश्वविद्यालय में हर्मान याकोबी (१८५०-१९३७) और रिशार्ड पिशल (१८४९-१९०८) जैसे जैन धर्म एवं प्राकृत के धुरंधर विद्वानों ने शोध करते हुए अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा जैन विद्या के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया।

जर्मनी के विद्वानों में हमें सर्वप्रथम आलब्रेख्त वेबर (१८२५-१९०१) का ऋणी होना चाहिये जिन्होंने सबसे पहले विद्वानों को श्वेताम्बर जैन आगमों का परिचय कराने के साथ हर्मान याकोबी जैसे शिष्यों को तैयार किया, जिन्होंने आगे चलकर जैन विद्या के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। याकोबी कुल २३ वर्ष के थे जब हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की खोज में उन्होंने भारत की यात्रा की और लौटकर 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' सीरोज में आचारांग और कल्पसूत्र (१८८४), तथा सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन (१८९५) का अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इन ग्रन्थों के अनुवाद से विदेशी विद्वानों को जैन धर्म का परिचय प्राप्त करने में बहुत सहायता मिली। याकोबी ने अपने अध्ययन को जैन धर्म तक ही सीमित नहीं रखा, उन्होंने प्राचीन प्राकृत कथा साहित्य पर भी कार्य किया। उन्होंने उत्तराध्ययन पर रचित देवेन्द्र गणि की शिष्यहिता नाम की पाइय टीका के आधार से अपनी 'औसगेबेल्ले एर्सेलुगेन इन महाराष्ट्री त्पुर आइन फ्युरूंग इन दास श्टूडिउम देष प्राकृत ग्रामाटिक टैक्स वोएरतर-बुख' (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियाँ—प्राकृत व्याकरण के अध्ययन में प्रवेश करने के लिये) रचना आज से सौ वर्ष पूर्व १८८६ में प्रकाशित की। प्राकृत कथाओं के कुशल सम्पादन के साथ प्राकृत व्याकरण और शब्द कोष भी प्रस्तुत किया गया। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर याकोबी का एक और भी बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने प्राचीन जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा जैन धर्म का बौद्ध धर्म से स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के साथ यह भी सिद्ध किया कि श्रमण भगवान महावीर के पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था। अपने वक्तव्य के समर्थन में उन्होंने प्रमाण उपस्थित किये, केवल कथन मात्र से कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती। इसी को नई शोध या रिसर्च कहा जाता है जो आत्मपरक न होकर वस्तुपरक होती है और जिसमें मध्यस्थ भाव की मुख्यता रहती है। हरिभद्र सूरि की शब्दावलि में कहा जा सकता है कि

१७६ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



आग्रही व्यक्ति की युक्ति वहीं जाती है जहाँ उसकी बुद्धि पहुँचती है जब कि निष्पक्ष व्यक्ति की बुद्धि उसकी युक्ति का अनुसरण करती है ।

आगे चलकर याकोबी के मन में जैन धर्म सम्बन्धी अधिक जिज्ञासा जागृत हुई । उन्होंने पुनः भारत की यात्रा की योजना बनाई । अब की बार हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में गुजरात और काठियावाड़ का दौरा किया । स्वदेश लौटकर उन्होंने अपभ्रंश के भविसत्त कहा और सणक्कुमार चरिउ नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाशित किया । उनके शोधपूर्ण कार्यों के लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें डॉक्टर ऑव लैटर्स, तथा जैन समाज की ओर से जैन दर्शन दिवाकर की पदवी से सम्मानित किया गया । आज से एक शताब्दी पूर्व जैन विद्या के क्षेत्र में किया हुआ प्रोफेसर हर्मान याकोबी का अनुसन्धान उतना ही उपयोगी है जितना पहले था ।

कील विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में जैन विद्या के क्षेत्र में कार्य करने वाले दूसरे धुरंधर विद्वान् हैं रिशाडै पिशल । देखा जाय तो भारतीय आर्य भाषा (इण्डो यूरोपियन) के अध्ययन के साथ प्राकृत भाषाओं का ज्ञान आवश्यक हो गया था । पिशल का कहना था कि संस्कृत के अध्ययन के लिये भाषा शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है और यूरोप के अधिकांश विद्वान् इसके ज्ञान से वंचित हैं । कहना न होगा कि प्राकृत-अध्ययन के पुरस्कर्ताओं में पिशल का नाम सर्वोपरि है । पिशल द्वारा किये हुए श्रम का अनुमान इसी पर से लगाया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब कि आगम-साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ था, अप्रकाशित साहित्य की सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियों को पढ़-पढ़कर, उनके आधार से प्राकृत व्याकरण के नियमों को सुनिश्चित रूप प्रदान करना, कितना कठिन रहा होगा ।

पिशल 'एलीमेण्टरी ग्रामर आव संस्कृत' के सुप्रसिद्ध लेखक ए० एफ० स्टेन्सलर (१८०७-१८७७) के प्रमुख शिष्यों में थे । यूरोप में संस्कृत सीखने के लिये आज भी इस पुस्तक का उपयोग किया जाता है । पिशल ने प्राकृत ग्रंथों के आधार से अपने 'ग्रामाटिक डेर प्राकृत श्राखेन' (प्राकृत भाषा का व्याकरण) नामक अमर ग्रन्थ में अत्यन्त परिश्रमपूर्वक प्राकृत भाषाओं का विश्लेषण कर उनके नियमों का विवेचन किया है । मध्ययुगीन आर्य भाषाओं के अनुपम कोश आचार्य हेमचन्द्रकृत देशी नाममाला का भी गेओर्ग व्युह्लर (१८३७-१८६८) के साथ मिलकर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है । इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के आमंत्रण पर जर्मनी से मद्रास पहुँचकर वे कलकत्ता के जिये खाना हो रहे थे कि उनके कान में ऐसा भयंकर दर्द उठा जिसने उनकी जान ही लेकर छोड़ी ।

अन्स्टै लायमान (१८२६-१९३१) जैन विद्या के एक और दिग्गज विद्वान् हो गये हैं । आलब्रेख्त वेधर के वे प्रतिभाशाली शिष्य थे । स्ट्रासबर्ग में प्राच्य विद्या विभाग में प्रोफेसर थे, वहीं रहते हुए उन्होंने हस्तलिखित जैन ग्रंथों की सहायता से जैन साहित्य का अध्ययन किया । जैन साहित्य उन दिनों प्रायः अज्ञात अवस्था में था । भारत एवं यूरोप में प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के आधार से उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रंथों का परिचय प्राप्त किया । लायमान सूक्ष्म-बुद्ध के बहुत बड़े विद्वान् थे जिन्होंने श्वेताम्बरीय आगमों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया था । जैन आगमों पर रचित निर्युक्ति एवं चूर्णी साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रय उन्हीं को है, जो साहित्य विदेशी विद्वानों को अज्ञात था ।

अनुसन्धान की कार्य-प्रणाली विदेशी जैन विद्वानों के सन्दर्भ में : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन | १७७



प्राकृत साहित्य का अध्ययन कर भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उन्होंने अनेक प्रश्न उपस्थित किये। औपपातिक सूत्र को अपनी शोध का विषय बनाकर उसका आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित (१८८२) किया। दश-वैकालिक सूत्र और उसकी निर्युक्ति का जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया। लेकिन आवश्यक सूत्र उन्हें सर्व-प्रिय था। आवश्यक सूत्र की टीकाओं में उल्लिखित कथाओं को लेकर १८९७ में उन्होंने 'आवश्यक एत्सलुंगेन' (आवश्यक कथायें) प्रकाशित किया, लेकिन इसके केवल चार फर्मे ही छप सके। अपने अध्ययन को आवश्यक सूत्र पर उन्होंने विशेष रूप से केन्द्रित किया जिसके परिणामस्वरूप 'यूबेरजिस्त यूवेर दी आवश्यक लितरातूर' (Übersicht über die Avasyaka Literatur = आवश्यक साहित्य का सर्वेक्षण) जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की गई। सम्भवतः वे इसे अपने जीवनकाल में समाप्त नहीं कर सके। आगे चलकर हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर शूब्रिग द्वारा सम्पादित होकर, १९३४ में इसका प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त, पादलिप्तसूरिकृत तरंगवइकहा का 'दी नोने' (Die Nonne) जीर्णक के अन्तर्गत लायमान ने जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया (१९२१)। इस रचना का समय ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना गया है। विशेषावश्यक भाष्य का अध्ययन करते समय जो विभिन्न प्रतियों के आधार से उन्होंने पाठान्तरों का संग्रह किया, उससे पता चला कि किसी पाठक ने इस ग्रंथ के सामान्यभूत के प्रयोगों को बदलकर उनके स्थान में वर्तमानकालिक निश्चयार्थ के प्रयोग बना दिये हैं।<sup>1</sup>

वाल्टर शूब्रिग (१८८१-१९६९) जैन आगम साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हो गये हैं। नौरवे के सुप्रसिद्ध विद्वान् और नौरवेजियन भाषा में वसुदेव हिंडि के भाषान्तरकार (ओसलो से १९४६ में प्रकाशित) स्टेन कोनो के स्वदेश लौट जाने पर, हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के डाइरेक्टर के पद पर प्रोफेसर शूब्रिग को नियुक्त किया गया। जैन आगम ग्रन्थों में उनका ध्यान छेदसूत्रों की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने इस साहित्य का मूल्यांकन करते हुए अपनी टिप्पणियों के साथ कल्प, निशीथ और व्यवहार छेदसूत्रों का सम्पादन किया। महानिशीथ सूत्र पर इन्होंने शोधकार्य किया, अपनी जर्मन प्रस्तावना के साथ उसे १९१८ में प्रकाशित किया (बेलजियम के विद्वान् जोसेफ, द ल्यू (Deleu) के साथ मिलकर १९३३ में, और एफ० आर० हाम (Hamm) के साथ मिलकर १९४१ में प्रकाशित)। आचारांग सूत्र की प्राचीनता की ओर उनका ध्यान गया, इस सूत्र का उन्होंने संपादन किया तथा आचारांग और सूत्रकृतांग के आधार से 'वोर्तेस महावीरस' (Worte Mahaviras = महावीर के वाक्य, १९२६ में प्रकाशित) प्रकाशित किया। उन्होंने समस्त आगम ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'द लेहरे डेर जैनाज' (Die Lehre der Jainas = जैनों के सिद्धान्त, १९३५ में प्रकाशित) प्रकाशित हुई। उनकी यह कृति इतनी महत्वपूर्ण समझी गई कि १९६२ में उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

जर्मन परम्परा के अनुसार, किसी विद्वान् व्यक्ति के निधन के पश्चात् उसकी संक्षिप्त जीवनी और उसके लेखन कार्यों का लेखा-जोखा प्रकाशित किया जाता है। लेकिन महामना शूब्रिग यह कह गये थे कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके सम्बन्ध में कुछ न लिखा जाये। हाँ, उन्होंने जो समय-समय पर विद्वत्तापूर्ण

1. आत्सडोर्फ, 'द वसुदेव हिंडि, ए स्पेसिमेन ऑव आर्किव जैन महाराष्ट्री', बुलेटिन ऑव स्कूल ऑव ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, 1936, पृ० 321 फुटनोट।



लेख प्रकाशित किये थे, उनका संग्रह डबल्यू० शून्निग क्लाइने श्रिफटेन (लघु निबन्ध, १९७७) के नाम से प्रकाशित किया गया।<sup>1</sup>

लुडविग आल्सडोर्फ (१९०४-१९७८) जर्मनी के एक बहुश्रुत प्रतिभाशाली जैन विद्वान् हो गये हैं। आल्सडोर्फ लायमान के सम्पर्क में आये और याकोबी से उन्होंने जैन विद्या के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त की। शून्निग को वे अपना गुरु मानते थे। जब इन पंक्तियों के लेखक ने हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में उनके कक्ष में प्रवेश किया तो देखा कि शून्निग का एक सुन्दर फोटो उनके कक्ष की शोभा में वृद्धि कर रहा है।

१९५० में शून्निग के निधन होने के पश्चात् उनके स्थान पर आल्सडोर्फ को नियुक्त किया गया। आल्सडोर्फ इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जर्मन भाषा के अध्यापक रह चुके थे अतएव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से उनका सुपरिचित होना स्वाभाविक था। इलाहाबाद में रहते-रहते उन्होंने एक गुरुजी से संस्कृत का अध्ययन किया व्याकरण की सहायता के बिना ही। आल्सडोर्फ का ज्ञान अगाध था, उनसे किसी भी विषय की चर्चा चलाइये, आपको फौरन जवाब मिलेगा। एक बार मैं उनसे साक्षात्कार करने के लिए हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय में गया। संयोग की बात उस दिन उनका जन्म-दिन मनाया जा रहा था। विभाग के अध्यापक और कुछ छात्र आयोजन में उपस्थित थे। आल्सडोर्फ धारा प्रवाह बोलते चले जा रहे थे और श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। हास्य एवं व्यंगमय उनकी उक्तिर्यां उनकी प्रतिभा की द्योतक जान पड़ रही थीं। अपनी भारत यात्राओं के सम्बन्ध में बहुत से चुटकुले उन्होंने सुनाये। भारत के पण्डितगण जब उन्हें 'अनार्य' समझकर उनके मंदिर-प्रवेश पर रोक लगाते तो वे झट से संस्कृत का कोई श्लोक सुनाकर उन्हें आश्चर्य में डाल देते और फिर तो मन्दिर के द्वार स्वयं खुल जाते। जैन पाण्डुलिपियों की खोज में उन्होंने खम्भात, जैसलमेर और पाटण आदि की यात्रायें की थीं और जब उन्होंने इन भण्डागारों में दुर्लभ ताडपत्रीय हस्तलिखित प्रतियों के दर्शन किये तो वे आश्चर्य के सागर में डूब गये। अपनी यात्रा के इस रोचक विवरण को उन्होंने 'शून्निग-अभिनन्दन ग्रन्थ' में 'प्राचीन जैन भण्डारों पर नया प्रकाश' नाम से प्रकाशित किया जो हाम्बुर्ग की 'प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय अध्ययन' नामक पत्रिका में (१९५१) प्रकाशित हुआ है। पश्चिम के विद्वानों को यह जानकर ताज्जुब हुआ कि मुनि पुण्य-विजय जी महाराज ने कितने परिश्रम से इतनी अधिक संख्या में मूल्यवान पाण्डुलिपियों को सुरक्षित बनाया है।

आल्सडोर्फ के लिए प्राच्य विद्या का क्षेत्र सीमित नहीं था। उनका अध्ययन विस्तृत था जिसमें जैन, बौद्ध, वेद, अशोकिय शिलालेख, मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ, भारतीय साहित्य, भारतीय कला तथा आधुनिक भारतीय इतिहास आदि का समावेश होता था। भाषा विज्ञान सम्बन्धी उनकी पकड़ बहुत गहरी थी जिससे वे एक समर्थ आलोचक बन सके थे। क्रिटिकल पालि डिक्शनरी के वे प्रमुख

1. प्रोफेसर शून्निग के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये देखिये कलकत्ता से प्रकाशित होने वाला 'जैन जर्नल', का शून्निग स्पेशल अंक (जनवरी, १९७०)। इस अंक में 'इण्डो एशियन कल्चर', नई दिल्ली के भूतपूर्व सम्पादक डॉक्टर अमूल्यचन्द्र सेन का एक महत्वपूर्ण लेख है, जो शून्निग से जैनधर्म का अध्ययन करने के लिए १९३३ में हाम्बुर्ग गये थे।

अनुसन्धान की कार्य-प्रणाली विदेशी जैन विद्वानों के सन्दर्भ में : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन | १७६





सम्पादक थे जिसका प्रारम्भ सुप्रसिद्ध वी० ट्रेकनेर के सम्पादकत्व में हुआ था। वसुदेवहिंडि की भाषा को लेकर उन्होंने जो 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिण्टियल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' नामक पत्रिका (१९३६) में 'द वसुदेव हिंडि : ए स्पेसीमैन ऑव आर्किक जैन महाराष्ट्री' नामक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित किया है, वह निश्चय ही उनकी गम्भीर विद्वत्ता की ओर लक्ष्य करता है। प्राकृत और पालि के साथ-साथ अपभ्रंश पर भी उनका अधिकार था। सोमप्रभ सूरि के कुमारपाल पडिबोह ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध लिखकर उन्होंने पी० एच०डी० की उपाधि प्राप्त की (१९२८ में प्रकाशित)। प्रोफेसर याकोबी की प्रेरणा प्राप्त कर पुष्प-दन्तकृत हरिवंस पुराण तिसट्टिमहापुरिसगुणालंकार) पर शोधकार्य किया (१९३६ में प्रकाशित)। इसके सिवाय, कितने ही खोजपूर्ण उनके निबन्ध प्राच्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अगड़दत्त की कथा को लेकर 'न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' (१९३८) में उनका एक खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। आल्सडोर्फ के निबन्धों का संग्रह आलब्रेख्त वेत्सलेर द्वारा सम्पादित 'लुडविग आल्सडोर्फ : क्लाइने श्रिफ्टेन' में देखा जा सकता है। यह ग्रन्थ ग्लासेनपफ फाउण्डेशन की ओर से १९७४ में प्रकाशित हुआ है।

आल्सडोर्फ का एक दूसरा भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। वह है प्राचीन महाराष्ट्री में रचित संघदास गणि वाचक कृत वसुदेवहिंडि की ओर विश्व के विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना। १९३८ में, अब से ४८ वर्ष पूर्व, रोम की १९वीं ओरिण्टियल कांग्रेस में उन्होंने एक सारगर्भित निबन्ध पढ़ा जिसमें पहली बार बताया गया कि वसुदेवहिंडि सुप्रसिद्ध गुणादय की नष्ट बड़कहा (बृहत्कथा) का नया रूपान्तर है। जैसा कहा जा चुका है, १९७०-१९७४ में इन पंक्तियों का लेखक कीर्ति विश्वविद्यालय इसी विषय पर शोधकार्य करने में संलग्न था। इसी को लेकर कई बार प्रोफेसर आल्सडोर्फ के साथ चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इधर वसुदेवहिंडि को लेकर भारत के बाहर विदेशों में शोधकार्य में वृद्धि हो रही है, लेकिन दुर्भाग्य से मूल प्रति के अभाव में जैसा चाहिए वैसा कार्य नहीं हो पा रहा है। वर्तमान वसुदेवहिंडि की प्रति १९३०-१९३१ में मुनि चतुरविजय एवं मुनि पुण्य विजय द्वारा सम्पादित होकर भावनगर से प्रकाशित हुई थी। प्रोफेसर आल्सडोर्फ से इस सम्बन्ध में चर्चा होने पर उन्होंने कहा कि अन्य किसी शुद्ध पांडुलिपि के अभाव में, यही सम्भव है कि प्रकाशित ग्रन्थ की पाद टिप्पणियों में दिये हुए पाठान्तरों के आधार से इसका पुनः सम्पादन किया जाये। उनका यह मत मुझे ठीक जँचा, क्योंकि कितने ही स्थलों पर मैंने 'द वसुदेव हिंडि : ऐन ऑथेण्टिक जैन वर्जन ऑव द बृहत्कथा' (१९७७) नामक अपनी रचना में इन पाठान्तरों का उपयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जर्मनी में जैन विद्या के अध्ययन को लेकर गुरु-शिष्य परम्परा में एक के बाद एक प्रकाण्ड विद्वान् पैदा होते गये जिन्होंने जैनधर्म, जैन दर्शन और प्राकृत के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। हेल्मुथ फॉन ग्लासेनपफ (१८९१-१९६३) याकोबी के प्रमुख शिष्यों में से थे। लोकप्रिय शैली में उन्होंने जैनधर्म सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। जैनधर्म और कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी उनकी पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी में हुए हैं। उनकी एक पुस्तक का नाम है 'इण्डिया ऐज सीन बाई जर्मेन थिंकर्स' (भारत जर्मन विचारकों की दृष्टि में) है। उन्होंने अनेक बार भारत की यात्रा की। उनकी यात्रा के समय प्रस्तुत लेखक को उनसे भेंट करने का अवसर मिला था।

विशेष उल्लेखनीय है कि आल्सडोर्फ सेवानिवृत्त होने पर भी उसी उत्साह और जोश से शोध कार्य करते रहे जैसे पहले करते थे और विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें पहले जैसी सभी सुविधायें मिलती



रहीं। उन्होंने अनेक शिष्य तैयार किये। इनमें क्लाउस ब्रून, १९६६ से ही बर्लिन के फ्राई विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य कर रहे हैं। इन पंक्तियों के लेखक को बर्लिन में प्रोफेसर ब्रून से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने गीलांक के 'चउप्यन्न महापुरिस-चरिय' का सम्पादन (१९५४) किया है। उनका दूसरा उल्लेखनीय कार्य है आवश्यक का विस्तृत अध्ययन जो 'आवश्यक स्टडीज १' नाम से 'जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का अध्ययन' नामक आल्सडोर्फ अभिनन्दन ग्रन्थ (१९८१) में ३८ पृष्ठों (११-४९) में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने सहयोगी प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी के साथ मिलकर अर्न्स्ट वाल्डशिमत के ८०वें जन्म दिवस पर प्रकाशित उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में 'जैन शब्दाभुक्रमणिका एवं भाष्य शब्दानुक्रमणिका' नामक लेख प्रकाशित किया है (बर्लिन, १९७७)। प्रोफेसर एडेलहाइड मेट्टे आल्सडोर्फ की एक अन्य विदुषी शिष्या हैं जो आजकल म्यूनिच विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या-विभाग में कार्य रही हैं। ओषनिर्युक्ति पर इन्होंने कार्य किया है। समय-समय पर जर्मन पत्रिकाओं में इनके ओषपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। इनका एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध उक्त आल्सडोर्फ अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है जिसमें बृहत्कल्प भाष्य (१. ११५७-११५८) की कथा की बौद्धों के सूसिक जातक से तुलना करते हुए, बृहत्कल्प भाष्य की उक्त गाथाओं की प्राचीनता पर प्रकाश डाला गया है। इन पंक्तियों के लेखक को अपनी म्यूनिच-यात्रा के समय श्रीमती मेट्टे से भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रसंग पर बर्लिन की फ्राई विश्वविद्यालय के प्रोफेसर क्लाउस ब्रून के सहयोगी प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी के नाम का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिन्होंने स्ट्रासबर्ग की लाइब्रेरी में उपलब्ध जैन पांडुलिपियों पर उत्पन्न महत्वपूर्ण शोध कार्य किया है। उनकी यह कैटैलोग ऑव द जैन मैनुस्क्रिप्ट्स ऐट स्ट्रासबर्ग' नामक महत्वपूर्ण कृति भूमिका, परिशिष्ट, प्लेट्स और मानचित्र के साथ लाइडन (हालैण्ड) से १९७५ में प्रकाशित हुई।

जर्मनी के अन्य विद्वानों में पंचतंत्र के सुप्रसिद्ध सम्पादक और प्राकृत जैन साहित्य के विशिष्ट अध्येता तथा 'द लिटरेचर ऑव श्वेताम्बर जैन्स ऑव गुजरात' (१९२२) के लेखक जोआनेस हर्टल (१८७२-१९५५), 'महावीर तथा बुद्ध कालीन भारतीय दर्शन' (१९०२) के लेखक फ्रीडरिख ओटो थ्राडेर, गुड्टिंगन विश्वविद्यालय में बौद्ध एवं जैन विद्या के विद्वान् गुस्ताफ रॉथ, और 'राजा नमि की प्रब्रज्या' (१९७९) के जर्मन भाषान्तरकार, जर्मन गणतन्त्र में हाम्बोल्ट विश्वविद्यालय, बर्लिन में प्राकृत के विद्वान् बोल्फ गांग मौरगेन रॉथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विदेश के अन्य विद्वानों में अमरीका के नार्मन ब्राउन, अर्नेस्ट बेण्डर, चेकोस्लोवाकिया के मौरिस विण्टरनीत्स, स्वीडन के जार्ल शार्पेण्टियर, ब्रेलजियम के द' ल्यू, फ्रांस की मैडम क' या (Caillat) आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। विस्तार भय से इस लेख में उनके एवं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं।



## सोमदेवसूरिकृत-यशस्तिलक चम्पू

में

### प्रतिपादित दार्शनिक मतों की समीक्षा

—जिनेन्द्र कुमार जैन

भारतीय साहित्य के मध्ययुग में पुराण, कथा, चरित, गद्य, पद्य, नाटक, मुक्तक एवं गद्य-पद्य मिश्रित (चम्पूकाव्य) आदि सभी विधाओं में साहित्य-रचना की गई है। इसलिए यह युग साहित्य निर्माण की दृष्टि से स्वर्णयुग माना गया है। इस युग में साहित्य-सृजन की धारा का प्रवाह मुख्य रूप से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषाओं में मिलता है। जैनाचार्यों ने प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा की तरह संस्कृत भाषा में भी विविध विधाओं में जैन काव्य ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें जीवन के विभिन्न अंगों को प्रतिपादित करते हुए तत्कालीन धार्मिक एवं दार्शनिक सामग्री को प्रस्तुत किया गया है।

चम्पूसाहित्य की ओर दृष्टि डालने पर सर्वप्रथम १०वीं शताब्दी के त्रिविक्रमभट्ट (६१५) की कृति 'नलचम्पू' एवं 'मदालसाचम्पू' प्राप्त होती है। और इसी समय से संस्कृत भाषा में जैन चम्पूसाहित्य का श्रीगणेश हुआ, ऐसा माना जाना है। इसके बाद ६५६ ई० में सोमदेवसूरिकृत 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य प्राप्त होता है, जो संस्कृत साहित्य की एक अप्रतिम रचना है। किन्तु इस शताब्दी के बाद संस्कृत साहित्य के जैन चम्पू काव्यों में बाढ़ सी आ गई। जिनमें जीवन्धर, गुरुदेव, दयोदय, महावीर, तीर्थंकर, वर्धमान, पुण्यास्रव, भारत, भरतेश्वराभ्युदय, तथा जैनाचार्यत्रिजया आदि प्रमुख चम्पूकाव्य हैं।

विभिन्न युगों की धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं को साहित्यिक स्वरूप देने की प्रवृत्ति मध्ययुग के कवियों में अधिक देखने को मिलती है। इस दृष्टि से १०वीं शताब्दी में लिखा गया सोमदेवसूरिकृत 'यशस्तिलक चम्पू' महाकाव्य विशेष महत्व का है। प्रस्तुत निबंध में ग्रंथ में प्रतिपादित विभिन्न दार्शनिक मतों की समीक्षा को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

यशोधर का जीवन चरित जैन लेखकों में प्रिय रहा है, इसीलिए सोमदेवसूरि की तरह अपभ्रंश में पुष्पदन्त एवं रङ्गू आदि कवियों ने यशोधर के जीवन चरित को चित्रित करने के लिए 'जसहरचरित' नामक काव्य का प्रणयन किया है।<sup>1</sup> इसी प्रकार उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमाला कहा' में प्रभंजन द्वारा

1. डा० देवेन्द्रकुमार जैन, अपभ्रंशभाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० 257



रचित यशोधरचरित की सूचना दी है। हरिभद्र के प्राकृत ग्रन्थ 'समराइच्चकहा' में भी यशोधर की कथा आयी है।

इसी तरह वादीराज, वासवसेन, वत्सराज, सकलकीर्ति, सोमकीर्ति, श्रुतसागर, पूर्णदेव, विजयकीर्ति, ज्ञानकीर्ति आदि कवियों ने भी यशोधर चरित्र की रचना की है<sup>1</sup> चूँकि कथा का प्रारम्भ स्वाभाविक ढंग से होता है किन्तु कवि का मुख्य उद्देश्य यशोधर के पूर्व-भवों के दुःखों को, जो उसे आटे के मुर्गे की बलि के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत करना था। कवि ने जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धांतों को प्रतिपादित करते हुए वैदिकी-हिंसा का निरसन एवं अन्य भारतीय दर्शनों की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है।

### जैन धर्म एवं दर्शन

सोमदेव जैन थे, अतः उन्होंने यशस्तिलक में जैनधर्म एवं दर्शन की विशद् व्याख्या की और उसे सबसे ऊँचा स्थान दिया है। जैन धर्म विरक्ति-मूलक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसीलिए ग्रन्थ के द्वितीय आश्वास में राजा यशोवर्म को अपने मस्तक के श्वेत बाल को देखने मात्र से ही संसार, शरीर, व भोगों आदि से विरक्ति हो गई। कवि ने इसी प्रसंग में जैन धर्म की बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन करते हुए इन्हें मोक्षप्राप्ति का साधन बताया है।<sup>2</sup> जैन धर्म के मूलभूत 'अहिंसा' नामक सिद्धांत का वर्णन वैदिकी-हिंसा के निरसन के प्रसंग में किया है।

धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है कि—जिन कार्यों के अनुष्ठान से मनुष्य को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसे धर्म कहा जाता है। इस धर्म का स्वरूप प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य का पालन प्रवृत्ति तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय व योग से वचना-निवृत्ति कहलाता है।<sup>3</sup> सच्चा धर्म वही है, जिसमें अधर्म (हिंसा आदि-मिथ्यात्व आदि) नहीं है। सच्चा सुख वही है, जिसमें नरकादि का दुःख नहीं है। सम्यक्ज्ञान वही है, जिसमें अज्ञान नहीं है। तथा सच्ची गति वही है, जहाँ से संसार में पुनरागमन नहीं होता।<sup>4</sup>

आत्मा के स्वरूप को बताते हुए कवि कहता है कि—ज्ञाता, द्रष्टा, महान, सूक्ष्म, कर्ता, भोक्ता, स्वशरीर-प्रमाण तथा स्वभाव से ऊपर गमन करने वाले को आत्मा कहा गया है।<sup>5</sup>

मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है कि राग-द्वेष आदि विकारों का क्षय करके जीव का आत्म-स्वरूप को प्राप्त करना ही मोक्ष कहा गया है<sup>6</sup> सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूप रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण (मार्ग) है। जीव, अजीव आदि पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यक्दर्शन; अज्ञान संदेह व भ्रान्ति से रहित ज्ञान को सम्यक्ज्ञान, तथा ज्ञानावरणादिकर्म बन्ध के कारण (मन, वचन व काय) तथा कषाय रूप पाप क्रियाओं के त्याग को सम्यक्चारित्र्य कहा गया है।<sup>7</sup>

1. जैन, गोकुलचन्द्र—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० 50-53

2. शास्त्री, सुन्दरलाल—यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य (दीपिका) पूर्वाङ्क, पृ० 141

3. वही, 5/5, 6/182

4. वही, 7/22/299

5. वही, 6/76, 77/59

6. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य (दीपिका) 6/116/207

7. वही, 5/7,8,9/183



जैन दर्शन स्याद्वाद सिद्धांत की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ को अनेक धर्मात्मक मानता है। इस सिद्धांत के अनुसार पदार्थ को नित्य व अनित्य दोनों कहा जा सकता है। द्रव्य की दृष्टि से पदार्थ नित्य है। क्योंकि पदार्थ से द्रव्यता का गुण कभी भी अलग नहीं किया जा सकता। वह सभी अवस्थाओं में द्रव्य ही कहलाता है। किन्तु पर्याय की दृष्टि से पदार्थ अनित्य है। क्योंकि पर्याय उत्पाद, स्थिरशील व विनाश-युक्त है। जैसे घड़े का विनाश हो जाने पर भी वह मिट्टी के रूप द्रव्य ही कहा जाता है, उसकी मात्र पर्याय का ही विनाश होता है।<sup>1</sup>

जैन धर्म एवं दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों के विवेचन के साथ-साथ वैदिक दर्शन के पशु-बलि के हिंसात्मक स्वरूप की, चार्वाक दर्शन की 'तत्र मीमांसा एवं प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' की, बौद्ध दर्शन के क्षणिक-वाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद तथा सांख्य दर्शन के प्रकृति तथा पुरुष के सम्बन्ध की समीक्षा की है। इसके अतिरिक्त योग, वैशेषिक, शैव, मीमांसा आदि दर्शनों की समीक्षा प्राप्त होती है। आत्मा के स्वरूप, जीव की मुक्ति एवं सृष्टि कर्ता से सम्बन्धित विभिन्न दर्शनों की मान्यताओं के खण्डन किया गया है।

### वैदिक दर्शन

कवि ने वैदिक दर्शन की मान्यताओं की समीक्षा पशु-बलि के सन्दर्भ में की है। यशोधर जैन धर्म में श्रद्धा रखता है और उसकी माता ब्राह्मण धर्म में। इसीलिए ग्रंथ के चतुर्थ आश्रय में कवि ने माता चन्द्रमति द्वारा वैदिकी-हिंसा का समर्थन, तथा राजा यशोधर द्वारा अनेक जैनतर शास्त्रों के उद्धरणों से जीव-हिंसा व मांस-भक्षण का विरोध प्रस्तुत करवाया गया है। चन्द्रमति माता स्वप्न की शान्ति का उपाय बताती हुई कहती है कि—'कुलदेवता के लिये समस्त प्राणी वर्गों की बलि करने से स्वप्न की शान्ति हो जाती है। क्योंकि कुलदेवता के लिए प्राणियों की बलि का विधान सदा से प्रचलित हुआ, चला आ रहा है। जो लोक प्रसिद्ध है।<sup>2</sup> इस बात की पुष्टि करती हुई यशोधर की माता कहती है कि—'अतिथि सत्कार के लिए (मधुपर्क), श्राद्धकर्म के लिए (पितृकर्म), अश्वमेध आदि यज्ञ के लिए (यागकर्म), तथा रुद्र आदि की पूजा, इन चार कार्यों में जो पशु का घात करता है वह अपनी आत्मा को तथा बलि किये गये पशुओं को उत्तम गति में ले जाता है। ऐसा मनु नाम के ऋषि ने कहा है।<sup>3</sup>

यशोधर उक्त वैदिकी हिंसा का निरसन करते हुए (अहिंसा धर्म की स्थापना) कहता है कि—हे माता, यद्यपि स्वप्न की शान्ति प्राणियों की बलि से हो भी जाये किन्तु प्राणी-हिंसा के कारण यह कार्य कल्याण-कारक नहीं है।<sup>4</sup> निश्चय से प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रिय राजकुमारों का श्रेष्ठ धर्म है। किन्तु वह धर्म प्राणी हिंसा से नष्ट हो जाता है।<sup>5</sup> जिस प्रकार प्राणी अपने शरीर के लिए दुःख नहीं देना चाहते उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी दुःख नहीं देना चाहिए।<sup>6</sup> अथवा जिस तरह सभी प्राणियों के लिए अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार दूसरे (जीवों) को भी अपना जीवन प्यारा है, इसलिए जीव-हिंसा नहीं करनी चाहिए।<sup>7</sup>

1. वही, 6/105/205

3. वही, 4/42, 43/50

5. वही, 4/54/53

7. वही, 7/23/299

2. यशस्तिलक दीपिका, 4/41/50

4. वही, 4/52/53

6. वही, 4/58/54



‘पशु बलि से देवता संतुष्ट होते हैं और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।’ ऐसा वेदों का कथन है, इसलिए कवि वेदों को सुख एवं स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा रचा हुआ मानता है। वह कहता है कि इन्द्रिय-लम्पट एवं भोगों की चित्तवृत्ति के अनुकूल चलने वाले पुरुषों ने अपने विषयों के पोषणार्थ यह वेद रचा है। यदि अश्वमेध यज्ञ आदि में पशुवध करने वालों को स्वर्ग प्राप्त होता है तो वह स्वर्ग कसाइयों को निश्चित रूप से प्राप्त होना चाहिए। इसी तरह यदि यज्ञ में मंत्रोच्चारणपूर्वक होमे गये पशुओं को स्वर्ग प्राप्त होता है ? तो अपने पुत्र आदि कुटुम्ब बर्गों से यज्ञ-विधि क्यों नहीं होती है ?<sup>1</sup>

इसी प्रकार यशोधर आगे कहता है कि—हे माता, यदि प्राणियों का वध करना ही निश्चय से धर्म है तो शिकार की ‘पापार्ध’ नाम से प्रसिद्धि क्यों है और मांस की ‘पिधायआनयन’ (ढक कर लाने लायक) नाम से प्रसिद्धि किस प्रकार से है ? इसी प्रकार मांस पकाने वाले को ‘गृहादवहिर्वास’ (घर से बाहर निवास) एवं मांस को ‘रावण शाक’ क्यों कहा जाता है ? तथा अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, व एकादशी आदि पर्व दिनों में मांस का त्याग किस प्रकार से किया जाता है ?<sup>2</sup>

यशोधर की उक्त बात सुनकर माता चन्द्रमति पौराणिक उद्धरणों द्वारा जीव-बलि का समर्थन करती है। वह कहती है—अपने प्राणों की रक्षार्थ गौतम ऋषि ने बन्दर को, और विश्वामित्र ने कुत्ते को मार डाला था। इसी प्रकार शिवि, दधीच, बलि तथा बाणासुर एवं अन्य पशु-पक्षियों के घात से अपने कर्म की शान्ति की गई है, वैसे ही तुम्हें भी अपने स्वप्न की शान्ति के लिए बलि द्वारा कुलदेवता की पूजा करनी चाहिए।<sup>3</sup> इसका उत्तर देते हुए यशोधर कहता है कि—हे माता, जिस प्रकार मेरा वध होने पर आपको महान दुःख होगा उसी प्रकार दूसरे प्राणियों के वध से उनकी माताओं को अपार दुःख होगा। अतः दूसरे जीवों के जीव से अपनी रक्षा होती है तो पूर्व में उत्पन्न हुए राजा लोग क्यों मर गये ?<sup>4</sup>

वैदिक दर्शन में पूर्वजों की संतुष्टि के लिए श्राद्ध-कर्म का विधान किया गया है। अतः श्राद्ध-कर्म की समीक्षा करते हुए यशोधर कहता है कि—‘ब्राह्मणादि का तर्पण पूर्वजनों को तृप्त करने वाला है।’ यह उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जब पूर्वज पुण्य कर्म करके मनुष्य-जन्मों में अथवा स्वर्गलोकों में प्राप्त हो चुके हैं, तब उन्हें उन श्राद्ध-पिण्डों की कोई भी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए।<sup>5</sup>

**चार्वाक दर्शन**—आत्मा को मात्र जन्म से मरण पर्यन्त मानने वाले जड़वादी या भौतिकवादी (चार्वाक) दर्शन सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य मानता है। इसीलिए यह दर्शन निम्न उक्ति को विशेष महत्व देता है :—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

(यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य, ५/७९)

(अर्थात् जब तक जिओ, तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो। क्योंकि (संसार में) कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है। भस्म हुई शान्त देह का पुनरागमन कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।)

1. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य, (दीपिका, सुन्दरलाल शास्त्री) 4/175, 176/75

2. वही चतुर्थ आश्वास, पृ० 55

3. वही चतुर्थ अःश्वास पृ० 72

4. वही 4/71, 72/74

5. वही 4/97/61

सोमदेव सूरिकृत-यशस्तिलकचम्पू में प्रतिपादित दार्शनिक मतों की समीक्षा : जिनेन्द्रकुमार जैन | १२५



चार्वाक दर्शन आत्मा को जन्म से मरण पर्यन्त ही मानता है। तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा का भी अभाव (नाश) हो जाता है, इसीलिए यह दर्शन पुनर्जन्म तथा मोक्ष आदि को स्वीकार नहीं करता। इस सम्बन्ध में उसकी मान्यता है कि—'यदि आत्मा आदि का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से सिद्ध होता तो उसके गुणों आदि पर भी विचार किया जाता, किन्तु जब परलोक में गमन करने वाले आत्म द्रव्य का अभाव है और प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होने के कारण परलोक का भी अभाव है। तब मुक्ति किसे होगी? कवि ने 'तदहर्जस्तनेहातो,' 'रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः' कहकर जीव को सनातन (शाश्वत) मानते हुए चार्वाक मत के इस सिद्धान्त का खंडन किया है।<sup>1</sup> क्योंकि उसी दिन उत्पन्न हुआ वच्चा पूर्वजन्म सम्बन्धी संस्कार से माता के स्तनों के दूध को पीने में प्रवृत्ति करता है (तदहर्जस्तनेहातो)। इसलिए इस युक्ति से आत्मा तथा उसका पूर्वजन्म सिद्ध होता है? इसी प्रकार 'रक्षोदृष्टेः' अर्थात् कोई मर कर राक्षस होता हुआ देखा जाता है तथा 'भवस्मृतेः'—किसी को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है। अतः इन युक्तियों से चार्वाक दर्शन का उक्त मत खण्डित होता है।

चार्वाक दर्शन के केवल 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण' की भी कवि ने समीक्षा करते हुए कहा है—यदि आप केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हो तो आपके माता-पिता के विवाह आदि की सत्ता कैसे सिद्ध होगी? अथवा तुम्हारे वंश में उत्पन्न हुए अदृश्य-पूर्वजों की सत्ता कैसे सिद्ध होगी? उनकी सिद्धि के लिए यदि आगम-प्रमाण मानते हो तो 'मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' का आपका यह सिद्धान्त खण्डित होता है।<sup>2</sup>

चार्वाक दर्शन जगत में जीव की उत्पत्ति भूतचतुष्टय से मानता है। किन्तु निश्चय से जीव भूतात्मक (पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु रूप-जड़) नहीं है। क्योंकि इसमें अचेतन (जड़) पृथ्वी आदि भूतों की अपेक्षा विरुद्ध गुण (चैतन्य-बुद्धि) का संसर्ग पाया जाता है। आत्मा के नष्ट हो जाने पर भूत भी नष्ट हो जायेंगे परन्तु (आत्मा) सत् का नाश नहीं होता। यदि आप विरुद्ध गुण (चेतन गुण) के संसर्ग होने पर भी जीव को भूतात्मक (जड़) मानोगे तो आपके पृथ्वी आदि चारों तत्वों की सिद्धि नहीं होगी।<sup>3</sup>

बौद्ध-दर्शन—जगत को क्षणविध्वंसी मानने वाले बौद्ध-अनुयायी आत्म तत्व की पृथक सत्ता स्वीकार नहीं करते। वह संसार की प्रत्येक वस्तु को अनित्य व क्षणिक मानता है। उसके अनुसार जगत में शाश्वत कुछ भी नहीं है, सब कुछ नश्वर है। इस कथन की पष्टि हेतु बौद्ध मतानुयायी कहते हैं कि जो मरे हुए प्राणी का जन्म देखते हैं और जो ऐसे धर्म को देखते हैं जिसका फल प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है तथा जो शरीर से पृथक आत्मा को देखते हैं वे मूढमति वाले हैं। अर्थात् पुनर्जन्म तथा धर्म एवं शरीर से भिन्न आत्मा की मान्यता मात्र भ्रामक है।<sup>4</sup> यदि बुद्ध की यह मान्यता है कि शरीर के नष्ट होते ही आत्म द्रव्य भी नष्ट हो जाता है किन्तु जिस प्रकार कस्तूरी के समाप्त हो जाने पर भी उसकी गन्ध बनी रहती है, उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है।<sup>5</sup>

बौद्ध दर्शन में जगत को शून्य माना गया है, अर्थात् मात्र शून्य का ही अस्तित्व है। इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि : जब आपने ऐसी प्रतिज्ञा की है कि 'मैं प्रमाण से शून्य तत्व को सिद्ध कर सकता हूँ' तब आपका उक्त सर्व शून्यवाद सिद्धान्त कहाँ रहता है।<sup>6</sup> चूँकि 'मैं' प्रतिज्ञापूर्वक

1. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य (दीपिका) उत्तरार्द्ध पृ० 185

2. वही, 6/32/190 एवं 5/113/163

3. वही, उत्तरार्द्ध, पृ० 274

4. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य (दीपिका) 5/119/164

5. वही, 5/78/156

6. वही, 5/110/162

7. वही, 6/54/191



शून्य तत्व को सिद्ध करेगा इसलिए 'मैं' की सत्ता स्वयं सिद्ध ही है। इसलिए बौद्ध दर्शन की स्वयं की उक्ति से ही उनका शून्यत्ववाद खण्डित हो जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'वही मैं हूँ, वही (पूर्व दृष्ट) पात्र हूँ तथा वही वाताओं के गृह हूँ' इस प्रकार के वाक्य से भी उनका शून्यवाद समाप्त हो जाता है। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद का समर्थक है। एक ओर तो वह वस्तु को क्षणिक मानता है, और दूसरी ओर कहता है कि 'जो मैं बाल्यावस्था में था, वही मैं युवावस्था में हूँ' इस प्रकार के एकत्व मानने से बौद्ध दर्शन का यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।<sup>1</sup>

इसी प्रकार मुक्ति के विषय में कवि कहता है कि जब बौद्धदर्शन वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील मानता है तब बन्ध व मोक्ष का सर्वथा अभाव हो जायेगा।<sup>2</sup> क्योंकि जिस प्रथम क्षण में आत्मा का कर्म बन्ध होता है, दूसरे ही क्षण उस आत्मा का विनाश हो जायेगा। ऐसी स्थिति में मुक्ति किसकी होगी? इस दृष्टि से उनका यह मानना कि सर्व क्षणिक-क्षणिके, दुख-दुखं, स्वलक्षण-स्वलक्षण एवं शून्य-शून्य रूप चतुष्टय भावना से मुक्ति होती है—युक्तियुक्त नहीं है।<sup>3</sup>

सांख्य दर्शन—सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा गया है तथा जगत को प्रकृति शब्द से अभिहित किया गया है। उसके अनुसार यह आत्मा अकर्ता, निर्गुण, शुद्ध, नित्य, सर्वभूत, निष्क्रिय, अस्मृतिक, चेतन तथा भोक्ता है।<sup>4</sup> इसी तरह प्रकृति को जड़, अचेतन, एक, सक्रिय तथा त्रिगुणातीत कहा गया है। यहाँ कवि आपत्ति करता है कि यदि बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि प्रकृति के धर्म हैं तो आत्म तत्व की मान्यता का क्या प्रयोजन? चूँकि आत्मा चेतन है, इसलिए बन्ध, मोक्ष, सुख आदि आत्मा के धर्म होने चाहिए, न कि जड़ रूप प्रकृति के।<sup>5</sup> इसी प्रकार यदि प्रकृति को सक्रिय एवं पुरुष को निष्क्रिय मानते हो तो वह भोक्ता कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता और जब आप आत्मा (पुरुष) को शुद्ध व निर्गुण मानते हो तो वह शरीर के साथ संयोग (सम्बन्ध) रखने वाला कैसे हो सकता है<sup>6</sup> और जो (प्रकृति) जड़ रूप है वह सक्रिय एवं जो (पुरुष) चेतन है वह निष्क्रिय कैसे हो सकता है।<sup>7</sup>

मुक्ति के विषय में सांख्य दर्शन की मान्यता है कि : समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों को शान्त करने वाला प्रकृति, बुद्धि, मन, व अहंकार का विरह (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाने से पुरुष (आत्मा) का अपने चैतन्य रूप में स्थित होना ही मुक्ति है।<sup>8</sup> इस मान्यता का खण्डन करते हुए कवि कहता है कि—जब प्रकृति तथा पुरुष नित्य व व्यापक (समस्त स्मृतिमान पदार्थों के साथ संयोग रखने वाले) हैं तब उन दोनों का विरह (सम्बन्ध-विच्छेद) कैसे हो सकता है।<sup>9</sup> क्योंकि नित्य व व्यापक पदार्थों का किसी काल व किसी देश में विरह नहीं हो सकता। इसी तरह यदि आप पुरुष को नित्य<sup>10</sup> मानते हो तो उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, फलस्वरूप कर्म-ब्रह्म आत्मा सदैव कर्म-ब्रह्म ही रहेगा। तथा आत्मा का कर्मों से बन्ध ही नहीं होगा। चूँकि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य व पर्याय की दृष्टि से अनित्य होती है इसलिए पुरुष को मात्र नित्य मानना युक्ति-संगत नहीं है।

1. वही, 8/126/409

3. वही उत्तरार्द्ध पृ० 184

5. वही 5/85/157

7. वही 8/121/407

9. वही 6/28/189

2. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्यं (दीपिका) 6/106/205

4. वही 5/62/152

6. वही 5/86, 87/158

8. वही (उत्तरार्द्ध) पृ० 187

10. वही 6/106/205





अन्य धर्म एवं दर्शनों की समीक्षा

कवि ने अपने ग्रंथ में भारतीय दर्शनों की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अन्य दर्शनों पर भी विभिन्न प्रमाणों सहित अपनी लेखनी चलायी है। वैशेषिक दर्शन की मोक्ष विषयक मान्यता के विषय में कहा गया है कि : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सात पदार्थों का सहस्र धर्म व वैधर्म्य मूलक शास्त्र सम्बन्धी तत्व ज्ञान से मोक्ष होता है।<sup>1</sup> जिस प्रकार भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर-फल नहीं पक जाते बल्कि प्रयत्नपूर्वक पकते हैं उसी प्रकार मात्र तत्वों के श्रद्धान से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती, इसके लिए सम्यक् चारित्र्य रूप प्रयत्न साध्य है।<sup>2</sup>

समस्त पीने योग्य, न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य, पदार्थों के खाने-पीने में निःशंकित चित्तवृत्तिपूर्वक प्रवृत्ति करने से कोलमतानुसार मुक्ति-प्राप्त होती है<sup>3</sup> यदि उक्त कथन सत्य मान लिया जाये तो ठगों को व वधियों को सबसे पहले मुक्ति होनी चाहिए, कौलमार्ग के अनुयायियों की बाद में। क्योंकि ठग व वधियक लोग कौलाचार्य की अपेक्षा पाप प्रवृत्ति में विशेष निडर होते हैं।<sup>4</sup>

इसी तरह कवि ने हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं की ईश्वरीय मान्यता को मिथ्या बताते हुए कहा है कि—ब्रह्मा, विष्णु, महेश व सूर्य आदि देवता राग-द्वेष आदि दोषों से युक्त होने के कारण आप्त (ईश्वर) नहीं कहे जा सकते। क्योंकि ब्रह्मा तिलात्मा में, विष्णु लक्ष्मी में, तथा महेश पार्वती में आसक्त रहते हैं। जो राग-द्वेष का कारण है।<sup>5</sup> सूर्य की पूजा-निमित्त जल चढ़ाना, ग्रहण के समय तालाब व समुद्र में धर्म समझकर स्नान करना, वृक्ष, पर्वत, गाय तथा पर धर्म के शास्त्रों की पूजा करना आदि लोक में प्रचलित अंधविश्वासों को कवि ने मिथ्या धारणायें बताया है तथा जिनके पालन का भी निषेध किया गया है।<sup>6</sup>

गद्यचिंतामणि, धर्मपरीक्षा, चन्द्रप्रभचरितं, शान्तिनाथ चरित, नीतिवाक्यामृतं, सुभाषितरत्न-संदोह, धर्मशर्माभ्युदय, तिलकमंजरी आदि समकालीन प्रतिनिधि जैन संस्कृत ग्रंथ हैं जिनमें जैनधर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए परमत खण्डन की परम्परा देखने को मिलती है। इस प्रकार कवि ने प्रस्तुत ग्रंथ में विभिन्न धार्मिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है तथा विभिन्न प्रमाणों सहित अन्य दर्शन की मान्यताओं का खण्डन करते हुए सच्चे धर्म तथा सदाचार के पथ को प्रशस्त किया है।

॥ • ॥

1. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य (दीपिका), उत्तराढ़ पृ० 183
3. वही उत्तराढ़ पृ० 184
5. वही 6/63, 65/197, 198

2. वही 6/20/188
4. वही (उत्तराढ़) पृ० 189
6. वही 6/139, 142/211

१८८ | चतुर्थ खण्ड : जैन दर्शन, इतिहास और साहित्य



पंचम खण्ड

सांस्कृतिक-सम्पदा



## धर्म और जीवन मूल्य

— डा. महेंद्र भानावत

धर्म को लेकर कई परिभाषायें हो गई हैं। यह शब्द इतना सुविधावादी भी बना दिया गया है कि इसमें सभी सम्भावनाओं का समावेश हो जाता है। वैसे हमारा देश ही धर्मप्रधान है। जितने धार्मिक सम्प्रदाय यहाँ हैं उतने शायद ही कहीं देखने को मिलें। सभी सम्प्रदायों के धर्म के न्यारे-न्यारे रूप मिलेंगे। साधु सन्तों, मन्दिर-मठों तथा विभिन्न पंथ-पंथायतियों एवं समाजों में यह धर्म खूब पतपा, फँला और पसरा है।

गीता में श्रीकृष्ण जी कह गये—जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब मैं जन्म धारण करता हूँ। कोई तीन हजार बरस होने को आये, कृष्ण महाराज ने जन्म धारण नहीं किया। धर्म की हानि हो जब न! और मेरे पड़ोसी कई बरसों से कह-कहकर मेरा कान पका रहे हैं कि इस देश से जैसे धर्म ही गायब हो गया। जहाँ जाता है वहीं धर्म की जुदा-जुदा बातें सुनने को मिलती हैं। जनधर्म तो वही प्रबल है जिसमें अधिकाधिक जीवन-मूल्य हों।

एक सज्जन ने तो मुझे आताल-पाताल का नक्शा ही खींच दिया और कहा—धर्म की जड़ पाताल में। मैंने उनसे कहा कि जड़ महत्त्वपूर्ण है या ऊपरी डाल पत्ते? पाताल की जड़ देखने से क्या होगा? उसे आपने जीवन से सींचो तब काम चलेगा। ब्याह-शादी में विदाई जब लड़की को दी जाती है तब औरतें लड़की को सीख देती हुई गाती हैं—धर्म तुम्हारा ए नार, पति की सेवा करना। इस गीत में पति को नहलाने, खिलाने-पिलाने तथा पोढ़ाने आदि का बड़ा सुन्दर चित्रण है। आज तो यह सब फिफटी-फिफटी हो गया है। जब से देश आजाद हुआ है, पत्नियाँ भी उसी तरह आजाद हो गई हैं, वे भी अब उसी तरह से नहाना-धोना, खाना-पीना, सोना-बिछौना मांगती हैं। यह भी एक धर्म है। सर्व धर्म सम्मेलन होने लग गये हैं अब तो। राजा हरिश्चन्द्र सत्य धर्म दे गये। सत्य के खातिर वे बिक गये और नारियाँ सत के कारण सती बन बैठीं। अकेले चित्तौड़ में ऐसे सत्रह जौहर हो गये। सती औरतों को अपने आप सत चढ़ता। वे अपने सत के प्रताप से, मंत्र-बल से आग उपातीं और सती हो जातीं। ये महासतियाँ कहलातीं। वे सतियाँ तो कई हुईं जो चिता को चढ़ गईं। तब यही उनका धर्म था। महावीर भगवान ने अहिंसा धर्म दिया और कहा—अहिंसा परमोधर्मः। अहिंसा की बड़ी सूक्ष्म परिभाषा दी। ऐसी परिभाषा अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी, हिंसा न मन से, न वचन से और न काया से स्वयं करना ही, अपितु

धर्म और जीवन मूल्य : डॉ० महेंद्र भानावत | १८६



अन्यों से करवाना भी नहीं और न किसी द्वारा हिंसा करते हुए का अनुमोदन ही करना। पर हिंसा-अहिंसा की सुविधावादी लोगों ने अपने ढंग से अपने मन भाती परिभाषें बनाली हैं। इसके लिए उनका तर्क है कि जमाने के अनुसार यह सब करना पड़ता है, इसलिए धर्म की कसौटी भी बदलती नजर आ रही है।

यह सब हुआ इसीलिए धर्म शब्द के कई रूप बदलाव आये। देखिये धर्म शब्द किन-किन अच्छे-बुरे शब्दों की खोल के साथ जा लगा— धर्म ध्वके, धर्म ध्वजा, धर्म चक्र, धर्म ध्यान, धर्म संघ, धर्मन्ध, धर्म कर्म आदि-आदि।

पर सर्वश्रेष्ठ धर्म दूसरों की भलाई का कहा गया है। यही सर्वमान्य और शाश्वत धर्म है। इसमें कोई जात-पात आड़े नहीं आती। कोई वर्ग सम्प्रदाय का झमेला भी नहीं। सचमुच में यही सरस धर्म है। इसमें व्यक्ति जहाँ अन्य को सरसता देता है वहाँ स्वयं भी सरस बनता है। प्रकृति तो परमार्थ के लिए ही है। पहाड़, वृक्ष, नदी-नाले सबके सब परहित के लिए हैं। वृक्ष छाया देते हैं, फल फूल देते हैं, कड़्यों के आजीविका के स्रोत हैं, कड़्यों का इन्हीं से जीवन बसर होता है। बदले में क्या लेते हैं ये? कई वृक्ष से बड़े पवित्र माने गये हैं जिनके बिना हमारा काम नहीं चलता। देवी-देवताओं के निवास स्थान होते हैं वृक्ष। बुद्ध को बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ, वे ईश्वर बन गये।

यही स्थिति नदियों की है। वे पानी देती हैं और भी बहुत कुछ देती हैं। बड़े-बड़े बांध बन गये हैं तो उनसे बिजली पैदा होती है। बिजली का उपयोग बताने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार पहाड़ों की, घाटियों की स्थिति है, सारी प्रकृति परोपकारी है, परमार्थी है, जो प्रकृति का परम धर्म है वही पुरुष का धर्म है।

जगत में जो-जो लोग परहित धर्म में लगे हुए हैं वे बड़े सुखी, शांत मन मिजाज वाले और संतोषी हैं। कोई विकलांगों की सेवा के लिए समर्पित है तो कोई गौ सेवा में अपना जीवन खपा रहा है। कोई प्रतिदिन चींटियों के बिलों के पास जाकर उन्हें खाना दे रहा है तो कोई बीमारों की देखभाल के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है। ऐसे जितने भी लोग हैं उन्होंने अपने स्वहित को कभी प्राथमिकता नहीं दी इसीलिए उनका कुटुम्ब बहुत विस्तार लिए है। हमारे यहाँ तो यह उदारता रही है कि हमने सारी वसुधा को अपना कुटुम्ब-परिवार मानते हुए— वसुधैव कुटुम्बकम् का जयघोष दिया है।

जैनियों का तो यह मत ही उनके जीवन धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग और आचरण बन गया है। वे प्रतिवर्ष भाद्र माह में, पर्युषण पर्व मनाते हैं त्याग तपस्या का और आखरी दिन क्षमायाचना के रूप में क्षमापर्व मनाते हुए समस्त सृष्टि के चौरासी लाख जीव योनि से क्षमायाचना करते हैं— जान-अनजान में, प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से किसी से भी मन से वचन से किंवा काया से कोई अपराध हुआ हो उसके लिए वे क्षमा की याचना करते हैं और आत्म-शुद्धि करते हैं। आत्म-शुद्धि का यह धर्म कितना उच्च परहित सरस धर्म हैं। वे कहते हैं—

खामेमि सब्बे जीवा, सब्बे जीवा खमन्तु मे ।  
मिति मे सब्ब भूएसु, वैर मज्जं न केणई ।

मैं सब जीवों से क्षमा चाहता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरी सब जीवों से मैत्री है, किसी से मेरा वैरभाव नहीं है, यही सच्चा परमार्थ धर्म है।

१६० | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



युग कैसा ही हो, उसमें कैसे ही बदलाव आते रहें पर हमारे जो शाश्वत जीवन मूल्य हैं उनमें कभी कोई बदलाव नहीं आने का है। इन मूल्यों में सर्वोपरि मूल्य परहित धर्म का है। यही जीवन-धर्म, समाज-धर्म और देश-राष्ट्रधर्म है जिसकी अनिवार्यता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है।

धर्म में हमने प्रकृति और पुरुष का, जलचर नभचर और थलचर किसी प्राणी का कोई भेद नहीं किया है। लोककथाएँ, सारी धर्मकथाएँ, व्रतकथाएँ इस जीवन-धर्म से ओत-प्रोत हैं। हर कथा के अच्छे-दुरे पक्ष हैं पर अंत में सभी देवी-देवताओं से यही कामना की जाती है कि जैसा अच्छी करणी का अच्छा फल हुआ वैसा ही फल हमें भी मिले और कभी भी हम बुरी करणी की ओर प्रवृत्त न हों।

आज का युग अर्थप्रधान है। अर्थ के बिना जैसे सब कुछ अनर्थ है। अर्थ की यह होड़ा-होड़ी विश्वव्यापी है। सारी की सारी भौतिक समृद्धि—सुविधा इसी अर्थ की मूल भित्ति पर टिकी हुई है। धर्म ने इस अर्थकारी पहलू के साथ भी अपना समन्वय दिया है। एक कहानी है—‘धर्म करने से धन बढ़ता है’ इस कहानी में एक परिवार के सदस्यों का धर्म-अधर्म पक्ष उद्घाटित हुआ है जिसके सुफल-कुफल देखिये। कहानी है—

सेठ-सेठानी। भरा-पूरा घर। सात पुत्र और उनकी बधुएँ। सेठ सेठानी बड़े धर्मात्मा। प्रतिदिन पीपल पूजते, व्रत करते, कहानी कहते और आंवला भर सोना दान करके ही अन्न-जल मुँह में लेते।

सबसे छोटे लड़के की बहू पड़ोसिन के वहाँ आग लेने गई तब पड़ोसिन ने उसके कान भरे कि तुम्हारे पास ससुर प्रतिदिन सोना दान करते हैं। ऐसे करते-करते तो सारा घर खाली हो जायेगा, बूद-बूद करते तो समुद्र भी खाली हो जाता है फिर तुम्हारे पास क्या रहेगा? बहू बोली—मैं क्या करूँ, यह बात तो उनके पुत्र अर्थात् मेरे पति को सोचने की है। पड़ोसिन बोली—यदि पति नहीं सोचे तो फिर पत्नी तो सोचे। बहू ने कहा—कल ही देखना।

दूसरे दिन सेठ-सेठानी नहा धोकर तैयार हुए। इतने में उनकी नजर ओवरे पर पड़ी जिसके एक बड़ा सा ताला लगा हुआ था। पूछा-ताछी हुई। छः बहुओं ने तो मना कर दिया तब सातवीं ने कहा—ताला मैंने लगाया है, आप तो सारा धन-माल लुटाने बैठे हैं, पीछे से हमारा क्या होगा? सेठजी बोले—बेटी! धरम करने से तो धन बढ़ता है।

सेठ-सेठानी ने सोचा कि अपने धर्म करने से बहू नाराज होती है अतः इस घर को ही छोड़ देना चाहिये। यह सोच, दोनों निकल गये। तेज गर्मी, जंगल में आंवला के नीचे सो गये। सेठजी को नींद आ गई। इतने में आंधी चली। आंवले गिरे कि गिरते ही सोने के हो जाते। सेठानी ने सेठजी को जगाया और कहा कि धरमराज तो यहाँ भी तूठमान हुए हैं। छोटकी बहू में अबकल नहीं थी सो ओवरे के ताला लगा दिया। आंवलों से उन्होंने अपना कोथला भरा और आगे चले।

चलते-चलते एक गांव आया जहाँ एक मकान किराये पर लिया। स्नान ध्यान किया, व्रत कथा कही और एक ब्राह्मण को बुलाया—आंवला भर सोना दान किया और फिर अन्न-जल लिया। उधर सेठ सेठानी के सभी पुत्र कंगाल हो गये। न खाने को अन्न रहा, न पहनने को वस्त्र।

सेठ-सेठानी ने तालाब बनवाने की सोची। गांव-गांव एलान कराया, सभी पुत्र और उनकी बहूएँ वहाँ मजदूरी करने आईं। सेठ-सेठानी को इस बात का पता चल गया कि उनके पुत्रों की स्थिति कण-कण की

धर्म और जीवन-मूल्य : डॉ० महेन्द्र भानावत | १६१



हो गई है। उन्होंने अपने यहां एक टोकर बांधी की धर्मराज के प्रताप से अन्य मजदूर आये तब तो वह नहीं बजे और उनके घर के पुत्र और बहुएँ आये तो बजे। यही हुआ पर वे सेठ-सेठानी को नहीं जान सके।

तालाब बन गया तब सेठ-सेठानी ने उत्सव किया। पांच पकवान बनाये। पढ़े-लिखे ब्राह्मण बुलाये। इसमें सबसे बड़े पुत्र को मुनीमी का काम दिया। दूसरों को सामान उठाने और देखभाल करने का। सबसे छोटी बहू को जीमने के बाद सफाई का काम दिया। सब लोग जीम-चूट कर घर गये तब मजदूरों के जीमने की बारी आई। सबसे छोटी बहू मजदूरिन को उल्टी बाज परोसी और पांच पकवान की जगह नमक की डली, खोटा तांबा का टक्का और नीम का पत्ता रखा, यह देख अन्य मजदूरनी महिलाएँ उठ खड़ी हुई कि हमारी पंगत में यह पराई जात की कौन आ गई ?

सेठ-सेठानी ने सबके हाथ जोड़े और कहा—सब प्रेम से जीमो। यह कोई पराई जात की नहीं है। हमारी सबसे छोटी बहू है जो पड़ोसिन के कहने में आ गई और ओवरे के ताला लगा दिया तथा हमें धरम-पुण्य नहीं करने दिया तो हम दोनों घर से ही निकल गये। यह नीम जैसी कड़वी, नमक जैसी खारी और छोटे पैसे जैसी खोटी है।

यह सुनते ही छोटी बहू जोर-जोर से रोने लग गई। अपनी गलती का एहसास कर वह सबके सामने अपने सास-ससुर के पांव पड़ी। उसके देखादेख अन्य बहुएँ और उनके पति भी उनके पांव पड़े और सब हिल-मिलकर रहने लगे।

यह सब परहित धर्म का पुण्य-प्रताप था। धर्मराज ने बता दिया कि जो स्वयं तो धर्म-कर्म करते नहीं पर जो करते हैं उनके आड़े आते हैं, उनकी क्या गति-मति होती है।

अपना हितधर्म तो सभी सोचते-करते हैं पर बलिहारी तो उनकी है जो परहित में अपना धर्म मानते हैं और उसी में जीवन को सरस सार्थक करते हैं।



## अहिंसा : वर्तमान सन्दर्भ में

—श्री मदन मुनि 'पथिक'

सन्दर्भ वर्तमान का है, किन्तु यह जान लेने योग्य बात है कि अहिंसा का महत्व आजीवन है। भूतकाल हो, वर्तमान काल हो अथवा भविष्य। क्योंकि अहिंसा और जीवन एक ही है। इन्हें पर्यायवाची माना जाना चाहिए। स्पष्ट है कि जहाँ हिंसा है वहाँ जीवन नहीं है। हिंसा तथा जीवन तो स्वतः विरोधी हैं—दो भिन्न ध्रुव। यह बताने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है कि हिंसा है तो फिर जीवन नहीं। और यदि जीवन है, जीवन को होना है, तो फिर अहिंसा तो अनिवार्य स्थिति ही हुई जीवन की।

इस अकाट्य तथ्य की धारणा के पश्चात् हम अहिंसा के महत्व का विचार करें, विशेष रूप से आधुनिक सन्दर्भ में।

अहिंसा जैन धर्म तथा दर्शन का आधारभूत लक्षण अथवा स्तम्भ है। यह वह नींव है, जिस पर जैन दर्शन का भव्य एवं अद्वितीय प्रासाद स्थित है—वह प्रासाद, जहाँ सुख है, शान्ति है—ऐसा शाश्वत सुख तथा ऐसी शाश्वत शान्ति जिसका फिर कभी कहीं भंग नहीं है।

और ऐसी स्थिति किसी अन्य धर्म में नहीं है। संसार में अनेक धर्म पहले भी थे, अब भी हैं, आगे भी होंगे। किन्तु केवल जैन धर्म ही है जो अकाट्य रूप से अनादि है। वर्तमान में विश्व के प्रमुख धर्म हैं—हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म। इनमें से इस्लाम, ईसाई तथा बौद्ध धर्म तो पिछले दो-अठ्ठाई हजार वर्ष से ही अस्तित्व में आए हैं, यह सारे संसार को विदित है। शेष रहे हिन्दू तथा जैन धर्म। इन दोनों के अनुयायी अपने अपने धर्म को अनादिकालीन होने का दावा करते हैं किन्तु खोज करने पर प्रकट होता है कि वेदों और भागवत आदि ग्रन्थों में, जोकि हिन्दू धर्मशास्त्रों में अधिक से अधिक प्राचीन माने गए हैं, जैनों के वर्तमान तीर्थंकर चौबोसी के पहले तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। इससे सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि इन दोनों धर्मों में भी जैन धर्म ही अधिक प्राचीन है। ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध इस बात को अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान महावीर ने किसी नए तत्त्वदर्शन का प्रतिपादन अथवा प्रचार नहीं किया है। भगवान पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान से उनका कोई मतभेद नहीं है किन्तु जैन अनुश्रुति उससे भी आगे जाती है। उसके अनुसार श्रीकृष्ण के समकालीन भगवान अरिष्टनेमि की परम्परा को ही भगवान पार्श्वनाथ ने ग्रहण किया था। और स्वयं अरिष्टनेमि ने प्रागैतिहासिक काल में होने वाले नमिनाथ से। इस प्रकार यह अनुश्रुति भगवान ऋषभदेव, जो कि भरत चक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती

अहिंसा : वर्तमान सन्दर्भ में : मदन मुनि 'पथिक' | १६३





है। इसके अनुसार तो वर्तमान वेद से लेकर उपनिषद् पर्यन्त सम्पूर्ण साहित्य का मूल स्रोत ऋषभदेव द्वारा प्रणीत जैन तत्त्व विचार ही है।\*

प्रस्तुत निबन्ध में हमें जैन तत्त्वविचार के अहिंसा पक्ष पर ही विशेष रूप से विचार करना है। अन्यथा इस तत्त्वविचार की श्रेष्ठता के विषय में तो यदि एक-एक बिन्दु पर भी लिखा जाय तो एक-एक महाग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। हमने जैन दर्शन की अनादिकालीनता के विषय में संकेत किया तो वह मात्र इसी दृष्टि से कि हम इस दर्शन की श्रेष्ठता को पहले हृदयंगम करें और तत्पश्चात् अहिंसा, जो कि जैन धर्म का आधार है, के महत्त्व को पूरी तरह से समझ सकें।

तो आइये, अब हम अहिंसा पर कुछ विचार करें।

### अहिंसा का महत्त्व—अनिवार्यता एवं उपादेयता

विश्व इतिहास को उठाकर देखिए, आप पायेंगे कि धर्म के नाम पर धार्मिक असहिष्णुता के कारण जितनी हिंसा हुई है, असमर्थ लोगों पर जितने अत्याचार हुए हैं उतने किसी अन्य कारण से नहीं। कितने खेद का विषय है कि धर्म मनुष्य को आन्तरिक शक्ति, आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करता है, किन्तु उसी का दुरुपयोग करके बौद्धिक हिंसा का आश्रय लेकर, मनुष्य ने स्वयं अपना तथा समस्त मानव जाति का घोर अकल्याण किया है। ऐसी धार्मिक असहिष्णुता के कारण भीषण हिंसक कृत्य न केवल हमारे ही देश में, बल्कि समस्त विश्व में होते रहे हैं। इसके स्थान पर यदि मानव ने अहिंसा की उपादेयता को समझा होता तो ये भीषण हिंसक कृत्य न हुए होते और मनुष्य बड़ा सुखी होता।

जैन दर्शन में अहिंसा सर्वोपरि है। हम उसे जैन दर्शन का, जीवन का पर्यायवाची ही कह सकते हैं, यह बात हमने प्रारम्भ में भी कही थी और उसे पुनः दुहराते हैं। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि जो तीर्थंकर पूर्व में हुए, वर्तमान में हैं, तथा भविष्य में होंगे, उन सबने अहिंसा का प्रतिपादन किया है। अहिंसा ही ध्रुव तथा शाश्वत धर्म है। स्वार्थी लोग जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सम्बन्ध में लोगों ने भ्रम उत्पन्न करते हैं, उसे अव्यवहार्य बताते हैं, कहते हैं कि यह तो मात्र वैयक्तिक बात है, अतः सामाजिक एवं राजकीय प्रश्नों के लिए अनुपयोगी है। किन्तु सच्चाई यह है कि ऐसा कहने वाले लोगों में जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का पूर्ण अध्ययन किया ही नहीं है, उसे समझा ही नहीं है। यदि वे अहिंसा के अर्थ को, उसके महत्त्व को हृदयंगम कर पाते, यह समझ सकते कि मन—वचन—काया से मनुष्य को हिंसा से दूर रहना चाहिए तो आज संसार की ऐसी दयनीय स्थिति न होती, विश्व विनाश के कगार पर जा खड़ा न होता।

हमारे देश के जीवन में अहिंसा की जो छाप दिखाई देती है वह जैन दर्शन की ही देन है। सामूहिक प्रश्नों के निराकरण हेतु अहिंसा का प्रयोग हमारे देश में बहुत सफल रहा है और समस्त विश्व के लिए पथ-प्रदर्शन करने वाला है। कौन नहीं जानता कि महात्मा गांधी ने एक ऐसी महाशक्ति के विरुद्ध लड़ाई लड़ी थी जिसके साम्राज्य में कभी सूर्यास्त ही नहीं होता था और उस लड़ाई में विजय किसकी हुई? हमारी—हमारी “अहिंसा” की।

\* न्यायावतार वार्तिकवृत्ति (प्रस्तावना)

१६४ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



किन्तु गाँधी चले गये और संसार फिर से अहिंसा के महत्त्व को भूलने लगा है। परिणाम हमारे सामने दिखाई देने लगे हैं। विश्व के स्वार्थी, अदूरदर्शी, अधर्मी राजनेता समस्याओं के निराकरण हेतु मिल-बैठकर अहिंसक भाव से प्रश्नों को हल करने के स्थान पर हिंसक वातावरण का सृजन कर रहे हैं तथा अशान्ति और सर्वनाश को आमंत्रित कर रहे हैं। इस विकट वेला में जैन दर्शन की "अहिंसा" ही मानवता का त्राण करने में समर्थ हो सकती है। अन्य कोई उपाय नहीं है।

### अहिंसा क्या है

मन-वचन-काया, इन त्रिविध योगों से किसी को भी त्रिकरणपूर्वक कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा का वास्तविक लक्षण है। कुछ लोग प्राणों के अव्यपरोपण अर्थात् अनतिपात को ही अहिंसा कहते हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, सांगोपांग मनन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि केवल प्राण अव्यपरोपण को ही अहिंसा नहीं कहते हैं, प्रत्युत प्राणियों को किंचित् मात्र भी किलामना नहीं पहुँचाना ही अहिंसा है।

प्रतिपक्ष कितना भी शक्तिशाली हो, उसके प्रतिकार का सर्वोत्तम साधन अहिंसा ही है। अन्य किसी शस्त्र की आवश्यकता ही नहीं, अहिंसा का अमोघ अस्त्र विजय प्रदान करने वाला है, अन्तिम विजय, आन्तरिक आत्म-विजय।

हिंसा से होता क्या है? हिंसा से हिंसा ही बढ़ती है। हिंसा प्राणों को चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण कराती रहती है जबकि अहिंसा उसे मुक्ति के पथ पर ले जाती है। कोई प्राणी अज्ञानवश थोड़े से समय विशेष के लिए हिंसा का आधार लेकर भ्रमित होकर विचार कर सकता है कि वह विजयी हुआ, अथवा उसे कुछ लाभ हुआ, किन्तु अन्त में यह विचार असत्य ही सिद्ध होगा। कहा गया है—

### ॥ दोहा ॥

जो जीववहं काउं करेइ खणमित्तमप्पणोत्तिं ।  
छेअण भेअणपमुहं नरयदुहं सो चिरं लहइ ॥

### ॥ छाया ॥

यो जीववधं कृत्वा करोति क्षणमात्रमात्मन सत्पुंतिं ।  
छेदन भेदन प्रमुखं नरकदुःख स चिरं लभते ॥

### ॥ दोहा ॥

अल्पकाल सुख मान के, हनै प्राणि को प्राण ।  
नरकमाहि चिरकाल तक, छिदे भिदे नहि त्राण ॥

अर्थ स्पष्ट है। जो भी प्राणी क्षणिक सुख की लालसा से किसी अन्य प्राणी को कष्ट पहुँचाता है, उसका नाश करता है, उसे फिर घोर कष्ट पाना पड़ता है, चिरकाल पर्यन्त नारकीय दुःखों का भोग करना पड़ता है।

अधिक प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी एक कथन पर जरा दृष्टिपात कीजिए—

हंतूणं परप्पाणे अप्पाणं जो करई सप्पाणं ।  
अप्पाणं दिवसाणं कएण णासेइ अप्पाणं ॥

अहिंसा : वर्तमान सन्दर्भ में : मदन मुनि 'पथिक' | १६५



॥ छाया ॥

हत्वा परात्मानमात्मानं यः करोति सप्राणम् ।  
अल्पानां दिवसानाम् कृते नाशयत्यात्मानम् ॥

॥ दोहा ॥

प्राणवान् दुख को गिनै, हनै इतर के प्राण ।  
अल्प दिवस दुष्कृत्य से करै आत्मा हान ॥

भावार्थ—जो व्यक्ति दूसरे जीवों के प्राण को नाश करके अपने को ही प्राणवान् सिद्ध करता है वह थोड़े ही दिवसों में पापकृत्य द्वारा अपना ही नाश कर डालता है ।

जब ऐसी स्थिति है तो क्या हमें अपने ही कल्याण के लिए यह विचार नहीं करना चाहिए कि हमारा क्या कर्तव्य है ? हमारे कल्याण का मार्ग कौन सा है ? यदि हम घड़ी भर ठहर कर भी शुद्ध विचार करेंगे तो पायेंगे कि अहिंसा का मार्ग ही वह राजमार्ग है जिस पर आगे बढ़कर हम अपना आत्म कल्याण कर सकते हैं तथा अपने साथ-साथ समस्त मानवता का त्राण भी कर सकते हैं । अतः—

॥ दोहा ॥

भवजलहितरी तुल्लं महल्ल कल्लाणदुम अभय कुल्लं ।  
संजणिय सग्गसिव सुक्ख समुदयं कुवह जीवदयं ॥

॥ छाया ॥

भवजलाधितरी तुल्यो महाकल्याण द्रुमामय कुल्याम् ।  
सज्जनित स्वर्ग शिव सौख्यं समुदयां कुरु जीवदयाम् ॥

भावार्थ—संसार रूपी समुद्र के लिए नौका तुल्य महा कल्याणकारी कल्पवृक्ष सदृश अभयदान तथा उत्कृष्ट स्वर्ग एवं मोक्ष सुख को प्रकट करने वाली जीव दया करो ।

यही जीवदया अहिंसा है । मन से भी कभी किसी का अहित न चाहो । वचन से भी कभी किसी का दिल न दुखाओ । काया से कभी किसी प्राणी को, किसी जीव को कष्ट न दो । जीवदया करो । अहिंसक बनो । अपना आत्म-कल्याण साधो । मोक्ष की यदि अभिलाषा हो, भवचक्र से सदा-सदा के लिए यदि मुक्ति पानी हो तो जीवदयामय धर्म का ही आचरण करना चाहिए क्योंकि हिंसा न करने वाला जीव ही अमरण—मोक्ष को प्राप्त करता है ।

अहिंसा—आचरण से होने वाले स्वहित का विचार विवेकपूर्वक करना ही चाहिए । लोग अज्ञान के कारण इस नश्वर काया को सुख पहुँचाने की इच्छा से, इसे पुष्ट करने की लालसा से, भ्रमवश ऐसा सोचते हैं कि मांसाहार करने से शरीर पुष्ट होता है । यह भयानक भूल है । ऐसा करना महापाप है । अहिंसा के अनुयायी को भक्ष्य अभक्ष्य का विचार अवश्य करना चाहिए । यूरोप, अमेरिका आदि के निवासी यह विचार बहुत कम करते हैं । किन्तु अब वहाँ के विचारवान् व्यक्ति भी यह सोचने पर बाध्य हो गए हैं कि मांसाहार का त्याग करना, अहिंसा का आचरण करना ही चाहिए । वे लोग भी अपने “स्वभाव” की ओर लौटने लगे हैं । क्योंकि मानव जाति के स्वभाव की पर्यालोचना करने से स्पष्ट बोध हो जाता है कि मांसादि का खाना, हिंसा का आधार लेना मानव का स्वभाव नहीं है । अपना पेट भरने के लिए

१९६ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



मांस-भक्षण करना उसका स्वभाव कभी नहीं रहा। मानव मूलतया एक उपकार वृत्ति वाला प्राणी है। उसके पास विवेक है, सोचने-समझने की शक्ति है। वध के समय जीव कैसा आर्तनाद करता है, कितना छटपटाता है, उसे कितनी पीड़ा होती है—यह देखकर पाषाणों का हृदय भी पिघल जाना चाहिए। फिर मनुष्य तो मूलतः दयावान प्राणी है, अहिंसा उसका भूल भाव है।

अहिंसा का समर्थन प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में किया ही गया है। जैन धर्म तो अहिंसा पर ही आधारित है, इसलिए सर्वांग श्रेष्ठ है। देखिए—

१. आपात में अल्लाहताला ने कहा था—रक्त और मांस मुझे सहन नहीं होता। अतः इससे परहेज करो।  
— इस्लाम धर्म

२. तुम मेरे पास सदैव एक पवित्रात्मा रहोगे बशर्ते कि तुम किसी का मांस न खाओ।

—बाईबिल

३. जो व्यक्ति मांस, मछली और शराब आदि सेवन करते हैं, उनका धर्म, कर्म, जप-तप सब कुछ नष्ट हो जाता है।

४. मांस खाने से कोढ़ जैसे भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर में खतरनाक कीड़े व जन्तु पैदा हो जाते हैं। अतः मांसभक्षण का त्याग करो।

—महात्मा बुद्ध (लंकावतार सूत्र)

५. बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।

जो नर बकरी खात है, ताको कौन हवाल ॥

—कबीरदास

६. मैं मर जाना पसन्द करूँगा लेकिन मांस खाना नहीं।

—महात्मा गांधी

७. जो गल काटे और का, अपना रहे बढ़ाय।

धीरे-धीरे नानका, बदला कहीं न जाय ॥

—नानकदेव

उपरोक्त कतिपय कथन—उद्धरण इतना स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि मानव को किसी भी रूप में हिंसा से दूर रहना चाहिए तथा अहिंसक बनना चाहिए।

एक अहिंसक व्यक्ति में कितनी आत्म श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है इसका एक छोटा सा उदाहरण हम अपने पाठकों के विचार हेतु यहाँ प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते, क्योंकि उसमें पाठकों का हित निहित है—

अहिंसा में पूर्ण श्रद्धा रखने वाली एक महिला थी। चाहे प्राण चले जायें, किन्तु वह अपने जानते हिंसा का आचरण कभी नहीं करती थी। एक दिन एक भयानक सर्प घर की नाली में घुस आया। उसकी विषैली फुफकार से घर के लोग भयभीत हो गए। किसी भी क्षण वह किसी को डस सकता था और उसकी मृत्यु निश्चित हो जाती।

आस-पास के लोग इकट्ठे हो गए। लाठियाँ लेकर वे उस सर्प को मार डालने के लिए उद्यत थे। किन्तु जब उस महिला को परिस्थिति का ज्ञान हुआ तब वह दौड़ी-दौड़ी वहाँ आई और बड़ी आत्म श्रद्धा तथा दयाभाव से बोली—“भाईयो, आप लोग इस सर्प को न मारें। मैं इसे जंगल में छोड़ आऊँगी।”

लोग विस्मित हुए कि ऐसा कैसे सम्भव है? किन्तु वे ठहर गए। महिला ने एक लाठी का छोर उस नाली के पास रखकर कहा—“हे नागराज! ये लोग लाठियों से पीट-पीट कर आपको अभी मार डालेंगे। अतः आइये, आप इस लाठी पर बैठ जाइये, मैं आपको जंगल में छोड़ आऊँगी।”

अहिंसा : वर्तमान, सन्दर्भ में : मदन मुनि 'पथिक' | १६७



आश्चर्यों का आश्चर्य । नागराज शान्त भाव से लाठी के छोर से लिपट गए । महिला जंगल का ओर चल पड़ी ।

मार्ग में एक स्थान पर फिर से नागराज को जाने क्या सूझी कि लाठी पर से उतर कर फिर किसी घर में प्रविष्ट होने लगे । उस महिला ने फिर कहा—“नागराज ! आप ऐसा न करें । लोग आपको मार डालेंगे । आइये, मेरी लाठी पर बैठ जाइये । मैं आपको एकान्त जंगल में छोड़ आती हूँ ।”

नागराज पुनः चुपचाप लाठी से आकर लिपट गए और उस महिला ने उन्हें ले जाकर जंगल में छोड़ दिया ।

इस छोटे से उदाहरण में बहुत बड़ा मर्म निहित है और वह है—अहिंसा भाव का महत्त्व, एक अहिंसक व्यक्ति की अडिग आत्मश्रद्धा । उस महिला के अहिंसा भाव को, उसके प्रेम को, दया भावना से परिपूर्ण उसके कोमल हृदय को सूक पशु ने भी जाना—पहचाना—स्वीकार किया ।

अहिंसा के प्रताप को, उसके महत्त्व को क्या यह दृष्टान्त स्पष्ट रूप से उजागर नहीं करता ।

वर्तमान काल बड़ा कठिन काल है । धर्म का लोप होता दिखाई देता है । मनुष्य स्वार्थान्ध होकर अंधी दौड़ में पड़ा है । एक देश दूसरे देश को हड़प जाना चाहता है । युद्ध के बड़े भीषण, विनाशकारी शास्त्रों का निर्माण हो चुका है । भूल से भी यदि वे शस्त्र फूट पड़े तो पृथ्वी का अन्त हो सकता है । मानवता लुप्त हो सकती है ।

ऐसी स्थिति में जैन दर्शन की अहिंसा ही एक मात्र वह आधार बन सकती है जो विश्व की रक्षा कर सके । समय रहते इस तथ्य का स्वीकार संसार की महाशक्तियों को कर लेना चाहिए ।

अन्त में—

सब्बे पाणा पिआउआ ।  
सुहसाया दुक्ख पडिक्कला ।  
अप्पियवहा पियजीविणो  
जीविउकामा,  
सब्बेसि जीवियं पियं  
नाइवाएज्ज कंचणं ।

—आचारांग १/२/३

तथा—

अत्थि सत्थं परेण परं,  
नत्थि असत्थं परेण परं ।

—आचारांग १/३/४

सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है,  
सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा ।  
बध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय,  
सब प्राणी जीना चाहते हैं,  
कुछ भी हो जीवन सबको प्रिय है ।  
अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो ।

—शस्त्र (हिंसा) एक से एक बढ़कर हैं । परन्तु अशस्त्र (अहिंसा) एक से एक बढ़कर नहीं हैं ।  
अर्थात् अहिंसा की साधना से बढ़कर श्रेष्ठ दूसरी कोई साधना नहीं है ।

१६८ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



## प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावलि

( Mathematical Terminology in Early Jain Literature )

डा. प्रेमसुमन जैन

( जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग,  
सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर )

जैन साहित्य विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध है। इसमें प्रारम्भ से ही जो सिद्धान्त और दर्शन के ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें प्राचीन भारतीय गणित के कई सिद्धान्त एवं पारभाषिक शब्दावलि का प्रयोग हुआ है। षट्खण्डागम और स्थानांग सूत्र आदि ग्रन्थों की सामग्री इस दृष्टि से उपयोगी है। तिलोय-पण्णत्ति में गणित एवं भूगोल दोनों की भरपूर सामग्री है। सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ भारतीय साहित्य पर यूनानी प्रभाव के पहले के ग्रन्थ हैं। अतः इनकी सामग्री भारतीय गणित की मौलिक उद्भावनाओं के लिये महत्वपूर्ण है। भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, तत्त्वार्थ सूत्र में प्राप्त गणितीय सामग्री प्राचीन भारतीय गणित के इतिहास में कई नये तथ्य जोड़ती है। जैन साहित्य में प्राप्त गणितीय-सामग्री का पूर्ण वैज्ञानिक एवं विवेचनात्मक अध्ययन स्वतन्त्र रूप से अभी नहीं हुआ है। किन्तु भारतीय गणित के इतिहास को लिखने वाले विद्वानों ने जैन साहित्य की इस सामग्री की ओर मनीषियों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया है। डा० उपाध्याय ने गणितीय शब्दावलि के विवेचन में भी जैन ग्रन्थों में प्राप्त गणित की सामग्री को उजागर किया है।

प्राचीन भारतीय गणित के मध्यकाल अथवा स्वर्णयुग में भी गणित के प्रयोग में जैनाचार्यों का विशेष योग रहा है। आर्यभट से प्रारम्भ होने वाले एवं भास्कर द्वितीय तक चलने वाले इस ५०० ई० से १२०० ई० तक के काल में महावीराचार्य द्वारा प्रणीत गणितसार-संग्रह नामक ग्रन्थ अंकगणित की सर्व-श्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है। लघुतम समापवर्त्य के जिस नियम का प्रारम्भ यूरोप में १५वीं शताब्दी में हुआ, उस आधुनिक नियम को महावीराचार्य ने ८-६वीं शताब्दी में ही प्रस्तुत कर दिया था। भिन्नो, श्रेढियों तथा अंकगणितीय प्रश्नों का जितना विशद और विस्तृत रूप गणितसारसंग्रह में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं है। इस जैनाचार्य की यह मान्यता थी कि इस चराचर संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके आधार में गणित न हों।

बहुभिविप्रलापे: किम् त्रैलोक्ये सचराचरे ।  
यत्किंचिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना न हि ॥

प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावलि : डॉ० प्रेमसुमन जैन | १६६



जैन साहित्य में यह स्वीकार किया गया है कि लौकिक, वैदिक, एवं अन्य सब प्रकार के सामयिक कार्यों में गणित (संख्यान) का प्रयोग किया जाता है।

लौकिके वैदिके वापि तथा सामयिकेऽपि यः।

व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपयुज्यते ॥

आचारांग निर्युक्ति (५.५०) में भी कहा गया है कि प्रत्येक जैन आचार्य को गणित का अध्ययन करना चाहिये।

महावीराचार्य का 'गणितसार संग्रह' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ पर संस्कृत, तेलगु एवं कन्नड़ आदि भाषाओं में टीकाएँ लिखी गयी हैं।

इन्हीं महावीराचार्य ने बीजगणित पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी है 'षट्त्रिंशिका'। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति जयपुर के एक शास्त्र भण्डार में प्राप्त है।

प्राकृत भाषा में वि० सं० १३७२-१३८० के बीच प्रसिद्ध जैन गृहस्थ विद्वान ठक्कर फेर ने 'गणित-सार-कौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा है। भास्कराचार्य की 'लीलावती' से साम्य रखते हुए भी इस गणित-सार—कौमुदी में अनेक विषय नये हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। अभी यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

गृहस्थ जैन विद्वान पल्लीलाल अनन्तपाल ने 'पाटीगणित' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त भी ५-६ गणित विषयक जैन रचनाएँ उपलब्ध हैं।

महावीराचार्य के कार्य को जैनाचार्य श्रीधर ने आगे बढ़ाया। उन्होंने त्रिंशतिका, पाटीगणित एवं बीजगणित (अनुपलब्ध) नामक ग्रन्थों की रचना कर गणित के इतिहास में कई नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। द्वाघात समीकरण के साधन का नियम श्रीधर ने प्रतिपादित किया है। श्रीधर ही केवल ऐसे गणितज्ञ हैं, जिन्होंने बीजगणितीय विषय का भी ज्यामितीय उपचार किया है।

जैनाचार्यों के गणित विषयक ग्रन्थों में जो गणितीय शब्दावली प्राप्त होती है उसमें सर्वप्रथम यह जानने को मिलता है कि गणित अर्थात् गणित स्वतन्त्र अध्ययन का विषय था, केवल ज्योतिष अथवा भूगोल के लिये उसका उपयोग नहीं था। इसी महत्ता के कारण जैन साहित्य में गणितानुयोग नाम से एक स्वतन्त्र विभाजन करना पड़ा। इस प्राचीन विभाजन को आधार मानकर मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल' ने सम्पूर्ण आगम ग्रन्थों से गणित की सामग्री संकलित कर उसे 'गणितानुयोग' नाम से प्रकाशित की है। अब हिन्दी अनुवाद के साथ गणितानुयोग का नया संस्करण छप गया है। गणितशास्त्र के जैन ग्रन्थों की सामग्री का सही उपयोग वही कर सकता है जो गणित एवं जैन सिद्धान्त दोनों में पारंगत हो। समय-समय पर कुछ विद्वान साधु-साध्वियों ने इस दिशा में प्रयत्न किये हैं। किन्तु प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन इस विषय के आधार स्तम्भ कहे जा सकते हैं। उनके विद्वत्तापूर्ण लेखन से पार्श्वात्य जगत् भी जैन गणित के बहुमूल्य सिद्धान्तों से परिचित हुआ है।

डा० उपाध्याय ने जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त गणितीय शब्दावली का इस प्रकार आकलन किया है—



सूर्य प्रज्ञप्ति (सूत्र ११, १६, २५, १००)

त्रिकोण —

समचतुरस्र —

पंचकोण —

विषमचतुरस्र —

समचतुष्कोण —

स्थानांग सूत्र

परिक्रम (संख्यान) —

व्यवहार (संख्यान) —

रज्जू (संख्यान) —

रासी (संख्यान) —

कलासवर्ण —

यावत्तावत् —

वर्ग —

वर्ग वर्ग —

गणिय —

सूक्ष्म —

भगवती सूत्र

संख्येय —

असंख्येय —

संयोग (संचय) —

त्र्यस्र —

चतुरस्र —

आयत —

वृत्त —

परिमंडल (दीर्घवृत्त) —

प्रतर (समतल) —

उत्तराध्ययन सूत्र (अ० ३० गा० १०-११)

वर्ग —

घन —

वर्गवर्ग (४) —

अनुयोगद्वार सूत्र :

स्थान —

द्रव्य प्रमाण —

क्षेत्र प्रमाण —

विषम चतुष्कोण

समचक्रवाल

विषम चक्रवाल

चक्रार्ध चक्रवाल

चक्राकार

एकतो अनन्त

द्विविधानन्त

देशविस्तारानन्त

सर्वविस्तारानन्त

शाश्वतानन्त

भंग (स्थान क्रम)

ओज (विषम संख्या)

युग्म (सम संख्या)

विकल्प गणित

(क्रमचय तथा संचय)

घन (ठोस)

घनत्र्यस्र (त्रिभुजाधार सूची स्तम्भ)

घनचतुरस्र (घनवर्ग)

घनायत

घनवृत्त

घनपरिमंडल

वलयवृत्त

वलयत्र्यस्र

वलयचतुरस्र

घनवर्ग (६)

घनवर्गवर्ग (१२)

(बीजगणित घातों के नाम)

रसमान

सूच्यंगुल

प्रतरांगुल

प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावलि : डॉ० प्रेम सुमन जैन | २०१





काल प्रमाण	—	घनांगुल
भाव प्रमाण	—	प्रथम वर्ग
मान	—	द्वितीय वर्ग
उन्मान	—	तृतीय वर्ग
अवमान (रेखिकमान)	—	प वाँ वर्ग
गणिम (संख्यामान)	—	प्रथम वर्गमूल
प्रतिमान	—	द्वितीय वर्गमूल
धान्यमान	—	तृतीय वर्गमूल
<b>तत्त्वार्थसूत्र :</b>		
वृत्त परिक्षेप (परिधि)	—	बाहु (त्रिज्या)
ज्या (जीवा)	—	भेदगुणन (खण्ड-गुणन)
इषु (शर)	—	विष्कंभार्ध
विष्कंभ (व्यास)	—	व्यासार्ध
धनुकाष्ठ (चाप)	—	(जंबुदीवसमास)

इस प्रकार जैन साहित्य के इन ग्रन्थों में रेखागणित, बीजगणित आदि के क्षेत्र में कई शब्द पहली बार प्रयोग में आये हैं। कोण, पाटी, श्रेढी, गच्छ, जीवा, आदि शब्द प्राकृत ग्रन्थों से ही संस्कृत साहित्य में प्रविष्ट हुए हैं। आज गणित के क्षेत्र में संख्यावाचक शब्द प्रायः गणितसार संग्रह से ही गृहीत किये गये हैं। नील को छोड़कर प्रायः सभी आधुनिक संख्यावाची शब्दों का प्रयोग महावीराचार्य ने अपने ग्रन्थ में किया है। कुछ विशेष शब्द द्रष्टव्य हैं—

**गणितसार संग्रह :**

उन्नत	—	निम्न (ततोदर)
एकीकरण	—	निरुद्ध
करणसूत्र	—	पृष्ठ
गुण	—	प्रचय
गुणोत्तर	—	मासिकवृद्धि
गुणसंकलित	—	मिश्रधन
घनीवृत्त	—	वृत्त
चय	—	शतवृद्धि (प्रतिशत)
समवृत्त	—	शंख, महाशंख

श्रीधराचार्य ने भी गणितीय शब्दावली में कई विशिष्ट शब्द जोड़े हैं। यथा—

चय संकलित	—	संस्थानक
वृद्धयुत्तर	—	आय (धन)
हीनोत्तर	—	व्यय (ऋण)
निम्न	—	सम
अर्धवृत्त	—	विषम



इस प्रकार के सैंकड़ों शब्द जैन साहित्य से एकत्र किये जा सकते हैं। उनका आधुनिक गणित के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से जैनाचार्यों के योगदान को रेखांकित किया जा सकता है। केवल गणित के क्षेत्र में ही नहीं, इन शब्दों से भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर भी नया प्रकाश पड़ सकता है। गणित में जो सवाल दिये जाते हैं वे जन-जीवन को व्यक्त करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में स्त्री-विक्रय, पशु-विक्रय के सवाल मिलते हैं। किन्तु जैन ग्रन्थों में जैन दर्शन के प्रभाव के कारण ऐसे सवाल नहीं दिये गये हैं। यहाँ कमलों, भ्रमरों, सरोवरों एवं दान की वस्तुओं को आधार मानकर सवाल दिये गये हैं। जैसे गणित-तिलक में कहा गया है कि दो भ्रमर कमल पर परामरंजित हो रहे हैं, शेष के आधे किसी गजराज के मद का आनन्द ले रहे हैं, बाकी वहाँ भ्रमरों का एक जोड़ा देखा गया तो कुल कितने भौरों थे? जैन साहित्य से इस प्रकार के सभी सवालों को एकत्र कर यदि उनका अध्ययन किया जाय तो कई सांस्कृतिक पक्ष उजागर हो सकेंगे।

गणितीय शब्दावली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन भी बहुत उपयोगी है। आज हमारे सामने जो शब्द प्रचलित हैं वे हजारों वर्षों की यात्रा कर यहाँ तक पहुँचे हैं। अतः उनके परिवेश का अध्ययन कई तथ्य दे सकता है। 'ओनामासि धम' आज भी शिक्षा प्रारम्भ करते समय बच्चों से कहलवाया जाता है। जो जैन काल में 'ॐ नमः सिद्धम्' का अपभ्रंश है। 'वानर' का अर्थ बन्दर है। किन्तु यह शब्द क्यों प्रचलित हुआ? इसके तह में जायें तो ज्ञात होता है कि वा का अर्थ है समान और नर माने मनुष्य। मनुष्य जैसा जो हो वह वानर। इस एक शब्द से मानव के विकासवाद का समर्थन हो जाता है। प्राकृत में कृषि को करिसि कहते हैं। यह करिसि तमिल में अरिसि के रूप में प्रचलित हो गया। चूँकि वहाँ कृषि में चावल अधिक होता है अतः चावल के लिए अरिसि शब्द प्रचलित हो गया। अंग्रेजों का प्रथम सम्पर्क मद्रास में अधिक रहा। उन्होंने चावल के लिए प्रचलित अरिसि शब्द को राइस कहना प्रारम्भ कर दिया। शब्दों के विपर्यय से यह स्वाभाविक हो गया। शब्दों के प्रयोग की कथा प्रत्येक विज्ञान को जानना आवश्यक है। भारतीय ज्योतिष में दिन और मासों के नाम प्रचलित होने की सुन्दर कथाएँ हैं। जैसे अश्विनीकुमार नामक देव के लिए भाद्रपद के बाद आने वाला माह सुनिश्चित था। किन्तु कालान्तर में 'अश्विनीकुमार माह' कहना कठिन पड़ने लगा तो इसके दो टुकड़े हो गये और हम इस माह को आश्विन तथा कुवार दो नामों से जानने लगे।

व्यापार एवं गणितशास्त्र में आज 'ब्याज' बहुत प्रचलित शब्द है। प्राचीन काल में इसके लिए कुसोद शब्द प्रचलित था। फिर वृद्धि शब्द प्रयोग में आया। किन्तु संस्कृत साहित्य में ब्याज पर पैसा लेना या देना दोनों ही हेय माना गया। धीरे-धीरे इस धन्धे में छल-कपट और बेईमानी बढ़ गई। अतः इसके लिए संस्कृत का 'ब्याज' शब्द प्रयुक्त होने लगा, जिसका अर्थ तर्कशास्त्र में छल होता है। फिर ब्याज का अर्थ क्षतिपूर्ति करने वाला कर हो गया। बाद में गुजरात में ब्याज का अर्थ सूद के रूप में प्रयुक्त हो गया। गणिततिलक की टीका में यह जनभाषा का ब्याज शब्द अपने प्रचलित अर्थ में संस्कृत में प्रविष्ट हो गया। जैन गणित के ग्रन्थों में कमलवाची शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। यदि ऐसे सभी शब्दों का संकलन कर उनके इतिहास को खोजा जाय तो कमल-संस्कृति से जैन दर्शन का कहीं गहरा सम्बन्ध देखने को मिलेगा।

गणितशास्त्र के जैन ग्रन्थों में कई शब्दों की नयी व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं, उनसे गणित के पारिभाषिक शब्दों को समझने में मदद मिलती है। जैन ग्रन्थों में 'रज्जू' का अर्थ स्वयंभूरमण समुद्र का

प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावलि : डॉ० प्रेमसुमन जैन | २०३



व्यास किया गया है। कहा गया है कि यदि कोई शक्तिशाली देवता १००० भार के गर्म लोहे के गोले को फेंके तो ६ मास ६ दिन ६ पहर और ६ घड़ी में वह जितनी दूर जाय उस दूरी को रज्जू कहते हैं। (रत्न संचय ५, १६-२०)। इसी प्रकार 'कोण' शब्द का गणित के अर्थ में प्रयोग सूर्यप्रज्ञप्ति में मिलता है, जो ईसा पूर्व का ग्रन्थ माना गया है। इससे उन कुछ पाश्चात्य विद्वानों की उस धारणा का खण्डन होता है जिसमें वे कोण को यूनानी शब्द 'गोनिया' से निकला हुआ मानते थे। जबकि 'कोण' मूल भारतीय शब्द है। हो सकता है कि उसने यूनान को गोनिया शब्द प्रदान किया है। 'आयत' शब्द आज के वर्तमान अर्थ में भगवती सूत्र (२५, ३) तथा अनुयोगद्वार सूत्र आदि में प्राप्त होता है। 'जीवा' शब्द सर्वप्रथम प्राकृत ग्रन्थों में ही गणित के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'लघुक्षेत्र समास' नामक ग्रन्थ में 'जीवा' की व्याख्या दी गई है। अतः 'जीवा' से 'ज्या' के रूप में यह शब्द भारत से अरब और अरब से यूरोप पहुँचा है। इस प्रकार के अन्य सभी पारिभाषिक गणितीय शब्द जैन साहित्य से एकत्र किये जाने चाहिए और उनका आधुनिक गणित के साथ तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए।



### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. उपाध्याय, ब० ल; प्राचीन भारतीय गणित, दिल्ली १९७१।
२. जैन, लक्ष्मीचन्द्र; गणितसार-संग्रह, सोलापुर, १९८३।
३. मुनि कन्हैयालाल 'कमल'; गणितानुयोग, साण्डेराव, १९७०।
४. जैन, लक्ष्मीचन्द्र, तिलोयपण्णत्ति का गणित, प्रस्तावना लेख (जम्बूद्वीप पण्णत्ति संग्रह), सोलापुर, १९५८।
५. आर्थिका विशुद्धमतिजी; तिलोयपण्णत्ति, १९८४।
६. सिंह, ए० एन०; 'हिस्ट्री आफ् मेथामेटिक्स इन इण्डिया फ्रॉम जैन सोसैज' जैनसिद्धान्त भास्कर, १९४६-१९५०।
७. कापड़िया, हीरालाल; गणित तिलक (व्याख्या सहित), बड़ौदा।
८. शुक्ल, कृपाशंकर; पाटी गणित (श्रीधराचार्य) लखनऊ।
९. दत्त, बी० बी० एवं सिंह, हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास, लखनऊ।
१०. आचार्य तुलसी, अंगसुत्ताणि, लाडनू, १९७५-७६।
११. आचार्य तुलसी; आगम शब्द कोष, लाडनू, १९८४।
१२. शास्त्री, नेमीचन्द्र; तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १-४।
१३. जैन, जगदीशचन्द्र; जैन आगमों में भारतीय समाज, वाराणसी।
१४. भोजक, अम्बालाल शाह; जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ५, १९६६।

२०४ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



## जैन पर्व और उसकी सामाजिक उपयोगिता

—कुंवर परितोष प्रचंडिया

( एम० काम०, रिसर्च स्कॉलर )

मनुष्य समाज की बुद्धिमान इकाई है। उसमें धर्म और समाज का स्वरूप अन्तर्व्याप्त रहता है। उसकी अन्तश्चेतना को अनुप्राणित करने के लिए अनेक पर्व और त्यौहारों का आयोजन होता है। पर्व में धार्मिकता और त्यौहार में सामाजिकता का प्राधान्य रहता है। जन-जीवन में आत्मविश्वास, उत्साह तथा क्रियान्वयता का संचार पर्व अथवा त्यौहार द्वारा किया जाता है। पर्व अथवा त्यौहार धर्म और समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है।

किसी जिज्ञासु ने अमुक धर्म अथवा समाज की आधारभूत पृष्ठभूमि जानना चाही तो साधक ने उत्तर देते हुए कहा कि धर्म अथवा समाज के अन्तर्मानस को जानने के लिए उनसे सम्बन्धित पर्व अथवा त्यौहार को जान लेना परम आवश्यक है। प्रत्येक धर्म के शास्त्र-सिद्धान्त और सामाजिक प्रतीकात्मकता पर्व अथवा त्यौहार से विद्यमान रहती है।

जिनधर्म और समाज तथा संस्कृति पर आधृत अनेक पर्वों और त्यौहारों का उल्लेख प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध है। जैन भी वर्ष के किसी न किसी दिन को पर्व का रूप देकर अपने धार्मिक, सांस्कृतिक स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

जैनपर्व जिनधर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके आयोजनों में मात्र खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, भोग-उपभोग अथवा सुख-दुःख का संचार नहीं होता अपितु वे हमारे जीवन में तप, त्याग, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, प्रेम तथा मैत्री की उदात्त भावनाओं का प्रोत्साहन और जागरण करते हैं। पर्वों को मूलतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

१—धार्मिक

२—सामाजिक

जिनधर्म पर आधृत धार्मिक पर्वों में संवत्सरी, पर्युषण, आयम्बिल अष्टान्हिका, श्रुतपंचमी आदि उल्लेखनीय हैं जबकि सामाजिक पर्वों में महावीर जयन्ती, वीर-शासन जयन्ती, दीपावलि तथा सलूनों अर्थात् रक्षाबंधन, मौन एकादशी आदि उल्लेखनीय हैं। यहाँ इन्हीं कतिपय पर्वों—उत्सवों का इस प्रकार उल्लेख करना हमें ईप्सित है ताकि उनका रूप—स्वरूप मुखर हो उठे।

जैन पर्व और उसकी सामाजिक उपयोगिता : कुंवर परितोष प्रचंडिया | २०५



संवत्सरी—संवत्सरी-पर्युषण को पर्व ही नहीं अपितु पर्वाधिराज की महिमा प्रदान की गई है। शास्त्रों के अनुसार पर्युषण के दिनों में से आठवें दिन संवत्सरी को धर्म का सर्वोच्च स्थान, महिमा तथा मूल्य दिया जाता है। आषाढ़—पूर्णिमा से पचास दिन पश्चात् अर्थात् भाद्र शुक्ला पंचमी को संवत्सरी पर्व का आयोजन किया जाता है। इस पर्व को तीर्थंकर महावीर, गौतमस्वामी, आचार्य, उपाध्याय तथा श्रीसंघ द्वारा मनाए जाने का उल्लेख कल्पसूत्र में उपलब्ध है। आत्मशुद्धि के इस महान पर्व की रात को किसी भी प्रकार से उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

संवत्सरी के आठ दिवसों का अनुष्ठान पर्युषण कहलाता है। साधुओं के लिए दश प्रकार का कल्प अर्थात् आधार कहा गया है उसमें एक पर्युषणा भी है। परि अर्थात् पूर्ण रूप से उषणा अर्थात् वसना। अर्थात् एक स्थान पर स्थिर रूप से वास करने को पर्युषणा कहने हैं। पहले यही परम्परा प्रचलित थी कि कम से कम ७०, अधिक से अधिक छह महीने और मध्यम चार महीने। कम से कम सत्तर दिन के स्थिरवास का प्रारम्भ भाद्र सुदी पंचमी से होता है। कालान्तर में कालिकादाय जी ने चौथ की परम्परा संचालित की। उसी दिन को संवत्सरी पर्व कहते हैं। आठ दिवसीय आत्मकल्याण का महापर्व कहलाता है पर्युषण। संवत्सरी और पर्युषण में इतना ही अन्तर है कि संवत्सरी आध्यात्मिक साधना-क्रम में वर्ष का आखिरी और पहले दिन का सूचक है, जबकि पर्युषण है तप और त्याग—साधना का उद्बोधक। इस प्रकार संवत्सरी का अर्थ अभिप्राय है वर्ष का आरम्भ और पर्युषण का प्रयोजन है कर्माय का उत्तम, आत्मनिवास तथा वैराग्य भावना का चिन्तन।

संवत्सरी के सायं प्रतिक्रमण के अवसर पर प्रत्येक जिन-धर्मों को चौरासा लाख जीवायोजि से मन, वचन से तथा काया से क्षमायाचना करनी पड़ती है। इससे परस्पर में मिलन, विश्व मैत्री, तथा वात्सल्य भावना मुखर हो उठती है। यही इस पर्व का मुख्य प्रयोजन है।

दिगम्बर समुदाय में इसे दशलक्षश धर्म के नाम से मनाया जाता है। इसमें धर्म के दश लक्षणों—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्कित्य तथा ब्रह्मचर्य—का चिन्तन किया जाता है। यहां यह पर्व भाद्र शुक्ला पंचमी से प्रारम्भ होकर भाद्र शुक्ला चतुर्दशी तक चलता है। अन्त में क्षमावाणी पर्व के रूप में मनाया जाता है जिसमें विगत में अपनी असावधानीवश किसी के दिल को किसी प्रकार से दुखाया हो तो उसकी परस्पर में क्षमा याचना करते हैं। इसकी उपयोगिता अपनी है और आज के राग-द्वेषपूर्ण वातावरण में इस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन और उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

## अष्टान्हिका पर्व तथा आर्षबिल—ओलो पर्व

दिगम्बर समुदाय में यह पर्व वर्ष में तीन बार मनाया जाता है। क्रमशः कार्तिक, फाल्गुन तथा आषाढ़ मास के अंत के आठ दिनों में इस पर्व का आयोजन हुआ करता है। जिन धर्म में मान्यता है कि इस धरती पर आठ नन्दीश्वर द्वीप हैं। उस द्वीप में वावन चैत्यालय हैं। वहां मनुष्य की पहुँच नहीं हो पाती, केवल देवगण ही आया-जाया करते हैं। अस्तु इन दिनों यहाँ पर ही पर्व मनाकर उनकी पूजा करली जाती है। इन दिनों सिद्धचक्र पूजा विधान का भी आयोजन किया जाता है। इसकी भक्ति और महिमा अनन्त है।

२०६ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



श्वेताम्बर समुदायों में यह पर्व वर्ष में दो बार ही मनाया जाता है। चैत्र आसोज में सप्तमी से पूर्णिमा तक नौ दिन आयंबिल तप की साधना की जाती है। आयंबिल तप का अर्थ अभिप्राय है—आम्बरस से रहित भोजन जिसमें रस, गंध, स्वाद, घृत, दुग्ध, छाछ आदि का सेवन नहीं किया जाता है। दर असल यह अस्वाद—साधना का महापर्व है। इससे जीवन में तप और संयम के संस्कार जाग्रत होते हैं।

### श्रुत पंचमी

श्रुत पंचमी कार्तिक शुक्ला पंचमी को मनाई जाती है। इस अवसर पर श्रुताराधना और श्रुत-ज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा तथा विनय प्रकट करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

दिगम्बर परम्परा में मान्यता है कि धीरे-धीरे अंग ज्ञान लुप्त हो गया तो अंगों और पर्वों के एक देश के ज्ञाता आचार्य धरसेन हुए। उनकी प्रेरणा से उनके पास दो मुनिराज पधारे जिन्हें सिद्धान्त पढ़ाया और पारंगत किया। इन मुनिराजों के नाम थे पुष्पदंत और भूतबलि।

इन द्वय मुनियों ने एक सिद्धान्त ग्रंथराज की रचना की जिसका नाम था षट्खण्डागम। आचार्य भूतबलि ने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को चतुर्विध संघ के साथ इस ग्रंथराज की पूजा की। यह पर्व सभी से मनाया जाने लगा है। श्वेताम्बर समुदाय में यह पर्वराज कार्तिक शुक्ला पंचमी को मनाया जाता है जिसे ज्ञान पंचमी भी कहा जाता है। ग्रंथों की पूजा-अर्चना के साथ उनकी सफाई व्यवस्था पर पूरा ध्यान दिया जाता है। इस पर्व से दोनों ही समुदाय में स्वाध्याय की प्रेरणा प्राप्त होती है।

### महावीर जयन्ती

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महाश्रमण भगवान् महावीर की जन्म जयन्ती के रूप में महोत्सव श्वेताम्बर और दिगम्बर समुदाय में बड़े हर्ष—उल्लास के साथ मनाया जाता है। इस अवसर पर आम सभाएँ आयोजित की जाती हैं जिसमें अधिकारी जैन-जैनेतर विद्वानों द्वारा तीर्थंकर महावीर भगवान् के उपदेश का विवेचन किया जाता है तथा आधुनिक संदर्भों से उनकी उपयोगिता पर विचार किया जाता है। आज के जीवन में अहिंसा और अनेकान्त के द्वारा ही अमन चैन की कल्पना साकार हो सकती है। यह धारणा केवल जैनों की ही नहीं है। विश्व के महान विचारकों और साधकों की धारणा है।

उल्लेखनीय बात यह है कि इस दिन पूरे देश में राजकीय आज्ञा में अवकाश तो रहता ही है साथ ही सारे कट्टीखाने तथा मांस की दुकानों को बन्द कर दिया जाता है। प्रभात-फेरियां तथा मिष्ठान वितरण कर हर्ष मनाया जाता है। बहुत से स्थानों पर हस्पतालों में रोगियों को फल तथा कालिज के छात्रों में मिष्ठान वितरण भी कराया जाता है। जैन भाइयों के व्यापारिक संस्थान प्रायः बन्द रहा करते हैं।

### दीपावलि

श्वेताम्बर और दिगम्बर समुदाय में महावर्ष दीपावलि का आयोजन तीर्थंकर महावीर के निर्वाण हो जाने पर मनाया जाता है। आगमों और पुराणों में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख उपलब्ध है। महाश्रमण महावीर के निर्वाण के समय नव लिच्छवि और नव मल्लि राजाओं ने प्रीषध्वज कर रखा था। कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन रात्रि के समय भगवान् मुक्ति को प्राप्त हुए। उस समय राजाओं ने आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य महावीर के अभाव में रत्नों के प्रकाश से उस स्थान को आलोकित किया था।

जैन पर्व और उसकी सामाजिक उपयोगिता: कुँवर परितोष प्रचंडिया | २०७



परम्परागत उसी प्रकार जनता दीप जला-जलाकर उस परम ज्ञान की वंदना-उपासना करती है और प्रेरणा प्राप्त करती है।

हरिवंश पुराण के अनुसार भगवान् भव्य जीवों को उपदेश देते हैं और पावानगरी में पधारते हैं। यहां एक मनोहर उद्यान में चतुर्थ काल की समाप्ति में तीन वर्ष आढ़े आठ मास शेष रह गए थे, कार्तिक अमावस्या के प्रातः योग का निरोध करके कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए। देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाए। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से सारा क्षेत्र आलोकित हो उठा। उसी समय से भक्तगण जिनेश्वर की पूजा करने के लिए प्रति वर्ष उनके निर्वाण दिवस के उपलक्ष्य में दीपावलि मानते हैं।

महामनीषी पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के अनुसार, दीपावलि के पूजन की जो पद्धति है, उससे भी समस्या पर प्रकाश पड़ता है। दीपावलि के दिन क्यों लक्ष्मी पूजन होता है इसका सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता। दूसरी ओर जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी समय उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई। गौतम जाति के ब्राह्मण थे। मुक्ति और ज्ञान को जिनधर्म में सबसे बड़ी लक्ष्मी माना है और प्रायः मुक्ति-लक्ष्मी और ज्ञान-लक्ष्मी के नाम से ही शास्त्रों में उनका उल्लेख किया गया है। अतः सम्भव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मी के पूजन की प्रथा ने धीरे-धीरे जन समुदाय में बाह्य लक्ष्मी के पूजन का रूप धारण कर लिया हो। बाह्यदृष्टि-प्रधान मनुष्य समाज में ऐसा प्रायः देखा जाता है। लक्ष्मी पूजन के समय मिट्टी का घरौंदा और खेल-खिलौने भी रखे जाते हैं। दरअसल ये घरौंदा और खेल-खिलौने भगवान् महावीर और उनके शिष्य गौतम गणधर की उपदेश सभा की यादगार में हैं और चूंकि उनका उपदेश सुनने के लिए मनुष्य, पशु, पक्षी सभी जाते थे अतः उनकी यादगार में उनकी मूर्तियाँ-खिलौने रखते हैं।

मन्दिरमार्गी जिनधर्मों प्रातः लाड़ू चढ़ाते हैं जो भगवान् के समवशरण का ही प्रतीक है। प्रसन्नता होने के कारण समाजी परस्पर में मिष्ठान भेंट करते हैं, खाते हैं और खिलाते हैं।

## सलूनो अर्थात् रक्षा बन्धन

यह पर्व आज पूरे देश में बड़े मनोयोग के साथ मयाया जाता है। ब्राह्मण जन यजमान के हाथों में रखी बांधते समय निम्न श्लोक का वाचन करते हैं। यथा—

येन बद्धो बली राजा, दानवेन्द्रो महाबली।

तेन स्वामपि बध्नामि रक्षे ! मा चल मा चल ॥

अर्थात् जिस राखी से दानवों का इन्द्र महाबली बलिराजा बांधा गया उससे मैं तुम्हें बांधता हूँ, अडिग और अडोल होकर मेरी रक्षा करो। इतने भर से इस त्यौहार के विषय में कोई ठोस प्रमाण अथवा विवरण प्राप्त नहीं होता। वामनावतार के प्रसंग में बलिराजा की कहानी अवश्य प्रचलित है किन्तु इससे रक्षाबन्धन के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी अथवा प्रबोध नहीं होता। जैन-साहित्य में इस पर्व के विषय में अवश्य चर्चा मिलती है। कहते हैं कि जैन साधुओं से घृणा और द्वेष रखने वाले बलि को महाराजा पद्म से सात दिवसीय राज्याधिकार प्राप्त हो गया था। आचार्य अकम्पन संयोगवश उधर से होकर निकल रहे थे, उनके साथ सात सौ शिष्यों का विशाल कुल भी था। बलि को प्रतिशोध लेने का सुयोग प्राप्त हो गया। उसने पूरे मुनिसंघ को बन्दीगृह में डाल दिया और उनका तरमेध-यज्ञ में बलि देने का निश्चय करने लगा।



ऐसे संकटकाल में मुनिराज विष्णुकुमार से प्रार्थना की गई। वे वैक्रिय शक्ति सम्पन्न थे। संघ पर अनाहूत आगत संकट का मोचन कीजिए, ऐसी प्रार्थना की गई। तप-आराधना में लीन मुनिराज ने जब यह ज्ञात किया तो तुरन्त मुनिजनों की रक्षार्थ अपनी स्वीकृति दे दी और चलने के लिए सन्नद्ध हो गए। नगर में आकर वे अपने भाई पद्मराज से अनर्थ से मुक्त होने के लिए प्रार्थना करने लगे। यहां की परम्परा के अनुसार यहां सदैव संतों का सम्मान होता आया है किन्तु अपमान कर इस महाकुक्त्य से अपने को वृथक रल्लिए।

महाराजा पद्मराज वचनबद्ध होने से अपनी विवशता को व्यक्त करने लगा। विष्णुकुमार जो बलि के पास जाकर मुनि संघ के लिए स्थान की याचना करने लगे। बलि ने उन्हें ढाई पग दिए और कहा कि इसमें ठहर जाइए। इस पर मुनि को आक्रोश पैदा हुआ और उन्होंने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर तीसरा बीच में लटकने लगा। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर लोग स्तब्ध रह गए। बलि ने क्षमा मांगी और इस प्रकार आगत संकट टल गया। उधर लोगों ने मुनिजनों पर संकट आता देखकर अन्न-जल त्याग कर दिया था। जब मुनिजन लौटकर नहीं आए तो उन सबका आहार लेना सम्भव नहीं हुआ। अन्त में मुनियों को मुक्त किया गया और वे सात सौ घरों में आहार हेतु चले गए। साथ ही शेष घरों में श्रमणों का स्मरण कर प्रतीक बनाकर गृहपतियों ने भोजन किया। अतः इसी दिन से रक्षाबन्धन पर दीवालों पर मनुष्याकार चित्र बनाकर राखी बांधने की प्रथा चल पड़ी जिसका आज भी उत्तर भारत में 'सौन' शब्द से इस प्रथा का प्रतीकार्थ लिया जाता है। यहाँ 'सौन' शब्द श्रमण का अपभ्रंश शब्द है। इस मान्यता की परिपुष्टि महापण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री स्वरचित 'जैनधर्म' नामक कृति में करते हैं।

### मौन एकादशी

मौन का अर्थ है—वाणी का, वचन का निग्रह अर्थात् न बोलना। मानव के पास तीन शक्तियाँ हैं—मन की शक्ति, वचन की शक्ति और शरीर की शक्ति। शरीर की शक्ति से वचन की शक्ति अधिक है और मन की शक्ति वचन की शक्ति से भी अनेक गुनी प्रचण्ड है। आज का वैज्ञानिक मौन की महत्ता स्वीकारता है। उसका मानना है कि बोलने से मस्तिष्कीय शक्ति अधिक खर्च होती है जिससे वह अत्रिलम्ब थक-चुक जाता है। अतएव मनुष्य को कम बोलना चाहिए। मौनव्रती बौद्धिक काम करने में, ध्यान आदि में अधिक समर्थ होता है। व्यावहारिक रूप से भी वाचालता से अनेक हानियाँ होती हैं। अध्यात्म में मौन का अपना महत्व है। मौन तो मुनि का लक्षण है। साधक बिना प्रयोजन वाणी की शक्ति को व्यर्थ व्यय नहीं करता। तन का मौन है—अधिक शारीरिक प्रवृत्ति न करना, स्थिर आसन रखना। मन का मौन है संकल्प-विकल्पों का त्याग, उनमें मन को न भरमाना। लेकिन मन है जा कि रिक्त नहीं रह सकता। कुछ न कुछ उछल-कूद करता ही रहता है। इसके लिए मन को शुभ विचारों से, प्रभु के गुणों के स्मरण से ओत-प्रोत कर देना चाहिए।

एकादशी का शाब्दिक अर्थ है ग्यारह की संख्या। आपके पास भी मन, वचन, काय के ग्यारह योग हैं। चार मन के, चार वचन के और तीन काया के (औदारिक, तैजस् और कार्मण)। इन ग्यारह का संयमन, नियमन और निग्रह ही मौन की पूर्ण साधना है। यही मौन एकादशी का

जैन पर्व और उसकी सामाजिक उपयोगिता : कुँवर परितोष प्रचंडिया | २०६





रहस्य है। श्री रतनमुनिजी "पर्व की प्रेरणा" कृति में मौन एकादशी के विषय में एक संवाद प्रस्तुत करते हैं—यथा—एक श्रेष्ठी ने पंचमहाव्रतधारी धर्मगुरु से जिज्ञासा की "भगवन ! मैं गृहकार्य में उलझा रहता हूँ। अस्तु धर्म साधना करने की शक्ति नहीं है। आप मुझे ऐसी साधना बताइए कि एक दिन की साधना से ही पूरे वर्ष की धर्म-साधना का पुण्य-फल प्राप्त हो सके।"

गुरु ने कहा—“श्रेष्ठीवर ! मार्गशीर्ष मास की शुक्ला एकादशी के दिन उपवासपूर्वक पौषध व्रत धारण करने और मौन रहने से तुम्हें इच्छित फल प्राप्त हो सकता है। इस दिन भगवान मल्लिनाथ का जन्म कल्याणक है। यदि ग्यारह वर्ष तक विधिपूर्वक साधना करते रहे तो मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव है।”

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय पर्व-परम्परा में जैन-पर्वों का अपना अस्तित्व है और है अपना महत्व। इन पर्वों का मूल विषय जिन-धर्म, संस्कृति तथा सदाचार का प्रवर्तन करना रहा है। इसलिए इनके आयोजनों में आमोद-प्रमोद के साथ-ही-साथ कल्याणकारी ज्ञानवर्द्धक प्रसंग और सन्दर्भों का अपना स्थायी महत्व है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में ही उसका जीवन उल्लास और विकास से भर सकता है। पर्व अथवा त्यौहार समाज सापेक्ष होते हैं। इस प्रकार पर्व मानवी जीवन में जहाँ एक ओर सत्य धर्म का स्रोत प्रवाहित करते हैं वहाँ दूसरी ओर वे जीवन में चेतना और जागरण का संचार भी करते हैं। सामान्यतः संसारी प्राणी लोभ और प्रमादपूर्ण जीवन चर्या में लीन हो जाता है किन्तु पर्वों के शुभ आगमन से प्राणी को उन्मार्ग से हटकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

मनुष्य के पुरुषार्थ की सार्थकता है उत्तरोत्तर उत्कर्षोन्मुख होते जाना। पर्व उसके उत्कर्ष में कार्यकारी भूमिका का निर्वाह करते हैं। पुराण अथवा प्राचीन वाङ्मय में अन्तर्भूत घटनाओं और जीवन चक्रों से अनुजीवी पर्वों के प्रयोजन मनुष्य में मूर्च्छा-मुक्त जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। यदि पर्वों के द्वारा मनुष्य में मनुष्यता जागने लगे तो इससे अधिक उपयोगिता और क्या हो सकती है ?



## राजस्थान के मध्यकालीन प्रभावक जैन आचार्य

—श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

भारत में श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृति का उत्स ठेठ आदिम सभ्यता के विकास के साथ जुड़ा मिलता है ।<sup>1</sup>

सांस्कृतिक उत्थान-पतन की हजारों घटनाओं का निर्वहन करते हुए भी जो संस्कृति अपने मूल्य टिका पाई उसका अन्तःसत्व कुछ ऐसी विशेषताएँ लिये अवश्य होता है जो उस संस्कृति को अमरता प्रदान करता है ।

श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृति के मूल्यों में जो सार्वभौमिकता के तत्व हैं, मानव की अन्तःचेतना की स्फुरणाओं एवं अपेक्षाओं को रूपायित करने की जो क्षमता है तथा जीवन को उच्च अर्थों में प्रेरित करने की प्रेरणा है वे ही वे तथा ऐसी जो विशेषताएँ हैं, ये ही वे गुण हैं जो इन महान संस्कृतियों को जन-जन के लिए लाभदायक और उपयोगी बनाते हैं ।

भारत एक विशाल राष्ट्र है जो कभी आर्यावर्त के नाम से भी पहचाना जाता था । व्यवस्था खान-पान, भाषा, रीति-रिवाज और परिवेश की दृष्टि से अनेक भागों में बंटा हुआ है । फिर भी यह एक राष्ट्र के रूप में जुड़ा रहा । इसका एक कारण इसके पास उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों का होना भी है ।

कुछ वर्षों पहले भारत का जो हिस्सा राजपूताना कहलाता था, लगभग वह हिस्सा आज राजस्थान के नाम से पहचाना जाता है । भारत के अन्य भागों की तरह यहाँ भी श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृति जो कि भारतीय संस्कृति की दोनों अंगीभूत संस्कृतियाँ हैं, बहुत पहले से ही फलती-फूलती एवं विकसित होती रहीं ।

जहाँ तक ब्राह्मण संस्कृति का प्रश्न है उसका विस्तार यहाँ श्रमण संस्कृति से भी अधिक व्यापक स्तर पर होता रहा । इसके प्रमाण यहाँ का विशाल वैदिक साहित्य, हजारों मंदिर एवं सैकड़ों तीर्थ हैं ।

वैदिक दर्शन की वे सभी धाराएँ तो देश के कौने-कौने में फैली हुई हैं । राजस्थान में भी पहुँची और विकसित हुई । यही कारण है कि अन्य भागों की तरह यहाँ भी शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत पुष्टि मार्ग, भागवती मार्ग के भक्त, नाथ, कबीर, दादू आदि पंथों के अनुयायी लगभग पूरे राजस्थान में पाये जाते हैं ।

1. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र—हेमचन्द्राचार्य



जहाँ तक श्रमण संस्कृतिप्रसूत धर्म और दर्शन का प्रश्न है, वे यहाँ वैदिक मान्यताओं जितने विकसित एवं विस्तृत तो नहीं हो पाये किन्तु इतने वे नगण्य भी नहीं रहे कि राजस्थान के सांस्कृतिक एवं धार्मिक मूल्यों का अंकन करते हुए उनकी उपेक्षा की जा सके।

संख्या की दृष्टि से अल्पतर होने हुए भी श्रमण संस्कृति के विशिष्ट मूल्यों, धर्मों और दार्शनिक अवधारणाओं ने राजस्थान में न केवल अपना विशिष्ट स्थान बनाया अपितु समय-समय पर इन्होंने यहाँ के जन-जीवन को प्रभावित भी किया।

श्रमण संस्कृति की अंगीभूत मुख्य शाखाएँ जैन और बौद्ध हैं।

जहाँ तक बौद्ध शाखा का प्रश्न है उसका राजस्थान में कितनी दूर तक अस्तित्व रहा, यह एक अलग गवेषणा का विषय है।

श्रमण संस्कृति की अंगीभूत दूसरी शाखा जैन का अस्तित्व राजस्थान में नवीनतम शोधों के अनुसार प्राचीनतम होता जा रहा है।

चित्तौड़ के पास "मञ्जुमिका" नामक प्राचीन नगरी के ध्वंशावशेष प्राप्त हुए हैं यह नगरी महाभारत काल में बड़ी प्रसिद्ध रही। जैन धर्म का भी यह केन्द्र स्वरूप थी।

काल के विकराल थपेड़ों के बावजूद जैन संस्कृति राजस्थान में अपने आदिकाल से अब तक फलती-फूलती और विकसित होती रही। हजारों मन्दिर, स्थानक, सभागार, विशाल साहित्य, शास्त्र भण्डार आदि न केवल आज भी राजस्थान के कौने-कौने में उपलब्ध हैं अपितु वे जैन संस्कृति को परलवित पुष्पित करने में भी संलग्न हैं।

राजस्थान में जैनधर्म के विस्तार और गौरवान्विति का अधिकतर श्रेय राजस्थान के उन गौरव-शाली आचार्यों को जाता है जिन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि, मानवीय योग्यता एवं क्षेत्रीय परिस्थितियों को सामने रखकर न केवल विशाल साहित्य की रचना की, संस्थानों का निर्माण कराया अपितु अपने उपदेशों के द्वारा जन-जन को जिनशासन की तरफ आकर्षित किया।

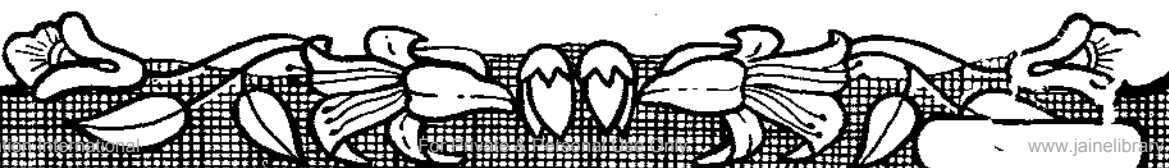
भगवान आदिनाथ से महावीर पर्यन्त २४ (चौबीस) तीर्थंकर जैनधर्म में पूज्य परमात्मा माने जाते हैं। उनमें से कतिपय तीर्थंकरों ने राजस्थान में विचरण किया है। ऐसा जैन कथा सूत्रों से प्रमाणित होता है। भगवान महावीर का दशार्णपुर (मन्दसौर) आना और दशार्णभद्र को प्रतिबोधित करना तो विश्रुत है ही।

मन्दसौर वर्तमान व्यवस्थाओं के अनुसार मध्य भारत का अंग अवश्य है किन्तु मेवाड़ का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि यह अनेक वर्षों तक मेवाड़ का अंग रहा।

महावीरोत्तर काल से लेकर विक्रमी दशवीं शताब्दी तक के समय में राजस्थान में ऐसे अनेक प्रभावक आचार्य और मुनि हो गये हैं जिन्होंने जिनशासन को उत्तरी के शिखर तक पहुँचाया तथा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये। सिद्धसेन दिवाकर, ऐलाचार्य वीरसेन, पद्मनन्दी (प्रथम), साध्वीरत्न

1. मेवाड़ और जैनधर्म—बलवन्तसिंह महता, श्री आ० पृ० प्र० श्री अ० ४० ग्रन्थ।

२१२ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



याकिनी महत्तरा आदि-आदि संत सती-रत्न हैं, जो इस युग के जैन जगत के दमकते हीरे और ज्योतिर्मय नक्षत्र थे।

यहाँ मध्यकालीन आचार्य ही विवेच्य हैं। अतः प्राचीन युग के आचार्यों का विस्तृत परिचय नहीं दिया गया है।

जिनेश्वर सूरि

राजस्थान के महानतम आचार्यों में जिनेश्वर सूरि का नाम बहुत प्रख्यात है। ये खरतर गच्छ के आदि गुरु माने जाते हैं।

मालवा की प्रसिद्ध नगरी धारा में लक्ष्मीपति श्रेष्ठी के भव्य भवन में एक बार आग लग गई। उससे उसके वैभव की बड़ी हानि हुई किन्तु उसे सर्वाधिक दुःख उन ज्ञाननिधिपूर्ण श्लोकों के नष्ट होने का हुआ, जो भवन की दीवारों पर अंकित थे। उन्हीं दिनों वहाँ दो ब्राह्मण भ्राता आये हुए थे। एक दिन पहले भी वे श्रेष्ठी से मिले थे।

जब दूसरे दिन पुनः मिले तो श्रेष्ठी ने अपना दुःख उन्हें जताया। उन्होंने कहा—आप चिन्ता न करें। हम कल यहाँ आये थे तब श्लोक पढ़े थे, वे हमारी स्मृति में हैं। और उन्होंने सारे श्लोक पुनः अंकित करा दिये। इससे प्रभावित हो श्रेष्ठी ने दोनों ब्राह्मणकुमारों को जैनेन्द्रिया भागवती दीक्षा के लिए प्रेरित किया और अपने गुरु वर्धमान सूरि के पास दीक्षित कराया।

जिनेश्वर मुनि और बुद्धिसागर मुनि दोनों अद्भुत विद्वान् सिद्ध हुए। जिनेश्वर सूरि को आचार्य पद प्रदान किया गया।

इन्होंने गुजरात तक बिहार किया। दुर्लभराज ने इन्हें खरतर की उपाधि से मण्डित किया।

कथा कोष, लीलावती, वीर चरित्र आदि अनेक ग्रन्थों के आप रचयिता हैं। हरिभद्र के अष्टकों पर प्रसिद्ध टीका भी आपने लिखी। यह कार्य जालोर में सम्पन्न हुआ।<sup>1</sup>

इसी शती के प्रभावक आचार्यों में प्रभाचन्द्र बूंद गणी आदि के भी नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु विशेष परिचय नहीं मिल सका। आ० हरिषेण भी इस शती के महान आचार्य हैं। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति धम्म परीक्षा में मेवाड़ की बड़ी प्रशंसा की है। धम्म परीक्षा ग्रन्थ उपलब्ध है।

बारहवीं शती के प्रभावक जैन आचार्यों में जिनवल्लभसूरि, विमलकीर्ति, लक्ष्मीगणी आदि प्रमुख हैं। जिनवल्लभसूरि को चित्तौड़ में आचार्य पद प्रदान किया गया। इनकी १७ रचनाएँ उपलब्ध हैं।<sup>2</sup>

लक्ष्मीगणी ने सुपाश्वनाथ चरित्र की रचना मांडलगढ़ में की, यह उक्त चरित्र से प्रसिद्ध है।

गुणभद्र मुनि राजस्थान के एक और विद्वान् संत हो गये हैं। इनके द्वारा रचित ६३ श्लोक की एक प्रशस्ति विजोलिया के जैन मन्दिर में लगी हुई है। इसमें मन्दिर निर्माताओं के उपरान्त अजमेर के चौहानों और सांभर के राजाओं की वंशावली दी गई है। इनका समय तेरहवीं शती का बनता है।

1. खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावली पत्रांक—9

2. गुर्वावली



आचार्य रत्नप्रभसूरि भी मेवाड़ के एक महान आचार्य हो गये हैं। इनकी एक प्रशस्ति जो महारावल तेजसिंह के समय लिखी गई थी, चित्तौड़ के पास घाघसे की बावड़ी में लगी हुई है।<sup>1</sup> इसकी रचना १३२२ कार्तिक कृष्णा एकम रविवार को हुई थी। इसमें तेजसिंह के पिता जेत्रसिंह द्वारा मालवा, गुजरात, तुरुष्क और सांभर के सामन्तों को पराजित किये जाने का उल्लेख है। इन्हीं की एक प्रशस्ति चौरवा गांव में उपलब्ध है जो १३३० में लिखी गई है।<sup>2</sup> ५१ श्लोक है। इसमें जेत्रागच्छ के आचार्यों के नामों का उल्लेख है। साथ ही गुहिल वंशी वाष्पा के वंशज समरसिंह आदि के पराक्रम का वर्णन है।<sup>3</sup>

बारहवीं शताब्दी के प्रभावक आचार्यों में आचार्य नेमीचन्द्र सूरि का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये अद्भुत विद्वान, वक्ता और कवि मानस महापुरुष थे।

इनकी 'रयण मणिकोस', उत्तराध्ययन वृत्ति (उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका) धर्मोपदेश कुलक आदि रचनाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं। लेखक ने इन ग्रन्थों में दीर्घ समास पदावली का प्रयोग किया। काव्य की रोचकता में कहीं भी बाधक नहीं है। इनके काव्य में शील, संयम, तप आदि उदात्त गुणों का उत्कर्ष-पूर्ण वर्णन पाया जाता है।<sup>4</sup>

इसी शताब्दी के एक और अत्युत्तम महापुरुष हो गये हैं धनेश्वर सूरि! जिन्होंने प्रसिद्ध ग्रन्थ सुर-सुन्दरी चरियम् प्राकृत में पद्यमय लिखा। रचना प्रौढ़ विशाल और सुसंस्कृत है।

इसमें नैतिक तत्त्वों के साथ-साथ कथात्मकता का सुन्दर सुमेल है। इसमें लोक जन-जातियाँ जैसे आभीर, श्वपच आदि के उत्थान का सुन्दर वर्णन पाया जाता है।

इस ग्रन्थ को लेखक ने चन्द्रावती नगरी में बैठ कर लिखा है।<sup>5</sup>

पन्द्रहवीं शती के महानतम विद्वान आचार्यों में रामकीर्ति, भट्टारक धर्मकीर्ति, जिनोदयसूरि, भट्टारक सकलकीर्ति आदि प्रमुख हैं। जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति बड़े विद्वान पुरुष थे। इनकी लिखी एक प्रशस्ति चित्तौड़ के समिद्धेश्वर महादेव के मन्दिर में लगी है। २८ पंक्तियों की इस प्रशस्ति में कुमार-पाल के चित्तौड़ आने का वर्णन है। प्रशस्ति छोटी किन्तु महत्वपूर्ण है।<sup>6</sup> भट्टारक सकलकीर्ति आदि-पुराण-उत्तरपुराण महान ग्रन्थों के रचयिता पन्द्रहवीं शती के श्रेष्ठतम आचार्य थे। इनकी २९ रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन्होंने नेनवा के भ० पद्ममंदि के पास अध्ययन किया। इनका जन्म १४४३ तथा स्वर्गवास १४९९ में हुआ। ये बड़े प्रभावक आचार्य थे। इनका बिहारी लाल जैन ने एक शोध ग्रन्थ 'भट्टारक सकल-कीर्ति : एक अध्ययन' लिखा। इन्होंने जूनागढ़ में एक मूर्ति की प्रतिष्ठा भी कराई।<sup>7</sup>

भट्टारक भुवनकीर्ति, ब्रह्मजिनदास, भ० शुभचन्द्र, भट्टारक प्रभाचन्द्र आदि बड़े प्रभावक और रचनाकार आचार्य हो गये हैं। जिनका परिचय हमें नेमीचन्द्र शास्त्री कृत संस्कृत काव्य के विकास में

1. मेवाड़ का प्राकृत अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य, अम्बालाल जी म० अभिनन्दन ग्रन्थ—ले० डॉ० प्रेमसुमन जी।
2. उपर्युक्त।
3. वीर विनोद भाग 1 पृष्ठ 389
4. शास्त्री, नेमीचन्द्र—प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; जैन, जगदीशचन्द्र—प्राकृतिक साहित्य का इतिहास।
5. नेमीचन्द्र शास्त्रीकृत—प्राकृत भाषाएँ व साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन।
6. ....में० प्रा० अ० स० सा०/अ० प्र० डा० प्रेम सुमन।
7. जैन भण्डासं इन राजस्थान पु० 239।



जैनियों का योगदान लेख से उपलब्ध होता है। उन सभी आचार्यों ने राजस्थान में जिनशासन को बहुत गौरवान्वित किया। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने तो अपनी गद्दी ही दिल्ली से चित्तौड़ स्थानान्तरित कर दी।<sup>1</sup>

पन्द्रहवीं शती के महानतम आचार्यों में सोमसुन्दरसूरि का नाम भी बहुत ऊँचा है। ये तपागन्ध के प्रमुख आचार्य थे। इन्हें रणकपुर में १४५० में वाचक पद प्रदान किया गया। बाद में ये देलवाड़ा आ गये। कल्याण स्तव आदि इनकी अनेक रचनाएँ हैं।<sup>2</sup>

गुरु गुण रत्नाकर इनकी कृति है। उसमें मेवाड़ के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक जीवन पर प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है।<sup>3</sup>

सोमसुन्दर के शिष्य मुनिसुन्दर भी विद्वान् संत थे। इन्होंने देलवाड़ा में शान्तिकर स्तोत्र आदि की रचना की।<sup>4</sup>

इन्हीं के दूसरे शिष्य सोमदेव वाचक थे। इन्हें महाराणा कुंभा ने कविराज की उपाधि से मंडित किया।<sup>5</sup>

महामहोपाध्याय चरित्ररत्नराणि महान् आचार्य थे। १४६६ में इन्होंने दान प्रदीप ग्रन्थ चित्तौड़ में लिखा जो एक अच्छी रचना है।

कविराज समयसुन्दर अपने समय के विद्वान् महापुरुष थे। १६२० का इनका जन्म माना जाता है। इनका जन्म क्षेत्र और विकास क्षेत्र चित्तौड़ रहा। ये अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। इनकी रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। एक कहावत चल पड़ी कि समयसुन्दर का गीतड़ा और कुम्भे राणे का भीतड़ा अर्थात् ये दोनों अमर हैं। बेजोड़ हैं। प्रद्युम्न चरित्र, सीताराम चोपई, नलदमयन्ती रास आदि इनके अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।<sup>6</sup>

जिनशासन के गौरवशाली आचार्य परम्परा में आचार्य श्रीरघुनाथ जी म० सा० भी बड़े प्रभावक थे। यह आ० भूधरजी के शिष्य थे। इनका एक कन्या रत्नवती से सम्बन्ध भी हुआ किन्तु मित्र की मृत्यु से खिन्न हो ये मुनि बन गये। इन्होंने ५२५ मुमुक्षुओं को जैन दीक्षा प्रदान की। ये अस्ती वर्ष जिए। १७ दिन के अन्शन के साथ पाली में १८४६ की माघ शुक्ला एकादशी को इनका स्वर्गवास हुआ।<sup>7</sup>

जैनाचार्य जयमल्ल जी ने १७८६ में दीक्षा ग्रहण की। १३ वर्ष एकांतर तप किया और २५ वर्ष रात में बिना सोये जप-तप करते रहे। इनकी सैकड़ों पद्य बन्ध रचनाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं। लगभग सारी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनका १८५३ वैशाख शुक्ला १३ को 'नागौर' में स्वर्गवास हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में एक और प्रसिद्ध आचार्य हो गये—भिक्षु गणी। ये रघुनाथ जी म० के शिष्य थे। इनकी दीक्षा १८०८ में हुई। इनकी अनेक ढालें लिखी हुई हैं जो बड़ी प्रसिद्ध हैं और भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं।

1. जोहरापुरकृत भट्टारक सम्प्रदाय लेखांकन 265।

2. सोम सौभाग्य काव्य पृ० 75 श्लोक 14।

3. शोध पत्रिका भाग 6 अंक 2-3 पृ० 55।

4. राणा कुम्भा पृ० 212।

5. राणा कुम्भा पृष्ठ 212

6. राजस्थानी जैन इतिहास—ब० नु० अमि० श० पृ० 464।

7. मिश्रीमल जी म० लिखित रघुनाथ चरित्र।

राजस्थान के मध्यकालीन प्रभावक जैन आचार्य : सौभाग्य मुनि "कुमुद" | २१५



ये जैन सूत्रों के विद्वान कवि थे । ये तेरापंथ सम्प्रदाय के संस्थापक हैं ।

उन्नीसवीं सदी के महानतम संत रत्नों में पूज्य श्री रोड़ जी स्वामी का नाम बहुत ऊँचा है । इनके जन्म की निश्चत तिथि तो कहीं मिली नहीं । हाँ, जन्म सं० १८०४ का होना सम्भव है । इनका जन्म स्थान देपर गाँव है । यह गाँव नाथद्वारा और माहोली के मार्ग पर स्थित है । ओसवाल लोढ़ा भोज है । राजीबाई और डूंगर जी माता-पिता हैं । सं० १८२४ में हीर जी मुनि के पास दीक्षित हुए ।<sup>1</sup>

ये घोर तपस्वी थे । प्रति माह दो अठाई तप, वर्ष में दो भासखमण तप और बेले बेले पारणा किया करते थे ।<sup>2</sup>

रायपुर कैलाशपुरी सनवाड़ आदि स्थानों पर अज्ञानी और शैतान व्यक्तियों ने इन्हें कई कष्ट दिये किन्तु इन्होंने परम समता भाव से सहा ।

कई जगह अपराधियों को राज्याधिकारियों ने पकड़ा भी और दंडित करना चाहा किन्तु इन्होंने उन्हें मुक्त कर देने को अनशन तक कर दिया ।<sup>3</sup>

उदयपुर में हाथी और सांड के द्वारा ही आहार लेने की प्रतिज्ञा, जिसे जैन परिभाषा में अभिग्रह कहा जाता है, स्वीकार किया । आश्चर्य कि वे अभिग्रह सफल हुए । हाथी ने अपनी सूँड से मुनि जी को मोदक दिया और सांड ने अपने सींग से गुड़ अटका कर मुनि के सामने प्रस्तुत किया ।<sup>4</sup>

यह वृत्तान्त भारत में मुख्यतया जैन समाज में बहुत प्रसिद्ध है । संवत् १८६१ में स्वामी जी का उदयपुर में स्वर्गवास हुआ । इनके साथ अनेक चमत्कारिक घटनाएँ भी जुड़ी हुई हैं ।

इन्हीं के सुशिष्य हुए हैं पूज्य नृसिंहदास जी म० । ये खत्रीवंशीय गुलाबचन्दजी एवं गुलाबबाई की संतान थे । सरदारगढ़ में इनको पू० रोड़ जी स्वामी मिले और उनसे प्रतिबोधित होकर संयम पथ पर बड़े । इन्होंने २१—२३ और माह भर के अनेक तप किये । ये बहुत अच्छे कवि भी थे ।

महावीर रो तवन, सुमति नाथ को तवन, श्रीमती सती आख्यान आदि आपकी कृतियां मेवाड़ शास्त्र भंडार में हैं । सुमति नाथ स्तवन में १३ गाथा हैं । इसमें संक्षिप्त में एक घटना भी दी है ।

दो माताओं के बीच एक पुत्र को लेकर झगड़ा था । दोनों पुत्र को अपना बता रही थीं । किसी से न्याय नहीं हो सका । यहाँ तक कि राजा से भी नहीं । तो रानी ने इस विवाद को सुलझाया । रानी ने कहा—बच्चे के दो टुकड़े कर आधा-आधा बाँट दिया जाए । इस पर वह माता जो असली नहीं थी इस निर्णय पर सहमत हो गई, वह तो चाहती यही थी कि मैं पुत्रहीन हूँ तो यह भी बैसी ही हो जाए किन्तु द्वितीय माता ने इस निर्णय का विरोध किया । उसने कहा—यह पुत्र उसे दे दो । पर मारो मत ।

1. बड़ी पट्टावली

2. नृसिंहदास जी म० कृत ढाल अ० गु० अ० ग्रन्थ० परि० ।

3. नृसिंहदास जी म० कृत ढाल अ० गु० अ० ग्रन्थ० परि० ।

4. रोड़ जी स्वामी ढाल (नृसिंह दास जी म० सा०) अ० गु० अ० ग्रन्थ० परि० ।

२१६ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



इस पर रानी मान गई कि यही इसकी सच्ची माँ है। और पुत्र उसे सौंप दिया। जब रानी ने यह निर्णय दिया तब रानी की कृषि में एक पुत्र रत्न था। उसके जन्म लेने पर उसका नाम सुमति रखा। क्योंकि निर्णय करते हुए रानी की सुमति जागृत हुई। वह पुत्र बड़ा होकर सुमतिनाथ तीर्थकर कहलाया।

प्रस्तुत भजन में यह सारा वर्णन संक्षिप्त में दिया गया है। इनका स्वर्गवास १८८६ फाल्गुन कृष्णा अष्टमी को हुआ।<sup>१</sup>

उन्नीसवीं सदी के आचार्यों में जयाचार्य का नाम भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इन्होंने ७ आगमों पर पद्य बन्ध राजस्थानी में टीकाएँ लिखीं। जो एक महत्वपूर्ण कार्य है। इन्होंने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है—जयाचार्य पर तेरापंथ सम्प्रदाय के मुनियों ने विस्तृत साहित्य लिखा है।

प्रभावक आचार्य परंपरा में पूज्य श्री घासीलाल जी म० सा० का नाम सदा ही हीर कणी की तरह दमकता रहेगा। इनका १९८५ में जगवन्तगढ़ में जन्म हुआ। इनके दीक्षा गुरु पूज्य आचार्य श्री जवाहरलाल जी म० हैं। इन्होंने स्थानकवासी जैनधर्म मान्य बत्तीस आगमों पर संस्कृत टीकाएँ लिख कर साहित्य जगत की इतनी बड़ी सेवा की है जो अप्रतिम है। कतिपय आगमों पर टीकाएँ तो अनेक आचार्यों ने लिखीं किंतु ३२ आगमों पर प्रांजल संस्कृत भाषा में टीका लिख देना सामान्य कार्य नहीं है।

इन्होंने टीका ग्रन्थों के अलावा कई मौलिक ग्रन्थ भी लिखे हैं। कई वर्षों तक ये सरसपुर, (अहमदाबाद) में स्थिर रहे, वहीं ठहर कर साहित्य सेवा की और वहीं स्वर्गवास भी हुआ।

राजस्थान में मध्यकाल में अताधिक प्रभावक जैन आचार्य हुए हैं। जैनधर्म के जितने संप्रदाय यहाँ प्रचलित हैं सभी के इतिहास में ऐसे गौरवशाली सत्पुरुषों का, धर्मधुरीण आचार्यों का सप्रमाण विस्तृत विवेचन मिलता है।

आवश्यकता है उन काल गर्भित महापुरुषों के इतिवृत्त को खोज निकालने की।



१. मानजी स्वामी कृत गुरुगुण अ० गु० अभिनन्दन ग्रन्थ परिशिष्ट।





## आज के जीवन में अहिंसा का महत्त्व

—डा. हुकमचंद जैन

(एम० ए० त्रय : (संस्कृत, इतिहास, प्राकृत)  
पी-एच० डी० असिस्टेंट प्रोफेसर  
जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग  
सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर)

भगवान् ऋषभदेव ने जिस साधना को अपनाया वह अहिंसा की साधना थी। उसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने प्राणातिपातविरमण किया।

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ हिंसा न करना अर्थात् "न हिंसा इति अहिंसा।" वास्तव में हिंसा क्या है? सूत्रकृतांग में लिखा है :—प्रमाद और भोगों में जो आसक्ति नहीं होती है वही अहिंसा है। संक्षेप में राग-द्वेष की प्रवृत्ति का आना हिंसा है। स्थूल रूप से हिंसा दो प्रकार की होती है। एक द्रव्यहिंसा जिसमें क्रिया द्वारा प्राणघात होता है। एक वह भी हिंसा है जो क्रिया द्वारा प्राणघात नहीं है अपितु किसी प्राणी के प्रति किंचित् बुरे विचार का आना है। इसे भावहिंसा कहते हैं। इसी बात को समणसुत्त में भी कहा गया है :—“प्राणियों की हिंसा करो और (उनकी) हिंसा न भी करो (किन्तु) (हिंसा के) विचार से (ही) (कर्म) बन्ध (होता है)। निश्चय नय के (अनुसार) यह जीवों के (कर्म) बन्ध का संक्षेप (है)।”<sup>1</sup>

इसके अलावा जैनेतर ग्रन्थों में भी अहिंसा के भाव दर्शाये गये हैं। बौद्ध के लंकावतार सूत्र में भी लिखा है :—“मद्य, मांस और प्याज नहीं खाना चाहिए।”<sup>2</sup>

मनुस्मृति में भी कहा गया है :—

दृष्टि पूतं न्यसेत पादम्।<sup>3</sup>

1. अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा य मारेज्ज।  
एसो बंध समासो, जीवाणं णिच्छय णयस्स ॥

—डा० के० सी० सोयाणी, समणसुत्त चयनिका, III-58

2. जैन, राजेन्द्र प्रसाद, जैनेतर धर्मों में अहिंसा का स्वर, नामक लेख।

—जिनवाणी 1984 में प्रकाशित

3. जैन, राजेन्द्र प्रसाद, जैनेतर धर्मों में अहिंसा का स्वर (मनुस्मृति का उल्लेख)।



अर्थात् पाँवों को सावधानीपूर्वक रखो ।

इस प्रकार जैनेतर ग्रन्थों में भी अहिंसा के भाव दिखायी देते हैं ।

इस संसार में जहाँ कहीं भी दृष्टि पड़ती है, वहाँ प्राणी हिंसा करता हुआ दिखायी देता है । आखिर इनके मूल में क्या है ? सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि हिंसक व्यक्ति छल-कपट, दाँव-पेंच, क्रोध-मान, माया-लोभ आदि कषायों से ग्रसित रहता है । जिसके परिणामस्वरूप हिंसक, जघन्य अपराध करता रहता है । अगर हम उनको यह उपदेश दें कि ये काम नहीं करने चाहिए । इनमें हिंसा निहित है या ये बुराइयों से युक्त हैं तो काम नहीं चलेगा । उसे ऐसे सरल उपाय बताने पड़ेंगे जिन्हें वह जीवन में सरलता से उतार सके क्योंकि नैतिक तत्व केवल उपदेश से गले नहीं उतरते अपितु उनको व्यावहारिकता में लाना आवश्यक है । केवल ऐसे उपदेशों से भी काम नहीं चलता वल्कि विभिन्न दृष्टान्तों, उदाहरणों के साथ स्वयं अपने आचरण के प्रयोग से ही सम्भव हो सकेगा ।

प्राणियों में जहाँ स्व-पर का भेद दिखाई देगा वहाँ हिंसा की भावना रहेगी । इसी बात को समणसुत्त में कहा गया है—“तुम स्वयं से (स्वयं के लिए) जो कुछ चाहते हो, (कर्मणः) उसको (तुम) दूसरों के लिए चाहो और (न चाहो), इतना ही जिन-शासन (है) ।”<sup>1</sup>

यदि वह सोचे जो मेरे लिए ठीक नहीं वह दूसरों के लिए कैसे ठीक हो सकता है । क्योंकि दूसरों का अहित अपना अहित है । दूसरों का हित अपना हित है । ऐसा कार्य करके अगर वे बता देंगे तो हिंसक प्राणी के दिल-दिमाग में यह बात ठीक बैठ जायेगी जो कुछ मैं कर रहा हूँ वह अलग है तथा उसकी हिंसक भावनाएँ, धीरे-धीरे गलने लगेगी । महात्मा गांधी के भी यही विचार थे । उन्होंने इस सिद्धान्त का व्यावहारिक जगत में प्रयोग कर लोगों की अहिंसा का मूल मन्त्र समझाया । अनेक लोगों ने इसका अनुसरण भी किया । पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने भी अपने पंचशील के सिद्धान्त में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया । इस स्वपर से समत्व एवं एकत्व की भावना को बढ़ावा मिलता है ।

जब तक प्राणी में “जीओ और जीने दो” की भावना घर नहीं करती तब तक उसमें ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य, छल-कपट आदि बुराइयाँ उसके आस-पास मण्डराती रहेगी । आचारांग में इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा गया है :—“सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, सभी को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय लगता है, बध अप्रिय लगता है, जीवन सभी को प्रिय लगता है ।”<sup>2</sup> इस बात से मनुष्य संवेदनशील बनता है तथा “जीओ और जीने दो” की भावना का विकास होता है तथा दूसरों के कष्ट को समझने की क्षमता आती है ।

प्रत्येक व्यक्ति धन-दौलत आदि वस्तुओं के संचय में लगा रहता है चाहे उसे आवश्यक हो या न हो । इसके लिए चाहे कितने ही गलत से गलत काम क्यों न करने पड़ते हों । फिर भी प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध रहता है । जिसके परिणामस्वरूप गलत प्रवृत्तियों का विकास होता है जिसमें सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक विषमताएँ फैल जाती हैं । मानव, दानव बनकर रह जाता है । इसलिए व्यक्ति को

1. सोगानी, डा० कमलचन्द जी, समणसुत्त चयनिका, गा० नं० 15 ।

2. सन्ने पाणा पिआउया सुदुसाता दुवल्ल पडिकुला अप्पियवघा ।

पियजीविणो जीवितुकामा । सम्भेसि जीवितं पियं ॥

—सोगानी, डा० कमलचन्द जी, आचारांग चयनिका, पृ० 24



उतना ही संचय करना चाहिए जितना आवश्यक हो। यदि आवश्यकता से अधिक संचय किया है तो उसका सामाजिक विकास में सदुपयोग हो। ऐसे व्यक्ति जो सामाजिक कार्य करते हुए दिखायी देते हैं, वे व्यक्ति किसी को उपदेशित करें तो उनका प्रभाव ज्यादा पड़ेगा।

मानव में आसक्तिजन्य भाव या अज्ञानता कूट-कूट कर भरी हुई है। इसी अज्ञानता के कारण वह दूसरों को दुःख देता है। हर इच्छा की पूर्ति में आसक्तिजन्य भाव दर्शाता है और उसके पीछे लगा रहता है। वह यह नहीं सोचता कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह सही है या गलत। इसका भावी पीढ़ी एवं समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा। जब यह बात उसकी समझ में आ जायेगी तब वह अच्छे काम करेगा। उसमें अज्ञानता एवं मोह शिथिल होने लगेगा।

केवल, ज्ञान ही नहीं उसके साथ करुणा का भाव भी आना आवश्यक है। करुणा मानव को जीवन के उच्च स्तर पर आसीन करती है क्योंकि वैचारिक भ्रान्ति के बाद ही प्राणी में करुणा का जन्म होता है। करुणा को अहिंसा का आधार कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। महाराजा कुमारपाल ने भी अमारि की घोषणा करवायी थी जो अशोक से भी एक कदम आगे दिखायी देता है। हेमचन्द्र ने अपने द्र्याश्रय काव्य में कहा है कि उन्होंने कसाइयों एवं शिकारियों द्वारा होने वाली हिंसा को रोका। इसी प्रकार के उल्लेख मारवाड़ के एक भाग में स्थित रतनपुर के शिव मन्दिर जोधपुर राज्य के किराड़ से प्राप्त हिंसा विरोध के आलेख आज भी इसकी साक्षी देते हैं। इसीलिए मनुष्य को प्राणियों के प्रति दया करना चाहिए। कवीर ने भी इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा है—

दया दिल में राखिए, तू क्यों निर्दय होय।  
साईं के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर होय ॥

अहिंसा को जीवन में उतारने के लिए व्यक्ति को चरित्र की आवश्यकता है। चरित्रवान व्यक्ति की कधनी और करनी में बहुत समानता होती है। चरित्रवान् व्यक्ति के गुणों का उल्लेख करते हुए समणसुत्त में कहा गया है—“जो चरित्र युक्त (है), (वह) अल्प शिक्षित होने पर (भी) विद्वान (व्यक्ति) को मात कर देता है, किन्तु जो चरित्रहीन है, उसके लिए बहुत श्रुत-ज्ञान से (भी) क्या लाभ (है) ?”<sup>1</sup> ऐसे व्यक्ति ही समाज एवं राष्ट्र के प्रति बफादार हो सकते हैं। दूसरे नहीं। भगवान् महावीर ने भी चरित्र की विशुद्धता पर विशेष बल दिया है। समणसुत्त में भी कहा है—“क्रिया-हीन ज्ञान निकम्मा (होता) है, तथा अज्ञान से (की हुई) क्रिया (भी) निकम्मी (होती है), (प्रसिद्ध है कि) देखता हुआ (भी) लंगड़ा (व्यक्ति) (आग से) भस्म हुआ और दौड़ता हुआ (भी) अन्धा व्यक्ति आग से भस्म हुआ।”<sup>2</sup>

चरित्र के महत्व को बताते हुए उमास्वाति ने अपने “तत्त्वार्थ सूत्र” में भी लिखा है—

सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।

चरित्र के अभाव के कारण हमारा देश अनेक व्याधियों, कठिनाइयों, अनेतिकत्ता एवं भ्रष्टाचार की ओर बढ़ रहा है। अपने कर्त्तव्य को कोई समझता नहीं अपितु दूसरों के कर्त्तव्यों की ओर दृष्टिपात करते हैं। यदि व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को समझने लग जाय तो वह एक दूसरे के प्रति निकट आशेषणा तथा

1. सोगानी डा० कमलचन्द जी, समणसुत्त चयनिका, गा० 81।

2. वही गाथा नं० 72।



राष्ट्र एवं समाज के प्रति वफादार बनेगा। वह ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, कृत्रिमता के वातावरण से दूर हटेगा एवं लोक कल्याण की भावना का विकास होगा।

मद्य, मांस आदि व्यसनो से दूर नहीं रहेगा तब तक उसमें अहिंसा की भावना का विकास नहीं हो सकता। लोगों को यह शिक्षा देनी पड़ेगी। चोरी नहीं करनी चाहिए। इससे मन दूषित होता है तथा अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। शराव नहीं पीना चाहिए। इसके पीने से बुद्धि नष्ट होती है। अरीर काम-वासनाओं से युक्त हो जाता है। वीमारियाँ फैलती हैं, धन का अपव्यय होता है। जुआ खेलने से आदमी उर्ध्व हो जाता है। उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा गिरती है। पर-स्त्री रमण करने वालों को सरे धाजार अपमानित किया जाता है। उसके परिवार एवं समाज पर कु-अभाव पड़ता है। शिकार से जीवों का वध होता है, जीव हिंसा की ओर अग्रसर होता है। इसी बात को समणमुक्त में समझाया गया है—

सर्वे जीवा वि दच्छन्ति, जीविउं न भरिज्जिउं ।  
तम्हा पाणवहं घोरं, निम्मंथा वज्जयंति ण ॥<sup>1</sup>

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि अहिंसा को हम तभी जीवन में उतार सकेंगे जब हम सभी में सहिष्णुता, चिष्यबन्धुत्व, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, दया, दान, नम्रता, अपरिग्रह की भावना पैदा हो। हम सभी मान, माया, लोभ, क्रोध आदि कषायों से दूर रहते हुए चरित्र का विकास करें। इसलिए प्रारम्भ से ही बच्चों में नैतिक शिक्षा का होना आवश्यक है। तार्किक भावों की पीढ़ी सुसंस्कारित हो सके। बच्चों को बचपन से ही यह भी शिक्षा मिलनी चाहिए। कम नहीं तोले, चोरी नहीं करे, मिलावट नहीं करे, लेन-देन के बाँट, तराजू, गज, मीटर सभी सही रखे, बच्चों को शराव, मांस आदि अन्य कुप्रवृत्तियों से दूर रखना चाहिए एवं बुराईयों का ज्ञान भी समय-समय पर कराना चाहिए। यदि हम बच्चों को आध्यात्मिक संस्कार में डालेंगे तब संभव हो सकता है कि विकृतियाँ उनमें नहीं दिखाई दें तथा आगे जाकर महान् पुरुष बन सकें।



1 वही, गा० न० 55 ।



## जैन परम्परा में काशी

—डा. सागरमल जैन

(१) जैन परम्परा में प्राचीनकाल से ही काशी का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है। उसे चार तीर्थंकरों की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। जैन परम्परा के अनुसार सुपाश्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांस और पार्श्व की जन्मभूमि माना गया है। अयोध्या के पश्चात् अनेक तीर्थंकरों की जन्मभूमि माने जाने का गौरव केवल वाराणसी को ही प्राप्त है। सुपाश्व और पार्श्व का जन्म वाराणसी में, चन्द्रप्रभ का जन्म चन्द्रपुरी में, जो कि वाराणसी से १५ किलोमीटर पूर्व में गंगा-कनारे स्थित है, और श्रेयांस का जन्म सिंहपुरी—वर्तमान सारनाथ में माना जाता है। यद्यपि इसमें तीन तीर्थंकर प्राक् ऐतिहासिक काल के हैं किन्तु पार्श्व की ऐतिहासिकता को अमान्य नहीं किया जा सकता है—ऋषिभाषित (ई० पू० तीसरी शताब्दी)<sup>१</sup> आचारांग (द्वितीय-श्रुत स्कन्ध)<sup>२</sup> भगवती,<sup>३</sup> उत्तराध्ययन<sup>४</sup> और कल्पसूत्र (लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व)<sup>५</sup> में पार्श्व के उल्लेख हैं। कल्पसूत्र और अन्य जैनागमों में उन्हें पुरुषादानीय<sup>६</sup> कहा गया है। अंगुत्तरनिकाय में पुरुषाजानीय<sup>७</sup> शब्द आया है। वाराणसी के राजा अश्वसेन का पुत्र बताया गया है तथा उनका काल ई० पू० नवीं-आठवीं शताब्दी माना गया है।<sup>८</sup> अश्वसेन की पहचान पुराणों में उल्लेखित हर्यश्व से की जा सकती है।<sup>९</sup> पार्श्व के समकालीन अनेक व्यक्तित्व वाराणसी से जुड़े हुए हैं। आर्यदत्त उनके प्रमुख शिष्य थे।<sup>१०</sup> पुष्पचूला प्रधान आर्या थी।<sup>११</sup> सुव्रत प्रमुख अनेक गृहस्थ उपासक<sup>१२</sup> और सुनन्दा प्रमुख अनेक गृहस्थ उपासकायें<sup>१३</sup> उनकी अनुयायी थीं। उनके प्रमुख गणधरों में सोम का उल्लेख है—सोम वाराणसी के विद्वान् ब्राह्मण के पुत्र थे।<sup>१४</sup> सोम का उल्लेख ऋषिभाषित में भी है।<sup>१५</sup> जैन परम्परा में पार्श्वनाथ के आठ गण और आठ गणधर माने गये हैं।<sup>१६</sup> मोतीचन्द्र ने जो चार गण और चार गणधरों का उल्लेख किया है वह भ्रान्त एवं निराधार है।<sup>१७</sup> वाराणसी में पार्श्व और कमठ तापस के विवाद की चर्चा जैन कथा साहित्य में है।<sup>१८</sup> वीघायन धर्मसूत्र से 'पारशवः' शब्द है, सम्भवतः उसका सम्बन्ध पार्श्व के अनुयायियों से हो यद्यपि मूल प्रसंग वर्णशंकर का है।<sup>१९</sup> पार्श्व के समीप इला, सतेश, सौदामिनी, इन्द्रा, धन्ना, विद्युता आदि वाराणसी की श्रेष्ठ पुत्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख ज्ञाता धर्मकथा (ईसा की प्रथम शती) में है।<sup>२०</sup> उत्तराध्ययन काशीराज के दीक्षित होने की सूचना देता है।<sup>२१</sup> काशीराज का उल्लेख महावग्ग व महाभारत में भी उपलब्ध है। अन्तकृतदशांग से काशी के राजा अलक्ष/अलर्क (अलक्ख) के महावीर के पास दीक्षित होने की सूचना मिलती है।<sup>२२</sup> अलर्क का काशी के राजा के रूप में



उल्लेख मत्स्यपुराण में है।<sup>13</sup> यद्यपि अलक्ष के अतिरिक्त शंख, कटक, धर्मरत्न नामक काशी के राजाओं के उल्लेख जैन कथा साहित्य में हैं किन्तु ये सभी महावीर और पार्श्व के पूर्ववर्ती काल के बताये गये हैं। अतः इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ कह पाना कठिन है। महावीर के समकालीन काशी के राजाओं में अलर्क/अलक्ष के अतिरिक्त जितशत्रु का उल्लेख भी उपासकदशांग में मिलता है।<sup>14</sup> किन्तु जितशत्रु ऐसा उपाधिपरक नाम है जो जैन परम्परा में अनेक राजाओं को दिया गया है। अतः इस नाम के आधार पर ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालना कठिन है। महावीर के दस प्रमुख गृहस्थ उपासकों में चुलनिपिता और मुरादेव वाराणसी के माने गये हैं—दोनों ही प्रतिष्ठित व्यापारी रहे हैं—उपासकदशांग इनके विपुल वैभव और धर्मनिष्ठा का विवेचन करता है।<sup>15</sup> महावीर स्वयं वाराणसी आये थे।<sup>16</sup> उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशी और यज्ञीय नामक अध्याय के पात्रों का सम्बन्ध भी वाराणसी से है दोनों में जानिवाद और कर्मकाण्ड पर करारी चोट की गई है।<sup>17</sup> पार्श्वनाथ के युग से वर्तमान काल तक जैन परम्परा को अपने अस्तित्व और ज्ञान प्राप्ति के लिए वाराणसी में कठिन संघर्ष करना पड़े हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम उन सबकी एक संक्षिप्त चर्चा करेंगे। किन्तु इससे पूर्व जैन आगमों में वाराणसी की भौगोलिक स्थिति का जो चित्रण उपलब्ध है उसे दे देना भी आवश्यक है।

(२) जैन आगम प्रज्ञापना में काशी की गणना एक जनपद के रूप में की गई है और वाराणसी को उसकी राजधानी बताया गया है। काशी की सीमा पश्चिम में वत्स, पूर्व में मगध, उत्तर में विदेह और दक्षिण में कोसल बताया गया है। बौद्ध ग्रन्थों में काशी के उत्तर में कोशल को बताया गया है। ज्ञाताधर्मकथा में वाराणसी की उत्तर-पूर्व दिशा में गंगा की स्थिति बताई गई है। वहीं मृतगंगातीरद्रह (तालाब) भी बताया गया है।<sup>18</sup> यह तो सत्य है कि वाराणसी के निकट गंगा उत्तर-पूर्व होकर बहती है। वर्तमान में वाराणसी के पूर्व में गंगा तो है किन्तु किसी भी रूप में गंगा की स्थिति वाराणसी के उत्तर में सिद्ध नहीं होती है। मात्र एक ही विकल्प है वह यह कि वाराणसी की स्थिति राजघाट पर मानकर गंगा को नगर के पूर्वोत्तर अर्थात् ईशानकोण में स्वीकार किया जाये तो ही इस कथन की संगति बैठती है। उत्तराध्ययनचूर्ण में 'यथंग' शब्द की व्याख्या मृतगंगा के रूप में की गई है—इससे यह ज्ञात होता है कि गंगा की कोई ऐसी धारा भी थी जो कि नगर के उत्तर-पूर्व होकर बहती थी किन्तु आगे चलकर यह धारा मृत हो गई अर्थात् प्रवाहशील नहीं रही और इसने एक द्रह का रूप ले लिया। यद्यपि मोतीचन्द्र ने इसकी सूचना दी है किन्तु इसका योग्य समीकरण अभी अपेक्षित है। गंगा की इस मृतधारा की सूचना जैनागमों और चूर्णियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। यद्यपि प्राकृत शब्द मयंग का एक रूप मातंग भी होता है ऐसी स्थिति में उसके आधार पर उसका एक अर्थ गंगा के किनारे मातंगों की बस्ती के निकटवर्ती तालाब से भी हो सकता है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उसके समीप मातंगों (श्वपाकों) की बस्ती स्वीकृत की गई है।<sup>19</sup> जैनागमों में वाराणसी के समीप आश्रमपद (कल्पसूत्र)<sup>20</sup> कोटक (उपासकदशांग)<sup>21</sup> अम्बशालवन (निरयावलि)<sup>22</sup> काममहावन (अन्तकृतदशांग)<sup>23</sup> और तेंदुक (उत्तराध्ययननिर्युक्ति)<sup>24</sup> नामक उद्यानों एवं वनखण्डों के उल्लेख हैं। औपपातिक सूत्र से गंगा के किनारे बसनेवाले अनेक प्रकार के तापसों की सूचना हमें उपलब्ध होती है। विस्तारभय से यहाँ उन सबका उल्लेख आवश्यक नहीं है। किन्तु उससे उस युग की धार्मिक स्थिति का पता अवश्य चल जाता है।<sup>25</sup>

जैनागमों में हमें वाराणसी का शिव की नगरी के रूप में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है—मात्र १४ वीं शताब्दी में विविधतीर्थ कल्प में इसका उल्लेख मिलता है जबकि यहाँ यक्षपूजा के प्रचलन के



प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में वाराणसी के उत्तर-पूर्व दिशा में तेंदुक उद्यान में गण्डी यक्ष के यक्षायतन का उल्लेख मिलता है। यही यक्ष हरिकेशवल नामक चाण्डालजाति के जैन श्रमण पर प्रसन्न हुआ था। उत्तराध्ययन सूत्र (ईसा-पूर्व) में और उसकी निर्युक्ति में यह कथा विस्तार से दी गई है। हरकेशवल मुनि भिक्षार्थ यज्ञ मण्डप में जाते हैं, चाण्डाल जाति के होने के कारण मुनि को यक्ष मण्डप से भिक्षा नहीं दी जाती है और उन्हें यज्ञमण्डप से मारकर निकाला जाता है—यक्ष कुपित होता है—सभी क्षमा माँगते हैं, हरिकेश सच्चे यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करते हैं आदि<sup>36</sup>। प्रस्तुत कथा से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है—यक्ष-पूजा का श्रमण परम्परा में उतना विरोध नहीं था जितना कि हिंसक यज्ञों के प्रति था। उत्तराध्ययन की यह यज्ञ की नवीन आध्यात्मिक परिभाषा हमें महाभारत में भी मिलती है। हो सकता है कि हरिकेश की इसी घटना के कारण वाराणसी का यह गण्डीयक्ष हरिकेश यक्ष के नाम से जाना जाने लगा हो। मत्स्यपुराण में हरिकेश यक्ष की कथा वर्णित है—उसे सात्विकवृत्ति का और तपस्वी बताया गया किन्तु उसे शिवभक्त के रूप में दर्शित किया गया है।<sup>37</sup> उत्तराध्ययन की कथा—मत्स्यपुराण की अपेक्षा प्राचीन है। कथा का मूल स्रोत एक है और उसे अपने धर्मों के रूपान्तरित किया गया है। यक्ष-पूजा के प्रसंग की चर्चा करते हुए श्री मोतीचन्द्र ने उत्तराध्ययन के ३/१४ और १६/१६ ऐसे दो सन्दर्भ दिये हैं—किन्तु वे दोनों ही भ्रान्त हैं।<sup>38</sup> हरिकेशवल का चाण्डाल श्रमण विवरण और उसका सहायक यक्ष का विवरण उत्तराध्ययन के १२ वें अध्याय में है। गण्डि तेंदुक यक्ष का नामपूर्वक उल्लेख उत्तराध्ययन निर्युक्ति में है।<sup>39</sup>

(३) जैनधर्म प्रारम्भ से ही कर्मकाण्ड और जातिवाद का विरोधी रहा है—और उनके इस विरोध की तीन घटनाएँ वाराणसी के साथ ही जुड़ी हुई हैं—प्रथम घटना—पार्श्वनाथ और कमठ तापस के संघर्ष की है, दूसरी घटना हरिकेशवल की याज्ञिकों से विरोध की है—जिसमें जातिवाद और हिंसक यज्ञों का खण्डन है—और तीसरी घटना जयघोष और विजयघोष के बीच संघर्ष की है इसमें भी सादाचारी व्यक्ति को सच्चा ब्राह्मण कहा गया है और वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध जन्म के स्थान पर कर्म से बताया गया है।

पार्श्व के युग से ही हमें जैन साहित्य में इन संघर्षों के कुछ उल्लेख मिलते हैं। वस्तुतः ये संघर्ष मुख्यतः कर्मकाण्डीय परम्परा को लेकर थे। जैसा कि सुविदित है कि जैन परम्परा हमेशा कर्मकाण्डों का विरोध करती रही। उसका मुख्य बल आन्तरिक शुद्धि, संयम और ज्ञान का रहा है। पार्श्वनाथ वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र माने जाते हैं। पार्श्व को अपने वाल्यकाल में सर्वप्रथम उन तापसों से संघर्ष करना पड़ा जो देहदण्डन को ही धार्मिकता का समस्त उत्स मान बैठे थे और अज्ञानयुक्त देहदण्डन को ही धर्म के नाम पर प्रसारित कर रहे थे। पार्श्वनाथ के समय में कमठ की एक तापस के रूप में बहुत प्रसिद्ध थी। वह पंचाग्नि तप करता था। उसके पंचाग्नि तप में ज्ञात या अज्ञात रूप से अनेक जीवों की हिंसा होती थी। पार्श्व ने उसे यह समझाने का प्रयास किया कि धर्म मात्र कर्मकाण्ड नहीं, उसमें विवेक और आत्मसंयम आवश्यक है। किन्तु आत्मसंयम का तात्पर्य भी मात्र देहदण्डन नहीं है। पार्श्व धार्मिकता के क्षेत्र में अन्धविश्वास और जड़क्रियाकाण्ड का विरोध करते हैं और इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा को अपनी स्थापना के लिए सर्वप्रथम जो संघर्ष करना पड़ा उसका केन्द्र वाराणसी ही था। पार्श्वनाथ और कमठ के संघर्ष की सूचना हमें जैन साहित्य में लीखार्थारिक<sup>40</sup> तथा आवश्यक-निर्युक्ति<sup>41</sup> में मिलती है। पार्श्वनाथ और कमठ का संघर्ष वस्तुतः ज्ञानमार्ग और देहदण्डन/कर्मकाण्ड का



संघर्ष था। कर्मठ और पार्श्व के अनुयायियों के विवाद की सूचना वौधायन धर्मसूत्र में भी है। जैन परम्परा और ब्राह्मण परम्परा के बीच दूसरे संघर्ष की सूचना हमें उत्तराध्ययनसूत्र से प्राप्त होती है। यह संघर्ष मूलतः जातिवाद या ब्राह्मणवर्ग की श्रेष्ठता को लेकर था। उत्तराध्ययन एवं उसकी निर्युक्ति से हमें यह सूचना प्राप्त होती है कि हरकेशिवल और रुद्रदेव के बीच एवं जयघोष और विजयघोष के बीच होने वाले विवादों का मूल केन्द्र वाराणसी ही था।<sup>12</sup> ये चर्चाएं आगम ग्रन्थों और उनकी निर्युक्तियों और चूर्णियों में उपलब्ध हैं और ईसा पूर्व में वाराणसी में जैनों की स्थिति की सूचना देती हैं।

(४) गुप्तकाल में वाराणसी में जैनों की क्या स्थिति थी इसका पूर्ण विवरण तो अभी खोज का विषय है। हो सकता है कि भाष्य और चूर्णों साहित्य से कुछ तथ्य सामने आयें। पुरातात्विक प्रमाणों— राजघाट से प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति और पहाड़पुर से प्राप्त गुप्त संवत् १५८ (४७६ ई०) के एक ताम्रपत्र से इतना तो निश्चित हो जाता है कि उस समय यहाँ जैनों की वस्ती थी। यह ताम्रपत्र यहाँ स्थित बटगोहाली विहार नामक जिन-मन्दिर की सूचना देता है।

इस विहार का प्रबन्ध आचार्य गुणनन्दि के शिष्य करते थे। आचार्य गुणनन्दि पंचसूपांश्वय में हुए हैं।<sup>13</sup> पंचसूपांश्वय श्वेताम्बर और दिग्म्बर परम्पराओं से भिन्न यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित था। इस ताम्रपत्र से यह भी ज्ञात हो जाता है कि मथुरा के समान वाराणसी में भी यापनीयों का प्रभाव था।

गुप्तकाल की एक अन्य घटना जैन आचार्य सभंतभद्र से सम्बन्धित है। ऐसा लगता है कि गुप्तकाल में वाराणसी में ब्राह्मणों का एकच्छत्र प्रभाव हो गया था। जैन अनुश्रुति के अनुसार समन्तभद्र जो कि जैन परम्परा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे, उन्हें भस्मक रोग हो गया था और इसके लिए वे दक्षिण से चलकर वाराणसी तक आये थे। अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने यहाँ शिव-मन्दिर में पौरोहित्य-कर्म किया और शिव के प्रचुर नैवेद्य से क्षुधा-तृप्ति करते रहे। किन्तु एक बार वे नैवेद्य को ग्रहण करते हुए पकड़े गये और कथा के अनुसार उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए स्वयम्भू स्तोत्र की रचना की और शिवलिंग से चन्द्रप्रभ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रकट की।<sup>14</sup>

यह कथा एक अनुश्रुति ही है किन्तु इससे दो-तीन बातें फलित होती हैं। प्रथम तो यह कि सभंतभद्र को अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए और अन्य दर्शनों के ज्ञान को अर्जित करने के लिए सुदूर दक्षिण से चलकर वाराणसी आना पड़ा, क्योंकि उस समय भी वाराणसी को विद्या का केन्द्र माना जाता था। उनके द्वारा शिव मन्दिर में पौरोहित्य कर्म को स्वीकार करना सम्भवतः यह बताता है कि या तो उन्हें जैनमुनि के वेश में वैदिक परम्परा के दर्शनों का अध्ययन कर पाना सम्भव न लगा हो अथवा यहाँ पर जैनों की वस्ती इतनी नगण्य हो गयी हो कि उन्हें अपनी आजीविका की पूर्ति के लिए पौरोहित्य कर्म स्वीकार करना पड़ा। वस्तुतः उनका यह छद्मनेष का धारण विद्या अर्जन के लिए ही हुआ होगा, क्योंकि ब्राह्मण पंडित नास्तिक माने जाने वाले नग्न जैन मुनि को विद्या प्रदान करने को सहमत नहीं हुए होंगे। इस प्रकार जैनों को विद्या अर्जन के लिए भी वाराणसी में संघर्ष करना पड़ा है।

जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि गुप्तकाल में काशी में जैनों का अस्तित्व रहा है। यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उस काल में इस नगर में जैनों का कितना—क्या प्रभाव था? पुरातात्विक साक्ष्य केवल हमें यह सूचना देते हैं कि उस समय यहाँ जैन मन्दिर थे। काशी से जो जैन





मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें ईसा की लगभग छठी शताब्दी की महावीर की मूर्ति महत्वपूर्ण है। यह मूर्ति भारत कला भवन में है (क्रमांक १६१)। राजघाट से प्राप्त नेमिनाथ की मूर्ति भी लगभग सातवीं शताब्दी की मानी जाती है। यह मूर्ति भी भारत कला भवन में है। अजितनाथ की भी लगभग सातवीं शताब्दी की एक मूर्ति वाराणसी में उपलब्ध हुई है जो वर्तमान में राजकीय संग्रहालय लखनऊ में स्थित है (क्रमांक ४६-१६६)। इसी प्रकार पार्श्वनाथ की भी लगभग आठवीं शताब्दी की एक मूर्ति जो कि राजघाट से प्राप्त हुई थी राजकीय संग्रहालय लखनऊ में है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि ईसा की पांचवीं छठी शताब्दी से लेकर आठवीं शती तक वाराणसी में जैन मंदिर और मूर्तियाँ थीं। इसका तात्पर्य यह भी है कि उस काल में यहाँ जैनों की वस्ती थी।

पुनः नवी, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के भी जैन पुरातात्विक अवशेष हमें वाराणसी में मिलते हैं। नवीं शताब्दी की विमलनाथ की एक मूर्ति सारनाथ संग्रहालय में उपलब्ध है (क्रमांक २३६)। पुनः राजघाट से ऋषभनाथ की एक दसवीं शताब्दी की मूर्ति तथा ग्यारहवीं शताब्दी की तीर्थंकर मूर्ति का शिरोभाग उपलब्ध हुआ है। ये मूर्तियाँ भी भारत कला भवन में उपलब्ध हैं (क्रमांक १७६ तथा १६७)। उपर्युक्त अधिकांश मूर्तियों के कालक्रम का निर्धारण डा० माहतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने अपने लेख "काशी में जैनधर्म और कला" में किया है।<sup>15</sup> हमने उन्हीं के आधार पर यह कालक्रम प्रस्तुत किया है। पुनः हमें बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी की वाराणसी के सम्बन्ध में प्रबन्धकोश और विविधतीर्थकल्प से सूचना मिलती है। प्रबन्धकोश में हर्षकविप्रबन्ध में वाराणसी के राजा गोविन्दचन्द्र और उनके पुत्रों विजयचन्द्र आदि के उल्लेख हैं।<sup>16</sup> तेजपाल वस्तुपाल द्वारा वाराणसी तक के विविध जिन मन्दिरों के जीर्णोद्धार के उल्लेख हैं।<sup>17</sup> विविधतीर्थकल्प में वाराणसी के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, उसमें अधिकांश तो आगमकालीन कथाएँ ही हैं किन्तु विविधतीर्थकल्प के कर्ता ने इसमें हरिश्चन्द्र की कथा को भी जोड़ दिया है। इस ग्रन्थ से चौदहवीं शताब्दी की वाराणसी के सम्बन्ध में दो-तीन सूचनाएँ मिलती हैं।<sup>18</sup> प्रथम तो यह कि यह एक विद्या नगरी के रूप में विख्यात थी और दूसरे परिबुद्ध जनों (संन्यासियों) एवं ब्राह्मणों से परिपूर्ण थी। वाराणसी के सन्दर्भ में विविधतीर्थकल्पकार ने जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण सूचना दी है वह यह कि वाराणसी उस समय चार भागों में विभाजित थी। देव वाराणसी जहाँ विश्वनाथ का मन्दिर था और वहीं जिनचतुर्विंशतिपट्ट की पूजा भी होती थी। दूसरी राजधानी वाराणसी थी जिसमें यवन रहते थे। तीसरी मदन वाराणसी और चौथी विजय वाराणसी थी। इसके साथ ही इन्होंने वाराणसी में पार्श्वनाथ के चैत्य, सारनाथ के धर्मेशा नामक स्तूप तथा चन्द्रावती में चन्द्रप्रभ का भी उल्लेख किया है। उस समय वाराणसी में बन्दर इधर-उधर कूदा करते थे, पशु भी घूमा करते थे और धूर्त भी निस्संकोच टहलते रहते थे।<sup>19</sup> जिनप्रभ के इस वर्णन से ऐसा लगता है कि उन्होंने वाराणसी का आँखों देखा वर्णन किया है। देव वाराणसी को विश्वनाथ मन्दिर के आस-पास के क्षेत्र से आज भी जोड़ा जा सकता है। राजधानी वाराणसी का सम्बन्ध श्री मोतीचन्द्र ने आदमपुर और जैतपुर के क्षेत्रों से बताया है। श्री मोतीचन्द्र ने मदन वाराणसी को गाजीपुर की जमनिया तहसील में स्थित तथा विजय वाराणसी को मिर्जापुर के विजयगढ़ से सम्बन्धित माना है किन्तु मेरी दृष्टि से मदन वाराणसी और विजय वाराणसी बनारस के ही अंग होने चाहिए। कहीं मदन वाराणसी आज का मदनपुरा तो नहीं था। इसी प्रकार विजय वाराणसी वर्तमान मेरूपुर के आस-पास तो स्थित नहीं थी। विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध में अधिक गवेषणा कर सूचना देंगे।



(५) पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में वाराणसी में जैनों की स्थिति के सम्बन्ध में ही हमें पुरातात्विक एवं साहित्यिक दोनों प्रकार के ही साक्ष्य मिलते हैं। प्रथम तो यहाँ के वर्तमान मन्दिरों की अनेक प्रतिमायें इसी काल की हैं। दूसरे, इस काल के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी वाराणसी के जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं। तीसरे, इस काल की वाराणसी के सम्बन्ध में कुछ संकेत हमें बनारसीदास के अर्धकथानक से मिल जाते हैं। बनारसीदास जो मूलतः आगरा के रहने वाले थे अपने व्यवसाय के लिए काफी समय बनारस में रहे और उन्होंने अपनी आत्मकथा (अर्धकथानक) में उसका उल्लेख भी किया है। उनके उल्लेख के अनुसार १५६८ ई० में जौनपुर के सूबेदार नवाब किलीच खाँ ने वहाँ के सभी जौहरियों को पकड़कर बन्द कर दिया था। उन्होंने अर्धकथानक में विस्तार से सोलहवीं शताब्दी के बनारस का वर्णन किया है।<sup>११</sup> यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है।

सत्रहवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय नामक जैन श्वेताम्बर मुनि गुजरात से चलकर बनारस अपने अध्ययन के लिए आये थे। वाराणसी सदैव से विद्या का केन्द्र रही और जैन विद्वान् अन्य धर्म-दर्शनों के अध्ययन के लिए समय-समय पर यहाँ आते रहे। यद्यपि यह भी विचारणीय है कि इस सम्बन्ध में उन्हें अनेक बार कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा। सोलहवीं, सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी की जैन मूर्ति या तथा हस्तलिखित ग्रन्थ वाराणसी में उपलब्ध हैं, यद्यपि विस्तृत विवरण का अभाव ही है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वाराणसी में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। बिशप हेबर ने उस समय जैनों के पारस्परिक झगड़ों का उल्लेख किया है। सामान्यतया जैन मन्दिरों में अन्यो का प्रवेश वर्जित था। बिशप हेबर को प्रिसेप और मेकलियड के साथ जैन मन्दिर में प्रवेश की अनुमति मिली थी। उसने अपने जैन मन्दिर जाने का एवं वहाँ जैन गुरु से हुई उसकी भेंट का तथा स्वागत का विस्तार से उल्लेख किया है (देखें—काशी का इतिहास—मोतीचन्द्र, पृ० ४०२—४०३)। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में जैन आचार्यों ने इस विद्या नगरी को जैन विद्या के अध्ययन का केन्द्र बनाने के प्रयत्न किये। चूँकि ब्राह्मण अध्यापक सामान्यतया जैन को अपनी विद्या नहीं देना चाहते थे अतः उनके सामने दो ही विकल्प थे, या तो छद्म वेष में रहकर अन्य धर्म-दर्शनों का ज्ञान प्राप्त किया जाये अथवा जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन का कोई स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित किया जाये। गणेशवर्णी और विजयधर्म सूरि ने यहाँ स्वतन्त्ररूप से जैन विद्या के अध्ययन के लिए पाठशालाएँ खोलने का निर्णय लिया। उसी के परिणामस्वरूप अंग्रेजी कोठी में यशोविजय पाठशाला और भदैनी में स्याद्वाद महाविद्यालय की नींव रखी गयी। श्वेताम्बर परम्परा के दिग्गज जैन विद्वान् पं० सुखलालजी संघवी, पण्डित बेचरदास जी, पण्डित हरगोबिन्ददास जी आदि जहाँ यशोविजय पाठशाला की उपज हैं वहीं दिग्म्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् पण्डित कैलाशचन्द्र जी, पण्डित फूलचन्द्रजी आदि स्याद्वाद महाविद्यालय की उपज हैं। दिग्म्बर परम्परा के आज के अधिकांश विद्वान् स्याद्वाद महाविद्यालय से ही निकले हैं। यशोविजय पाठशाला यद्यपि अधिक समय तक नहीं चल सकी किन्तु उसने जो विद्वान् तैयार किये उनमें पण्डित सुखलाल जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन के अध्यापक बने और उन्होंने अपनी प्रेरणा से पार्श्वनाथ विद्याश्रम को जन्म दिया, जो कि आज वाराणसी में जैन विद्या के उच्च अध्ययन एवं प्रकाशन का एक प्रमुख केन्द्र बन चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्वनाथ के युग से लेकर वर्तमान काल तक लगभग अठाईस सौ वर्षों की सुदीर्घ कालावधि में वाराणसी में जैनों का निरन्तर अस्तित्व रहा है और इस नगर ने जैन विद्या और कला के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

जैन परम्परा में काशी : डॉ० सागरमल जैन | २२७



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. ऋषिभाषित ३१ ।
२. भगवती सूत्र पृ० २२६, ३७८ ।
५. कल्पसूत्र १४८ ।
७. अंगुत्तर निकाय ७, २६० ।
८. काशी का इतिहास-मोतीचन्द्र, पृष्ठ २२ ।
११. वही १५७ ।
१३. वही १५७ ।
१५. ऋषिभाषित ४२ ।
१७. काशी का इतिहास-मोतीचन्द्र, पृ० ३८ ।
१९. बौधायन धर्मसूत्र, १, ९, १७, ३ ।
२१. उत्तराध्ययनसूत्र, १८, ४९ ।
२३. मत्स्यपुराण १८०, ६८ ।
२५. वही ४, १ ।
२७. देखें, उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय १२ और २५ ।
२८. तेण कालेण तेणं समएणं वाणारसी नाम नयरी होत्था, वन्नओ । तीमे ण वाणारसीए नयरीए बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसिभागे गंगाए महानदीए भयंगतीरद्दहे नामं दहे होत्था । —ज्ञाताधर्मकथा, ४, २ ।
२९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, अध्याय १२, पृष्ठ ३५५ ।
३१. उपासकदशांग, ३, १२४ । आवश्यकनिर्युक्ति, १३०२ ।
३२. निरयावलिका ३, ३ ।
३४. उत्तराध्ययननिर्युक्ति अध्याय १२, पृष्ठ ३५५ ।
३६. उत्तराध्ययन, अध्याय १२ ।
३७. मत्स्यपुराण—१८०, ६-२० एवं १८०, ८८-९९ उद्धृत काशी का इतिहास पृ० ३३ ।
३८. काशी का इतिहास-मोतीचन्द्र, पृ० ३२-३३ ।
४०. तीर्थोद्गारिक ।
४२. उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय १२ एवं २५ ।
४४. वीर शासन के प्रभावक आचार्य—डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर पृ० ३३ ।
४५. काशी में जनधर्म और कला—डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ।
४६. प्रबन्ध कोश—हर्षकवि प्रबन्ध ।
४८. विविधतीर्थकल्प, वाराणसी कल्प ।
५०. अर्ध कथानक-उद्धृत, काशी का इतिहास—मोतीचन्द्र पृष्ठ २१० ।
२. आचारंग सूत्र २, १५, ७४५ ।
४. उत्तराध्ययन सूत्र २३, १ ।
६. वही १४८ ।
८. कल्पसूत्र १४८ ।
१०. कल्पसूत्र १५७ ।
१२. वही १५७ ।
१४. वही १५६ ।
१६. कल्पसूत्र १५६ ।
१८. चउपन्नमहापुरिसचरिय २१६ ।
२०. ज्ञाताधर्मकथा २, ३, २-६ ।
२२. अन्तकृतदशांग ६, १६ ।
२४. उपासकदशांग ४, १ ।
२६. आवश्यकनिर्युक्ति ५१७ एवं उपासकदशांग ४, १ ।
३०. कल्पसूत्र, १५३ ।
३३. अन्तकृतदशांग ६, १६ ।
३५. औपपातिक सूत्र ७४ ।
४१. आवश्यकनिर्युक्ति ।
४३. देखें—काशी का इतिहास—मोतीचन्द्र पृ० १०० ।
४७. वही, वस्तुपाल प्रबन्ध ।
४९. वही ।



## ईर्यासमिति और पद-यात्रा

—डा. संजवी प्रचण्डिया 'सोमेन्द्र'  
(एम० काम०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०)

शब्दों में अर्थों की अभिव्यंजना हुआ करती है। शब्दों का सही प्रयोग ही उस अर्थ की आत्मा को उजागर करता है। यहाँ हम प्रस्तुत विषय 'ईर्यासमिति और पद-यात्रा' पर चर्चा करना चाहेंगे। प्रस्तुत विषय का शिल्प दो शब्दों के योग का सहयोग है। एक 'ईर्या—समिति' और दूसरा 'पद-यात्रा'। ईर्यासमिति क्या है? तथा पद-यात्रा से इसका क्या सम्बन्ध है? क्या उपयोगिता है? यही जानकारी विषय की अहं स्थिति को उजागर करती है।

चलने-फिरने से लेकर बोल-चाल, आहार-ग्रहण, वस्तुओं के उठाव-धराव, मल-मूत्र का निक्षेपण, सफाई-मुथराई आदि तक का समूचा कर्म-कौशल जिसमें प्राणी मात्र किंचित् आहत न हो, बस इसी स्थिति का नाम समिति है। इसीलिए राजवार्तिक में स्पष्ट लिखा है—“सम्यगितिः समित्तिरितिः” अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति का नाम समिति है। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि में भी समिति का इस प्रकार से उल्लेख मिलता है, ‘प्राणि पीड़ा परिहारार्थं सम्यगयनं समितिः’ अर्थात् प्राणी पीड़ा के परिहार के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है।

श्रमण संस्कृति में समिति के पाँच प्रकार बताये गये हैं यथा—

“इरिया भासा एसणा जा सा आदाण चैव णिक्खेवो ।  
संजमसोहि णिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ।”

अर्थात् ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और प्रतिष्ठापन समिति। इन्हीं समितियों के बीच प्रत्येक प्राणी अपने कर्म-कौशल को हल करता है। यहाँ ईर्यासमिति के विषय में संक्षिप्त विचार करते हुए उसकी पद यात्रा में उपयोगिता क्या है? पर विचार करेंगे—

आवागमन के समय मार्ग में विचरण करने वाले किसी भी प्राणी का किंचित् अहित न होने देना ईर्यासमिति कहलाती है। “फामुयमग्गेण दिवा जुवं तरप्पहेणा सकज्जेण । जंतूण परिहरति इरियासमिदी हवे गमणं” अर्थात् प्रामुक मार्ग से दिन में चार हाथ प्रमाण देखकर अपने कार्य के लिए प्राणियों को पीड़ा नहीं देते हुए संयमी का जो गमन है, वह ईर्यासमिति है।

ईर्या का अर्थ चर्या से है। केवल गमनागमन ही नहीं किन्तु सोना, उठना, बैठना, जागना आदि सभी प्रवृत्तियाँ ईर्या के अन्तर्गत हैं और इन प्रवृत्तियों के घटित होने पर कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए जिससे किसी जीव को किसी भी प्रकार का कष्ट या भय हो। इन प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति के पीछे महत्व उसके उद्देश्य पर निहित होता है। अर्थात् गमन का उद्देश्य क्या है? उसे कहाँ जाना है? क्या वहाँ जाने से उसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की अभिवृद्धि होनी है? गमन के समय उसके चित्त की

ईर्यासमिति और पद-यात्रा : डॉ० संजीव प्रचण्डिया 'सोमेन्द्र' | २२६



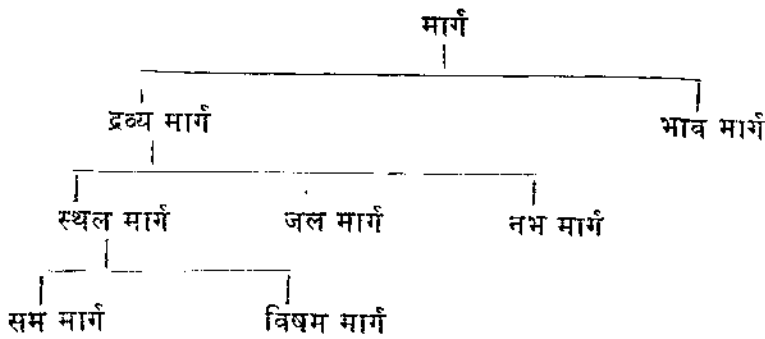
कैसी स्थिति है ? वह जिस उद्देश्य से जा रहा है, विचारों के विरोधी विषय क्या उसके भावों को गर्त की ओर तो नहीं ले जा रहे हैं ?

“ईयायां समितिः ईर्यासमितिस्तथा । ईर्या विषये एकीभावेन चष्टे नमित्यर्थः” अर्थात् ईर्या का अर्थ गमन है। गमन विषयक सत् प्रवृत्ति ईर्यासमिति है। ईर्यासमिति की विशुद्ध आराधना व साधना के लिए चार आलम्बनों का ध्यान रखना आवश्यक है— अवस्सिया, काल, मार्ग और यतना। ये चारों आलम्बन/दातें ईर्यासमिति को सम्पुष्ट करने में रामबाण का कार्य करती हैं।

साधक की साधना रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु होती है। यही उसका लक्ष्य होता है। वह इस लक्ष्य को पाने के लिए अर्थात् रत्नत्रय (दर्शन, ज्ञान और चारित्र) की अभिवृद्धि के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को गमनागमन करता है। वह बिना आवश्यक कार्य के उपाश्रय से बाहर नहीं जाता और धैर्य-केत-प्रकारेण उसे जाना ही पड़ जाए तो जाने से पूर्व वह अवस्सिया का तीन बार उच्चारण करता है। यह उसकी समाचारी है और इसी को ईर्यासमिति का आलम्बन कहा जाता है।

ईर्यासमिति का दूसरा आलम्बन ‘काल’ कहा जाता है। काल अर्थात् समय। ईर्यासमिति का पालन दिन में हो सकता है रात्रि में नहीं। इसीलिए रात्रि में किया जाने वाला विहार निषेध माना गया है। आचार्यों ने श्रमण का विहार-काल नौ कल्प में बाँटा है। वह चातुर्मास को छोड़कर किसी भी स्थान पर एक मास से अधिक की अवधि नहीं व्यतीत कर सकते हैं। इस प्रकार आठ मास के आठ कल्प और चातुर्मास का एक कल्प, कुल मिलाकर नौ-कल्प की काल-लब्धि का निर्धारण हुआ है।

ईर्यासमिति का तीसरा आलम्बन ‘मार्ग’ कहा जाता है। इसे एक चार्ट के द्वारा दर्शाया जा सकता है—



साधक को सम मार्ग पर चलना चाहिए, विषम मार्ग पर नहीं। विषम मार्ग में चलने से विराधना की सम्भावना रहती है। ऐसे मार्ग पर चलने से प्रायः पथ-भ्रम या दिग्-भ्रम हो सकता है जिससे साधक उन्मार्ग की ओर उन्मुख हो सकता है। जिस मार्ग से जादे में मानसिक, वाचिक और कायिक क्लेश की सम्भावना हो सकती है उस मार्ग से भी नहीं जाना चाहिए। जल मार्ग पर चलना भी जैन संस्कृति में मना बताया गया है। प्राणी विज्ञान की दृष्टि से जल की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं और यदि जैन साधु जल-मार्ग से जाते हैं तो असंख्य जीवों की विराधना सुनिश्चित हो जाती है। अतः वे जल मार्ग से नहीं जाते। किन्तु विशेष परिस्थिति में वे जल में जा सकते हैं जैसे वर्षा हो रही हो और मल-सूत्र के वेग को रोकना सम्भव नहीं हो (क्योंकि उसको रोकने से अनेक रोगों की सम्भावना रहती है तथा



औषधि-आदि में भी अनेक दोष निहित होते हैं) या संध्या के पूर्व उन्हें अपने स्थान पर पहुँचना आवश्यक हो आदि। इसी प्रकार, आकाश मार्ग का उपयोग भी निषिद्ध माना गया है। साधु को मन, वचन और कर्म तीनों से शुद्ध होकर भाव मार्ग से लक्ष्य प्राप्त्यर्थ यात्रा करनी चाहिए। यही चारों आलम्बन ईर्यासमिति के घटक भी कहे जा सकते हैं।

पद-यात्रा से तात्पर्य पैदल मार्गों होता है। पद-यात्रा का जैन धर्म में जो प्रावधान निहित किया गया है उसमें ईर्यासमिति पूर्णरूपेण विदोहित होती है। "मग्गुज्जीवय ओगालंबण सुद्धीहि इरिय दो पुणिणो। सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि।" अर्थात् मार्ग, नेत्र, सूर्य का प्रकाश ज्ञानादि में यत्न, देवता आदि आलम्बन—इनकी शुद्धता से तथा प्रायश्चित्तादि सूत्रों के अनुसार गमन करना ही ईर्यासमिति के अनुसार पद-यात्रा कहलाती है।

### लोक दृष्टि और पद-यात्रा

आज हम प्रगतिशील युग में विचरण कर रहे हैं जहाँ व्यक्ति कार, बस या रेल से ही यात्रा नहीं करता अपितु उसकी यात्रा आकाश मार्गीय यान और वायुयान से भी होती है। तब फिर ऐसी त्रिराट और वृहद् यात्रा में सावधानी का सर्वव्यापी होना परमावश्यक है जिसे हम प्रायः भूल गए हैं। आज सड़क पर जिस पर होकर हम यात्रा करते हैं लिखा होता है 'सावधानी हटी और दुर्घटना घटी' "जरा रुककर चलिए, आगे पुल है" "धीरे चलिए, सुरक्षित पहुँचिए" आदि-आदि अनेक बोर्ड लगे होते हैं। क्या कभी सोचा है कि ऐसा क्यों लिखा होता है? क्या हम आँख बन्दकर अपनी यात्रा तय करने लगे हैं? नहीं, हमने अपनी यात्रा में ईर्यासमिति को छोड़ दिया है जिससे न केवल हम स्वयं अपितु यात्रा करने वाला प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी यात्रा से भयभीत हो गया है। पता नहीं कब टकरा जाएँ और की गयी सारी की सारी यात्रा निष्फल हो जाए। हम चाहें पैदल चलें या वायुयान से इससे कोई फर्क नहीं पड़ता किन्तु हम जब भी यात्रा करें, हम विवेकशील होकर, संयत होकर यात्रा करें। हमारी यात्रा का मूलोद्देश्य दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों त्रिवेणियों का संवर्धन निहित हो जो ईर्यासमिति के चारों आलम्बनों के प्रयोग पर सम्भव है। तभी हमारी यात्रा सार्थक सिद्ध हो सकेगी।



### सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप—देवेन्द्रमुनि शास्त्री।
- (ख) मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ।
2. निशीथ भाष्य सूत्र।
3. भगवती सूत्र।
4. उत्तराध्ययन।
5. दशवैकालिक।
6. कल्पसूत्र।
7. आवश्यक हारिभद्रियावृत्ति।
8. स्थानांग।
9. राजवार्तिक।
10. नियमसार।
11. प्रवचनसार।
12. तत्त्वार्थसूत्र।
13. द्रव्यसंग्रह।
14. समयसार।
15. मुलाचार।
16. सर्वार्थसिद्धि।

ईर्यासमिति और पद-यात्रा : डॉ० संजीव प्रचण्डिया 'सोमेन्द्र' | २३१



## जैन विचारधारा में शिक्षा

—चांदमल करनावट  
( उदयपुर )

शिक्षा संस्कार-निर्माण की एक प्रक्रिया है। जीवन को संस्कारित या सुसंस्कृत बनाने में शिक्षा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सत् शिक्षा ने व्यक्तियों के जीवन में नये प्राण फूँके हैं और राष्ट्रों का काया-कल्प भी किया है। यही कारण है कि समाज को प्रगति पथ पर अग्रसर करने तथा उसके नवनिर्माण में शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा की अहम् भूमिका को एकमत से स्वीकार किया है।

भारत को विश्वगुरु की प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसका प्रमुख कारण यहाँ की समृद्ध शिक्षा व्यवस्था रही है। यहाँ के शैक्षिक वातावरण में भौतिकता के स्वर ही नहीं गूँजे परन्तु आध्यात्मिकता के प्रेरक पवित्र और मधुर स्वर प्रधान रहे हैं। यहाँ जड़तत्वों के विकास और तत्सम्बन्धी प्रगति को गौण मानकर चेतना शक्तियों के विकास का लक्ष्य ही मुख्य रहा है।

धर्मप्रधान देश भारत के सभी धर्मों में शिक्षा को बुनियादी स्थान और महत्त्व प्रदान किया गया है। सभी धर्मों में शिक्षा की अपनी-अपनी अवधारणा है, शिक्षा-व्यवस्था है और शिक्षा की विधियाँ हैं। इस लघुलेख में जैन विचारधारा में शिक्षा की अवधारणा और उसकी कुछ विशेषताओं पर लिखा जा रहा है।

### शिक्षा की अवधारणा

#### (१) शिक्षा, धर्म का ही एक अंग है

धर्म क्रियाकाण्ड तक ही सीमित नहीं है। वह जीवन की सभस्त प्रवृत्तियों एवं सभस्त व्यवहारों से जुड़ा हुआ है। उनसे विलग धर्म का स्वरूप ही नहीं है। जीवन के इन व्यवहारों और प्रवृत्तियों में शिक्षा भी एक महत्त्वपूर्ण व्यवहार है, एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। धर्म जीवन को शांतिपूर्ण एवं आनन्दमय बनाने का साधन है। शिक्षा भी इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु कार्य करती है। अतः उसे धर्म का ही अंश मानकर जैन तीर्थंकरों ने साधु-साध्वियों के आचार के साथ स्वाध्याय को शिक्षा के रूप में जोड़ दिया है। इसके अनुसार दिन रात के ८ पहरों में से ४ प्रहर स्वाध्याय करने का विधान है।<sup>1</sup>

२३२ | पंचम खण्ड : सांस्कृतिक-सम्पदा



जवाहराचार्य के विचार से 'शिक्षा सम्बन्धी जैन विचारधारा धार्मिक चिन्तन-मनन की सहभागिनी भूमिका के रूप में ही पनपी तथा विकसित हुई है।' परन्तु इससे यह नहीं माना जाय कि शिक्षा में समाज की उपेक्षा की गई है। आचार्य जवाहर के अनुसार धर्म और समाज व्यवस्था परस्परश्रित हैं अतः शिक्षा जहाँ सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग है, वहाँ धार्मिक प्रक्रिया का भी। अतः शिक्षा सम्बन्धी जैन विचारधारा जितनी धार्मिक है उतनी ही सामाजिक भी।<sup>१</sup>

### (२) शिक्षा विवेक शक्ति का विकास है

जैनागम दशवैकालिक में लिखा गया है:—<sup>४</sup>

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सब्वसंजए ।

अन्नाणी किं काही, किं वा नाहिइ सेय-पावगं ॥

अर्थात् संयतात्माएँ पहले ज्ञान और पीछे दया (क्रिया) का आराधन करते हुए संयम मार्ग में अग्रसर होते हैं। क्योंकि अज्ञानी क्या आराधना करेगा? वह ज्ञान के अभाव में अपने कल्याण-अकल्याण का कैसे विभेद करेगा? यह कहकर जैन परम्परा में शिक्षा को विवेक शक्तियों के विकास का पर्याय माना है। जैन दृष्टि के अनुसार हिताहित, उचितानुचित तथा श्रेय और अश्रेय में भेद करके हित और श्रेय का निर्णय करने की क्षमता का विकास ज्ञान है अथवा शिक्षा है।

शिक्षा के अर्थ में जैन साहित्य में 'सम्यक्ज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है जीवादि तत्त्वों का यथार्थ और सही ज्ञान। बहुत संक्षेप में कहें तो अपने आपका और अजीव तत्त्वों में सम्पूर्ण सृष्टि का परिवेश का ज्ञान और यथार्थ ज्ञान सम्यक्ज्ञान या शिक्षा है। आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन या सही श्रद्धा का व्याख्या स्वरूप लिखा 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्'—<sup>५</sup> यही बात सम्यक्ज्ञान के लिए भी घटित होती है क्योंकि तत्त्वों में सही आस्था या विश्वास के साथ ही ज्ञान सम्यक्ज्ञान बनता है।

इन जीव अजीव पुण्य पाप आदि ९ तत्त्वों में से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विभेद करके हेय को त्यागना और उपादेय को ग्रहण करना वांछनीय है। इन शक्तियों के विकास को ही सम्यक्ज्ञान माना है और यही सच्ची शिक्षा है।

श्री स्थानांग सूत्र में धर्म के दो भेद करते हुए बताया गया—'सुयधम्मं चेव चरित्तधम्मं चेव ।'<sup>६</sup> अर्थात् धर्म दो प्रकार का है - श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुत अकादमिक पक्ष है जिसमें तत्त्वों की जानकारी इष्ट है तो चारित्रधर्म—आचरणपरक है। इस प्रकार विवेक विकास के लिए शास्त्रों का अध्ययन और उनका आचरण दोनों आवश्यक है।

### (३) विश्वैक्य भाव का विकास शिक्षा है

सूत्र साहित्य में 'एगे आया' कहकर कि 'आत्मा एक है' सम्पूर्ण चेतन जगत की एकता को प्रमाणित कर दिया है। श्री आचारांग सूत्र का कथन कि 'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है, जिसे परित्याग देना चाहता है वह भी तू ही है।' यह आत्मवत् बुद्धि सम्पूर्ण प्राणिजगत की एकता का मूलाधार है।<sup>७</sup> श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा गया कि जो सभी जीवों को आत्मवत् समझता है वह आश्रवों/कर्मों के आगमन को रोककर पापकर्म का बन्ध नहीं करता। दूसरे शब्दों में मुक्तावस्था की ओर अग्रसर होता है। जैन विचारधारा में इन गुणों के विकास की अपेक्षा की गई है—

जैन विचारधारा में शिक्षा : चांदमल करनावट | २३३





सभी साधकों से। चाहे वे साधु-साध्वी हों, चाहे गृहस्थ। यही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप धर्म है और यही शिक्षा है। प्राणि मात्र के स्वरूप को जानकर उनके साथ आत्मौपम्य भाव स्थापित करने वाला ही सही अर्थों में शिक्षित कहलाने का अधिकारी है। विश्वकवि टैगोर की समस्त विश्व के साथ एकता की भावना रूप शिक्षा की व्याख्या भी इसी भाव का बोध कराती है।

#### (४) शिक्षा—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है

जैन साहित्य में यद्यपि शिक्षा के लिए 'सिक्खा,' 'विज्जा' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। परन्तु सम्यक्ज्ञान का प्रयोग व्यापक रूप में किया गया है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि जैन तीर्थकरों ने ज्ञानमात्र को ज्ञान नहीं मानकर सम्यक्ज्ञान को ज्ञान की संज्ञा दी है। जो जड़-चेतन पदार्थों का सही-सही जोध कर लेता है, वह सम्यक्ज्ञानी है। रागद्वेषादि विकारों के विजेता परमात्मा द्वारा जड़-चेतन पदार्थों या जीवादि तत्त्वों का सही स्वरूप बताया गया है, उसे जानना यही सच्ची शिक्षा है। उसे जानकर उस पर सही विश्वास होना और तदनु रूप आचरण में प्रवृत्ति करना भी शिक्षा में समाहित है। आचार्य उमास्वाति ने इन तीनों सम्यग्ज्ञानादि के समन्वित स्वरूप को ही मोक्ष मार्ग बताया।<sup>१८</sup> सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। धर्मारोधना हमें मुक्त बनाती है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादि की आराधना भी आत्मा को बन्धनों और दुःखों से मुक्ति प्रदान करती है।

#### (५) शिक्षा—जीवन का सर्वांगीण विकास है

जैन धर्म में केवल आत्मिक विकास की बात कही गई हो, ऐसा नहीं है। जैन विचारधारा में आध्यात्मिक विकास के साथ, मानसिक, शारीरिक, सामाजिक एवं बौद्धिक सभी प्रकार के विकास का कथन किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में शिक्षा के बाधक कारकों का जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ शिक्षार्थी के सर्वांगीण विकास की अवधारणा प्रकट हुई है।<sup>१९</sup> इस प्रसंग में बताया गया है कि विद्यार्थी ५ कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। वे पाँच कारण हैं :—अभिमान (थंभा), क्रोध (कोहा), प्रमाद (पमायेण), रोग और आलस्य (रोगेण आलससेण वा)। पीछे के कारणों की पहले व्याख्या करें तो ज्ञात होगा कि शिक्षा प्राप्ति में स्वस्थ और नीरोग शरीर को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना अभिमानरहितता या विनय और अप्रमाद को। मानसिक विकास में अभिमान, क्रोधादि कारण बाधक हैं। प्रमाद बहुत व्यापक शब्द है। जिसमें आत्मिक दोषों का भी समावेश होता है। जब-जब आत्मा अपने स्वरूप को भुलाकर इन्द्रिय विषयों में भान भूल जाता है वह प्रमादी कहलाता है। इस प्रकार इन सभी दोषों के निवारण पर बल देने का तात्पर्य सकारात्मक रूप से शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक तीनों प्रकार से जीवन के सम्पूर्ण और सर्वांगीण विकास पर बल देने से है।

इसके साथ ही जैन धर्म का लक्ष्य ज्ञान-ध्यानादि के द्वारा आत्मा की उच्चतम विकास स्थिति को प्राप्त करना है जिसमें आत्मा की निहित शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण हो सके। जैन विचारधारा में यही श्रेष्ठ और उत्तम शिक्षा का स्वरूप है जो शिक्षार्थी की सभी प्रकार की शक्तियों का अधिकतम विकास कर सके और उसे श्रेष्ठतम की उपलब्धि करा सके।

#### (६) सापेक्ष, तर्कसंगत और व्यापक दृष्टिकोण का विकास—शिक्षा है

वही शिक्षा सार्थक और सफल मानी जाती है जो शिक्षार्थी को ऐसा व्यक्ति बनावे जिसके दृष्टिकोण में तर्कसंगतता, सापेक्षता के साथ उदारता हो। ऐसा व्यक्ति ही समाज में सुसमायोजित हो सकता है। जैन विचारकों के सामने शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण आधार रहा है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने अधिगम



या ज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा—प्रमाणनयैरधिगमः<sup>10</sup> अर्थात् जो ज्ञान प्रमाण और नय से प्राप्त किया जाय वही सच्चा ज्ञान है। जैन सिद्धान्त में वस्तुविषयक किसी एक दृष्टिकोण को नय माना है और पूर्ण सभी अंशों को ध्यान में रखकर कथन करने को प्रमाण कहा गया है। किसी सापेक्ष कथन में नयाधारित कथन है परन्तु उसमें अन्य अपेक्षाओं दृष्टिकोणों को नकारा नहीं जा सकता अन्यथा वह दुर्नय होगा और अग्राह्य होगा।

जैन दर्शन का अनेकांत सिद्धान्त या स्याद्वाद इसी व्यापक, सापेक्ष और तर्क-सगतता के आधारों पर वस्तु का निरूपण करता है। इस प्रकार का निर्दोष कथन, जिसमें एक दृष्टिकोण सम्पूर्ण क सन्दर्भ में और सम्पूर्ण दृष्टि को एक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में व्यक्त किया जाता है, ही ज्ञानी का और उसके सन्तुलित सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व का परिचायक है।

शिक्षा में भी इसी व्यापक और उदारता के दृष्टिकोण का विकास वांछित है जो शिक्षार्थी में समायोजन का अभीष्ट विकास कर सके।

## जैन दृष्टि से शिक्षा को विशेषताएँ

(१) गुरु के सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त करना—जैन शास्त्रों और ग्रन्थों में शिष्य के लिए 'अन्ते-वासी' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अन्तेवासी' का अर्थ है गुरु के निकट रहने वाला। इसका तात्पर्य यह है कि शिष्य को शिक्षा प्राप्त करने हेतु गुरु के निकट रहना चाहिए। गुरु से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। गुरु जिस प्रकार अवधारणाओं को स्पष्ट कर सकता है, वह अन्य साधन से सम्भव नहीं। गुरु के जीवन से शिक्षार्थी जो साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वह अन्य प्रकार से नहीं उपलब्ध कर सकता। गुरु शिष्य एक-दूसरे के निकट रहकर एक-दूसरे को समझ सकते हैं। गुरु शिष्य को समझ सकता है और शिष्य उससे अभीष्ट मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है।

उत्तराध्ययन में इसी बात को एक गाथा से स्पष्ट किया गया है जिसमें 'वसे गुरुकुले षिच्च' कहकर विद्याध्ययन के लिए नित्य ही गुरु के पास गुरुकुल में रहने का निर्देश है।<sup>11</sup>

(२) तपोनुष्ठानपूर्वक जानाराधना—जैन परम्परा में बताया गया है कि शिक्षार्थी छोटे-बड़े तप की आराधना करते हुए शिक्षा ग्रहण करे। उत्तराध्ययन सूत्र में तपोनुष्ठान करते हुए शिक्षा ग्रहण करने के लिए 'उपधान' शब्द का प्रयोग किया गया है।<sup>12</sup> तपाराधना का एक शारीरिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। सात्विक और हल्का भोजन करने से विकारों/दोषों की उत्पत्ति कम होगी एवं मानसिक शान्ति बनी रहेगी। इससे शिक्षार्थी अध्ययन में एकाग्रचित्त बन सकेगा। तपाराधन से आहार-निहार (मल विसर्जन) की क्रियाओं में समय बचेगा जिससे अध्ययन में अधिक समय दिया जा सकेगा। तप जानाराधना में लगे दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप भी होगा।

(३) विनयशीलता—शिक्षा का आधारभूत गुण—अहंकार या अभिमान भाव का त्याग शिक्षार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जितना-जितना विनय शिक्षार्थी में आता जायगा, उतना ही उतना उसका अभिमान गलता जायगा। यह अभिमान या अहंकार का भाव शिक्षार्जन क्रिया का एक बाधक तत्व है जो शिक्षार्थी को उन्नति की ओर अग्रसर नहीं होने देता। जैन विचारधारा में विनय को धर्म का मूल बताया है। श्रमण भगवान महावीर ने निर्वाण काल से पूर्व जो प्रवचन फरमाया उसमें विनय को प्रथम

जैन विचारधारा में शिक्षा : चांदमल करनावट | २३५



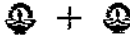
स्थान दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में प्रथम अध्ययन विनय अध्ययन है जिसमें विनय के महत्त्व के साथ गुरु के प्रति शिष्य द्वारा विनय की पर्याप्त व्याख्या की गई है।

विनय को दब्वूपन या मूर्तिवत् बनकर बैठे रहना मान लेना भ्रान्ति होगी। स्वयं भगवान महावीर से उनके प्रधान शिष्य गौतम ने हजारों प्रश्न किए जो भगवती सूत्र में संकलित हैं। केणट्टेणं भंते! कहकर भगवान के उत्तर पर पुनः प्रतिप्रश्न किये हैं। श्राविका जयन्ती ने भगवान से अनेक जिज्ञासाएँ प्रश्नोत्तर के माध्यम से प्रस्तुत की हैं। कहने का आशय कि जैन विचारधारा जिज्ञासापूर्वक प्रश्नोत्तर व समाधान को शिक्षार्थी का अविनय नहीं मानती। जिज्ञासा, प्रश्नोत्तर, तत्त्व-चर्चा के अनेक स्थल शास्त्रों और ग्रन्थों में आए हैं। इतना होते हुए भी शिष्य गुरु का विनय कर सकता है। उनके अनुशासन का पालन कर सकता है।

(४) ज्ञान-क्रिया का समन्वय—जैन विचारधारा में शिक्षा की व्याख्या करते हुए ज्ञान के साथ क्रिया के समन्वय पर बल दिया गया है। सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन हो जाने पर भी जब तक सम्यक्-चारित्र की आराधना अनुपालना नहीं होगी, मुक्ति या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसीलिए शास्त्रों में कथन किया गया—‘पाणस्स फलं विरतिः’ अर्थात् ज्ञान का फल त्याग है, चारित्र है। अन्यत्र भी ज्ञानियों के ज्ञान का सार बताया गया कि—ज्ञानियों के ज्ञान का सार यही है कि उनके द्वारा किसी भी जीव को कष्ट न हो। ऐसा व्यवहार हो उनका।<sup>13</sup> जैन सिद्धान्त की यह भी मान्यता है कि कोई द्रव्य या बाह्य रूप से चारित्र या संयम नहीं पाल सके, परन्तु जीव की मुक्ति तभी होगी जब वह भाव-चारित्र को ग्रहण करेगा।

इस प्रकार जैन परम्परा केवल ज्ञान को ही महत्त्व नहीं देती—‘चारित्तं खडु सिवखा’ चारित्र ही सच्ची शिक्षा है, कहकर चारित्र के महत्त्व का उद्घोष कर रही है।

वर्तमान शिक्षा में जैन विचारधारा के उक्त महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को स्थान दिया जायगा तो हमारे समक्ष उपस्थित चरित्र का संकट अवश्यमेव दूर हो सकेगा। सुशिक्षा प्राप्त कर सुयोग्य नागरिक अपने और राष्ट्र को निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकेंगे।



### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय 26 गाथा 12 ।
2. कोटिया महावीर—श्रीमद् जवाहराचार्य—शिक्षा, बीकानेर, श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ 1977 ।
3. वही, पृष्ठ 2 ।
4. दशर्वकालिक सूत्र ।
5. तत्त्वार्थसूत्र—आचार्य उमास्वामि ।
6. ठाणांग सूत्र ठाणा 2 ।
7. आचारांग सूत्र अध्ययन 1 उ० 5/5 ।
8. तत्त्वार्थसूत्र ।
9. उत्तराध्ययन सूत्र ।
10. तत्त्वार्थसूत्र ।
11. उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय 11, गाथा 14 ।
12. वही ।
13. सूत्रकृतांग सूत्र ।



ष ष्ट

ख ण्ड

पारि-समाज के विकास में  
जैन साध्वियों का योगदान





## नारी के मुक्तिदाता भगवान महावीर

— डा. शान्ता भानावत

स्त्री और पुरुष, समाजरूपी रथ के दो पहिये हैं। दोनों की समानता ही रथ की गति-प्रगति है। इतिहास के पृष्ठ पलट कर देखे जायें तो हमें प्रतीत होता है कि नारी ने समाज में कभी सम्मान का जीवन जिया है तो कभी अपमान का भी। भगवान महावीर का आविर्भाव ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब इस धरा पर हुआ, वह समय नारी के लिये महापतन का था। समाज में उसका कोई स्थान व सम्मान नहीं था। वह गाजर-मूली और भेड़-बकरियों की भाँति चौराहे पर खड़ी कर बेच दी जाती थी। बड़े-बड़े सेठ, श्रीमन्त उसे खरीद लेते और दासी की तरह उसका उपयोग करते थे। वह चेतन होकर भी जड़ वस्तु समझी जाती थी। “अस्वतंत्रता स्त्री पुरुष प्रधाना” तथा “स्त्रिया वेश्या तथा गूद्राः येषि स्युः पापयो नयः” जैसे वचनों की समाज में मान्यता थी।

भगवान् महावीर ने नारी को माता, पत्नी, बहन, पुत्री आदि विविध रूपों में देखा। उसके अस्तित्व को पहचाना। उन्होंने पतित नारी जीवन को ऊँचा उठाने के लिए भरसक प्रयत्न किया। नारी को उसका खोया हुआ सम्मान दिलाते हुए उन्होंने कहा—“नारी को पुरुष से हेय समझना अज्ञान, अधर्म, एवं अताकिक है। नारी अपने असीम मातृप्रेम से पुरुष को प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान कर समाज का सर्वाधिक हित साधन करती है तथा वासना, विकार और कर्म-जाल को काट कर मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इसीलिये महावीर ने अपने चतुर्विध संघ में साधुओं की भाँति साध्वियों को और श्रावकों की भाँति श्राविकाओं को बराबरी का स्थान दिया। उन्होंने साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं को तीर्थ कहा और चारों को मोक्षमार्ग का पथिक बताया। यही कारण था कि महावीर के धर्म-शासन में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक थी। १४००० साधु थे तो ३६००० साध्वियाँ। एक लाख उनसठ हजार श्रावक थे तो तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं। पुरुष की अपेक्षा नारियों की अधिक संख्या होना इस बात का प्रतीक है कि महावीर ने नारी जागृति का जो बिगुल बजाया, उससे नारी समाज में जागृति आई व पतित और निराश नारी साधना के मार्ग पर बढ़ी। उस समय साधु संघ का नेतृत्व इन्द्रभूति गौतम के हाथों में था तो साध्वीसंघ का नेतृत्व चन्दनवाला के

नारी के मुक्तिदाता भगवान महावीर : डॉ० शान्ता भानावत | २३७



हाथों में। पुष्पचूला, सुनन्दा, रेवती, सुलसा नाम की अन्य मुख्य साधवियां थीं। इसी प्रकार उन्होंने नारी को धर्मोपदेश सुनने, धर्मसभाओं में प्रश्न पूछने, अपनी शंकाओं का समाधान करने आदि के अवसर प्रदान किये। जयन्ती नामक राजकुमारी ने भगवान महावीर के समक्ष गंभीर तात्त्विक एवं धार्मिक चर्चा की थी।

भगवान महावीर के समय दास-दासी प्रथा जोरों पर थी। उन्होंने दासीप्रथा, स्त्रियों का व्यापार और उनके क्रय-विक्रय को रोका। इस प्रथा का प्रचलन केवल सुविधा के खातिर नहीं था बल्कि दासियाँ रखना वैभव एवं प्रतिष्ठा का परिचायक था। जब सम्राट श्रेणिक के पुत्र राजकुमार मेघकुमार की सेवा के लिए नाना देशों से दासियों का क्रय-विक्रय हुआ तो महावीर ने खुलकर विरोध किया और धर्मसभाओं में उसके विरुद्ध आवाज बुलन्द की। परिणामस्वरूप महावीर को अनेक उपसर्ग एवं कठोर दंड दिये गये। उन सारे कष्टों को उन्होंने समता भाव से सहन किया।

जब महावीर ने अपने धर्मसंघ की स्थापना की तो उसमें उन्होंने राजघराने की महिलाओं के साथ-साथ गणिकाओं, वेश्याओं को भी पूरे सम्मान के साथ दीक्षा ग्रहण करने का अधिकार दिया। भगवान महावीर के जीवन काल में गणिका के रूप में जिन स्त्रियों का जीवन पुरुषों द्वारा हेय दृष्टि से देखा गया, भिक्षुणी संघ में दीक्षा लेने के बाद जीवन-व्यवहार में परिवर्तन लाकर, वे ही स्त्रियाँ अपने-अपने द्वारा कृत-कर्मों का प्रायश्चित्त कर बंदनीय बन गयीं।

उपेक्षित नारी जाति को सम्मान देने के लिए ही भगवान महावीर ने अपने साधना काल के १२वें वर्ष में एक कठोर अभिग्रह धारण किया। इस अभिग्रह में १३ कठोर संकल्प थे। १. कोई राजकुमारी हो, २. वह बेची गई हो ३. मुण्डित हो, ४. हाथों में हथकड़ी हो, ५. पैरों में बेड़ी हो, ६. तीन दिन की भूखी हो, ७. आँखों में आँसू हों, ८. होठों पर मुस्कान हो, ९. आधा दिन बीतने के बाद १०. एक पैर देहली में एक पैर देहली के बाहर हो, ११. सूप के कोने में, १२. उड़द के बाकुले हों, १३. भाँयरे में खड़ी मुनि को भिक्षा देने की भावना भा रही हो तो आहार लेना; नहीं तो भूखे रहना।

उपर्युक्त संकल्पों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में नारी की बड़ी दयनीय स्थिति थी। समाज एवं परिवार द्वारा वह प्रताड़ित की जाती थी। उस प्रताड़ित दुखी नारी जाति को महावीर समाज में पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इसीलिए ऐसा अभिग्रह उन्होंने किया। राजा-रानियों के भिक्षादान को उन्होंने ठुकराया। अन्ततः प्रभु महावीर का यह अभिग्रह फलित हुआ राजकुमारी चन्दनबाला के हाथों। यों वह स्वयं राजकुमारी थी, चम्पानगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री थी। पर तत्कालीन राजा शतानीक के आक्रमण के कारण दधिवाहन की मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु के बाद माता धारिणी ने शील-रक्षा के लिये अपने प्राण त्यागे। बेटी चन्दना असहाय हो गई। सार्थवाही ने उसे कोशाम्बी के सेठ के हाथ पाँच सौ मोहरों में बेचा। सेठ-पत्नी सेठानी ने राजकुमारी चन्दनबाला पर अनेक अत्याचार किये, जिसके कारण राजकुमारी चन्दना को दासी बनना पड़ा, हथकड़ी-बेड़ी में बँधना पड़ा, सिर मुण्डित कराना पड़ा, भूखों रहना पड़ा। पर महावीर को देखकर इस विषम स्थिति में भी वह मुस्करा उठी। महावीर ने उसके हाथों से उड़द के बाकुले ग्रहण कर जैसे समस्त राजरानियों से भी अधिक सम्मान और गौरव उसके गुण-शील को दिया।

२३८ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साधवियों का योगदान



प्रभु महावीर के उपदेश सुनकर जहाँ पुरुष आगे बढ़े हैं वहाँ नारियाँ भी पीछे नहीं रहीं। मगध के सम्राट श्रेणिक की महाकाली, सुकाली आदि दस महारानियाँ साधना-पथ स्वीकार कर लेती हैं। जो महारानियाँ महलों में रहकर आभूषणों से शरीर को विभूषित करतीं, वे जब साधना-पथ पर बढ़ीं तो कनकावली, रत्नावली आदि तप के हारों को धारणकर आत्म-ज्योति चमकाने लगीं।

प्रभु महावीर के उपदेश सुन अनेक श्रावक अपने चारित्र्यधर्म में स्थिर हुए। अपने पति पर प्रभु महावीर की पड़ी आध्यात्मिक छाप से भला पत्नी कैसे वंचित रह सकती है? शिवानन्दा जब आनन्द श्रावक से यह सुनती है—देवानुप्रिये, मैंने श्रमण भगवान महावीर के पास से धर्म मुना है। वह धर्म मेरे लिये इष्ट, अत्यन्त रुचिकर व हितकर है। देवानुप्रिये, तुम भी भगवान महावीर के पास जाओ, उन्हें वन्दन करो, नमस्कार करो, उनका सत्कार करो, सम्मान करो, वे कल्याणमय हैं, मंगलमय हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। उनकी पर्युपासना करो तथा ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत १२ प्रकार का गृहस्थधर्म स्वीकार करो।

शिवानन्दा यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। भगवान के पास जाकर उसने श्राविकाधर्म अंगीकार किया। प्रभु महावीर की प्रेरणा से गृहस्थाश्रम में नारी का सम्मान बढ़ा, शीलवती पत्नी के हित का ध्यान रखकर कार्य करने वाले पुरुष को महावीर ने सत्पुरुष कहा। विधवाओं की स्थिति में सुधार हुआ। महावीर के समय सती प्रथा की छुट-पुट घटनाएँ भी मिलती हैं। जीव-हिंसा के विरोधी महावीर की प्रेरणा से इस कुप्रथा का भी अन्त हुआ।

महावीर की दृष्टि में मातृत्व शक्ति का बड़ा सम्मान था। जब वे गर्भ में थे, तब यह सोचकर कि मेरे हलन-चलन से माँ को अपार कष्ट की अनुभूति होती होगी, उन्होंने कुछ समय के लिए अपनी हलन-चलन की क्रिया बन्द कर दी। इससे माता विशला को अपने गर्भस्थ शिशु के बारे में शंका हो उठी और वह अत्यधिक दुःखी होने लगी। माँ की इस मनोदशा को जान महावीर ने फिर हलन-चलन क्रिया, प्रारम्भ कर दी। बच्चे की कुशल कामना से माँ का मन प्रसन्नता से भर गया। इस घटना से माँ के प्रति महावीर की भक्ति अत्यधिक बढ़ गई और उन्होंने गर्भावस्था में ही यह संकल्प किया कि मैं माता-पिता के जीवित रहते वैराम्य धारण नहीं करूँगा। इस प्रतिज्ञा का पालन उन्होंने अपने जीवन में किया। जब तक माता-पिता जीवित रहे, उन्होंने दीक्षा नहीं ली।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महावीर की दृष्टि में नारी के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। वे उसे साधना में बाधक न मानकर प्रेरणा-शक्ति और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति मानते थे। यह उन्हीं का साहस था कि उन्होंने नारी को आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से बढ़कर, वे समस्त आध्यात्मिक अधिकार प्रदान किये जिनके कारण वह आत्म-शक्ति का पूर्ण विकास कर स्वयं परमात्मा बन सके।



नारी के मुक्तिदाता भगवान महावीर : डॉ० शान्ता भानावत | २३६





## भारतीय संस्कृति और परम्परा में नारी

—प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

भारतीय संस्कृति और परम्परा में नारी के स्थान और महत्त्व को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। वैदिक काल, श्रमणसंस्कृति, ब्राह्मण, पौराणिक और मध्ययुग तक उसकी सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति पर अनेक आक्षेप किये गये हैं। इन सबका काफी निराकरण हो चुका है फिर भी अब तक धूमिलता व्याप्त है।

वैदिककाल को ही लें। ऋग्वेद में ही अनेक तत्त्वों की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं, जिन्हें देव-माताएँ या देव-कन्याएँ कहा गया है। अदिति, उषा, इन्द्राणी, इला, भारती, होत्रा, श्रद्धा, प्रणि इसके प्रमाण हैं। इनमें अदिति का ही सर्वाधिक उल्लेख है। जिस प्रकार मिश्र निवासी 'मात' और यूनानी 'थेमिस' को मानते थे, उसी प्रकार आर्य अदिति को मित्र, वरुण, आदित्य, इन्द्र आदि की देव-माता के रूप में। अदिति के साथ दिति (दैत्य माता) का भी ऋग्वेद में उल्लेख है—वह भी देवी ही मानी गयी है। इसी प्रकार वाक् को भी देवी ही गिना गया है। अम्मृण ऋषि की पुत्री वाग्देवी एक सूक्त (१०-१२५) की हृषिका हैं और इसी प्रकार श्रद्धा भी। इला को मानव-जाति का पौरोहित्य करने वाली कहा गया है। लोपामुद्रा, घोषा आदि अनेक महिलाएँ ऋषिकाएँ थीं।

देवीकरण के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी नारी अत्यन्त समाहत थी। 'गृहिणी गृहमुच्यते' ही उनका सामाजिक आदर्श था। कन्याओं का आदर था; वे परिवार का दायित्व निभाती थीं। अविवाहित कन्या पितृ सम्पत्ति की अधिकारिणी थी। स्त्री-शिक्षा का भी यथेष्ट प्रचार था। वे वेदाध्ययन करती थीं। अथर्ववेद ने तो यह आदेश ही दिया कि वही कन्या विवाह में सफल हो सकती है, जिसकी उचित शिक्षा-दीक्षा हुई हो। हारीत ने नारियों का विभाजन ही ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू (द्विविधा: स्त्रीयः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवधवश्च) किया है।

आपस्तम्बधर्म सूत्र (१-५१-८) और यमस्मृति में भी यही आलेख है। ब्रह्मवादिनी वेदाध्ययन करती थीं और सद्योवधू विवाह। ऐसे अनेक उदाहरण हमारे इतिहास में उपलब्ध हैं कि ब्रह्मवादिनी नारियों ने उत्कट पाण्डित्य का प्रमाण दिया। अनेक विद्वानों का विचार है कि वैदिक नारियाँ युद्ध में भी भाग

२४० | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



लती थीं। अगस्त्य के पुरोहित खेल ऋषि की पत्नी विश्वला इसका उदाहरण है। मुद्गलानी का अनेक गायों को युद्ध में जीतकर लाने का भी प्रसंग प्राप्त होता है। पति-पत्नी यजमान बनकर बराबर यज्ञानुष्ठान करते थे। सायण ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

वैदिक युग के नारी-समाज को इस स्थिति की यदि हम यूनान और रोमन समाज से तुलना करें, तो ज्ञात होगा कि हमारी संस्कृति में नारी समाज का कितना अधिक सम्मान था। डेविस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ए शोर्ट हिस्ट्री आव विमेन' में इसका विवरण दिया है। हड़प्पा और मोहेंजदारों के प्राप्त अवशेषों से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भी स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही अपना सामाजिक दायित्व व कर्तव्य निभाती थीं। डॉ० शकुन्तला राव का ग्रन्थ 'विमेन इन वैदिक एज' इन सबका एक ऐतिहासिक दस्तावेज और ग्रन्थ है। यह सही है कि यत्र-तत्र नारी समाज पर उस युग में भी आक्षेप किये गये थे पर वे नगण्य हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में वे समादृत थीं, उनका योगदान विनिष्ट था। काव्य, कला आदि में भी वे निपुण थीं। इस सन्दर्भ में लुई जेकोलियट का अभिमत दर्शनीय है। वे लिखते हैं— 'वेदों में नारी को देवी समझा गया, यही इस भ्रांति का निराकरण कर देता है कि 'प्राचीन भारतीय समाज में वे सम्मानित नहीं थीं'। यह एक ऐसी सभ्यता है जो पश्चिमी देशों से अधिक प्राचीन है और जो स्त्री को भी पुरुष के समान अधिकार व स्थान देती है।' ब्राह्मण और उपनिषद् युग में भी यह परम्परा अक्षुण्ण रही। रुद्र याग, सीता याग आदि कर्म तो नारियाँ ही करती थीं। उस युग में पर्दा प्रथा का नितान्त अभाव था। बाल विवाह और सती प्रथा भी नहीं थी। फिर भी जैसा कि डॉ० ए० एल० अल्तेकर ने कहा है कि वैदिक, ब्राह्मण, व उपनिषद् काल के पश्चात् नारी की सामाजिक स्थिति उतनी उत्कृष्ट नहीं रही जितनी की अपेक्षित थी। डॉ० अल्तेकर ने इसके कारणों पर गंभीरता से विचार किया है। भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी यही हास हुआ। होमर के युग में स्त्री समाज का जो आदर था, वह पेट्रिकलस के युग में नहीं रहा।

रामायण और महाभारत युग के पश्चात् यह हास अधिक तीव्र हो गया। पुनः अल्तेकर के शब्दों में '५०० ईसा पूर्व और ५०० ईसवी का युग इस ओर ध्यातव्य है।' यही युग सांस्कृतिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व का है। वैदिक युग में जहाँ नारियाँ यज्ञों में प्रत्यक्ष भाग लेती थीं—इस युग में उतना नहीं। इस युग में विवाह की आयु भी घटकर कम हो गई। उपनयन संस्कार समाप्त हो गये—शिक्षा की व्यापकता भी नहीं रही—पति का आधिपत्य बढ़ गया—नियोग और विधवा विवाह भी समाप्त हो गए। इसी सन्दर्भ में हम श्रमण संस्कृति में नारी समाज की स्थिति पर भी विचार कर लें। पहले बौद्ध धर्म को लें। बुद्ध के कारण—चन्द्रगुप्त और अशोक के शासनकाल में नारी को समुचित आदर व सम्मान मिला। उनकी शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया। थेरी भिक्खुनी इस ओर विशेष महत्त्व रखती है। बुद्ध की विमाता प्रजापति गौतमी स्वयं प्रव्रजित हुई थीं। यद्यपि प्रारम्भ में बुद्ध नारी-दीक्षा के विरुद्ध थे पर आनन्द के आग्रह और अनुरोध पर उन्होंने यह स्वीकार किया। थेर भिक्खुनियों के अध्यात्म गीतों का संकलन जर्मेन विद्वान पिशौल ने किया था। राइस डेविड्स ने भी इन गीतों का अनुवाद किया। शुभद्रा, पत्तचार, सुमना आदि प्रसिद्ध भिक्खुनियाँ हैं। मेकनिकौल के अनुसार इन कवयित्रियों में आश्चर्यजनक समकालीन प्रासंगिकता है—आत्माभिव्यक्ति, व्यक्तित्व की अस्मिता और मुक्ति की आकांक्षा।

संक्षेप में अब हम जैन धर्म पर विचार कर लें। महावीर इस दृष्टि से अधिक क्रांतिकारी और जागरूक थे। उनके समतावादी, पुरुषार्थवादी और आत्मवादी चिन्तन का सामाजिक प्रभाव भी प्रचुर



रहा। वैदिक युग की भाँति संतान-प्राप्ति में पुत्र और पुत्री श्रमण संस्कृति में समान रूप से देखे जाते थे। नायाधम्मकहाओ से ज्ञात होता है 'कहंणं तुमं वा दारयं वा दारियं व पया एज्जासि (१-२-४०)। बुद्ध की भाँति महावीर ने कभी नारी प्रत्रज्या में बाधा नहीं पहुँचायी। परवर्ती काल में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यद्यपि मोक्ष को लेकर मतभेद अवश्य हो गया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार नारी भी मोक्ष प्राप्त कर सकती है, पर दिगम्बर सम्प्रदाय इसे स्वीकार नहीं करता। यही नहीं परवर्ती काल के दिगम्बर ग्रंथों में तो उसकी श्वान, गर्दभ, गौ आदि पशुओं से भी तुलना की गयी है। श्वेताम्बर परम्परा यह आवश्यक नहीं गिनती कि मोक्ष के लिए नारी को पुरुष होना अनिवार्य है। पर, श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी दृष्टिवाद के अध्ययन में नारी को मान्यता नहीं देता तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि श्रमण संस्कृति में श्रमण को जो अधिकार व दायित्व प्राप्त हैं, वे श्रमणी को नहीं। श्रमणी साधु के द्वारा कभी बंदनीय नहीं समझी गयी। (यह संघीय व्यवस्था का एक पक्ष है, शास्त्रीय विधान नहीं)।

भारतीय संस्कृति का विकास जिन आदर्शों में हुआ है उनमें नारी "सृष्टि का गौरव" और "धर्म का पावन प्रतीक" है। नर और नारी सांख्य के पुरुष और प्रकृति की भाँति हैं—शिव और शक्ति के समान वे एक दूसरे के पूरक हैं। दया, कोमलता, प्रेम, शांति और त्याग नारी के विशिष्ट गुण हैं। उसे "जायते पुनः" कहा गया है। पिता पुनः अपनी पत्नी ने उत्पन्न होता है—इसी से वह "जाया" है—वैदिक परम्परा से लेकर महाकाव्यों के युग तक जीवन के सभी क्षेत्रों में उसकी महत्ता अक्षुण्ण रही है। महाभारत की विदुला अपने पुत्र संजय से कहती है "मुहूर्तं ज्वलित श्रेयो, न तु धूमामयितं चिरम्।" कौरवों के पतन का कारण ही द्रौपदी का अपमान और तिरस्कार रहा। चौदह वर्षों के उपरान्त जब श्रीराम अयोध्या लौटते हैं तब कन्याएँ ही उनका स्वागत एवम् प्रथम अभिषेक करती हैं। जहाँ याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी उनसे ब्रह्मज्ञान की याचना करती है, वहाँ शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में भारती (पत्नी : मण्डन मिश्र) मध्यस्थ का कार्य करती है। पतंजलि ने शस्त्र निपुण 'शक्तिकीः' नारियों का उल्लेख किया है। भारद्वाज की स्तियों में वे कुशल अश्वारोही के रूप में अंकित हैं। वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश के साथ आत्रेयी भी विद्याध्ययन करती थी। वराहमिहिर ने धर्म और अर्थ के लिए नारी समाज को आवश्यक गिना। उन्होंने आक्षेप लगाया कि साधुओं ने उनके गुणों की ओर आँख बंदकर उनकी दुर्बलताओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है—

“अंगनानां प्रवदन्ति दोषान् वैराग्य मार्गेण गुणान् विहाय ।

आचार्यं जिनसेन ने उन्हें सम्पत्ति में समान अधिकार दिए। उन्होंने घोषणा की—

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मुक्तिं याति कोविदैः ।

नारी च तद्वत् प्राप्ते, स्त्रो सृष्टिरेग्रिमं पदम् ॥

जैन परम्परा में चन्दनबाला, राजीमती आदि अनेक नारियाँ अध्यात्म जगत की अक्षय सम्पदा हैं। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में युवती कन्याएँ स्वच्छन्द जीवन यापन करती थीं और पतिवरण में उनकी आवाज निश्चयात्मक होती थी। उन्हें अपने पति की सम्पत्ति में पूर्ण अधिकार था।

भारतीय चिन्तन में नारी को सर्वोच्च महत्ता और मान्यता थी। उसे पुरुषाकार शक्ति के रूप में स्वीकार किया। जैन धर्म और परम्परा में भी तीर्थंकर के साथ उसकी शासन देवी रही। वह लौकिक और अलौकिक प्रेम की मंजूषा है—त्याग और आत्म-समर्पण की वह स्मृति है।

२४२ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



मदुत्वं च तनुत्वं च पराधीनत्वमेव च ।

स्त्री गुणाः ऋषिभिः प्रोक्ताः, धर्मतत्त्वार्थं दर्शयिभिः ॥

औरों की नहीं जानता, भारतीय नारी का जीवन नर को पूर्णता देने का ही शिव संकल्प रहा है। हमारे जीवन के सारे उपक्रम इसके प्रमाण हैं। कालिदास जैसे महाकवि ने भी अपनी पत्नी के प्रथम प्रश्न 'अस्ति कश्चित् वागर्थः' से ही प्रेरित होकर कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश लिखे—ये तीनों शब्द ही क्रमशः इन तीन महाकाव्यों के प्रथम शब्द हैं। तुलसीदास की सारी राम भक्ति का मूल स्रोत रत्नावली ही थी। दो चार नहीं, ऐसे अनेकानेक उदाहरण हमारी सांस्कृतिक परम्परा की विरासत हैं। कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ और प्रसाद तक भारतीय मनीषियों ने अध्यात्म और प्रेम की जो उज्ज्वल गाथा गायी है, उसमें नारी ही प्रधान और प्रमुख है। भारतीय नारी की श्रेष्ठता उसके त्याग और समर्पण में है। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में "आदर्श नारी उस प्रेम का प्रतीक है जो हमें खींचकर उच्चतम स्थिति की ओर ले जाता है। संसार की महान कथाएँ निष्ठाशील प्रेम की ही कथाएँ हैं। कष्टों और वेदनाओं में भी निष्ठा को बनाए रखना वह वस्तु है, जिसने संसार को द्रवित कर दिया है। देवता भी विचित्र हैं—हम में जो अच्छा, भद्र और मानवोचित प्रेममय अंश है, उसी के द्वारा वे हमें कष्टों में ला पटकते हैं। हमारे पास (उपसर्ग) इसलिए भेजते हैं कि हम महानतर बातों के लिए उपयुक्त बन सकें। शताब्दियों की परम्परा ने भारतीय नारी को सारे संसार में सबसे अधिक निःस्वार्थ, सबसे अधिक आत्म-त्यागी, सबसे अधिक धैर्यशील और सबसे अधिक कर्तव्यपरायण बना दिया है। उसे अपने कष्ट-सहन पर ही गर्व है"। द्रौपदी सत्यभामा से कहती है—

सुखं सुखेनैह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।

रवीन्द्र की चित्रांगदा का अर्जुन के प्रति कथन है—“नहिं आभि सामान्य रमणी, पूजा करि राखिबैं माथाय, से आभि नय, ..... यदि पार्श्व राखौ, मोरे संकटेर पथे, दुरुह चिन्तार, जदि अंश दाओ, यदि अनुमति करो, कठिन ब्रतेर, तब सहाय होइते, जदि सुखे दुःखे मोर करो सहचरी, आमार पाइवे तबे परिचय”।

विश्वात्मा के परम चैतन्य का आधार देश, काल और रूपातीत सौन्दर्य बोध है, जो आत्मा से आत्मा को, सचराचर जगत को समष्टि चेतना से समाहित कर समत्व की मधुमती भूमिका प्राप्त करता है। कहीं वह सीता है, तो कहीं द्रौपदी, कहीं मैत्रेयी है तो कहीं गार्गी—कहीं सुजाता है, तो कहीं चन्दनबाला—कहीं राधा है, तो कहीं शिवा, कहीं शारदा हुई, तो कहीं कस्तूरबा। इतिहास में वह पद्मिनी हुई, ता कभी ताराबाई और जीजाबाई। भारत के आधुनिक पुनर्जागरण में भी भारतीय नारी समाज का योगदान कम नहीं—सांस्कृतिक परम्परा, शिक्षा, समाज-सुधार, स्वाधीनता संग्राम, कुप्रथाओं का विरोध—समाज का ऐसा कौन सा क्षेत्र रहा, जिसमें उनकी भूमिका अग्रगण्य नहीं रही हो। चारों ओर से प्रताड़ित और उपेक्षित होकर भी, उनकी साधना मानव-कल्याण का ही उद्घोष रही—विश्व चेतना की पूर्णता का। जीवन के पुरुषार्थ का मंगल सूत्र भी हमारा नारी समाज ही है। महाभारत में महर्षि व्यास को भी यह कहना पड़ा—

नाऽपराधोऽस्ति नारीणां, नर एवाऽपराध्यति ।

सर्वं कार्यं पराऽध्यत्वात्, नापराध्यति चागना ॥

भारतीय संस्कृति और परम्परा में नारी : कल्याणमल लोढा | २४३



वाराहमिहिर तो और कठोर हो गये—

जाया वा, जनयित्री वा, सम्भवः स्वीकृतौ नृणाम् ।  
हे कृतघना ! तयोतिन्वा, कुर्वतावः कुतः सुखम् ॥

इन सबके परिप्रेक्ष्य में अंग्रेजी लेखक न्यूमैन का यह कथन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं—“यदि तुम्हारी आत्मा बन्धन रहित उच्चतम भूमिका पर पहुँचना चाहती है, तो उसे नारीत्व से विभूषित होना होगा, चाहे कितना ही उसमें नरत्व क्यों न हो ?”



### पुष्प-सूक्ति-सौरभ

- आत्म-सुधार से आत्म-सेवा के साथ-साथ पर-सुधार से पर-सेवा के प्रयत्न में ही स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय है ।
- क्षमा विशाल अन्तःकरण की भावाभिव्यक्ति है ।
- दूसरे के दोषों के प्रति उदार और सहनशील बनना ही क्षमा है ।
- क्षमा; स्नेह की शून्यता को स्नेह से भरना है ।
- क्षमा एवं स्नेह वही दे सकता है, जो स्वभाव से महान् हो, समर्थ हो ।
- क्षमा का शब्दोच्चार ही क्षमा नहीं है, अपितु दूसरों की दुर्बलताओं व अल्पताओं को स्नेह की महान् धारा में विलीन करने की क्षमता को ही क्षमा कहते हैं ।
- जो जितना सहन कर सकता है, पचा सकता है, वह उतना ही बहादुर है, उतने ही अंश में आनन्द का उपभोक्ता है ।

पुष्प-सूक्ति-सौरभ



## नारी का उदात्त रूप—एक दृष्टि

—मुनि प्रकाशचन्द्र 'निर्भय'

एम० ए०, साहित्यरत्न,

(मालवकेसरी स्व० श्री सौभाग्यमलजी मा० सा० के शिष्य)

जैन कवि श्री अमरचन्द्रसूरि ने नारी के विषय में एक बहुत बड़ी बात कही है। उस बात के माध्यम से हम यह सहज में समझ सकते हैं कि वस्तुतः नारी जाति को कितना उच्च सम्मान दिया है जैन दार्शनिकों/कवियों/एवं मनीषियों ने; देखिए उन्हीं के शब्दों में—

“अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारंगलोचना।

यत्कुक्षि प्रभावा एता वस्तुपाल ! भवाहशाः ॥”

अर्थात्—“इस असार संसार में सारंग लोचन वाली स्त्री ही सार है, क्योंकि हे वस्तुपाल ! उसकी कुक्षि से तुम जैसे नर-रत्नों का जन्म हुआ।”

जैन धर्म और दर्शन के आद्य-प्रणेता भगवान ऋषभदेव/प्रथम तीर्थंकर से लगाकर शेष २३ तीर्थंकरों को जन्म देने वाली इस धरा पर नारी ही है।

तीर्थंकर की माता को जगत्-जननी कहा जाता है; और रत्न-कुक्षि की धारिणी भी।

तीर्थंकर के जन्मोत्सव के समय जब इन्द्र देव इस मनुजलोक में आते हैं तो वे भी सर्वप्रथम उनकी माता को ही नमस्कार करते हैं।

‘हे रत्नकुक्षि की धारिणी, जगत्-जननी माता, तुम्हें नमस्कार है।’

जैन धर्म-दर्शन के मान्य/सर्वपूज्य ६३ (त्रेसठ) शलाका-पुरुषों का जन्म भी नारी के गर्भ से ही हुआ।

नारी के अभाव में विश्वबंध २४ तीर्थंकरों का एवं अन्य शलाका-पुरुषों का इस धरा पर कैसे अवतरण होता ?

आज हम सब भी इस मनुज-धरा पर स्थित हैं वह भी नारी के उपकार से/अनन्त उपकार से। नारी के माध्यम से ही हम जन्म लेकर इस धरा पर इस मनुज लोक में विचरण कर रहे हैं।

नारी का उदात्त रूप—एक दृष्टि : मुनि प्रकाशचन्द्र 'निर्भय' | २४५



संसार के जितने भी महापुरुष/ऋषि/मुनि/मनीषी/संयमी, जो कि हमारे वंदनीय हैं; जिन पर हमें बड़ा गौरव है; जिनके अद्भुत त्याग-तप एवं आदर्श जीवन पर नाज़ है हमें; जिनकी दुहाई देते हम थकते नहीं, जिन्हें हम या हमारी संस्कृति भूल नहीं सकती; वे सभी नारी की कुक्षि से ही जन्मे थे।

हमारा प्राक् एवं प्राचीन इतिहास हमें नारी के महिमामय जीवन के प्रति संकेत करता है। हम देखें तो सही प्राचीन इतिहास को उठाकर। हमें वस्तु-स्थिति का ज्ञान हो जाएगा।

नारी के महानतम जीवन का दर्शन हमें आद्य तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव की जन्म-दात्री माता मरुदेवा में होते हैं। प्रभु ऋषभदेव के द्वारा तीर्थ-स्थापना से पहले ही वे केवलज्ञान-केवलदर्शन के साथ मोक्ष/शिव गति को प्राप्त हो गईं।

नारी की महानता के लिए एवं आत्मोत्थान के बारे में इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है ?

ऐसे संदर्भ में स्वतः ही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि नारी को नरक का द्वार बताने वाली उक्ति का क्या हुआ ? यथा—

(१) 'द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी'—शंकर प्रश्नोत्तरी-३

(२) 'स्त्रियो हि मूलं नरकस्य पुंसः'—अज्ञात

कहाँ तो वह नरक का द्वार कहलायी और कहाँ वह मोक्षगति की प्रथम अधिकारी बन गयी ? इन दोनों बातों में जमीन और आसमान सा विराट अन्तर रहा हुआ है।

जब हमने नारी को भोग्या और भोगमयी स्थिति में ही देखा तो हमें वह निकृष्ट दिखाई दी और जब उसे सर्वोच्च शिखर पर बैठे देखा तो हमारा मस्तक नत हो गया श्रद्धाभाव से।

जहाँ हम उसे नरक का द्वार बतला कर नारी का अपमान करते हैं, वहीं उसे उत्कृष्ट उपमा से उपमित कर उसका सम्मान भी कर देते हैं। यथा—

(१) 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥'

—मनुस्मृति-३

(२) 'स्थितोऽसि योषितां गर्भे, तामिरेवविवदितः।

अहो ! कृतघ्नता सुखं ! कथं ता एव निदसि ?'

.....

(३) 'राधा-कृष्णः स भगवान्, न कृष्णो भगवान् स्वयम् ।'

—पौराणिक वाक्य

हर वस्तु के दो पहलू हैं।

हर वस्तु नय-प्रमाण से युक्त है।

प्रत्येक वस्तु अनेकांतवाद के संदर्भ में उभयात्मक या अनेकात्मक है।

प्रत्येक वस्तु स्याद्वाद के सप्तभंगों में विभक्त होकर भी सत्यता एवं एकरूपता लिए हुए है।

हमारा सोच जब किसी भी वस्तु, जड़ हो या चेतन एक पहलू को लेकर, एक नय को लेकर, एक अपनी दृष्टि को लेकर, अपनी ही परिभाषा में बँध जाता है तब हम सत्य और वस्तुस्थिति के दर्शन नहीं कर सकते हैं।



माता मरुदेवी का एक मात्र उदाहरण/प्रसंग ही हमारे अशुभ दृष्टिकोण (नारी नरक का द्वार है) को खण्डित कर देता है। पुरुष के पुरुषत्व का अहं, उसकी श्रेष्ठता तथा उसका थोथा गौरव यहाँ आकर चुप हो जाता है। मौन हो जाता है।

प्राचीनकाल से या यह कह दें कि नारी प्रारम्भ से ही अपने अस्तित्व का बोध कराती आयी है हमें, तो कोई अत्युक्ति या अतिशयोक्ति पूर्ण बात नहीं होगी।

नारी सृष्टि का सुंदरतम उपहार माना गया है।

नारी को सृष्टि का आधार कहा गया है।

‘असारे खलु संसारे, सारं सारंगलोचना ।’

—योग वासिष्ठ

असार संसार में नारी को सार रूप माना गया है।

मनुस्मृति में कहा गया है—

‘स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु; न विशेषोस्ति कश्चन ।’

—मनुस्मृति ६/१६

‘सृजन = आदि से विश्व नारी की गोद में क्रीड़ा करता आया है। उसकी मुस्कान में महा-निर्माण के स्वप्न है और भ्रू-भंग में प्रलय की विनाशकारी घटाएँ!’

—नजिन

नारी जीवन की महिमा शब्दातीत है। क्योंकि नारी के विना संसार अधूरा है।

मानव-संसार रूपी रथ के पुरुष और स्त्री दोनों ही दो चक्र हैं जिनके बल पर यह मानव-संसार रूपी रथ गतिमान है।

दो चक्र विना रथ-चालन असम्भव है। नारी रूपी एक चक्र के अभाव में संसार-रथ नहीं चल सकता है।

पुरुष के अहं का वह किला—कि मैं स्वयं सन्तर्भ हूँ—यहाँ आकार धराशायी हो जाता है।

नारी के प्रति असम्मान की भावना जो पुरुष-मन में व्याप्त है वह इस संदर्भ में टूट जाती है।

नारी के अप्रतिम एवं गरिमामय व्यक्तित्व को किसी कवि ने शब्दों में बांधकर इस प्रकार रूपायित किया है—

‘नारी-नारी मत करो, नारी नर की खान।

नारी ही के गर्भ से, प्रकटे वीर भगवान् ॥’

आओ, अब देखें हम नारी के बहु आयामी व्यक्तित्व को विविध संदर्भों में ! विभिन्न रूपों में !! जिसके बाद हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच पायेंगे।

हमारे प्राचीन इतिहास में नारी जीवन के विविध पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। फिर भी इस प्रस्तुत लेख के माध्यम से नारी के विभिन्न रूपों का एक संकेत मात्र किया जा रहा है जिसके कारण हमारा सोच/विचार शुभ दिशा में मुड़े।

आदर्श माता के रूप में नारी

नारी के हृदय को सागर की उपमा दी जा सकती है। क्योंकि उसके हृदय सागर में पुत्र के प्रति जो वात्सल्य भाव है वह अथाह/अपरिमित/असीम/अनंत है। उसके हृदय-सागर में वात्सल्य-जल सदा-सदा से लहराता हुआ भरा है जो कि कभी समाप्त होने वाला नहीं है।

नारी का उदात्त रूप—एक दृष्टि : मुनि प्रकाशचन्द्र ‘निर्भय’ | २४७





इसी के कारण वह पुत्र रूप में मानव प्राणी को ६ माह तक अपने गर्भ में धारण कर प्राण-प्रण से उसकी रक्षा में जुटी रहती है।

अपरिमित वात्सल्य भाव के कारण ही पुत्र प्रसव के साथ ही उसका वात्सल्य भाव भी धवल-दुग्ध की धारा में बह निकलता है। जिसका एक-एक बूँद भी अनमोल है, उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती है।

‘कहते हैं कि मानव के रक्त में जब तक माता के रज का एक भी कण विद्यमान रहता है वहाँ तक मर नहीं सकता। जिस क्षण उसका अन्तिम कण समाप्त हो गया उस दिन शरीर भी छूट जायेगा।’

माता के रूप में वह आदर्श सेवा की प्रतिभूति भी है। जब तक पुत्र अपने पैरों पर खड़ा होकर कार्य करने में सक्षम नहीं बने वहाँ तक वह अपने तन की चिन्ता भी नहीं करके पुत्र की सेवा में लगी रहती है।

मानव को प्रारम्भिक शिक्षा देने वाली भी नारी रूप माता ही है। माता द्वारा दिये गये धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, पारिवारिक आदि सभी प्रकार के संस्कार जीवन पर्यन्त मानव के हृदय में जमे रहते हैं।

पुत्र चाहे रूपवान हो या त्रिद्रूप, सुन्दर हो या असुन्दर, अंगोपांग से परिपूर्ण हो या विकल—कैसा भी हो, माता के हृदय में उसके प्रति असौम्य ममता एक समान ही रहती है। उसकी भावना में कभी कहीं भेदभाव नहीं आता है।

पुत्र के तन-मन की जरा-सी पीड़ा से भी माता का हृदय रो उठता है। पुत्र की पीड़ा/बेचैनी/कष्ट को हटाने/मिटाने के लिए वह प्राण-प्रण से जुट जाती है। उस समय उसका मातृत्व साकारता में खिल उठता है। वह समर्थ है या नहीं यह प्रश्न नहीं है किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका प्रयत्न कितना करुणा/ममता से भरा हुआ है।

किसी ने माता रूपी नारी के लिए कहा है कि उसे कभी भी किसी भी उपमा से उपमित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वह अनुपमेय होकर भी महत्वपूर्ण है।

माता मरुदेवी ने ऋषभदेव को, माता त्रिशला ने महावीर को, माता कौशल्या ने श्रीराम को, माता देवकी ने श्रीकृष्ण वासुदेव को, माता अंजना ने हनुमान को, माता सीता ने लव-कुश को, माता रुक्मिणी ने प्रद्युम्नकुमार को, माता मदनरेखा ने नमिराज ऋषि को, माता भद्रा ने शालिभद्र को, माता धारिणी ने जम्बूस्वामी जैसे पुत्र-रत्नों को जन्म देकर संसार को यह वता दिया कि नारी अबला होकर भी सबलों को जन्म देने वाली होती है।

मातारूप नारी की कुक्षि से श्रेष्ठतम महापुरुषों का जन्म हुआ है। इसके बारे में अधिक क्या कहें? संक्षिप्त में इतना ही बहुत है कि नारी के बिना मानव कभी इस धरा पर अवतीर्ण नहीं हो सकता।

आदर्श पत्नी के रूप में

नारी का जिस घर में जन्म होता है वह उस घर, परिवार, माता-पिता, भाई-बहन, ग्राम-नगर आदि सभी को, उनके प्रति उसकी जो ममता/भोह, लगाव है उस सभी को तोड़कर वह समय आने पर अपने पति के घर चली जाती है।

२४८ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



मनसा-वाचा-कर्मणा वह पति के गृह-द्वार को अपना मानकर उस परिवार के सुख-दुःख की समभागी बन जाती है।

उसका अपना सारा सुख-दुःख उस परिवार से जुड़ जाता है।

पति और उसका परिवार ही उसके लिए आधारभूत होता है जिसे वह प्राण-प्रण से स्वीकारती है।

नारी पति के साथ छाया रूप हो जाती है।

मछली और पानी का जो सम्बन्ध होता है वही सम्बन्ध पति-पत्नी का होता है।

नारी पत्नीधर्म को स्वीकार कर धर्ममार्ग पर आगे बढ़ती हुई पति की भी धर्मरक्षण में सहयोगी बनती है।

इसलिए नीतिकार ने कहा है—‘भार्या-धर्मानुकूला।’

अतीत के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे हमें, जिनमें नारी का ‘धर्मानुकूला-भार्या’ रूप साकार हो जीवन्त प्रतीक बन चुका था।

सती सीता, महारानी दमयन्ती, महारानी द्रौपदी, आदि अनेक राजवधुएँ पति-सेवा में ही अपना सुख मानकर उनके साथ दुःख उठाने को भी तत्पर बनीं।

महासती मदनरेखा का उदाहरण तो वस्तुतः नारी के दिव्य पत्नीधर्म को भूतिमन्त/जीवन्त कर देता है।

अपने ही जेठ मणिरथ द्वारा अपने पति युगबाहु पर प्राणघातक वार के पश्चात् जब वह देखती है कि उसका पति जीवित नहीं रह सकता है तो अपनी असहाय अवस्था का विचार नहीं करते हुए वह युगबाहु को धर्म का शरणा देकर, क्रोध-द्वेष भाव से हटाकर शुभ भावों में स्थिर कर उसकी गति को सुधार देती है।

नारी धर्मसहायिका होती है, इस उक्ति का यह जीवन्त उदाहरण है।

इसी प्रकार बौद्धधर्मानुयायी और पाप-पंक से लिप्त मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक को महारानी चेलना ने सद्धर्म/वीतराग-वाणी पर उन्हें स्थिर कर, उनकी सम्यक्त्व प्राप्ति में सहायक बनकर आदर्श पत्नीधर्म का निर्वाह किया था।

सती सुभद्रा ने संकटों की चिन्ता न करते हुए अपने पति और पूरे परिवार की वीतराग-वाणी पर श्रद्धा जगाकर श्रमण-धर्म का उपासक बना दिया।

ऐसे अनेक उदाहरण हम देख सकते हैं जिनमें नारी ने अपने धर्म-पत्नी रूप को गरिमा से मंडित कर उसे भव्यता प्रदान की है।

### धर्मपथानुगामी नारी

इन्द्रिय-मुखोपभोग के लिए अनेक नारियों ने अपने-अपने पति के साथ आत्म-बलिदान किया है।

किन्तु धर्मपथानुगामी तथा शीलधर्म की रक्षा के खातिर भी नारी ने अपने पति के प्रति जो अनन्य श्रद्धा भाव है उसे कायम रखा है।

नारी का उदात्त रूप—एक दृष्टि : मुनि प्रकाशचन्द्र ‘निर्भय’ | २४६



शीलधर्म की रक्षा के लिए अंग देश की चंपा नगरी के महाराजा दधिवाहन की धर्मपत्नी राजरानी धारिणी (चन्दनवाला की माता) ने अपनी जिह्वा खींचकर प्राणों का उत्सर्ग कर शीलधर्म की रक्षा की।

शीलधर्म की रक्षा के हेतु अनेकानेक नारियों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है।

परन्तु इन सबसे भिन्न एक ऐसी घटना भी इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अंकित है कि जिससे हमारा मस्तक गौरव से एकदम ऊँचा उठ जाता है। वह घटना है राजमति की।

२२वें तीर्थंकर नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) की होने वाली पत्नी राजमति।

नेमिनाथ अपने विवाह के अवसर पर होने वाली पशुवध की घटना से सिहर कर, करुणाभाव से भर तोरण द्वार से लौट गये।

सोलह शृंगार से सुसज्जित, पति-मुख देखने को बैचैन मन वाली राजमति ने जब यह देखा कि उसके होने वाले पति नेमिनाथ तोरण द्वार से लौट गये तब उसके हृदय को गहरा धक्का लगा और वह मूर्च्छित हो गयी।

होश में आने पर जब उसे ज्ञात हुआ कि नेमिनाथ संयमी बनने वाले हैं तो वह भी पति-पथ की अनुगामिनी बनने को आतुर हो उठी।

ऐसे में उसके माता-पिता/महाराजा उग्रसेन तथा महारानी धारिणी एवं पूरे परिवार ने उसे बहुत समझाया कि दूसरा वर ढूँढ़कर विवाह कर देंगे। परन्तु वह अपने संकल्प पर अडिग रही।

प्राप्त सम्पूर्ण राज्य वैभव और परिवार की मोह-ममता छोड़कर वह भी संयमी बन गयी।

प्राग् ऐतिहासिक काल की यह पति-पथानुगामी अद्भुत/विस्मयकारी घटना हमें झिझोड़कर रख देती है कि क्या नारी इतनी उत्कृष्ट त्याग की दिव्य मूर्ति भी हो सकती है ?

पर है यह घटना सत्य ! और इस घटना पर हम सभी को निश्चित रूप से गौरव की अनुभूति होती है।

**कुशल शासिका के रूप में**

नारी हृदय को सद्यः विकसित पुष्प पंखुड़ियों की उपमा दी जाती है ; क्योंकि वह तन-मन दोनों से ही सुकुमार है।

किन्तु कर्त्तव्य के नाते समय आने पर वह उस सुकुमारता को त्यागकर कठोरता भी धारण कर लेती है। फिर भी है तो वह सुकुमार ही।

संसार में तो अनेक नारियों ने शासन-पद पर बैठकर शासन किया है। वहाँ उनमें कठोरता के साथ कभी-कभी क्रूरता भी प्रवेश कर जाती है/कर गयी है।

परन्तु धर्म-शासिका के रूप में उसका रूप कुछ और ही दृष्टिगत होता है।

वहाँ कभी कठोरता धारण करनी भी पड़े तो वह कठोर भी हो जाती है किन्तु वहाँ क्रूरता कभी पास तक नहीं फटकती है।

२५० | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साधवियों का योगदान



जैन धर्म में २४ तीर्थंकरों के विशाल साध्वी समुदाय का नेतृत्व २४ नारियों ने ही किया है।

प्रथम तीर्थंकर के समय ब्राह्मी महासती थी और अन्तिम तीर्थंकर महावीर के शासन में महासती वंदना हुई है।

इन दोनों ने और बीच के २२ तीर्थंकरों के समय की २२ महासतियों ने बड़ी कुशलता से विशाल साध्वी समुदाय जो कि हजारों-लाखों की संख्या में था उनका नेतृत्व किया।

इनके द्वारा किया गया नेतृत्व स्वयं के लिए भी कल्याणकारी था और साध्वी समुदाय के लिए भी।

एक उदाहरण लें—महासती चंदना जी ने एक बार महासती नृगावती को उपालंभ दिया। इस उपालंभ के माध्यम से ही नृगावती और चंदना दोनों को ही केवलज्ञान उपलब्ध हो गया।

धर्मोपदेशिका के रूप में

यूँ तो नारी माता के रूप में उपदेशिका/शिक्षिका रही ही है किन्तु आत्म-साधना के मार्ग में भी नारी स्वयं अपना ही आत्म-कल्याण नहीं करती अपितु अपने परिवार एवं अनेक भवि-जीवों को भी आत्म-साधना के पथ पर बढ़ाने में सहायक होती है।

साधना-पथ में ही वह कुशल उपदेशिका का रूप ग्रहण कर वीतराग-वाणी का प्रसार करती हुई अनेक भव्य-जीवों को प्रशस्त पथ/साधना पथ पर आरूढ़ करती है।

यथा—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की सुपुत्री साध्वी ब्राह्मी एवं सुन्दरी दोनों ने तपस्यारत अहं से ग्रसित अपने भाई बाहुवली को उपदेश देकर अहं रूपी हाथी से उतारकर केवलज्ञान रूपी ज्योति से साक्षात्कार कराया।

‘वीरा म्हारा ! गज थकी नीचे उतरो !

गज चढ्या केवल नहीं होसी रे.....वीरा म्हारा.....!

अहं के टीले पर चढ़कर किसी ने आज तक केवलज्ञान रूपी सूर्य को नहीं देखा/पाया। जिसने भी देखा/पाया उसने तम्रता/विनय से ही।

ब्राह्मी-सुन्दरी के उद्बोधन से बाहुवली भी नम्रीभूत हुए और ज्यों ही उन्होंने चरण-न्यास किया, वे केवल-सूर्य से प्रभासित हो गये।

ठीक इसी तरह का उपदेश साध्वी राजमति ने रथनेमि मुनि को भोगों की ओर मुड़ते देखकर दिया था। यथा—

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।

वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ ४२ ॥

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हणो।

मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ४३ ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २२

नारी का उदात्त रूप—एक दृष्टि : मुनि प्रकाशचन्द्र ‘निर्भय’ । २५१



‘अर्थात्—हे अयश की कामना करने वाले । तुझे धिक्कार है, जोकि तू असंयत जीवन के कारण से बमन किये हुए को पीने की इच्छा करता है । इससे तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है ।’

‘मैं उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम समुद्रविजय के पुत्र हो । हम दोनों को गन्धन कुल के सर्पों के समान न होना चाहिए । अतः तुम निश्चल होकर संयम का आराधन करो ।’

इस वचनों के फलस्वरूप रथनेमि की जो स्थिति बनी, वह इस प्रकार है—

‘तीसे सो वग्रणं सोच्चा, संजईए सुभासियं ।

अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइआ ॥

उत्तरा० २२/४७

‘रथनेमि ने संयमशील राजमति के पूर्वोक्त सुभाषित वचनों को सुनकर अंकुश द्वारा नदोन्मत्त हस्ती की तरह अपने आत्मा को वश में करके फिर से धर्म में स्थित कर लिया ।’

जैन धर्म दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान एवं विपुल रूप से दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता थी हरिभद्रसूरि आचार्य ने महासती महत्तरा याकिनी से प्रतिबोध प्राप्त किया था ।

प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही समय में अनेक साध्वी-रूपा नारियों ने भवि जीवों को सद्बोध से बोधित कर धर्मोपदेशिका के रूप को प्रकट किया है ।

### शान्ति की अग्रदूता नारी

प्रायः कहा जाता है कि इस जगत में ३ वस्तुएँ विग्रह को उत्पन्न करने वाली हैं—जर, जोर और जमीन ।

किन्हीं अर्थों और सन्दर्भों में सही भी हो सकती है यह बात ।

पर नारी ने विश्व समुदाय को विग्रह से मुक्त भी कराया है । इस बात से हम अनभिज्ञ नहीं होकर भी अनभिज्ञ ही हैं ।

नारी में निर्माणक शक्ति भी है, सृजनात्मक शक्ति भी है और विनाशात्मक शक्ति भी ।

तीनों ही रूपों में नारी को हम देख सकते हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में हमें नारी की निर्माणक और सृजनात्मक शक्ति को देखना है ।

जैन कथानकों में महासती मृगावती की कथा आती है ।

मृगावती एक समय युद्ध भूमि के मैदान में दिखाई देती है ।

वहाँ वह विग्रहकर्त्री के रूप में नहीं अपितु सन्धि एवं शान्ति कर्त्री के रूप में दिखाई पड़ती है ।

युद्धरत दो राजाओं को, जोकि भाई-भाई ही थे किन्तु इस बात से वे अनजान थे और उनकी माता मृगावती ही थी—वह उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराकर वीतराग-वाणी का पान कराती है ।

फलस्वरूप युद्ध स्थगित होकर शान्ति की शहनाइयाँ गूँज उठती हैं ।

यह है नारी की शान्तिदूता के रूप में स्थिति । और भी अन्य उदाहरण मिल सकते हैं ।

२५२ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



पुरुष के समान ही नारी में भी चिन्तन शक्ति रही हुई है।

कभी-कभी, कहीं-कहीं नारी का चिन्तन पुरुष-चिन्तन से भी श्रेष्ठ एवं आगे बढ़ने वाला भी मिलता है।

सांसारिकता को लेकर चिन्तन तो प्रायः सभी में होता है किन्तु आत्मा और दर्शन की गूढ़ बातों का चिन्तन/प्रखर चिन्तन भी नारी कर सकती है। इसके भी अनेक उदाहरण हम देख सकते हैं शोध करने पर।

जैनागम में जयन्ति-श्राविका के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उल्लेख मिलता है।

वह कुशाग्र बुद्धि की धनी एवं साहसिक भी थी।

देव-मनुज, अनेक ज्ञान सम्पन्न, लब्धिधारी मुनियों-साध्वियों के बीच समवशरण में विराजमान प्रभु महावीर से उसने सहज भाव से तत्त्व-शोधन की दृष्टि से अनेकों प्रश्न पूछे थे।

जयन्ति द्वारा पूछे गये प्रश्न बड़े ही दार्शनिक एवं मुमुक्षुओं के लिए हितकारी हैं।

#### दृढ़ संकल्पी और तपाराधना में अनुरक्त

पुरुष के समान नारी में भी संकल्प की दृढ़ता बेजोड़ दिखाई देती है।

नारी जब किसी कार्य का दृढ़ संकल्प कर लेती है तब वह उसे पूर्ण करके ही सकती है।

'श्रीमद् अन्तकृद्दशांग-सूत्र' में साध्वि समुदाय के द्वारा संकल्पित विविध प्रकार की तप-आराधना का उल्लेख है। जिन्हें देखकर लगता है कि वे अपने संकल्प को कितनी दृढ़ता से पूर्ण करती हैं।

ऐसे-ऐसे दीर्घकाल तक की तप-आराधना को वे स्वीकार करती हैं कि हमें बड़ा आश्चर्य होता है।

नारी अपने मन पर कितना अधिक संयम रख सकती है इस बात को हम इन उदाहरणों के माध्यम से जान सकते हैं।

#### मेरु-सी अकंप श्रद्धावन्त

नारी समुदाय हमेशा से श्रद्धा/विश्वास प्रधान रहा है।

उसके हृदय में श्रद्धा की अखण्ड ज्योति सदा ही प्रज्वलित रहती है।

श्रद्धा—अन्धश्रद्धा और सद्धर्मश्रद्धारूप दो प्रकार की होती है।

दोनों में ही श्रद्धा-भाव की प्रधानता रहती है।

किन्तु अन्धश्रद्धा भटकाने वाली होती है भवों-भवों तक; जबकि सद्धर्म के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भव-बन्धन से मुक्त करने वाली होती है।

वीतराग-वाणी पर श्रद्धा रखने वाली अनेक नारियाँ हुई हैं जैन धर्म में।

फिर भी जैन इतिहास में एक ऐसी घटना बनी है कि जिसे देखकर हमारा मन भी श्रद्धा भाव से भर जाता है।

नारी का उदात्त रूप—एक दृष्टि : मुनि प्रकाशचन्द्र 'निर्भय' | २५३



राजगृही निवासी सुलसा !

उसकी प्रभु महावीर पर इतनी अटूट श्रद्धा थी कि बीतराग-वाणी के सिवाय अन्य किसी की उपासना के लिए वह तैयार नहीं थी ।

अनेक ऋद्धि का धारी अम्बड संन्यासी अनेक प्रकार के रूप बनाकर सुलसा की श्रद्धा की परीक्षा करता है, परन्तु वह बीतराग-वाणी के प्रति अटूट श्रद्धा भाव से एक इंच भी नहीं डिगी ।

अम्बड ने महावीर का भी रूप बनाकर आकर्षित करना चाहा किन्तु फिर भी वह असफल हुआ । और घटना यहाँ ऐसी घट गई कि अम्बड स्वयं सुलसा की दृढ़ श्रद्धा के सामने झुक गया ।

**उपसंहार**

इस प्रकार हम देखें कि नारी जाति जिसे हम दीन-हीन, अवला और असहाय मानते/समझते हैं वह कितनी उच्चकोटि की साधिका भी हो सकती है ।

वस्तुतः हमने आज तक उसे हीनता की दृष्टि से ही देखा किन्तु अब हम उसे सम्मान की दृष्टि से भी देखें ।

नारी ने सांसारिक जीवन एवं आध्यात्मिक जीवन दोनों में ही बहुत कुछ सुनहरे आदर्श स्थापित किये हैं ।

आज पुनः समय आया है कि नारी-समाज अपने शुभ संस्कारों के माध्यम से मानव-समाज में श्रेष्ठ पीढ़ी का निर्माण करे । उसके बिना नारी समाज अपनी ही नारी जाति के द्वारा जो कीर्तिमान बनाये गये हैं उसकी रक्षा नहीं कर सकती ।

जब तक नारी जाति अपनी शक्ति से परिचित नहीं होती, उसे जागृत नहीं करती तब तक कुछ भी नहीं हो सकता । अतः अपनी शक्ति जागृत कर नारी नारी-समुदाय का उदात्त रूप बनाये रखे ।



पुष्प-सूक्ति-सौरभ ————— □

- वात्सल्य का प्रभाव केवल मनुष्यों एवं समझदार जानवरों पर ही नहीं, पेड़ पौधों और वनस्पति जगत पर भी अचूक रूप से पड़ता है ।
- परमात्मा की शक्ति जितनी विराट् व व्यापक है, उतनी ही व्यापक व विराट् मानवीय शक्ति है ।
- मानव-जीवन को महत्ता के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले गुणों में सेवा एक महत्वपूर्ण गुण है ।
- जिसने स्वयं अपने आपको चिरकाल तक आदर्श परिस्थितियों में रखकर ज्ञान, अनुभव, तप के आधार पर विशिष्ट बना लिया हो, वही वैसा उपदेश देने का अधिकारी है ।

□ ————— पुष्प-सूक्ति-सौरभ

२५४ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



## नारी जीवन जागरण

—सौभाग्यमल जैन

नृवंशवेत्ताओं ने मानव वंश को कुछ युगों में विभाजित करके उन युगों का नामसंस्करण आदि मानव, पाषाणयुग, नव पाषाणयुग, ताम्र युग किया है। इन युगों की पुरातत्वीय सामग्री में पाषाण के अस्त्र, प्रागैतिहासिक शैलचित्र आदि से पाषाण आदि युगों के मानव-जीवन का अनुमान किया जा सकता है किन्तु आदिमानव कैसा था ? इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। कहा जाता है कि आदिमानव पशु जैसा था। उसके पास भाषा नहीं थी। उसके पश्चात वह जंघाओं के बल पर चलने लगा। वह एक प्रकार से भोजन एकत्र करने वाला (Food gatherer) था। उसने पाषाण युग में प्रवेश किया, पाषाण के अस्त्र-शस्त्र बनाये, फिर नव-पाषाण युग में प्रवेश करके उन पाषाण के अस्त्र-शस्त्रों को सुधारा, अधिक तीक्ष्ण किया और तत्पश्चात् लौह (ताम्र) युग में प्रवेश करके लोहे के अस्त्र-शस्त्रादि का निर्माण किया अपनी रक्षा के लिये तब उसने कबीलों के साथ रहना शुरू किया, खेती प्रारंभ की, ग्राम भी बसाये। उस युग में उसकी सहचरी नारी का जीवन क्या था ? यह कहना मुश्किल है। कुछ शैलचित्रों से यह अनुमानित किया जा सकता है कि उस समय उन्मुक्त जीवन था, पारिवारिक रिश्ते नहीं थे।

जैन विचारकों ने कालप्रवाह को अनादि माना तथा यह मत व्यक्त किया है कि उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के ६—६ आरे में क्रमशः सृष्टि के जीवन में उत्थान—पतन हुआ करता है। अवसर्पिणी काल के प्रथम दो आरे तथा तीसरे आरे के अधिकांश काल में भोग युग रहता है। कर्म की आवश्यकता नहीं होती थी। मानव की आवश्यकता “कल्पवृक्षों” से पूर्ण हो जाती थी। यदि इसे अलंकारिक भाषा मानें तो सारांश यह निकलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकता अत्यन्त अल्प होती थी, प्रकृति माता (उसे कल्पवृक्ष ही कहा जा सकता है) पूरी कर देती थी। उस युग में पुरुष और नारी में वैवाहिक संस्था का अविर्भाव नहीं हुआ था, अपितु पिता-माता की संतान बालक-बालिका यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेती थी। यदि हम गौदिक साहित्य में प्राप्त संवाद (यम-यमी संवाद) की ओर विचार करें तो उस युग के जीवन का चित्र मालूम पड़ सकता है। चौदहवें कुलकर नाभिराय के सुपुत्र ऋषभदेव ने मानव सभ्यता की नींव डाली, विवाह संस्था की स्थापना की, मानव जाति को कर्म का उपदेश दिया। मानव ने संस्कृति के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा परिवार का विचार साकार हुआ।

नारी जीवन जागरण : सौभाग्यमल जैन | २५५





स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—

Customs of one age of one yug have not the customs of another as yug comes after yug they have to change.

मानव जीवन के कार्य-कलाप में परिवार का महत्त्व है। परिवार में दो महत्वपूर्ण इकाई—पुरुष तथा महिला है।

चीनी संत कन्फ्यूशियस ने कहा था—

“परिवार तेज चलते हुए रथ के समान है। परिवार के सभी सदस्य अश्व हैं। एक अश्व की निरीहता भी रथ की गति में बाधक होती है। कर्म ही रथ का सारथी है, अर्थ (धन) ही रथ के पहिए हैं सामाजिक जीवन ही रथ का मार्ग है और सुख, शान्ति और मोक्ष ही रथ का विरामस्थल है। परिवार तेज चलते हुए रथ के समान है।”

तात्पर्य यह है कि यम-यमी संवाद के पूर्व का काल या ऋषभदेव के संदेश के पूर्व का काल लगभग एक बिन्दु जैसा लगता है। उस समय का नारी जीवन भी कोई जीवन था जिसमें नारी केवल पुरुष की भोग-लिप्सा की एक सामग्री मान ली गई थी किन्तु ऋषभदेव ने एक क्रांतिकारी कार्य किया और यहाँ से मानव के सुसंस्कृत होने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। यही कारण है कि जहाँ पुरुष के लिये ऋषभदेव ने ७२ कलाओं की माहिती आवश्यक मानी, वहीं नारी के लिए भी ६४ कलाओं की माहिती जरूरी समझी। उनकी दोनों पुत्री (ब्राह्मी और सुन्दरी) क्रमशः अक्षरविद्या तथा अंकविद्या में निष्णात हुईं। दोनों पुत्र भरत तथा वाहुबलि ने जो मानव समाज के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया था, वह उनके अत्यन्त सुसंस्कृत जीवन का ज्वलन्त उदाहरण है। संक्षेप में यह कि यही वह बिन्दु है जहाँ से नारी का एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रारम्भ होता है। नारी-जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। हम भगवान ऋषभदेव या अन्य तीर्थंकरों के काल की नारी जागरूकता की कथा को एक तरफ रख दें क्योंकि इतिहास की पहुँच वहाँ तक नहीं हुई तब भी वैदिककालीन, उपनिषद्कालीन, पार्श्वनाथ, महावीरकालीन (जिनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है) स्थिति पर ही नारी जागरण के प्रश्न को चर्चा का विषय बनायेंगे तो निःसन्देह यह परिणाम निकलता है कि वैदिक काल में नारी का स्थान समाज में महत्वपूर्ण था, शिक्षा प्राप्ति का पूरा अधिकार था, साहित्य रचना में भी उनका योगदान था। उदाहरणस्वरूप लोपामुद्रा, घोषा का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने वेदों के कुछ मन्त्रों की रचना की थी। उपनिषद्काल में मैत्रेयी संवाद, गार्गी आदि के प्रश्न (जो राजा जनक की सभा में किये गये थे) अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिससे उनके विदुषी होने का संकेत मिलता है। यह भी सत्य है कि जहाँ इस काल में इस प्रकार की विदुषी महिलाओं का जिक्र है वहीं इसी काल में महिलाओं के प्रति अवज्ञा का भाव भी प्रारम्भ हो गया था। शिक्षा के क्षेत्र में उनका अधिकार कम किया जाने लगा, उनके धार्मिक अधिकार पर अंकुश लगा, वेद मन्त्रों का उच्चारण महिलाओं के लिए प्रतिबन्धित कर दिया गया। जैन-बौद्ध युग के प्रारम्भिक काल तक नारी शिक्षा लगभग बन्द सी होती गई, केवल उसको कुशल गृहिणी ही बनना पर्याप्त माना जाने लगा किन्तु जैन परम्परा (भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर के संघ) में क्रमशः ३८ हजार तथा ३६ हजार भिक्षुणियों का संघ था जो क्रमशः सती पुष्पचूला एवं सती चन्दना के नेतृत्व में था। तात्पर्य यह कि जैन परम्परा में महिलाओं के धार्मिक आचरण करने या प्रव्रजित होने या शास्त्राभ्यास करने आदि पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, वह भी पुरुष की

२५६ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



भांति निःश्रेयस की प्राप्ति हेतु उसी उत्साह से सतर्क थीं। जैन आगम में जयन्ती श्राविका के विदुषी होने का जिक्र है। भगवान महावीर की माता त्रिशला स्वयं विदुषी थीं। हालांकि भगवान बुद्ध को अपने संघ में भिक्षुणी को स्थान देने में काफी हिचकिचाहट थी। वे अपनी मौसी गौतमी को भी अपने शिष्य आनन्द के आग्रह से दीक्षित करने के बाद भी बड़े भयभीत थे। यह सत्य है कि ब्राह्मण परम्परा में सूत्र तथा स्मृतिकाल में महिलाओं पर प्रतिबन्ध अधिक कड़े होते गये। कट्टु सत्य है कि महिलाओं के सम्बन्ध में निन्दात्मक उल्लेख, टिप्पणियाँ आदि भी जैन परम्परा में कम नहीं हैं किन्तु यदि हम गहराई से सोचें तो उनके कर्ता ने महिलाओं के आकर्षक सौन्दर्य से कामुक साधु की रक्षा के ख्याल से स्त्री-चरित्र को बदनाम करने का प्रयत्न किया है। संस्कृत में कहा गया है—

“वृतकुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमो पुमान्”।

नारी घी के घड़े के समान है तथा तपते हुए अंगारे के मुताबिक पुरुष होता है। यह कैसे सम्भव है कि केवल महिला ही सब दोषों की जननी हो गई। इस सम्बन्ध में डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक “जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज” पृष्ठ २४६ में बृहत्संहिता के कर्ता वराहमिहिर का हवाला देकर लिखा है :—

“जो दोष स्त्रियों में बताये जाते हैं वे पुरुषों में भी मौजूद हैं। अन्तर इतना है कि स्त्रियाँ उन्हें दूर करने का प्रयत्न करती हैं, जबकि पुरुष उनसे बेहद उदासीन रहते हैं। विवाह की प्रतिज्ञाएँ बर-बधू दोनों ही ग्रहण करते हैं, लेकिन पुरुष उन्हें साधारण मानकर बजते हैं, जबकि स्त्रियाँ उन पर आचरण करती हैं। काम-वासना से कौन अधिक पीड़ित होता है ? पुरुष, जो वृद्धावस्था में भी विवाह करते हैं।

पुरुष के लिए यह कहना कि स्त्रियाँ चंचल होती हैं, दुर्बल होती हैं, और अविश्वसनीय होती हैं, धृष्टता और कृतघ्नता की चरम सीमा है। इससे कुशल चोरों की याद आती है जो पहले तो अपना लूटा हुआ माल अन्यत्र भिजवा देते हैं और फिर निरपराधो पुरुषों को चुनौती देते हुए उनसे अपने धन की मांग करते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि महिलाओं ने पुरुष को पतन के मार्ग से उन्मुख करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भोजराज उग्रसेन की कन्या राजीमति ने भगवान अरिष्टनेमि के वैराग्य अवस्था का अनुगमन कर लिया था। रथनेमि तथा राजीमति गिरनार पर्वत पर तपस्था में लीन थे। राजीमति के एक गुफा में प्रवेश करने पर रथनेमि ने उस पर आसक्त होकर पतन का मार्ग अपनाना चाहा किन्तु राजीमति की फटकार के कारण वह सजग हो गया तथा पतन से बच गया। और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। संभवतः ऐसी नारी-रत्न के लिये ही एक प्राचीन विद्वान ने कहा था—

“यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता”।

जहाँ नारी की पूजा होती है, उसे आदर दिया जाता है वहाँ देवता रमण करते हैं। तात्पर्य यह है कि पुरुष हो चाहे नारी यदि विवेकशील है और उनका हृदय और आचरण पवित्र है तो परिवार, समाज और राष्ट्र सुखी होगा। यह आवश्यक नहीं है कि केवल महिला का हृदय ही क्लुषित होता है इस कारण उनका आचरण सदैव अपवित्र होता है। एक चीनी लोकोक्ति में कहा गया है—

“अगर तुम्हारा हृदय पवित्र है तो तुम्हारा आचरण भी सुन्दर होगा, तुम्हारा आचरण सुन्दर

नारी जीवन जागरण : सौभाग्यमल जैन | २५७



है तो तुम्हारे परिवार में शांति रहेगी, यदि तुम्हारे परिवार में शांति है तो राष्ट्र में सुव्यवस्था होगी और यदि राष्ट्र में सुव्यवस्था है तो सम्पूर्ण विश्व में शांति और सुख का साम्राज्य होगा।”

देश में एक समय आया जबकि नारी पर असीमित प्रतिबन्ध लग गये, उनका पर्दे में रहना आवश्यक हो गया, केवल यही नहीं जो महिलायें घर से बाहर निकलतीं उनके सम्बन्ध में उनकी निम्न सामाजिक स्थिति का अनुमान किया जाता था। नारी शिक्षा समाप्तप्राय थी। नारी की इस दुरवस्था का प्रारम्भ कब हुआ ? यह कहना मुश्किल है। कुछ लोग देश में मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् से इसका प्रारम्भ मानते हैं। जो भी हो, किन्तु यह एक वास्तविकता थी। स्थिति केवल यहीं तक नहीं थी अपितु नारी को मारा-पीटा, अपमानित किया जाता था। इसी कारण स्व० राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने नारी की स्थिति का चित्रण निम्न शब्दों में किया था :—

अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी।

आँचल में है दूध, और आँखों में पानी ॥

समय के परिवर्तन के साथ उपरोक्त स्थिति में परिवर्तन आया। नारी ने अंगड़ाई ली, जागरण हुआ। उर्दू के एक कवि ने कहा था—

“फर्ज औरत पर नहीं है, चार दीवारी की कैद।

हो अगर जब्ते नजर की और खुद्दारी की कैद ॥

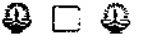
अब तो नारी भी पुरुष के समकक्ष होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर है। उसमें से पुरुष से निम्न स्थिति के होने का भाव समाप्त होता जा रहा है। हालांकि जैन परम्परा में नारी पर धार्मिक उपासना, साधना आदि पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है किन्तु व्यवहार में जैन परिवारों में भी नारी के प्रति समान व्यवहार कम देखने में आता था। धर्म के क्षेत्र में समान रूप से अपनी उपासना या साधना में भाग ले सकने के बावजूद भी घरों में समानता का व्यवहार नहीं होता था। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ के काल में भी साधना के लिये महिलाएँ साध्वी दीक्षा ग्रहण करती थीं। भगवान महावीर के काल में महासती चन्दनबाला के पूर्व जीवन का वृत्त बताता है कि उसको बाजार में विक्रय किया गया था। यह सामाजिक विकृति का परिणाम था। भगवान महावीर ने चन्दनबाला का उद्धार किया, उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण की तथा उपयुक्त समय पर साध्वी दीक्षा प्रदान करके अपने विशाल संघ की प्रमुख नेत्री बनाया। भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर के संघ में साध्वियों की संख्या बहुत थी। इतने विशाल संघ का नेतृत्व साध्वी को सौंपा जाना उनकी विद्वत्ता तथा कार्यक्षमता का स्पष्ट प्रमाण है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के संघ में साध्वियों की उपेक्षा उनके निर्वाण के कितने समय पश्चात् प्रारम्भ हुई तथा उसके क्या कारण थे ? इन प्रश्नों के संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। भगवान के निर्वाण के पश्चात् तथाकथित कुछ ग्रन्थों में जो प्रावधान किये गये पुरिस-जैठठा आदि वाक्य का उदाहरण दिया जा सकता है इस प्रकार के प्रावधान से जहाँ साधु समुदाय में साध्वियों के प्रति निम्न स्थिति का भाव आया वहीं साध्वियों में हीनत्व की भावना जागृत हुई और साधु समुदाय ने उस हीनत्व भाव को स्थायी रूप देने का प्रयत्न किया। गत कुछ वर्षों में साध्वी समुदाय में भी पुनर्जागरण का भाव जगा है और उसी के परिणामस्वरूप सन् १९६४ में अधिकारी मुनि सम्मेलन के समय से या उसके कुछ पूर्व से “चन्दनबाला श्रमणी संघ” की स्थापना हुई है जिसकी अध्यक्षता तपोमूर्ति परम विदुषी महासती सोहनकुंवरजी थी।

२५८ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



इन्हीं महासती सोहनकुंवरजी के पास उदयपुर निवासी श्री जीवनसिंहजी बरडिया की सुपुत्री श्री सुन्दरकुमारी ने अपनी लघु वय (केवल १४ वर्ष) में ही दीक्षा ग्रहण की और उनका दीक्षा नाम महासती पुष्पवती जी रखा गया। विदुषी साध्वी पुष्पवती जी ने दीक्षा के पश्चात् से साहित्य, धर्म, दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों, जैन आगमों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप वह साधना के क्षेत्र के साथ विद्या के क्षेत्र में भी सतत प्रगति करती रहीं। उन्होंने अपने साधनाकाल में ही कई ग्रन्थों का प्रणयन तथा संपादन किया है। यह एक मणिकांचन योग है कि महासती पुष्पवती के संसार पक्ष के सहोदर साहित्य वाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनिजी हैं जो उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के विद्वान शिष्य हैं। मुझे महासती जी के दर्शन श्रद्धेय देवेन्द्र मुनिजी की कृपा से ही हुए थे। महासती जी के सौम्य मुख मण्डल पर अपूर्ण शान्ति तथा साधना की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। महासती जी के साधनाकाल को आगामी १२-२-१९८८ को अर्धशताब्दी जितना लम्बा काल हो जावेगा।

मेरी हार्दिक कामना है कि महासती जी चिरायु होकर अपनी आत्म-साधना में सलग्न रहें तथा जिनशासन की प्रभावना करती रहें।



### पुष्प-सूक्ति-सौरभ

- सत्य संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। संसार के समस्त बलों का समावेश सत्य में हो जाता है।
- सत्य का सर्वांगीण स्वरूप समझने के लिए दृष्टि का शुद्ध, स्पष्ट और सर्वांगीण होना बहुत आवश्यक है।
- सत्य को भली-भाँति समझने के लिए मनुष्य को सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की अग्नि में अविद्या को भस्म करना पड़ता है, तभी हृदय में सत्य का सूर्य उदित होता है।
- जैसे नमक की डली और नमक दोनों अलग-अलग नहीं हैं, एक ही हैं, वैसे ही सत् और सत्य दोनों एक ही हैं।
- सत् वस्तु सत्य से व्याप्त है, सत् में सत्य ओतप्रोत है। सत् और सत्य दोनों में भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं।
- जो स्वयं तीनों काल में रहे, जिसके अस्तित्व के लिए दूसरे की अपेक्षा न रहे, उसका नाम सत्य है।
- सत्य स्वयं विद्यमान रहता है, उसके ही आधार पर अन्य सारी चीजों का अस्तित्व निर्भर है।

पुष्प-सूक्ति-सौरभ

नारी जीवन जागरण : सौभाग्यमल जैन | २५६



ऐ ति हा सि क प रि प्रे क्ष्य

में

रा ष्ट्रो त्था न की धु री : ना री

—डा. श्रीमती निर्मला एम. उपाध्याय  
(जोधपुर)

किसी राष्ट्र का निर्माण एवं उत्थान उसके प्राण-बल पर निर्भर करता है। भौतिक साधन सम्पन्न होते हुए भी यदि किसी राष्ट्र का प्राण-बल (नागरिक) निरस्तेज है तो वह राष्ट्र प्रगति के पथ पर आरोहण नहीं कर सकता। सशक्त शौर्य सम्पन्न, प्रतिभाशाली, प्राणवान नागरिक सभ्यता और संस्कृति के उन्नायक होते हैं। ऐसे नागरिकों का जन्म, शिक्षा, दीक्षा, आचार-व्यवहार इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज का नारी वर्ग कैसा है।

प्राचीन और अर्वाचीन सभी विचारक इस विषय में एकमत हैं कि नारी समाज सभ्यता और संस्कृति का मेरुदण्ड है। त्यागमय भोग, ममता, करुणा, दया, प्रेम आदि की खान नारी के कन्धों पर आदर्श समाज रचना का दायित्व है। माता, पत्नी, कन्या (पुत्री) आदि रूपों में नारी ने समाज तथा राष्ट्र के विकास और उत्थान में सदैव अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

सुकन्या के आदर्श का परिपालन शर्मिष्ठा ने किया। विषपर्वी के राज्य की रक्षा के लिए शुक्राचार्य का उनके राज्य में रहना आवश्यक था। और शुक्राचार्य को प्रसन्न करने के लिए शर्मिष्ठा ने देवयानी का आमरण दासत्व स्वीकार करके कन्या धर्म का पालन किया। मेवाड़ की कृष्णाकुमारी ने स्व-धर्म और कन्या-धर्म दोनों की रक्षा करते हुए सहर्ष विषपान किया।

भारत के प्राचीन महर्षियों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में वर्गीकृत किया और उन आश्रमों में गृहस्थाश्रम को समाज के धारण-पोषण का केन्द्र माना। गृहस्थाश्रम में गृहिणी की महती भूमिका होती है। वह विभिन्न रूपों में पुरुष का साथ देती है। महाभारत में कहा गया है कि पत्नी के

२६० | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



समान कोई बन्धु नहीं, कोई गति नहीं, और धर्मसंग्रह (आध्यात्मिक उत्थान) में उसके समान कोई सहायक नहीं है।

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्या समागतिः ।

नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥

पत्नी के समान कोई बैद्य नहीं है। वह सभी दुःखों को दूर करने की औषधि है—

न च भार्यासमं किञ्चित् विहाते भिषजो मतम् ।

औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेद् ब्रवीमि ते ॥

गृहिणी के बिना घर सूना होता है। स्त्री घर को स्वर्ग तुल्य बना सकती है। पद्म पुराण में कहा गया है, कि यदि पत्नी अनुकूल है तो स्वर्ग प्राप्ति से क्या लाभ है और यदि वह प्रतिकूल अर्थात् स्वेच्छाचारिणी है तो नरक खोजने की आवश्यकता ही क्या है? छान्दोग्य उपनिषद् में उस राज्य को उत्तम राज्य कहा गया है जहाँ स्वेच्छाचारिणी स्त्रियाँ नहीं होती।

पत्नी-पति के पुरुषार्थ-साधन में सहायक होती है। यशोधरा को परिताप इस बात का नहीं था कि सिद्धार्थ ने गृहत्याग क्यों किया। उसे परिताप इस बात का था कि सिद्धार्थ ने अपनी जीवन-संगिनी के कर्तव्य निर्वाह के आगे प्रश्न चिन्ह लगा दिया था। कविवर मैथिलीशरणभुप्त ने यशोधरा के इस भाव की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

सखि ! वे मुझसे कहकर जाते,

कहते तो क्या वे मुझको अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

दधीचि-पत्नी प्रार्थितेयी को इस बात का दुःख था कि देवताओं ने उसकी अनुपस्थिति में दधीचि मुनि से उनकी अस्थिर्या माँग लीं। कदाचित् देवताओं को यह आशंका थी कि राष्ट्र रक्षा के कार्य में प्रार्थितेयी सहायक सिद्ध न हो किन्तु प्रार्थितेयी को इस बात का सन्तोष था कि उसके पति ने राष्ट्र रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग किया।

पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति का युगल सृष्टि का चालक है। पुरुष को प्रकृति से और शिव को शक्ति से अलग कर दीजिए तो पुरुष और शिव दोनों का महत्त्व कम हो जायेगा। आद्य शंकराचार्य ने देव्यापराध क्षमापन स्तोत्र में कहा है कि महादेव जी चिता की भस्म का लेपन करते हैं, वे दिगम्बर, जटाधारी, कंठ में सर्प को धारण करने वाले पशुपति हैं। वे मुण्डमाला धारण करने वाले हैं। ऐसे शिव को जगत के ईश की पदवी इस कारण मिली है कि उन्होंने भवानी (शक्ति) के साथ पाणिग्रहण किया है।

नारी का महिमामय रूप 'जननी' है, वह नित्य मंगलमयी, नित्य अन्नपूर्णा है। वह सतत दानमयी है। उसकी कृपा का कोष कभी रिक्त नहीं होता।

प्रत्येक गृह समाज और राष्ट्र का भविष्य सुभाताओं पर निर्भर करता है। सौवीरराज पर सिन्धुराज ने आक्रमण कर दिया था। सौवीर देश का शासक संजय अनुत्साही और मृदु प्रकृति होने के कारण सिन्धुराज से पराजित हो उसे आत्म समर्पण करके नितान्त दीन मन हो अपनी राजधानी लौट आया था। इस पर उसकी माता विपुला ने उसे पुनः उत्साहित कर युद्ध क्षेत्र में भेजा था, और संजय की

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रोत्थान की धुरी-नारी : डॉ० श्रीमती निर्मला एम० उपाध्याय | २६१



युद्ध में जीत हुई। संजय तथा विपुला का आख्यान यह स्पष्ट करता है कि पुत्र-प्रेम की अपेक्षा राष्ट्र-प्रेम तथा देश की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। पन्ना धाय के नाम से कौन अपरिचित है, जिसने हँसते-हँसते देश के नाम पर अपने पुत्र का बलिदान करके राजवंश की रक्षा की।

हस्तिनापुर में आयोजित सन्धि सभा में कृष्ण द्वारा प्रस्तावित पाण्डवों के सन्धि प्रस्ताव का प्रत्याख्यान करके दुर्योधन चला गया था। सभी सभागण विशेषतः कृष्ण इससे अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे थे। इस पर धृतराष्ट्र ने गान्धारी को सभा में बुलवाया। गान्धारी ने दुर्योधन को युद्ध से विरत करने का भरसक प्रयत्न किया था। गान्धारी ने दुर्योधन से कहा था कि युद्ध करने में कल्याण नहीं है। उससे धर्म और अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है? युद्ध में सदा विजय ही हो, यह भी निश्चित नहीं है। अतः युद्ध में मन न लगाओ।

न युद्धे तात ! कल्याणं, न धर्मार्थो कुतः सुखम् ।

न चापि विजयो नित्यं मा मुद्दे चेत आधिथाः ॥

जिस राष्ट्र के शासक विनयशील और संयमी हों वह राष्ट्र अपनी अस्तित्व रक्षा में सफल होता है। माता गान्धारी ने कहा था कि मनमाना व्यवहार करने वाले अजितेन्द्रिय शासक दीर्घकाल तक राज्य शक्ति का उपभोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार उड़ण्ड घोड़े वश में न होने से मूर्ख सारथी को मार्ग में ही मार डालते हैं उसी प्रकार अजितेन्द्रिय शासक का इन्द्रिय वर्ग भी उसके विनाश का कारण बन जाता है। गान्धारी ने दुर्योधन को उचित मार्ग दिखलाया था। किन्तु दुर्भाग्यवश दुर्योधन ने उसका अनुगमन नहीं किया।

पुनश्च, दुर्योधन जब युद्ध के लिए तैयार हुआ और युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए आशीर्वाद लेने अपनी माता के पास आया, तब गान्धारी ने आशीर्वाद दिया था—

“यतो धर्मस्ततो जयः ।”

पुत्र की रक्षा और धर्म की, राष्ट्र की रक्षा में जब संघर्ष होता है, तब सुसंस्कारी माता धर्म (नीति) का ही पक्ष लेती है। दुराचारी पुत्र की रक्षा एक व्यामोह है। कितना उच्चकोटि का दायित्व है, गान्धारी का ?

माता कुन्ती ने समय-समय पर पाण्डवों का मार्गदर्शन किया था। उनकी प्रेरणा से पाण्डव अपने पैतृक राज्य का पुनरुद्धार करने में समर्थ हुए थे।

छत्रपति शिवाजी के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि की व्यवस्था जीजाबाई ने इस प्रकार की कि वे आजीवन अन्याय के विरुद्ध लड़ते रहे, और अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर सके।

संस्कृत में धृति, मेधा, कीर्ति, वाणी, भक्ति, मुक्ति और बुद्धि सभी शब्द स्त्रीलिंगी हैं। बोध शब्द पुल्लिंग है, परन्तु यह बुद्धि का परिणाम है। बुद्धि माता है और बोध उसका बालक। दायित्व बोध, आत्म बोध की प्रेरक शक्ति बुद्धि है। आध्यात्मिक उन्नयन में बुद्धि सहायक है। बुद्धि मातृ शक्ति का ही तो एक रूप है।

भारतीय परम्परा में मातृ शक्ति का स्तवन किया गया है। प्रत्येक समाज और राष्ट्र के विकास



तथा अस्तित्व रक्षा के लिए कुछ मूल तत्वों की आवश्यकता होती है। अन्न, धन विद्या और शक्ति के अभाव में समाज तथा राष्ट्र का अस्तित्व निःशेष हो जाता है। अन्न की अधिष्ठात्री लक्ष्मी, विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती और शक्ति की अधिष्ठात्री दुर्गा आदि का स्तवन हम मातृ रूप में करते हैं।

जीवित जाशुत राष्ट्र का चिन्ह उस राष्ट्र के नागरिकों के अन्तराल से उमड़ी हुई राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-गौरव की भावना है। राष्ट्र-प्रेमियों के लिए देश की भूमि एक निर्जीव भौतिक पदार्थ न होकर एक सजीव सचेतन सत्ता है। भूमि को मातृ पद के गौरव से विभूषित करके उसकी रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण करके वे स्वर्ग के प्रलोभनों का तिरस्कार कर देते हैं। और उनके अन्तराल से उमड़ पड़ता है, एक स्वर—

“जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।”

राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न नारी राष्ट्र के उत्थान में अपना उत्थान समझती है। सीता ने अपने वनवास के समय अयोध्या लौटते हुए लक्ष्मण को कहा था कि आर्य पुत्र (राम) मेरे विरह में प्रजा का कल्याण न भूलें। हनुमान जी के कहने पर लंका से सीताजी उनके साथ नहीं गईं। उन्होंने सोचा, यदि मैं यहाँ से अभी चली जाऊँ तो रावण की बन्दीशाला में जो अन्य देव-स्त्रियाँ हैं उनकी मुक्ति कैसे होगी ?

महाभारत के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि सुलभा एक संन्यासिनी थी। किन्तु विदेहराज जनक के साथ उसका संवाद स्पष्ट करता है कि वह राष्ट्र की समस्याओं के प्रति जागरूक थी और उन समस्याओं का समाधान भी उसने प्रस्तुत किया था। उसने राजा जनक को आर्थिक असन्तुलन का निवारण करने तथा राजा की मर्यादित शक्ति आदि विषयों के सम्बन्ध में सुझाव दिये थे। विरक्त होते हुए भी उसे राष्ट्र के उन्नयन की चिन्ता थी।

आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र में गार्गी और मैत्रेयी के नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे हुए हैं। दमयन्ती, सावित्री, द्रौपदी, मदालसा प्रभृति नारियों ने समाज तथा राष्ट्र के विकास और उत्थान में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। दुर्गाबाई, लक्ष्मीबाई, चन्नम्मा, पद्मिनी, कर्मावती आदि ने देश रक्षा के लिए हँसते-हँसते मृत्यु का वरण किया। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम अनेक रमणियों का ऋणी है।

आज के भारतीय समाज में एक ज्वलंत समस्या यह है कि हमने भौतिकवादी प्रगति की अन्धी दौड़ में जीवन-स्तर को ऊँचा उठाया है परन्तु जीवन मूल्यों का क्षण होता जा रहा है। आध्यात्मिक आस्थाएँ शिथिल हो रही हैं और शाश्वत मूल्यों को झूठलाया जा रहा है। देहासक्ति और आभूषण-आसक्ति ने समाज को दोराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है। ऐसी स्थिति में मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए आज की नारी के कंधों पर गुरु भार है। विनोबा का कथन था कि नारी को कांचन मुक्ति अपनानी होगा।

“वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमानि च”।

विनोबा के अनुसार दुनियाँ में बीसवीं सदी में दो-दो महायुद्धों का होना पुरुष की अयोग्यता सिद्ध करता है। दोनों युद्धों के परिणाम यह बता रहे हैं कि अब समाज का संचालन स्त्री के हाथ में होना चाहिए और पोषण, शिक्षण तथा रक्षण तीनों ही अहिंसा पर आधारित हों।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रोत्थान की धुरी नारी : डॉ० श्रीमती निर्मला एम० उपाध्याय | २६३





चाहे राजनीति का क्षेत्र हो अथवा आर्थिक या अन्य नारी को अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन उचित रूप में करना है। स्वतन्त्र विचार शक्ति सम्पन्न महिनाएँ अपने दायित्व का पालन करने में सक्षम होती हैं। आज भी मनु की इस उक्ति को पुनः पुनः दोहराया जाता है—

“न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।”

परन्तु ऐसा कहते समय हम यह भूल जाते हैं कि महिलाओं को समुचित स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए परन्तु साथ ही यह स्मर्तव्य है कि कुछ निश्चित मर्यादा का पालन करना उनके लिए अभीष्ट है। अन्यथा समाज में अराजकता फैल जायेगी। नारी वर्ग के प्रति समाज की जो संकीर्ण मनोभावना है उसका परित्याग करना आवश्यक है।

आज एक प्रमुख समस्या यह है कि महिलाएँ भयमुक्त नहीं हैं। जिस स्त्री शक्ति की उपासना—

“दारिद्र्य दुःख भय हारिणी।”

के रूप में की गई थी वही आज भयमुक्त नहीं है। स्त्रियाँ निर्भय हों इसके लिए यह आवश्यक है कि देश में उपयुक्त वातावरण बनाया जाय।

यजुर्वेद की राष्ट्रीय प्रार्थना में राष्ट्र की सुदृढ़ता, सुरक्षा और उत्थान के लिए बौद्धिक अभ्युदय, सैनिक शक्ति की सुदृढ़ता तथा आर्थिक सम्पन्नता की कामना के साथ-साथ यह प्रार्थना की गई है कि हमारे राष्ट्र में सर्वगुण सम्पन्न कर्तृत्ववान स्त्रियाँ हों। वे राष्ट्र के नागरिकों में सुसंस्कार सिचन करती रहें। कुटुम्ब को कुटुम्ब बनाने के वाद ही वसुधा को कुटुम्ब बनाया जा सकता है। माता, पत्नी, भगिनी, पुत्री आदि रूपों में जब नारी अपनी महती भूमिका निभायेगी तभी विश्व शान्ति का शंखनाद होगा।

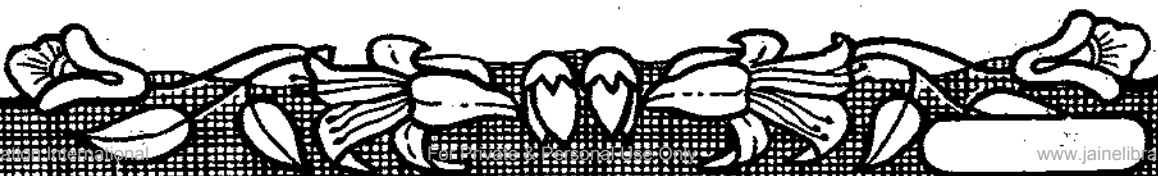


### पुष्प-सूक्ति-सौरभ

- क्षमा परिस्थितियों से तथा आन्तरिक हिंसाओं से बचने तथा हिंसा की परम्परा बढ़ने न देने का उत्तम प्रयास है।
- क्षमा विधेयात्मक अहिंसा को तीव्र और विकसित करने का अपूर्व उपाय है।
- जो क्षमाशील है, उसके लिए संसार में कोई शत्रु नहीं, भय नहीं, अन्त-द्वन्द्व नहीं।
- संसार में कोई भी वस्तु या स्थान ऐसा नहीं है जहाँ सत्य न हो। जिस वस्तु में सत्य नहीं है वह वस्तु किसी काम की नहीं रह जाती।
- सत्य अपने आप में स्वयं सुन्दर है। जगत् में सत्य से बढ़कर सुन्दर कोई वस्तु नहीं है।

पुष्प-सूक्ति-सौरभ

२६४ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



## नारी की भूमिका : विश्व-शान्ति के संदर्भ में

—डा. कु. मालती जैन

जहाँ भी जाता हूँ, वीरान नजर आता है ।  
खून में डूबा हर मैदान नजर आता है ॥

उपर्युक्त पंक्तियाँ एक भावुक कवि का कल्पनाप्रवण प्रलाप मात्र नहीं, अपितु आज के निरन्तर विकासशील विश्व का यथार्थ कारुणिक चित्र है। आज जबकि चारों ओर हिंसा का वातावरण है, रक्त-पात, लूट-पाट, एवं उपद्रव-उत्पात जैसे दिनचर्या में शामिल हो गये हैं, आतंकवाद, साम्प्रदायिकता और रंगभेद के विषधर फन फैलाये घूम रहे हैं। जाति, वर्ग और प्रान्त के नाम पर विघटनकारी शक्तियाँ अपने दांव पेंच दिखला रही हैं, विश्व की महाशक्तियाँ विघटनकारी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में अपने बौद्धिक-विलास का परिचय दे रही हैं, तब विश्व शान्ति की चर्चा अरण्य रोदन सा प्रतीत होती है। इस चर्चा में, उस नारी की भूमिका पर विचार करना—जिसकी कहानी केवल “आँचल में दूध और आँखों में पानी” तक सिमटी है, जिसे सूर्तिगती दुर्बलता कहकर सम्बोधित किया जाता रहा है (Frailty thy name woman) सतही स्तर पर हास्यास्पद लगता है। जो अबला अपनी ही रक्षा नहीं कर सकती, वह विश्व शान्ति की स्थापना में क्या योगदान देगी? ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं है जो यह दृढ़ता के साथ स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक संघर्ष के मूल में कहीं न कहीं नारी रही है। राम-रावण युद्ध का दोषारोपण सती सीता पर सरलता से किया जाता रहा है और महाभारत के मूल में द्रौपदी को देखा जाता रहा है। संघर्ष के प्रमुख कारणों में जर और जमीन के साथ जोरू की गणना भी की जाती है।

तब फिर? क्या यही सच है? नहीं, निराण होने का प्रश्न तो उठता नहीं। चिली के महाकवि पब्लोनेरूदा के शब्दों में—

“बाहर अंधेरा बहुत है। कुछ भी नहीं सूझता। मैं छोटा सा दीपक जलाये रहूंगा। मेरा छोटा सा परिवेश आलोक में रहेगा।”

नारी की भूमिका : विश्व-शान्ति के संदर्भ में : डॉ० कुमारी मालती जैन | २६५



आइये, आस्था और आशा के इसी आलोक में हम इतिहास के पृष्ठों को पलटें, वर्तमान पर दृष्टि डालें, तो पायेंगे कि “दया, माया, ममता, मधुरिमा और अगाध-विश्वास” के उमड़ते रत्ननिधि को अपने वक्षस्थल में समेटे, नारी ने सदैव ही संघर्ष और अशान्ति को दूर कर शान्ति और समरसता की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध नाटककार, श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने प्रसिद्ध नाटक ‘अजातशत्रु’ में लिखा है—

“कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा—जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं।”

इतिहास साक्षी है, करुणामयी स्त्री ने सदैव पुरुष की क्रूरता का प्रत्युत्तर अपनी सहिष्णुता और अतिशय क्षमाशीलता से देकर संघर्ष का निराकरण कर शान्ति की स्थापना की है। केवल लोकापवाद से बचने के लिए निष्कलंक गर्भवती सीता का राम के द्वारा परित्याग-निष्ठुरता का वह उदाहरण है जिसे क्षम्य नहीं कहा जा सकता लेकिन क्षमाशील, सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति सीता राम के इस कृत्य पर न उन्हें बुरा-भला कहती है और न उस प्रजा को कोसती है, जिसके मिथ्या अपवाद के कारण उन्हें विषम स्थिति में वन-वन भटकना पड़ा। संकट की इस घड़ी में उनका हृदय प्रतिशोध की भयंकर ज्वाला से दग्ध नहीं होता, अपितु राजा राम और उनकी प्रजा दोनों का हित-चिन्तन करती हुई वे कहती हैं—

अवलम्ब्य परं धैर्यं महापुरुष ! सर्वथा ।

सदा रक्ष प्रजां सम्यक् पितेव न्यायवत्सलः ॥

अर्थात्—हे पुरुषोत्तम मेरे वियोगजन्य खेद का परित्याग कर धैर्य के साथ प्रजा का सम्यक् प्रकारेण पालन करना ।

सीता चाहती तो अपने ऊपर किये गये अत्याचार की दुहाई देकर, राजा राम के प्रति विद्रोह भावना को भड़का कर संघर्ष का सूत्रपात कर सकती थी—पर नारी का हृदय “कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है, अनन्य भक्ति का आदर्श है” वे भला क्यों अशांति उत्पन्न करतीं ?

बौद्ध धर्मावलम्बी मगधराज श्रेणिक का जैन साधुओं के प्रति अशोभनीय आचरण, उनकी जैन धर्मावलम्बी रानी चेलना को उत्तेजित करने के लिए पर्याप्त था पर विवेकशील चेलना अपना धैर्य नहीं खोती। क्रोधान्ध होकर, प्रतिशोध लेकर वह राजा श्रेणिक के हृदय परिवर्तन में सफल नहीं हो सकती थी। हाँ, उसकी सहिष्णुता रंग लाई। राजा श्रेणिक ने जैन धर्म अङ्गीकार किया। चेलना का विवेकपूर्ण सहिष्णु आचरण धर्मान्ध कट्टरपंथी व्यक्तियों के लिए एक अनुकरणीय आदर्श है।

धार्मिक सहिष्णुता के सन्दर्भ में कर्नाटक प्रान्त की जाकल देवी का उदाहरण भी उल्लेखनीय है। जैन धर्म के कट्टर विरोधी अपने पति चालुक्य राजा को जैनमतानुयायी बनाने का श्रेय जाकल देवी की विनम्रता और शालीनता को ही है। काश ! आज धर्म के नाम पर रक्त की होली खेलने वाले विवेकहीन, इन सहिष्णु नारियों से धार्मिक सद्भावना और सौहार्द का पाठ पढ़ सकते।

राज-विद्रोह और धार्मिक वैमनस्य ही अशांति को जन्म नहीं देते, साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विता भी शान्ति की जड़ें खोदती है। “वाद” के नाम पर तथाकथित बुद्धिजीवियों की गुटबन्दी, उखाड़-पछाड़,



आलोचना-प्रत्यालोचना, छोटकशी-समस्त, वातावरण को इतना विषाक्त बना देती है कि स्वयं साहित्य ही—'साहित्यस्य भाव साहित्यं'—अपनी अर्थवक्ता खो बैठता है। बौद्धिक वाद-विवाद कभी-कभी इतने छिछले स्तर पर आ उतरता है कि हाथा-पाई की नौबत आ जाती है। कर्नाटक की प्रसिद्ध जैन कवयित्री कंती देवी (ई० सं० ११०६ से ११४१) के जीवन की निम्न घटना इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण है कि साहित्यिक क्षेत्र में भी नारी ने संघर्ष के मार्ग का अनुसरण न कर वातावरण को सौहार्दपूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

कहा जाता है कि कंती की अलौकिक प्रतिभा और बुद्धि वैलक्षण्य के कारण उनका समकालीन कवि पंप उनसे ईर्ष्या करता था तथा प्रतिक्षण क्षिद्रान्वेषण कर नीचा दिखाने की कोशिश करता था। पंप ने अनेक कठिन से कठिन समस्याएँ प्रस्तुत कीं किन्तु कंती उनसे किसी भी प्रकार परास्त नहीं हुई। अंत में एक दिन कवि पंप निश्चेष्ट हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। पंप को मृत समझकर कंती का निश्छल हृदय करुणाद्रवित हो चीख उठा—

“हाथ ! मुझे मेरी जिन्दगी से क्या लाभ है ? मेरे गुण और काव्य की प्रतिष्ठा रखने वाला ही संसार से चल उसा। पंप जैसे महान कवि से ही राजदरवार की शोभा थी और उस सुषमा के साथ मेरा भी कुछ विकास था।”

इन शब्दों को सुनते ही पंप ने आँखें खोल दीं। उसका हृदय अपने प्रति घृणा और पश्चात्ताप से भर उठा। काँफी पी-पीकर अपने साथी साहित्यकारों को कोसने वाले बुद्धिजीवियों की आँखें इस विशाल हृदय कवयित्री के स्पृहणीय आचरण से खुल जानी चाहिए।

नारी स्वयं तो क्षमाशीला है ही, क्रूरकर्म करने को उद्यत पुरुषों को स्नेह, सहनशीलता और सदाचार का पाठ पढ़ाने का उत्तरदायित्व भी वह सफलतापूर्वक निभाती है।

“प्रसाद” जी के शब्दों में—

“स्त्रियों का कर्तव्य है कि पाशववृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और कहणाप्लुत करें”।  
(अजातशत्रु नाटक)

श्वेताम्बर साहित्य में आचार्य हरिभद्रसूरि के जीवन वृत्तान्त में नारियों के इस कर्तव्य-पालन का सुन्दर उदाहरण दृष्टिगत होता है—

अपने शिष्यों के बौद्धों द्वारा मारे जाने पर आचार्य हरिभद्र क्रोधवश बौद्धाचार्यों को मंत्रबल से आर्कषित कर उन्हें मारने को उद्यत हुए। उस समय “याकिनी महत्तरा” ने समझाकर उनके क्रोध को युक्तिपूर्ण ढंग से शांत किया। आचार्य हरिभद्रसूरि ने “याकिनी महत्तरा” के उपकार को “याकिनी महत्तरा सूनु” के रूप में अपना परिचय देते हुए व्यक्त किया है।

भारतीय नारी ने प्रतिपक्ष की क्रोधाग्नि को समता और शान्ति के शीतल जल से तो शांत किया ही है, समय की पुकार पर उसने रणचण्डी का रूप धरकर कर आतताइयों के विनाश के लिए अपने नाजुक हाथों में तलवार भी धारण की है। चंद्रगिरि पर्वत के शिलालेख नं० ६१ (१३६) में जो “वीरग्लु” के नाम से प्रसिद्ध है उसमें गंग नरेश रक्कसयणि के वीर योद्धा “बद्देग” (विद्याधर) और उनकी पत्नी “सावियब्बे” का परिचय दिया हुआ है। यह वीर नारी अपने पति के साथ “वागेयूर” के युद्ध में गई थी और वहाँ शत्रु से लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुई थी।

लेख के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण है, उसमें वह घोड़े पर सवार है और हाथ में तलवार लिए हुए हाथी पर सवार किसी पुरुष का सामना कर रही है।

नारी की भूमिका : विश्व-शान्ति के संदर्भ में : डॉ० कुमारी मालती जैन | २६७



इसी सन्दर्भ में किरणा देवी जैन का नाम भी इतिहास में स्वर्णक्षरों में अंकित है। मुगल बादशाह अकबर के द्वारा लगाये जाने वाले 'मीना बाजार' को जिसमें शक्ति और वैभव के बल पर नारी की अस्मिता सरेआम लूटी जा रही थी, बन्द कराने का श्रेय इसी वीरांगना को है। कहा जाता है कि किसी तरह किरणा देवी इस मीना बाजार में पहुँचा दी गई। जब बादशाह की लोलुप दृष्टि रूपसी किरणा पर पड़ी तब बादशाह ने उसे अपनी वासना-पूर्ति का साधन बनाना चाहा। किरणा देवी, अपनी प्रत्युत्पन्नमति और उदार साहस का परिचय देते हुए, बादशाह की कटार छीनकर उसी से उसका वध करने को प्रस्तुत हुई। अन्त में इस आश्वासन पर, कि भविष्य में बादशाह नारियों के सतीत्व के साथ इस तरह खिलवाड़ नहीं करेगा—किरणा ने उसे जीवनदान दिया। इस प्रकार एक वीर नारी के साहसिक अभियान ने एक पथभ्रष्ट बादशाह को सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया।

उपर्युक्त ऐतिहासिक उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि परिस्थितियों की माँग के अनुरूप, नारी ने सर्वसहा, क्षमाशीला बनकर या अन्धाय के दमन के लिए रणचण्डी का रूप धारण कर सदैव शान्ति स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

विश्व-शान्ति में नारी की भूमिका पर यहाँ अन्य दृष्टिकोण से भी विचार करना असंगत न होगा। नारी जाया ही नहीं जननी भी है। जो केवल बच्चे को जन्म देकर ही अपने कर्तव्य से मुक्त नहीं हो जाती अपितु उसे एक सुयोग्य, शान्तिप्रिय नागरिक बनाने का गम्भीर उत्तरदायित्व भी वहन करती है। जैन इतिहास में ऐसी माताओं का नाम अमर है, जिन्होंने पालने में भक्ति और वैराग्य के भजन सुनाकर, अपने नन्हें शिशु को सांसारिक संघर्षों से पृथक रहकर शान्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है।

“बच्चों का हृदय कोमल थाला है चाहे उसमें कँटीली झाड़ी लगा दो, चाहे फूलों के पौधे।”  
(अजातशत्रु “प्रसाद”)

आंग्ल भाषा का यह कथन भी विचारणीय है—

“Child learns the first lesson of citizenship between the kiss of his mother and caress of his father”.

बच्चा नागरिकता का पहला पाठ माँ की गोद में सीखता है। विश्व-शान्ति के उद्घोषक चौबीस तीर्थंकरों के जीवन-निर्माण में उनकी माताओं के योगदान को स्वीकार करते हुए ही, श्री मानतुंगाचार्य ने निम्न शब्दों में माँ सरुदेवी के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि समर्पित की है—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान् ।

नान्या सुतं त्वद्रुपमं जननी प्रसूता ॥

सर्वा दिशा दधति भानि सहस्ररश्मि ।

प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥

× × / × ×

जगत के बीच अनेकों मात

प्रसव करती हैं पुत्र जिनेश ।

किसी माँ ने न किया उत्पन्न

आपके सम पर सुत राकेश ॥

२६८ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



दिशाएँ सारी धरती हैं  
सितारों का प्रभु उजियाला ।  
किन्तु प्राची ही प्रकटाती  
दिवाकर सहस्ररश्मि वाला ॥

सीता चाहती तो अपने लाड़ले, लव-कुश को उनके पिता राम का विद्रोही बनाकर, प्रतिशोध लेने के लिए आमने-सामने खड़ा कर देती किन्तु आदर्श जननी सीता अनजाने में लव-कुश के द्वारा राम के प्रति किये गये अपमानजनक आचरण के लिए, संतप्त होती है और पुत्रों के अपने पिता से क्षमा याचना करने पर ही, चैन की साँस लेती है। अभयकुमार और वारिषेण जैसे शान्तिप्रिय पुरुषों के जीवन-निर्माण में चेलना के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

आणविक युग की विभीषिका में विश्व-शान्ति की स्थापना की चर्चा, हमारी माननीया स्वर्गीया प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के योगदान के उल्लेख के बिना अधूरी है। वृद्ध इच्छा शक्ति की धनी, इस लौह महिला ने शान्ति की बलिवेदी पर अपने प्राणों की आहुति देकर जो अनुकरणीय विस्मयकारी आदर्श प्रस्तुत किया है, उसे आगे आने वाली पीढ़ियाँ सदैव स्मरण रखेंगी। सृष्टिमती करुणा, मदर टेरेसा के, विश्व शान्ति स्थापना के लिए किये गये अथक प्रयास, हमें एक क्षण के लिए यह सोचने को मजबूर कर देते हैं कि इस कम्प्यूटर युग में भी दया और ममता का अकाल नहीं पड़ा है।

आज के भौतिकवादी युग में जब धनमद और बलमद से बौराया व्यक्ति एक दूसरे के सर्वनाश में ही अपनी महत्ता का चरमोत्कर्ष और अपने अस्तित्व की सार्थकता तलाशता है तब साध्वीरत्न श्री पुष्पवती के निर्देशन में महासती श्री चन्द्रावती जी, महासती श्री प्रियदर्शना जी, महासती श्री किरनप्रभा जी, महासती श्री रत्नज्योति जी आदि नारी-रत्नों के, सांसारिक वैभव को ठुकरा कर, शान्ति-स्थापना के लिए किये गये अन्ववत प्रयत्न आणविक अस्त्रों के डेर के नीचे सिसकती हुई विश्व-शान्ति को एक सम्बल प्रदान करते हैं। पैदल गाँव-गाँव जाकर अपनी सुमधुर शीतल वाणी से शान्ति, सहयोग और सद्भावना का उद्घोष करती हुई इन साध्वियों के वृद्ध आत्मिक बल को देखकर हमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की निम्न पंक्तियाँ सार्थक प्रतीत होती हैं—

एक नहीं दो दो मात्रायें  
नर से भारी नारी (द्वापर)

इन साध्वियों का यह प्रयास निश्चय ही हिंसा के कारण रक्तरंजित वसुन्धरा में पीयूष स्रोत की तरह प्रवाहित होकर विषमताओं को दूर कर, जीवन को समरसता का वृद्ध आधार प्रदान करेगा—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो  
विश्वास रजत नग पगल में ।  
पीयूष स्रोत सी बहा करो  
जीवन में सुन्दर समतल में । (कामायनी—“प्रसाद”)



नारी की भूमिका : विश्व-शान्ति के संदर्भ में : डॉ० कुमारी मालती जैन | २६६



## विश्व-शान्ति में नारी का योगदान

—मुनि नैमिचन्द्र जी  
(शिखरजी)

### विश्व में अशान्ति के कारण

विश्व के समस्त प्राणियों में मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसका कारण यह है कि एक मात्र मनुष्यजाति ही मोक्ष की अधिकारिणी है। अन्य किसी भी गति या जाति का प्राणी मोक्ष का अधिकारी नहीं है। सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने के नाते मानव पर सबसे अधिक उत्तरदायित्व है कि वह दूसरे प्राणियों के साथ सहानुभूति, सहृदयता, मैत्री और आत्मीयता रखे। परन्तु वर्तमान युग का मानव ज्ञान-विज्ञान में, बल और बुद्धि में आगे बढ़ा हुआ होने पर भी इन बातों से प्रायः कोसों दूर होता जा रहा है। इसके कारण विश्व में अशान्ति फैली हुई है। किसी भी राष्ट्र में शान्ति नहीं है। सभी राष्ट्र एक-दूसरे के प्रति सशंक और भयभीत बने हुए हैं। किसी को किसी राष्ट्र पर विश्वास नहीं रह गया है।

विश्व में अशान्ति के कारणों को खोजा जाए तो मोटे तौर पर निम्नलिखित कारण प्रतीत होंगे—

१. युद्ध की विभीषिका, परिवार, समाज और राष्ट्र में आन्तरिक कलह।
२. शस्त्रास्त्र वृद्धि, सेना वृद्धि, अणुबम इत्यादि का खतरा।
३. रंगभेद, राष्ट्रभेद, जाति-वर्णभेद, धर्म-सम्प्रदाय-भेद, राजनैतिक अतिस्वार्थ आदि विषमताएँ।
४. दुर्व्यसनों में वृद्धि, बीमारों, प्राकृतिक प्रकोप, उपद्रव आदि।
५. सहयोग और स्वार्थत्याग की कमी।

ये और ऐसे ही कुछ कारण हैं, जिनके कारण विश्व में अशान्ति बढ़ती है। अशान्ति बढ़ने से मानव सुख-शान्तिपूर्वक जी नहीं सकता।

### अशान्ति के कारणों को दूर करने के उपाय

यह सच है, कि विश्व में फैलती हुई अशान्ति की आग को शांत करने के लिए अशान्ति के



उपर्युक्त कारणों को दूर किया जाना चाहिए। परन्तु इनमें से अधिकांश कारण ऐसे हैं, जिन्हें दूर करने के लिए सामूहिक पुरुषार्थ एवं परिस्थिति-परिवर्तन अपेक्षित है।

अशान्ति के कारणों को दूर करने के लिए वर्षादि वैषम्य निवारणार्थ समभाव, सम्यग्दृष्टि, वात्सल्य, विश्वमैत्री, सहानुभूति, राष्ट्रीय पंचशील, व्यसनमुक्ति, परम्पर प्रेमभाव, आत्मीयता इत्यादि गुणों को अपनाने की आवश्यकता है।

**पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में ये गुण विशेष मात्रा में**

पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में प्रायः कोमलता, वत्सलता, स्नेहशीलता, व्यसन-त्याग, आदि गुण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। प्राचीनकाल में भी कई महिलाओं, विशेषतः जैन-साध्वियों ने पुरुषों को युद्ध से विरत किया है। उनकी अहिंसामयी प्रेरणा से पुरुषों का युद्ध प्रवृत्त मानस बदला है।

**साध्वी मदनरेखा ने दो भाइयों को युद्धविरत कर शान्ति स्थापित की**

मिथिलानरेश नमिराज और चन्द्रयश दोनों में एक हाथी को लेकर विवाद बढ़ गया और दोनों में गर्मागर्मा होते-होते परस्पर युद्ध की नौबत आ पहुँची। दोनों ओर की मनागुँ युद्ध के मैदान में आ डटीं।

महासती मदनरेखा ने जब चन्द्रयश और नमिराज के बीच युद्ध का संवाद सुना तो उसका सुप्त मातृत्व बिलख उठा। वात्सल्यमयी साध्वी ने सोचा—इस युद्ध को न रोका गया तो अज्ञान और मोह के कारण धरती पर रक्त की नदियाँ बह जाएँगी, यह पवित्र भूमि नरमुण्डों से श्मशान बन जाएगी। लाखों के प्राण चले जाएँगे। महासती का करुणाशील हृदय पसीज उठा। वह युद्धाग्नि को शान्त करके दोनों राज्यों में शान्ति की शीतल चन्द्रिका फैलाने के लिए अपनी गुरानी जी की आज्ञा लेकर दो साध्वियों के साथ चल पड़ी युद्धभूमि के निकटवर्ती चन्द्रयश राजा के खेमे की ओर। युद्धक्षेत्र में साध्वियों का आगमन जानकर चन्द्रयश पहले तो चौंका, लेकिन अपनी वात्सल्यमयी माँ को तेजस्वी श्वेत वस्त्रधारिणी साध्वी के रूप में देखा तो श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। साध्वी मदनरेखा ने सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—“वत्स ! लाखों निरपराधों की हत्या से इस पवित्र भूमि को बचाओ। शान्ति स्थापित करो। नमिराज कोई पराया नहीं, तुम्हारा ही सहोदर छोटा भाई है। मैं तुम्हारी गृहस्थपक्षीय माँ हूँ।”

यह सुनते ही चन्द्रयश के मन का रोष भ्रातृ स्नेह में बदल गया। वह सहोदर छोटे-भाई से मिलने को मचल पड़ा। वहाँ से साध्वी नमिराज के भी निकट पहुँची। उसे भी समझाया। जब नमिराज को ज्ञात हुआ कि यही उसकी जन्मदात्री माँ है और जिसके विरुद्ध वह युद्ध करने को उद्यत हो रहा है, वह उसका सहोदर बड़ा भाई है। वस, नमिराज भी भाई से मिलने को आनुर हो उठा। चन्द्रयश ने ज्यों ही नमि को आते देखा, दौड़कर बाँहों में उठा लिया। छाती से चिपका लिया। महासती मदनरेखा की महती प्रेरणा से युद्ध रुक गया। दोनों ओर की सेना में स्नेह के बादल उमड़ आये। युद्धभूमि शान्तिभूमि बन गई।

यह था—युद्ध से विरत करने और सर्वत्र शान्ति स्थापित करने का महासती का प्रयत्न।

**महासती पद्मावती ने पिता-पुत्र को युद्ध से विरत किया**

दूसरा प्रसंग है महासती पद्मावती का जो चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी थी। उसका अंगजात पुत्र - करकण्डू, एक चाण्डाल के यहाँ पल रहा था। पद्मावती साध्वी बन गई थी। कालान्तर में

विश्व-शान्ति में नारी का योगदान : मुनि नेमिचन्द्र जी | २७१





कंचनपुर के राज्य का कोई उत्तराधिकारी न होने से करकण्डू को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। राजा करकण्डू और महाराज दधिवाहन दोनों में एक ब्राह्मण को एक गाँव इनाम में देने पर विवाद खड़ा हो गया। महाराज दधिवाहन ने अहंकारवश कंचनपुर पर चढ़ाई कर दी। करकण्डू भी अपनी सेना लेकर युद्ध के मैदान में आ डटा। महासती पद्मावती को पता लगा कि एक मामूली-सी बात को लेकर पिता-पुत्र में युद्ध होने वाला है तो उनका करुणाशील एवं अहिंसापरायण हृदय कांप उठा।

वह गुरुणीजी की आज्ञा लेकर तुरन्त ही करकण्डू के खेमे में पहुँची। उसे श्वेतवासना साध्वी को युद्धक्षेत्र में देखकर आश्चर्य हुआ। श्रद्धावश नतमस्तक होकर उसने आगमन का कारण पूछा तो साध्वी ने वात्सल्यपूर्ण वाणी में कहा—“वत्स ! मैं तुम्हारी माता पद्मावती हूँ।” पद्मावती ने उसके जन्म तथा चाण्डाल के यहाँ पलने की घटना सुनाई तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। फिर साध्वीजी ने कहा—वत्स ! महाराज दधिवाहन तुम्हारे पिता हैं। पिता और पुत्र के बीच अज्ञात रहस्य का पर्दा पड़ा है, इसलिए तुम दोनों एक-दूसरे के शत्रु बनकर युद्ध करने पर उतारू हो गये हो। पिता-पुत्र में युद्ध होना एक भयंकर बात होगी। यह सुनकर करकण्डू राजा का हृदय पिता के प्रति श्रद्धावन्त हो गया। उसने श्रद्धावश कहा—मैं अभी जाता हूँ, पिताजी के चरणों में।

पद्मावती शीघ्र ही राजा दधिवाहन के खेमे में पहुँची और बात-बात में उसने कहा कि करकण्डू चाण्डालपुत्र नहीं, वह आपका ही पुत्र है, मैं ही उसकी माँ हूँ। यह कह रानी ने सारा रहस्योद्घाटन किया। राजा दधिवाहन का हृदय पुत्र-वात्सल्य से छल-छला उठा, वह पुत्र-मिलन के लिए दौड़ पड़ा। उधर करकण्डू भी पिता से मिलने के लिए दौड़ा हुआ आ रहा था। पिता-पुत्र दोनों स्नेहपूर्वक मिले। पिता ने पुत्र को चरणों में पड़े देख, आशीर्वाद दिया। महासती पद्मावती की सत्प्रेरणा से दोनों देशों में होने वाले युद्ध का भयंकर संकट ही नहीं टला, अपितु उनके बीच स्नेह और शान्ति की रसधारा बह चली।

इस शान्ति और स्नेह की सूत्रधार थी महासती पद्मावती।

आज भी विश्व में कई जगह युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं, ये कब बरस पड़ें, कुछ कहा नहीं जा सकता। ‘संयुक्त राष्ट्र संघ’ तथा इससे पूर्व स्थापित “लीग ऑफ नेशन्स” इसी उद्देश्य से स्थापित हुआ है, किन्तु इसका सूत्रधार पुरुष के बदले कोई वात्सल्यमयी महिला हो तो अवश्य ही परिवार, समाज एवं राष्ट्रों के बीच होने वाले मनमुटाव, परस्पर अतिस्वार्थ, आन्तरिक कलह मिट सकते हैं। सन्त विनोबा ने विश्व के कई राष्ट्रों के आपसी तनाव और रस्सा-कस्ती को देखकर कहा था—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में प्रायः नम्रता, वत्सलता, अहिंसा की शक्ति आदि गुण अधिक देखे जाते हैं। इसलिए किसी योग्य महिला के हाथों में राष्ट्रों के संचालन का नेतृत्व देना चाहिए। महिला के हाथ में शासन सूत्र आने पर युद्ध की विभीषिका अत्यंत कम हो सकती है, क्योंकि महिलाओं का करुणाशील हृदय युद्ध नहीं चाहता। वह विश्व में शान्ति चाहता है।

यही कारण है कि एक बार विजयलक्ष्मी पण्डित संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता चुनी गई थी। यह बात दूसरी है कि उन्हें राष्ट्र-राष्ट्र के बीच शान्ति स्थापित करने का अधिक अवसर नहीं मिल सका। यदि वह अधिक वर्षों तक इस पद पर रहतीं तो हमारा अनुमान है कि विश्व में अधिकांश राष्ट्रों में शान्ति का वातावरण बना देतीं।

इसी प्रकार परिवार, समाज और राष्ट्र में होने वाले आन्तरिक कलह और मनमुटाव को दूर करने में महिलाओं ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है।

२७२ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



पूर्वीय देश के राजा जयराज की पुत्री 'भोगवती' का विवाह सूरसेन राजा के पुत्र नागराज के साथ हुआ था। नागराज आकृति से जैसा भयंकर था, प्रकृति से भी वह वैसा ही भयंकर था। किन्तु भोगवती की श्रद्धा, सेवा एवं नम्रता ने उसका हृदय-परिवर्तन कर दिया। वह धर्म और भगवान् के प्रति श्रद्धाशील बन गया। उसके पिता ने उसे योग्य जानकर राज्यभार सौंपा। इस कारण उसके मझले भाई के दिल में उसके प्रति ईर्ष्या एवं जलन पैदा हो गई। एक बार नागराज तीर्थयात्रा करके अपने देश की ओर वापस लौटा तो उसके मझले भाई ने विद्रोह खड़ा कर दिया। शहर से कुछ ही दूर रास्ते में ही वह नागराज को मारने पर उतारू हो रहा था। नागराज को भी अपने छोटे भाई की बेवफाई से गुस्सा आ गया था, अतः वह भी तलवार निकाल कर लड़ने को तैयार हो गया। दोनों ओर से लड़ाई की नौबत आ गई थी। कुछ ही क्षण में अगर भोगवती बीच-बचाव न करती तो दोनों तरफ खून की नदियाँ बह जातीं। ज्योंही दोनों भाई एक-दूसरे पर प्रहार करने वाले थे, भोगवती दोनों के घोड़ों के बीच में खड़ी होकर बोली—“मैं तुम दोनों को कभी लड़ने न दूंगी। पहले मेरे पर दोनों प्रहार करो, तभी एक-दूसरे का खून-खरावा कर सकोगे।” भोगवती के इन शब्दों का जादुई असर हुआ। दोनों भाइयों की खींची हुई तलवारें ध्यान में चली गईं। दोनों के सिर लज्जा से झुक गये। फिर भोगवती ने अपने मझले देवर को तथा अपने पति नागराज को भी युक्तिपूर्वक समझाया। भोगवती नागराज की पथ-प्रदर्शिका बन गई थी। उसकी सलाह से नागराज ने ध्रुव के नाटक का आयोजन किया। जब ध्रुव के नाटक में ऐसा दृश्य आया कि वह अपने सौतेले भाई के लिए जान देने को तैयार हो गया, तब नागराज के भाइयों से न रहा गया। वे नागराज के चरणों में गिर पड़े। नागराज ने चारों भाइयों को गले लगाया और उन्हें चार इलाकों के सूबेदार बना दिये। सचमुच, भोगवती ने पारिवारिक जीवन में शान्ति के लिए अद्भुत कार्य किया।

संसार के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि विश्व में शान्ति के लिए विभिन्न स्तर की शान्त क्रान्तियों में नारी की असाधारण भूमिका रही है। जब भी शासन सूत्र उनके हाथ में आया है, वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक सफल हुई हैं। इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी विक्टोरिया से लेकर इजराइल की गोलडामेयर, श्रीलंका की श्रीमती भन्डारनायके, तथा भारत की भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी आदि महानारियाँ इसकी उबलन्त उदाहरण हैं। पुरुष-शासकों की अपेक्षा स्त्री शासिकाओं की सूझ-बूझ, करुणापूर्ण दृष्टि, शान्ति स्थापित करने की कार्यक्षमता अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई है।

यही कारण है कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी को कई देश के मान्धाताओं ने मिलकर गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुखा बनाई थी। उनकी योग्यता से वे सब प्रभावित थे। इन्दिरा गाँधी ने जब गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के समक्ष शस्त्रास्त्र घटाने, अणु युद्ध न करने, तथा अणु-शस्त्रों का विस्फोट बन्द करने का प्रस्ताव रखा तो प्रायः सभी ने उसका समर्थन किया। स्व० इन्दिरा गाँधी ने ऐसा करके विश्व शान्ति के कार्यक्रम में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

इतना ही नहीं, जब भी किसी निर्बल राष्ट्र पर दबाव डालकर कोई सबल राष्ट्र उसे अपना गुलाम बनाना चाहता, तब भी वे निर्बल राष्ट्र के पक्ष में डटो रहती थीं। हालांकि इसके लिए उन्हें और अपने राष्ट्र को सबल राष्ट्रों की नाराजी और असहयोग का शिकार होना पड़ा। बंगला देश पर जब पाकिस्तान की ओर से अमेरिका के सहयोग से अत्याचार ढहाया जाने लगा, तब करुणामयी इन्दिरा गाँधी का मातृ हृदय निरपराध नागरिकों और महिलाओं की वहाँ लूटपाट, हत्या और दमन को देखकर द्रवित

विश्व-शान्ति में नारी का योगदान : मुनि नेमिचन्द्र जी ! २७३



हो उठा। उन्होंने तुरन्त संयुक्त राष्ट्र संघ में अपनी आवाज उठाई, उसकी उपेक्षा होते देख भारत के अन्यतम कुशल योद्धाओं को भेजा और कुछ ही दिनों में बंगलादेश को पाकिस्तान के चंगुल से छुड़ाकर स्वतन्त्र कराया।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि विश्व-शान्ति के कार्य में महिला कितनी कार्यक्षम हो सकती है।

भारतीय स्वतन्त्रता के लिए जब गाँधी जी ने अहिंसक संग्राम छेड़ा तो कस्तूरबा गाँधी आदि हजारों नारियाँ उस आन्दोलन में अपने धन-जन की परवाह किये बिना कूद पड़ीं।

फ्रांसीसी स्वतन्त्रता-संग्राम की संचालिका 'जोन ऑफ आर्क' भी इसी प्रकार की महिला थी। उसने अपनी सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देकर भी राष्ट्र की शान्ति के लिए कार्य किया।

### सेवा और सहानुभूति के क्षेत्र में नारी का योगदान

सेवा और सहानुभूति भी विश्व-शान्ति के दो फेफड़े हैं। भारत की ही नहीं, विश्व भर की महिलाएँ इन दोनों क्षेत्रों में पुरुषों की अपेक्षा आगे हैं। हॉस्पिटलों में घायलों, कुष्ठ रोगियों तथा अन्य चेपी एवं दुःसाध्य रोगों से पीड़ित रोगियों की सेवा के लिए दुनियाँ में सर्वत्र नर्स कार्य करती देखी गई हैं। युद्ध में भी घायलों की सेवा-शुश्रूषा प्रायः नर्स ही करती हैं। मैंने स्वयं आँखों से देखा है कि आँखों के ऑपरेशन के समय नेत्र रोगी की सेवा शुश्रूषा में सैकड़ों महिलाएँ (जो पेशे से नर्स नहीं हैं) अपना योगदान देती हैं।

बीमारी, प्राकृतिक प्रकोप या उपद्रव आदि मनुष्य की अशान्ति के कारण हैं। इनके प्रकोप-पीड़ित जनों की सेवा-शुश्रूषा अथवा रोग-निवारण का उपाय करना भी शान्तिदायक कार्य है। इस क्षेत्र में पुरुषों के अनुपात में, महिलाएँ बहुसंख्यक रही हैं। रेड क्रॉस आन्दोलन को जन्म देने वाली 'फ्लोरेन्स नाइटिंगल' को कौन नहीं जानता? अनेक रोगों को मिटाने में अचूक 'रेडियम' की आविष्कारक 'मैडम क्यूरी' का नाम विश्व-शान्ति के इतिहास में अमर है।

### दुर्व्यसनों से बचाने में महिलाओं का हाथ

दुर्व्यसन किसी भी प्रकार का हो, वह मनुष्य के जीवन को अशान्त बना देता है। जो देश दुर्व्यसनों का जितना अधिक शिकार हो जाता है, वहाँ उतनी ही अधिक, लूटपाट, भीति, जनत्रास तनाव, उन्मत्तता आदि बढ़ती जाती है जो अशान्ति के प्रमुख कारण हैं। दुर्व्यसनों से पुरुषों को बचाने में जैन साध्वियों तथा समस्त धर्म की गृहिणियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

छत्तीसगढ़, मयूरभंज आदि आदिवासी क्षेत्रों में जनता में बढ़ती हुई शराबखोरी तथा नशेत्राजी को रोकने के लिए वहीं की एक आदिवासी महिला विन्ध्येश्वरी देवी ने जी-जान से कार्य किया है। वह जहाँ भी जाती, लोगों को पुकार-पुकार कर कहती—“शराब तथा नशैली चीजें छोड़ो, हमारा भगवान् शराब आदि का सेवन नहीं करता। इससे तन, मन, धन और जन की भयंकर हानि है।” उसके इन सीधे-सादे, किन्तु असरकारक शब्दों को सुनकर उस क्षेत्र के लाखों लोगों ने शराब तथा नशैली चीजें छोड़ दीं। अमेरिकन महिला करीनेशन ने कन्सास परगने में अमेरिकन महिलाओं, बालकों, नौ-जवानों आदि को पुकार-पुकार कर मद्य की बुराइयों से परिचित कराया और छुड़ा दिया।

२७४ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



परस्त्रीसेवन भी महान् अशान्ति का कारण है। परस्त्रीसेवन के पाप से पुरुषों को बचाने का अधिकांश श्रेय महिलाओं को है। भारतीय सती-साध्वियों तथा पतिव्रता महिलाओं ने कई पुरुषों को इस दुर्व्यसन के चंगुल से छुड़ाया है। कई शीलवती महिलाओं ने तो अपनी जान पर खेलकर भी परस्त्री-सेवनरत पुरुषों का हृदय परिवर्तन किया है। महासती राजीमती और रथनेमि का उदाहरण प्रसिद्ध है। मीरा ने गुसाईजी की परस्त्री के प्रति कुदृष्टि बदली है। शीलवती, मदनरेखा, सीता, द्रौपदी आदि सतियों के उदाहरण भी सुविख्यात हैं।

अन्धविश्वास और कुरूपियों के पालन से मनुष्य की अशान्ति बढ़ती है। ऐसी कई महिलाएँ हुई हैं, जिन्होंने समाज में प्रचलित अशिक्षा, पर्दाप्रथा, दहेज, अन्धविश्वास आदि कई कुप्रथाओं से बचाया है।

तप-जप के क्षेत्र में अग्रणी : नारी

सभी धर्मों के धर्मस्थानों को टटोला जाए तो वहाँ पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ श्रद्धा-भक्ति, तपस्या, जप आदि धर्म क्रियाओं में आगे रही हैं। वैसे देखा जाए तो तप, जप, ध्यान, त्याग, प्रत्याख्यान आदि से आत्मा की शक्तियाँ तो विकसित होती ही हैं, अगर इन्हें सूझ-बूझ और पूरी समझदारी के साथ किया जाए तो शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, बल आदि में वृद्धि होती है। परम्परा से अशान्ति के वाह्य कारणों में भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोप, कलह-युद्ध आदि के संकट तथा अन्य उपद्रव भी हैं। इन्हें दूर करने के आन्तरिक तप, जप, त्याग-प्रत्याख्यान, धर्म-क्रिया आदि भी हैं। महिलाओं में ये सब चीजें प्रचुर मात्रा में हैं, किन्तु आयम्बिल आदि तप सामूहिक रूप से करें तथा जप आदि भी सामूहिक रूप से, व्यवस्थित ढंग से करें तो निःसन्देह अशान्ति के बीज नष्ट हो सकते हैं।

वर्तमान महिलाओं को अवसर मिलना चाहिए

आज भी प्रतियोगिता के हर क्षेत्र में नारी अपनी प्रतिभा का परिचय दे रही है। जो भी उत्तरदायित्व या कार्य उन्हें सौंपा जाता है, वे सफलता के साथ सम्पन्न कर पाती हैं। भारतीय धर्म ग्रन्थों में कहा है—

‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।’

जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता क्रीड़ा करते हैं। यह प्रतिपादन अक्षरशः सत्य है।

नारी समाज का भावपक्ष है और नर कर्मपक्ष। कर्म को उत्कृष्टता और प्रखरता भर देने का श्रेय भावना को है। नारी का भाववर्चस्व जिन परिस्थितियों एवं सामाजिक आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में बढ़ेगा, उसी में सुख-शान्ति की धारा बहेगी। माता, भगिनी, पुत्री और धर्मपत्नी के रूप में नारी सुख-शान्ति की भव्य भावनाओं की आधारशिला बनती है, बसंतों कि उसके प्रति सम्मानपूर्ण एवं श्रद्धासिक्त व्यवहार रखा जाए। वह अपने अनुग्रह से नर को नारायण और स्वर्गीय वातावरण बनाती है। व्यक्ति, परिवार और समाज में दिव्य भावना वाले व्यक्तियों के सृजन तथा इनकी चिरस्थायी शान्ति एवं प्रगति में नारी का महत्वपूर्ण योगदान मिला है, मिलता है। यही नारी का पूजन है, यही दिव्य मानवों का निवास है। यदि नारी को दबाया और सताया न जाए, उसे विकसित होने का अवसर दिया जाए तो ज्ञान में, साधना में, त्याग-तप में, प्रतिभा, बुद्धि और शक्ति में कहीं भी वह पिछड़ी हुई नहीं रह सकती, और विश्व शान्ति के लिए महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।



विश्व-शान्ति में नारी का योगदान : मुनि नेमिचन्द्र जी | २७५



## जैन नारी-समाज में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावलि

और

उसमें व्यंजित धार्मिकता

—श्रीमती डा. अलका प्रचण्डिया

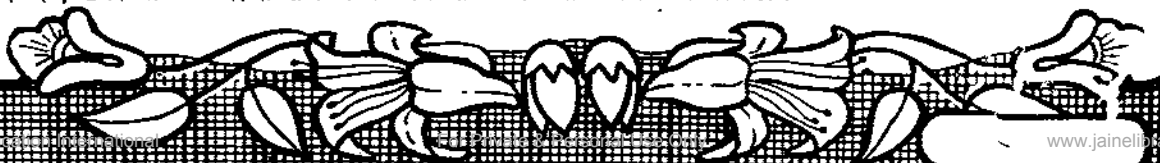
[एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (हिन्दी), पी-एच० डी० (अपभ्रंश)]

प्राणी द्रव्य अथवा तत्त्व पर्याय धारण कर नाना गतियों में सुख-दुःख अनादि काल से भोगता रहा है। नरक गति में अनन्त दुःख और देव गति में अनन्त सुख, तिर्यच गति में अधिक दुःख और बहुत कम सुख भोगने का अवसर मिला करता है। मनुष्य गति में भली प्रकार से दुःख और सुख भोगने की शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त होती है। बड़ी बात यह है कि केवल मनुष्य गति को पाकर प्राणी संयम और तप साधना के अवसर प्राप्त करता है। इसी से वह अपने पुराने कर्मजाल को काटने का सद्प्रयास कर सकता है। अन्यगति में यह सुविधा प्राप्त नहीं है।

मनुष्य गति का जीवन व्यवस्था और आस्था सम्पन्न होता है। गृह होता है। गृहपति होता है, और गृह-स्वामिनी भी होती है। यही परिवार की इकाई कहलाती है। इसी से प्राणी कल्याणकारी संस्कार प्राप्त करता है और यहीं से मिथ्यात्व के वशीभूत अधोगति की ओर उन्मुख होता है। मानवी समुदाय और समाज की इकाई में पुरुष और नारी का समवेत महत्व और दायित्व होता है।

भारतीय तथा चीनी-संस्कृतियाँ मिलकर संसार की प्राचीनतम संस्कृति के रूप को स्वरूप प्रदान करती हैं। यूनानी संस्कृति में समाज की प्रधानता है, भारतीय संस्कृति में व्यक्ति की प्रमुखता है जबकि चीनी संस्कृति में परिवार की मुख्यता।

भारतीय संस्कृति में वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियों का समीकरण है। जैन संस्कृति में व्यक्ति तज्जन्य गुणों की वंदना का विधान है। व्यक्ति ही अपने भाग्य का निर्मापक होता है। व्यक्ति कर्म करता है और वह स्वयं ही अपने कर्मफल का भोक्ता होता है। यहाँ आरम्भ से यही प्रेरणा रही है कि सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से उसका असर राष्ट्र पर हो। राष्ट्र अथवा अन्तर्राष्ट्र सुधारना है तो व्यक्ति का



सुधरना अथवा सुधारना परमावश्यक होता है। व्यक्ति-सुधार में माँ की भूमिका पहल करती है। बालक अथवा बालिका माँ-नारी के क्रोड़ में पलती है और ज्ञान का पहला पाठ वह वहीं से सीखती है। इस प्रकार नारी संतति की प्रथम शिक्षिका है।

अभिव्यक्ति एक शक्ति होती है। इसके मुख्य अवयवों में शब्द और उसके सद्य प्रयोग का उल्लेखनीय स्थान और महत्व है। इसी से भाषा बनती है और वैचारिक विनिमय सक्रिय हुआ करता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, वाचालता तथा विकथा पर्यन्त आठ दोषों से रहित शब्द तज्जन्य भाषा का प्रयोग करने की व्यवस्था-तन्त्र 'भाषा समिति' कहलाती है। सावधानीपूर्वक समय के अनुकूल और विवेक पूर्वक ऐसी शब्दावलि और भाषा का प्रयोग उपयोगी होता है जिससे भावहिंसा और द्रव्यहिंसा से बचा जा सकता है।

भारतीय धर्म और दार्शनिक स्वरूप में वैदिक, बौद्ध के साथ जैन धर्म का योगदान महत्त्वपूर्ण है। जैन धर्म में सिद्धान्त और व्यवहार का एक साथ प्रयोग, अन्य धर्म-व्यवस्था से विरलता रखता है। यहाँ आचारो परमः धर्मः कहा गया है। आचार धर्म में भाषा का सहयोग अतिरिक्त महत्त्व रखता है। जैन परिवारों में नारी ऐसी शब्दावलि का प्रयोग करती है जिनसे हिंसक मनोभावों का दूर-दूर से सम्बन्धित होना नहीं होता।

आज मनोभावनाएँ दूषित होती जा रही हैं। इसी को व्यक्त करने के लिए तदनुसार शब्द और शक्तियों की आवश्यकता पड़ा करती है। शब्द शक्ति तीन प्रकार की कही गई है। यथा—

- (१) अभिधा, (२) लक्षणा,  
(३) व्यंजना।

शब्द की वह शक्ति जो बिना किसी दूसरी शक्ति की सहायता के लौकिक अर्थ का बोध करा दे वस्तुतः अभिधा शक्ति कहलाती है। सामान्यतः इसी शब्दशक्ति का प्रयोग परिवार में करना चाहिए क्योंकि इससे आर्जवधर्म का परिपालन करने-कराने में यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। आज समुदाय और समाज में अभिधा शक्ति सम्पन्न शब्दावलि के व्यवहार को गौण स्थान प्राप्त है। लक्षणा द्वारा तथा उससे व्यंजित होने वाले अर्थ अभिप्राय का विनिमय-व्यापार श्रेष्ठ माना जाता है। यद्यपि लक्षणा और व्यंजना के प्रयोग में बड़ी सावधानी और चौकसी बरतने की आवश्यकता होती है। अन्यथा अर्थ का अनर्थ होते देर नहीं लगती। शास्त्रीय वातावरण और मनीषियों की मंडली में लक्षणा और व्यंजना सम्पन्न शब्दावलि का प्रयोग श्रेयस्कर होता है। सामान्य घर-गृहस्थी में अभिधा सम्पन्न शब्दावलि का प्रयोग हितकारी होता है।

मुहावरा में लक्षणा और व्यंजना दोनों का परिपाक रहता है। मुहावरों का प्रयोग एक वाक्य के समान होता है। यह सामर्थ्य लक्षणा द्वारा ही सम्भव है। जितने मुहावरे होते हैं वे प्रायः व्यंजना-प्रधान होते हैं। मुहावरों का अन्तर्भाव भी शब्द की इन्ही लक्षणा और व्यंजना व्यापक शक्तियों के अन्तर्गत होता है। आचार्य मम्मट ने लक्षणा का लक्षण बताते हुए कहा है कि मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते..... यत्सा लक्षणा, अर्थात् जिससे मुख्य अर्थ के द्वारा अमुख्य अर्थ की प्रतीति हो वस्तुतः वही लक्षणा कहलाती है। अभिधा और लक्षणा दोनों ही जब अपना काम करके विरत अथवा चुप हो जाती हैं तब उस समय जिस शक्ति से किसी दूसरे अर्थ की सूचना मिलती है, उसे व्यंजना कहते हैं।

जैन नारी-समाज में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावलि और उसमें व्यंजित धार्मिकता : डॉ० अलका प्रचंडिया | २७७



ध्वनि की दृष्टि से प्रत्येक अक्षर और अर्थ—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना की दृष्टि से प्रत्येक शब्द जिस प्रकार भाषा में एक इकाई होता है अर्थ अभिप्राय की दृष्टि से प्रत्येक मुहावरा भी भाषा की एक इकाई ही होता है।

प्रश्न है, जैसे भाव होते हैं भावाभिव्यक्ति में उसी प्रकार की शब्दावलि और उसी प्रकार की शब्द शक्ति और उसका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। हिंसक प्रधान परिवारों की शब्दावलि हिंसाप्रधान होगी। कसाई, शिकारी अथवा मांसाहारियों के घरों में बोली आने वाली शब्दावलि भिन्न प्रकार की होती है। अहिंसक, सत्याचरण तथा शाकाहारियों के घरों में प्रयोग में आनेवाली शब्दावलि सर्वथा अहिंसा-प्रधान होगी। यहाँ जैन परिवारों में परम्परा से प्रयोग में आनेवाली प्रचलित शब्दावलि पर संक्षेप में विचार करना हमारा मूल अभिप्रेत रहा है।

खान-पान हमारे विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। लोक में कहावत प्रचलित है कि 'जैसा खाओगे अन्न वैसा होगा मन्न'। खाने का मन पर प्रभाव पड़ा करता है। इसीलिए भोजन की शुद्धता पर आरम्भ से ही बल दिया गया है। भारतीय परिवारों में भोजन व्यवस्था गृहिणी के अधीन हुआ करती है। यहाँ चौका की मान्यता है। यद्यपि यह रूढ़ि शब्द रूढ़ि अर्थ में ही प्रयोग में आने लगा है। क्षेत्र विशेष को लेकर लकीर खींचकर उसे अन्य से पृथक कर लिया जाता है। उसमें आम प्रवेश प्रायः वर्जित रहता है। जैन परिवारों में चौका का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ चौका शब्द से इतना भर तात्पर्य नहीं है। इसके मूल में चार प्रकार की शुद्धियों का अभिप्राय अन्तर्निहित है। यथा—

- |                     |                    |
|---------------------|--------------------|
| (१) क्षेत्र शुद्धि, | (२) द्रव्य शुद्धि, |
| (३) काल शुद्धि,     | (४) भाव शुद्धि।    |

जहाँ भोजन बनने और जीमने की प्रक्रिया सम्पन्न होती है वह क्षेत्र शुद्ध होना चाहिए। इसी को क्षेत्र शुद्धि कहा गया है। इन घरों में रसोई का क्षेत्र सुनिश्चित बनाया जाता है जिसमें प्रवेश पाने के लिए व्यक्ति को शरीर शुद्धि और भाव शुद्धि को अपेक्षा रहती है। द्रव्य शुद्धि से तात्पर्य रसोई में प्रयोग में आने वाला द्रव्य-पदार्थ शुद्ध होना चाहिए। पके फलों, शाक-सब्जियों के साथ-साथ अन्य पदार्थों की शुद्धि पर विचारपूर्वक ध्यान दिया जाता है। जल का प्रयोग होता है तो वह छना हुआ होता है। कच्चे और अल्पावधि के शाक सब्जियों का प्रयोग निषेध। चौथी बात है कि ऐसे फलों में निगोदकायिक जीवों की प्रधानता रहती है। उदाहरण के लिए, पतली और छोटी-छोटी ककरियों तथा लोका अथवा अन्य फल पूर्णता प्राप्त करने पर ही प्रयोग में लेने का विधान निर्देश है। काल शुद्धि से तात्पर्य है दिवा भोजन का प्रयोग करना। सूर्य ऊर्जा का केन्द्र है। इसके प्रकाश में पोषणकारी तत्वों की प्रधानता रहती है। फल-स्वरूप हिंसापरक समस्याएँ कम, बहुत कम रह जाती हैं। जैन परिवारों में सूर्य प्रकाश का अतिशय महत्व है। यहाँ सूर्य की इसीलिए प्रतिष्ठा है। मात्र उसे 'सूर्य नारायण' कहकर नमस्कार करना और छुट्टी ले लेना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। जैन-आचारों में सूर्यजन्य गुणों का उपयोग आरम्भ से ही किया जाता रहा है। इसीलिए सूर्य-प्रकाश में भोजन बनाने और जीमने का चर्या-विधान है। यही वस्तुतः काल-शुद्धि कहलाती है। इन त्रय शुद्धियों से भी महत्वपूर्ण है भाव शुद्धि। भोजन करने-कराने के उद्देश्य, उपयोग तथा भावना पर सावधानीपूर्वक विचार किया जाता है। मन से, वचन से तथा काय से शुद्धि अर्थात् शुभ भावपूर्वक भोजन करना-कराना अनिवार्य है। चित्त में दुराव अथवा छिपाव के साथ भाव

२७८ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साधवियों का योगदान



शुद्धि में स्पष्ट बाधा है। चौकापूर्वक भोजन अतिथि—सुयोग्य पात्र को सहज जुटाना वस्तुतः आहार-दान कहलाता है। आज इस प्रकार के भोजन का प्रायः अभाव होता जा रहा है तथापि शुद्ध जैन परिवारों में यह चौका सम्पन्न भोजन-पद्धति आज भी समाहत है। इस प्रकार चौका शब्द वस्तुतः पारिभाषिक कहा जाएगा।

इसी प्रकार काटना शब्द जैन परिवारों में गृहीत नहीं किया गया है। शाक अथवा फलों को 'काटने' की अपेक्षा 'बनारना' शब्द को गृहीत किया गया है। बनारना और काटना शब्दों के उच्चारण में ही भावात्मक व्यंजना अहिसक तथा हिंसक मुखर हो उठती है। काटना में हिंसा के भाव व्यंजित होते हैं। बनारना में सुधारना तथा सुव्यवस्था की भावना मुखरित है। अतः जैन महिलाओं द्वारा इसी शब्द का प्रयोग प्रायः आज भी प्रचलित है। जिन परिवारों में महिलाओं द्वारा शाक बनारना तथा फलों और सब्जियों का बनारना प्रयोग सुनने को मिलता है तो यह सहज में ही ज्ञात हो जाता है कि यह महिला निश्चित ही जैन संस्कृति से दीक्षित रही है। शब्द-प्रयोग से समस्त संस्कृति का परिचय सहज में ही हो जाता है।

कूटना शब्द लीजिए। इसका प्रयोग पर-पदार्थ को कष्टायित करने के लिए होता है। दालें कूटी जाती हैं। दाल कूटना के स्थान पर जैन महिलाएँ प्रायः 'दालें छरना' प्रयोग में लाती हैं। छरने में दाने से छिलका अलग करने का भाव व्यंजित है। इसी परम्परा में जलाना शब्द लीजिए। 'दिया जलाना' जैन परिवारों में प्रयोग नहीं किया जाता। 'दीप बालना' यहाँ गृहीत है। जलाना शब्द एकदम हिंसक मनो-वृत्ति का परिचायक है। इसी प्रकार दीप-बुझाना शब्द भी हितकारी भाव व्यक्त नहीं करता इसीलिए यहाँ इस अभिप्राय के लिए 'दीप बढ़ाना' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

जैन परिवारों में निवटना शब्द प्रचलित है जिसका अर्थ है निवृत्त होना अर्थात् नैतिक क्रियाओं से विशेषकर शुद्धि से सम्बन्धित सभी क्रियाओं में फिर चाहे वह लघुशंका हो अथवा दीर्घशंका इत्यादिक प्रयोजनार्थ निवटना शब्द का ही प्रयोग होता है। खाना शब्द शुभार्थी नहीं कहा जाता अतः यहाँ भोजन करने के लिए खाना के स्थान पर 'जीमना' शब्द प्रचलित है। उपर्युक्त सभी शब्द जैन परम्परा के हैं अर्थात् इनका सीधा सम्बन्ध श्रावक परम्परा से रहा है जिसका मूलाधार श्रमण अथवा जैन संस्कृति रही है।

इन शब्दों की भांति हिन्दी में अनेक मुहावरों का भी प्रचलन है जो हिंसा वृत्ति का बोधक है। श्रमण समाज में ऐसे वाक्यांश अथवा मुहावरों का प्रायः प्रचलन वर्जित है। आग फूंकना मुहावरा ही लीजिए। इसमें जो क्रिया है उससे स्पष्ट हिंसा का भाव उभर कर आता है। अर्थ है बहुत झूठ बोलने के लिए। आग लगाना अर्थात् झगड़ा खड़ा करना। कलेजा खाना अर्थात् साहस होना पर शब्दार्थ है मांसाहार की मनोवृत्ति का बोधक। कान काटना अर्थात् अत्याचार करना, खून के घूट पीना अर्थात् बड़ा कष्ट सहन करना। गला घोटना अर्थात् अत्याचार करना। घर फूंकना अर्थात् बरबाद करना। छाती जलाना अर्थात् दुःख देना। प्राण खाना अर्थात् बड़ा परेशान करना। मक्खी मारना अर्थात् बेकार बैठना। लहू के घूट पीना अर्थात् बड़ी आपत्ति सहन करना। लहू चूसना अर्थात् बहुत परेशान करना। सिर काटना अर्थात् बड़ी तकलीफ देना। जीती मक्खी निगलना अर्थात् जानकर हानि का काम करना। शेर मारना अर्थात् वहादुरी का काम करना। आदि अनेक मुहावरे हिन्दी में प्रचलित हैं जिनके उच्चारण मात्र से हिंसात्मक मनोभाव उपजने लगते हैं। श्रमण समाज में ऐसे मुहावरे तथा उनके प्रयोग प्रायः वर्जित है।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के

जैन नारी-समाज में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावलि और उसमें व्यंजित धार्मिकता : डॉ० अलका प्रचंडिया | २७६





अभ्युदय का मूलाधार आचार है। आचार के आधार पर विकसित विचार किसी भी जीवन का निर्मापक तथा आदर्श और शोभा हुआ करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विचार की जन्मभूमि आचार ही है।

आचार और विचार सम्पन्न जीवन चर्या को जब कभी प्रेषणीयता की जरूरत पड़ती है तब शब्द और भाषा की आवश्यकता हुआ करती है। शब्द यद्यपि स्थूल होते हैं और इस स्थूल साधन के द्वारा सूक्ष्म सम्पदा को अभिव्यक्त करने का प्रयास हम आरम्भ से ही करते आ रहे हैं। भाव और विचार से आचार की साज-सँभार हुआ करती है और उसे व्यक्त करने के लिए तदनुसार शब्दावलि की अपेक्षा होती है। जैन नारी समाज में अहिंसक, विकास बोधक शब्दों का प्रयोग सावधानीपूर्वक करने का विधान है। हित-मित-प्रिय वाणी के व्यवहार का निर्देश भाषा समिति में किया गया है। साथ ही कम से कम भाषा के व्यवहार से काम चलाना हितकारी है। इमसे वाचालता से बचना होता है। जैन परिवारों में इसीलिए रात्रि में गोचरी प्रक्रिया के लिए कोई स्थान नहीं है। इस चर्या का उत्कृष्ट रूप हमें आज जैन संतों में सहज ही परलक्षित है। यहाँ पूरी की पूरी चर्या में सात्विकता है, शांतिनता है और है सम्भावप्रवणता। कहावत है, जैसे भाव वैसी ही भाषा। अहिंसक की भाषा सदा अहिंसक ही होगी। भावाभिव्यक्ति के अनुसार ही शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। इस प्रकार जैन नारी समाज में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावलि और उसमें व्यंजित धार्मिकता बोध हमें सहज में ही हो जाता है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

- |   |   |
|---|---|
| 1. भारत वाणी,                                   | 2. हिन्दी मुहावरा कोश                               |
| 3. मुहावरा भीमांसा                              | 4. अच्छी हिन्दी                                     |
| 5. अधिधान चिन्तामणि कोश                         | 6. हिन्दी शब्द सागर                                 |
| 7. अपभ्रंश भाषा में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि | 8. जैन सिद्धान्त कोश                                |
| 9. क्रिया कोश                                   | 10. तत्त्वार्थसार                                   |
| 11. मूलाचार                                     | 12. जैन हिन्दी कावियों का काव्य शास्त्रीय मूल्यांकन |
| 13. हिन्दी का आदि काल                           | 14. जैन साक्षणिक शब्दावलि                           |
| 15. भाषा विज्ञान                                | 16. काव्य प्रकाश                                    |
| 17. हिन्दी व्याकरण                              | 18. हिन्दुतान की पुरानी सभ्यता                      |
| 19. दर्शन और जीवन                               | 20. बोल बाल   |



## मानवीय विकास में नारी का स्थान, महत्व और मूल्यांकन

— प्रो. डा. इन्दिरा जोशी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,

(अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय जोधपुर)

सृष्टि का व्यापार इतना अद्भुत और बहुरूपी है कि उस पर विचार मात्र करने पर मानव-बुद्धि चकरा जाती है। अनन्त, अपार आकाश में न जाने कितने ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र चक्कर लगा रहे हैं। जिस विश्व से हम परिचित हैं वह केवल उतना है, जितना कि हमारे सूर्यदेव के चारों ओर परिक्रमा में रत है। कहा जाता है कि ऐसे सूर्यमण्डल अखिल मृष्टि में अनेक हैं। हमारे सूर्यमण्डलीय दिग्मण्डल के बीच, हमारे भू-मण्डल की स्थिति नगण्य-वत् जान पड़ती है। पर हमारे लिए तो वह सर्वाधिक महत्वशाली है। क्योंकि उसी पर तो हमारी स्थिति और अस्तित्व है। पृथ्वी का एक पर्याय है 'धरती' या 'धरती'। 'धरती' होने के कारण धारण करना ही उसका धर्म है। इस धरती के जिस विशेष भाग, या जनपद पर हमने सबसे पहले अपनी आँखों खोली है, वही हमारे लिए अति पावन एवं पुण्य स्थल है। वहीं हमारी जन्म-भूमि है जिसकी प्रशस्ति में, पुरातन काल से ही हमारे महाकवियों ने भावभरी एवं ममत्वभरी बन्दनाएँ गाई हैं। संसार की सबसे पुरातन काव्यकृति वेदों में भी, उसकी प्रशंसा में सूक्तों की रचना की गई है। उन्हीं में एक है पृथ्वी-सूक्त। उसके उद्गाता ने गाया है—“पृथ्वी मेरी माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।” उसी के पार्थिव कर्णों से हमारा यह पार्थिव शरीर निर्मित हुआ है। अतः तत्त्वतः वही हमारी माता है। उसी का एक कौना या उपखण्ड हमारा राष्ट्र या देश है। जन्म-भूमि होने के कारण वह हमारे लिए स्वर्ग से भी बढ़कर गरिमामयी है। उसी के मान-सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राणों का विसर्जन कर देना ही हमारा पावन कर्तव्य है।

यह धरती न जाने कितनी कोटियों के जंगम जीव-जन्तुओं को जीवन प्रदान करती है और उन्हें धारण करती है। इन जल, थल और नभ में विचरण करने वाले असंख्य छोटे बड़े, जीवधारियों में से एक है 'मानव'। उसे गेष सभी से अधिक विकसित प्राणी माना जाता है। उसे श्रेष्ठतम इसलिए माना गया है क्योंकि उसने विकास एवं प्रगति के पथ पर अभूतपूर्व उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। सभ्यता और संस्कृति

मानवीय विकास में नारी का स्थान, महत्व और मूल्यांकन : डॉ० इन्दिरा जोशी | २८१



केवल मानव-जाति की विशिष्टताएँ हैं। ऐसे 'मानव' नामधारी प्राणी को जिसने जन्म दिया है, उस माता या जननी के गौरव और महत्व का कौन मूल्यांकन कर सकता है? इसीलिए माता ही, इस वसुध्दरा धरणी का सबसे अनमोल रत्न है। एक प्रकार से वह धरती माता का ही लघुकाय 'विग्रह' (या प्रतिकृति) है। मानव-जाति को जन्म देने वाली जननी की इसीलिए बारम्बार स्तुति की गई है। सूक्तियों में 'जननी और जन्म-भूमि को स्वर्ग से भी अधिक गरिमामयी' कहा गया है। मानवी अस्तित्व की आदि कारण ही इस भाँति 'नारी' है।

नारी की करुणा और उसकी परोपकारमयी वृत्ति की कोई सीमाएँ नहीं हैं। उसने अपने रक्त और अपनी मज्जा से 'मानव' को आकार या उसका भौतिक अस्तित्व प्रदान किया है। उसे अपनी कोख में उसने ही धारण किया और उसने उसे अपने हृदय के रक्त से पोषित करने तथा प्राण धारण करने योग्य बनाने एवं उसे जन्म देने में, अवर्णनीय आत्म-त्याग एवं तप का परिचय दिया है। मानव के जीवन के पहले पल से, बरसों तक नारी ने ही उसे अपने कलेजे का दूध पिलाकर बड़ा और बलशाली बनाया है। जब मानव अपने लघु-आकृति वाले 'शिशु-रूप' में होता है, तो वह अपने आप को कितना अधिक असहाय और निरुपाय अवस्था में पाता है। नारी अपने मातृ रूप में उसे अंगुली पकड़कर चलना सिखाती है और उसे 'सामाजिक प्राणी' कहलाने योग्य बनाती है। वही उसकी सर्वप्रथम भाषा गुरु है क्योंकि जिस बोलै में बोलना या जिस बोली को समझना वह पहले-पहल सीखता है उसका नाम ही मातृ-भाषा है। संसार के हर मनुष्य की कोई न कोई 'मातृ भाषा' है, जो कि उसने अपनी 'माँ' से सीखी है। भाषा या वाणी मानव की श्रेष्ठता का पहला लक्ष्य है, जो सारी जंगम सृष्टि में, केवल उसे ही उपलब्ध है। पर यह वाणी का वरदान केवल माँ से ही प्राप्त है।

मानव संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी इसलिए ही है क्योंकि उसने अपनी विकास यात्रा में, सभ्यता और संस्कृति की मंजिलें पार कर ली हैं। सभ्यता का पहला पाठ, माँ या नारी ही पढ़ाती है। आधुनिक बाल-विज्ञान के विशेषज्ञों—विशेषतया मदाम माण्टेसरी का मत है कि शिशु की २४ वर्ष से ५ वर्ष तक की आयु उसकी समग्र शिक्षा-दीक्षा के लिए सर्वाधिक महत्व रखती है। इस कालान्तर में शिशु की मानसिक अवस्था सूक्ष्म से सूक्ष्म इगितों एवं संस्कारों को ग्रहण करने की क्षमता रखती है। अतः जिन बालकों की माताएँ अपने शिशुओं की देख-रेख और शिक्षा-दीक्षा की ओर सर्वाधिक ध्यान देती हैं, वे ही आगे चलकर महान और लोकनायक बनते हैं, क्योंकि प्रत्येक शिशु अपने इन प्रारम्भिक वर्षों में, अपनी माँ को ही गुरु रूप में पाता है और मानता है। वह अपनी पूरी आस्था के साथ के साथ माँ पर ही निर्भर करता है। गुरु भक्ति का प्रथम पाठ इस भाँति शिशु अपनी मातृ-गुरु से ही पढ़ता है।

भारत भूमि के गौरव और उसकी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा का काम इस भाँति नारी या माता के कन्धों पर ही सदा-सर्वदा रहा है। सच पूछो तो सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में शिक्षा-दीक्षा का कार्य, पिता या पुरुष, बहुत ही कम कर पाता है। जब घर पर बालक की शिक्षा-दीक्षा की वह अवस्था सम्पूर्ण हो जाती है, जिसमें वह माँ पर आश्रित रहता है तब उसे 'गुरु-कुल' में भेजने और वहाँ उच्चतर एवं उच्चतम सांस्कृतिक योग्यता प्राप्त करने के कार्य को सम्पन्न करने की, हमारे देश में हजारों वर्षों से परम्परा चली आई है। आज भी देश में जहाँ-तहाँ 'गुरु-कुल' पाये जाते हैं। आधुनिक प्रणाली की ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा 'गुरुकुल' प्रणाली की पूरक तो हो सकती है किन्तु पर्याय नहीं। भारत: नारी या माता ही मानव अथवा पुरुष को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने की प्रमुख भूमिका निभाती है। अतः उसका

२८२ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



स्थान सदा से ही भारतीय समाज में और विश्व के सभी अन्य सभ्य-सुसंस्कृत समाजों में, सदा ही परम सम्माननीय एवं पूज्य रहा है।

आजकल 'सभ्यता' एवं 'संस्कृति' इन दोनों पदों को बहुत व्यापक एवं विविध रूपों में व्यवहृत किया जा रहा है पर यदि आप किसी से यों ही अकस्मात् पूछ बैठें कि 'संस्कृति' क्या है? तो वह उसका तुरन्त और तात्कालिक उत्तर न दे पाएगा। मानव सामाजिक प्राणी कहा गया है पर उसकी बड़ी विशिष्टता यह है कि वह सांस्कृतिक दृष्टि से एक समुन्नत प्राणी है। 'सांस्कृतिक' विशेषण संस्कृति से बना है और 'संस्कृति' पद का मूल है 'संस्कार'। किस भाँति बालक को सर्वप्रथम 'संस्कार' अपनी माता से प्राप्त होते हैं। विशेषतया उन संस्कारों का ग्रहण शिशु अपनी माँ से उस पाँच वर्ष तक के 'शैशव' में ग्रहण करने में, अत्यन्त आग्रही एवं दत्तचित्त रहता है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। बड़े-बड़े दार्शनिकों एवं विद्वानों ने 'संस्कृति' की विविध परिभाषाएँ दी हैं। उन सभी में आचार्य नरेन्द्रदेव की यह व्याख्या, सर्वाधिक सुस्पष्ट एवं सुग्राह्य है कि 'संस्कृति' सुविचारों की खेती है। खेती को हरी-भरी रखने और मुफला बनाने के लिए किसान को पहले अपनी जमीन को परिष्कृत अथवा संशोधित करना पड़ता है। केवल ऐसी भूमि में ही उत्तम बीज बोये जा सकते हैं और वही अंकुरित होने की क्षमता रखते हैं। तत्पश्चात् उगे हुए पौधों को झाड़-झंखाड़ से रहित करना होता है। फिर उन्हें समयानुसार अच्छे पानी से सींचते रहना पड़ता है। किसान का यह काम अत्यन्त सावधानी, तत्परता एवं जागरूकता की अपेक्षा रखता है। कहना न होगा कि मानव को सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध और सक्षम बनाने के इस गुरुतर कार्य में 'नारी' अथवा माता की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण है कि उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। शब्दों में उसको व्यक्त किया जाना यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। इस दृष्टि से नारी का महत्त्व, मूल्यांकन से प्रायः परे ही जान पड़ता है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में माँ की महिमा उसकी एक प्रमुख जातीय विशिष्टता है जिस पर अधिकाधिक विवेचन सदा ही मंगलकारी एवं शिवंकर है।

हमारे देश में एक सूक्ति बहुत पुरातन काल से प्रचलित है : 'गृहिणी इति गृहः'। अर्थात् गृहिणी ही घर है। विना गृहिणी के घर को 'भूतों का डेरा' कहा गया है जो सर्वांश में सत्य है। यह तथ्य सत्य और शाश्वत है और वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में मान्य रहा है और रहेगा। घर को बनाने में, उसे चलाने में और उसे सुन्दर, कलापूर्ण एवं मनोरम बनाने में 'नारी' अथवा 'गृह लक्ष्मी' की महिमा महान है और उसकी बहुत अधिक विस्तार के साथ व्याख्या करने की कोई अपेक्षा भी नहीं है।

मनुष्य की एक बड़ी विशेषता, जिसे समाजशास्त्री दुहराते रहते हैं, यह है कि वह एक सामाजिक प्राणी है। अर्थात् वह अकेला रहना नापसन्द करता है और अपने आस-पास, उसके सामाजिक साथी हों, इसी में सुख समझता है। इसीलिए हम देखते हैं कि शारीरिक अभाव एवं मानसिक ताप-सन्ताप में रहकर भी मनुष्य समाज में ही बना रहना चाहता है। वह केवल दो प्रकार के दण्डों से ही भय मानता है—एक तो यह कि उसे समाज वहिष्कृत कर दिया जाए और दूसरे कि उसे किसी कारागार में डाल दिया जाए, चाहे वहाँ उसे सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ भी क्यों न उपलब्ध हों। फिर यह 'समाज' क्या है जिसके प्रति मनुष्य इतना अनुरक्त है? थोड़े शब्दों में समाज, मानवों का एक परिवार है। वह अनेक परिवारों का समूह है। परिवार की सीमाएँ गृह या घर है। जिसकी अधिष्ठात्री या संचालिका

मानवीय विकास में नारी का स्थान, महत्त्व और मूल्यांकन : डॉ० इन्दिरा जोशी | २०३



गृहिणी या नारी है। अनेक परिवारों से मुहल्ला, मुहल्लों से गाँव बनते हैं। गाँव जब बड़ा आकार ग्रहण करते हैं तो 'शहर' कहाते हैं। धरती पर रहने वाले अरबों मानव प्राणी इसी भाँति घरों, मुहल्लों, गाँवों, शहरों, राष्ट्रों में रहते हैं—रहना चाहते हैं। पर समाज का लघुरूप या त्रिग्रह घर है। जिस घर में गृह-लक्ष्मी का समुचित मान-सम्मान या 'पूजा' होती है उसमें मनुस्मृतिकार मनु का कहना है कि वहाँ सभी देवता रमण करते हैं। विद्या की देवी सरस्वती एवं धन-धान्य की देवी लक्ष्मी दोनों का ही ऐसे घरों में निवास रहता है। इस सारी सुख-समृद्धि की धुरी, गृहिणी, गृहलक्ष्मी या नारी ही है। मनु ने यह भी कह दिया है कि जिस घर में या समाज में नारी की अपूजा या अवमानना होती है, वहाँ सभी प्रकार की क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। अतः तनिक कल्पना करें कि बिना नारी के इस समस्त जगती का क्या मूल्य रह जाता ?

गुजराती के यज्ञस्वी कवि मेघाणी (शबेरचन्द मेघाणी) ने 'शिवाजी ती लोरी' नामक एक बड़ी ही ओजस्विनी कविता रची है। शिशु शिवाजी को, उनकी माता जीजाबाई, पालने में झुलाती-झुलाती, वीर रस से ओतप्रोत कविताएँ मधुर लोरियों में गाकर सुनाती हैं। सूरदास ने यशोदा द्वारा गाई जाने वाली लोरियाँ बड़ी ही भाविक शैली में लिखी हैं। उन्हीं लोरियों के कारण श्री कृष्ण सोलह कला वाले अवतार हुए और श्रीकृष्ण के बारे में लोगों ने यहाँ तक कहा है कि 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' (कृष्ण तो साक्षात् भगवान हैं)। करुणा और मैत्री का सन्देश विश्व-भर में फैलाने वाले महात्मा बुद्ध और महात्मा महावीर, 'भगवान' उपाधि से विभूषित हुए। इन दोनों ही महात्माओं की परम पूज्या माताओं की आदि प्रेरणा द्वारा ही वे आगे चलकर मानव जाति के पथ-प्रदर्शक बने।

सारतः माता ही शिशु की प्रथम गुरु है। इस देण की अति प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा में, नारी के रूप में ही सृष्टि की नियामक आद्य शक्तियों एवं ऋद्धि-सिद्धियों की उपासना एवम् वन्दना की गई है। विद्या और वाणी की देवी सरस्वती, जिसके हाथों में वीणा और पुस्तक, अखिल कलाओं एवं अखिल वाङ्मय के प्रतीक हैं—वैभव एवम् समृद्धि के प्रतीक दो गजाधिपतियों द्वारा अभिषिक्त एवम् रत्नजटित मुकुट एवं वस्त्राभूषणों द्वारा अलंकृत अपने चारों हाथों से धन और धान्य बरसाती हुई सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य की देवी, लक्ष्मी, तथा दशों भुजाओं में अमोघ, दशायुधों को धारण करने वाली महा-प्रचण्ड तेजस्विनी, वीरता और शौर्य की देवी दुर्गा। इन तीनों शक्ति-प्रतीकों द्वारा ध्वनित अभिप्राय के अनुसार नारी अथवा जगज्जननी ही सभी आध्यात्मिक एवम् भौतिक सुख-समृद्धि की उद्गम है। इसीलिए उसका सम्मान, भारतीय संस्कृति में सर्वोपरि एवम् सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मानव जाति के सभ्यता एवम् संस्कृति के उद्गम, विकास एवं अभ्युदय की, सुदीर्घ यात्रा में, नारी का स्थान और महत्त्व, सदा ही शीर्ष एवं निर्णायक सिद्ध हुआ है।

यदि हम विवेचित विषय के आलोक में सहस्रों-सहस्रों वर्षों से चली आने वाली भारत की सभ्यता एवं संस्कृति की कहानी को, बीजरूप में दुहरा कर देखेंगे तो उसमें हमें आदि से अन्त तक नारी की गरिमा अनवरत एवम् अक्षुण्ण रूप से दृष्टिगोचर होगी। जिन्हें वैदिक वाङ्मय के बारे में थोड़ी बहुत भी जानकारी है, वे भलीभाँति जानते हैं कि वेदों के सूत्रों के पृष्ठाओं में अनेक विदुषी नारियाँ भी थीं। उनकी चर्चा अगस्त्य, अत्रि, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि की, विद्यालोक से दीप्त अर्द्धांगिनियों के रूप में, बहुवचनित और बहुश्रुत रही है। महर्षि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल की



और उसके १८ अनुवाकों की, १७६ सूक्तों की तथा २ मन्त्रों की व्याख्यायें की हैं। अग्नि ऋषि की विदुषी पत्नी अनसूया, और ऋषिष्ठ-पत्नी अरुन्धती की विद्वत्ता की धाक दूर-दूर तक थी। प्रातः स्मरण में पंचकन्याओं का स्मरण भी महान पातकों को नाश करने वाला माना गया है। यथा :—

अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी तथा ।

पंचकन्या स्मरेत् नित्यम्, महापातक नाशिनीम् ॥

नारियों ने इतिहास में अक्सर आने पर राजदण्ड भी संभाला है और असिदण्ड भी। अनतिदूर इतिहास में, गोंडवाने की महारानी दुर्गावती तथा गोलकुण्डा की मलिका चाँदबीबी के पराक्रम की कहानियों से मध्यकालीन इतिहास अनुगुञ्जित है। दिल्ली के राजसिंहासन पर दृढ़ता एवम् योग्यता से राज करने वाली रजिया सुलताना का वृत्तान्त बहुत प्रेरणाप्रद है। इन्दौर की रानी अहिल्याबाई को मध्य भारत की प्रजा, आज भी देवी-रूप में मानती है।

ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में जड़ें न जमाने दिया जाये इसके लिए बंगाल की वीरांगना 'देवी चौधुरानी' ने जलदस्युओं की जलपोत-सेना संगठित करके, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कितने ही धनधान्य से भरे जहाजों को लूट लिया था और वह सभी बुभुक्षित प्रजाजनों में बाँट दिया था। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में नारी की भूमिका इतनी महान एवं प्रेरणादायिनी रही है कि उसकी प्रशस्तियों के रूप में देश भर में लोककथाओं एवम् लोकगीतों को गाँवों-गाँवों और घरों-घरों में कहा-सुना और गाया जाता है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, अवध की बेगम हजरतमहल, किन्नोर की रानी चिन्ममा ने, सन् १८५७ ई० के महान प्रथम भारतीय महासंग्राम को नेतृत्व प्रदान किया था। हमारी बीसवीं सदी ईस्वी में, सफलता पूर्वक लड़े गये, भारत के द्वितीय विमुक्ति महासंग्राम में, कई हजार महिलाओं ने, ब्रिटिश कारागारों की यातनाएँ सही थीं। सशस्त्र क्रांतिकारी आन्दोलन में भी अनेक वीरांगनाएँ, अंग्रेजी सेनाओं की गोलियों से शहीद हुई थीं। वास्तविकता तो यह है कि यदि भारतीय महिलाएँ हमारी आजादी की दूसरी लड़ाई में नेतृत्व न संभालतीं तो हम असूर्यअस्ता ब्रिटिश साम्राज्य को भारत भूमि से निष्कासित करने में कदापि सफल न हुए होते।

भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् के विगत चार दशकों के इतिहास का, सबसे गौरवशाली अध्याय है, वह कालखण्ड जिसे 'इन्दिरा-युग' कह सकते हैं। अपने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के राजनेता पिता पं० जवाहरलाल जी के स्वर्गवास के पश्चात् तथा उन्हीं के विश्वस्त कर्मनिष्ठ उत्तराधिकारी श्री लाल-बहादुर शास्त्री के अचानक स्वर्गवास के पश्चात्, जब देश, पर्याप्त, बड़े और गहरे राजनैतिक संकट में था, तभी श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने स्वाधीन भारत की सर्वप्रथम महिलामन्त्री का पद, सन् १९६६ में संभाला। उन्होंने भारतीय नारी की गरिमा को विश्व-मान्य स्तर पर पहुँचा दिया। उनका शासनकाल सन् १९६८, ब्रिटिश शासनोत्तर स्वाधीन भारत के इतिहास में सदैव 'स्वर्णकाल' कहलाएगा। जिस समय श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने, इस देश की सर्वोच्च शासिका का भार ग्रहण किया था, तब भारतीय राष्ट्र की राजनैतिक, आर्थिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ पर्याप्त शोचनीय थीं। किन्तु अपने सोलह वर्षों के सुशासन के द्वारा उन्होंने भारतीय राष्ट्र को प्रगति एवम् अभ्युदय के पथ पर इतनी तीव्रता से अग्रसर

मानवीय विकास में नारी का स्थान, महत्व और मूल्यांकन : डॉ० इन्दिरा जोशी । २८५



करने में सफलता पाई जिसे देखकर, विश्व भर के राजनीतिविद् चक्कर में पड़ गये । सन् १९७१ के वर्ष में भारतीय इतिहास का सबसे गौरवशाली अध्याय लिखा गया जब श्रीमती गाँधी ने अपने अद्भुत शौर्य, गहरी नीतिमत्ता एवं अपूर्व धैर्य एवं साहस का परिचय देते हुए, न केवल अपने पड़ोसी आक्रान्ता देश पाकिस्तान को नाकों चने चबवा दिये, वरन् आज के विश्व में सैन्यबल में और आयुध-संग्रह में सर्वाधिक शक्तिशाली माने जाने वाले राष्ट्र अमरीका की, बन्दर छुड़कियों की परवाह न करके, और बंगाल की खाड़ी को ओर जनमार्ग से बढ़ते आने वाले सातवें वेड़े की परवाह न करते हुए, बंगला देश के मुक्ति संग्राम को उसके रोमांचकारी सफल अन्त तक पहुँचाकर ही दम लिया ।

भारतीय इतिहास के हजारों-हजारों वर्षों में, केवल एक ही ऐसी घटना मिलती है जिससे कि बंगला देश की विमुक्ति एवं पाकिस्तान की इतनी निर्णायक पराजय से तुलना की जा सकती है । और वह घटना है, महावीर श्रीराम द्वारा, लंका-विजय की महा गाथा । इन्दिरा गाँधी ने विश्व भर को यह भी करके दिखा दिया कि जबकि भारत के वीर पुरुषोत्तम राम भारतीय नारी-शिरोमणि देवी सीता को, रावण के कारागृह से मुक्त करा सकते हैं, तथा बिना सुसज्जित राजकीय सेना की सहायता के वनवासी के रूप में भी महाबली रावण की वैज्ञानिक आयुधों से युक्त, महाशक्तिशाली सेना को धराशायी कर सकते हैं, तब भारत की ही एक महानतम वीरांगना, न केवल विश्व भर के पुरुष राजनायकों एवं सेनानायकों को लज्जित करके, रणभूमि में युगान्तरकारी विजय प्राप्त कर सकती है, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय उदारता एवं शालीनता के ऊँचे से ऊँचे मानदण्ड भी स्थापित कर सकती है ।

इन्दिरा गाँधी इस युग की नारी-रत्न थीं । उन्होंने नारी की वात्सल्यमयी करुणा से द्रवित होकर बंगला देश के लाखों, मौत और जिन्दगी के बीच झूलते हुए, स्वतन्त्रता सेनानियों को निष्काम भाव से, ठीक समय पर, सैन्य सहायता एवं आर्थिक मदद पहुँचाई । उन्होंने न केवल बंगला देश के विमुक्ति-संग्राम को सफलता की मन्जिल तक पहुँचाने में सक्रिय सहायता प्रदान की वरन् करोड़ों शरणार्थी बंगला देश के नर-नारियों को, आतताइयों के हाथों, मृत्यु की दाढ़ों से बचाकर, भूखों मरने से भी, महीनों तक सुरक्षित रखा । उस समय श्रीमती इन्दिरा गाँधी को, लाखों बंगला देशवासियों ने, सहस्र भुजाधारिणी, साक्षात् दुर्गा के रूप में देखा । उन्होंने विश्वभर में शान्ति, सद्भाव एवं निःशस्त्रीकरण के मार्ग पर नेतृत्व प्रदान किया । केवल उन्हीं का उदाहरण विश्व के कल्याण हेतु, नारी की महत्ता स्थापित करने के हेतु, पर्याप्त है ।



## जैन शासन में नारी का महत्व

—श्री रतन मुनि जी

(श्रमण संधीय सलाहकार)

तीर्थंकर महावीर का दर्शन अभेद का दर्शन है। उसमें पुरुष एवं स्त्री दोनों में जिनत्व के दर्शन किये जा सकते हैं। स्त्री और पुरुष तो शरीर हैं, आत्मा भिन्न है। आत्म-दर्शन में शरीर बाधक नहीं है। महावीर का दर्शन आत्म-परक है।

भगवान महावीर, आत्म-साधन के बारह वर्षों में मात्र-कल्याण के मार्ग पर ही केन्द्रित रहे। समृद्धि में से जन्मे हुए उनके वैराग्य के मूल में स्त्री-पुरुष का अभेद मूल था। भेद में महावीर के वैराग्य का अंकुरण नहीं था। जब अभेद का बिरवा फूटा तभी उन्होंने अपने पितृतुल्य भाई नन्दीवर्धन से कहा कि—मैं परिव्राजक होना चाहता हूँ। समाज में व्याप्त दास प्रथा एवं स्त्री भेद की दीवारों को तोड़ना, उन्मूलन करना चाहता हूँ। नारी भोग्या नहीं है, वह 'जिन' बीज को उगाने वाली वसुंधरा है। ब्राह्मणों, पुरोहितों एवं पण्डितों ने नारी को दासी बना लेने का संस्कार देकर समाज में विषमता पैदा की है। इस दीवार को तोड़े बिना समाज एवं धर्म का उत्थान संभव नहीं है।

मैं प्रव्रज्या की आपसे अनुज्ञा चाहता हूँ, ताकि पहले मैं अपना निजत्व पा सकूँ, पूर्णत्व का शिखारोहण कर सकूँ। फिर आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष मातृ शक्ति को खड़ाकर यह बताया जा सके कि नारी पुरुष से किसी भी दृष्टि से हीन नहीं है।

तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी के त्याग-वैराग्य के अतीत को पुनः जीवित किया जा सके तब कहीं पुरुष की कुत्सित मानसिकता को नारी शक्ति का सत्य समझ में आयेगा और वह व्यक्ति, समाज एवं धर्म के क्षेत्र में उसकी अग्रता को स्वीकार कर सकेगा।

नन्दीवर्धन का भ्रातृत्व पलकों की कोर में बिथर आया। उन्होंने अपने डंग से वर्धमान को मातृ-पितृ वियोग की स्थूल पीड़ा का उदाहरण देकर रोका और कहा—वियोग की दुःसह पीड़ा पर समय का वितान तन जाने दो, फिर अपने पूर्णत्व की बात सोच लेना।

जैन शासन में नारी का महत्व : श्री रतनमुनि जी | २८७





महावीर ने नन्दीवर्धन की बात मान ली। दो वर्ष बाद यह साम्य करने के अभिवचन के परस्पर आदान-प्रदान की तुला पर तुल गया, निश्चय हो गया। समय सर्प की तरह सरका। दो वर्ष अतीत हो गये। और..... महावीर जिन दीक्षा लेकर अरण्य में खो गये, स्वयं को पाने के लिए।

अभेद का, स्त्री-पुरुष की समानता का बीज उनकी हृदय वसुधा में विद्यमान था। एक दिन उन्होंने नारी के सम्पूर्ण स्वातंत्र्य को मूर्त रूप करने के लिए १३ भीष्म प्रतिज्ञाओं का महाभिग्रह व्रत धारण कर लिया। .....आर्या चन्दनवाला पर हो रहे सितम पर वे कृष्णाभिभूत हुए। उस युग की नारी दासता की प्रतीक चन्दना उन्हें मिली। भगवान महावीर की प्रतिज्ञायें पूरी हुई। चन्दना के हाथों आहार ग्रहण किया। देवों ने रत्न वर्षा की। कौशाम्बी और चम्पा नगरी के सभी त्रिखुड़े परिजन आए। चन्दना को अपनत्व जताया, परन्तु चन्दना फिर से महलों की ओर नहीं मुड़ी। वह अपने उद्धारकर्ता भ० महावीर के संघ में दीक्षित हो गई।

भगवान महावीर का दीक्षा पूर्व का संकल्प मंडित हुआ। उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष के भेद की एक दीवार को भू-लुठित किया और घोषणा की कि—श्रावक और श्राविकाओं समान रूप से अध्यात्म साधना करने के योग्य पात्र हैं। नारी के प्रति हीन भावना मिट जाए, इस दृष्टि से संघ रचना में साध्वियों को, श्राविकाओं को भी मुक्ति का पथिक कहा। संचिधि में रहे हुए भिक्षुओं से भी कहा—मात्र भिक्षु ही साध्वानार के उच्च शिखर का ही यात्री नहीं है, नारी भी उसी यात्रा की सहचारिणी है। अब इन्हें साध्वी, श्रमणी, साधिका, आर्यिका या भिक्षुणी कहा जा सकेगा।

महावीर का उपर्युक्त नारी मुक्ति का जयघोष आर्या महासती चन्दनवाला के कुशल नेत्रों में वर्द्धमान हुआ। आगम इस बात की पुष्टि कर रहे हैं कि छत्तीस हजार नारियों ने महावीर के वीतराग धर्म में दीक्षा ग्रहण की। नारी पर हो रहे अत्याचारों से मुक्त होकर नारी ने सुख की सांस ली।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिष्ठित एवं आदर प्राप्त नारी आज तक महावीर के प्रति समर्पित है। अढ़ाई हजार वर्ष से भी अधिक हो गये। महाकाल के अंधेरे को चीरती हुई वह महासती चन्दनवाला के पथ पर बढ़ती चली आ रही है। नारी जिस संकल्प को एक बार मन में उगा लेती है—उस पर वह अनिट—अभ्रुण रहती है। अतीत नारी की महान साधना, दृढ़ता और कठोर साधना का साक्षी है। भगवान ऋषभदेव से लेकर तीर्थंकर नेमिनाथ तक के उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं। रथनेमि को राजुल ने संयम का दीपदान थमाया। काल की काली परत चढ़ी तो भगवान महावीर के समय तक आते-आते समय का धुंधलका छाया। ब्राह्मणों, पंडों एवं पुरोहितों ने फिर उसे प्रसा। सभूचे मानव समाज में उसने नारी को लेकर अंधेरा उड़ेल्ला। फलतः महावीर ने पुनः उसे पुनर्जागरण के प्रकाश तले लाकर प्रतिबोधित किया कि नारी तुझमें जिनांकुर विद्यमान है। तू पुरुष की आद्य शक्ति है। तू इसका खिलौना नहीं है। पुरुष को तूने घड़ा है, तू उसके द्वारा नहीं चड़ी गयी है। तू पुरुष की साधना का प्रकाश है, उसकी भक्ति की राह का प्रकाशदान है। तू पुरुष को अंधेरे से धर्म के प्रकाश में लाने वाली महाशक्ति है। वासना के अंधेरे में कुत्सित मनोवृत्ति के लोगों ने तुझे धकेला है। वासना की ओर मुक्तातिव होने से धर्म प्रभास्वर नहीं होगा। धर्म की प्रभावना का सम्पूर्ण दायित्व तुझ पर है। तू क्यों ऐसा मानती है कि मैं अवला हूँ। पुरुष के बीज को तूने ही खींचा है एवं जिन बीज को हमेशा तूने ही उगाया है।

२०० | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



अस्तु, मातृ जाति ने हथेला ही धर्म, ही प्रभावना में (गुरु) (शत्रु) साधु से अधिक योगदान दिया है। नारी परमात्म भाव में जितनी भोगी-डूरी है, उतना (गुरु) नहीं। जैनशासन की प्रभावना, उक्तों, उक्तों का हृदि ने देवा जातु या सर्व्व ह्णर्व्व के तैव में नारी (गुरु) चिन्ने नहीं रही है, बल्कि आगे ही पाई गई है।

क्यों? क्यों कि उसकी पकड़ तब से होती है। उसकी पकड़ उथली या ऊपर से नहीं होती। हार्दिकता उसकी प्राण-गति है। धर्म में, जन में, ज्ञान में, सब जगह उसकी पेट तल में है। ऊपर-ऊपर से कुछ भी करना उसे कभी दृष्ट रहा ही नहीं है।

पुरातात्विक इतिहास की ओर उद्गीव होकर देखा जाए तो तब भी नारी की उदारता, हृदयता, निष्ठा और लगन के संदर्शन होते हैं। मनुष्य जब-जब युद्धोन्मादी हुआ है, तब-तब नारी ने प्रकाश की अर्चनाजली संजोकर उसके उन्माद को समत्व के सरोवर में समो देने का प्रयास किया है।

महान विचारक साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म० भगवान महावीर की उसी परम्परा का जनमंगलकारी एक प्रकाश दीप हैं जो ५० वर्षों से जन-जन में अभेद भाव से महावीर के शासन का चेतना सन्देश देते हुए, भारत के इस छोर से उस छोर तक जनमंगल के दीप जोड़ती चली आ रही हैं।



जैन शासन में नारी का महत्व : श्री रतनमुनि जी | २८६



मन कहता है नारी को पूजा.....

—निर्भय हाथरसी

बाबा तुलसी की चौपाई,  
मन-मानस की सुनी सुनाई,  
“ढोल-गँवार-शूद्र-पशु-नारी”  
यह सब ताड़न के अधिकारी ।  
नारी को ताड़ना दिलाई—  
“नारि नरक की खान” बताई,  
नारी से बचकर रहना बाबा,  
चाहे जो दुख सहना बाबा ।

साधु-सन्त सभी कहते हैं, बचकर रहना नारी से—  
मन कहता है, नारी को पूजा, बचकर रहो अनारी से ।

नारी के गर्भ से जन्म लिया है हर जीवित संसारी ने,  
नारी को सम्मान दिया है, अजन्मे ने, अवतारी ने ।  
'नारी' जब तक चलती है तब तक नर-नारी सुख पाते हैं—  
जीवन भर जीवित रक्खा है, हर प्राणी को 'नारी' ने ।  
नारी छूटी, दूट गये सब रिश्ते दुनियादारी से—  
मन कहता है नारी को पूजा, बचकर रहो अनारी से ।



“पत्ना दाई” पुत्र की पीड़ा का हर पत्ना परखा देगी,  
माँ की ममता सीना चीरके चाहे जहाँ बता देगी ।  
पूत-कपूत भले हो जाये, मात कुमात नहीं होती—  
यदि विश्वास न हो तो ‘दिल्ली की इन्द्रानी’ समझा देगी ।  
नारी ने कितने कष्ट सहे हैं पूछो किसी महतारी से—  
मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से ।

इष्ट की प्राप्ति-तपस्या पूछो पार्वती-कन्यानों से,  
प्रियतम कैसे मिलते हैं पूछो मीरा प्रेम दिवानी से ।  
जन्म-मरण का कोई भी दर्द हो नारी बतला सकती है—  
प्रिय-बिछुड़न कैसा होता है, पूछो राधा-रानी से ।  
पति-सामोप्य कठिन है कितना, पूछो जनक दुलारी से—  
मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से ।

कारक है तो क्या कर सकती है पूछो काम की कारा से,  
तारक है तो पूछो किसी भी अहल्या, द्रोपदी, तारा से ।  
धारक है तो कितनी क्षमता है, धरती के धीरज से पूछो—  
उद्धारक है तो क्या है, यह पूछो “गंगा धारा” से ।  
संहारक है तो क्या है ? पूछो भोले भण्डारी से—  
मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से ।

संसारि माया-सरमाया को सब माया फैलाते हैं ।  
संन्यासी भी भक्ति भजन से माया मुक्त बनाते हैं ।  
मायावी की माया को माया से समझ न पाते हैं—  
साया माया की पाकिट काटे, उसको बुरा बताते हैं ?  
सारी-दुनिया काम चलाती है, जब पाकिटमारी से—  
मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से ।

संग कुसंग रहे तो सारे नर्क स्वयं नर में भर दे,  
संग अगर संतसंग बने तो सब भव-भय पीड़ा हर दे ।  
सावधान रहना माया से ओ मेरे मन संन्यासी—  
‘पर्स’ ने इतना कष्ट दिया, ‘स्पर्श’ न जाने क्या कर दे ।  
बीमारों की सेवा करिये, दूर रहो बीमारी से—  
मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से ।





“लक्ष्मी-नारायण” में पहिले “लक्ष्मी” को स्थान मिला,  
 “सीताराम” में “राधेश्याम” में, नारी को ही मान मिला।  
 “शंकर-पार्वती” में नारी पीछे है योग के कारण ही-  
 फिर भी गंगा शीश चढ़ी, जब योगी का वरदान मिला।  
 पावनता हो तो नारी ऊँची है बाघम्बर-धारी से-  
 मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से।



मृग तृष्णा में मत दौड़ो, माना नारी मृग-नैनी है,  
 तन से मस्त मयूरी है, चाहे मन से पिक बैनी है।  
 पुरुष प्रकृति से विमुख रहा तो कृति-आकृति कुछ भी न बनी-  
 नारि नरक की खान नहीं है, नारी स्वर्ग नसैनी है।  
 किसी ब्रह्मचारी से मत पूछो, पूछो संसारी से-  
 मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से।



यदि मन नहीं अनारी हो तो नारी के साथ जरूर रहो,  
 ताकि पूर्ति पूरक दोनों से मिल करके भरपूर रहो।  
 बहने वाले पार उतर गये, तैरने वाले डूब गये—  
 सुर-सरिता में बहते जाओ, अन्ध कूप से दूर रहो।  
 काम से ‘निर्भय’ रह सकते हो, बचकर काम-कटारी से-  
 मन कहता है नारी को पूजो, बचकर रहो अनारी से।



॥ • ॥



## प्राचीन जैन कथाओं में बिहार की जैन नारियाँ

—डा. रंजन सूरिदेव

बिहार की भूमि जैनतीर्थ के रूप में इतिहास प्रसिद्ध है; क्योंकि यह जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि, उपदेश-भूमि तथा निर्वाण भूमि रहा है। भगवान् वीर के अतिरिक्त अन्य इक्कीस तीर्थंकरों की निर्वाण-भूमि होने का गौरव भी इस बिहार को उपलब्ध है। जैनों की कतिपय प्रसिद्ध सिद्धभूमि (पारसनाथ, वैशाली, पावापुरी, राजगृह, मन्दार, चम्पापुरी, कमलदह, गुणात्रा आदि) इसी राज्य में विराजती हैं।

बिहार की राजधानी पाटलिपुत्र का जैन संस्कृति के साथ महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। विभिन्न जैन-कथाओं से ज्ञात होता है कि नगर का प्राचीन नाम कुसुमपुर है और भगवान् महावीर से भी हजारों वर्ष पहले से इस नगर का जैन संस्कृति से सम्बन्ध रहा है।

'स्यविरावली चरित्र' में इस नगर के नामकरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि भद्रपुर में पुष्प-केतु नाम का राजा रहता था। उसकी पत्नी का नाम पुष्पवती था। उन दोनों के पुष्पचूल नाम का पुत्र और पुष्पचूला नाम की पुत्री थी। जैनागम पर रानी की अविचल श्रद्धा थी, अतः उसने जैन श्राविका के व्रत ग्रहण किये। कुछ दिनों बाद वह राजभोग छोड़कर जैन श्रावकों के साथ गंगातटवर्ती 'प्रयाग' नामक तीर्थ में जाकर रहने लगी। इसी स्थान पर गंगा के गर्भ में किसी सत्पुत्र का शरीरान्त हुआ और उसके मस्तक को जल-जन्तु नदी तट पर घसीट लाये। किसी दिन दैवयोग से उस गलित मस्तक में पाटल का बीज गिर पड़ा और समय पर उससे एक पाटल-वृक्ष उत्पन्न हुआ। उस पाटल-वृक्ष को देखकर किसी ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि यह स्थान अनेक प्रकार की समृद्धियों से युक्त होगा। राजा उदायी को जब इसकी सूचना मिली, तब उसने पाटल-वृक्ष के पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण सीमा पर एक नगर बसाया, जो 'पाटलिपुत्र' कहलाया। उस समय यह नगर जैनधर्म के विस्तार-प्रसार का केन्द्र था।

जैन आचार्यों और जैन राजाओं के साथ जैन नारियों की कीर्तिगाथा भी बिहार से जुड़ी हुई है। भगवान् महावीर के संघ में छत्तीस हजार आधिकाएँ (भिक्षुणियाँ) और तीन लाख श्राविकाएँ (व्रतधारिणी गृहस्थ स्त्रियाँ) थीं, जिनमें अधिकांश बिहार की निवासिनी थीं। आधिकाओं में सर्वप्रमुख राजा चेटक की पुत्री राजकुमारी चन्दना थी। चन्दना की मामी यशस्वती की भी बड़ी प्रसिद्धि थी। चन्दना आजन्म-ब्रह्मचारिणी थी। एक दिन जब वह राजोद्यान में टहल रही थी तब एक

प्राचीन जैन कथाओं में बिहार की जैन नारियाँ : डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव | २६३



विद्याधर उसे चुराकर ले गया। किन्तु विद्याधर ने अपनी विद्याधरी के भय से शोकातुर चन्दना को जंगल में ही छोड़ दिया। वहाँ उसे एक भील ने प्राप्त किया। भील ने उसे अनेक कष्ट दिये, परन्तु वह सती-धर्म से विचलित नहीं हुई। यहाँ से वह कौशाम्बी के व्यापारी वृषभसेन नामक सेठ को प्राप्त हुई। इस सेठ के घर में ही बन्दिनी चन्दना ने महावीर को आहार-दान किया, जिसके प्रभाव से उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल गई। इसके बाद सेठ के घर से मुक्त होकर उसने भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की और आर्यिका-संघ की प्रधान बनी।

चन्दना की बहन ज्येष्ठा ने भी भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की थी। राजगृह के राजकोठारी की पुत्री भद्रा कुण्डलकेशा ने भी भगवान् से दीक्षा लेकर जैनधर्म और समाज की सेवा की थी। भद्रा कुण्डलकेशा का उपदेश इतना मधुर होता था कि हजारों-हजार की भीड़ एकत्र हो जाती थी और सभी श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे।

उपर्युक्त तीन लाख श्राविकाओं में चेलना, सुलसा आदि प्रधान हैं। श्रेणिक जैसे विधर्मी राजा को सन्मार्ग की ओर प्रवर्तित करने वाली रानी चेलना की गौरव-गाथा कल्प-कल्प तक गाई जाएगी। कहना न होगा कि बिहार में जैन आर्यिकाओं और श्राविकाओं की एक सक्रिय परम्परा रही है।

बिहार के प्रसिद्ध जैनतीर्थ चम्पापुर के विकास का पूर्ण उल्लेख 'औपपातिकसूत्र' में मिलता है। चम्पापुर (चम्पानगर) भागलपुर से पश्चिम चार मील की दूरी पर है। यहाँ १२वें तीर्थंकर भगवान् वासु-पूज्य ने गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण प्राप्त किये थे। अनाथ जीवों के नाथ, यानी उद्धारक भगवान् महावीर ने चम्पानगर में तीन वर्षावास बिताये थे, कदाचित् इसीलिए इसके पार्श्ववर्ती क्षेत्र का नाम 'नाथनगर' पड़ा गया। चम्पानगर के रेलवे-स्टेशन का नाम आज भी 'नाथनगर' है। पहले चम्पापुरी अंगदेश (प्राचीन मगध) की राजधानी थी। राजा कौणिक ने राजगृह से हटकर चम्पा को ही मगध की राजधानी बनाया था। भगवान् महावीर के आर्यिका-संघ की प्रधान उपर्युक्त चन्दना या चन्दनबाला यहाँ की राजपुत्री थी। चम्पा के राजा का नाम जितशत्रु था जिसकी रानी रक्तवती नाम की थी। श्वेताम्बर-आगम सूत्रों में बताया गया है कि भगवान् यहाँ के पूर्णभद्र चैत्य नामक प्रसिद्ध उद्यान में ठहरते थे। इस प्रकार, चम्पा का सम्बन्ध भगवान् महावीर से अधिक रहा है।

इस चम्पापुरी से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी अनेक कथाएँ जैनपुराणों, महापुराणों और कथाकोश में मिलती हैं, जिनमें विविध जैन नारीरत्न चित्रित हुए हैं। हम यहाँ दो-एक प्रस्तुत करेंगे।

### रानी पद्मावती

चम्पा में दधिवाहन नाम का राजा था। उसकी रानी पद्मावती नाम की थी। एक बार रानी गर्भवती हुई और उस हालत में उसे हाथी पर बैठकर उद्यान-भ्रमण की इच्छा हुई। इच्छा के अनुसार भ्रमण की तैयारी हुई। राजा-रानी एक हाथी पर चले। रास्ते में राजकीय हाथी विगड़ गया और दोनों को लेकर जंगल की ओर भागा। रानी के कहने पर राजा ने एक वरगद की डाल पकड़कर जान बचा ली, पर रानी को लेकर हाथी घोर जंगल में पहुँचा और वहाँ एक तालाब में घुसते ही रानी हाथी की पीठ से पानी में कूद गई और तैरकर बाहर निकल आई। जंगल से किसी प्रकार निकलकर रानी पद्मावती दन्तपुर पहुँची और वहाँ एक आर्यिक से दीक्षा लेकर तपस्या करने लगी।

२६४ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



रानी ने पहले तो अपने गर्भ को गुप्त रखा, किन्तु अन्त में वह मातृत्व की वेदना से अभिभूत हो गई। यथासमय रानी ने पुत्र प्रसव किया और वह अपने नवजात पुत्र को अपने नाम की अंगूठी देकर एक सुन्दर कम्बल में लपेटकर नीरव निशीथ में श्मशान में छोड़ आई। श्मशान-पालक ने उस पुत्र का पालन-पोषण किया और शरीर में खाज हो जाने के कारण उस बालक का नाम 'कर्कण्डू' रखा।

बड़ा होने पर सौभाग्यवश कर्कण्डू ने कंचनपुर का राज्य प्राप्त किया। एक बार कर्कण्डू और चम्पा के राजा दधिवाहन (अर्थात्, पिता-पुत्र) में किसी बात से मनोमालिन्य हो गया, फलतः दोनों आपस में जुझ पड़े। आर्यिका पद्मावती को जब यह समाचार मिला कि पिता-पुत्र में अ-जानकारी के कारण युद्ध हो रहा है, तब वह युद्ध-स्थल पर पहुँची और दोनों का परस्पर परिचय करा दिया। दधिवाहन ने अनावश्यक रक्तपात रुक जाने के कारण साध्वी पद्मावती को धन्यवाद दिया और स्वयं पत्नी का अनुकरण कर जैन श्रमण हो गया।

### रानी रोहिणी

इसी चम्पानगरी में राजा मघवा और रानी श्रीमती से श्रीपाल, गुणपाल, अवनिपाल, वसुपाल, श्रीधर, गुणधर, यशोधर और रणसिंह—ये आठ पुत्र और रोहिणी नाम की एक सुन्दर कन्या हुई। रोहिणी के पिछले जन्मों के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह अत्यन्त दुर्गन्ध वाली अशुभ कन्या थी तथा पाप के प्रभाव से इसे अनेक कष्ट उठाने पड़े थे। इसने 'रोहिणी व्रत' किया था, उसी के प्रभाव से इसे सुन्दर रूप, सुगन्ध और सम्भ्रान्त कुल प्राप्त हुआ। यह रोहिणी राजा अशोक की रानी बनी। कुछ दिनों के बाद राजा अशोक ने संसार से विरक्त हो स्वामी वासुपूज्य के समवशरण (आम सभा) में जिन-दीक्षा ग्राहण की और रोहिणी ने कमलश्री आर्यिका से व्रत लिया। अन्त में तपस्या करती हुई रोहिणी सोलहवें स्वर्ग में देवता हो गई।

### कन्या नागश्री

प्राचीन काल में चम्पापुरी में चन्द्रवाहन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम था लक्ष्मति। राजा के पुरोहित का नाम नागशर्मा था। नागशर्मा स्वभावतः मिथ्यादृष्टि था, इसलिए उसकी कन्या नागश्री उससे उदास रहती थी। एक बार नागश्री ने आचार्य सूर्यमित्र से पंचाणुव्रत ग्रहण कर लिये। परन्तु, पिता नागशर्मा ने उसी आचार्य को वह व्रत लौटा देने की आज्ञा दी।

जब नागशर्मा अपनी पुत्री नागश्री को साथ लेकर मुनि सूर्यमित्र के पास जा रहा था, तब मार्ग में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और अनुचित संचय करने वालों को दण्ड पाते देखकर कन्या ने पिता से अनुरोध किया कि पिताजी, जब पाप करने वालों को दण्ड मिलता है, तब मुझे फिर क्यों इस व्रत को छोड़ने का आदेश देते हैं? नागशर्मा नागश्री के इस प्रश्न से अतिशय प्रभावित हुआ और उसने पुत्री को व्रत रखने का आदेश तो दिया ही, स्वयं भी व्रती हो गया।

इस प्रकार, आध्यात्मिक और आधिभौतिक उत्कर्ष से समृद्ध चम्पानगरी प्राचीन जैन नारी-रत्नों की गौरव-रेखाओं से आवेष्टित उस काल की धर्म प्रभावना से प्रबुद्ध नगरों के स्वर्णिम इतिहास की परिचायिका है।

यहाँ बिहार के उन जैन नारी-रत्नों के भी पुण्य नाम स्मरणीय हैं। जिन्होंने तीर्थंकरों को जन्म देकर अपना मातृत्व सफल किया। प्रथम तो चम्पापुरी के ही बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य हैं, जिनकी माता

प्राचीन जैन कथाओं में बिहार की जैन नारियाँ : डॉ० श्रीरंजन सुरिदेव | २६५





का नाम जया था। द्वितीय, मिथिला के उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लि भगवती थीं जिनकी माता का नाम प्रजावती था। तृतीय राजगृह के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ हैं, जिनकी माता श्यामा नाम की थीं। चतुर्थ मिथिला के ही इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ हैं, जिनकी जननी विपुला नाम की थी। पंचम कुण्डपुर या कुण्डग्राम (वैशाली) के चौबीसवें जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं, जिनकी माता का नाम त्रिशला या प्रियकारिणी था। सचमुच, इन मातृ रत्नों से बिहार का गौरव सदा उद्गीव रहेगा।

जैन कथा-साहित्य के अध्येताओं से यह अविदित नहीं है कि धर्मसेवा और जनसेवा में जैन नारियों का अपना विशिष्ट स्थान है। भारतीय इतिहास से भी यह बात स्पष्ट है कि पुराकालीन नारियाँ विदुषी, धर्मपरायण एवं कर्तव्यनिष्ठ होती थीं। तत्कालीन नारियों के 'अबला' की संज्ञा प्राप्त करने का उदाहरण कदाचित् ही मिलता है। निर्भय, वीर तथा अपने समाज और सतीत्व के संरक्षण में सावधान एवं सदा सतर्क और सतत् प्रबुद्ध नारियों के अनेक उदाहरण पुराणों में मिलते हैं। यह सर्वविदित है कि नारियों में निसर्गतः सेवा करने की अपूर्व क्षमता होती है। कथा-ग्रन्थों में ऐसे कितने ही दिव्य भव्य उदाहरण भरे-पड़े हैं कि नारियों ने अपने पातिव्रत्य और गृहिणीत्व की मर्यादा अक्षुण्ण रखते हुए राज्य के संरक्षण में अद्भुत कार्य किया है। साथ ही, अवसर आ पड़ने पर युद्ध में भी सम्मिलित होकर शत्रुओं के दाँत खट्टे किये हैं।

वैदिक परम्परा में भी मैत्रेयी, कात्यायनी, गार्गी, गौतमी जैसी महीयसी महिलाओं के दिव्य दर्शन होते हैं। इनके विमल आचरण और विस्मयजनक वैदुष्य की बात आज भी जन मानस को प्रेरित करती है।

श्रमण-संस्कृति के काल में नारियों का अभूतपूर्व उत्थान हुआ, जिसका मूल कारण है भगवान् महावीर का नारियों के प्रति उदार दृष्टिकोण। इसी का फल है कि श्रमण-संस्कृति में अनेकानेक नारियों ने आत्म साधना एवं धर्म साधना के साथ ही जन-जागरण के मार्ग में सदैव अग्रगति होने का प्रयास किया है और इसमें वे सफल भी हुई हैं।

प्रख्यात जैनाचार्य जिनसेन (१११० ई०) के 'आदि पुराण' ग्रन्थ से यह पता चलता है कि उस समय नारियों का सहयोग सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक—सभी क्षेत्रों में प्राप्त था। जैनकाल में नारी केवल भोगैषणा की पूर्ति का साधन नहीं थी, वरन् उसे भी स्वतन्त्र रूप से विकसित और फलवित होने की समुचित सुत्रिधाएँ प्राप्त थीं। कन्या, गृहिणी, जननी और विधवा सभी अपने स्वार्थ का सदुपयोग करने के साथ ही परार्थ में भी तत्पर थीं। आचार्य जिनसेन के अनुसार जैन नारियाँ इसे अपना मूलमन्त्र मानती थीं :

तदेव ननु पाण्डित्यं यत्संसारारत्समुद्धरेत् ।

अर्थात् संसार से उद्धार पा लेना ही पण्डिताई या चतुराई है। वस्तुतः, जैनकालीन नारियाँ आदर्श की कोटि में परिगणनीय थीं। □ □

[लेख में वर्णित अनेक घटनाएँ व तथ्य श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध तथ्यों से भिन्न हैं, विद्वान् लेखक उनके सन्दर्भ देते तो पाठक की ज्ञान-पिपासा तृप्त हो जाती। समाधान हेतु जिज्ञासु लेखक सम्पर्क कर सकते हैं।

पता—श्रीरंजन सूरिदेव, पी० एन० सिन्हा कॉलोनी भिखना पहाड़ी, पटना ६, —सम्पादक

२६—ठछखण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियाँ का योगदान



## जै ना ग म और नारी

—जैन साध्वी मधुबाला 'सुमन'  
(शास्त्री, साहित्यरत्न)

प्राचीन भरतक्षेत्र से अभी वर्तमान भरतक्षेत्र तक आर्य नारी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जितना योगदान जैनागमों में पुरुष वर्ग ने दिया, उतना ही योगदान नारियों ने दिया। महापुरुषों को जन्म देने वाली, रत्न कुक्षि को धारण करने वाली, नारीरत्न का जैनागमों में काफी ऊँचा स्थान है और भविष्य में भी रहेगा। नारी वह कलाकार है, जो पत्थर तक को पूजित बना दे। हर प्राणी सबसे पहले नारी की गोद में खेलता है, बालक्रीड़ाएँ करता है। उसको हरदम माँ का वात्सल्य चाहिए, और वह वात्सल्य उसे हरदम मिलता रहता है। उस अबोध अवस्था में नारी (माँ) उसको हर प्रकार से भौतिक, व्यावहारिक और धार्मिक शिक्षा-दीक्षा देती रहती है। बचपन में प्यार-वात्सल्य के साथ दी गई सद्शिक्षा पूरी जिंदगी में महत्त्वपूर्ण साबित होती है। इसके लिए वीर अभिमन्यु, मदालसा आदि का उदाहरण काफी है। जब महान् पुरुष गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएँ गर्भ का पालन समुचित रूप से करती हैं। वे माताएँ सदैव इस बात का ध्यान रखती हैं कि मेरे मन में बुरे विचार नहीं आयें। अगर बुरे विचार आ भी गये तो तत्काल झटक कर सावधान बन जाती है।

**वैष्णव परम्परा और जैनधर्म में नारी**—जहाँ वैष्णव परम्परा में नारी को वेद मंत्र सुनने का अधिकार नहीं था। नारी को धार्मिक क्षेत्र में भी बंदिश थी। नारी नरक की खान कहकर ऋषि-मुनियों ने पुकारा। हर तरह से नारी को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वहाँ प्रभु महावीर ने नारी को बराबर का स्थान दिया। नारी को नर की खान साबित कर दिया। अन्य मतों में नारी के लिए किसी प्रकार का सिद्धान्त नहीं था, वहाँ प्रभु महावीर ने नारी के लिए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जैनागमों में चाहे शूद्र हो, वैश्य हो सबको बराबर धर्म सुनने का अधिकार दिया। नारी को गृहस्थधर्म एवं अनगारधर्म में प्रविष्ट होने का मौका दिया। नारी को प्रवर्तिनी बनने का अधिकार दिया। ज्ञान, ध्यान, तपस्या और कर्म तोड़ने का बराबर उपक्रम बताया। नारी भी केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर सकती है। नारी को पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, ब्रह्मचर्य, बन्ध, यतिधर्म, तैतीस असातना, प्रायश्चित्त, आलोचना, बारह व्रत, संधारा, संलेखना, श्रावक के २१ गुण, व्रत, प्रत्याख्यान, विहार चर्या, सभी समान रूप से

जैनागम और नारी : जैन साध्वी मधुबाला 'सुमन' | २६७



व्यवस्था की गई। जैनागम पढ़ने का अधिकार दिया। नारी को सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्र के हितों को ऊपर उठाने की शिक्षा-दीक्षा दी। जैनागमों में जितनी हड़ता से संयम पुरुष वर्ग ने पाला, उतनी हड़ता से नारी ने भी पाला।

**चौबीस तीर्थकरों के समय की नारी**—सबसे पहले अवसर्पिणी काल में मरुदेवी माता का नाम आता है जिसने सभी जीवों को मुक्ति जाने का संदेश दिया। उनके बाद ब्राह्मी, सुन्दरी का नाम आता है। उन महासतियों ने गृहस्थ अवस्था के अन्दर भी ब्राह्मी लिपि सीखकर, नारी जाति के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उस लिपि का प्रचलन अबाध गति से चला आ रहा है। धार्मिक क्षेत्र में सबसे पहले जैन साध्वी होने का मौका मिला। अपने भाई श्री वाहुवली को अभिमान हाथी से नीचे उतारकर, उन्हें सद्मार्ग बताया। महासती सीता, कुन्ती, द्रौपदी, दमयन्ती, राजमती आदि सभी महासतियों ने जैनधर्म को गौरवान्वित किया। उत्तराध्ययन के २२ वें अध्ययन में राजमती ने रहनेमि को संयम में स्थिर किया।

**गाथा**—गोवालो भण्डवालो वा, जहा तद्द्ववर्णस्सरो।

एवं अणिस्सरोत्तपि, सामण्णस्स भविस्सति ॥ ४६ ॥

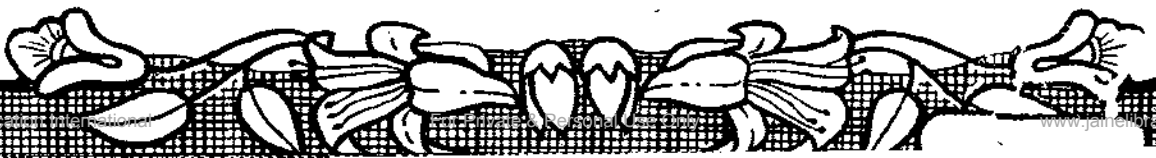
**अर्थात्**—जैसे गोपाल और भाण्डपाल उस द्रव्य के—गायों और किराने आदि के स्वामी नहीं होते हैं, उसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा। ऐसे अनेकों प्रकार से उपदेश देकर संयम में स्थिर बनाये, और मोक्ष प्राप्त किया। १४ वें अध्ययन में महारानी कमलावती ने महाराजा इक्षुकार को धर्मोपदेश देकर भोगों से हटाकर संयम अंगीकार करवाया और मोक्ष प्राप्त किया।

**गाथा**—नागोव्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहि वए।

एयं पत्थं महाराय ! उसुयारि ति मे सुयं ॥ ४८ ॥

**अर्थात्**—बंधन को तोड़कर जैसे हाथी अपने निवास स्थान (वन) में चला जाता है वैसे ही हमें भी अपने वास्तविक स्थान (मोक्ष) में चलना चाहिए। हे महाराज इक्षुकार ! यही एक मात्र श्रेयस्कर है, ऐसा मैंने ज्ञानियों से सुना है। ये उद्गार महारानी कमलावती के हैं। श्रीमदन्तकृद्शांग सूत्र के पाँचवें वर्ग में दस अध्ययन फरमाये हैं—(१) पद्मावती (२) गौरी (३) गांधारी (४) लक्ष्मणा (५) मुसीमा (६) जाम्बवती (७) सत्यभामा (८) रुविमणी (९) मूलश्री और (१०) मूलदत्ता और आठवें वर्ग में १० अध्ययन हैं—(१) काली (२) सुकाली (३) महाकाली (४) कृष्णा (५) सुकृष्णा (६) महाकृष्णा (७) वीरकृष्णा (८) रामकृष्णा (९) पितृसेनकृष्णा और (१०) महासेनकृष्णा। इन २० महासतियों ने संसार अवस्था में भी जैनधर्म को हड़ता से पाला और दीक्षित होने पर भी अजर अमर पर प्राप्त किया। मुलसा नामक श्राविका ने समकित में हड़ रहने का परिचय दिया। सुभद्रा, अंजना, मंजुला, सुरसुन्दरी, कनक सुन्दरी, लीलावती, झणकारा, देवानन्दा, त्रिशला, भृगावती, शिवा, चेलणा, प्रभावती, पद्मावती, सुज्येष्ठा इत्यादि महासतियों (नारी) ने जैनागम में चार चाँद लगा दिये। कलावती ने पुरुष द्वारा दिये दुःखों को हँसते-हँसते पार किया। महासती रत्नवती शादी होने के बाद भी अखण्ड ब्रह्मचारिणी रही। महासती मदनरेखा ने असह्य कष्ट उठाते हुए भी पति को नवकार मन्त्र का शरणा देकर सद्गति प्राप्त करवाई। प्रभु महात्रीर के गृहस्थावस्था की पुत्री प्रियदर्शना ने भी जैन शासन की प्रभावना की। अरणक मुनि ममतामयी माता का उपदेश सुनकर पुनः संयममार्ग में प्रवृत्त हुए। अंग्रेजी लेखक विक्टर ह्यूगो ने लिखा है—

२६८ | छठा खण्ड : नारी समाज के विकास में जैन साध्वियों का योगदान



Man have sight, woman have insight.

अर्थात्—मनुष्य को दृष्टि प्राप्त होती है पर नारी को दिव्य दृष्टि। जितनी धार्मिक भावना नारी में होती है, उतनी पुरुषों में नहीं।

मध्य काल की आर्य नारी—भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद भी, मध्य काल की नारियों का नाम श्रद्धा से लिया जाता है। चांपराज हाड़ा की पत्नी रानी सोन ने दिल्ली के दरबार में भारतीय नारी की गौरव परम्परा के लिए, एक नाटकीय ढंग से नृत्य करके झूठ का पर्दा फाश किया। आखिर मुगल बादशाह को मानना पड़ा कि वास्तव में भारतीय नारी चरित्र दृढ़ता में प्रख्यात है। जैसलमेर की राजकुमारी रत्नवती ने बादशाह औरंगजेब को करारी चोट पहुँचा कर विजय प्राप्त की, आखिर हार मानकर सन्धि करके दुगुना राज्य प्रदान किया। पन्नाधाय ने अपने लड़के का बलिदान कर उदयसिंह को बचाया। कुंभलमेर दुर्ग के किलेदार आशाशाह देपुरा ने माता की फटकार सुनकर पूरे आत्म विश्वास के साथ बालक उदयसिंह की रक्षा की।

All the reasonings of man are not worth one sentiment of woman. (बालटेयर)

अर्थात्—पुरुष के सारे तर्क स्त्री के एक भाव के समक्ष अयोग्य साबित होते हैं। धर्ममय स्त्री की भावना इतनी तीव्र होती है कि सारे घर को धर्ममय वातावरण में ढाल देती है। जोधपुरनरेश महाराज भीमसिंह जी को बादशाह ने दिल्ली के दरबार में बुलाया और पूछा—महाराज भीमसिंह जी! आपको यह कमधज की पदवी किसने दी? भीमसिंह बोले—इसे तो हमारे पूर्वजों ने, हमारी हिम्मत ने—हमारी शूरवीरता ने दी है। जिसका सिर शत्रु के प्रहार से कट जाय और धड़ लड़ता रहे उसे कमधज कहते हैं। बादशाह—कोई वीर हो तो हाजिर करो अन्यथा पदवी का त्याग करो। एक महीने की मौहलत लेकर जोधपुर पधारे। सभी से इस बात की चर्चा की, परन्तु कोई भी तैयार नहीं हुआ। इधर जाति का मेड़तियाँ चाँदावत कुड़की सरदार का लड़का सुमेरसिंह बूंदी के सरदार की लड़की के साथ शादी करके उसी वेश में जोधपुर आये। महाराज को मुजरा किया। महाराज ने इस बात के लिए कहा। वह तैयार हो गया। घर जाकर माता-पिता की आज्ञा से पत्नी को लेकर दिल्ली आये। सभी को कहा मेरा सिर उड़ा दो मगर किसी की हिम्मत नहीं हुई। कुंवराणी ने पति का सिर उड़ा दिया और बोली—वाह राजपूती! तीन बार कहा और धड़ दीड़ने लगा। जिधर पहुँच जाय उधर सफाया होने लगा। भगदड़ मच गई। आखिर गुली का छीटा देकर धड़ को ठन्डा किया। पति के साथ कुंवराणी भी सती हो गई। अगर नारी सुमेर सिंह को हिम्मत नहीं बँधाती तो यह वीरतापूर्ण कार्य असंभव था। सती जसमा ने अपने प्राण दे दिये मगर शील पर आँच नहीं आने दी। मध्यकाल की नारियों में वीरता, चरित्रनिष्ठा कूट-कूट कर भरी हुई होती थी। वे अपनी सन्तानों को भी चरित्रनिष्ठ, ईमानदार, सत्य आदि बातें सिखाती थीं। मौका मिलने पर आन-बान पर न्यौछावर हो जाती थीं।

विद्वानों की दृष्टि में नारी—महात्मा गाँधी की माता ने हर तरह से बचपन में शिक्षा दी थी तभी आगे जाकर वे राष्ट्रपिता कहलाये एवं देश को आजाद कराने में अग्रणी रहे। वीर माता ने भगतसिंह को वीर बनाया एवं हँसते-हँसते फाँसी पर लटक गये, अपनी वेदना को भूलकर भारत माता को आजाद कराने में अन्त समय तक जुड़े रहे। नारी एक वह अलौकिक शक्ति है जो अपने गुणों से सभी को आनन्द एवं प्रकाश से आलोकित करती है। वर्तमान में भी नारी ने राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

जैनागम और नारी : जैन साध्वी मधुबाला 'सुमन' | २६६



महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। ऊँचे-ऊँचे पदों पर नारी आसीन है। डाक्टर, सर्जन, वकील, पुलिस, न्यायाधीश आदि अनेकों पदों पर आसीन है। अनेकों विद्वानों ने नारी को गरिमाय माना है।

स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है, “नारियों की अव्यवस्था में सुधार न होने तक विश्व के कल्याण का कोई मार्ग नहीं है। किसी एक पक्षी का एक पंख के सहारे उड़ना नितांत असम्भव है।” आगे और लिखते हैं “नारी उत्थान के लिए सचमुच ही कुछ करना चाहते हो तो केवल इतना करो कि उसे हर क्षेत्र में विकसित होने का अवसर दो, उसके लिए उसे उत्साहित करो और पूरी तत्परता से उसका सहयोग करो। अपनी भूलों का सुधार भर कर लो। नारी अपना पक्ष सम्भालने में सक्षम है।” मध्यकाल से थोड़े वर्षों पहले तक नारी की बड़ी उपेक्षा थी। उसे विदुषी नहीं बनने देते थे। सिर्फ घर का काम करवाने में ही इतिश्री समझ लेते थे।

इसके लिए विद्याभूषण ने लिखा है कि, “लोग यह सिद्धान्त पुरुषों में तो लागू करना चाहते हैं किन्तु स्त्रियों के प्रति एक दो व्यक्ति नहीं सारा का सारा समाज इस सिद्धान्त का उल्लंघन कर रहा है। यह एकांगी चिंतन कब तक चलेगा? मानवी चेतना, उसका विवेक इसे कब तक सहन कर सकेगा?” मध्य काल में पर्दा-प्रथा बहुत थी, स्त्री के नख तक नहीं दिख सकते थे। उस समय स्त्रियों पर बहुत अत्याचार हो रहे थे। समय देखकर पर्दा-प्रथा लागू की थी। लेकिन बाद में भी वह ज्यों की त्यों बनी रही।

इसके लिए स्वामी राम ने अन्तर् वेदना के साथ लिखा, “पर्दे से यदि शील का रक्षण होता है तो फिर उसे पुरुष के लिए भी प्रयुक्त क्यों नहीं करते?” नारी में बुद्धि पुरुष से भी ज्यादा होती है, मगर पुरुषों ने उसे बुद्धू समझ लिया। उसे कहीं आने-जाने की इजाजत नहीं थी। हर वक्त उसे चारदीवारी में बन्द रहना पड़ता था।

इसी से दुःखी होकर कार्लाइल ने लिखा है कि “जिन देवियों के थोड़े से अंश का अनुदान पाकर पुरुष सबल बना है उन्हें दुर्बल कहना, जो अपनी अजस्र अनुदान परम्परा के कारण देवी कहलाती हैं, उन्हें स्वावलम्बन के अयोग्य ठहराना बुद्धि का दिवालियापन नहीं तो और क्या है?” पहले जमाने में पुत्रियों का जन्म होते ही मार डालते थे। ज्यादा पुत्रियों का होना अभिशाप समझा जाता था, लेकिन जो काम पुत्रियाँ करके दिखातीं वह काम पुत्र को करने में मुश्किल थी। नारी रत्न-कुक्षि है, यह बात कोई-कोई ही समझ पाता था। सबको समझना नामुमकिन था। अतः पुत्र से भी पुत्री को ज्यादा महत्त्व देते हुए महर्षि दयानन्द ने कहा, “भारतवर्ष का धर्म उसके पुत्रों से नहीं, सुपुत्रियों के प्रताप से ही स्थिर है। भारतीय देवियों ने यदि अपना धर्म छोड़ दिया होता तो देश कब का नष्ट हो चुका होता”।

अतः हम कुल मिलाकर कह सकते हैं कि जैनागमों और अन्य साहित्य में नारी का उच्च स्थान है। दान, शील, तप, भाव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय, तप वगैरह में, देश, राष्ट्र, और धार्मिक क्षेत्र में गौरवमय है।



स प्त म ख ण्ड

---

भारतीय संस्कृति में  
योग





## कुण्डलिनीयोग : एक विश्लेषण

—युवाचार्य महाप्रभु

हमारे जानने का पहला या मूल स्रोत है—इन्द्रियाँ। ये हमारे शरीर में हैं, पृथक् नहीं हैं। हमने शरीर के कुछ ऐसे चुम्बकीय क्षेत्र बना लिये जिनके माध्यम से हम बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। वे पाँच माध्यम हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं।

जो इस स्थूल शरीर से परे है, वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वहाँ इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। किन्तु हमारे शरीर में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनके विषय में चिन्तन और अनुभव करते-करते हम अपनी बुद्धि और चिद् शक्ति के द्वारा इन्द्रियों की सीमा से परे जाकर सूक्ष्म शरीर की सीमा में प्रविष्ट हो गये। उनमें एक तत्त्व है प्राण-विद्युत्। अग्निदीपन, पाचन, शरीर का सौष्ठव और लावण्य, ओज—ये जितनी आग्नेय क्रियाएँ हैं, ये सारी सप्त धातुमय इस शरीर की क्रियाएँ नहीं हैं। फिर प्रश्न हुआ कि इन क्रियाओं का संचालक कौन है? खोज हुई। ज्ञात हुआ कि इस स्थूल शरीर के भीतर तेज का एक शरीर और है, वह है विद्युत् शरीर, तैजस शरीर। वह शरीर सूक्ष्म है। वही इस स्थूल शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करता है। उस सूक्ष्म शरीर में से विद्युत् का प्रवाह आ रहा है और उस विद्युत्-प्रवाह से सब कुछ संचालित हो रहा है। उस सूक्ष्म शरीर को प्राण शरीर भी कहा जाता है। यह शरीर प्राण का विकिरण करता है और उसी प्राण-शक्ति से क्रियाशीलता आती है।

इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं। किन्तु यदि उनमें प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो वे अपना कार्य नहीं कर सकतीं। मन का अपना काम है। किन्तु प्राण-शक्ति के योग के अभाव में वह भी कुछ नहीं कर सकता। स्वर यन्त्र अपना काम करता है, पर प्राण-शक्ति के अभाव में वह निष्क्रिय हो जाता है। हमारा रेस्पेरेटरी-सिस्टम भी प्राण-शक्ति के आधार पर चलता है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया प्राण-शक्ति के बिना नहीं हो सकती।

श्वास, मन, इन्द्रियाँ, भाषा, आहार और विचार—ये सब प्राण-शक्ति के ऋणी हैं। इससे ही ये सब संचालित होते हैं, क्रियाशील होते हैं। प्राण शक्ति सूक्ष्म शरीर से निःसृत है। जहाँ से प्राणशक्ति का प्रवाह आता है वह सूक्ष्म शरीर है—तैजस शरीर।

कुण्डलिनीयोग : एक विश्लेषण : युवाचार्य महाप्रभु | ३७१



यह शरीर प्राणिमात्र के साथ निरन्तर रहता है। एक प्राणी मृत्यु के उपरान्त दूसरे जन्म में जाता है। उस समय अन्तराल गति में भी तैजस शरीर उसके साथ रहता है। कर्म-शरीर सब शरीरों का मूल है। उसके बाद दूसरा स्थान तैजस शरीर का है। यह सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित होता है, इसलिए चर्म-चक्षु से दृश्य नहीं होता। यह स्वाभाविक भी होता है और तपस्या द्वारा उपलब्ध भी होता है। यह तप द्वारा उपलब्ध तैजस शरीर ही तेजोलेश्या है। इसे तेजोलब्धि भी कहा जाता है। स्वाभाविक तैजस शरीर सब प्राणियों में होता है। तपस्या से उपलब्ध होने वाला तैजस शरीर सबमें नहीं होता। वह तपस्या से उपलब्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तपस्या से तैजस-शरीर की क्षमता बढ़ जाती है। स्वाभाविक तैजस शरीर स्थूल शरीर से बाहर नहीं निकलता। तपोजनित तैजस शरीर शरीर के बाहर निकल सकता है। उसमें अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है। उसके बाहर निकलने की प्रक्रिया का नाम तैजस समुद्घात है। जब वह किसी पर अनुग्रह करने के लिए बाहर निकलता है तब उसका वर्ण हंस की भांति सफेद होता है। वह तपस्वी के दाएँ कंधे से निकलता है। उसकी आकृति सौम्य होती है। वह लक्ष्य का हित साधन कर (रोग आदि का उपशमन कर) फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

जब वह किसी का निग्रह करने के लिए बाहर निकलता है तब उसका वर्ण सिन्दूर जैसा लाल होता है। वह तपस्वी के दाएँ कंधे से निकलता है। उसकी आकृति रौद्र होती है। वह लक्ष्य का विनाश, दाह कर फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

अनुग्रह करने वाली तेजोलेश्या को "शीत" और निग्रह करने वाली तेजोलेश्या को "उष्ण" कहा जाता है। शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रहार को निष्फल बना देती है।

तेजोलेश्या अनुपयोग काल में संक्षिप्त और उपयोग काल में विपुल हो जाती है। विपुल अवस्था में वह सूर्य बिम्ब के समान दुर्दर्श होती है। वह इतनी चकाचौंध पैदा करती है कि मनुष्य उसे खुली आँखों से देख नहीं सकता। तेजोलेश्या का प्रयोग करने वाला अपनी तैजस-शक्ति को बाहर निकालता है तब वह महाज्वाला के रूप में विकराल हो जाती है।

तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर में रहता है। फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र हैं—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठ भाग। मन और शरीर के बीच सबसे बड़ा सम्बन्ध सेतु मस्तिष्क है। उससे तैजस शक्ति (प्राण शक्ति या विद्युत् शक्ति) निकलकर शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करती है। नाभि के पृष्ठ भाग में खाए हुए आहार का प्राण के रूप में परिवर्तन होता है। अतः शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठ भाग—ये दोनों तेजोलेश्या के महत्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं। यह तेजोलेश्या एक शक्ति है। इसे हम नहीं देख पाते। इसके सहायक परमाणु-पुद्गल सूक्ष्म दृष्टि से देखे जा सकते हैं। ध्यान करने वालों को उनका यत्किञ्चित् आभास होता रहता है।

तेजोलेश्या प्राणधारा है। हमारे शरीर में अनेक प्राणधाराएँ हैं। इन्द्रियों की अपनी प्राणधारा है। मन, शरीर और वाणी की अपनी प्राणधारा है। प्रवास-प्रश्वास और जीवनी-शक्ति की भी स्वतन्त्र प्राणधाराएँ हैं। हमारे चैतन्य का तैजस शरीर के साथ योग होता है और प्राण-शक्ति बन जाती है। सभी प्राणधाराओं का मूल तैजस शरीर है। इन प्राणधाराओं के आधार पर शरीर की क्रियाओं और विद्युत् आकर्षण के सम्बन्ध का अध्ययन किया जा सकता है।

एक प्रश्न होता है कि वह तैजस शरीर किसके द्वारा संचालित है ? वह प्राणधारा को प्रवाहित अपने आप कर रहा है या किसी के द्वारा प्रेरित होकर कर रहा है ? यदि अपने आप कर रहा है तो तैजस शरीर जैसा मनुष्य में है वैसा पशु में भी है, पक्षियों में भी है और छोटे-से-छोटे प्राणी में भी है। एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें तैजस-शरीर, सूक्ष्म शरीर न हो। वनस्पति में भी तैजस शरीर है, प्राण-विद्युत् है। वनस्पति में भी ओरा होता है। आभामण्डल होता है। वह आभामण्डल इस स्थूल शरीर से निष्पन्न नहीं है। आभामण्डल (ओरा) उस सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर का विकिरण है। वनस्पति का अपना आभामण्डल होता है। हर प्राणी का अपना आभामण्डल होता है। मनुष्य का भी अपना आभामण्डल होता है। प्रश्न होता है यह रश्मियों का विकिरण क्यों होता है ? यदि तैजस शरीर का कार्य केवल विकिरण करना ही हो तो मनुष्य के साथ यह क्यों, कि वह इतना ज्ञानी, इतना शक्तिशाली और इतना विकसित तथा एक अन्य प्राणी इतना अविकसित क्यों ? यह सब तैजस शरीर का कार्य नहीं है। तैजस शरीर के पीछे भी एक प्रेरणा है—सूक्ष्म शरीर की। वह सूक्ष्म शरीर है कर्म शरीर। जिस प्रकार के हमारे अर्जित कर्म और संस्कार होते हैं, उनका जैसा स्पंदन होता है, उन स्पंदनों से स्पंदित होकर तैजस शरीर अपना विकिरण करता है। तैजस शरीर जिस प्रकार की प्राणधारा प्रवाहित करता है, वैसी प्रवृत्ति स्थूल शरीर में हो जाती है।

तीन शरीरों की एक श्रृंखला है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मतर शरीर। स्थूल शरीर यह दृश्य शरीर है। सूक्ष्म शरीर है तैजस शरीर और सूक्ष्मतर है कर्म शरीर, कार्मण शरीर। कुछ लोगों ने इसका विस्तार कर सात शरीर भी माने हैं। विस्तार और भी हो सकता है। किन्तु इन तीन शरीरों की एक व्यवस्थित श्रृंखला है—स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर। इन तीनों शरीरों के माध्यम से सारी प्रवृत्तियों का संचालन होता है। प्राणी की मूलभूत उपलब्धियाँ तीन हैं—चेतना (ज्ञान), शक्ति और आनन्द। चेतना का तारतम्य—अविकास और विकास, शक्ति का तारतम्य—अविकास और विकास, आनन्द का तारतम्य—अविकास और विकास। यह सारा इन शरीरों के माध्यम से होता है। कर्म शरीर में अभिव्यक्ति के जितने स्पंदन होते हैं उतने ही स्पंदन संक्रान्त होते हैं तैजस शरीर में और वे स्पंदन फिर संक्रान्त होते हैं स्थूल में। यहाँ वे पूरे प्रकट होते हैं।

तीनों शरीरों का सामंजस्य है। तीनों एकसूत्रता में जुड़े हुए हैं और अपना-अपना कार्य संपादित कर रहे हैं।

कुण्डलिनी-जागरण का प्रश्न शरीरों के साथ जुड़ा हुआ है। तीन शरीरों में जो मध्य का शरीर है, तैजस शरीर (सूक्ष्म शरीर), उसकी एक क्रिया का नाम है 'तेजोलब्धि'। हठयोग तन्त्र में इसे 'कुण्डलिनी' कहा गया है। कहीं-कहीं इसे 'चित् शक्ति' कहा जाता है। जैन-साधना पद्धति में इसे 'तेजोलब्धि' कहा जाता है। नाम का अन्तर है। कुण्डलिनी के अनेक नाम हैं। हठयोग में इसके पर्यायवाची नाम तीस गिनाये गये हैं। उनमें एक नाम है 'महापथ'। जैन साहित्य में 'महापथ' का प्रयोग मिलता है। कुण्डलिनी के अनेक नाम हैं। भिन्न-भिन्न साधना-पद्धतियों में यह भिन्न-भिन्न नाम से पहचानी गयी है। यदि इसके स्वरूप वर्णन में की गयी अतिशयोक्तियों को हटाकर इसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो इतना ही फलित निकलेगा कि यह हमारी विशिष्ट प्राणशक्ति है। प्राणशक्तिविशेष का विकास ही कुण्डलिनी का जागरण है। प्राणशक्ति के अतिरिक्त, तैजस शरीर के

कुण्डलिनीयोग : एक विश्लेषण : युवाचार्य महाप्रज्ञ | ३०३

विकिरणों के अतिरिक्त कुण्डलिनी का अस्तित्व वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध नहीं हो सकता। मध्यकालीन साहित्य में अतिशयोक्तियों और रूपकों का उल्लेख अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। उनकी भाषा के गहन जंगल में से मूल को खोज निकालना कठिन-सा हो गया है। आज के चिन्तक उन सब अतिशयोक्तियों और रूपकों के चक्रव्यूह को तोड़कर यथार्थ को पकड़ने का प्रयास करते हैं। उनके प्रयास में कुण्डलिनी का अस्तित्व प्रमाणित होता है, पर होता है वह सामान्य शक्ति के विस्फोट के रूप में। वह कुछ ऐसा आश्चर्यकारी तथ्य नहीं है, जिसे अमुक योगी ही प्राप्त कर सकते हैं या जिसे अमुक-अमुक योगियों ने ही प्राप्त किया है। यह सर्वसाधारण है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसकी कुण्डलिनी जागृत न हो। वनस्पति के जीवों की भी कुण्डलिनी जागृत है। हर प्राणी की कुण्डलिनी जागृत होती है। यदि वह जागृत न हो तो वह चेतन प्राणी नहीं हो सकता। वह अचेतन हो सकता है। जैन आगम ग्रन्थों में कहा गया— चैतन्य (कुण्डलिनी) का अनन्तवां भाग सदा जागृत रहता है। यदि यह भाग भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए, चेतन अचेतन हो जाए। चेतन और अचेतन के बीच यही तो एक भेद-रेखा है।

प्रत्येक प्राणी की कुण्डलिनी यानी तैजस शक्ति जागृत रहती है। अन्तर होता है मात्रा का। कोई व्यक्ति विशिष्ट साधना के द्वारा अपनी इस तैजस शक्ति को विकसित कर लेता है और किसी व्यक्ति को अनायास ही गुरु का आशीर्वाद मिल जाता है तो साधना में तीव्रता आती है और कुण्डलिनी का अधिक विकास हो जाता है। यह अनुभव आगामी यात्रा में सहयोगी बन सकता है। वनता है यह जरूरी नहीं है। गुरु की कृपा ही क्यों, मैं मानता हूँ कि जिस व्यक्ति का तैजस शरीर जागृत है, उस व्यक्ति के सान्निध्य में जाने से भी दूसरे व्यक्ति की कुण्डलिनी पूर्ण जागृत हो जाती है। गुरु कृपा का इतना-सा लाभ होता है कि एक बार जब अनुभव हो जाता है, फिर चाहे वह अनुभव क्षणिक ही क्यों न हो, तो वह आगे के अनुभव को जगाने के लिए प्रेरक बन जाता है। इतना लाभ अवश्य होता है। यह अपने आप में बहुत मूल्यवान् है। यही शक्तिपात है। पर जैसे-जैसे शिष्य, गुरु या उस व्यक्ति से दूर जाएगा, वह शक्ति धीरे-धीरे कम होती जाएगी। आखिर ली हुई शक्ति कितने समय तक टिक सकती है। अपनी शक्ति को जगाना पड़ता है। वही स्थायी बनी रह सकती है। अपनी शक्ति को जगा लेने पर भी अवरोध आ सकते हैं। किसी व्यक्ति ने उस जागृत शक्ति से अनुपयुक्त काम कर डाला, तो वह शक्ति चली जाती है, क्षीण हो जाती है।

प्रेक्षाध्यान से भी कुण्डलिनी जाग सकती है। उसको जगाने के अनेक मार्ग हैं, अनेक उपाय हैं। संगीत के माध्यम से भी उसे जगाया जा सकता है। संगीत एक सशक्त माध्यम है कुण्डलिनी के जागरण का। व्यायाम और तपस्या से भी वह जाग जाती है। भक्ति, प्राणायाम, व्यायाम, उपवास, संगीत, ध्यान आदि अनेक साधन हैं, जिनके माध्यम से कुण्डलिनी जागती है। ऐसा भी होता है कि पूर्व संस्कारों की प्रबलता से भी कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और वह आकस्मिक होता है। व्यक्ति कुछ भी प्रयत्न या साधना नहीं कर रहा है, पर एक दिन उसे लगता है कि उसकी प्राणशक्ति जाग गयी। इसलिए कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है कि अमुक के द्वारा ही कुण्डलिनी जागती है और अमुक के द्वारा नहीं जागती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति गिरा, मस्तिष्क पर गहरा आघात लगा और कुण्डलिनी जाग गयी। उसकी अतीन्द्रिय चेतना जाग गयी। कुण्डलिनी के जागने के अनेक कारण हैं। औषधियों के द्वारा भी कुण्डलिनी जागृत होती है। अमुक-अमुक वनस्पतियों के प्रयोग से कुण्डलिनी के जागरण में सहयोग मिलता है। तिब्बत में तीसरे नेत्र के उद्घाटन में वनस्पतियों का प्रयोग भी किया



जाता था। पहले शल्य क्रिया करते, फिर वनौषधियों का प्रयोग करते थे। औषधियों का महत्व सभी परम्पराओं में मान्य रहा है। प्रसिद्ध सूक्त है—अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः—मणियों, मन्त्रों और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। मन्त्रों के द्वारा भी कुण्डलिनी को जगाया जा सकता है तथा विविध मणियों, रत्नों के विकिरणों के द्वारा और औषधियों के द्वारा भी उसे जागृत किया जा सकता है।

तेजोलेश्या के विकास का कोई एक ही स्रोत नहीं है। उसका विकास अनेक स्रोतों से किया जा सकता है। संयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति, उपासना, तपस्या आदि-आदि उसके विकास के स्रोत हैं। इन विकास-स्रोतों की पूरी जानकारी लिखित रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। यह जानकारी मौखिक रूप में आचार्य शिष्य को स्वयं देते थे।

गोशालक ने महावीर ने पूछा—“भंते ! तेजोलेश्या का विकास कैसे हो सकता है ?” महावीर ने इसके उत्तर में उसे तेजोलेश्या के एक विकास स्रोत का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा—“जो साधक निरन्तर दो-दो उपवास करता है, पारणे के दिन मुट्ठी भर उड़द या मूंग खाता है और एक चुल्हू पानी पीता है, भुजाओं को ऊँची कर सूर्य की आतापना लेता है, वह छह महीनों के भीतर ही तेजोलेश्या को विकसित कर लेता है।”

तेजोलेश्या के तीन विकास-स्रोत हैं—

१. आतापना—सूर्य के ताप को सहना।
२. क्षांति-क्षमा—समर्थ होते हुए भी क्रोध-निग्रहपूर्वक अप्रिय व्यवहार को सहन करना।
३. जल-रहित तपस्या करना।

इनमें केवल “क्षांति क्षमा” नया है। शेष दो उसी विधि के अंग हैं जो विधि महावीर ने गोशालक को सिखाई थी।

कुण्डलिनी को जगाने के अनेक हेतु हैं। उनमें प्रेक्षाध्यान भी एक सशक्त माध्यम बनता है कुण्डलिनी को जगाने में, तैजस शक्ति को जगाने में। दीर्घ श्वास प्रेक्षा की प्रक्रिया कुण्डलिनी के जागरण की प्रक्रिया है। यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन एक घण्टा दीर्घश्वास प्रेक्षा का अभ्यास करता है तो कुण्डलिनी जागरण का यह शक्तिशाली माध्यम बनता है। अन्तर्प्राप्ति भी उसके जागरण का रास्ता है। सुषुम्ना के मार्ग से चित्त को शक्ति केन्द्र तक और ज्ञान केन्द्र से शक्ति केन्द्र तक ले जाना-लाना भी कुण्डलिनी को जागृत करता है।

तीसरा माध्यम है—शरीर प्रेक्षा। शरीर-दर्शन का अभ्यास जब पुष्ट होता है तब तैजस शक्ति का जागरण होता है।

चौथा माध्यम है—चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। चैतन्य केन्द्रों को देखने का अर्थ है कुण्डलिनी के सारे मार्गों को साफ कर देना।

चैतन्य केन्द्रों के सारे अवरोध समाप्त हो जाने पर कुण्डलिनी जागरण सहज हो जाता है।

पाँचवां माध्यम है—लेश्याध्यान। यह सबसे शक्तिशाली साधन है कुण्डलिनी को जगाने का। रंग हमारे भावतन्त्र को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। रंगों का सम्बन्ध चित्त के साथ गहरा होता है। जब उस प्रक्रिया से साधक गुजरता है तब शक्ति का सहज जागरण होता है।

कुण्डलिनीयोग : एक विश्लेषण : युवाचार्य महाप्रज्ञ | ३०५



प्रेक्षाध्यान की पूरी प्रक्रिया कुण्डलिनी के जागरण की प्रक्रिया है।

कुण्डलिनी-जागरण के लाभ भी हैं और अलाभ भी हैं। कुछ लोगों ने बिना किसी संरक्षण के स्वतः कुण्डलिनी जागरण की दिशा में पादन्यास किया। पूरी युक्ति हस्तगत न होने के कारण उनका मस्तिष्क विकल्पित हो गया। इसके अतिरिक्त और अनेक खतरे सामने आते हैं। प्रश्न होता है— क्या इन खतरों से बचा जा सकता है? बचने के उपाय क्या हैं?

शक्ति हो और खतरा न हो, यह कल्पना नहीं की जा सकती। जिसमें तारने की शक्ति होती है, उसमें मारने की भी शक्ति होती है। जिसमें मारने की शक्ति होती है, उसमें तारने की भी शक्ति होती है। शक्ति है तो तारना और मारना दोनों साथ-साथ चलते हैं। कुण्डलिनी के साथ खतरे भी जुड़े हुए हैं। विद्युत लाभदायी है तो खतरनाक भी है। विद्युत के खतरों से सभी परिचित हैं। बिजली के तार खुले पड़े हैं। कोई छुएगा तो पहले झटका लगेगा, छूने वाला गिर जाएगा या गहरा शाँट लगा तो मर भी जायेगा, खतरा निश्चित है।

सोचें, प्राण-शक्ति का प्रवाह ऊपर जा रहा है। उसकी ऊर्ध्व यात्रा हो रही है। प्राण का प्रवाह सीधा जाना चाहिए सुषुम्ना से, पर किसी कारणवश वह चला गया पिंगला में तो गर्मी इतनी बढ़ जाएगी कि साधक सहन नहीं कर पाएगा। वह बीमार बन जाएगा और जीवन भर उस बीमारी को उसे भोगना पड़ेगा। उसकी चिकित्सा असम्भव हो जाएगी। प्राणशक्ति एक साथ इतनी जाग गयी कि साधक में उसे सहन करने की क्षमता नहीं है तो वह पागल हो जाएगा। ऐसा होता है। एक साथ होने वाला शक्ति का जागरण अनिष्टकारी होता है। इसीलिए कहा जाता है कि तैजस शक्ति का विकास करना चाहे, कुण्डलिनी शक्ति का विकास करना चाहे तो उसे धीरे-धीरे विकसित करना चाहिए। इस विकास की प्रक्रिया के अनेक अंग हैं। हठयोग में “कायसिद्धि” को साधना का प्रारम्भिक बिन्दु माना है। यह बहुत महत्वपूर्ण प्रतिपादन है। जैन परम्परा में तपस्या और आहार शुद्धि को साधना का महत्वपूर्ण अंग माना है। यह इसीलिए कि तपस्या और आहारशुद्धि से कायसिद्धि होती है, शरीर सध जाता है। जब कायसिद्धि हो जाती है तब शक्ति जागरण के सारे खतरे समाप्त हो जाते हैं। शरीर को दृढ़ और मजबूत बनाये बिना शक्तियों को अवतरित करने का प्रयत्न करना बहुत हानिकारक है। कमजोर शरीर में यदि शक्ति का स्रोत फूटता है तो शरीर चकनाचूर हो जाता है, नष्ट हो जाता है। वह भीतर-ही-भीतर भष्मीसात् हो जाता है। नाड़ी-संस्थान को शक्तिशाली बनाये बिना शक्ति-जागरण का प्रयत्न करना नादाना है, ब्रज मूर्खता है। नाड़ी-शोधन कुण्डलिनी जागरण का महत्वपूर्ण घटक है। नाड़ी शोधन की निश्चित प्रक्रिया है। नाड़ी-शोधन का अर्थ शरीर की नाड़ियों का शोधन नहीं है। उसका अर्थ है— प्राण प्रवाह की जो नालिकाएँ हैं, जो मार्ग हैं, उनका शोधन करना। बीच में आने वाले अवरोधों को साफ करना। नाड़ी शोधन के बिना शक्ति का जागरण बहुत खतरनाक होता है। शक्ति जाग गयी, पर अग्ने का रास्ता अवरुद्ध है, साफ नहीं है तो वह शक्ति अपना रास्ता बनाने के लिए विस्फोट करेगी, रास्ता मोड़ेगी। उस विस्फोट से भयंकर स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

इन सभी खतरों से बचने के लिए दो उपाय हैं—अनुभवी व्यक्ति का मार्गदर्शन और धैर्य। जो भी शक्ति-जागरण के महत्वपूर्ण उपक्रम हैं, उनका अभ्यास स्वतः नहीं करना चाहिए। किसी अनुभवी व्यक्ति के परामर्श और मार्गदर्शन में ही उस साधना को प्रारम्भ करना चाहिए। यह इसलिए कि वह अनुभवी व्यक्ति यदा-कदा होने वाले आकस्मिक खतरों से उसे बचाकर उसका मार्ग प्रशस्त करता है।



साधना की सफलता का आदि-बिन्दु भी धैर्य है और अन्तिम बिन्दु भी धैर्य है। धैर्य के अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं होता। आज का आदमी अधैर्य के दौर से गुजर रहा है। वह इतना अधीर है कि किसी भी स्थिति में वह धैर्य नहीं रख पाता। बीमार है। डॉक्टर दवाई देता है। एक घण्टे में यदि आराम नहीं होता है तो डॉक्टर बदल देता है। दिन में पाँच डॉक्टर बदल देता है। बड़ी विकट स्थिति है। साधना में अधैर्य हानिप्रद होता है। वह किसी साधना को सफल नहीं होने देता।

कुण्डलिनी जागरण की इस प्रक्रिया में धैर्य की बात बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें साधना-काल लम्बा होता है। उस दीर्घकाल को धैर्य से ही पूरा किया जा सकता है। धीरे-धीरे साधना परिपक्व होती है और जब तैजस जागरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तब सारे खतरे टल जाते हैं।

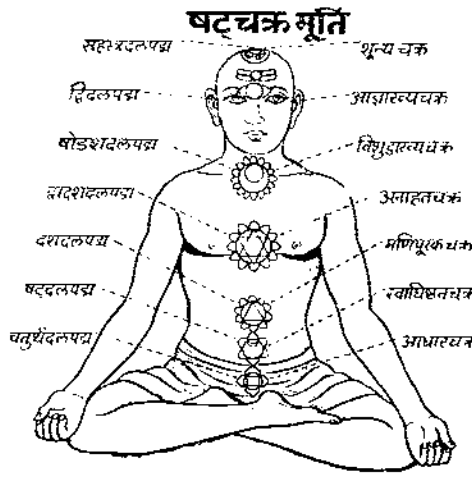
तेजोलेश्या के निग्रह-अनुग्रह स्वरूप के विकास के स्रोतों की यह संक्षिप्त जानकारी है। उसका जो आनन्दात्मक स्वरूप है उसके लिए विकास-स्रोत भावात्मक तेजोलेश्या की अवस्था में होने वाली चित्त-वृत्तियाँ हैं। चित्त-वृत्तियों की निर्मलता के बिना तेजोलेश्या के विकास का प्रयत्न खतरों को निमंत्रित करने का प्रयत्न है। वे खतरे शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक तीनों प्रकार के हो सकते हैं।

जो साधना के द्वारा तेजोलेश्या को प्राप्त कर लेता है वह सहज आनन्द की अनुभूति में चला जाता है। इस अवस्था में विषय-त्रासना और आकांक्षा की सहज निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए इस अवस्था को "सुखासिका" (सुख में रहना) कहा जाता है। विशिष्ट ध्यान योग की साधना करने वाला एक वर्ष में इतनी तेजोलेश्या को उपलब्ध होता है कि उससे उत्कृष्टतम भौतिक सुखों की अनुभूति अतिक्रान्त हो जाती है। उस साधक को इतना सहज सुख प्राप्त होता है जो किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नहीं हो सकता।

योग की उपयोगिता जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे उस विषय में जिज्ञासाएँ भी बढ़ती जा रही हैं। योग की चर्चा में कुण्डलिनी का सर्वोपरि महत्त्व है। बहुत लोग पूछते हैं कि जैन योग में कुण्डलिनी सम्मत है या नहीं? यदि वह एक वास्तविकता है तो फिर कोई भी योग-परम्परा उसे अस्वीकृत कैसे कर सकती है? वह कोई सैद्धान्तिक मान्यता नहीं है, किन्तु एक यथार्थ शक्ति है। उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न नहीं हो सकता।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में कुण्डलिनी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। वह तन्त्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुण्डलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग में कुण्डलिनी का जो वर्णन है उसकी तुलना तेजोलेश्या से की जा सकती है। अग्नि ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।





## प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र साधना

—डा. म. म. ब्रह्मिन्द्र अवस्थी

योगशास्त्र की अधिकांश शाखाओं—हठयोग, लययोग एवं तन्त्रयोग आदि में कुण्डलिनी साधना की विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है।<sup>१</sup> हठयोग के ग्रन्थों में इसे सत्रसे अधिक महत्त्व दिया गया है और वहाँ इसे लमस्त साधनाओं में श्रेष्ठ तथा मोक्ष द्वार की कुञ्जी कहा गया है। इस प्रकरण में कुण्डलिनी क्या है? उसके जागरण का तात्पर्य क्या है? तथा कुण्डलिनी जागरण के लिए साधना किस प्रकार की जाती है? इन तीन प्रश्नों पर ही विचार किया जा रहा है।

कुण्डलिनी के लिए योगशास्त्र के विविध ग्रन्थों में प्रयोग किये गये नामों में कुण्डली और कुटिलाङ्गी नाम भी हैं, जिनसे विदित है कि इसका भौतिक स्वरूप वक्र अर्थात् टेढ़ा-मेढ़ा है, शायद इसीलिए इसके लिए कई स्थानों पर भुजङ्गी और सर्पिणी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।<sup>२</sup> कुछ स्थानों में इसके लिए तँजसी-शक्ति, जीव शक्ति और ईश्वरी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है,<sup>३</sup> जिससे हमें संकेत मिलता है कि यह एक तँजस शक्ति है, जो शक्ति जीव की स्वयं की अपनी शक्ति है, किन्हीं कारणों से शक्ति स्वभावतः उद्बुद्ध नहीं रहती, किन्तु इसे यदि जागृत किया जा सके तो साधक में अनन्त सामर्थ्य (ईश्वर भाव) आ जाता है।

कुण्डलिनी का जागरण क्योंकि अनन्त शक्तियों के साथ-साथ मोक्ष के द्वार तक पहुँचाने वाला है, अतः स्वाभाविक है कि इसके जागरण का उपाय, इसे जागृत करने वाली साधना बहुत सहज नहीं हो। इसी कारण इस साधना को सदा साधकों ने गुरु परम्परा से ही प्राप्त किया है, और गुरुजनों ने अधिकारी शिष्य को ही यह विद्या देनी चाही है। सम्भवतः यही कारण है कि इस साधना का सुस्पष्ट वर्णन किसी ग्रन्थ में नहीं दिया गया है।

१. हठ प्रदीपिका, चेरण्डसंहिता, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, मण्डनब्राह्मणोपनिषद्, तन्त्रसागर, ज्ञानार्णवतन्त्र, शिव संहिता आदि। २. हठप्रदीपिका ३. १०४, योगकुण्डल्युपनिषद्। ३. वही ३. १०८-१०९।

कुण्डलिनी के स्थान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि मूलाधार चक्र से ऊपर और स्वाधिष्ठान चक्र के नीचे कुण्डलिनी का स्थान है। यह स्थान कन्द स्थान के अतिनिकट है। योनिस्थान के ठीक पीछे स्वयंभू लिङ्ग की स्थिति है, इस स्वयंभू लिङ्ग में ही सार्धत्रिवलयकृति में अर्थात् स्वयंभू लिङ्ग को साढ़े तीन बार लपेटे हुए कुण्डलिनी स्थित रहती है।

स्मरणीय है कि अधुनिक शरीर विज्ञान अथवा चिकित्सा शास्त्र के विद्वानों को शरीर के इस भाग में ऐसे किसी स्थूल अवयव के होने की सूचना प्राप्त नहीं हुई है जिसका चित्र खींचा जा सके, अथवा किसी भी यंत्र के द्वारा उसे देखा और परखा जा सके। किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से सम्बद्ध शरीर विज्ञान यह निर्विवादरूप से स्वीकार करता है कि मानव के शरीर में चेतनाकेन्द्र यद्यपि मस्तिष्क अवश्य है तथापि चेतना से सम्बद्ध समस्त ज्ञान और चेष्टाओं का संचालन मस्तिष्क से ही न होकर अनेक बार सुषुम्ना के द्वारा भी होता है, और यह सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड (Spinal cord) के मध्य में स्थित है। साथ ही वहाँ यह भी स्वीकृत है कि पूर्ण चेतना युक्त मानव के भी मस्तिष्क और सुषुम्ना का केवल कुछ अंश ही क्रियाशील रहता है, सम्पूर्ण नहीं। जिस मनुष्य के मस्तिष्क और सुषुम्ना के चेतना केन्द्र अर्थात् समझने और क्रिया करने के नियामक केन्द्र का जितना अधिक अंश क्रियाशील होता है, वह मनुष्य उसी अनुपात में समझने और कुछ करने में सक्षम हो पाता है।

इसी प्रसंग में योगशास्त्र में वर्णित नाड़ी तन्त्र को भी स्मरण कर लेना आवश्यक होगा, जिसमें शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों के होने की चर्चा करने के बाद सुषुम्ना ईडा पिङ्गला क्रूह कूर्म यशस्विनी त्रयस्विनी आदि चौदह अथवा दस को प्रमुख बताकर उसमें भी प्रथम तीन अर्थात् सुषुम्ना ईडा और पिङ्गला को प्रधान कहा गया है। जिनमें अलग-अलग समय में स्थूल या सूक्ष्म प्राणों का संचार होता है। इनमें से ईडा और पिङ्गला क्रमशः बायें और दाहिने नासिका विवर से कन्द स्थान तक स्थित मानी जाती हैं। सुषुम्ना कन्द के मध्य से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड के बीच से होती हुई भ्रूमध्य (आज्ञा चक्र) तक जाती है, जहाँ उसका अन्तिम छोर मस्तिष्क से मिलता है। इस अन्तिम छोर को योग परम्परा की भाषा में ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी का दूसरा नाम ब्रह्मनाड़ी भी है। इस नाड़ी का प्रारम्भ यद्यपि कन्द (नाड़ी कन्द) के मध्य से है, किन्तु मूलाधार चक्र से पास एक ब्रह्मग्रन्थि स्वीकार की जाती है। इस ग्रन्थि का भेदन मूलाधार चक्र के जागरण के साथ होता है। इस नाड़ी में दो अन्य ग्रन्थियाँ भी योग परम्परा में स्वीकार की गयी हैं विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि। विष्णुग्रन्थि हृदय के पास मानी जाती है और रुद्रग्रन्थि भ्रूमध्य से ऊपर। अनाहतचक्र के जागरण से विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है और आज्ञाचक्र के जागरण से रुद्रग्रन्थि का भेदन। रुद्रग्रन्थि के भेदन के बाद योगी के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। वह परमपद प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में वह रुद्र विष्णु अथवा परब्रह्म के सदृश हो जाता है।

योगशास्त्र की परम्परा में एक बात यह भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि सामान्यरूप से प्राण ईडा या पिङ्गला नाड़ी में बारी-बारी से गतिशील रहते हैं; किन्तु योगी साधक उन्हें सुषुम्ना में साधना के द्वारा प्रवाहित कर लेता है। उसके अनन्तर ही अध्यात्म के क्षेत्र में उसका प्रवेश होता है, उसका चित्त एकाग्र हो पाता है। साधना के क्रम में प्राणायाम साधना के द्वारा ब्रह्मनाड़ी के मुख, जो मूलाधार चक्र के पास स्थित तथा कफ आदि अवरोधक तत्त्वों द्वारा रुंधा हुआ है, कफ आदि अवरोध हटने पर खुल जाता





है, तब उसमें प्राणों का प्रवेश हो जाता है, केवलकुम्भक का यहीं से प्रारम्भ होता है, इस स्थिति का ही वर्णन कहीं ब्रह्मग्रन्थिभेदन के नाम से और कहीं कुण्डलिनी जागरण के नाम से किया गया है।

योग परम्परा में प्रायः सभी सम्बद्ध ग्रन्थों में प्राप्त उपर्युक्त निर्विवाद वर्णन से निम्नलिखित तथ्य प्रगट होते हैं।

१. सुषुम्ना नाड़ी का आरम्भ कन्द स्थान के मध्य से है और आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रार पद्म में मिलकर यह समाप्त होती है।

२. कन्द स्थान मूलाधार चक्र से लगभग दो तीन अंगुल ऊपर और नाभि के पास अथवा नाभि के नीचे है।

३. सुषुम्ना नाड़ी में कन्द स्थान से निकलने के बाद मूलाधार चक्र के पास पहली ब्रह्मग्रन्थि, हृदय (अनाहतचक्र) के पास द्वितीय विष्णुग्रन्थि तथा भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) से ऊपर तृतीय रुद्रग्रन्थि है, इसके बाद ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना सहस्रार पद्म या मस्तिष्क में मिल जाती है।

४. सुषुम्ना नाड़ी चेतना का केन्द्र स्थान है अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में चेतना का संचार सुषुम्ना द्वारा ही होता है।

५. सुषुम्ना में ही मूलाधार से आरम्भ होकर आज्ञा चक्र तक (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा) इन छह चक्रों को स्थिति है। ये सभी चक्र चेतना के विशिष्ट केन्द्र हैं, जो प्रायः जागृत या क्रियाशील नहीं रहते, साधना द्वारा इन्हें क्रियाशील (जागृत) किया जाता है।

६. प्राण अथवा प्राणशक्ति का सुषुम्ना में निर्वाध प्रवाह अर्थात् ऊपर आज्ञाचक्र से भी ऊपर सहस्रारपद्म तक जाना योग साधना की उच्च परिणति है।

७. किन्तु प्राण इस नाड़ी में सामान्यतया प्रवाहित नहीं हो पाते। ईडा अथवा पिङ्गला से कन्द स्थान में सुषुम्ना में प्रवेश तो करते हैं, किन्तु प्रथमग्रन्थि अर्थात् ब्रह्मग्रन्थि, जिसे प्रथम अवरोध कह सकते हैं, के कफ आदि से बन्द रहने के कारण आगे बढ़ नहीं पाते, वहीं रुक जाते हैं।

८. सुषुम्ना नाड़ी तीन खण्डों में विभाजित है : (१) कन्द से मूलाधार चक्र या ब्रह्मग्रन्थि तक (२) ब्रह्मग्रन्थि से विष्णुग्रन्थि तक तथा (३) विष्णुग्रन्थि से रुद्रग्रन्थि तक।

९. प्राणायाम साधना द्वारा प्राण अपान का मिलन होने पर और उससे अग्नि के अत्यन्त तीव्र होने पर अवरोधक (अर्गल) तत्त्व हट जाते हैं, और उसके बाद उसमें प्राणों का प्रवाह प्रारम्भ होता है।

योग साधना के ग्रन्थों में एक बात और कही गयी है, प्राणायाम साधना के द्वारा सुषुम्ना में प्राणों का प्रवेश होने पर जब केवलकुम्भक प्रारम्भ होता है तब चित्त और प्राण क्रमशः ऊपर उठने लगते हैं, उस स्थिति में क्रमशः पृथिवी धारणा, जल धारणा, आग्नेय धारणा, वायवी धारणा, आकाश धारणा सम्पन्न की जाती है। इन धारणाओं में क्रमशः प्राण और चित्त मूलाधार आदि प्रत्येक चक्रों पर स्थित होते हैं। आज्ञा चक्र से ऊपर प्राण और चित्त के पहुँच कर स्थिर होने को ध्यान कहते हैं, और उससे भी ऊपर सहस्रार पद्म में प्राण और चित्त की स्थिति को समाधि कहते हैं। ये सभी क्रमशः उत्तरोत्तर स्थितियाँ हैं।

कुण्डलिनी के सम्बन्ध में भी यह तथ्य बिना किसी सन्देह के स्वीकार किया जाता है कि कुण्डलिनी स्वयंभू लिङ्ग में साढ़े तीन बार लिपट कर स्थित है। सुषुम्ना का मुख और इसका मुख पास पास है, अथवा सुषुम्ना का मुख इसके मुख में बन्द है। साधना के द्वारा सुषुम्ना का मुख खुल जाने पर कुण्डलिनी उसमें प्रवेश कर जाती है।

इन उपर्युक्त कथनों में दोनों में ही पूर्णतया समानता है, मानों दोनों कथनों में भाषा भेद या शब्दों के भेद से एक ही बात कही गयी है। उदाहरणार्थ—

१. कन्द स्थान से मूलाधार (ब्रह्मग्रन्थि) चक्र तक सुषुम्ना का प्रथम अंश है जिसमें प्राण प्रतिश्वास प्रशवास में संचरित होते हैं, तथा कन्द और मूलाधार के बीच स्वयंभूलिङ्ग स्थित है, जिसमें कुण्डलिनी लिपटी हुई है।

२. सुषुम्ना का मुख खुलने पर कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रवेश करती है, तथा साधना द्वारा सुषुम्ना-मुख से कफ आदि अवरोधक पदार्थ हट जाने पर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं।

३. केवलकुम्भक की साधना से क्रमशः ग्रन्थिभेदनपूर्वक प्राण सुषुम्ना में ऊपर को उठते हैं तथा एक बार सुषुम्ना में कुण्डलिनी का प्रवेश होने पर कुण्डलिनी सुषुम्ना में क्रमशः ऊपर की ओर उठती जाती है।

४. प्राण स्वयं शक्ति स्वरूप है तथा कुण्डलिनी शक्ति स्वरूप अथवा प्राणशक्ति रूप है।

५. सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश के अनन्तर केवलकुम्भक की सिद्धि हो जाना प्राण साधना की सर्वोत्तम सिद्धि है। इस साधना में उत्तरोत्तर पंचभूत धारणा (पृथिवीधारणा, जलधारणा, आग्नेयधारणा, वायवीधारणा, एवं आकाशधारणा) के सिद्ध होने पर प्राण आज्ञा चक्र में प्रवेश करते हैं। यहाँ ध्यान की सिद्धि होती है, और उसके बाद प्राणों का जो ऊर्ध्वगमन है, वह इस साधना की अन्तिम समाधि सिद्धि है। यहीं योगी को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। जिसके बाद कुछ शेष नहीं रहता। दूसरी ओर कुण्डलिनी भी क्रमशः एक-एक चक्रों के क्रमशः जागरण और ग्रन्थिभेदन के साथ आज्ञाचक्र के बाद सहस्रार पद्म में पहुँचती है, जो इस क्रम में सर्वोच्च सिद्धि है। इससे मोक्ष का द्वार अनावृत हो जाता है। इसीलिए कुण्डलिनी सिद्धि को मोक्ष द्वार की कुंजी कहा है।

इस प्रकार स्वरूप, साधना क्रम, सिद्धि क्रम और परिणाम (फल) के पूर्ण साम्य को देखते हुए इस निर्णय पर पहुँचना अनुचित न होगा कि कुण्डलिनी जागरण और प्राणों का सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर उत्तरोत्तर ऊपर को पहुँचते हुए ब्रह्मरन्ध्र द्वारा ऊपर तक पहुँच जाना, जिसे केवलकुम्भक की सिद्धि कहते हैं, परस्पर भिन्न नहीं बल्कि अभिन्न हैं, एक हैं। इस एक ही स्थिति को दत्तात्रेय योगशास्त्र योगतत्त्वोपनिषद् आदि ग्रन्थों में केवलकुम्भक की सिद्धि के रूप में वर्णन किया है। इसके विपरीत तन्त्र से प्रभावित अथवा सिद्ध या नाथ परम्परा से प्रभावित ग्रन्थों में (जहाँ शिव को योग का आदि उपदेष्टा कहा गया है) इस स्थिति को ही कुण्डलिनी जागरण के रूप में वर्णित किया गया है। स्मरणीय है कि दत्तात्रेय योगशास्त्र और योगतत्त्वोपनिषद् आदि में भगवान् विष्णु के अवतार दत्तात्रेय को दूसरे शब्दों में भगवान् विष्णु को योग के उपदेष्टा के रूप में निबद्ध किया गया है। जिन ग्रन्थों में केवलकुम्भक की साधना की विधि और क्रम वर्णित है, उनमें कुण्डलिनी जागरण की बात नहीं है। और जिनमें कुण्डलिनी जागरण की चर्चा हुई है उनमें केवलकुम्भक की चर्चा नहीं मिलती।

प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र साधना : डॉ० म० म० ब्रह्ममित्र अवस्थी । ३११



फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राणशक्ति और कुण्डलिनी शक्ति एक ही शक्ति के दो नाम हैं। कुण्डलिनी का जागरण और प्राणों का सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश और उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगमन परस्पर अभिन्न हैं। इनमें केवल शब्दभेद है, भाषाभेद है, वस्तुभेद अर्थात् साधना और सिद्धि में कोई भेद नहीं है।

यहाँ इस एक तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि प्राणशक्ति का अर्थ श्वास-प्रश्वास के अन्दर और बाहर प्रविष्ट होने वाली वायु नहीं है। प्राणशक्ति से निरन्तर सम्बद्ध होने के कारण इसे भी कभी-कभी प्राण कह लेते हैं, ये बाह्य प्राण हैं, जो प्राणशक्ति से भिन्न हैं। इनको ही यदि प्राण मानेंगे तो इन्हें बाहर निकालना कौन चाहेगा, क्योंकि कोई नहीं चाहता कि प्राण बाहर निकलें। यदि यह बाहरी श्वास-प्रश्वास ही प्राण होते, तब तो प्राण निकल जाने पर इन्हें ही भरकर और पुनः न निकलने देने के लिए कृत्रिम उपायों से मार्ग निरोध करके किसी को प्राणवान् अर्थात् जीवित किया जा सकता। किन्तु ऐसा नहीं है। इसका कारण है कि प्राणशक्ति और बाहरी वायु जिसे हम श्वास-प्रश्वास द्वारा अन्दर लेते हैं, परस्पर भिन्न हैं, दो चीजें हैं। एक नहीं हैं। इसीलिए प्राणों का, प्राणशक्ति के बाह्य अभिव्यक्तरूप का, विभाजन करते हुए स्थूल वायु अथवा स्थूल प्राणों का विभाजन 'प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान', इन पाँच नामों में किया जाता है, तथा इनके स्थानों और कार्यों का पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन किया जाता है। इन पाँच स्थूल प्राणों के अतिरिक्त 'नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय' पाँच अन्य स्थूल प्राण भी हैं, किन्तु ये प्राण अपान की अपेक्षा सूक्ष्म हैं, अथवा इनकी क्रिया का बोध सर्वसामान्य को कम होता है। महत्त्व इन सभी का समान है, कोई इनमें प्रधान या अप्रधान नहीं है, कार्य सबके भिन्न-भिन्न हैं। इन दसों प्राणों में श्वास-प्रश्वास में आने-जाने वाला वायु क्योंकि अत्यन्त स्थूल है, अथवा यों कहें कि इसका बोध, इसकी गति का बोध, सबको निरन्तर होता रहता है, अतः प्राणशक्ति के रूप में इसे भी प्राण कह दिया गया है।

इस मूल प्राण को प्राणशक्ति अथवा शक्ति कह सकते हैं। इसे ही कुण्डलिनी के पर्यायवाची शब्दों में शक्ति, जीवशक्ति और ईश्वरी आदि नामों से स्मरण किया जाता है। यह प्राण ही चेतना का मूल आधार है। सम्पूर्ण बोध (ज्ञान ग्रहण) और क्रिया का संचालन इसके द्वारा ही होता है। इसकी महिमा का वर्णन करते हुए ही प्रश्न उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है 'तस्मिन् उत्क्रामति इतरे सर्व एव उत्क्रामन्ते' [प्रश्न २.४]।

इस प्राणशक्ति का, चेतना शक्ति का, मुख्य केन्द्र मस्तिष्क है। इसके उपकेन्द्र सुषुम्ना नाड़ी में हैं। सुषुम्ना नाड़ी के तीन खण्ड हैं। यदि मस्तिष्क को भी कार्य के आधार पर एक कहना चाहें तो चार खण्ड हैं (१) मस्तिष्क इसका सबसे प्रशस्त और प्रधान भाग है, इसे योगशास्त्र की भाषा में सहास्रार पद्म कहा जाता है। (२) उससे नीचे आज्ञाचक्र से अनाहत चक्र का अंश द्वितीय भाग है। इन दोनों के संयोग स्थल को रुद्रग्रन्थि कहते हैं। विद्युत् तकनीक की भाषा में चाहें तो इसे एक प्यूज कह सकते हैं। इस भाग के ऊपरी अंश से अवबोधक चेतना और प्रेरक चेतना का नियमन होता है जिसे आज्ञाचक्र कहते हैं। शरीर में यह स्थल भ्रूमध्य में माना गया है। इससे कुछ नीचे कण्ठ के पास विशुद्धचक्र है, जहाँ से अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान और क्रिया चेतना का नियमन होता है। यहाँ आकाश तत्त्व की प्रधानता है। आकाश के गुण शब्द की उत्पत्ति और उसके ग्रहण का नियमन केन्द्र यहीं पर है। उससे नीचे हृदय के पास सुषुम्ना के इस अंश का सबसे निचला भाग है। जिसे वायु का स्थान कहा जाता है। सम्पूर्ण स्पर्श चेतना एवं



अंग प्रत्यंगों में कम्पन अथवा गति का नियमन यहाँ तक कि रक्त की गति का नियमन भी इसी केन्द्र से होता है।

(३) सुषुम्ना का तृतीय भाग अनाहत चक्र से मूलाधार चक्र तक है। यह भाग जहाँ द्वितीय भाग से मिलता है, उस सन्धि को विष्णुग्रन्थि के नाम से स्मरण किया जाता है। स्थूल तत्त्व अग्नि, जल और पृथिवी तत्त्वों के स्थान अर्थात् इन तत्त्वों से सम्बद्ध चेतना केन्द्र इसी भाग में हैं। सबसे नीचे गुदा के कुछ ऊपर मूलाधार चक्र पृथिवी स्थान है। उससे कुछ ऊपर योनि स्थान से पीछे पेडू के निकट स्वाधिष्ठान चक्र जल स्थान है तथा उससे भी ऊपर नाभि के निकट मणिपूर चक्र अग्नि का स्थान माना जाता है। गन्ध रस एवं रूप विषय बोध की चेतना का नियमन तथा मल विसर्जन, वीर्य धारण एवं विसर्जन तथा समस्त शरीर के धारण की क्रियाओं का नियमन इन चेतना केन्द्रों के द्वारा ही होता है। यह सुषुम्ना भाग जहाँ ऊपरी अर्थात् द्वितीय भाग से मिलता है, उस सन्धि को विष्णुग्रन्थि कहते हैं, यह ऊपर कह चुके हैं। इसका सबसे निचला भाग ब्रह्मग्रन्थि कहलाता है। यह भाग कफ आदि अवरोधक तत्त्वों से ढका हुआ है, अतः सुषुम्ना के चतुर्थ भाग से इसका निर्वाध सम्बन्ध नहीं बन पाता। इसके आवरण मल को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की साधनाओं की व्यवस्था योगशास्त्र में दी गयी है। इस मल के पूर्णतया हटने पर ब्रह्म नाडी के इस मुख के खुलने को ही ब्रह्मग्रन्थि भेदन या कुण्डलिनी का प्रथम उद्बोधन कहते हैं।

(४) सुषुम्ना नाडी का चतुर्थ भाग कन्द स्थान से मूलाधार चक्र के मध्य का भाग है। ब्रह्मग्रन्थि द्वारा यह भाग एक ओर मूलाधार चक्र के पास सुषुम्ना के तृतीय भाग से जुड़ता है और दूसरी ओर कन्द से जुड़ा है। शरीर की सभी नाड़ियाँ इसी कन्द स्थान पर आकर मिलती हैं और सुषुम्ना से प्राप्त चेतना के विषयबोधचेतना अथवा क्रियाचेतना को प्राप्त करके सम्पूर्ण शरीर में फैलती हैं और उसे क्रियाशील बनाती हैं। इस कन्द स्थान को विद्युत तकनीक की भाषा में ट्रांसफार्मर कह सकते हैं, ऐसा पावर हाउस कह सकते हैं जहाँ से विद्युत का उत्पादन तो नहीं किन्तु वितरण का कार्य होता है।

क्योंकि शरीर की समस्त ज्ञान अथवा क्रिया का नियमन यहीं से होता है। यहाँ से प्राप्त चेतना से, यहाँ से प्राप्त शक्ति से, शरीर भर में फैली हुई नाड़ियाँ उन अंगों को शक्ति अथवा क्रियाशीलता देती हैं, अतः सुषुम्ना के इस भाग को शक्ति, जीवशक्ति, ईश्वरी आदि नामों से स्मरण किया जाता है। क्योंकि यह भाग ही शरीर के समस्त भाग को चेतना अथवा जीवन के चिह्न देता है, इसलिए इस भाग के स्थूल आधार अंश को स्वयंभूलिङ्ग कहना ठीक ही है।

सुषुम्ना का यह भाग यद्यपि सुषुम्ना के इससे अव्यवहित पूर्वभाग अर्थात् तृतीय भाग से पूरी तरह जुड़ा नहीं है अर्थात् कफ आदि मलों के कारण अर्गलावद्ध है, अवरुद्ध है, अतः अनन्त चेतना के स्रोत से प्रवाहित होने वाली चेतना शक्ति इस अंश में नहीं आ पाती और इसी कारण अन्य जुड़े हुए नाडी तन्त्र में और उसके द्वारा शरीर के समस्त ज्ञान-इन्द्रियों और कर्म-इन्द्रियों को सम्पूर्ण चेतनाशक्ति नहीं मिल पाती। फलतः मनुष्य (मनुष्य आदि सभी प्राणी) न सम्पूर्ण ज्ञान सम्पन्न होता है, और न सम्पूर्ण रूप से क्रियाशक्ति से सम्पन्न। वह अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान रहता है। ठीक वैसे ही जैसे मुख्य पावर हाउस के प्रधान तार से अपने तार के भली प्रकार न जुड़ने के कारण अथवा संयोजक तार (फ्यूज वायर) के क्षीण (पतले) होने के कारण हमें थोड़ी विद्युत शक्ति ही मिल पाती है। मुख्य पावर हाउस में जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति का उपयोग हम नहीं कर पाते। यदि इन दोनों को सशक्त तार से जोड़ दिया जाता है, तो विद्युत का निर्वाध प्रवाह एक ओर से दूसरी ओर तक मुख्य केन्द्र से गौण केन्द्र तक समान रूप से

प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र साधना : डॉ० म० म० ब्रह्ममित्र अवस्थी | ३१३



होने लगता है। प्राणायाम द्वारा, ध्यान द्वारा अथवा कुण्डलिनी जागरण के लिए बताए गये अन्य उपायों द्वारा साधक सुषुम्ना के इस भाग को मुख्य भाग से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस साधना में, इस कार्य में, जब उसे सफलता मिल जाती है, तब वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। इस सफलता को ही सीधी-सीधी लौकिक भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं, वह ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

इस स्थिति में पहुँचने पर क्योंकि उसकी सम्पूर्ण चेतना का प्रयोग होने लग गया अतः वह पूर्ण प्रकाशमय, पूर्ण ज्ञानमय हो जाता है, अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, और क्योंकि अविद्या ही अस्मिता (अहंभाव) राग द्वेष अभिनिवेशरूपी क्लेशों का मूल है,<sup>१</sup> जिनके कारण यह संसार चक्र चलता है, अतः इसकी (अविद्या की) निवृत्ति से साधक संसार चक्र सहित अस्मिता आदि क्लेशों से छूट जाता है। दूसरे शब्दों में वह मुक्त हो जाता है।

इस प्राण शक्ति के अथवा कुण्डलिनी या जीव शक्ति के जागरण के कई उपाय हैं। कई प्रकार की साधना है। प्राणायाम साधनाएँ उनमें एक है। जिस प्रकार आतसी शीशे के द्वारा सूर्य के बिखरे हुए प्रकाश को एक स्थान पर केन्द्रित करके वहाँ ताप (अग्नि) उत्पन्न कर दिया जाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा भी सामान्य रूप से अपने द्वारा प्रयुक्त होने वाली शक्ति को केन्द्रित करके ब्रह्मनाड़ी के मुख को उद्घाटित करते हुए प्राणशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी को जागृत किया जा सकता है, और प्रधान चेतना शक्ति (अनन्त चेतना शक्ति) से जोड़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार लोक में प्रज्वलित गैस को भिन्न पदार्थ लोहे आदि पर डालकर उसे गरम करना, पिघलाना, जोड़ना आदि क्रियाएँ सम्पन्न कर ली जाती हैं, उसी प्रकार जिसने अपनी अनन्त चेतना शक्ति को जागृत कर लिया है, ऐसा सिद्ध गुरु अपनी शक्ति से दूसरे साधक (अधिकारी साधक) की प्राणशक्ति को मूल चेतना शक्ति, कुण्डलिनी को जागृत कर सकता है। इस क्रिया को ही योगियों की परम्परा में शक्तिपात करना कहते हैं।

इस प्राणशक्ति, चेतनाशक्ति, जीवनशक्ति अथवा कुण्डलिनी आदि नामों से स्मरण की जाने वाली शक्ति को उद्बुद्ध करने के अनेक मार्ग हैं, अनेक उपाय हैं, अनेक साधनाएँ हैं। साधना के क्रम में हम या कोई साधक या सिद्ध इतना ही कह सकता है कि यह मार्ग अमुक स्थान तक अवश्य जाता है, क्योंकि उस मार्ग को अथवा उसके चित्र को (यथार्थ चित्र को) उसने देखा है या समझा है। किन्तु जिस मार्ग को उसने देखा नहीं, उस पर चला नहीं, अथवा चलना प्रारम्भ करके मार्ग कठिन लगने से, मार्ग समझ में न आने से, उसे छोड़ दिया है उसके सम्बन्ध में यह कहना कि यह मार्ग अमुक स्थान पर नहीं ले जाएगा यदि अनुचित नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः अच्छे साधक साधना के अन्य मार्गों के सम्बन्ध में मौन का अवलम्बन करना ही उचित समझते हैं। केवल उस साधना विधि का उपदेश करते हैं, जिस विधि को उन्होंने समझ लिया है। किसी का खण्डन अथवा विरोध वे नहीं करते।

अनन्त चेतना शक्ति के स्रोत को जागृत करने के अनेक उपायों में से किसी भी एक उपाय का ही आश्रयण साधक को करना चाहिए। हां प्राथमिक तैयारी के लिए, साधना की पृष्ठभूमि तैयार करने के

१. अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः अविद्याक्षेत्रभुत्तरेषां प्रमुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाराराम् ।

लिए, साधना की योग्यता प्राप्त करने के लिए एक साथ एक से अधिक उपायों को भी अपनाया जा सकता है। यमों और नियमों का पालन अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का त्याग), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन महाव्रतों का पालन; शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (भक्ति-प्रणति) की समष्टिरूप क्रिया पथ का अनुसरण अवश्य करना चाहिए। आसन, मुद्रा और बन्धों द्वारा—प्राणायाम द्वारा नाड़ीशुद्धि करके भी साधना की योग्यता प्राप्त होती है।

हठयोग के ग्रन्थों में इन साधना की तैयारी के क्रम में स्थूल शरीर की शुद्धि के लिए नेति, धौति, वस्ति, कुञ्जर, शंखप्रक्षालन और त्राटक इन षट्कर्मों की तथा नाड़ी शुद्धि के लिए महामुद्रा, महाबन्ध तथा सूर्यभेद उज्जायी, शीतली, सीत्कारी, भृङ्गी एवं भस्त्रिका प्राणायाम प्रकारों की विधि बताई गयी है, जिनके द्वारा साधक स्थूल शरीर एवं समस्त नाड़ियों की शुद्धि करके केवलकुम्भक अथवा कुण्डलिनी साधना में प्रवृत्त होता है। इस केवलकुम्भक के लिए पहले सहित कुम्भक प्राणायाम किया जाता है। इसके द्वारा भी नाड़ी शुद्धि होती है। जैसे-जैसे प्राण और अपान निकट आने लगते हैं, मणिपूरचक्र अर्थात् नाभि स्थान के पास स्थित अग्नि तीव्र होती है, उसके तीव्र ताप से ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना के मुख (अग्रभाग) पर जमा हुआ कफ आदि अवरोधक मल नष्ट हो जाता है, हट जाता है। अवरोधक मल के पूर्णतया हट जाने पर सुषुम्ना का मुख स्वतः खुल जाता है, तीव्र अग्नि का ताप इस कार्य को सम्पन्न करता है। सुषुम्ना का मुख खुल जाने पर कन्द से जुड़ा हुआ सुषुम्ना का निम्नतम भाग, जिसे हमने सुषुम्ना का चतुर्थ भाग कहा है, इस शुद्ध हुए सुषुम्ना-मुख से, जो मूलाधार चक्र के पास है, जुड़ जाता है और उसमें स्थित प्राणशक्ति, जिसे कुण्डलिनी या जीवशक्ति भी कहते हैं, मूल चेतना केन्द्र से जुड़ जाती है। अर्थात् कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। इस साधना क्रम में शरीर और स्थूल नाड़ी की शुद्धि पहले होती है, अतः शरीर में विद्यमान प्रत्येक प्रकार के रोगों की निवृत्ति सर्वप्रथम होती है। जिसके फलस्वरूप व्याधि और स्त्यानरूपविघ्नों की निवृत्ति होती है। इसके बाद क्रमशः स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियों की शुद्धि होने पर संशय, प्रमाद आदि विघ्न भी दूर होते हैं और साधक की साधना निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ने लगती है।

### चक्र-साधना : कुण्डलिनी जागरण

योग साधना के क्रम में कुण्डलिनी जागरण का अत्यधिक महत्त्व है। इसके लिए प्राचीनकाल से योग साधना की परम्परा में चक्रों का ध्यान और उनमें चित्तलय की विशेष महिमा स्वीकार की जाती है। ये चक्र वस्तुतः क्या हैं? अथवा शरीर में इन चक्रों की वास्तविक सत्ता है या नहीं? इस विषय पर कुछ आचार्यों एवं शरीर रचना विज्ञानियों में मतभेद है। उदाहरणार्थ, आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती, जो स्वयं एक बहुत बड़े योगी भी थे, चक्रों की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने नदी में बहते हुए एक मुर्दे को पकड़कर शल्य क्रिया करके चक्रों की स्थिति को देखना चाहा, किन्तु उन्हें इसमें निराशा ही हाथ लगी। शरीर विज्ञान के आचार्य भी योग परम्परा में वर्णित चक्रों की सत्ता और उनके स्वरूप विवरण को भी स्वीकार नहीं करते तथापि साधक परम्परा में इनकी सत्ता को—इनके विशिष्ट स्वरूपों को स्वीकार करते हुए इनके ध्यान की तथा इनमें चित्तलय की बड़ी महिमा स्वीकार की गयी है।

वस्तुतः ये चक्र मेरुदण्ड के अन्तर्गत मूलाधार से सहस्रार तक, दूसरे शब्दों में मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग से आरम्भ होकर उसके उच्चतम भाग से भी ऊपर मस्तिष्क तक सुषुम्ना नाड़ी की स्थिति

प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र साधना : डॉ० म० म० ब्रह्ममित्र अवस्थी | ३१५



योगियों की परम्परा और चिकित्सा शास्त्र दोनों में स्वीकार की जाती है। यह सुषुम्ना नाड़ी चेतना का केन्द्र है, जहाँ मस्तिष्क अनन्त ज्ञानकोषों के गुच्छक के रूप में स्वीकार किया जाता है, वहीं अनेकानेक चेतना केन्द्रों को भी सुषुम्ना नाड़ी में (मेरुदण्ड के मध्यभाग में) चिकित्सा विज्ञान स्वीकार करता है। इस स्थिति में इन चक्रों को चेतना के विविध केन्द्रों के रूप में स्वीकार करने पर चिकित्सा विज्ञान और योग परम्परा के बीच किसी प्रकार का मतभेद नहीं रह जाता। अतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि चिकित्सा विज्ञानियों द्वारा मेरुदण्ड के मध्यवर्ती सुषुम्ना नाड़ी में स्वीकृत चेतना के केन्द्र ही योगि-परम्परा में स्वीकृत चक्र हैं। ये चेतना के केन्द्र अनेकानेक ऊतकों से युक्त हैं, निम्न भाग में स्थित केन्द्रों की अपेक्षा उच्च, उच्चतर और उच्चतम भागों में स्थित केन्द्र अधिकाधिक शक्तिशाली हैं। उनकी ग्रहण क्षमता एवं प्रेरक क्षमता उत्तरोत्तर अधिक है और सूक्ष्म केन्द्रों के स्वरूप और शक्ति को योगि-परम्परा में विविध प्रतीकों के माध्यम से वर्णित किया गया है। अतः इन चक्रों के दल (पत्ते) और उन पर स्वीकार किये जाने वाले बीजाक्षरों को ग्रहण और प्रेरक शक्ति की सूचना देने वाले प्रतीकों के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। स्मरणीय है कि योग की एक शाखा तन्त्र में पृथिवी आदि तत्त्वों के प्रतीक के रूप में एक-एक अक्षर बीजाक्षर के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसका विस्तृत विवरण तन्त्र शास्त्र में ही द्रष्टव्य है।

योगि-परम्परा में यद्यपि चक्रों की संख्या के सम्बन्ध में कुछ मतभेद भी हैं तथापि निम्नलिखित चक्रों को उनके स्वरूप विवरण के साथ निर्विवादरूप से स्वीकार किया जाता है। ये चक्र हैं— (१) मूलाधार चक्र, (२) स्वाधिष्ठान चक्र, (३) मणिपूर चक्र, (४) अनाहत चक्र या हृदय चक्र, (५) विशुद्ध चक्र या कण्ठ चक्र, (६) आज्ञा चक्र या भ्रू चक्र, (७) सहस्रार चक्र या सहस्र दल कमल। इन सात चक्रों में सामान्यतः प्रथम छह को अर्थात् मूलाधार से आज्ञा चक्र तक को 'चक्र' नामों से तथा अन्तिम सहस्रार को परमपद शिवस्थान आदि नामों से तन्त्र परम्परा में स्वीकार करते हैं, अर्थात् अन्तिम सहस्रार चक्र को चक्र न कहकर सहस्रदल कमल और शिवस्थान आदि नामों से अभिहित करते हैं। इनका विशिष्ट विवरण षट् चक्र निरूपण ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे अंकित है जिन पर ध्यान करने से जागृत कुण्डलिनी क्रमशः ऊपर उठती है। उसके ऊर्ध्वगामी होने के साथ-साथ ये चक्र जागृत हो जाते हैं अर्थात् ये विशिष्ट चेतना केन्द्र सम्पूर्ण रूप से क्रियाशील हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप साधक को अद्भुत चेतना शक्ति प्राप्त हो जाती है।

#### मूलाधार चक्र

जैसा कि इस चक्र के नाम से भी स्पष्ट है मूलाधार चक्र समस्त चक्रों के मूल आधार में है। मूल आधार से तात्पर्य है जहाँ से सुषुम्ना नाड़ी का प्रारम्भ होता है अर्थात् योनि स्थान के निकट। यह स्थान गुदा (मल निकलने का मार्ग) से थोड़ा ऊपर लिङ्ग के पीछे है। इस चक्र को आधार चक्र अथवा आधार कमल भी कहते हैं। यह पृथिवी का स्थान अर्थात् शरीर में स्थित भूलोक स्वीकार किया जाता है। प्राणायाम मन्त्र में प्रथम अंश 'ओम् भू' का जप और अर्थ की भावना इस चक्र (इस चेतना केन्द्र) को जागृत करने, इसको अपनी समग्र शक्तियों के साथ क्रियाशील करने के लिए ही की जाती है। इस चक्र में चार दल अर्थात् पंखुड़ियाँ मानी जाती हैं, जिनका वर्ण रक्त अर्थात् जपा (गुड़हल) के पुष्प के रंग के सदृश है और प्रत्येक दल पर क्रमशः वँ शँ षँ सँ बीज मन्त्र अंकित है, ऐसा स्वीकार किया जाता है। बीज मन्त्रों द्वारा इस विशिष्ट चेतना केन्द्र (मूलाधार चक्र) की विशिष्ट ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति की ओर

संकेत किया गया है, जिनकी व्याख्या के लिए स्वतन्त्र लेख की अपेक्षा होगी। चारों दलों के मिलन स्थल चक्र के मध्य स्थान (कर्णिका) में पृथिवी शक्ति का बोधक लै वीज मन्त्र अवस्थित है। इसका तात्पर्य यह है कि इस चक्र के मूल में धारणा पृथिवी धारणा है, जिसके सिद्ध होने पर साधक को पृथिवी अथवा पार्थिव पदार्थों से कोई बाधा नहीं होती। पार्थिव पदार्थ उसकी गति में बाधक नहीं बनते, पृथिवी से उसे चोट आदि की आशंका नहीं रहती, पृथिवी उसकी मृत्यु का कारण नहीं बन सकती। गन्ध इसका गुण है। फलतः दिव्य गन्ध संवित् भी उसे सिद्ध हो जाती है अर्थात् उसे और उसकी इच्छा मात्र से उसके परिवेश में दिव्यगन्ध का आनन्दपूर्ण अनुभव सर्व साधारण को भी हो सकता है।

इस चक्र के लै वीज का वाहन ऐरावत हाथी माना गया है। ब्रह्मा इस चक्र का देवता है तथा डाकिनी इसकी देव शक्ति मानी जाती है। इसमें ध्यान हेतु केन्द्र के रूप में चतुष्कोणाकृति यन्त्र की जाती है। इस चक्र का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय घ्राण (नासिका) और कर्मेन्द्रिय गुदा से स्वीकार किया जाता है अर्थात् ये दोनों इन्द्रियाँ इस चक्र की साधना के फलस्वरूप अपनी सम्पूर्ण शक्ति से कार्य करने लगती हैं, दिव्य गन्ध संवित् जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, घ्राण इन्द्रिय की पूर्ण क्रियाशीलता का ही फल है। भौतिक शरीर की निर्मलता गुदा इन्द्रिय की पूर्ण क्रियाशीलता का परिणाम होता है। इसके अतिरिक्त साधक को मानव मात्र से श्रेष्ठता, अद्भुत वक्त्रत्व शक्ति, समस्त विद्याओं और कवित्वशक्ति की प्राप्ति भी मूलाधार चक्र के जागृत होने के फलस्वरूप होती है। शरीर के पूर्ण निर्मल होने के फलस्वरूप पूर्ण आरोग्य और चित्त में आनन्द की अनुभूति भी साधक को निरन्तर प्राप्त होती है। स्मरणीय है कि योग परम्परा में इस चक्र के जागरण को ही ब्रह्मग्रन्थि-भेदन भी कहते हैं।

### स्वाधिष्ठान चक्र

स्वाधिष्ठान चक्र की स्थिति योनि स्थान से कुछ ऊपर और नाभिस्थान के नीचे पेड़ के पीछे अर्थात् मूलाधार और मणिपूर चक्र के मध्य में स्वीकार की जाती है। यह स्थान जल का स्थान माना जाता है। शरीर में भुवः लोक की स्थिति यहीं स्वीकार की गयी है। प्राणायाम मन्त्र के द्वितीय अंश 'ओम् भुवः' का जप और अर्थ की भावना इस चक्र को जागृत करने के लिए ही की जाती है। इसके जागृत होने से इस चेतना केन्द्र के सभी उत्तक पूर्ण क्रियाशील हो जाते हैं। इस चक्र (चेतना केन्द्र) को षट्कोण (छह कोणों वाली आकृति का) और सिन्दूर वर्ण वाला माना गया है। इसके प्रत्येक दल (पंखुड़ी) पर क्रमशः बँ भँ मँ यँ रँ और लँ वीज मन्त्र अंकित हैं, यह स्वीकार किया जाता है। ये सभी वीज इस चेतना केन्द्र (चक्र) की विविध किन्तु प्रमुख ज्ञान और क्रिया शक्ति के प्रतीक हैं। कर्णिका (चक्र के केन्द्र स्थल) में वँ वीज माना जाता है। वँ वीज जल तत्त्व का वीज है। इसलिए चक्र में धारणा को ही जल धारणा भी कहते हैं। इसके (जल धारणा के) सिद्ध होने पर साधक को जल से किसी प्रकार की बाधा नहीं हो पाती, न तो जल की शीतता साधक को कष्टकर होती है, न जल उसे गीला कर सकता है और न गला-सड़ा सकता है, न उसे उसमें डूबने से ही कोई हानि की सम्भावना रहती है, जल उसकी मृत्यु का भी कारण नहीं बन सकता। रस जल का प्रधान गुण है अतः जलधारणा सिद्ध होने पर अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र के जागृत होने पर साधक को दिव्य रस संवित् भी सिद्ध हो जाता है, अर्थात् उसकी इच्छा मात्र से उसे दिव्य रसों के आस्वाद के आनन्द का अनुभव होता है। उसकी कृपा से सर्वसाधारण भी दिव्य रसों के आस्वाद का अनुभव कर सकते हैं।

इस चक्र का तत्त्व वीज वँ है, जल तत्त्व का वाहन मकर स्वीकार किया गया है। विष्णु इस

प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र-साधना : डॉ० म० म० ब्रह्ममित्र अवस्थी | ३१७



चक्र का देवता है और डाकिनी उसकी शक्ति का नाम है। इस चक्र के अन्दर यन्त्र की कल्पना चन्द्राकार रूप में की गयी है। इसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय रसना और कर्मेन्द्रिय लिङ्ग (उपस्थ) से माना जाता है। अर्थात् इस चक्र की साधना के फलस्वरूप उपर्युक्त दोनों इन्द्रियाँ (रसना और उपस्थ) अपनी सम्पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेती हैं। दिव्य रस संवित् तो रसना की पूर्ण क्रियाशीलता का ही परिणाम है, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। उपस्थ की पूर्ण शक्ति सम्पन्नता के फलस्वरूप साधक ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

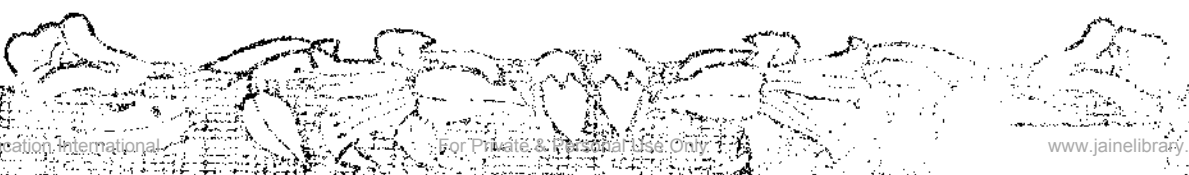
इसके अतिरिक्त स्वाधिष्ठान चक्र के जागरण का फल अहंकार आदि विकारों की पूर्ण निवृत्ति, मोह का नाश तथा अपूर्व कवित्व शक्ति की प्राप्ति भी है, जिसके फलस्वरूप साधक इच्छानुसार किसी भी भाषा में गद्य-पद्य रचना में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार उसे अनेक साधक योगियों के मध्य स्वतः श्रेष्ठता प्राप्त हो जाती है। अहंकार और मोह आदि संकीर्ण मनोभावों की पूर्ण निवृत्ति के कारण वह मन के समस्त विकारों से रहित होकर पूर्ण सन्तुष्टि का अनुभव करता है।

### मणिपुर चक्र

मणिपुर चक्र की स्थिति नासिक के निकट मेरुदण्ड में है। सूत्र में जिस प्रकार मणियाँ गुँथी होती हैं, उसी प्रकार समस्त नाड़ी चक्र इस पर गुम्फित रहता है, इसीलिए इस चक्र को मणिपुर नाम दिया गया है। यह स्थान अग्नि का स्थान माना जाता है। शरीर में स्वरलोक की स्थिति भी यहीं मानी गयी है। इसीलिए प्राणायाम मन्त्र के एक अंश 'ओम् स्वः' का जप और उसके अर्थ की भावना इस चक्र को जागृत करने के लिए की जाती है। इस चक्र के जागृत होने पर इस चेतना केन्द्र के सभी ऊतक पूर्ण क्रियाशील हो जाते हैं। इन चेतना केन्द्रों (चक्र) में पूर्व चक्रों की अपेक्षा उत्तरोत्तर ऊतकों के गुच्छक अधिक हैं। फलतः उत्तरोत्तर चक्रों के दलों की संख्या में भी वृद्धि होती गयी है। इस चक्र में दस दल माने जाते हैं, जिनका वर्ण नीला स्वीकार किया जाता है। प्रत्येक दल में क्रमशः ङँ ङँ ञँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ बीजमन्त्र माने गये हैं। अग्नि इस चक्र का प्रधान तत्त्व है, अतः अग्नि का बीजमन्त्र रँ चक्र के मध्य (कर्णिका) में माना जाता है। इस अग्नि तत्त्व का वाहन मेष और इस स्थान का देवता वृद्ध रुद्र स्वीकार किया जाता है, लाकिनी उसकी विशेष शक्ति का नाम है। प्रत्येक दल में स्वीकृत बीजमन्त्र इस चक्र अर्थात् ज्ञान और क्रिया के मूल चेतना केन्द्र के अंश विशेष के प्रतीक हैं। इस चक्र के यन्त्र की आकृति त्रिकोण है। रूप इस चक्र (चेतना केन्द्र) का विशेष गुण है। ज्ञानेन्द्रिय नेत्र एवं कर्मेन्द्रिय चरणों से इस चक्र का विशेष सम्बन्ध है। फलतः इस चक्र के जागृत हो जाने से साधक को दिव्य रूप संवित् की सिद्धि हो जाती अर्थात् साधक अपनी इच्छानुसार स्वयं विविध दिव्य रूपों का साक्षात्कार करने लगता है और उसकी कृपा से अन्य जन भी अद्भुत रूपों का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाते हैं। साथ ही इन दोनों इन्द्रियों (नेत्र एवं चरण) के अतिशय शक्ति सम्पन्न हो जाने के कारण साधक को दूरदृष्टि एवं दूरगमन का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मणिपुर चक्र अग्नि तत्त्व का स्थान है, अतः इस चक्र के जागृत होने से उसे आग्नेय धारणा की सिद्धि हो जाती है फलतः साधक को अग्नि तत्त्व पर विजय प्राप्त हो जाती है, वह अग्निकुण्ड में स्थित होकर भी जलता नहीं बल्कि स्वयं भी अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। इसके अतिरिक्त साधना ग्रन्थों में इस चक्र के जागृत होने पर साधक वचन रचना चातुर्य प्राप्त कर लेता है और उसकी जिह्वा पर साक्षात् सरस्वती निवास करने लगती है ऐसा स्वीकार किया जाता है।

३१८ | सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग



इस चक्र के जागृत होने का मुख्य परिणाम यह है कि साधक योगी को सृष्टि की रचना, उसका पालन और उसके संहार का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है ।

### अनाहत चक्र

अनाहत चक्र की स्थिति हृदय के निकट मानी जाती है । यह स्थान मणिपूर और विशुद्ध चक्र के मध्य में स्थित है । यह स्थान वायु तत्त्व का केन्द्र है ऐसा स्वीकार किया जाता है । शरीर में महः लोक की स्थिति भी यहीं है । इस तत्त्व का प्रधान गुण स्पर्श है । त्वचा और हाथ इस चक्र से सम्बन्धित क्रमशः ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं । प्राणायाम मन्त्र में 'ओम् महः' अंश का अर्थ और उसकी भावना के साथ जप करते हुए प्राणायाम की साधना इस चक्र को जागृत करने के लिए की जाती है । वायवी धारणा भी इस स्थान पर सम्पन्न होती है । यहाँ धारणा करने से ही साधक को अनाहत नाद की अनुभूति होती है, इसलिए इस स्थान पर स्थित चक्र (चेतना केन्द्र) को अनाहत चक्र कहा जाता है । विष्णुग्रन्थि भी यहीं है, जिसका भेदन इस चक्र के जागरण द्वारा होता है ।

अनाहत चक्र में बारह दल (पँखुड़ियाँ) स्वीकार किये गये हैं जिनमें एकैकशः कँ खँ गँ घँ ङँ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ और ठँ बीजाक्षर स्वीकार किये जाते हैं । इन बारह दलों के मध्य कर्णिका में वायु तत्त्व का बीज मन्त्र यँ अंकित किया जाता है । इस चक्र का वर्ण अरुण (उगते हुए सूर्य का रंग) माना गया है । बीज का वाहन मुम है । इस चक्र (चेतना केन्द्र) का देवता ईशान रुद्र तथा काकिनी उसकी शक्ति मानी जाती है । इसके यन्त्र का स्वरूप षट्कोण बनाया जाता है ।

योग के प्राचीन ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि इस चक्र में प्राण और मन को पहुँचा देने से वायवी धारणा की सिद्धि योगी को मिल जाती है, जिसके फलस्वरूप समस्त वायु तत्त्व योगी के वश में हो जाता है ; वायु का आघात अथवा वायु की न्यूनता का कोई प्रभाव योगी पर नहीं पड़ता । वायु तत्त्व पर विजय के कारण ही प्राणवायु उसके वश में इस प्रकार हो जाता है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने शरीर से प्राणों को निकाल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने में समर्थ हो जाता है, अथवा प्राणों का विस्तार करके सौभरि की तरह निर्माण चित्तों का निर्माण करके अनेक शरीरों को धारण कर सकता है । ईशित्व और वशित्व सिद्धियाँ भी उसे प्राप्त हो जाती हैं । समस्त ज्ञान और काव्य रचना का चातुर्य भी उसे अनायास प्राप्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त अनाहत नाद की अनुभूति से समाधि की सिद्धि भी योगी को हो जाती है ।

### विशुद्ध चक्र

विशुद्ध चक्र का स्थान कण्ठरूप है । अनाहत और आज्ञा चक्र के मध्य यह स्थान है । कण्ठरूप को आकाशतत्त्व का केन्द्र माना जाता है । शरीर में जनः लोक की प्रतिष्ठा यहीं स्वीकार की जाती है । आकाश तत्त्व का प्रधान गुण 'शब्द' की उत्पत्ति स्थान भी कण्ठ ही है । श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय एवं वाक् कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध इस आकाश तत्त्व से है । इस तत्त्व को, चेतना के शक्तिशाली इस केन्द्र विशुद्ध चक्र को जागृत करने के लिए ही प्राणायाम मन्त्र के 'ओम् जनः' इस अंश का अर्थ भावनापूर्वक जप किया जाता है । आकाश धारणा की साधना भी यहीं सम्पन्न की जाती है । इस आकाश धारणा के सिद्ध होने पर दूर से दूर स्थान में अथवा पूर्व से पूर्व काल में उत्पन्न शब्दों को योगी सुन सकता है और आकाश की अनन्त सीमा के अन्दर वह स्वच्छन्द विचरण कर लेता है ।

प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र-साधना : डॉ० म० म० ब्रह्ममित्र अवस्थी | ३१६

इस चक्र में सोलह दल हैं, यह संख्या अब तक वर्णित चक्रों के दलों की संख्या से सर्वाधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व वर्णित चक्रों को अपेक्षा यह सबसे बड़ा चेतना केन्द्र है। इस चक्र के सोलह दलों में क्रमशः अँ आँ ईँ ईँ उँ ऊँ ऋँ ऋँ लूँ लूँ एँ ऐँ ओँ ओँ अँ अँ: बीजाक्षर अंकित किये जाते हैं तथा कणिका में आकाशतत्त्व का बीज हूँ माना जाता है। आकाशतत्त्व का अधिष्ठाता होने से इसके मन्त्र की रचना शून्य चक्र के रूप में की जाती है। इस चक्र के दलों का रंग धूम्रवर्ण माना गया है। इस चक्र के बीज का वाहन हाथी माना जाता है। पञ्च वक्त्र रुद्र इस चक्र का देवता है तथा शाक्तिनी उसकी शक्ति है।

इस चक्र के जागरण से साधक की अनन्त मूलशक्तियाँ जागृत हो जाती हैं, स्वरो को बीजमन्त्र स्वीकार करते हुए इसी रहस्य की ओर संकेत किया गया है। जिस प्रकार स्वर वर्ण अन्य सभी बीजमन्त्रों के मूल में अवश्य विद्यमान रहते हैं, आकाश सभी तत्त्वों के अन्तर्गत व्यापक रहता है उसी प्रकार सभी प्रकार की शक्तियों और चेतनाओं के मूल में भी इस चक्र की शक्तियाँ केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहती हैं। काव्य-रचना अथवा वचन रचना चातुर्य, जिसकी चर्चा अन्य चक्रों के जागरण के क्रम में की गयी है, उसका मूल भी आकाश तत्त्व का विशेष क्रियाशील होना है। आकाश धारणा के सिद्ध होने पर अर्थात् इस चक्र के जागृत होने पर योगी का चित्त आकाश के समान ही पूर्ण शान्त, भावनाओं की विविध तरङ्गों के विकारों से रहित पूर्ण शान्त हो जाता है, जहाँ तक आकाश की व्यापकता है, वहाँ तक योगी की ज्ञानसीमा विस्तृत हो जाती है अर्थात् साधक सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है। सर्वलोकोपकारिता योगी का स्वभाव हो जाता है। पूर्ण आरोग्य, इच्छानुसार जीवन और परम तेजस्विता उसके सहज धर्म बन जाते हैं।

### आज्ञा चक्र

आज्ञा चक्र की स्थिति विशुद्ध और सहस्रार चक्रों के मध्य दोनों भौहों (भ्रू) के बीच में स्वीकार की जाती है। यह स्थान महत्तत्त्व का केन्द्र है। महत्तत्त्व प्रकृति का साक्षात् विकार है। जेष सभी तत्त्व अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, उभयेन्द्रिय मन, और पाँच महाभूत सभी इसके ही विकार हैं। इनमें अहंकार साक्षात् विकार है तथा अहंकार के विकार तन्मात्राएँ और सभी इन्द्रियाँ हैं, पाँचों महाभूत पाँच तन्मात्राओं के विकार हैं। इस प्रकार महत् भी इन सभी की प्रकृति है, मूल तत्त्व है। आचार्य कपिल ने मन को महत्तत्त्व से अभिन्न माना है [महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः, सांख्यसूत्र १. ७१] इसका तात्पर्य है कि महत्तत्त्व का मन से अभिन्न सम्बन्ध है, फलतः इस चक्र के जागरण के लिए महत्तत्त्व पर धारणा करनी चाहिए। इस चक्र पर धारणा करने से साधक का मन पूर्ण शक्ति सम्पन्न हो जाता है। मन उभय इन्द्रिय है अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का सम्पूर्ण नियमन मन के द्वारा ही होता है। यह एक ऐसा चेतना केन्द्र है जहाँ से समस्त ज्ञान चेतना एवं क्रियात्मक चेतना का समग्ररूप से संचालन होता है। इसी कारण इस चक्र (चेतना केन्द्र) में केवल दो ही दल माने गये हैं। ये दो दल (पंखुडियाँ) एक-एक करके ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति की चेतना के प्रतीक हैं।

प्राणायाम मन्त्र के 'ओम् तपः' अंश का अर्थ और उसकी भावना के साथ जप इस चक्र को (चेतना केन्द्र को) जागृत करने के लिए किया जाता है। इसके जागृत होने से सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति और सम्पूर्ण क्रिया-

शक्ति जागृत हो जाती है। फलस्वरूप साधक योगी सर्वज्ञ हो जाता, उसके लिए कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। इसी प्रकार उसकी क्रिया शक्ति भी सम्पूर्ण रूप से जागृत हो जाती है। फलतः वह सर्वशक्तिमान् हो जाता है। दोनों प्रकार की शक्तियों की दृष्टि से वह परमेश्वर के लगभग सदृश हो जाता है क्योंकि इस चक्र का तत्त्व महत्त्व है और वही समस्त विश्व के तत्त्वों का मूल है, अतः उसकी धारणा से सम्पूर्ण प्रकृति उसके वश में हो जाती है। इस प्रकार इस चक्र के जागरण द्वारा अनन्त शक्ति सम्पन्न हो जाने पर साधक की रुद्रग्रन्थि का भेदन हो जाता है, जिसके बाद उसकी प्राणशक्ति (कुण्डलिनी) और मन सहस्रार चक्र में पहुँच जाते हैं। इस स्थिति को परम पद कहते हैं।

आज्ञा चक्र में दो दल हैं, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इन दोनों दलों में हैं एवं अँ बीजाक्षर माने जाते हैं जो क्रमशः ज्ञानशक्ति और इच्छा शक्ति के प्रतीक हैं। ॐ महत्त्व का बीजाक्षर है जिसे कर्णिका में अंकित मानना चाहिए। ज्योतिर्लिंग के रूप में इसके यन्त्र की कल्पना की जाती है। अर्थात् इस चक्र के जागरण हेतु आज्ञा चक्र में ज्योतिर्लिंग के स्वरूप में साधक ध्यान करता है। इसके बीज का वाहन नाद है जिसे दर्शन शास्त्र में शब्द ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है।

इससे पूर्व के चक्रों में क्रमशः पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों में धारणा की गयी थी। अर्थात् क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तत्त्वों पर प्राणशक्ति और मन को स्थिर करने का (धारणा करने का) अभ्यास किया गया था। भूतों में सूक्ष्मतम आकाश है, शब्द ही उसका गुण है, उसमें धारणा सिद्ध हो जाने पर मन और प्राण स्थिर हो गये हैं ऐसा कहा जा सकता है। अतः इस चक्र में धारणा का नहीं ध्यान का अभ्यास किया जाता है, जो धारणा से उच्चतर स्थिति है। इस महत्त्व में ध्यान की सिद्धि होने पर अर्थात् विश्व के मूल तत्त्व (सूक्ष्मतत्त्व) में चित्त की एकतानता (तत्र प्रत्येकतानता ध्यानम्—यो सू० ३२) अर्थात् ध्यान के सिद्ध होने पर रुद्रग्रन्थि का भेदन हो जाता है और प्राण तथा मन सुषुम्ना महापथ के सर्वोच्च स्थान पर पहुँच जाते हैं, जिसे सहस्रार चक्र, सहस्र दल कमल और परम पद कहते हैं। यह स्थूल समग्र चेतना का मूल है, अतः इस स्थान में कोई तरंग नहीं है, निस्तरंग प्रशान्त अगाध समुद्र की भांति यहाँ परम शान्ति है। इस स्थिति में पहुँचने पर साधक को कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती, वह उसकी समाधि की स्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि आज्ञा चक्र के जागृत होते ही साधक समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है। इस स्थिति में पहुँच कर उसे कुछ करने की अपेक्षा नहीं होती। आवश्यकता होती है तल्लीनता की जिससे विक्षेप उसे न खींच सकें। यहीं योगी परम आनन्द के अनुभव में मग्न हो जाता है, लीन हो जाता है, दूसरे शब्दों में ब्रह्म की अभेदावस्था को प्राप्त कर लेता है, ब्रह्ममय हो जाता है।

स्मरणीय है कि चक्रों की संख्या बताते हुए और उनके नामों का परिगणन करते समय सात चक्रों के नाम लिए जाते हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध, (६) आज्ञाचक्र और (७) सहस्रारचक्र। किन्तु साधना के क्रम में केवल छह चक्रों की साधना की विधि का वर्णन होता है। इसका कारण यह है कि आज्ञाचक्र के जागृत होने के बाद योगी को साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती, अब वह साधक नहीं रहता सिद्ध हो जाता है, सिद्ध ही नहीं परम सिद्ध। उसे न किसी साधना की अपेक्षा रहती है और न विश्व के किसी भौतिक अभौतिक स्थूल अथवा सूक्ष्म पदार्थ की अपेक्षा रहती है। वह ब्रह्म से अद्वैतभाव को प्राप्त हो जाता है। यही स्थिति समस्त साधनाओं से प्राप्त होने वाली अन्तिम स्थिति है। परम सिद्ध अवस्था है। इसे ही बौद्ध परम्परा में ब्रह्मविहार शब्द से साधना की सर्वोच्च सिद्धि के रूप में स्मरण किया गया है। □ □

प्राणशक्ति कुण्डलिनी एवं चक्र-साधना : डॉ० म० म० ब्रह्ममित्र अवस्थी | ३२१



## कुण्डलिनी योग : एक चिन्तन

—डा. रुद्रदेव त्रिपाठी

[एम-ए० (द्वय), पी-एच० डी०, डी० लिट्०, आचार्य,

विशेष कर्तव्याधिकारी

बृजमोहन बिड़ला शोध केन्द्र, उज्जैन]

### कुण्डलिनी का स्वरूप-निरूपण

आत्मानुभूति के व्यावहारिक विज्ञान की परम्परा में 'दो वस्तुओं के मिलन को 'योग' की संज्ञा दी गई है। 'कुण्डलिनी-योग' का तात्पर्य भी यही है कि—“शिव और जीव के मध्य पड़े माया के आवरण को हटाकर जीव का उसके मूलस्वरूप शिव से ऐक्य कराना।” कुण्डलिनी मानव की जीवनशक्ति है और इसका निवास मूलाधार में है, वहीं स्वयम्भूलिङ्ग अवस्थित है तथा कुण्डलिनी उसको साढ़े तीन आवर्तों से वेष्टित कर अपने मुख से सुषुम्ना-पथ को रोककर सुषुप्त अवस्था में स्थित है। योगादि क्रियाओं के द्वारा साधक इसी सुषुम्ना-पथ जिसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं—की सुषुप्त शक्ति को जागृत कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाने का प्रयास करता है।

यह कुण्डलिनी 'विसतन्तुतनीयसी' कमलनालगत तन्तु के समान पतले आकार वाली है। 'सुषुप्त भुजंगाकारा' भी इसे ही कहा गया है। तन्त्र शास्त्र में कुण्डली का ध्यान अत्यन्त विस्तार से बतलाया है। यथा—

मूलोन्नद्रभुजङ्गराजसदृशी यान्ती सुषुम्नान्तरं,  
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनी-सन्निभाम् ।  
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद् दिव्यामृतौघः पति,  
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सञ्चिन्तये कुण्डलोम् ॥

इसके अनुसार यह कुण्डलिनी मूलाधार से उन्नद्र भुजङ्गराज के समान ऊपर उठती हुई, आधार समूह का भेदन कर बिजली के सदृश तीव्रता से चक्रवती हुई तथा सहस्रदल कमल में विराजमान चन्द्र-मण्डल से झरते हुए दिव्य अमृत समूह के द्वारा पति को सम्भावित कर वापस लौट आती है।

३२२ | सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग

ऐसी ही कुण्डलिनी का स्मरण साधक वर्ग चिरन्तन काल से करता आया है। शास्त्रकारों ने कुण्डलिनी के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तार से और अत्यन्त सूक्ष्मता से गम्भीर विचार व्यक्त किये हैं। 'रुद्रयामल' में कहा गया है कि—यह देवी (कुण्डलिनी) शक्तिरूपा है, समस्त भेदों का भेदन करने वाली है तथा कलि-कल्मष का नाश करके मोक्ष देने वाली है।

कुण्डलिनी आनन्द और अमृतरूप से मनुष्यों का पालन करती है तथा यह श्वास एवं उच्छ्वास के द्वारा शरीरस्थ पञ्च महाभूतों से आवृत होकर पञ्चप्राणरूपा हो जाती है। कुण्डली परदेवता है। मलाधार में विराजमान यह कुण्डली 'कोटिसूर्य' प्रतीकाशा, ज्ञानरूपा, ध्यान-ज्ञान-प्रकाशिनी, चञ्चला, तेजोव्याप्त-किरण, कुण्डलाकृति, योगिज्ञेया एवं ऊर्ध्वगामिनी आदि महनीय स्वरूप वाली है। रुद्रयामल के एक पद्य में कुण्डलिनी की स्तुति करते हुए यही बात इस रूप में कही गई है—

आधारे परदेवता भव-नताऽधः कुण्डली देवता,  
देवानामधिदेवता त्रिजगतामानन्दपुञ्जस्थिता ।  
मूलाधार-निवासिनी त्रिरमणी या ज्ञानिनी सालिनी,  
सा मां पातु मनुस्थिता कुलपथानन्दैक-बोजानना ॥ ३२ / २१ ॥

अनुभवी आचार्यों की यह निश्चित धारणा है कि मानव-शरीर में ऐसी अनेक क्रियाओं के केन्द्र हैं जिनके अधिकांश भाग अवरुद्ध हैं, बहुत थोड़े भाग ही उनके खुले हैं और वे तदनुकूल कार्य करते हैं। शास्त्रों में उन्हें दैवी क्रिया कहा है, जिनका उपयोग करने के लिये व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है और वह प्रयत्न बाह्य-प्रक्रिया-साध्य नहीं, अपितु साधना-साध्य ही है। जब यह आधार-बन्ध आदि क्रियाओं के द्वारा समुत्थित होकर सुधा बिन्दुओं से त्रिधामबीज शिव की अर्चना करती है तो आत्मतेज का अपूर्व दीपन हो जाता है। इसका गमनागमन अत्यन्त वेगपूर्ण है। नवीन जपापुष्प के समान सिन्दूरी वर्ण वाली यह वस्तुतः भावनामात्र गम्या है क्योंकि इसका स्वरूप चिन्मात्र और अत्यन्त सूक्ष्म है। सुषुम्ना के अन्तर्वर्ती मार्ग से जब यह चलती है तो मार्ग में आने वाले स्वाधिष्ठानादि कमलों को पूर्ण विकसित करती हुई ललाटस्थ चन्द्रबिम्ब तक पहुँचती है और चित्त में अपार आनन्द का विस्तार हुई पुनः अने धाम पर लौट आती है। अतः कहा गया है कि—

गमनागमनेषु जाङ्घिकी सा, तनुयाद् योगफलानि कुण्डली ।  
मुदिता कुलकामधेनुरेषा, भजतां वाञ्छितकल्पवत्सरा ॥

कुण्डलिनी-प्रबोधन के विभिन्न प्रकार

शास्त्र एवं अनुभव के दो पंखों के सहारे साधक अपनी साधना-सम्बन्धी व्योमयात्रा करता है और स्वयं के अन्तरत अभ्यास तथा अध्यवसाय से निश्चित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। शास्त्रों में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार एक सत्य का उद्घाटन करने के लिये उसका बहुविध कथन प्राप्त होता है, उसी प्रकार अनुभवों की भूमिका भी वैविध्य से अछूती नहीं रहती। इसका एक अन्य कारण यह भी होता है कि देश, काल एवं कर्ता की भिन्नता से तदनुकूल व्यवस्था का सूचन भी उसमें निहित रहता है।

कुण्डलिनी योग : एक चिन्तन : डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी | ३२३



कुण्डली-प्रबोधन के लिये शास्त्रकारों ने भी इसीलिये अनेक प्रयोग दिखलाये हैं। ऐसे उपायों में (१) योग-शक्ति-मूलक, (२) भक्ति-मूलक (जप-पाठरूप), और (३) औषध सेवन मूलक प्रयोग प्रमुख हैं। वैसे साधना के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग कुण्डलिनी-जागरण की क्रिया में सहयोगी होते हैं, उनकी लघुता और दीर्घता पर शङ्का किये बिना उनका सहयोग प्राप्त करना ही चाहिये अन्यथा जैसे किसी मशीन की संचालन-क्रिया में किसी भी छोटे अथवा बड़े पुर्जे की खराबी से बाधा पहुँचती है उसी प्रकार इस कार्य में भी बाधा आती है।

चूँकि कुण्डलिनी-प्रबोधन अनन्त शक्तियों के साथ-साथ मोक्ष के द्वार तक पहुँचाने वाला है, अतः स्वाभाविक है कि इसके जागरण के उपाय तथा इसे प्रबुद्ध करने वाली साधना बहुत सहज नहीं है। इसी कारण ऐसी साधना को साधकगण सदा से ही गुरु-परम्परा से प्राप्त करते रहे हैं, और गुरुजन भी अधिकारी शिष्य को ही यह विद्या देते थे; अतः इस साधना का सुस्पष्ट वर्णन किसी ग्रन्थ में पूर्णरूपेण नहीं मिलता है तथापि जो प्राप्त है उसका वर्णन इस प्रकार है—

### (१) योग-शक्ति-मूलक उपाय

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कुण्डलिनी स्वयम्भूलिङ्ग में साढ़े तीन वार आवेष्टित होकर स्थित है और सुषुम्ना का मुख तथा कुण्डलिनी का मुख पास-पास है अथवा सुषुम्ना का मुख कुण्डलिनी के मुख में बन्द है। इसी कारण कुण्डलिनी में चेतना हीनता बनी रहती है जिसे साधना के द्वारा प्रबुद्ध करने पर उसका मुख खुल जाता है और सुषुम्ना का मुख भी खुल जाता है। फलतः कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है।

योगशास्त्र के आचार्यों ने इस रहस्य को ग्रन्थिभेदन के माध्यम से समझाते हुए बताया है कि—

(१) कन्दस्थान से मूलाधार चक्र के मध्य का भाग 'ब्रह्मग्रन्थि' स्थल है। यह सुषुम्ना का चतुर्थ भाग भी कहलाता है। यही एक ओर से मूलाधार चक्र के पास सुषुम्ना के तृतीय भाग से जुड़ता है और दूसरी ओर कन्द से जुड़ा हुआ है। शरीर की सभी नाड़ियाँ इसी कन्द स्थान पर आकर मिलती हैं और सुषुम्ना से प्राप्त चेतना से विषयबोध अथवा क्रियाचेतना को प्राप्त करके सम्पूर्ण शरीर में फैलाती हैं। यही वह स्थान है जहाँ से विद्युत् का वितरण होता है। ब्रह्मग्रन्थि का यह भाग कफ आदि अवरोधक तत्वों से ढका रहता है अतः इसके आवरण-मल को हटाने के लिये योगशास्त्रों में 'हठयोग' प्राणायाम-प्रक्रिया का निर्देश करता है।

(२) मूलाधार से अनाहत का मध्य भाग 'विष्णु ग्रन्थि' स्थल है। इसे सुषुम्ना का तृतीय भाग भी कहते हैं। यही मूलाधार से एक ओर जुड़ा हुआ है और दूसरी ओर अनाहत चक्र के पास सुषुम्ना के द्वितीय भाग से जुड़ता है। स्थूल तत्त्व, अग्नि, जल और पृथिवी के स्थान अर्थात् इन तत्त्वों से सम्बद्ध चेतना के केन्द्र इसी भाग में है। ब्रह्मग्रन्थि-भेदन रूप प्रथम उद्बोधन के पश्चात् इस द्वितीय ग्रन्थि का भेदन करने के लिये प्राणायाम के पहले से कुछ उत्कृष्ट प्रयोगों का निर्देश हठयोग में हुआ है।

(३) अनाहत चक्र से आज्ञा चक्र के मध्य का भाग 'रुद्र ग्रन्थि' स्थल माना गया है। यह सुषुम्ना का द्वितीय भाग कहलाता है। यही एक ओर से आज्ञाचक्र के पास सुषुम्ना के प्रथम भाग से जुड़ता है और



दूसरी ओर अनाहत से जुड़ा हुआ है। इन दोनों के संयोग-स्थलरूप रुद्रग्रन्थि के ऊपरी भाग से अवबोधक चेतना और प्रेरक चेतना का नियमन होता है। शरीर में यह स्थल भ्रूमध्य में माना जाता है। इससे कुछ नीचे कण्ठ के पास विशुद्धि चक्र है, जहाँ से अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान और क्रिया चेतना का नियमन होता है। यहाँ आकाश तत्त्व की प्रधानता होने से आकाश के गुण शब्द की उत्पत्ति एवं उसके ग्रहण का नियमन केन्द्र भी यहीं है। इससे नीचे हृदय के पास सुषुम्ना के इस अंश का नीचे वाला भाग है, जिसे वायु का स्थान कहते हैं। समग्र स्पर्श चेतना एवं अंग-प्रत्यंगों के क्रमण तथा गति का नियमन, यहाँ तक कि रक्त की गति का नियमन भी इसी केन्द्र से होता है।

(४) सहस्रदल-पद्म—उपर्युक्त पद्धति से कुण्डलिनी-प्रबोधन के पश्चात् जब वह अपने स्थान को छोड़कर उत्थित होती है तो शरीर में स्फुरण होने लगता है। जैसे-जैसे यह महाशक्ति चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर की ओर बढ़कर सहस्रदल पद्म में पहुँचती है तो शरीर निर्विकल्प समाधि की दशा में भारहीन हो जाता है तथा चिदानन्द प्राप्ति की अनुभूति होती है। यही मनुष्य की साधना का अन्तिम लक्ष्य है। कहा जाता है कि आज्ञाचक्र से सहस्रार के बीच 'असी' और 'वरुणा' नामक दो नाडियाँ हैं। यही स्थान 'वाराणसी' नाम से जाना जाता है। यही इन दोनों का सङ्गम स्थान है। आज्ञाचक्र से आगे का मार्ग अति जटिल है क्योंकि यह 'कैलाश-मार्ग' है। कुण्डलिनी मूलाधार से उठकर आज्ञाचक्र तक तो पहुँच जाती है, किन्तु वहाँ से आगे इसको ले जाना साधक के वश की बात नहीं होती। इसलिये गुरु स्वयं—शिष्य की योग्यता, भक्ति, श्रद्धा आदि देखकर अपनी शक्ति से कुण्डलिनी को इस दुरूह मार्ग से पार करवाकर सहस्रार तक पहुँचाते हैं।

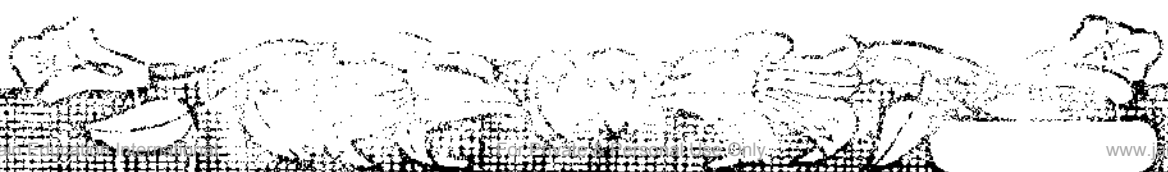
नारियल के अति कच्चे गूदे के समान सहस्रार-पद्म में विद्यमान पदार्थ में सहस्रदल कमल की कल्पना करके उसके सहस्र पत्रों में से बीस-बीस पत्रों पर वर्णमाला के पचास अक्षरों में से एक-एक अक्षर क अङ्कित होने का संकेत शास्त्रों में किया गया है। इस प्रकार वर्णमाला की आवृत्तियाँ होने से यक्षिणी आदि सहस्र शक्तियाँ अंकुरित होती हैं। यक्षिणी आदि सहस्र शक्तियों के समष्टि रूप शुक्र धातु की अधिष्ठात्री याकिनी शक्ति प्रकट होती है। यही याकिनी शक्ति विश्वरूपिणी, एकविंशतिमुखी, समस्त धातु एवं तत्त्वरूपिणी परशिव में आसक्त कुल-कुण्डलिनी की रूपान्तर-स्वरूपिणी भैरवी—भ्रमरनादोत्पादिनी शक्ति है। सहस्रार चक्र की स्थिति मस्तिष्क में मानी गयी है। इसका वर्ण कर्पूर के समान है। इसकी कर्णिका कं मध्य पाशवकल्प से परमात्मा की भावना और वीरकल्प एवं कुलकल्प में पूर्णचन्द्राकार की भावना होती है। इसके मध्य में परशिव-गुरु का स्थान है। इसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है और उसके बीच शून्य स्थान में स्थित परशिव से कुण्डलिनी को जगाकर संयोग कराना ही उपयोग-रूप साधना का लक्ष्य है।

(२) अन्य क्रियात्मक प्रकार

योग-साधना में एकाधिक प्रकारों से कुण्डलिनी-प्रबोधन के विषय में कहा गया है। उनमें से एक अनुभूत-प्रयोग इस प्रकार है—

सर्वप्रथम शुद्ध आसन पर स्वयं शुद्ध होकर बैठे तथा गुरु-स्मरणपूर्वक 'गुरुस्तोत्र' का पाठ करके लिङ्गमुद्रा से अकुलस्थ गुरु को भावना सहित प्रणाम करे। इसके बाद छोटिका-मुद्रा द्वारा दिम्बन्धन भूतोत्सारण भावना द्वारा तालत्रय करते हुए भावना करे कि 'इस मण्डल में बाह्य बाधाएँ न हों'।

कुण्डलिनी योग : एक चिन्तन : डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी | ३२५





फिर क्रिया आरम्भ के भैरव-नमस्कार करके नाम स्मरण सहित गुरु, परमगुरु एवं परमेष्ठी गुरु को तथा गणेश एवं इष्टदेवता को प्रणाम करे। तब गुरु द्वारा प्राप्त दीक्षा-मन्त्र का यथाशक्ति जप करके श्रीगुरु को विहित जप अर्पित करे।

इसके पश्चात् पूरक, कुम्भक, रेचक के क्रम से प्राणायाम द्वारा अन्तरङ्ग दोषों को जलाकर निम्न क्रियाओं को प्रारम्भ करे—

(१) पहले ५ पाँच भस्त्रिका करे। (इसमें ५ बाँये से, ५ दाहिने से और ५ दोनों से प्रयोग होगा।)

(२) यथाशक्ति कुम्भक करके बाँये से शनैः शनैः रेचक करे। (ऐसा ५ वार करना चाहिये।)

(३) बाद में निम्नलिखित ५ आसन करे—

(१) हलासन,

(२) सर्वांगासन,

(३) अर्धमत्स्यासन,

(४) पश्चिमोत्तानासन तथा

(५) सर्पासन।

(४) उपर्युक्त ५ आसन करने के पश्चात् भस्त्रिका करके कुम्भक में निम्नलिखित तेरह क्रियाएँ करे—

(१) शक्ति चालन,

(२) शक्तिताड़न,

(३) शक्तिघर्षण,

(४) कन्दचालन,

(५) कन्दताड़न,

(६) कन्दघर्षण,

(७) टंकमुद्रा,

(८) प्रधानपरिचालन,

(९) बन्धमुद्रा,

(१०) महामुद्रा,

(११) महाबन्ध,

(१२) महावेध, और

(१३) शवमुद्रा।

उपर्युक्त प्रयोग और क्रियाएँ मलशुद्धि के साथ नित्य प्रातः काल करने से कुण्डलिनी जो प्रसुप्त है, वह जागृत होने लगती है। क्रिया करते समय शरीर से प्रथम प्रस्वेद निकलता है, उसे हाथों से शरीर पर ही रगड़ देना चाहिये, कपड़े से पोंछना नहीं।

इन क्रियाओं को करते रहने से प्रायः ३ मास में कुण्डलिनी प्रबोधन अवश्य होता है। अभ्यास काल में घृत, दूध, फलादि और सात्विक भोजन करना चाहिये। कम बोलना, कम चलना, तथा ब्रह्मचर्य-पालन के साथ-साथ इष्टमन्त्र का जप श्वास-प्रश्वास में करते रहना चाहिये।

‘शिवसंहिता’ में कहा गया है कि—

सुप्ता गुरु-प्रसादेन सदा जागति कुण्डली ।

सदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।

ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥



अर्थात् गुरुकृपा से जब निद्रिता कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है तब मूलाधारादि षट्चक्रों की ग्रन्थियों का भेदन भी हो जाता है। इसलिये सर्वविध प्रयत्न से ब्रह्मरन्ध्र के मुख से उस निद्रिता परमेश्वरी शक्ति कुण्डलिनी को प्रबोधित करने के लिये प्राणायामादि क्रिया तथा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिये।

### (३) प्राण-साधना से कुण्डलिनी-प्रबोधन

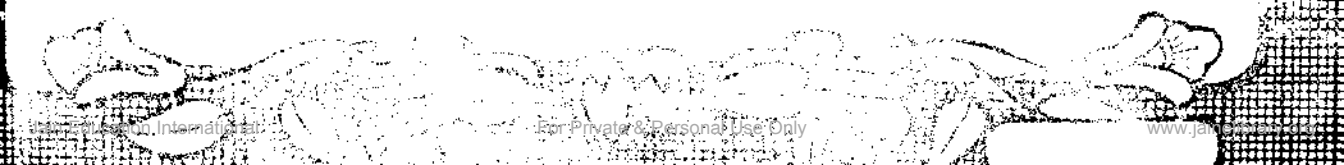
प्राण भी कुण्डलिनी का ही अपर नाम है। इसी प्राणवायु को शून्य नाड़ी के अन्दर से साधना एवं क्रिया द्वारा उठाकर सहस्रार तक पहुँचाया जाता है। वहाँ पहुँचने पर साधक शरीर और मन से पृथक् हो जाता है तब आत्मा अपने मुक्त स्वभाव की उपलब्धि करता है। योग-विज्ञान के अनुसार आत्मा का परमात्मा से, अपान का प्राण से, स्वयं के रजस् से रेतस् का, सूर्य से चन्द्र को मिलाना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। प्राण ही सृष्टि का प्रथम कारण है, स्थूल और कारण शरीर का इससे सम्बन्ध है। प्राण की विभिन्न अवस्थाएँ ही शक्ति का स्वरूप हैं। प्राण का तात्पर्य यहाँ श्वास-प्रश्वास मात्र न होकर पञ्चप्राण बाह्य एवं नाग-कुर्मादि-पञ्चक आभ्यन्तर की समष्टि है जोकि समस्त चेतना का मूल आधार है। इसी के बारे में "प्रश्नोपनिषद्" का कथन है कि—'तस्मिन्नुत्क्रामति, इतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते।' इसी का नाम प्राण-शक्ति है। इस अनन्त चेतना शक्ति के स्रोत को जागृत करने के भी अनेक उपाय हैं जिनमें 'केवल कुम्भक' को सर्वोपयोगी माना है।

इस साधना की प्राथमिक तैयारी के रूप में स्थूल शरीर की शुद्धि अत्यावश्यक है। अतः 'नेति, धौति, वस्ति, कुंजर, शंखप्रक्षालन और त्राटक' इन षट्कर्मों की तथा नाड़ीशुद्धि के लिये 'महामुद्रा, महाबन्ध तथा सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, सीत्कारी, भृंगी एवं भस्त्रिका प्राणायाम करने चाहिये। केवल-कुम्भक के लिये पहले कुम्भक किया जाता है जिससे नाड़ीशुद्धि होकर प्राण और अपान निकट आने लगते हैं। मणिपूर के पास स्थित अग्नि तीव्र होती है, जिसके ताप से ब्रह्मनाड़ी के अग्रभाग पर जमे हुए कफादि अवरोधक मल नष्ट हो जाते हैं। सुषुम्ना का मुख खुल जाता है और कन्द से जुड़ा हुआ सुषुम्ना का निम्नतम भाग शुद्ध सुषुम्ना के मुख से जुड़ जाता है तथा प्राणशक्ति जागृत होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। तब केवलकुम्भक साधना से ग्रन्थिभेदनपूर्वक प्राण ऊपर उठते हैं। केवलकुम्भक की सिद्धि हो जाने से उत्तरोत्तर पंचभूत धारणा की सिद्धि हो जाती है तथा प्राण आज्ञाचक्र में प्रवेश करते हैं। यहाँ ध्यान की सिद्धि होती है और तदनन्तर प्राणों का ऊर्ध्वगमन होता है, यही योगी को कैवल्य प्राप्ति होती है। अतः प्राणों का सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा ऊपर तक पहुँचना 'केवलकुम्भक-सिद्धि' कहलाता है।

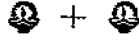
इसी प्रकार की न्यूनाधिक क्रियाएँ—(१) ध्यानयोग, (२) मुद्रायोग, (३) आसनयोग आदि भी यौगिक कुण्डली-प्रबोधन के प्रकारों में स्वीकृत हैं।

### (४) मन्त्रयोग और कुण्डलिनी-प्रबोधन

आध्यात्मिक संसार में प्राण-साधना को आत्मा परमात्मा से मिलाने के लिये 'मन्त्रयोग' को अत्यावश्यक माना गया है। केवल प्राणायामादि क्रियाओं में मन का नियन्त्रण कुछ कठिन होता है तथा वे कायकष्ट का कारण भी बन जाती हैं, अतः बीज-मन्त्र, मूलमन्त्र, मालामन्त्र, प्रत्येक चक्र और उनमें



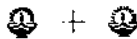
विराजमान देवों के मन्त्रों का क्रमिक जप करना शास्त्रविहित है। तन्त्रशास्त्रों में कुण्डलिनी को कामकला कहा गया है, इसीलिए इसका स्वरूप 'ई' से दिखाया जाता है। इस ई बीज की बनावट में भी साढ़े तीन आवेष्टन होते हैं। इसकी आकृति में भी स्थिरता है। प्रत्येक भाषा की लिपि में इसका रूप प्रायः समान ही रहता है। यथा हिन्दी में ई, अंग्रेजी में 'E' और उर्दू में 'S' इत्यादि। देवोपासना में ॐ का भी यही स्वरूप है, वहाँ भी साढ़े तीन आवर्त यथावद् गृहीत हैं। इसी क्रम में भक्तियोग के रूप में कवच, स्तोत्र, सहस्रनाम-पाठ के भी पर्याप्त विधान हैं। और औषध सेवन से भी सहयोग प्राप्त किया जाता है, जिसका विस्तृत ज्ञान अन्य तद्विषयक ग्रन्थों में प्राप्त है।



### पुष्प-सूक्ति-सौरभ

- जैसे माता अपने बालक पर वात्सल्य वर्षा करती रहती है, तब अपने सभी दुःखों को भूल जाती है, बालक के संबर्द्धन-संरक्षण के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है, वैसे ही विश्व-वात्सल्य का साधक भी समाज, राष्ट्र या विश्व को बालक मानकर उसके दुःखों को स्वयं कष्ट सहकर भी दूर करे।
- माता स्वयं भूखी रहकर भी तृप्त रहती है, नम्र भाव से सेवा करती है वैसे ही स्वयं भूखे-प्यासे रहकर समाज, राष्ट्र एवं विश्व के सभी प्राणियों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करें।
- वात्सल्य के बहाने कहीं मोह, आसक्ति या राग न घुस जाय इसकी सावधानी रखना अति आवश्यक है।
- जैसे बच्चों को वात्सल्य देने वाली माता को अपने बच्चों के खा-पी लेने पर स्वयं भूखे रहने में भी आनन्द की अनुभूति होती है, वैसे ही वात्सल्य-युक्त पुरुष एवं महिला को परिवार एवं समाज से ऊपर उठकर समग्र मानव समाज के प्रति वात्सल्य लुटाने पर आनन्द की अनुभूति होती है।

-----पुष्प-सूक्ति-सौरभ



## भारतीय वाङ्मय में ध्यान-योग : एक विश्लेषण

—डा. साध्वी प्रियदर्शना

(स्वर्गीया साध्वीरत्न उज्ज्वलकुमारी जी म० की सुशिष्या)

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महात् संस्कृति है। यह संस्कृति त्रिधाराओं में विभक्त है। एक वैदिक धारा है, दूसरी बौद्ध धारा है और तीसरी जैनधारा है। तीनों धाराओं में ध्यान की परम्परा अविरोध रूप से प्रवाहित है। उन धाराओं के शास्त्र, ग्रन्थ एवं साहित्य का अवलोकन और चिन्तन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्यान की विचारधारा अति प्राचीन है। वेद, उपनिषद्, त्रिपिटक, आगम तथा अन्य दर्शनों के वैचारिक सम्प्रदायों में परवर्ती चिन्तकों के दार्शनिक संप्रदायों में भी यह विचारधारा देखने को मिलती है। फिर भी जैन धर्म में वर्णित ध्यान-योग की विचारधारा को विस्तृत, व्यापक एवं स्पष्ट रूप से जन-जन के सामने प्रकाश में लाना अत्यावश्यक है। चूँकि जन मानस में एक ऐसी भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि जैन धर्म में ध्यान का कोई विशेष विश्लेषण नहीं है और वर्तमान में ध्यान की परम्परा प्रायः लुप्त ही है इस विचारधारा को स्पष्ट करने और उसे अपने निज स्वरूप में लाने के उद्देश्य से ही “ध्यानयोग” पर एक चिन्तन प्रस्तुत कर रही हैं।

संसार में यत्र-तत्र-सर्वत्र सभी प्राणी नाना प्रकार के आधि (मन की बीमारी), व्याधि (शरीर की बीमारी) और उपाधि (भावना की बीमारी, कषायादि) से संव्रस्त हैं, वे दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं, किन्तु मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। इसका एकमात्र कारण है श्रद्धा का अभाव। जिन्हें वीतराग प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा है वे तो दुःखों से मुक्ति पा लेते हैं पर जिनमें श्रद्धा का अभाव है वे चारों गति में चक्कर लगाते रहते हैं। संसार चक्र से मुक्ति पाने के लिए सही पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ चार हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष पुरुषार्थ ही सही पुरुषार्थ है। उसके लिये धर्म साधना जरूरी है। साधन और साध्य, कारण और कार्य का अविनाभाव सम्बन्ध है। जैसा साधन होगा वैसा साध्य प्राप्त होगा। साधन दो प्रकार के हैं—भौतिक और आध्यात्मिक। हमें तो आध्यात्मिक साधन को पाना है जिससे मोक्ष का शाश्वत सुख पाया जा सके। रत्नत्रय (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य) रूप

‘भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण’ : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३२६



धर्म की साधना से ही मोक्ष-साध्य प्राप्त होता है। चार पुष्पार्थ में 'मोक्ष' पुष्पार्थ ही उपादेय है। ऋषि-मुनियों, तत्त्व-चिन्तकों, विचारकों तथा दार्शनिकों ने एक स्वर से "मोक्ष" तत्त्व को स्वीकार किया है। इसीलिये सभी तत्त्वचिन्तकों एवं ज्ञानियों ने अपनी-अपनी स्वानुभूति के अनुसार भिन्न-भिन्न मोक्ष-हेतुओं का प्रतिपादन किया है।

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक चिन्तनधारा में मुख्य रूप से तीन तत्त्व को प्रधानता दी गई है वैदिक धर्म में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग; बौद्ध धर्म में शील, समाधि, प्रज्ञा और जैनधर्म में सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये मोक्ष के मुख्य हेतु हैं।

द्वादशांगश्रुत रूपी महासागर का सार "ध्यानयोग" है। मोक्ष का साधन ध्यान है, ध्यान सम्यग्ज्ञानादि से गर्भित है। सर्वज्ञकथित तत्त्वों को यथार्थ जानना, उनमें यथार्थ श्रद्धा होना, श्रद्धाशील साधक ही समस्त योगों को (सावद्य क्रिया-पापों को) नाश करने में समर्थ बनता है। जैन धर्म की समस्त साधनाएँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य और तप के अन्तर्गत ही निहित हैं। उनमें अहिंसा आदि अनुष्ठानों का प्रतिपादन गुणगुण और उत्तरगुणों की रक्षार्थ किया गया है। श्रमण और श्रावक की समस्त क्रियाएँ ध्यानयोग से सम्बन्धित हैं। साधना का सार कर्मक्षय है। कर्मक्षय के लिये सभी साधनाओं के गुण में चित्तशुद्धि को प्रधानता दी गई है। मनशुद्धि के बिना साधना हो नहीं सकती। साधना के लिये मनशुद्धि आवश्यक है और मनःशुद्धि ध्यान से प्राप्त होती है।

प्राचीनकाल में "ध्यानयोग" की साधना के लिए श्रमण संस्कृति में तप, संवर, भावना, समता, अप्रमत्त शब्द का प्रयोग होता था। उसके पश्चात् समता, समाधि, ध्यान और योग शब्द का प्रयोग होने लगे। खास तौर से तीनों ही धाराओं में 'योग' शब्द का प्रयोग होने लगा यानी 'ध्यान' शब्द के स्थान पर 'योग' शब्द प्रयुक्त होने लगा, पर दोनों शब्दों का योग मिलने से 'ध्यानयोग' बन गया।

ध्यान का सामान्य अर्थ है—सोचना। समझना। ध्यान रखना। किसी बात या कार्य में मन के लीन होने की क्रिया, दशा या भाव। चित्त की ग्रहण या विचार करने की वृत्ति या शक्ति, समग्र, बुद्धि, स्मृति, याद, ध्यान आना, विचार पैदा होना। ध्यान छूटना- एकाग्रता नष्ट होना। ध्यान जमना आदि।

ध्यान का विशिष्ट अर्थ—मानसिक प्रत्यक्ष है। बाह्य इन्द्रियों के प्रयोग के बिना केवल मन में लाने की क्रिया या भाव। अन्तःकरण में उपस्थित करने की क्रिया या भाव। केवल ध्यान द्वारा प्राप्तव्य। ध्यान में मग्न। चेतना को वृत्ति चेतस् बोध या ज्ञान कराने वाली वृत्ति या शक्ति। चित्त एकाग्र होना। विचार स्थिर होना। प्रशस्त ध्यान।

ध्यान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ—जिसके द्वारा किसी के स्वरूप का, अन्तर्मुहूर्त स्थिरतापूर्वक एक वस्तु के विषय में चिन्तन, अथवा ध्येय पदार्थ के विषय में अक्षुण्ण रूप से तैलधारा की भांति चित्तवृत्ति के प्रवाह का चिन्तन करना ध्यान कहा जाता है।<sup>1</sup>

योग शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ—"योग" शब्द की व्युत्पत्ति "युज्" धातु से मानी गई है। "युज्" धातु के अनेक अर्थ हैं, उनमें से यहाँ 'जोड़ना' या 'समाधि' मुख्य है।<sup>2</sup> बौद्ध परम्परा में युज् धातु का प्रयोग 'समाधि' के अर्थ में लिया है तथा वैदिक परम्परा में दोनों ही अर्थ प्रचलित हैं। 'चित्तवृत्ति का



निरोध', 'सषत्व' अथवा 'उदासीन भाव से कर्म करने में कुशलता' या 'जीवात्मा परमात्मा का मुमेल' को योग कहा है।<sup>15</sup> जैन परम्परा में 'योग' शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत है,<sup>16</sup> यथा --

(१) आस्रव (क्रिया, पापजनक क्रिया, व्यापार) (२) जोड़ना और (३) ध्यान।

सरोवर में आने वाले जल-द्वार की तरह पापमार्ग को आस्रव संज्ञा दी जाती है। मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं। इसे आस्रव या क्रिया भी कहते हैं।

कुंदकुंदाचार्य ने आत्मा को तीन विषयों के साथ जोड़ने की प्रेरणा दी है। जैसे,

(१) रागादि के परिहार में आत्मा को लगाना—आत्मा को आत्मा से जोड़कर रागादि भाव का परित्याग करना।

(२) सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों के अभाव में आत्मा को जोड़ना।

(३) विपरीत अभिनिवेश का त्याग करके जैनागमों में कथित तत्त्वों में आत्मा को जोड़ना।

आचार्य हरिभद्र ने मोक्ष से जोड़ने वाले समस्त धर्म व्यापार (धार्मिक क्रिया) को योग कहा है।

यहाँ 'स्थान' (आसन), 'ऊर्ण' (उच्चारण), 'अर्थ' 'आत्मन्वन' और 'निरालम्बन' से सम्बद्ध धर्म व्यापार को योग की संज्ञा दी है। इन पाँच योग को क्रियायोग और ज्ञानयोग में समाविष्ट किया गया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने समस्त धर्म व्यापार से पाँच समिति, तीन गुप्ति अर्थात् अष्ट-प्रवचन माता की प्रवृत्ति को योग कहा है।

योग का तीसरा अर्थ है—ध्यान। राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले और अन्य विषयों में संचार न करने वाले ज्ञान को ध्यान कहा है। 'योग परिक्रम' में योग के अनेक अर्थ हैं। जिसमें 'सम्बन्ध' भी एक अर्थ है—इसका इसके साथ योग है। 'योगस्थित' में 'योग' का अर्थ ध्यान है। 'ज्ञान समत्थो' में ध्यान शब्द का अर्थ है एक ही विषय में चिन्ता का निरोध करना। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि ध्यान शब्द से प्रशस्त ध्यान ही ग्राह्य है, नरक-तिर्यचगति में ले जाने वाले अप्रशस्त ध्यान नहीं। ध्यान शब्द के लिए तप, समाधि, धीरोद्यः, स्वान्त निग्रह, अन्तःसंलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, योग, सवीर्यध्यान आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।<sup>17</sup>

ध्यानयोग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा:

आत्मा का शुद्ध स्वरूप ध्यान के विना प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए ध्यानयोग का यथार्थ अर्थ जानना आवश्यक है। समस्त विकल्पों से रहित आत्मस्वरूप में मन को एकाग्र करना ही उत्तम ध्यान या शुभध्यान है।<sup>18</sup> 'ध्यान' शब्द के साथ 'योग' को जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रशस्त ध्यान का चिन्तन करना ही ध्यानयोग है। मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में अथवा पर्याय में स्थिर हो जाना ही ध्यान है। वह ध्यान दो प्रकार का है—शुभ (प्रशस्त) और अशुभ (अप्रशस्त)। मन-वचन-काय की विशिष्ट प्रवृत्ति (व्यापार) ही ध्यानयोग है।<sup>19</sup> प्राचीन आगम साहित्य में एवं कुंदकुंदाचार्य के ग्रन्थों में 'समाधि' 'भावना' और 'संवर' इन तीन शब्दों के साथ 'योग' शब्द को जोड़ा गया है।<sup>20</sup> ये तीनों ही शब्द 'ध्यान' के पर्यायवाची हैं। 'समाधियोग', 'भावनायोग' और 'संवरयोग' का अर्थ है प्रशस्त या शुभ ध्यान। शुभ ध्यान से मन को एकाग्र किया जाता है, शुभ ध्यान आत्मस्वरूप का बोध कराता है। आत्मस्वरूप का ज्ञान होना ही 'संवर' है। संवर की क्रिया प्रारम्भ होने पर ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्रक्रिया शुरू होती है। धर्मध्यान से आत्मध्यान और आत्मध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही श्रेष्ठज्ञान है। इसे ही श्रेष्ठ ध्यान कहते हैं।

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना । ३३१



टीका में<sup>9</sup> 'समाधि' शब्द का अर्थ धर्मध्यान किया है। धर्मध्यान का प्रवेश द्वार भावना है। भावना नौका की तरह है। जैसे नौका किनारे पर ले जाती है वैसे भावनायोग से शुद्ध बनी आत्मा 'समाधियोग' (धर्मध्यान) द्वारा मन को एकाग्र करके भवसागर तैर जाती है। इसलिये शुद्ध परमात्मा का ध्यान ही ध्यानयोग है। दूसरे शब्दों में कहें तो ध्यानयोग के बल से काय के समस्त व्यापार के साथ-साथ मन और वचन से परीषह-उपसर्गों को समभाव द्वारा सहन कर मोक्ष-हेतु अनुष्ठान करना या विशिष्ट व्यापार ध्यानयोग है।<sup>10</sup>

ध्यानयोग से शुभध्यान (धर्मध्यान-शुक्लध्यान) को ही प्रधानता दी जाती है। धर्मध्यान की चरम सीमा ही शुक्लध्यान का प्रारम्भ है। अतः इसमें षड् द्रव्य, नौ तत्त्व, छजीवनिकाएँ, गुण, पर्याय, कर्म-स्वरूप एवं अन्य वीतरागकथित विषयों का चिन्तन किया जाता है। विशेष तौर से अरिहंत और सिद्ध-गुणों के स्वरूप का चिन्तन करना।

ध्यानयोग का फलितार्थ संवर और निर्जरा है तथा संवर निर्जरा का फल मोक्ष है।

संवर का अर्थ है—आत्मा में आने वाले आस्रवद्वार को रोकना। यह दो प्रकार का है<sup>11</sup>—द्रव्य और भाव। नये कर्मों को आते हुए रोकना द्रव्य संवर है और मन, वचन, काय की चेष्टाओं से आत्मा में आने वाले कर्मों को गुप्त, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट पंच चारित्र सम्पन्न साधक द्वारा कर्मों के क्षय करने पर आत्मा के विशुद्ध परिणाम को भाव संवर कहते हैं। भाव संवर के अनेक नाम हैं। जैसे सम्यक्त्व, देशव्रत, सर्वव्रत, कषायविजेता, मनोविजेता, केवली भगवान, योगनिरोधक।

कर्मों का एकदेश से नष्ट होना निर्जरा है अथवा पूर्व संचित कर्मों को वारह प्रकार के तप से (६ बाह्य और ६ आभ्यन्तर) क्षीण एवं नीरस कर दिया जाता है, उसे निर्जरा कहते हैं।<sup>12</sup> उसके दो भेद हैं<sup>13</sup>—(१) सविपाकनिर्जरा (साधारण निर्जरा, पाकजा निर्जरा, अकाम निर्जरा, स्वकाल-प्राप्त निर्जरा) और (२) अविपाकनिर्जरा (औपक्रमिकीनिर्जरा, अपाकजानिर्जरा, सकामनिर्जरा)। चारों गति के जीव सविपाकनिर्जरा सतत करते रहते हैं। जीव जिन कर्मों को भोगता है उससे कई गुणा अधिक वह नये कर्मों को बांधता है जिससे कर्मों का अन्त होता ही नहीं है। क्योंकि कर्म बन्ध के हेतुओं की प्रबलता रहती है। सामान्यतः सविपाक निर्जरा प्रत्येक जीव के प्रतिसमय होती रहती है, इसीलिए इसे साधारण, अकाम और स्वकालप्राप्त निर्जरा कहते हैं। निर्जरा का दूसरा भेद है अविपाक निर्जरा, जिसे अपाकजानिर्जरा, औपक्रमिकी निर्जरा तथा सकामनिर्जरा भी कहते हैं। यह निर्जरा ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। वह बिना भोगे ही कर्मों को समाप्त कर देता है। अविपाक निर्जरा बारह प्रकार के तप से होती है। जैसे-जैसे उपशमभाव और तपाराधना में वृद्धि होती है वैसे-वैसे अविपाक निर्जरा में भी वृद्धि होती है। ज्ञानी पुरुष का तप निर्जरा का कारण है और अज्ञानी का कर्मबन्ध का। इसलिये अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का मुख्य साधन है। ध्यान तप का ग्यारहवां अंग है। मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।<sup>14</sup>

### ध्यानयोग का विशेष स्वरूप (लक्षण)

मनुष्य ही अपने स्वरूप का परिज्ञान कर सकता है। वह अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञाता होता है। स्व-स्वरूप का बोध ध्यान के आलंबन से ही सहज हो सकता है क्योंकि मन अनेक पर्यायों में (पदार्थों में) सतत परिभ्रमण करता रहता है और उसका परिज्ञान आत्मा को होता रहता है, वह ज्ञान जब अग्नि की स्थिर ज्वाला के समान एक ही विषय पर स्थिर होता है तब ध्यान कहलाता है।<sup>15</sup>



मन की दो अवस्थाएँ हैं<sup>16</sup>—ध्यान और चित्त । एक ही अध्यवसाय में मन को दीप जिखा की तरह स्थिर करना ध्यान है अथवा स्थिर मन की अवस्था ही ध्यान है और जो चंचल मन है वह चित्त है । मन का स्वभाव चंचल है । चंचल मन और चित्त में सूक्ष्म अन्तर है । मन पौद्गलिक है, जड़ है जबकि चित्त अपौद्गलिक है, चेतन है । मन की सूक्ष्म चिन्तनशील अवस्था ही चित्त है । चंचल चित्त मन है और स्थिर चित्त ध्यान है । चंचल चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

(१) भावना, (२) अनुप्रेक्षा और (३) चिन्ता ।

भावना का अर्थ है—ध्यान के लिए अभ्यास की क्रिया अथवा जिससे मन भावित हो ।

अनुप्रेक्षा का भावार्थ—पीछे की ओर दृष्टि करना, जिन प्ररूपित तत्त्वों का पुनः पुनः अध्ययन एवं चिन्तन मनन करना ।

चिन्ता का फलितार्थ—मन की अस्थिर अवस्था ।

ऐसे ही तीन प्रकार से भिन्न मन की स्थिर अवस्था “ध्यान” है ।

किसी वस्तु में उत्तम संहनन वाले को अन्तर्मुहूर्त के लिए चित्तवृत्ति का रोकना अथवा मानस ज्ञान में लीन होना ही ध्यान है । मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में या पर्याय में स्थिर होना—चिन्ता का निरोध होना ही ध्यान कहलाता है । वह संवर और निर्जरा का कारण है । एकाग्र चिन्ता निरोध को ही ध्यान कहा जाता है । नाना अर्थों—पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है यानी स्थिर नहीं हो सकती है, उसे अन्य समस्त अग्रों-मुखों से हटाकर एकमुखी करने वाले का नाम ही एकाग्र-चिन्ता निरोध है ।<sup>17</sup> यही ध्यान है । ज्ञान का उपयोग अन्तर्मुहूर्त काल तक ही एक वस्तु में एकाग्र रह सकता है । इसीलिए ध्यान का कालमान अन्तर्मुहूर्त है ।<sup>18</sup>

### एकाग्रचिन्ता निरोध का अर्थ

एक + अग्र + चिन्ता + निरोध इन चार शब्दों के संयोग से एकाग्रचिन्ता निरोध शब्द बना है, जिसका अर्थ है<sup>9</sup>—

‘एक’ का अर्थ—प्रधान, श्रेष्ठ ।

‘अग्र’ का अर्थ—आलंबन, मुख, आत्मा ।

‘चिन्ता’ का अर्थ—स्मृति ।

‘निरोध’ का अर्थ अभाव ।

उस चिन्ता का उसी एकाग्र विषय में वर्तन का नाम है ध्यान अर्थात् द्रव्य और पर्याय के मध्य में प्रधानता से जिसे विवक्षित किया जाय उसमें चिन्ता का निरोध ही सर्वज्ञ की दृष्टि से ध्यान है ।

यह तो ध्यान का सामान्य लक्षण है । विशेष लक्षण में ‘एकाग्र’ का जो अर्थ ग्रहण किया गया है वह व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए है । ज्ञान वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं<sup>10</sup> ।

यहाँ स्थूल रूप से ज्ञान और ध्यान का अन्तर स्पष्ट किया गया है । ज्ञान व्यग्र इसलिए है कि वह विविध अंगों—मुखों अथवा आलंबनों को लिए है । ध्यान व्यग्र नहीं होने का कारण यही है कि वह एक-मुखी है । यों देखा जाय तो ज्ञान ध्यान से भिन्न नहीं है । वस्तुतः निश्चल अग्निशिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है । फलितार्थ है कि ज्ञान की उस अवस्था विशेष का नाम ही ध्यान है जिसमें

‘भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण’ : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३३३





वह व्यग्र न रहकर एकाग्र हो जाता है। 'चिन्ता-एकाग्र-निरोधन' के लिए 'प्रसंस्थान' 'समाधि' और 'ध्यान' संज्ञा दी गई है<sup>21</sup>। जो इष्टफल प्रदाता होता है।

प्रस्तुत वाच्यार्थ में 'निरोध' शब्द का प्रयोग भाव-साधन में न कर कर्म-साधन में किया है। जो रोक जाता है वह निरोध है जिसमें चिन्ता का निरोध किया जाता है (जो चिन्ता का निरोध करता है) वह चिन्तानिरोध है। इसमें जो एकाग्र शब्द आया है वह निर्दोषजनक है। इसमें द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य में संक्रमण का विधान है। ध्यान अनेकमुखी नहीं एकमुखी है और उस मुख में भी संक्रमण होता रहता है। 'अग्र' आत्मा को भी कहते हैं। ध्यान लक्षण में आत्मा को ही प्रधान लक्ष्य माना गया है। ध्यान स्ववृत्ति होता है। बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है। इसलिए ध्यान की व्याख्या में 'एकाग्र चिन्तानिरोध' ही यथार्थ है।<sup>22</sup>

### श्रुतज्ञान और नय की दृष्टि से ध्यान का विशेष लक्षण

स्थिर मन का नाम ध्यान और स्थिर तात्त्विक (यथार्थ) श्रुतज्ञान का नाम भी ध्यान ही है। ज्ञान और आत्मा एक ही पर्यायवाची नाम है। जिस समय जो विवक्षित होता है उस नाम का प्रयोग किया जाता है। जब आत्मा नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिए कहा जाता है कि वह ज्ञानस्वरूप है और जब ज्ञान नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिए कहा जाता है कि वह आत्मस्वरूप है।<sup>23</sup> इससे स्पष्ट होता है कि आत्मज्ञान और ज्ञान आत्मा ही ध्यान है। रागद्वेषरहित तात्त्विक (निर्मल) श्रुतज्ञान अन्तर्मुहूर्त में स्वर्ग या मोक्षप्रदाता होता है। यह ध्यान छद्मस्थों को होता है। जिनका ध्यान 'योगनिरोध' है। जिस श्रुतज्ञान को ध्यान कहा है उसमें ये तीन विघेषण होते हैं— १ उदासीन, २ यथार्थ और ३ अतिनिश्चल। इन विघेषणों से रहित श्रुतज्ञान ध्यान की कोटि में नहीं आता, क्योंकि वह व्यग्र होता है किन्तु ध्यान व्यग्र नहीं होता। 'अन्तर्मुहूर्त' पद से ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति स्पष्ट की है। यह कालमर्यादा उत्तम संहनन वालों (शरीर की मजबूती) की दृष्टि है, हीन संहननवालों की दृष्टि से नहीं है। एक ही विषय में लगातार ध्यान इतने समय तक भी नहीं रह पाता है। इससे भी कम काल की मर्यादा को लिए हुए होता है। 'अन्तर्मुहूर्त' छद्मस्थ की दृष्टि से है, केवलज्ञानियों की दृष्टि से नहीं। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् चिन्ता दूसरी वस्तु का आलंबन लेकर ध्यानान्तर के रूप में बदल जाती है। बहुत वस्तुओं का संक्रमण होने से ध्यान की संतान चिर काल तक चलती रहती है। यह छद्मस्थ के ध्यान का लक्षण है।<sup>24</sup> यही श्रुतज्ञान स्वर्ग मोक्ष प्रदाता है तथा करण साधन-निरुक्त की दृष्टि से स्थिर मन अथवा स्थिर तात्त्विक श्रुतज्ञान को ध्यान कहा है। यह कथन निश्चयनय की दृष्टि से है।<sup>25</sup>

मुख्यतः नय के दो प्रकार हैं<sup>26</sup>—द्रव्याधिकनय और पर्यायाधिकनय। द्रव्याधिकनय की अपेक्षा ध्यान के लक्षण में आये हुए शब्दों का अर्थ—'एक' शब्द 'केवल' अथवा 'तथोदित' (शुद्ध) का वाचक है, 'चिन्ता' 'अन्तःकरण की वृत्ति' का तथा 'रोध' या 'निरोध' नियंत्रण का वाचक है। निश्चयनय की दृष्टि से 'एक' शब्द का अर्थ "शुद्धात्मा" और उसमें चित्तवृत्ति के नियंत्रण का नाम ध्यान, और 'अभाव' का नाम "निरोध" है, वह दूसरी चिन्ता के विनाशरूप एकचिन्तात्मक है—चिन्ता से रहित स्वसंवित्तिरूप है। यहाँ 'चिन्ता' चिन्तनरूप है। "रोध" और "निरोध" एक ही अर्थ का वाचक है। शुद्धात्मा के विषय में स्वसंवेदन ही ध्यान है।

३३४ | सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग



निश्चयनय की दृष्टि से षट्कारक ध्यान का स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं<sup>17</sup>— ध्याता को ध्यान कहा है। ध्यान ध्याता से अलग नहीं रह सकता और ध्यान, ध्याता एवं ध्येय के साधनों में कोई विकल्प नहीं हो सकता। इन तीनों का एकीकरण ही ध्यान है। ध्येय को ध्याता में ध्याया जाता है इसलिए वह कर्म और अधिकरण दोनों ही रूप में ध्यान ही कहा गया है। निश्चयनय से ये दोनों ध्यान से भिन्न नहीं हैं। अपने इष्ट ध्येय में स्थिर हुई बुद्धि दूसरे ज्ञान का स्पर्श नहीं करती इसलिए “ध्याति” को भी ध्यान कहा है। भाव-साधन की दृष्टि से भी “ध्याति” को ध्यान कहा है क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धात्मा ही ध्यान है। जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है, जो ध्यान करता है वह ध्यान है, जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है और ध्येय वस्तु में परम स्थिर बुद्धि का नाम भी ध्यान ही है। आत्मा अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए अपने हेतु से ध्याता है। इसलिये निश्चयनय की दृष्टि से यह कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप षट् कारक में परिणत आत्मा ही ध्यान का स्वरूप है। प्रश्न होगा कि कैसे षट् कारक स्वरूप आत्मा ध्यान स्वरूप हो सकती है? उत्तर में आचार्य का कथन है कि जो ध्याता है वह आत्मा (कर्ता), जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा (कर्म), जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यान परिणत आत्मा (करण), जिसके लिए ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप के विकास प्रयोजन रूप आत्मा (सम्प्रदान), जिस हेतु से ध्याता है वह सम्यग्दर्शनादि हेतु आत्मा (अपादान), और जिसमें स्थित होकर अपने अविकसित शुद्ध स्वरूप को ध्याता है वह आधारभूत अन्तरात्मा (अधिकरण) है। इस तरह शुद्धनय की दृष्टि, जिसमें कर्ताकर्मोदि षट् कारक से भिन्न नहीं, अपना एक आत्मा ही ध्यान के समय षट्कारकमय परिणत होता है। यही ध्यान का विशिष्ट लक्षण है।

ऐसे सामान्य और विशेष ध्यान का स्वरूप अन्य दर्शनों में और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थों में कम देखने को मिलता है। जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

#### ध्यानयोग का वैदिक स्वरूप

कर्मयोग-भक्तियोग-ज्ञानयोग इन त्रिविध साधना पद्धतियों के अन्तर्गत ही मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि का समावेश किया गया है। इन साधना पद्धतियों में सर्वाधिक प्रिय और प्रचलित प्रणाली योग की मानी जाती है। वैदिक युग के पश्चात् दर्शनयुग में पातंजलि ने कमबद्ध योगशास्त्र का विवेचन किया। योग की सभी संकल्पनाएँ उपनिषदों में अनेक रूपों में दिखाई देती हैं। कालांतर में पातंजलि योग के साथ-साथ मन्त्रादि चतुष्क योगों का विवेचन भी उपलब्ध होता है।<sup>18</sup> पातंजलि ने ‘चित्तवृत्ति निरोध’ को ही ध्येय सिद्ध किया है। उन्होंने ‘योगशास्त्र’ में क्रियायोग और अष्टांग योग का मार्ग स्पष्ट किया है। अष्टांगयोग के बहिरंग और अन्तरंग ऐसे दो भेद किये हैं। अन्तरंग योग में धारणा, ध्यान और समाधि का उल्लेख किया है। योगशास्त्र क्रमिक गति से साधक के विकास मार्ग में सहायक साधन है और ध्यान उसमें एक महत्त्वपूर्ण अंग है। बिना ध्यान के योग साधना की सिद्धि संभव नहीं। इसीलिये मनीषियों ने ‘मन्त्रयोग’ की साधना पद्धति में ध्यानयोग के लिए मन की एकाग्रता और तल्लीनता को प्राप्त करने के लिए अजपा जप अथवा सोऽहं को स्वीकार किया है। नाम स्मरण की प्रक्रिया से “स्थूलध्यान” और “महाभावसमाधि” का प्रतिपादन किया है। मन्त्रयोग साधना पद्धति में “स्थूलध्यान” की प्रक्रिया ही ध्यानयोग की प्रक्रिया है।<sup>19</sup>

‘लययोग’ की सभी क्रियायें कुण्डलिनी योग में पायी जाती हैं। इसमें स्थूल और सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी उत्थान, षट्चक्रभेदन, आकाश आदि व्योमपंचक तथा प्रकृति के सूक्ष्म रूप का चिन्तन

‘भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण’ : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३२५

“विन्दुध्यान” और “महालय” अथवा “लयसिद्धियोग समाधि” का दिग्दर्शन है।<sup>31</sup> यही ध्यानयोग की प्रक्रिया है।

‘हठयोग’ में ८४ आसनों के साथ-साथ प्राणायाम का स्वरूप स्पष्ट करके “महाबोध समाधि” और “ज्योतिध्यान” का दिग्दर्शन कराया है।<sup>32</sup> प्राणायाम के माध्यम से ही ध्यानयोग की प्रक्रिया स्पष्ट की है।

‘राजयोग’ साधना पद्धति में अष्टांगयोग का सरल सुबोध स्वरूप प्रतिपादन किया है। वह सहज प्रक्रिया है। इनसे मन की एकाग्रता बढ़ती है। इस अवस्था को ही ‘ब्रह्मध्यान’ कहा है।<sup>33</sup>

इन सभी साधनाओं के मूल में मन की एकाग्रता को प्रधानता दी गई है। यही ध्यानयोग का स्वरूप है।

भारतीय इन साधना पद्धतियों को आधुनिक युग में नया रूप अपनी-अपनी स्वानुभूति के अनुसार दे रहे हैं। उनमें से कुछ नमूनों के तौर पर आपके सामने रख रहे हैं, जैसे<sup>34</sup> कि

**रामकृष्ण परमहंस**—कर्मयोग और भक्तियोग को ही प्रेमयोग के माध्यम से ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि से प्रेम के द्वारा ही मन को एकाग्र किया जा सकता है। यही ध्यानयोग है।

**स्वामी विवेकानन्द**—ईश्वर दर्शन का परम साधन मानव सेवा है। उनके कथनानुसार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, वैराग्ययोग अथवा राजयोग का समन्वय ही मानव सेवा है। यही ईश्वर प्राप्ति का अपूर्व साधन है। मानव सेवा ही ध्यानयोग है।

**महात्मा गांधी**—(१) सत्य, (२) अहिंसा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) इन्द्रियनिग्रह, (५) अस्तेय, (६) अपरिग्रह, (७) स्वदेशी, (८) अभयव्रत, (९) अपृथ्व्यता, (१०) देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा और (११) शरीरबल ये ग्यारह सूत्र उनके ध्यानयोग के साधन हैं। उन्होंने ‘सत्याग्रह’ के माध्यम से आध्यात्मिक साधना का स्तर नई शब्दावली में समझाने का प्रयत्न किया है। उनको दृष्टि से सत्य की साधना ही ध्यानयोग साधना है। सत्यशील साधक ही “प्रार्थना” के माध्यम से ध्यान की अवस्था में पहुँचता है। मन को एकाग्र करने की यह श्रेष्ठ प्रक्रिया है। यही ध्यानयोग है।

**रवीन्द्रनाथ टैगोर**—साधना पद्धति का माध्यम “कविता” और “कला” को माना है। काव्यकला को ही ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताया है। अतः काव्य सौष्ठव से ही ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि वैराग्य मुक्ति का साधन नहीं, किन्तु अनुराग के पास से ही मुक्ति के आनन्द का अनुभव होता है। ‘प्रेम’ को भक्तियोग का अंग माना है। भगवान के पास पहुँचने में “अनुराग” ही साधन है। यही ध्यानयोग है।

**अरविन्द**—आत्मा के साथ एकाकार होने की क्रिया ही योग है। विशेष शब्दावली में कहें तो ‘विज्ञान’ और ‘कला’ ही योग है। ‘अतिमानस’ अवस्था ही ध्यानयोग का स्वरूप है। अतिमानस अवस्था का रहस्य है कि जीवन में दिव्यशक्ति की ज्योति, शक्ति, आनन्द और सक्रिय निश्चलता को प्रज्वलित करना। उन्होंने इसे ही ‘अध्यात्मयोग’ अथवा ‘पूर्णयोग’ की संज्ञा दी है। पूर्णरूपेण स्वयं को प्रभु के समक्ष अर्पित करना ही ‘पूर्णयोग’ है। इसमें अशुभ विचारों को स्थान नहीं होता। सिर्फ शुभ विचारों का चिन्तन होता है। शुभ विचारों का चिन्तन ही ध्यानयोग है।

इस प्रकार वैदिक धर्म में जो ध्यानयोग का स्वरूप है उसे यहाँ पर स्पष्ट दिया गया है ।

### बौद्ध परम्परा में ध्यानयोग का स्वरूप

शील, समाधि और प्रज्ञा इन त्रिविध साधना पद्धति में सम्पूर्ण बौद्ध-साधना का दिग्दर्शन है । इनमें 'समाधि' के अन्तर्गत ही ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है । 'ध्यान' शब्द के साथ ही साथ समाधि, विमुक्ति, शमथ, भावना, विष्णुद्रि, विपश्यना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्भण, लक्खण आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है । यहाँ पर 'ध्यान' समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द है । ध्यान का क्षेत्र विस्तृत है । यदि साधना को ध्यान से अलग कर दे तो ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि ध्यान और साधना का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है । इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता ।

ध्यान का शाब्दिक अर्थ है—चिन्तन करना । यहाँ 'ध्यान' से तात्पर्य है अकुशल कर्मों का दहन करना । अकुशल कर्मों के दहन के लिए शील, समाधि, प्रज्ञा एवं चार आर्य सत्य (१. दुःख, २. दुःख समुदय, ३. दुःख निरोध और ४. दुःख निरोध गामिनी, चतुर्थ आर्य सत्य के अन्तर्गत अष्टाङ्गिक साधना मार्ग) आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है । क्योंकि अकुशल कर्मों का मूल लोभ और मोह है । इन्हीं का दहन साधना और ध्यान से किया जाता है । किन्तु यहाँ अकुशल कर्मों से पाँच नीवरणों को लिया गया है ।<sup>34</sup>

बौद्ध परम्परा में मुख्यतः ध्यान के दो भेद मिलते हैं—(१) आरम्भण उपनिज्ज्ञान (आलम्बन पर चिन्तन करने वाला) और (२) लक्खण उपनिज्ज्ञान (लक्ष्य पर ध्यान करने वाला) । आरम्भण उपज्ज्ञान चार रूपावचर और चार अरूपावचर के रूप में आठ प्रकार का माना जाता है और लक्खण उपज्ज्ञान के तीन भेद माने जाते हैं ।<sup>35</sup>

चंचल चित्तवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए ध्यान साधना के अनेक रूप प्रतिपादन किये हैं जिसमें 'लोकोत्तर' ध्यान पद्धति चरम सीमा की द्योतक है । साधक रूपावचर और अरूपावचर ध्यान की प्रक्रिया से परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है । लोकोत्तर ध्यान में उसका प्रहरण किया जाता है—दस संयोजन का प्रहरण होता है । बीज रूप में रहे हुए सभी संयोजन का लोकोत्तर ध्यान से नाश किया जाता है । तब साधक में क्रमशः निम्न अवस्थाएँ होती हैं—(१) स्रोतापन्न (स्रोतापत्ति), (२) सकुदागामि, (३) अनागामी और (४) अर्हन् । लोकोत्तर भूमि में चिन्ता की आठ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास किया जाता है । लोकोत्तर ध्यान में चित्त के चलीस प्रकार पर चिन्तन किया जाता है । सभी ध्यान प्रक्रियाओं में लोकोत्तर ध्यान प्रक्रिया श्रेष्ठ और परिशुद्ध मानी जाती है ।<sup>36</sup> बौद्ध परम्परा में एक 'ध्यान सम्प्रदाय' भी है ।

### ध्यानयोग का स्वरूप भारतीयेतर धर्मों में

इन भारतीय ध्यान-धाराओं के अतिरिक्त भारतीयेतर धर्मों में भी ध्यान का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है । जैसे कि ताओ धर्म, कन्फ्युशियस धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म और सूफी धर्म—इन सभी धर्मों में ध्यानयोग का स्वरूप—विनय, नम्रता, सहिष्णुता, प्रेम, सरलता, इन्द्रिय-निग्रह, संयम, दोष—निंदा—बुराई त्याग, आलस्य—प्रमाद त्याग, दया, दान, न्याय, नीति, अहिंसा, सत्य,

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० माधवी प्रियदर्शना । ३३७

अस्तेय, ब्रह्मचर्य, करुणा, दीन-दुःखीसेवा, अनाथ, विधवाओं की सेवा, भूमि-सेवा, सदाचार, पवित्रता, मन-वचन-काय की शुद्धि, नैतिकता, प्रामाणिकता, मैत्री भावना, क्षमा की जीवन का अलंकार मानना, आत्मवत् सर्वभूतेषु की मंगल भावना, प्रेम से शत्रु को मित्र बनाना एवं शरीरगत, तरीकत, मारिफत, हकीकत और गुरु-कृपा आदि रूपों में स्पष्ट होता है।

### ध्यानयोग का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मानव का विकास भौतिक या शारीरिक क्षेत्र में ही न होकर मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हो रहा है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जिनका मानसिक तनाव अधिक बढ़ जाता है तब उस पर नियन्त्रण करने के लिए ध्यान की प्रक्रिया की जाती है। ध्यान प्रक्रिया में शरीर और मन का अग्रगण्य स्थान होता है। इसीलिये आधुनिक मनोविज्ञान भी शरीर और मन के अनुसंधान में लगा हुआ है। मनो-वैज्ञानिक कैरिगटन का कथन है<sup>37</sup> कि “ध्यान-साधना एक मानसिक साधना है। मानसिक प्रक्रिया के कुछ महत्वपूर्ण रहस्य योगियों को ही ज्ञात हैं जिसे हम अभी तक जान नहीं पाये हैं। पर याद रहे कि मानसिक क्षेत्र का स्वरूप केवल मात्र ‘मन’ तक ही सीमित नहीं है, अपितु मन से भी अधिक सूक्ष्म ‘प्रत्ययों’ को बताता है। ‘प्रत्ययों’ का आविष्कार भारतीय मनोविज्ञान की देन है, जो आधुनिक परामनोविज्ञान का ही एक क्षेत्र है। अरविन्द ने अपनी ध्यान प्रक्रिया में “अतिमानस” की कल्पना की है जो मन की अतिसूक्ष्म स्थिति है अथवा “वह” मानसिक आरोहण का महत्त्वपूर्ण चरण है और मानसिक चेतना विकास क्रम में ‘मन’ का ही अधिक सहयोग है, जिसके कारण चेतना का ऊर्ध्वारोहण सम्भव है। क्योंकि इन्द्रियाँ सबसे अधिक स्थूल हैं और इनका संयोजन एवं अनुशासन ‘मन’ के द्वारा ही होता है। अतः इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से प्राण सूक्ष्म है, प्राण से बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धि से ‘आत्मा’ सूक्ष्म है। आत्मा के निज स्वरूप को जानने के लिए मन को केन्द्रित करना होता है। मन का केन्द्रीकरण इन्द्रियों के संघम से होता है। इसे इन्द्रिय-निग्रह की संज्ञा दी जाती है। इन्द्रियविजेता ही मनोविजेता हो सकता है। अतः मनोविज्ञान की शब्दावली में इन्द्रियनिग्रह को प्रवृत्तियों का उन्नयन या उदात्तीकरण कहते हैं। यह उन्नयन की प्रक्रिया कल्पना, विचार, धारणा, चिन्तन आदि के क्षेत्रों में क्रियाशील होती है। जब ‘मन’ किसी भी एक “वस्तु” के प्रति केन्द्रित होने की अवस्था में आता है, तब मन का केन्द्रीकरण ही वह आरम्भ बिन्दु है, जहाँ से “ध्यान” के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

मानसिक प्रक्रिया में “ध्यान” की स्थिति तक पहुँचने के लिए तीन मानसिक स्तरों या प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। वे मानसिक स्तर इस प्रकार हैं—

(१) चेतन मन, (२) चेतनोन्मुख मन और (३) अचेतन मन।

इन ‘मन’ के तीन स्तरों को फ्रायड ने नाट्यशाला के समान बताया है। जैसे नाट्यशाला की रंगभूमि समान ‘चेतन मन’, नाट्यशाला की सजावट समान ‘अचेतन मन’ और रंगशाला में प्रवेश करने की भांति ‘चेतनोन्मुख मन’ है। मन को बर्फ की उपमा दी है।<sup>38</sup>

मनोवैज्ञानिकों ने मन की वृत्ति तीन प्रकार की बताई है, जैसे कि—(१) ज्ञानात्मक, (२) वेदनात्मक और (३) क्रियात्मक। ध्यान मन की क्रियात्मक वृत्ति है एवं वह चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाण है। ध्यान मन की वह क्रिया है—जिसका परिणाम ज्ञान है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिए ध्यान की आवश्यकता है। जागृत अवस्था में किसी न किसी वस्तु पर ध्यान किया जाता है। जागृत अवस्था विभिन्न प्रकार के ज्ञान को जन्म देती है। किन्तु सुप्त अवस्था में हम ध्यानविहीन रहते हैं।

३३८ | सातवाँ खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग

मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केन्द्रित होता है, वह ध्यान का विषय है।<sup>39</sup> ध्यान का विषय प्रतिक्षण बदलता रहता है। जब हमारी चेतना एक पदार्थ पर केन्द्रीभूत होती है तब उससे सम्बन्धित दूसरे पदार्थों का भी सामान्य ज्ञान हमें होता रहता है। किन्तु इन पदार्थों का ज्ञान अत्यधिक सामान्य होता है। इसलिये मनोवृत्ति को तीन भागों में विभाजित किया है। ध्यानावस्था में मन की शुभवृत्ति होती है। शुभ वृत्ति की एकाग्रता को ही ध्यान में स्थान है।<sup>40</sup> जैन सिद्धान्तानुसार भी यही मान्यता है, उसने विशेषतः मनोविकारों पर विजय पाने पर अधिक बल दिया है। इन्द्रिय और मन को नाश करने के लिए या दमन करने के लिए नहीं कहा किन्तु सहज रूप से आत्मा के शुभाशुभ भावों को ज्ञाता द्रष्टा बनकर देखने को कहा। क्रियात्मक रूप में ये माध्यम हैं। ध्यान साधना-मार्ग का राजपथ है। ध्यान से विकारों पर विजय प्राप्त की जाती है। विषय-विकार और कषाय पर पूर्णतः विजय प्राप्त करना ही जैनागम के अनुसार ध्यान है। ध्यान प्रक्रिया में मन का अग्रगण्य स्थान है। साधना में मन के सहायक और बाधक रूप में दो कार्य हैं।

मनोविज्ञान ने तीन प्रकार की प्रक्रिया स्वीकार की हैं<sup>41</sup> -

(१) अवधान, (२) संकेन्द्रीकरण (संकेन्द्रण) और (३) ध्यान।

'अवधान' की प्रक्रिया में 'मन' को किसी वस्तु की ओर चेतनोन्मुख किया जाता है। 'अवधान' और 'चेतनोन्मुख' ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। पिट्सवरी और मैकडोनल आदि मनोवैज्ञानिकों ने 'अवधान' को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है, जो मन की ऐन्द्रिय अभिधान प्रक्रिया से सम्बन्धित है। 'अवधान' में 'मन' बाह्य अनुभवों के प्रति अधिक क्रियाशील रहता है और इस प्रक्रिया में मानसिक ऊर्जा वस्तु के प्रति गतिशील रहती है। बाह्य वस्तुओं के प्रति 'मन' की यह गतिशीलता 'मन' का केवल एकमात्र क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त 'मन' का दूसरा भी क्षेत्र है जिसे 'स्वरूप' में केन्द्रित किया जाता है। इस स्थिति में 'प्रज्ञा' का उद्गम होता है, जो ऐन्द्रिय जगत से सापेक्ष होते हुए भी निरपेक्ष प्रतीत होता है। यह मानसिक प्रक्रिया एकात्मक अवस्था का प्रथम चरण है। इस अवस्था में ही ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ आन्तरिक रूप से 'एकता' की दशा तक पहुँचाती हैं। इसलिये ज्ञान प्रक्रिया के अन्तर्गत फ्रायड ने मन को तीन भागों में बाँटा है - (१) ईड, (२) ईगो और (३) सुपरईगो। भारतीय विचारधारा में ये ही मनस्, अहंकार और बुद्धि के रूप में मिलते हैं। मन से बुद्धि तक का विस्तार ही मानसिक क्रिया का विकासशील स्वरूप है। मन के सूक्ष्म स्तर को सुपरईगो द्वारा ग्रहण किया जाता है। जब मन 'अवधान' से आगे बढ़कर 'संकेन्द्रीकरण' की ओर अग्रसर होता है तब वह (मन) 'वस्तु' के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करता है। इस अवस्था में मन अधिक गहराई में जाकर 'तल्लीनता' का अनुभव करता है। किसी पदार्थ या वस्तु में एकाग्रता आना ही 'संकेन्द्रीकरण-संकेन्द्रण' अवस्था है। इस प्रक्रिया में मन की एकाग्रता बढ़ जाती है। तब तीसरी 'ध्यान' की प्रक्रिया में प्रवेश होता है। "ध्यान" की अवस्था तक आते-जाते विचारों का समूह सीमित हो जाता है। इसीलिये विचार प्रक्रिया में विचारों का क्रम ज्ञानेन्द्रिय-क्रिया के साथ चलता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि ध्यान एक मानसिक प्रक्रिया का विशिष्ट कृत और केन्द्रित रूप है।<sup>42</sup> ध्यान चित्तशुद्धि का एक मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक रूप है।

चित्तशुद्धि के लिए मनोविज्ञान में विविध प्रणालियों (विधियों) का प्रयोग किया गया है। जैसे<sup>43</sup>—

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३३६



(१) अन्तर्दर्शन, (२) निरीक्षण, (३) प्रयोग, (४) तुलना और (५) मनोविश्लेषण। इसे आज कल की भाषा में 'चित्त-विश्लेषण' की विधि कहते हैं। इन विधियों के अतिरिक्त अन्य भी प्रणालियाँ मिलती हैं—

(१) विश्लेषण प्रणाली, (२) विकलनात्मक प्रणाली, (३) उदात्तीकरण और (४) निर्देशनात्मक प्रणाली।

इस प्रकार मनोविज्ञान में ध्यान का स्वरूप चित्तशुद्धि को माना है। जिसमें चित्त में स्थित वासना, कामना, संशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, अशांति आदि विकारों को नाश किया जाता है। अतः आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान का स्वरूप यह है कि मन की असीम शक्ति को ध्यान द्वारा विकसित किया जाय।

भारतीय ध्यान की विचारधाराओं में 'मन' को प्रधानता दी गई है।

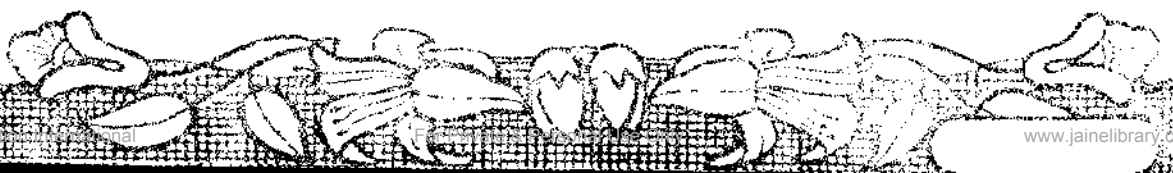
### जैन दृष्टि से ध्यान में मन की प्रधानता

मन का स्वभाव चंचल है। वह विविध प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं के स्कन्धों का अनुभव करके राग-द्वेष-मोहादि भावों में सतत रमण करता रहता है। वह दो कार्यों में सतत क्रियाशील रहता है— शुभाशुभ कर्मानुभूति। मन शुद्ध साधन द्वारा संसार घटाता है और अशुद्ध साधन द्वारा संसार बढ़ाता है। अतः मन की क्रिया द्वारा भव बढ़ाना और घटाना ध्यानयोगी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के उदाहरण द्वारा स्पष्ट होता है। मन दो प्रकार का है—(१) सविकल्प मन और (२) निविकल्प मन। वस्तुतः निविकल्प मन ही 'आत्म तत्त्व' है और सविकल्प मन 'आत्म भ्रान्ति' है। मन की अस्थिरता ही रागादि परिणति का कारण है। मन की क्रिया कर्मबन्ध और मुक्ति का कारण है। मन की स्थिरता ही ध्यान की अवस्था है। आत्मस्वरूप का भान स्थिर मन द्वारा ही हो सकता है। स्थिर मन ही 'आत्म तत्त्व' है और अस्थिर मन 'आत्म भ्रान्ति' है। आत्म भ्रान्ति के कारण मनोनिग्रह के अभाव से तन्दुलमत्स्य की भांति भव बढ़ा देता है। इसलिये ज्ञानियों का कथन है कि वचन और काय की अपेक्षा मन द्वारा ही कर्मबन्ध अधिक होता है। आगम में मन को घोड़े की उपमा दी है। आगमैतर ग्रन्थों में इसे कपिलादि उपमा से वर्णित किया है। इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक के लिए मन 'बन्दर' को बश करना ही होगा। क्योंकि आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। उसके एक-एक प्रदेश पर अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यादिगुण विद्यमान हैं। उन गुणों को विकसित करने के लिए मन की स्थिरता आवश्यक है।<sup>45</sup>

### मनोनिग्रह के उपाय

आत्म-स्वरूप में रमण करने के लिए मन को बश में करना होगा। उसे बश में करने के लिये ज्ञानियों ने कुछ उपाय बताये हैं—

- (१) इन्द्रियविजय के लिये २३ विषय और २४० विचारों पर प्राप्त करना।
- (२) कषाय-शमन।
- (३) शुभ भावना का सतत चिन्तन।
- (४) समता एवं वैराग्य भाव में सतत लीन रहना।
- (५) स्वाध्याय और आत्मज्ञान में लीन।
- (६) योगाष्टांग और अष्ट दृष्टियों का सदैव चिन्तन-मनन करना।



ध्यानयोग के विशेष निर्देशन सूत्र (उपाय)—(ध्यानयोग को जानने के उपाय)

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और रामसेनाचार्य ने आगम का सिंहावलोकन करके ध्यानयोग का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए कुछ द्वार (अंग) प्रतिपादन किये हैं<sup>46</sup>—

- (१) ध्यान की भावना (ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, वैराग्य एवं मैत्र्यादि) ।
- (२) ध्यान के लिए उचित देश या स्थान ।
- (३) ध्यान के लिए उचित काल ।
- (४) ध्यान के लिए उचित आसन ।
- (५) ध्यान के लिए आलंवन ।
- (६) ध्यान का क्रम (मनोनिरोध या योगनिरोध) ।
- (७) ध्यान का विषय (ध्येय)
- (८) ध्याता कौन ?
- (९) अनुप्रेक्षा ।
- (१०) शुद्धलेश्या ।
- (११) लिंग (लक्षण) ।
- (१२) ध्यान का फल (संवर, निर्जरा) ।

आगम कथित चारों ध्यानों का फल क्रमशः तिर्यचगति, नरकगति, स्वर्ग या मोक्ष है जो संवर और निर्जरा का फल है। वैसे ही (१) ध्याता, (२) ध्येय, (३) ध्यान, (४) ध्यान फल, (५) ध्यान स्वामी, (६) ध्यान क्षेत्र, (७) ध्यान काल और (८) ध्यानावस्था ।

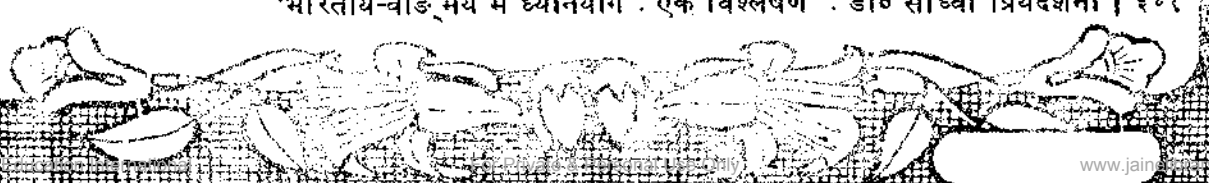
ध्यानयोग के स्वरूप को विशेष रूप से जानने के लिये उपरोक्त अंगों को बताया है। उनमें 'भावना' और 'अनुप्रेक्षा' ऐसे एकार्थी दो शब्द आये हैं। ऐसे देखा जाय तो इन दोनों शब्दों में खास कोई अन्तर नहीं है किन्तु अभ्यास की भिन्नता जरूर है। ज्ञानदर्शनादि 'भावना' ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए है और अनित्यादि अनुप्रेक्षा वीतराग भाव की पुष्टि के लिए है। यह ध्यान के मध्यवर्ती काल में की जाती है। एक विषय पर मन सदा स्थिर नहीं रह सकता। मन का स्वभाव चंचल है। जिसके कारण ध्यानावस्था में बीच-बीच में ध्यानान्तर हो जाता है। उस समय अनित्यादि अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाता है। यह कालीन भावना है और ज्ञानदर्शनादि प्रारम्भिक। आगम में भावना को अनुप्रेक्षा भी कहा है वैसे अन्य ग्रन्थों में भी।<sup>47</sup>

ध्यान का अधिकारी कौन ?

प्रश्न है कि ध्यान का अधिकारी कौन हो सकता है ?

ज्ञानियों का कथन है कि लोक को तीन भागों में विभाजित किया गया है। जैसे मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इसे शास्त्रीय भाषा में लोकाकाश कहते हैं। जहाँ षट् द्रव्यों का अस्तित्व होता है वह लोक है। दो भागों में लोक विभाजित किया गया है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश की अपेक्षा अलोकाकाश अनन्त गुणा बड़ा है किन्तु उसमें चेतन और अचेतन का अस्तित्व नहीं है। लोकाकाश में षट् द्रव्य हैं, जड़ चेतन का अस्तित्व है। जन्म-मरण का चक्र है। लोकाकाश में सूक्ष्म और वादर, त्रस और स्थावर जीवों का अस्तित्व है। जीवों का प्रथम निवास स्थान निगोद है। जहाँ जीव का अनन्त काल व्यतीत हो जाता है। पुण्यवानी की प्रवृत्तता बढ़ने पर जीव का विकास होने लगता है तब वह क्रमशः निगोद (सूक्ष्म निगोद) से निकलकर वादर (पृथ्वी—अप—तेज—वायु—वनस्पति काय) ३ विकले-

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना । ३४१





न्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) और पंचेन्द्रिय (नारक, तिर्यच, देव और मनुष्य) में प्रवेश करता है। इनमें असंख्यात और अनन्तानन्त काल व्यतीत करता है। किन्तु इन सबमें मनुष्य भव दुर्लभ माना जाता है। जीव की दो अवस्था हैं—भव्य और अभव्य। अभव्य में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं है, और भव्य में है। जीव दो पर्यायों में सतत भ्रमण करता रहता है—स्वभाव-पर्याय और विभाव-पर्याय। चारों गति में मिथ्यात्वादि के कारण परिभ्रमण करता विभाव पर्याय है और कर्मोपाधि रहित स्व-स्वरूप में रमण करना स्वभावपर्याय है। विभावपर्याय के कारण ही जीव अनादिकाल से अचरमावर्तकाल में अनन्तानन्त भव व्यतीत करता है। इस स्थिति में स्थित जीव के मय्यादिगुण एवं मोक्ष-जिज्ञासा नहीं होती। अचरमावर्तकाल को आगम भाषा में “कृष्णपाक्षिक” काल कहते हैं।<sup>48</sup> इस अवस्था में जीव मोक्ष नहीं पा सकता। मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता तो भव्य में ही हो सकती है। भव्य में भी कुछ ऐसे अभी के भाई बैठे हैं जिन्हें जाति भवी कहते हैं। ये मोक्ष को नहीं पा सकते।

जैन पारिभाषिक शब्दावली में ‘अचरमावर्त’ और ‘चरमावर्त’ ऐसे दो शब्द आते हैं। जब तक आत्मा (जीव) अन्तिम पुद्गल-परावर्तकाल को प्राप्त नहीं होता तब तक धर्मबोध प्राप्त नहीं कर सकता। गाढ़ कर्मावरण के कारण जीव अचरमावर्तकाल (कृष्णपाक्षिक) में घूमता ही रहता है। चारों गति में परिभ्रमण करता रहता है। मनुष्य भव भी प्राप्त कर लेता है, गुरुवन्दन, दानादि क्रिया, भक्ति भाव सब कुछ करता है परन्तु रत्नत्रय (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) के अभाव में ये सारी क्रियायें करने पर भी फलदायक नहीं बनती हैं। भवनाशक नहीं होतीं परन्तु भववर्धक होती हैं। अतः अचरमावर्तकाल भववर्धक होता है।<sup>49</sup>

दूसरा शब्द है ‘चरमावर्त’। यह दो शब्दों के संयोग से बना है—चरम+आवर्त। ‘चरम’ का अर्थ है अन्तिम और ‘आवर्त’ का अर्थ है घुमाव। कर्म आठ हैं। उनमें मोहनीय कर्म की प्रधानता है। इसको ७० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम स्थिति है, शेष में कुछ की ३३ कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, कुछ की ३० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम और कुछ की २० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम। इन सबमें मोहनीय कर्म की ही स्थिति बड़ी है। ‘चरमावर्त’ काल में मोहनीय के ७० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का घुमाव अन्तिम हो तभी जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। चरमावर्तकाल में भी प्रत्येक जीव अनन्तानन्त पुद्गलपरावर्तकाल प्रसार करता है। जब जीव में परिणाम विशुद्धि के कारण ऐसे भाव निर्माण होते हैं कि जिससे वह ‘तथाभव्यत्व’ की संज्ञा को प्राप्त करता है। इसी अवस्था में धर्म-सन्मुख होने की योग्यता जीव में आती है और यही ‘शुक्लपाक्षिक’ अवस्था कहलाती है।<sup>50</sup> इसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में ‘अपुनर्बन्धक’ कहते हैं। इसलिये ज्ञानियों ने ध्यान के अधिकारी निम्नलिखित बतलाये हैं<sup>51</sup>—

(१) अपुनर्बन्धक, (२) सम्यग्दृष्टि और (३) चारित्र आत्मा। इसमें देशविरत और सर्वविरत दोनों प्रकार के साधक होते हैं। ये चारों प्रकार के ध्यानाधिकारी शुक्लपाक्षिक (चरमावर्तकाल) अवस्था में ही विद्यमान रहते हैं।

ध्यान के सोपान—आगम एवं ग्रन्थों के कथनानुसार ध्यान के दो सोपान माने गये हैं<sup>52</sup>—  
(१) छद्मस्थ का ध्यान और (२) जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिन का ध्यान काया की स्थिरता है। इसे ही ‘योग निरोध’ कहते हैं। मन की स्थिरता चौथे गुणस्थान से विकासपथगामी बनती है और क्रमशः आगे-आगे बढ़ते-बढ़ते आठवें गुणस्थान में विशेष प्रगति करती है। यह गुणस्थान ध्यान साधक आत्मा के लिए विशिष्ट ध्यान साधना में आरोहण कराने



वाला होता है। इसे आगम भाषा में 'उपशम श्रेणि' और 'क्षपक श्रेणि' कहते हैं।<sup>63</sup> उपशम श्रेणि में जीव दर्शनत्रिक (मिथ्यात्वमोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय) और अनन्तानुबन्धि चतुष्क (क्रोध—मान—माया—लोभ) इन सात का उपशम (शान्त) करता है और क्षपक श्रेणि में इन्हीं सात प्रकृतियों का क्षय करता है। उपशम श्रेणि वाला ग्यारहवें गुणस्थान में क्षीणमोहनीय कर्म के संज्वलन लोभ का उदय होने से गिर जाता है। यह गुणस्थान पतित गुणस्थान कहलाता है। जीव पुनः विकास को पाकर कार्य सिद्ध कर लेता है। क्षपक श्रेणि वाला बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र्य एवं केवलज्ञान को पाकर शुक्लध्यान की साधना से समस्त कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

### ध्यान के भेद-प्रभेद

ध्यान का यथार्थ स्वरूप जानना ही तो उसके भेद-प्रभेद को जानना अत्यावश्यक है। आगम कथनानुसार विचारधारा अनेक प्रकार की हैं क्योंकि आत्मा (जीव) का स्वभाव परिणमनशील है। शुभा-शुभ असंख्य विचारधाराओं को समझना कठिन होने से ज्ञानियों ने उन्हें चार भागों में विभाजित किया है। उन्हें ध्यान की संज्ञा दी गई है।

आगम में मुख्यतः ध्यान के चार भेद हैं :—

- |                  |                 |
|------------------|-----------------|
| (१) आर्त्तध्यान, | (२) रौद्रध्यान, |
| (३) धर्मध्यान और | (४) शुक्लध्यान। |

इन चार ध्यानों के क्रमशः ८+८+१६+१६ भेद हैं। कुल ४८ भेद हैं।

### आर्त्तध्यान के भेद एवं लक्षण

आगमकथित आर्त्तध्यान के चार<sup>64</sup> भेद :—

(१) **अमनोज्ञ-वियोगचिन्ता**—अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श तथा उनके साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना अमनोज्ञ वियोगचिन्ता आर्त्तध्यान है। अमनोज्ञ वस्तुएँ अनेक हैं, जैसे कि अग्नि, जल, धतूरा, अफीम आदि का विष, जलचर स्थलचर वनचर क्रूर प्राणी सिंह, बाघादि, सर्प, बिच्छू, खटमल, जूँ आदि, गिरिकन्दरावासी प्राणी, तीर, भाला, बछ्छी, तलवार आदि शस्त्र, शत्रु, बैरी राजा, दुष्ट राजा, दुर्जन, मद्य-मांसादि-भोगी, मंत्र-तंत्र-यंत्र-मारण-सूठ-उच्चाटन आदि का प्रयोग, चोर डाकू आदि का मिलन, भूत, प्रेत, व्यंतरदेवों का उपद्रव—इस तरह अनेक प्रकार की अमनोज्ञ वस्तुएँ एवं व्यक्तियों के देखने-सुनने मात्र से मन ही मन क्लेश होना ही आर्त्तध्यान का प्रथम भेद है।

(२) **मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता**—पाँचों इन्द्रियों के विभिन्न मनोज्ञ विषयों का एवं माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी, भाई, बहन, मित्र, स्वजन, परिजन, चक्रवर्ती-बलदेव-वासुदेव-मांडलिक राजा आदि पद से विभूषित, सामान्य वैभव, राज वैभव, भोग भूमि के अखण्ड सुख प्राप्त हों, मनुष्य सम्बन्धी भोग प्राप्त हों, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रमन्त्री, राज्यपाल, मुख्य सेनापति आदि पदवियों से भूषित, विविध प्रकार की शय्या, विविध प्रकार के वाहन, विविध प्रकार के सुगन्धित पदार्थ, विविध प्रकार के रत्न और सुवर्ण जड़ित आभूषण, नाना प्रकार के वस्त्र, धन-धान्यादि की विपुलता, ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति—इन सबके मिलने पर वियोग

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३४३



न होने का अध्यवसाय (विचार) करना तथा भविष्य में भी इनका वियोग न हो ऐसा निरन्तर सोचना 'मनोज्ञ-वियोगचिन्ता' नामक द्वितीय आर्त्तध्यान है ।

(३) आतंक (रोग) वियोगचिन्ता—वात, पित्त और कफ के प्रकोप से शरीर में उत्पन्न होने वाले महा भयंकर सोलह रोगों (कण्ठमाला, कोढ़, राजयक्ष्मा-क्षय, अपस्मर-मूर्च्छा, मृगी, नेत्र-रोग, शरीर की जड़ता, लूला, लंगड़ा, कुब्ज, कुबड़ा, उदर रोग—जलोदरादि, मूक, सोजन शोथ, भस्मक रोग, कंपन, पीठ का झुकना, श्लीषद (पैर का कठन होना), मधुमेह-प्रमेह) में से किसी भी रोग का उदय होने पर मन व्याकुल हो जाता है । व्याकुलता को दूर करने के लिए सतत चिन्तित रहना 'आतंक-वियोगचिन्ता' नामक तीसरा आर्त्तध्यान है । मनुष्य के शरीर में ३॥ करोड़ रोम माने जाते हैं । उनमें से प्रत्येक रोम पर पौने दो रोग माने जाते हैं । जब तक सातावेदनीय का उदय रहता है तब तक रोगों की अनुभूति नहीं होती । जैसे ही असातावेदनीय कर्म का उदय होता है कि शरीर में स्थित रोग का विपाक होता है ।

(४) भोगेच्छा अथवा निदान—पाँचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ कामी (कान-आँख) हैं जबकि शेष तीन इन्द्रियाँ (रसन, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं । इन पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श । इन इन्द्रियों के द्वारा काम-भोगों को भोगने की इच्छा करना ही 'भोगेच्छा' नामक चौथा आर्त्तध्यान है । इसका दूसरा भी नाम है, जिसे 'निदान' कहते हैं । जप-तप के फलस्वरूप में देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की ऋद्धि सिद्धि मांगना एवं इन्द्र, विद्याधर, आधिपत्य, धरणेन्द्र के भोग, स्वर्ग सम्पदा, संसार वैभव, देवांगना का सुख विलास, मान, सम्मान, सत्कार, कीर्ति, कामना तथा दूसरे के विनाश की भावना करना, कुल विनाश की इच्छा करना ये सब 'निदान' आर्त्तध्यान में आता है ।

#### आर्त्तध्यान के लक्षण

आगम कथित आर्त्तध्यान के चार लक्षण<sup>७७</sup> निम्नलिखित हैं :—

- (१) कंदणया—ऊँचे स्वर से रोना, चिल्लाना, रुदन करना, आक्रन्दन करना ।
- (२) सोयणया—शोक—चिन्तामग्न होना, खिन्न होना, उदास होकर बैठना, पागलवत् कार्य करना, दीनता भाव से आँख में आँसू लाना ।
- (३) तिग्घणया—वस्तुविशेष का चिन्तन करके जोर-जोर से रोना, वाणी द्वारा रोष प्रकट करना, क्रोध करना, अनर्थकारी शब्दोच्चारण करना, क्लेश या दयाजनक शब्द बोलना, व्यर्थ की बातें बनाना आदि ।
- (४) परिदेवणया—माता, पिता, स्वजन, पुत्र, मित्र, स्नेही की मृत्यु होने पर अधिक विलाप करना, हाथ पैर पछाड़ना, हृदय पर प्रहार करना, बालों को उखाड़ना, अंगों को पछाड़ना, महात् अनर्थकारी शब्दोच्चारण करना आदि ।

इन लक्षणों के अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में आर्त्तध्यान के और भी लक्षण मिलते हैं । जैसे बात बात में शंका करना, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेशजन्य प्रवृत्ति, ईर्ष्यावृत्ति, चित्तभ्रम, भ्रांति, विषय सेवन उत्कंठा, कायरता, खेद, वस्तु में मूर्च्छाभाव, निन्दकवृत्ति, शिथिलता, जड़ता, लोकैषणा, धनैषणा, भोगैषणा आदि ।

ये आर्त्तध्यान के आठ भेद हैं ।



रौद्र ध्यान के भेद एवं लक्षण

रौद्रध्यान के भेद—आगम कथित रौद्रध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं<sup>67</sup>—

(१) हिंसानुबंधि—द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा का चिन्तन करना। वर्तमान काल में भी हिंसा के विविध प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं वे सब हिंसानुबंधि रौद्रध्यान ही हैं। इसे आगमेतर ग्रन्थों में 'हिंसानन्दि' या 'हिंसानन्द' कहते हैं।

(२) मृषानुबंधि—झूठ बोलना आदि इसके अनेक प्रकार हैं। इसे आगमेतर ग्रन्थों में 'मृषानन्द' या 'मृषानन्दि' अथवा 'अनृतानुबन्धी' कहते हैं।

(३) स्तेयानुबंधि—चोरी करना, डाका डालना, चोरी की वस्तु आदि लेना स्तेयानुबंधि रौद्रध्यान है। इसे 'चौर्यानन्द' या 'चौर्यानन्दि' भी कहते हैं।

(४) संरक्षणानुबन्धी—वस्तु, पदार्थ, आभूषण आदि का संरक्षण करने की तीव्र भावना रखना या चिन्तन करना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। इसे 'संरक्षणानन्द' अथवा 'विषयानन्दि' या 'विषय-संरक्षणानुबन्धी' भी कहते हैं।

रौद्रध्यान के लक्षण—आगम कथित रौद्रध्यान के ४ लक्षण इस प्रकार हैं<sup>68</sup>—

(१) ओसन्नदोष—हिंसादि चार भेदों में से किसी भी एक भेद द्वारा सतत प्रवृत्ति करना, विभिन्न साधनों द्वारा पृथ्यादि के छेदन-भेदन क्रियाओं में सतत क्रियाशील रहना, हिंसकप्रवृत्ति अधिक करना, तस-स्थावरादि जीवों की हिंसा के लिए विविध उपाय करना, पांचों इन्द्रियों के पोषण के लिए सतत प्रयत्नशील रहना ये सब स्वयं करना या करवाना 'ओसन्न दोष' नामक रौद्रध्यान का प्रथम लक्षण है।

(२) बहुलदोष—उपरोक्त सभी प्रकार की हिंसादि प्रवृत्ति में तृप्ति न होने से 'बहुल दोष' लगता है।

(३) अज्ञान दोष—इसमें मूढ़ता और अज्ञानता की वृद्धि होती है। सत् शास्त्र श्रवण, सत्संगति में अप्रीति निर्माण होना एवं अरुचि जागना, हिंसक प्रवृत्ति में रुचि होना, देव-गुरु-धर्म के यथार्थ स्वरूप का बोध न होना, इन्द्रिय पोषण तथा कषाय सेवन में ही धर्म मानना—ये सब अज्ञान दोष हैं।

(४) आमरणान्त दोष—मृत्यु पर्यन्त क्रूर हिंसक कार्यों में एवं अठारह प्रकार के पापस्थानक में संलग्न रहना 'आमरणान्त दोष' है।

आगमेतर ग्रन्थों में रौद्रध्यान के बाह्य और आभ्यन्तर लक्षण बताये हैं—

बाह्य लक्षण—हिंसादि उपकरणों का संग्रह करना, क्रूर जीवों पर अनुग्रह करना, दुष्ट जीवों को प्रोत्साहन देना, निर्दयादिक भाव, व्यवहार की क्रूरता, मन-वचन-काययोग की अशुभ प्रवृत्ति, निष्ठुरता, ठगई, ईर्ष्यावृत्ति, माया प्रवृत्ति, क्रोध के कारण आँखों से अंगार बरसना, भृकुटियों का टेढ़ा होना, भीषण रूप बनाना आदि।

आभ्यन्तर लक्षण—मन-वचन-काय से दूसरे का बुरा सोचना, दूसरे की बढ़ती एवं प्रगति को देख दिल में जलना, दुःखी को देख प्रसन्न होना, गुणीजनों से ईर्ष्या करना, इहलोक-परलोक के भय से दूर

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३४५



रहना, पश्चात्ताप रहित प्रवृत्ति होना, पापकार्य में खुश रहना, धर्म-विमुख होना, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म में श्रद्धा बढ़ाना आदि ।

इस प्रकार रौद्रध्यान के ८ प्रकार हैं ।

### धर्मध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा

आगम कथित धर्मध्यान चार प्रकार का है<sup>59</sup>—

(१) आज्ञाविचय धर्मध्यान—(यह) आज्ञा + विचय इन दो शब्दों के संयोग से बना है । 'आज्ञा' शब्द से 'आगम' 'सिद्धान्त' और 'जिनवचन' को लिया जाता है । ये तीनों ही शब्द एकार्थवाची हैं । 'विचय' शब्द का भाव 'विचार' 'विवेक' और 'विचारणा' है । अतः सर्वज्ञप्रणीत आगम पर श्रद्धा रखना । उसमें कथित प्रमाण, नय, निक्षेप, नौ तत्त्व, षट् द्रव्य, सात भंग, छजीवनिकाय आदि सबका मतत चिन्तन करना और भी अन्य सर्वज्ञग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका नय, प्रमाण, निक्षेप, अनेकान्त, स्याद्वाद दृष्टि से चिन्तन करना धर्मध्यान का प्रथम 'आज्ञाविचय' धर्मध्यान है ।

(२) अपायविचय धर्मध्यान— रागादि क्रिया, कषायादिभाव, मिथ्यात्वादि हेतु आस्रव के पाँच कार्य, ४ प्रकार की विकथा, ३ प्रकार का गौगव (ऐश्वर्य, सुख, रस-साता), ३ शल्य (माया शल्य, मिथ्या-दर्शनशल्य, निदानशल्य) २२ परीषह (क्षुधा-तृषा, शीत-ऊष्ण, दंश-मशक, नगन्त्व, अरति, स्त्री, चर्षा, निपद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल (पसीना), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन) इन सभी अपायों का उपाय सोचना विचारणा ही 'अपायविचय' धर्मध्यान है ।

(३) विपाकविचय धर्मध्यान—बँधे जाने वाले कर्मों को चार भागों में विभाजित किया जाता है, जैसे, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध । इनके विपाकोदय का चिन्तन करना 'विपाकविचय धर्मध्यान' है । 'विपाक' से रसोदय लिया जाता है । कर्मप्रकृति में विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को अथवा फल देने के अमिमुख होने को 'विपाक' कहते हैं । विपाक दो प्रकार का है—हेतुविपाक और रसविपाक । पुद्गलादिरूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक फलानुभव होता है वह प्रकृति हेतुविपाकी कहलाती है तथा रस के आश्रय—रस की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है वह प्रकृति रसविपाकी कहलाती है । दोनों प्रकार के विपाक के ४-४ भेद हैं—

हेतुविपाकी के चार भेद हैं—पुद्गलविपाकी, क्षे त्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी ।

रसविपाकी के चार भेद हैं—एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक ।

जीवों के एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यपाप कर्म के फल का, शुभाशुभ कर्मों के रस का, उदय, उदीरणा, संक्रमण, बन्ध और मोक्ष का विचार करते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से कर्मफल का चिन्तन करना (विचार करना) एवं प्रकृति, स्थिति, रस (अनुभाग) और प्रदेशानुसार शुभाशुभ कर्मों के विपाक (उदय-फल) का चिन्तन करना 'विपाकविचय धर्मध्यान' है ।

(४) संस्थानविचय धर्मध्यान—'संस्थान' का अर्थ 'संस्थिति', 'अवस्थिति', 'पदार्थों का स्वरूप' है । 'विचय' का अर्थ—चिन्तन अथवा अभ्यास है । इसमें लोक का स्वरूप, आकार, भेद, षट् द्रव्य - उनका



स्वरूप, लक्षण, भेद, आधार, स्वभाव, प्रमाण, द्वीप, समुद्र, नदियाँ आदि लोक में स्थित सभी पदार्थों का, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यादि पर्यायों का चिन्तन किया जाता है। इसे संस्थान विचय धर्मध्यान कहते हैं।

### धर्मध्यान के चार लक्षण

- (१) आज्ञा-रुचि—प्रवचन में श्रद्धा होना।
- (२) निसर्ग-रुचि—स्वाभाविक (सहज) क्षयोपशम से तत्त्व (सत्य) में श्रद्धा होना।
- (३) सूत्र-रुचि—सूत्र-पठन के द्वारा श्रद्धा होना अथवा जिनोक्त द्रव्यादि पदार्थों को जानने की रुचि जागना।

(४) अवगाढ़-रुचि—विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

और भी लक्षण मिलते हैं—देव-गुरु-धर्म की स्तुति करना, गुणीजनों के गुणों का कथन करना, विनय, नम्रता, सहिष्णुता आदि गुणों से शोभित एवं दानादि भावना में तीव्रता जागना आदि।

### धर्मध्यान के चार आलम्बन<sup>1</sup>

- (१) वाचना—गणधर कथित सूत्रों को पढ़ाना।
- (२) पृच्छना—(प्रतिप्रच्छना)—शंकानिवारण के लिए गुरु के समीप जाकर विनय से प्रश्न पूछना।
- (३) परिवर्तना (परियट्टना)—पठित सूत्रों का (सूत्रार्थ) पुनरावर्तन करना।
- (४) अनुप्रेक्षा (धर्मकथा)—अर्थ का पुनः पुनः चिन्तन करना।

### धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा

ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक होती है, और अहंकार तथा ममकार का नाश भी आवश्यक होता है। इस स्थिति को पाने के लिए ही चार अनुप्रेक्षाओं का निर्देश किया गया है। ये अनुप्रेक्षाएँ निम्नलिखित हैं—

- (१) एकत्व-अनुप्रेक्षा—अकेलेपन का चिन्तन करना। जिससे अहं का नाश होगा।
- (२) अनित्य-अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना। इस भावना के सतत चिन्तन से ममत्व का नाश हो जाता है।
- (३) अशरण-अनुप्रेक्षा—अशरण दशा का चिन्तन करना। संसार में जो वस्तु अनित्य, क्षणिक और नाशवान् हैं वे सभी अशरण-रूप हैं। जन्म, जरा और मरण, आधि-व्याधि-उपाधि से पीड़ित जीवों का संसार में कोई शरण नहीं है। शरण रूप यदि कोई है तो एक मात्र जिनेन्द्र का वचन ही।

(४) संसार-अनुप्रेक्षा—चतुर्गति में परिभ्रमण कराने वाले जन्म-मरण रूप चक्र को संसार कहते हैं। जीव इस संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच संसार चक्र में मिथ्यात्वादि के तीव्रोदय से दुःखित होकर भ्रमण करता है। अतः संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

जो धर्म से युक्त होता है, उसे धर्म्य कहा जाता है।<sup>13</sup> धर्म का एक अर्थ है आत्मा की निर्मल परिणति—मोह और क्षोभरहित परिणाम।<sup>14</sup> धर्म का दूसरा अर्थ है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३४७



सम्यक्चारित्र ।<sup>65</sup> धर्म का तीसरा अर्थ है—वस्तु का स्वभाव ।<sup>66</sup> इन अथवा इन जैसे अन्य अर्थों में प्रयुक्त धर्म को ध्येय बनाने वाला ध्यान धर्मध्यान कहलाता है ।

ध्येय अनन्त हो सकते हैं । द्रव्य और उनके पर्याय अनन्त हैं । जितने द्रव्य और पर्याय हैं, उतने ही ध्येय हैं । उन अनन्त ध्येयों का उक्त चार प्रकारों में समावेश किया गया है ।

धर्मध्यान के अधिकारी—अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयति और अप्रमत्तसंयति—इन सबको धर्मध्यान करने की योग्यता प्राप्त हो सकती है ।

### शुक्लध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेषण

चेतना की स्वाभाविक (उपधि-रहित) परिणति को 'शुक्लध्यान' कहा जाता है । उसके चार प्रकार हैं—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार (सविचारी)—इसमें तीन शब्द आये हुए हैं जिनका अर्थ है—'पृथक्त्व'—भेद, 'वितर्क'—विशेष तर्कणा (द्वादशंगश्रुत), और 'विचार'—'वि'—विशेषरूप से, 'चार'—चलना यानी अर्थ-व्यंजन (शब्द) और योग (मन-वचन-काय) में संक्रान्ति (वदलना) करना ही 'विचार' है ।

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों-नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में, एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक पर्याय से दूसरे पर्याय में, एवं मन वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्लध्यान की उस स्थिति को 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' कहा जाता है ।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार (अविचारी)—इसमें चित्त की स्थिति वायुरहित दीपक की लौ की भांति होती है । जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहाँ शब्द, अर्थ एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, तीन योग में से कोई भी एक ही योग ध्येय रूप में होता है । एक ही ध्येय होने के कारण अर्थ, व्यंजन और योग में एकात्मकता रहती है । द्रव्य-गुण-पर्याय में मेरुवत् निश्चल अवस्थित चिन्तन वाले चोदह, इस ओर नौ पूर्वधारी धार्मिक सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करते हैं । वे असंख्यात-असंख्यात गुणधर्माणक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करते हुए ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तर्गम्य इन तीन कर्मों को केवलज्ञान के प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही युगपद् नाश करते हैं । तब जीव शुद्ध निर्मल धार्मिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । शुक्लध्यान की इस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचार' कहा जाता है ।

(३) सूक्ष्मक्रिय-अविवृत्ति (प्रतिपाती, अनियट्टी)—द्वितीय शुक्लध्यानावस्था में साधक आत्मा ही केवलज्ञान हो जाने से वह समस्त वस्तुओं के द्रव्य और पर्यायों को युगपद् जानने लग जाता है । घातिकर्मों को क्षय कर देता है और अधातिकर्म शेष रहते हैं । अधातिकर्मों को क्षय करने के लिए सभी केवली को 'आउज्जीकरण' की प्रक्रिया करनी पड़ती है । वाद में 'केवली समुद्घात' की प्रक्रिया होती है । केवली समुद्घात सबको नहीं होता । जिनका आयु कर्म कम हो और शेष तीन कर्मों के दलिक अधिक हों तो आयु-सम करने के लिए उनके 'केवली-समुद्घात' होता है । परन्तु जिनके वेदनादि तीन कर्म आयु जितने ही स्थिति वाले हों तो समुद्घात नहीं होता । आयु का कालमान अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर शीघ्र ही 'सूक्ष्म-



क्रिय-प्रतिपाती' नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रारम्भ किया जाता है। यहीं से समुद्घात की क्रिया प्रारम्भ होती है। ध्यानस्थ केवली भगवान् ध्यान के बल से अपने आत्म प्रदेशों को शरीर के बाहर निकालते हैं। केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं। प्रथम समय में दण्ड, द्वितीय समय में कपाट, तीसरे समय में मथानी और चौथे समय में आत्म प्रदेशों को लोकव्यापी करते हैं। पाँचवे समय में लोक में फ़ैले हुए कर्म वाले आत्म प्रदेशों का उपसंहार (संहारण कर सिकोड़ते हैं) होता है। छठे समय में पूर्व-पश्चिम के प्रदेशों का संहार करके मथानी से पुनः मातर्वे समय में कपाट का आकार करते हैं और आठवें समय में दण्डाकार को समेटकर पूर्ववत् अपने मूल शरीर में स्थित हो जाते हैं। जिन्होंने केवली समुद्घात की प्रक्रिया नहीं की वे 'योगनिरोध' की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं। योग सहित जीवों की कदापि मुक्ति हो नहीं सकती। अतः 'योगनिरोध' की प्रक्रिया अवश्य करणीय होती है। योगों (मन-वचन-काय) के विनाश को ही 'योगनिरोध' कहते हैं। याद रहे कि केवली समुद्घात करने वाले भी योगनिरोध की प्रक्रिया करते हैं। केवली भगवान् केवली समुद्घात के अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत हो जाने के बाद तीनों योगों में से सर्वप्रथम वादरकाययोग से वादर मनोयोग को रोकते हैं। बाद में वादरकाययोग से वादरवचन-योग को पुनः अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् वादरकाययोग से वादरउच्छ्वास-निःश्वास को रोकते हैं। इस प्रकार निरोध करते-करते समस्त वादरकाययोग का निरोध हो जाता है, तब सूक्ष्मकाययोग द्वारा सूक्ष्म-मनोयोग, सूक्ष्मकाययोग द्वारा सूक्ष्मवचनयोग का निरोध करते हैं। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् सूक्ष्म-काययोग से सूक्ष्मउच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करते हैं। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर सूक्ष्म-काययोग द्वारा सूक्ष्मकाययोग का निरोध करते हैं। इसमें इन करणों को भी करते हैं, जैसे अपूर्व स्पर्धक और कृष्टिकरण। कृष्टिगत योग वाला होने पर वह 'सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति' ध्यान का ध्याता होता है। 'योगनिरोध' की यह प्रक्रिया है।

(४) समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाती— तीसरे ध्यान के बाद के बाद चतुर्थ ध्यान प्रारम्भ होता है। इसमें योगों (मन-वचन-काय का व्यापार) का पूर्णतः उच्छेद हो जाता है। सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाती' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाती है।

उपाध्याय यशोविजय जी ने ईरभद्र सूक्तित 'योग विन्दु' के आधार से शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों की तुलना संप्रज्ञात समाधि से की है।<sup>69</sup> संप्रज्ञात समाधि के चार प्रकार हैं<sup>69</sup>—(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत, (३) आनंदानुगत और (४) अस्मितानुगत। उन्होंने शुक्लध्यान के शेष दो भेदों की तुलना असंप्रज्ञात-समाधि से की है।<sup>70</sup>

प्रथम दो भेदों में आये हुए 'वितर्क' और 'विचार' शब्द जैन, योगदर्शन और बौद्ध इन तीनों की ध्यान-पद्धतियों में समान रूप से मिलते हैं। जैन साहित्यानुसार वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान और विचार का अर्थ संक्रमण है।<sup>71</sup> वह तीन प्रकार का माना जाता है—

(१) अर्थ विचार— जो द्रव्य अभी ध्येय बना हुआ है, उसे छोड़ पर्याय को ध्येय बना लेना। पर्याय को छोड़ पुनः (फिर) द्रव्य को ध्येय बना लेना अर्थ का संक्रमण है।

(२) व्यञ्जन विचार— वर्तमान में जो श्रुतवचन ध्येय बना हुआ है, उसे छोड़ दूसरे श्रुतवचन को ध्येय बना लेना। कुछ समय के बाद उसे छोड़ किसी अन्य श्रुतवचन को ध्येय बना लेना व्यञ्जन का संक्रमण है।





(३) योग विचार—काययोग को छोड़कर मनोयोग का आलम्बन लेना, मनोयोग को छोड़कर फिर काययोग का आलम्बन लेना योग संक्रमण है ।

‘संक्रमण’ श्रम दूर करने के लिए और नये ज्ञान-पर्यायों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है । कायिक ध्यान, मानसिक ध्यान और वाचिक ध्यान पर्यायों के सूक्ष्म चिन्तन से लगी थकावट को दूर करने के लिए द्रव्य का आलम्बन लेते हैं । नई उपलब्धि के लिए ऐसा किया जाता है । जिससे कर्मक्षय शीघ्र होते हैं ।

योगदर्शन के अनुसार ‘वितर्क’ का अर्थ स्थूल भूतों का साक्षात्कार और ‘विचार’ का अर्थ सूक्ष्म भूतों तथा तन्मात्राओं का साक्षात्कार है ।<sup>72</sup>

बौद्ध दर्शन के अनुसार ‘वितर्क’ का अर्थ आलम्बन में स्थिर होना और ‘विचार-विकल्प’ का अर्थ उस आलम्बन में एकरस हो जाता है ।<sup>73</sup>

इन तीनों परम्पराओं में शब्द-साम्य होने पर भी उनके संदर्भ पृथक्-पृथक् हैं ।

आचार्य अकलंक ने ध्यान की प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन किया है । उन्होंने कहा है<sup>74</sup>—उत्तम संहतन होने पर भी परीषहों को सहने की क्षमता का आत्मविश्वास हुए बिना ध्यान-साधना नहीं हो सकती । परीषहों की बाधा सहकर ही ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है । पर्वत, गुफा, वृक्ष की खोह, नदी तट, पुल, श्मशान, जीर्णउद्यान और शून्यागार आदि किसी स्थान में व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के अगोचर, निर्जन्तु, समशीतोष्ण, अतिवायु रहित, वर्षा, आतप आदि से रहित तात्पर्य यह कि सम बाह्य-आभ्यन्तर बाधाओं से शून्य और पवित्र भूमि पर सुखर्वक पत्यङ्कासन में बैठना चाहिए । उस समय शरीर को सम, ऋजु और निश्चल रखना चाहिए । बाएँ हाथ पर दाहिना हाथ रखकर, न खुले हुए और न बन्द, किन्तु कुछ खुले हुए दाँतों को रखकर, कुछ ऊपर किये हुए सीधी कमर और सीधी (गम्भीर) गर्दन किए हुए प्रसन्न मुख और अनिमिष स्थिर सौम्यदृष्टि होकर निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदि को छोड़कर मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेने वाला साधु ध्यान की तैयारी करता है । वह नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक, कपाल या और कहीं अभ्यासानुसार मन को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है । इस तरह एकाग्रचित्त होकर राग, द्वेष, मोह का उपशम कर कुशलता से शरीर क्रियाओं का निग्रह कर मन्द श्वासोच्छ्वास लेता हुआ निश्चित लक्ष्य और क्षमाशील ही बाह्य-आभ्यन्तर द्रव्य पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क की सामर्थ्य से युक्त हो अर्थ और व्यञ्जन तथा मन, वचन, काय की पृथक्-पृथक् संक्रान्ति करता है । फिर शक्ति की कमी होने से योग से योगान्तर और व्यञ्जन से व्यञ्जनान्तर में संक्रमण होता है ।”

शुक्लध्यान का चतुर्थ चरण (भेद) योगों की क्रिया से रहित होने से केवलज्ञानी अयोगीकेवली बन जाते हैं । चतुर्थध्यान को ‘व्यवच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती’ या ‘व्युच्छिन्न-व्युपरत-क्रिया-अप्रतिपाती’ कहते हैं । अप्रतिपाती का अर्थ है—अटल स्वभाव वाली अथवा शाश्वत काल तक अयोग अवस्था कायम रहे । तदनन्तर शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर चतुर्थ ‘समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति’ शुक्लध्यान का ध्याता होता है । इसमें साधक की अवस्था मेखवत् होती है । यहाँ ‘ध्यान’ का अर्थ एकान्त रूप से जीव के चिन्ता का निरोध—परिस्पन्द का अभाव है । अन्तिम दो ध्यान संवर निर्जरा का कारण है ।

शुक्लध्यान का लक्षण—आगम में शुक्लध्यान के चार लक्षण बताये हैं<sup>75</sup>—

३५० । सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग

(१) अव्यथा—इसे 'अवध' भी कहते हैं। अवध का अर्थ है—अचलता। क्षोभ का अभाव ही 'अव्यथा' है।

(२) असंमोह—अनुकूल प्रतिकूल उपद्रव या परीषह आने पर विचलित नहीं होना। या सूक्ष्म-पदार्थ-विषयक भ्रूढ़ता का अभाव।

(३) विवेक—सदसद्विवेक बुद्धि से भेदविज्ञान (शरीर और आत्मा का ज्ञान) होना।

(४) व्युत्सर्ग—'त्याग' शरीर और उपधि में अनासक्त भाव।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन—आगम में चार प्रकार के आलम्बन का कथन है<sup>76</sup>—

(१) क्षमा, (२) मुक्ति (निर्लोभता) (३) अर्जव (सरलता) और (४) भार्दव (मृदुता)।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षा—आगमकथित चार अनुप्रेक्षा इस प्रकार हैं<sup>77</sup>—

(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा—संसार (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव) परम्परा का चिन्तन करना। भव भ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व और कषाय है। सब कर्मों में प्रधान मोहनीय कर्म है। यह कर्मों का राजा है। इसके कारण ही संसार में जीव अनन्तानन्त भव तक भ्रमण करता रहता है। इसका चिन्तन करना ही 'अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा' है।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा—संसार की प्रत्येक वस्तु परिणमशील है। पुद्गल का स्वभाव परिणमनशील है। अतः वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन करना ही 'विपरिणामानुप्रेक्षा' है।

(३) अशुभानुप्रेक्षा—संसार में जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, आधि, व्याधि, उपाधि, संयोग, वियोग आदि का चक्र अनादिकाल से चल रहा है। निगोदावस्था में अनन्तानन्त काल व्यतीत किया। चारों गति में भटका। तिर्यच और मनुष्य भव में भी अशुचि स्थानों में जन्मा-मरा। इस प्रकार पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना ही 'अशुभानुप्रेक्षा' है।

(४) अपायानुप्रेक्षा—कर्मबन्ध के पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये ही संसारवृद्धिकारक हैं। और भी आर्त्त-रौद्र-ध्यान, तीन जल्य, तीन गारव, अज्ञानता, राग, द्वेष और मोह ये सब अपाय हैं। भववर्द्धक हैं। इन दोषों का चिन्तन करना ही 'अपायानुप्रेक्षा' है।

### आगमिक टीकानुसार ध्यान के भेद

आगमिक ग्रन्थों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाएँ हैं। निर्युक्तियाँ अनेक हैं। उनमें आवश्यक-निर्युक्त प्राचीनतम है। उसके 'कायोत्सर्ग' प्रकरण में ध्यान का वर्णन है। वहाँ शुभ और अशुभ ऐसे ध्यान के दो भेद किए हैं।<sup>78</sup> आर्त्त-रौद्रध्यान अशुभ हैं और धर्म-शुक्लध्यान शुभ हैं। भाष्य, चूर्णि और टीका में 'प्रशस्त' और 'अप्रशस्त' ऐसे दो भेद मिलते हैं।

### आगमेतर साहित्यानुसार ध्यान के भेद

निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान के कभी भेद हो नहीं सकते। व्यवहारनय की दृष्टि से ही भेद-प्रभेदों का विचार किया गया है। इसलिए १, २, ३, ४, १०, ८० और ४४२३६८ भेद छद्मस्थ ध्यान की दृष्टि से किये गये हैं<sup>79</sup>—

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३५१

१ भेद— पंच परमेष्ठी का लौकिक ध्यान ।

२ भेद— शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त, सुध्यान-दुध्यान, ध्यान-अध्यान, द्रव्य-भाव, स्थूल-सूक्ष्म, मुख्य-उपचार, निश्चय-व्यवहार, स्वरूपालम्बन-परालम्बन आदि ।

३ भेद—परिणाम, विचार और अध्यवसायानुसार ध्यान के भेद किये हैं—वाचिक, कायिक और मानसिक; तीव्र, मृदु और मध्य; जघन्य, मध्यम और उत्तम ।

४ भेद—ध्येयानुसार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत एवं अन्य दृष्टि से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ।

१० भेद—कतिपय ग्रन्थों में निम्नलिखित दस भेद मिलते हैं—

- |                   |                   |
|-------------------|-------------------|
| (१) अपाय विचय,    | (२) उपाय विचय,    |
| (३) जीव विचय,     | (४) अजीव विजय,    |
| (५) विपाक विचय,   | (६) विराग विचय,   |
| (७) भव विचय,      | (८) संस्थान विचय, |
| (९) आज्ञा विचय और | (१०) हेतु विचय ।  |

८० भेद—(१) स्थान, (२) वर्ण (उच्चारण), (३) अर्थ, (४) आलम्बन और (५) अनालम्बन इन पाँच भेदों का, (१) इच्छा, (२) प्रवृत्ति, (३) स्थिरता और (४) सिद्धि—इन चार से गुणा करने पर २० भेद होते हैं । २० भेदों का (१) अनुकम्पा, (२) निर्वेद, (३) संवेग और (४) प्रशम इन चार इच्छा-नियोगों से गुणाकार करने से धर्मध्यान के ८० भेद होते हैं ।  $(५ \times ४ \times ४ = ८०)$

४४२३६८ भेद—मुख्यतः ध्यान के २४ भेद किये गये हैं । जैसे—

- |              |                  |
|--------------|------------------|
| (१) ध्यान,   | (२) परमध्यान,    |
| (३) शून्य,   | (४) परमशून्य,    |
| (५) कला,     | (६) परमकला,      |
| (७) ज्योति,  | (८) परमज्योति,   |
| (९) बिन्दु,  | (१०) परमबिन्दु,  |
| (११) नाद,    | (१२) परमनाद,     |
| (१३) तारा,   | (१४) परमतारा,    |
| (१५) लय,     | (१६) परमलय,      |
| (१७) लव,     | (१८) परमलव,      |
| (१९) मात्रा, | (२०) परममात्रा,  |
| (२१) पद,     | (२२) परमपद,      |
| (२३) सिद्धि, | (२४) परमसिद्धि । |

भवनयोग (सहजयोग-सहजक्रिया-मरुदेवीमाता) के ९६ भेद करणयोग (सहज क्रिया से विपरीत) के भी ९६ भेद और करण के ९६ भेद,

करण के ९६ भेदों का 'ध्यान, परमध्यान' आदि २४ भेदों का गुणाकार करने से— $९६ \times २४ = २३०४$  भेद होते हैं ।

३५२ | सातवाँ खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग



२३०४ भेदों का भवनयोग से गुणाकार करने से— $६६ \times २३०४ = २२११८४$

२३०४ भेदों का करणयोग से गुणाकार करने से— $६६ \times २३०४ = २२११८४$

$२२११८४ + २२११८४ = ४४२३६८$  भेद ध्यान के होते हैं ।

### ध्यान का मूल्यांकन

हमारे सामने दो प्रकार का जगत् है, जैसे—पदार्थ जगत्-आत्म जगत्, स्थूल जगत्-सूक्ष्म जगत्, बाह्यजगत्-अन्तर्जगत्, निमित्तों का जगत्-उपादान का जगत् । पदार्थ-बाह्य-स्थूल जगत् से हम परिचित हैं किन्तु अन्तर्-आत्म-सूक्ष्म जगत् से अनभिज्ञ (अपरिचित) हैं । उसके लिए जागृत होना होगा । क्योंकि ध्यान का लक्ष्य है जीवन का परिवर्तन । मिथ्यादृष्टि से हटकर सम्यग्दृष्टि में आना ही ध्यान की प्रक्रिया है । ध्यान से आध्यात्मिक परम सुख की प्राप्ति होती ही है साथ ही साथ शारीरिक और मानसिक विकास भी उत्तरोत्तर होता रहता है । काया की स्थिरता, मन की निर्मलता, वचन की मधुरता, हृदय की पवित्रता ध्यान से ही प्राप्त होती है । दशा को बदलने के लिए दिशा को बदलना होगा । दिशा का परिवर्तन आचार-विचार-उच्चार की निर्मलता से होता है । चित्तशुद्धि से कर्म-मलादि का शोधन होता है । जैसे—मैले-कुचैले वस्त्र को पानी से, लोहे को अग्नि से, कीचड़ को सूर्य किरणों से शोधन किया जाता है वैसे ही ध्यान रूपी पानी, अग्नि, सूर्य से कर्ममल का परिशीलन (छानन) किया जाता है ।<sup>80</sup> अतः ध्यानाग्नि से ही कर्म ईधन को जलाया जा सकता है । ध्यान जीवन परिवर्तन की परम औषधि है । जन्म मरण का रोग भयंकर है । द्रव्यरोग की दवा डॉक्टर के पास है, भावरोग की नहीं । वह तो ध्यानियों के ही पास है । देखिए सनत्कुमार चक्रवर्ती, चिलाति चोर आदि भव्यात्माओं ने ध्यान बल से भावरोग को नाश कर दिया । ऐसे साधक आत्मा एक दो तीन नहीं बल्कि अनेकों हैं । उन्होंने आहारशुद्धि, दैनिक चर्या शुद्धि, विचारशुद्धि, व्यवहारशुद्धि, चित्तशुद्धि तथा योगशुद्धि (मन वचन काय व्यापार) से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बल प्राप्त किया । वह बल अनेक प्रकार की लब्धियों को प्राप्त कराता है । पर स्मरण रहे महावीर की साधना में चमत्कार को महत्व नहीं है किन्तु सदाचार, आत्मशुद्धि और रत्नत्रय साधना को ही है । ध्यान प्रक्रिया तब ही सिद्ध होगी जबकि रत्नत्रय साधना का उत्तरोत्तर विकास होगा । जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को रत्नत्रय कहा है । रत्नत्रय की साधना आध्यात्मिक साधना है । आध्यात्मिक साधना का स्वर रहा है—मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को जानो, देखो और अनुभव करो । ज्ञान और क्रिया के सुयोग से मोक्ष मिलता है । इन दोनों के बिना ध्यान साधा नहीं जाता । ध्यान से कषायों का शमन होता है और कषायों का सर्वथा शमन (नाश) ही मोक्ष है ।<sup>81</sup>

ध्यान कराया नहीं जाता, वह अनुभूति का विषय है । महावीर की समस्त साधना विधि का परिचय 'ध्यान' शब्द से न होकर 'समता' से होता है । समत्व योग की साधना ही ध्यान की साधना है । ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है । प्रशस्त ध्यान से केवल साम्य ही स्थिर नहीं होता, अपितु कर्ममल से मलिन जीव की शुद्धि होती है ।<sup>82</sup> अतः ध्यान किया नहीं जाता वह फलित होता है । हमारे शारीरिक मानसिक सन्तुलन दशा का परिणाम ही ध्यानावस्था है । वर्तमान कालीन परिस्थिति में शान्ति पाना हो तो एकमात्र परम औषधि है 'ध्यान' । ध्यान की प्रक्रिया से आत्मिक शान्ति मिलती है ।<sup>83</sup>



'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साध्वी प्रियदर्शना | ३५३

१. (क) "ध्यै-ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम् ।  
एकाग्र चित्तनिरोध इत्यर्थः । "ध्यै चिन्ताश्राम्" ।— अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ४, पृ० १६६२
- (ख) (ध्यै + ल्युट्) "ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते" । —संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० ५७५
२. युजृपी योग (गण ७) हेमचन्द्र धातुपाठ  
युञ्चि च समाधि । (गण ४) हेमचन्द्र धातुपाठ ।
३. (क) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । — पातंजल योगसूत्र १/२  
(ख) समत्वं योग उच्यते । — गीता २, ४८  
(ग) संयोगो योगवत्युक्ता जीवात्मा परमात्मा ।  
— उद्धृत, जिनवाणी, ध्यान-परिशिष्टांक, नवम्बर १९७२
४. (क) तत्त्वार्थसूत्र ६/१—२  
(ख) सर्वार्थसिद्धि (पुण्यपाद) ६/१—२  
(ग) नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य, पद्मप्रभमलधारी टीका) गा० १३७-१३८ एवं टीका ।  
(घ) योगविंशति (हरिभद्र) गा० १  
(ङ) भगवती आराधना (शिवार्य) भा० १ गा० १८२७ एवं अपराजित टीका पृ० ४४  
(च) समिति गुप्ति साधारणं धर्मं व्यापारत्वं योगत्वं ।  
— उद्धृत, योगदृष्टि समुच्चय (डा० भगवानदास मनुभाई मेहता) पृ० २१
५. उद्धृत, योगसार प्राभृत, प्रस्तावना, पृ० १७ ।
६. (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४८०-४८२, ४७०, (ख) सर्वार्थसिद्धि ६/२८ ।
७. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र टीका, पृ० ३५६ ।
८. (क) आचारांगसूत्रम् सूयगडांगसूत्रम् (टी० शी०—पुण्यविजयजी) २/८/२८ ।  
(ख) सूत्रकृतांगम् (शी० टी० जवाहरमलजी म०) (भा० ३) १५/३ ।  
(ग) पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा० १४४ टीका पृ० २०६ ।
९. सूत्रकृतांगम् (शी० टी० जवाहरमलजी म०), भा० ३, १५/३, भा० २ टीका पृ० १२६ ।
१०. आचारांगसूत्रम् सूयगडांगसूत्रम् (शी० टी० पुण्यविजय जी) टी० पृ० १६८ ।
११. (क) तत्त्वार्थसूत्र ६/१ ।  
(ख) प्रश्नमरत्ति प्रकरणम् (उमास्वाति) गा० १३८ एवं टीका ।  
(ग) योगसार प्राभृत (अमितगति) ५/१ । (घ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ६५ ।
१२. (क) योगसार प्राभृत ६/१ ।  
(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ० ४६ ।  
(ग) सिद्धान्त सार प्रकरणम् १०/१ ।

१३. (क) योगशास्त्र ४/८६ ।  
 (ख) प्रणमरति प्रकरणम् गा० १५६ एवं उसकी टीका ।  
 (ग) योगसार प्राभृत ६/१ ।  
 (घ) सिद्धान्तसार संग्रह १०/१-३ ।
१४. ध्यान शतक (जिनभद्रगणि क्षमाक्षमण) गा० ६६ ।
१५. (क) सिद्धान्तसार संग्रह ११/३३ ।  
 (ख) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ४, पृ० १६६१ ।
१६. (क) आवश्यकनिर्युक्ति (भा० २) पृ० ७० । (ख) ध्यान शतक गा० २ ।  
 (ग) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ४ पृ० १६६२ ।
१७. (क) एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । —तत्त्वार्थसूत्र ६/२७  
 (ख) सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ६/२७ ।  
 (ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र (रामसेनाचार्य) गा० ५६ ।  
 (घ) अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं बत्थुम्मि माणसं गाणं । —स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४७०
१८. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४७० ।
१९. (क) अग्रं मुखं । एकमग्रभस्येत्येकाग्रः । —सर्वार्थसिद्धि ६/२७  
 (ख) अंग्यते तदंगमिति तस्मिन्निति वाऽग्रं मुखम् । —तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७  
 (ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ५७-५८ ।
२०. (क) व्यग्रं हि ज्ञानं न ध्यानमिति । —तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७  
 (ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ५६ ।
२१. (क) सर्वार्थसिद्धि ६/२७ । (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७ ।  
 (ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६१ ।
२२. (क) सर्वार्थसिद्धि ६/२७ । (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७ ।  
 (ग) तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३० ।
२३. (क) गाणं अप्पा सव्वं जहा मुयकेवली तम्हा । —समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य) गा० १०  
 (ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६६ ।
२४. (क) तत्त्वार्थ सूत्र ६/२७ । (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७ ।  
 (ग) ध्यानशतक (जिनभद्रगणि क्षमाक्षमण) गा० ६६ ।  
 (घ) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६६ ।
२५. ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यानं करण साधनम् ।  
 —अर्थ २१-२३ उद्धृत, तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र, पृ० ६६
२६. (क) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७ ।  
 (ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र (रामसेना) गा० ६४  
 (ग) तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३१ ।

‘भारतीय-ब्राह्मण्य में ध्यानयोग का एक विश्लेषण’ डॉ० साध्वी प्रियदर्शना । ३५५

२७. (क) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७ ।  
 (ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६७, ७१ ।
२८. (क) १०८ उपनिषद् (साधना खण्ड) "योग चूडामणि उपनिषद्" पृ० ७० ।  
 (ख) ध्यानयोग रहस्य (स्वामी शिवानन्द) पृ० १२६-१२७ ।
२९. (क) आत्म प्रभा (द० ल० निरोसेकर) पृ० १३७-१३८ ।  
 (ख) ध्यानयोग रहस्य पृ० १२६-१२७ ।
३०. (क) लययोग संहिता, उद्धृत कल्याण साधना अंक पृ० १३३ ।  
 (ख) गोरक्षा संहिता (डॉ० चमनलाल गौतम) २/६३-६४ ।  
 (ग) सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति (गोरखनाथ) २/२६-२९, १०-२३ ।
३१. (क) योगशास्त्र, उद्धृत कल्याण साधना अंक पृ० १३२ ।  
 (ख) पुराण पर्यालोचनम् (पं० परि) पृ० ३२७ ।
३२. (क) योगशास्त्र, उद्धृत, कल्याण साधना अंक पृ० १३४ ।  
 (ख) विवेक चूडामणि गा० ६५-६६ ।  
 (ग) राजयोग संहिता, उद्धृत, कल्याण साधना अंक, पृ० १३५ ।  
 (घ) योगोपनिषदः— 'तेजोविन्दूपनिषद्' १/३४-३६ ।
३३. (क) समकालीन भारतीय दर्शन (डॉ० श्रीमती लक्ष्मी स्वसेना) पृ० ७७, २५६ ।  
 (ख) ज्ञानयोग, राजयोग (विवेकानन्द) पृ० २३५-३४८, ३८५, भूमिका पृ० ५ ।
३४. (क) सुत्तपिटके 'अंगुत्तरनिकाय'— ३/७/६ ।  
 (ख) अभिधम्मपिटके 'घम्म संगपिपालि' ४/२/४८ ।
३५. विसुद्धि मग्ग (खन्धनिहेसो) पृ० ३८०-३८२ ।
३६. विसुद्धि मग्ग (खन्धनिहेसो) पृ० ३८२ ।
३७. दि सिक वर्ल्ड हेरीवार्ड, कैरिंगटन पृ० १४१ ।  
 —उद्धृत, ध्यानयोग (अंक) डॉ० नरेन्द्र भानावत पृ० १६० ।
३८. (क) नवीन मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ० ४ ।  
 (ख) सरल मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ० १३ ।  
 (ग) योग मनोविज्ञान (डॉ० शान्ति प्रकाश आत्रेय) पृ० ३२७ ।
३९. सरल मनोविज्ञान पृ० १३६ ।
४०. सरल मनोविज्ञान पृ० १३६ ।
४१. मेन्युयल ऑफ सायकोलॉजी, स्टाउट पृ० १२५ ।  
 —उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ० नरेन्द्र भानावत) पृ० १६१ ।

३५६ | सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग

४२. (क) योगा एण्ड पर्सिनाल्टी (के० एस० जोशी) पृ० १४४ ।  
—उद्धृत, ध्यानयोग—(डा० नरेन्द्र भानावत) 'अंक' पृ० १६३  
(ख) दि सिक वर्ल्ड पृ० १८८ । —उद्धृत, ध्यानयोग—(अंक) पृ० १६३
४३. सरल मनोविज्ञान पृ० ६ ।
४४. उद्धृत, ध्यानयोग रूप और दर्शन (डा० नरेन्द्र भानावत) पृ० २२३ ।
४५. (क) समाधि-तन्त्र (देवचन्द) गा० ३५-३६ ।  
(ख) योग दीपक (बुद्धि सागर) गा० ३०-३३ ।  
(ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ७८ ।  
(घ) अध्यात्म तत्त्वालोक ६/५, ६/१० ।
४६. (क) ध्यानशतक गा० २८-२९ । (ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ३७ ।
४७. (क) स्थानांग सूत्र (आत्मा० म०) ४/१/१२ । (ख) तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) ६/७ ।  
(ग) कुन्दकुन्द भारती के 'बारस अणुपेक्खा' में देखे ।
४८. (क) 'कण्हपक्खिण' । —आयारदसा (मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल') ६/१४  
(ख) नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य) १/१५ । (ग) पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा० १६-२० ।
४९. असावचरमावत्ते, धर्मं हरति पश्यतः । —ज्ञानसार (उपा० यशोविजयजी) २१/७  
५०. (क) 'सुक्कपक्खिण' । —आयारदसा ६/१६  
(ख) योगबिन्दु (हरिभद्र) २७८ ।
५१. (क) योगशतक (हरिभद्र) गा० ६ । (ख) हरिभद्र योगभारती पृ० २६ ।
५२. (क) अन्तर्मुहूर्तकालं चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि यत्तदछद्मस्थानां ध्यानं ।  
—आवश्यकनिर्युक्ति (भा० २) पृ० ७१  
(ख) योगणरोहो जिणाणं तु । —ध्यानशतक गा० ३
५३. (क) गुणस्थान क्रमारोह गा० ३७, ३९ । (ख) गोम्मटसार—'जीवकाण्ड' गा० ५०-५३ ।
५४. स्थानांगसूत्र (आत्मा० म०) ४/१/१२ ।
५५. (क) स्थानांग सूत्र ४/१/१२ । (ख) ध्यानशतक गा० ७-१०, १३ ।  
(ग) ज्ञानार्णव २५/२५-३२, ३४-३६ । (घ) आचारांग सूत्र ६/१/६०४ ।  
(ङ) सिद्धान्तसार संग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) ११/३७-३८ ।  
(च) तत्त्वार्थसूत्र ६/३४ ।
५६. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) ध्यातशतक गा० १५-१७ ।
५७. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) ध्यानशतक १६ ।  
(ग) सिद्धान्तसार संग्रह ११/१२, ४३, ४५ । (घ) ध्यानकल्पतरु पृ० १२ ।  
(ङ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४७५ । (च) ज्ञानार्णव २६/४-१२, १६, २६ ।
५८. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार ४४, गा० ४५१-४५२ ।  
(ग) ध्यान कल्पतरु (पू० अमो०) पृ० २१ । (घ) ध्यानशतक गा० २६ ।  
(ङ) ध्यान दीपिका (गु० विजयकेसरसूरि) गा० १२१ ।

'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डा० साध्वी प्रियदर्शना | ३५७



५६. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) तत्त्वार्थवातिके ६/३६ टीका ।  
 (ग) सर्वार्थसिद्धि ६/३६ टीका ।  
 (घ) षट्खण्डागम (वीरसेनाचार्य) भा० ५, पृ० ७०, ७२ ।  
 (ङ) योगशास्त्र १०/६-१० ।  
 (च) ध्यानशतक गा० ४५-६२ ।  
 (छ) ज्ञानार्णव ३८/२-३, ६, ११-१२, ६, १-१५-१६ ।  
 (ज) सिद्धान्तसार संग्रह ११/५१-५२-५८ ।  
 (झ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० २७, ३२, ३३, ६७, एवं पृ० ३६७ ।  
 (ञ) गुणस्थान क्रमारोह (रत्नशेखर सूरि) गा० ३ । योगसार प्राभृत १/१३-१४

—उद्धृत, धर्मरत्न प्रकरण ।

६०. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) ध्यानशतक गा० ६७-७८ ।  
 ६१. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) ठाणे (मुत्तागमे) ४/१/३०८ ।  
 (ग) भगवती सूत्र २५/७ । (घ) ध्यानशतक गा० ४२ ।  
 ६२. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) भगवती सूत्र २५/७ ।  
 (ग) ज्ञानार्णव २/३१, ३६, ३८-४०, १, २, (घ) अध्यात्म तत्त्वालोक ४, ७, ६/११-२२ ।  
 (ङ) प्रजमरतिप्रकरण (उमास्वाति) गा० १५१-१५२ ।  
 (च) शांति सुधारस पृ० ३५, ६६, ३२, ६४-६६ ।  
 (छ) योगशास्त्र ४/६२-६६ ।  
 (ज) सूत्रकृतांग २/१/१३ ।  
 (झ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ३४, ७४, ७६, ६६, ६४, ६६, ३८ ।

६३. धर्मादिनयेतं धर्म्यम् । तत्त्वार्थभाग्य ६/२८

६४. तत्त्वानुशासन ५२, ५५ ।

६५. तत्त्वानुशासन ५१ ।

६६. तत्त्वानुशासन ५३, ५४ ।

६७. (क) स्था० सू० ४/१/१२ ।  
 (ख) षट्खण्डागम (ध्वला टी०) भा० ५, पृ० ७७-७८, ८४-८५, ८७ ।  
 (ग) तत्त्वार्थ सूत्र ६/४१ । सर्वार्थसिद्धि, ६/४४ ।  
 (घ) योगशास्त्र ११/५, ६, ८, ५१, ५२, ५३-५५, ५६-५७ ।  
 (ङ) ध्यानशतक ।  
 (च) ज्ञानार्णव ४२/६, १३, १५, ४३, ५१ ।  
 (छ) सिद्धान्तसार संग्रह ११/७१-७२, ७६ ।  
 (ज) महापुराण (आ० जिनेसेन) २/१/१७०-१७१, १७५, १७८, १८३, १८४, १४५ ।  
 (झ) ओववाड्य सूत्र, पृ० ३६-३७, पणवणासुत्त ३६/७१ ।  
 (ञ) सचित्र अर्धमागधी कोश (गतावधानी रत्नचन्द्र मुनि) भा० २ पृ० १०-११ ।

३५ = सान्निवा खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग

- (ट) विज्ञेयपावश्यकभाष्य गा० ३०५१ एवं टीका पृ० २४२ ।  
 (ड) खवगमेती (स्वोपज्ञवृत्ति-श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वर) पृ० ४४८-४४९ ।  
 (इ) प्रणमरतिप्रकरण गा० २७४-२७५ एवं टीका, २७८-२८० ।
१८. (क) जैनदृष्टया परीक्षित पातञ्जलयोगदर्शनम् १/१७-१८ ।  
 (ख) योगविन्दु गा० ४१८ ।
१९. पातञ्जल योगदर्शनम् १/१७ ।
२०. (क) जैनदृष्टया परीक्षित पातञ्जल योगदर्शनम् १/१७, १८ ।  
 (ख) योगविन्दु ४२०-२१ ।
२१. तत्त्वार्थ सूत्र ९/४४ ।
२२. पातञ्जल योगदर्शन १/४२-४४ ।
२३. विमुक्तिमग्ग भा० १ पृ० १३४ ।
२४. तत्त्वार्थवार्तिक ९/४४ ।
२५. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) ध्यानशतक गा० ९०-९२ ।  
 २६. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) भगवती सू० २५/७ ।  
 २७. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) भगवती सू० २५/७ ।  
 (ग) ध्यानशतक गा० ८८ । (घ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ६६-७२, ३८, ८६
२८. (क) आवश्यकनिर्मुक्ति गा० १४६५ । (ख) आवश्यकचूर्णि पृ० २१५ (भा० २) ।  
 २९. (क) योगशास्त्र ७/८ । (ख) ज्ञानार्णव २५/१७, २० ।  
 (ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४८० एवं टीका पृ० ३६६, ३७०, ३६७ ।  
 (घ) तत्त्वानुशासन (राम० से०) गा० ४७-४८ । (ङ) ध्यानदीपिका (मु०) गा० ६७ ।  
 (च) अभिधान राजेन्द्र कोश भा० ४, पृ० १६६३ ।  
 (छ) तत्त्वार्थवार्तिक ९/२८ । (ज) उपासकाध्ययन ३६/७०६-५११ ।  
 (झ) श्रावकाचार संग्रह भा० १ पृ० ४०६ ।  
 (ञ) द्वारिभद्र योग भारती (मुनि जयमुन्दरविजय) टी० पृ० ८, गा० २, ४, ८ ।  
 (ट) ध्यान विचार । — उद्धृत, नमस्कार स्वाध्याय (प्रा० वि०) पृ० ०२५-२४६ ।
३०. (क) ध्यानशतक (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण) गा० ९७-९८ ।  
 (ख) ज्ञानार्णव २५/७ ।
३१. उत्तरा० सू० ३२/२ ।
३२. (क) योगशास्त्र ४/११२ । (ख) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) २५/२-४ ।
३३. विशेष जिज्ञामु लेखिका का 'जैन साधना पद्धति में ध्यानयोग' शोध प्रबन्ध देखें ।



'भारतीय-वाङ्मय में ध्यानयोग : एक विश्लेषण' : डॉ० साश्वती प्रियदर्शना । ३५६

## नाम-साधना का मनोवैज्ञानिक विवेचन

—डा० ए० डी० बतरा  
(पुणे विश्वविद्यालय)

विज्ञान की प्रगति अनेक शास्त्रों को प्रभावित/प्रेरित कर रही है—इसका प्रभाव व्यापक रूप में जीवन के सभी आयामों में दिखता है, भौतिक और भावनिक (आध्यात्मिक) सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक जिज्ञासा अनुभव होती है। व्यक्तिगत विचार, निजी अनुभव, अपना मत आदि प्राचीन कल्पनायें निरर्थक सिद्ध हो रही हैं। व्यक्तिनिरपेक्ष विचार, शास्त्रीय स्तर, स्वयं मान्यता प्राप्त विचार अनुभव ही अब ग्राह्य माना जाता है।

मनोविज्ञान का अर्थ प्रायोगिक मनोविज्ञान समझा जा रहा है। अनुभवजन्य मनोविज्ञान इतिहास का विषय बन चुका है। धर्म और धार्मिक विधायें-अनुभव भी अब शास्त्रीय कसौटी पर परखे बिना मान्य नहीं है।

धर्म और धार्मिक वृत्ति—मनःस्थिति, स्वभाव प्रायः व्यक्ति का निजी विषय है। यह जीवन का वह आयाम है जहाँ, 'अन्य' को सामान्यतः प्रवेश नहीं है—मन को समझने की साधारण अवस्था उपलब्ध नहीं है, मन का मनोवैज्ञानिक स्वरूप बहुत ही मर्यादित आयामों में समझा जा सकेगा। धर्म की विधायें, धर्म का पालन करने वाले उसके प्रति आस्था-विश्वास और प्रयोग-तुलना करने की मनःस्थिति वाले शास्त्रज्ञ-विद्वान, सन्त अच्छी तरह समझ सकेंगे। कुछ समान अनुभव, कुछ नये, कहीं न कहीं सामान्यीकरण की परस्थिति आवरण बना सकेंगे। इस दशा में प्रयत्न और प्रयोग की मानसिक कार्यात्मक तत्परता चाहिए।

भारतीय धर्म में धर्म-साधना/अध्यात्म-साधना के अनेक आयाम हैं। नाम-साधना, जपध्यान आदि संज्ञाओं द्वारा समझी जाने वाली साधना प्राचीन काल से ही धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग/क्रिया मानी जाती है। भक्ति शास्त्रों/सूत्रों में तो इसका विशेष महत्व मान्य किया गया है।

साधना पद्धति में साधक के जीवन और साधना के परिणामों की ओर प्रायः सभी का ध्यान रहता है परन्तु इसका विवेचन/उल्लेख बहुत ही कम मिलता है। जप साधना का जीवन पर क्या, किस प्रकार, कब, कैसे, क्यों परिणाम होता है? उसकी यथार्थता सत्यासत्य की परख आदि के विषय में अनेक विवादास्पद विवेचन प्राचीन शास्त्रों में उल्लिखित हैं। इन स्थितियों का विवेचन वर्णन यद्यपि आवश्यक है तथापि यह विवेचन कौन कर सकता है या कौन समझ सकता है यह भी विवाद का विषय है इस विवाद ने भ्रम-भ्रान्ति जाल अवश्य खड़ा कर दिया है।

३६० | सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग

साधना के साथ आचरण का सम्बन्ध, नैतिक जीवन की मान्यतायें आदि विवाद के संकल्प जुड़े हुए हैं, यद्यपि यम-नियम-शम-दम-स्वाध्याय-संत-संग आदि विधानों का उल्लेख मिलता है परन्तु दुर्भाग्य से इन संकल्पनाओं का मन-माना और विकृत अर्थ लगा लिया गया है—कारण मानक स्तर (Standard) विवाद का विषय है। अनुकरण सम्भव है क्या? सबके लिए नियम, कुछ के लिए नियम, इत्यादि अपवादों ने मुख्य सिद्धान्त को विकृतियों से ढँक दिया है।

अध्यात्म-साधना के अनुभव, साक्षात्कार अनुभूति का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है। इन अनुभवों का विवेचन सम्भव है क्या? यह अनुभव इन्द्रियग्रन्थ है क्या? अतीन्द्रिय अनुभव भी हो सकते हैं—इसका तुलनात्मक अध्ययन सम्भव होगा? उसका कुछ उपयोग होगा क्या? सत्यासत्य का निर्णय कौन कर सकता है? ऐसे अनेक प्रश्न खड़े हैं। अनुभूति का आदान-प्रदान प्रायः असम्भव है, ऐसा सिद्धान्त अस्तित्ववादी तत्ववेत्ता कहते हैं। अनुभूति के आदान-प्रदान ने धर्म और धार्मिक क्रियाओं में अनेक भ्रम खड़े कर दिये हैं। प्रायः अनुभूति में सामान्य स्वरूप (generalization) ढूँढ़ने की मनुष्य की कमजोरी ने धर्म की बड़ी हानि की है—भ्रम जाल खड़ा कर दिया है—जोक मान्यता। एकरूपता ढूँढ़ने का, स्वयं पर विश्वास न होने का मानव का स्वभाव इसका कारण है। इसी कारण धर्म में, धार्मिक क्रियाओं में सामान्यीकरण की स्थिति आ गई या लाई गई और धर्म का विकृत स्वरूप विकसित हो गया, जो अज्ञास्त्रीय है और इसीलिए नई पीढ़ी, जिस पर विज्ञान का प्रभाव अपरिहार्य स्वरूप में है धर्म के प्रति, धर्म-अनुभवों और धर्मगुरुओं के प्रति उदासीन है। नये अनुभव—स्वयं के अनुभव की मनःस्थिति-परिस्थिति इस सामान्यीकरण की मनोवृत्ति के कारण नष्ट हो गई है।

मानव जीवन का स्वरूप सामाजिक है। समाज में प्रगति-उन्नति, विकास-उपलब्धि आदि स्तर मानक (norms) माने जाते हैं। जीवन के हर स्तर पर तुलनात्मक वातावरण है। इस तुलनात्मक भाग-दौड़ में ही जीवन की यथार्थता मान ली गई है—समाज के विकास के लिए यह मनःस्थिति अति आवश्यक है। राष्ट्रों के लिए भी सम्भवतः यही मनःस्थिति नित नये संशोधन और मानवी भौतिक जीवन के विकास का कारण है। प्रगति की यह संकल्पना दुर्दैव से धर्म और धार्मिक जीवन—धार्मिक साधना-क्रियाओं पर भी छा गई है। धर्म एक निजी अनुभव है, तुलना के लिए उसमें बहुत कम स्थान है। जो कुछ समानता दिखती है वह बाहरी रूप में ही है! 'धार्मिक' व्यक्ति भी इस तथाकथित समानता में रस नहीं लेता परन्तु सभाजधर्म स्थापना के नाम पर धर्म का अनुभव न करने वालों परन्तु अनेक परिस्थितियों और कारणों से धर्म पर छाये हुए लोगों ने समुदाय बनाकर धर्म-अनुभवों का आडम्बरपूर्ण शास्त्र खड़ा कर दिया है। इस प्रकार के 'जीवन' आदाम से 'धर्म' को लाभ कम, हानि अधिक हुई है। धर्म में व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज ने छीन ली है या उसने स्वयं लोभवश समन्वय (Adjustment) के झंडे के नीचे खो दी है। प्राचीन शास्त्रों में संकल्पनायें संकेतात्मक स्वरूप में हैं और उनमें व्यक्ति/साधक की स्वतन्त्रता की पूरी व्यवस्था है। उदाहरणार्थ—'मिताहार शौच स्वाध्याय' इत्यादि तत्त्व प्रत्येक साधक के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ/अवस्था प्रस्थापित करते हैं 'आहार' का मापदण्ड समाज नहीं हो सकता, साधक स्वयं होता है!

जप साधना में भी यही अवस्था है। अपनी इच्छा आवश्यकता अनुसार जप साधना अभिप्रेत है, इष्टदेव चुनने की भी स्वतन्त्रता है, समय, संख्या, स्थान आदि बाहरी आडम्बर हैं—भावना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। साधक की अभिरुचि, शरीर की मर्यादा आदि का पूरा ध्यान रखा गया है। मार्गदर्शक तत्व



बड़े ही स्थूल रूप में सहायता करते हैं। साधक को स्वयं उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ता है। मंत्र, विधि, गुरु-स्थान-मात्रा-संख्या-समय-आवश्यक रूप से मदद करते ही हैं, ऐसा नहीं; संकल्पना, इच्छा-शक्ति, स्पष्ट ध्येय महत्त्वपूर्ण हैं। बाहरी अवस्था कुछ अंशों में ही सहायक है, निरूपयोगी नहीं परन्तु अपरिहार्य भी नहीं। दुर्भाग्य से आधुनिक साधक माला-स्थान-समय-गुरु-मंत्र आदि तक आकर ही रुक गया है और 'गुरु' के तथाकथित अनुभवों का आधार ले बवन्दर/आडम्बर खड़ा करने का प्रयास कुछ समय तक करता है। यह अधिक समय तक नहीं चलता, सबको प्रभावित नहीं कर सकता और समयानुसार लुप्त हो जाता है।

धर्म अध्ययन और प्रयोग का विषय है। उसके लिए दीर्घकालीन आस्थापूर्वक साधना की आवश्यकता है (यह विधान भी सापेक्ष है) धर्म में छोटे-छोटे मार्ग (Shortcut) समझीते (Adjustment) के लिए स्थान नहीं है परन्तु समाज के नाम पर सब स्तरों पर समझीते हो चुके हैं। अब तो दूसरे के लिए जप करने वाले भी हैं और 'रामनाम' के बैंक भी हैं जहाँ खाते खोले जा सकते हैं ?

उपर्युक्त दीर्घविवेचन वस्तुतः अनुभव का विषय है—भक्ति शास्त्र में नवधा भक्ति का उल्लेख मानवी स्वतन्त्रता और आमरुचि-भर्यादाओं का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। जप साधना एक सुलभ, उपयुक्त, आडम्बरहीन मार्ग है और स्वयं पर आस्था वाले साधक को इसका अनुभव हो सकता है (इस विधान के भी अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं—भाषा की मजबूरी) साधक का जीवन के प्रति दृष्टिकोण, समाज, इष्टदेव के प्रति भावना उसके सामाजिक जीवन को भी कुछ अंशों में प्रभावित कर सकती है—भक्ति में समन्वय, शरणागति आदि संकल्पनायें निराशावाद, भाग्यवाद आदि का भी कभी-कभी प्रादुर्भाव करा देती है।

वास्तव में साधनामार्ग में साधक की जीवन के प्रति, सृष्टिकर्ता की योजना के प्रति, समाज के प्रति कृतज्ञता की भावना विकसित हो जाती है। रागद्वेष, घृणा, तुलना-अस्वीकृति, आलोचना कड़ुता और नकारात्मक भाव प्रायः नष्ट हो जाते हैं। नारद भवितसूत्र के अनुसार साधक कर्म करता है फल की ओर नहीं देखता, निर्द्वन्द्व रहता है, स्वयं मुक्त होता है और समाज को भी मुक्ति दिलाता है, मस्ती में रहता है, आत्मरत रहता है (असामाजिक नहीं), तृप्त रहता है, भागदौड़ कम हो जाती है, जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और इस मस्ती में 'अन्य' अपने आप आने लगते हैं। तुलना-खीच-तान-भेदभाव जाति, लिंग भेद का कुछ परिणाम नहीं होता। यह सच्ची मुक्ति है। जीवन की क्रियायें सामान्य ही रहती हैं। आहार, वेषभूषा, दिनचर्या आदि में कुछ विशेष फरक नहीं पड़ता न ही उनका कुछ उपयोग है—महत्व है।



## 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

की

जैन दर्शन सम्मत व्याख्या

—राजकुमारी सिधवी

[ शोध-छात्रा, संस्कृत विभाग,  
जोधपुर विश्वविद्यालय, (जोधपुर) ]

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्र के अनुसार योग शब्द के अर्थ की संगति समाधि अर्थ में प्रयुक्त युज् धातु से घञ् प्रत्यय होकर सम्भव है ।

योग शब्द के विभिन्न अर्थ—'सम्बन्ध'<sup>1</sup> करना या जुड़ना,<sup>2</sup> जीव का वीर्य<sup>3</sup> अथवा शक्ति विगेष, आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द या संकोच विस्तार, समाधि,<sup>4</sup> वर्षा काल, स्थिति आदि नाना अर्थों में से प्रस्तुत प्रसंग में समाधि अर्थ ही उपयुक्त है । योगभाष्यकार व्यास, तत्त्ववैशारदी टीकाकार वाचस्पतिमिश्र एवं योगवातिककार विज्ञानभिक्षु तथा राजमार्तण्डवृत्तिकार भोजदेव का भी यही मत है।<sup>6</sup> इसीलिए पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है।<sup>6</sup> सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार के योग की व्याख्या पतञ्जलि ने की है । प्रस्तुत सूत्रगत चित्तवृत्तिनिरोध अर्थ करने पर सम्प्रज्ञात समाधि को योग लक्षण में समाहित नहीं किया जा सकता । अतः यशोविजय जी ने प्रस्तुत सूत्र में "क्लिष्ट चित्तवृत्तिनिरोधो योगः" ऐसे परिष्कार का संकेत किया है । जिससे योग के लक्षण में सम्प्रज्ञात योग का भी समावेश हो सके । सम्प्रज्ञात योग में अक्लिष्ट चित्तवृत्तियाँ अथवा योगसाधक चित्तवृत्तियाँ संस्काररूपेण विद्यमान रहती हैं । भाष्यकार व्यास, वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोजदेव आदि सभी ने योग के अन्तर्गत सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों का अन्तर्भाव किया है ।

भाष्यकार व्यास के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि में सर्व चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है तथापि सम्प्रज्ञात समाधि में विनेकरूपातिरूप,सात्त्विक वृत्ति विद्यमान रहती है अतः भाष्यकार ने 'सर्व' शब्द का ग्रहण सूत्र में न होने से सम्प्रज्ञात भी योग है ऐसा निर्देश किया है।<sup>7</sup> एकाग्र एवं निरुद्ध भूमिगत वृत्ति

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' की जैनदर्शनसम्मत व्याख्या : राजकुमारी सिधवी । ३६३



निरोध ही योग है। चित्त की प्रत्येक भूमिगत वृत्तिनिरोध नहीं। निरुद्ध भूमिगत वृत्तिनिरोध वृत्तियों का पूर्ण निरोध होने से एवं असम्प्रज्ञात समाधि का साक्षात् साधन होने से योग ही है। तथापि एकाग्र भूमिगत वृत्तिनिरोध की कारणता को स्पष्ट करते हुए व्यास लिखते हैं—यह चित्त में सद्भूत पदार्थ (अर्थात् ध्येय) को प्रद्योतित करने से, वल्लेशों को क्षीण करने से, कर्मों के बन्धन अर्थात् कर्माशय को शिथिल करने से तथा असम्प्रज्ञात समाधि में भी सहायक बनने से सम्प्रज्ञात योग कहा जा सकता है।<sup>18</sup>

वाचस्पतिमिश्र योग के विरोधी तत्त्वों—क्लेश, कर्म एवं विपाकाशय को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्तियों के निरोध को योग मानते हैं।<sup>19</sup> ऐसा मानने से सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दोनों समाधि योग शब्द में परिगणित होते हैं।

भोजदेव ने अपनी वृत्ति राजमार्तण्ड में चित्त की एकाग्र अवस्था में बहिर्वृत्तिनिरोध होने से योग माना है तथा निरुद्धभूमि में सर्ववृत्तियों और संस्कारों का लय होने से योग की सम्भावना व्यक्त की है।<sup>20</sup> दोनों ही भूमियों में चित्त का एकाग्रता रूप परिणाम रहता है।

विज्ञानभिद्गु योग लक्षण के इस सूत्र के अग्रिम सूत्र को सम्मिलित कर अर्थ करते हैं। उनके अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध जो कि द्रष्टा को वास्तविक स्वरूप में अवस्थित कराने का हेतु हो वही योग कहा जा सकता है अन्य नहीं<sup>21</sup>। इस प्रकार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों का अन्तर्भाव सूत्रगत योग शब्द में हो जाता है।

यशोविजय के अनुसार 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्र में सर्व शब्द का अध्याहार करने अथवा न करने दोनों पक्षों में सूत्रकार पतञ्जलि के सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता और लक्षण अपूर्ण रहता है क्योंकि सर्व पद का अध्याहार न करने पर लक्षण सम्प्रज्ञात योग में तो व्याप्त हो जायेगा किन्तु इससे कतिपय चित्तवृत्तियों के निरोध की विक्षिप्त अवस्था में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होने का दोष आ पड़ेगा जो सूत्रकार को कदापि इष्ट नहीं है। सर्व शब्द ग्रहण न करने भी अर्थतः प्राप्ति होने से उक्त अतिव्याप्ति निराकरणार्थ यदि सर्व पद का अध्याहार न किया जाय तो सम्प्रज्ञात में लक्षण की अव्याप्ति होगी क्योंकि सम्प्रज्ञात में सर्व चित्तवृत्ति निरोध नहीं होता। इस प्रकार स्पष्ट है कि सर्व पद को ग्रहण न करने विषयक व्यासभाष्य तथा तत्व वैशारदी में निरूपित समाधान से यशोविजय सन्तुष्ट नहीं है और इसीलिए कतिपय योग सूत्रों के जैन वृत्तिकार यशोविजय ने "विलुप्त चित्तवृत्तिनिरोधो योगः" कहकर लक्षण का परिष्कार किया है। इस परिष्कार से भी सम्प्रज्ञात योग का ग्रहण सम्भव है। जैनदर्शन सम्मत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए यशोविजय का कहना है—

“नमिनिगुप्ति साधारणं धर्म व्यापारत्वमेवयोगःत्वम्”

अर्थात् पञ्च समिति ईर्या, भाषा, एषणा, भण्डोपकरण, आदान-निक्षेपण और त्रिगुप्ति (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति) से संबलित धर्मक्रिया योग है। धर्मव्यापारत्व कहने से सम्प्रज्ञात योग का भी समावेश सम्भव है। ज्ञाता, जान और ज्ञेय यह त्रिपुटी व्यापार में शक्य है। हरिभद्रसूरि के योग विशिक्ता से उद्धृत लक्षण में—

“मोक्षेण जोयगाओ जोगो सध्वो वि धम्मवावारी ।

परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइयओ विसेसेण ।”



समस्त परिशुद्ध धर्म व्यापार जो मोक्ष में साधक हो उसे योग कहा है। जिस योग का फल कंवह्य अथवा मोक्ष हो वही असम्प्रज्ञात योग या निर्विकल्प समाधि है। वह सर्व व्यापार-निरोध की अवस्था है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय चारित्र के अन्तर्गत योग का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है। नियमसार के परम भक्तव्यधिकार में व्यवहार एवं निश्चय नय दोनों की अपेक्षा से भक्ति तथा योग का वर्णन किया है। श्रमण के लिए योग का स्वरूप बताते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने योग भक्ति के अन्तर्गत आत्मा द्वारा रागादि के परित्याग तथा समस्त विकल्पों के अभाव को उपादेय बताया है। एक पारिभाषिक गाथा द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य योग को निम्न प्रकार से परिभाषित करते हैं—“विपरीत अभिप्राय का त्याग कर जो जिनेन्द्र द्वारा कथित तत्त्वों में स्वयं को लगाता है वह निजभाव ही योग है।<sup>12</sup> राजवातिक, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों में भी समाधि, सम्यक्, प्रणिधान, ध्यान, निरवद्य क्रिया विशेष का अनुष्ठान, साम्य चित्त निरोध तथा योग को एकार्थवाची कहा है।

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” से सम्बन्धित उक्त जैन मन्तव्य योग के स्वरूप को और स्पष्ट कर देता है।

मेरे मत में योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इस सूत्र से ही सर्वविध चित्तवृत्तिनिरोधः ऐसा अर्थ फलित होता है जो असम्प्रज्ञात योग का निर्देश करता है। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा जिस योग में होती हो वही योग अपेक्षित है। सम्प्रज्ञात योग तो यम-नियमादि की भाँति एक अङ्ग है, उसका सूत्र में उल्लेख आवश्यक नहीं है अतएव द्वितीय सूत्र की सार्थकता भी स्पष्ट होती है—

“तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्”।

यशोविजय द्वारा दिये गये लक्षणों में एक निषेधपरक है—“क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधो योगः” तथा दूसरा लक्षण विधिपरक है—“समिति गुप्ति साधारण धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्” जिसकी पुष्टि में हरिभद्रसूरि द्वारा दिये गये योग के लक्षण को प्रस्तुत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोविजय ने योगसूत्र पर लिखी गई टीकाओं को हृदयंगम कर अपनी जैनसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है।

वाचस्पतिमिश्र की तत्व वैशारदी<sup>13</sup> का आकलन यशोविजय ने “क्लिष्ट चित्तवृत्तिनिरोधो योगः” यह कहकर किया है तथा विज्ञानभिक्षु के योगवातिक<sup>14</sup> को ध्यान में रखते हुए—“समिति गुप्ति साधारण धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्” कहा है और यह धर्म व्यापार द्रष्टा के स्वरूप के साक्षात्कार का हेतु होना चाहिए तभी वह योग कहलायेगा इस बात पर बल देने के लिए ‘मोक्ष से संयोजित करने वाला विशुद्ध धर्म-व्यापार योग है’ इस हरिभद्र के मन्तव्य को प्रस्तुत किया है।

जैन श्रावक और श्राविका के जीवन में योग की प्राप्ति क्लिष्ट चित्तवृत्तियों के निरोधपूर्वक ही हो सकती है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पंच क्लेश अविद्यामूलक होने से<sup>15</sup> गृहस्थ श्रावक को सर्वप्रथम अविद्यारूप मोहनीय कर्म पर विजय पाना आवश्यक है। अनित्य, अशुचि, दुःखरूप और अनात्मस्वरूप शरीर, इन्द्रिय, पुत्र, मित्र, धन, वैभव आदि पदार्थों में ये नित्य हैं, पवित्र हैं, सुखरूप हैं और आत्मस्वरूप हैं, ऐसा अनात्मज्ञान अविद्या है। ये अविद्या आदि मोहनीय कर्म के औदयिक भाव विशेष हैं।<sup>16</sup> क्लेशों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के अवाधा काल के क्षीण न होने से कर्मों के निषेक का

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ की जैनदर्शनसम्मत व्याख्या : राजकुमारी सिंघवी | ३६५



अभाव क्लेशों का प्रसुप्तत्व है। विपरीत प्रकृति के कर्म के उदय से क्लेशों की प्रकृति का दब जाना क्लेशों का विच्छिन्नत्व है। कर्मों के उदय से क्लेशों का प्रकट हो जाना उदारत्व है।

जीव को अजीव समझना, अजीव को जीव समझना, धर्म को अधर्म समझना, अधर्म को धर्म समझना, साधु को असाधु व असाधु को साधु समझना, मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग व संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग इत्यादि दस प्रकार का मिथ्यात्व ही अविद्या है। दृश्य पदार्थों में दृक् चेतना का आरोप अस्मिता में अन्तर्भूत है।

बीद्यों के अनुसार दृश्य और दृक् का ऐक्य मानने पर दृष्टि-सृष्टिवाद का दोष उत्पन्न होगा। अतः दृश्य में दृक् के आरोप को अस्मिता क्लेश कहा है। अहंकार और ममकार के कारणरूप में राग और द्वेष क्लेशों का अन्तर्भाव किया है। जैन दर्शनानुसार राग और द्वेष कषाय के ही भेद हैं। अभिनिवेश का स्वरूप भय संज्ञात्मक है। अभिनिवेश क्लेश का तात्पर्य भय संज्ञा से है। अन्य आहार आदि संज्ञा विषयक अभिनिवेश भी विद्वानों में देखा जाता है। अतः यशोविजय ने भय संज्ञात्मक अभिनिवेश को संज्ञान्तरूप-लक्षण माना है। मोहाभिव्यक्त चैतन्य को संज्ञा कहते हैं।

सभी क्लेश मोहवीजात्मक हैं। अतः मोहक्षय से क्लेशक्षय होता है और क्लेशक्षय से कैवल्य सिद्धि होती है। इसी कारण यशोविजय ने क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा है।

यशोविजय ने सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात भेद वाले योग को हरिभद्रसूरिविरचित योगविन्दु में वर्णित योग के पाँच भेदों (अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग, वृत्तिसंक्षययोग) में पञ्चम भेद वृत्तिसंक्षय में अन्तर्भूत माना है।

‘वृत्तिसंक्षयोऽह्यात्मनः कर्मसंयोग योग्यतापगमः’।

आत्मा की स्थूल-सूक्ष्म चोष्टाएँ वृत्तियाँ हैं, उनका मूल हेतु कर्मसंयोग की योग्यता है, और वह कर्मसंयोगयोग्यता कर्म प्रकृति के आत्यन्तिक बन्धव्यवच्छेदरूपी कारण से निवृत्त होती है। शुक्लध्यान के चार भेदों<sup>17</sup> में पृथक्त्ववितर्क सविचार शुक्लध्यान तथा एकत्ववितर्कअविचार शुक्लध्यान इन दो भेदों में योगसूत्र वर्णित सम्प्रज्ञात समाधि की तुलना यशोविजय ने की है, तथा योगविन्दु को उल्लिखित किया है—

‘समाधिरेषाएवान्यं सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते ।

सम्यग्प्रज्ञात्वरूपेण, वृत्त्यर्थज्ञानस्तथा ॥’

(योगविन्दु ४/६)

वृत्त्यर्थों के सम्यग्ज्ञान से ही यह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

असम्प्रज्ञात समाधि की जैन दृष्टि से व्याख्या करते हुए यशोविजय ने केवलज्ञान प्राप्ति को असम्प्रज्ञात समाधि कहा है। गुणस्थान के क्रम में क्षपक श्रेणि गुणस्थान की समाप्ति होने पर केवलज्ञान प्राप्त होता है।

ग्राह्य विषय और ग्रहण अस्मिता आदि के आकार से आकारित होने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञान के इस क्रम से भाव मनोवृत्तियों का अनुभव नहीं होता। भावमन से मतिज्ञान का अभाव हो जाता है, किन्तु द्रव्य मन से संज्ञा अथवा मतिज्ञान का सद्भाव रहता है, यह अवस्था योग

३६६ | सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग

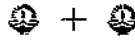


दर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि है और जैन दर्शन में केवली की स्थिति है। इसीलिए (भावमनसासंज्ञाऽभावाद्ब्रह्ममनसा च तत् सद्भावात्)<sup>18</sup> केवली नोसंज्ञी कहलाता है। इसका नाम असम्प्रज्ञात है। क्योंकि इस अवस्था में भाव मनोवृत्तियों का अवग्रह आदि क्रम से सम्यक् परिज्ञान का अभाव हो जाता है। केवली की असम्प्रज्ञात दशा ही योग दर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि कही गई है। यशोविजय ने अपने इस कथन की पुष्टि हरिभद्रसूरिविरचित योगबिन्दु की निम्न कारिका से की है।

“असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गोचरे परः ।

निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपताऽनुबेद्यतः ॥”<sup>19</sup>

पतञ्जलि के अनुसार चित्त की अवस्थाएँ पाँच प्रकार की हैं— क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। विज्ञानभिक्षु के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध जो कि द्रष्टा को वास्तविक स्वरूप में अवस्थित कराने का हेतु हो वही योग कहा जा सकता है, अन्य नहीं। अतः एकाग्र और निरुद्ध भूमि में होने वाले निरोध को ही योग कहा जा सकता है। एकाग्र भूमिगत वृत्ति निरोध चित्त में सद्भूत पदार्थ परमार्थ को प्रकाशित करता है, क्लेशक्षय करता है, कर्माशय को शिथिल करता है और असम्प्रज्ञात समाधि में सहायक बनता है अतः एकाग्र भूमिगत वृत्तिनिरोध सम्प्रज्ञात योग है तथा निरुद्ध भूमिगत वृत्तिनिरोध वृत्तियों का पूर्ण निरोध होने से असम्प्रज्ञात समाधि का साक्षात् साधन है, अतः योग है। जेष चित्त की अवस्थाओं में होने वाला चित्तवृत्तिनिरोध क्लेश कर्माशय का जनक होने से चित्तवृत्तियों के क्षय का हेतु नहीं होने से तथा स्वरूपावस्थिति का हेतु नहीं होने से उन अवस्थाओं में योग के लक्षण की अति व्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिये।



### सन्दर्भ ग्रन्थ एवं सन्दर्भ स्थल

१. दर्शन और चिन्तन, प्रथम खण्ड, पृ० २३०।

२. युज्पी योगे। हेमचन्द्र धातुमाला, गण ७।

३. वीर्यान्तरायस्योपशमजमितो जीव परिणाम विशेषः।

जैन परिभाषा—आत्माराम जी महाराज—जैन योग : सिद्धान्त और साधना, पंजाब, १९६३, पृ० ३२।

४. युज् समाधीः।

५. (अ) योगः समधिः—योगसूत्र, प्रथमपाद, १ सूत्र, व्या० भा पृ० १।

(ब) युज् समाधी, इत्यस्माद्व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु ‘युजिर योगे’ इत्यस्मात्संयोगार्थे इत्यर्थः।

योगसूत्र, प्रथमपाद, १ सूत्र त० वं०, पृ० ३।

(स) युज् समाधावित्यनुशासनतः प्रसिद्धोयोगः समाधिः। —यो० सूत्र, प्रथमपाद, प्रथमसूत्र, यो० वा० पृ० ७।

(द) “योगो युक्तिः समाधानम्” “युज समाधी”। —यो० सू०, प्रथमपाद, भो० वृ० पृ०, ३।

६. ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’।

—यो० सू० १/२।

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ की जैनदर्शनसम्मत व्याख्या : राजकुमारी सिंघवी । ३६७



७. सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते । —व्या० भा० १/२, पृ० ६ ।
८. योग सूत्र १/१ सूत्र व्या० भा०, पृ० १ ।
९. क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थाचित्तवृत्तिनिरोधः । —त० वै०, पृ० १० ।
१०. अतयोद्धोरोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योर्येष्वित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति । —यो० सू०/१/११ सूत्र, भा० पृ०, ११ ।
११. द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुष्वित्तवृत्तिनिरोधः । —यो० वा०, पृ० १३ ।
१२. “जो जुंजदि अचरणं णियभावे सो हवे जोगो” । —नियमसार, गाथा १३६, पृ० ११८ ।
१३. “क्लेश कर्मविपाकाशयपरिपन्थाचित्तवृत्तिनिरोधः” । —त० वै०, पृ० १० ।
१४. “द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुष्वित्तवृत्तिनिरोधः । —यो० वा०, पृ० १३ ।
१५. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषामप्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारानाम् । —यो० सू० II/४ ।
१६. अत्राविद्यादयो मोहनीयकर्मण औदयिक भाव विशेषाः । —यशोविजय वृत्ति ।
१७. पृथक्त्वंकृतवितर्कं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवृत्तिनि । —त० सू०, ६—४१ ।
- ध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—
- (१) पृथक्त्ववितर्कसविचार,
  - (२) एकत्ववितर्कसविचार,
  - (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति,
  - (४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति ।
१८. यशोविजयकृत योगसूत्रवृत्ति सूत्र १/१७, १८, पृ० ७ ।
१९. योगबिन्दु, कारिका ४२० ।



## धर्म-ध्यान : एक अनुचिन्तन

—कन्हैयालाल लोढ़ा

तात्त्विक दृष्टि से साधना के तीन अंग हैं—(१) पुण्य, (२) संवर और, (३) निर्जरा। पाप प्रवृत्तियों को त्यागकर सद-प्रवृत्तियों को अपनाना पुण्य है। पुण्य से आत्मा पवित्र होती है, इससे संवर और निर्जरा की भूमिका तैयार होती है, पुण्य आत्मोत्थान में सहायक है बाधक नहीं। मन, वचन, काया व इन्द्रियों का संवरण (संकोच) करना संवर है। संवर निवृत्ति व निषेधपरक साधना है। पूर्वसंचित कर्मों के तादात्म्य को तोड़ना निर्जरा है। पुण्य से उदयमान (विद्यमान) कर्मों का उदात्तीकरण होता है जो पाप या राग को गलाता है, आत्मा को पवित्र करता है। संवर से नवीन कर्मों का बन्ध रुकता है और निर्जरा से पूर्वकर्मों का बन्ध या सम्बन्ध टूटता है अर्थात् निर्जरा या तप से चेतन का जड़ से तादात्म्य टूटता है। तादात्म्य तोड़ने के लिए तप का विधान है।

तप दो प्रकार का है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तप बहिर्मुखी वृत्तियों का संग तोड़ते हैं। प्रायश्चित्त, व्रत आदि आभ्यन्तर तप राग-द्वेष आदि आन्तरिक वृत्तियों का संग तोड़ते हैं। ध्यान आभ्यन्तर तप है। आभ्यन्तर तप अन्तर्मुखी अवस्था में होता है। अन्तर्मुखी होने का अर्थ है अपनी देह के भीतर के जगत में स्थित हो जाना/विचरण करना। अतः ध्यान आन्तरिक अनुभूति है। ध्यान साधक अपने अन्तर्जगत में विचरण करता है और जहाँ-जहाँ तादात्म्य घनीभूत ग्रन्थियाँ हैं, जड़ता है, वहाँ-वहाँ चित्त की एकाग्रता की तीक्ष्णता में ग्रन्थियों का वेधन कर व धुनकर क्षय करता है। चित्त की एकाग्रता अनित्य बोधमय समता से सधती है। समताभाव का ही दूसरा नाम सामायिक है। सामायिक ही सब साधनाओं का हार्द है। सामायिक साधना से जितना-जितना पर से अपना तादात्म्य टूटता जाता है उतना-उतना साधक स्व की ओर उन्मुख होता जाता है। पूर्ण तादात्म्य टूटने पर साधक देहातीत व लोकातीत हो स्व में स्थित हो जाता है जिससे उसे स्व के अविनाशी, निराकुल स्वरूप का अनुभव होता है। परन्तु यह रहस्य वे ही ध्यान-साधक जान पाते हैं जिन्होंने ध्यान का प्रयोगात्मक अभ्यास किया है व ध्यान की गहराई में उतरकर स्वानुभव किया है। प्रस्तुत लेख में इसी दृष्टि से धर्म-ध्यान के समय होने वाले अन्तरानुभव विषयक आगमिक कथन का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

धर्म-ध्यान : एक अनुचिन्तन : कन्हैयालाल लोढ़ा । ३६६



स्वभाव में स्थित होना धर्म है। परभाव या विभाव को प्राप्त होना अधर्म है, पाप है। स्वभाव वह है जो सभी को अभीष्ट हो। सभी सचेतन प्राणियों को अमरत्व-अविनाशीपन पसंद है, इष्ट है; किसी भी प्राणी को मृत्यु या विनाश पसंद नहीं है, इष्ट नहीं है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि चेतन का स्वभाव है अविनाशीपन; और विनाशीपन परभाव या विभाव है। अविनाशी के ही पर्यायवाची हैं अमरत्व, ध्रुवता, नित्यता और विनाशीपन के पर्यायवाची हैं मृत्यु, व्यय, अनित्यता।

व्यय उसी का होता है जिसकी उत्पत्ति होती है। अतः व्यय का सम्बन्ध उत्पाद से जुड़ा हुआ है। इससे यह फलित हुआ कि उत्पाद-व्यय परभाव हैं, विभाव हैं और उत्पाद-व्यय का ज्ञाता ध्रुव स्वभाव है। स्वभावरूप धर्म को जानने के लिए स्वभाव और विभाव दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। स्वभाव है ध्रुवत्व और विभाव है उत्पाद-व्यय। अतः उत्पाद-व्यय, ध्रुवत्व के ज्ञान में ही धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान समाहित है। उत्पाद-व्ययरूप परभाव या विभाव का त्याग कर ध्रुवत्व को प्राप्त होना ही स्वभाव या धर्म है। स्वभाव को प्राप्त होना साध्यरूप धर्म है। साध्यरूप धर्म की प्राप्ति के लिए उत्पाद-व्यय युक्त वस्तुओं व सुख का त्याग, 'साधना' रूप धर्म है। यह साधनारूप धर्म कारण में कार्य का उपचार कर कहा है। धर्म को उपलब्ध करने की साधना ही धर्म-क्रिया या धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं—

- |                  |                  |
|------------------|------------------|
| (१) आज्ञाविचय,   | (२) अपायविचय,    |
| (३) विपाकविचय और | (४) संस्थानविचय। |

**आज्ञाविचय**—“सच्चाए आणाए” (आवारांग सूत्र) सत्य ही आज्ञा है। सत्य वह है जिसकी सत्ता सदा बनी रहे, जो शाश्वत है, ध्रुव है। अतः शाश्वत व ध्रुवत्व में विचरण करना आज्ञाविचय है। विचय का अर्थ है अन्तर्लोक में अनुभूतिपूर्वक विचरण व विचार करना।

अन्तर्मुखी होकर अन्तर्लोक में आत्म-निरीक्षण करने पर स्थूल औदारिक शरीर में सर्वत्र उदयमान संवेदनाओं का अनुभव होता है साथ ही यह भी अनुभव होता है कि इन संवेदनाओं में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, उत्पाद-व्यय हो रहा है, वह मेरा रूप नहीं है, मैं नहीं हूँ; मैं इनसे भिन्न, इनका द्रष्टा, अव्यय, अनुत्पन्न, ध्रुव, शाश्वत हूँ। मुझे इन संवेदनाओं के प्रति आत्मभाव नहीं रखना है।

वीतराग की आज्ञा वीतरागरूप है। वीतरागरूप है राग-द्वेष रहित होना। अतः संवेदनाओं के प्रति राग-द्वेष नहीं करना, समभाव (सामायिक) में रहना वीतराग मार्ग का अनुसरण करना है। वीतराग-मार्ग का अनुसरण करना आज्ञाविचय है।

संवेदनाओं के प्रति अनित्यता का बोध जगाये रहना अनित्यानुप्रेक्षा है। अनुकूल सुखद संवेदनाओं का आश्रय न लेना तथा अशरणाता का बोध जगाये रखना अशरणानुप्रेक्षा है। प्रतिकूल दुखद संवेदनाओं के प्रति तटस्थता का बोध जगाये रहना संसारानुप्रेक्षा है तथा मेरी अविनाशी, ध्रुव तत्व से एकता है हय बोध जगाये रहना एकत्वानुप्रेक्षा है। ये चारों अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) आज्ञाविचय को पुष्ट करती हैं। इनका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा तथा ये चारों अनुप्रेक्षाएँ आगे वर्णित अपायविचय, विपाक-विचय एवं संस्थानविचय को भी पुष्ट करती हैं।

३७० | सातवां खण्ड : भारतीय संस्कृति में योग



**अपायविचय**—अपाय दोष या दूषण का अनुभूति के साथ विचार करना अपायविचय है। अंतर्लोक में आत्म-निरीक्षण करते हुए चित्त में उत्पन्न राग, द्वेष, विषय, कषाय, असंयम आदि दोषों को देखना अपाय है और उन अपायों को अनित्य जानकर उनके प्रति तटस्थ भाव बनाये रखना, उनके प्रवाह में न वहना, उनका समर्थन व पोषण न करना, उनके संसरण को देखते हुए उनसे अपने को भिन्न अनुभव करना अपायविचय है।

**विपाकविचय**—अपाय (दोषों) से उत्पन्न विपाक (परिणाम) का विचार करना विपाकविचय है। अंतर्लोक में आत्म-निरीक्षण करते हुए संवेदनाओं में स्थूलता, जड़ता, सूच्छा, अनुकूलता (सुखद), प्रतिकूलता (दुखद), पुलकायमान, आदि स्थितियों का अनुभव करना विपाक है।

विपाकरूप इन संवेदनाओं को अनित्य जानकर उनके प्रति समभाव बनाये रखना विपाक-विचय है।

**संस्थानविचय**—पुरुषाकार लोक का आकार संस्थान कहलाता है। चित्त को शान्त कर अंतर्लोक में अन्तर्मुखी होकर देखने पर सम्पूर्ण अन्तर्लोक में चिन्मयता (चैतन्य) लोकातीत अवस्था का अनुभव होता है तथा दृश्यमान शरीर-संसाररूप सम्पूर्ण लोक से भिन्न निज स्वरूप का बोध होता है। लोक के स्वरूप का बोध करते हुए उसके प्रति समभाव बनाये रखना संस्थानविचय है।

धर्मध्यान के लक्षण

धर्म-ध्यान के चार लक्षण हैं—

- |                 |                  |
|-----------------|------------------|
| (१) आज्ञा रुचि, | (२) निसर्ग रुचि, |
| (३) सूत्र रुचि, | (४) अवगाढ़ रुचि। |

(१) **आज्ञा रुचि**—रुचि का अर्थ है रुचिकर, रोचक लगना, दिलचस्पी, मानसिक झुकाव। आणाए सच्चाए (अण्चारांग) सूत्र के अनुसार सत्य हो आज्ञा है। सत्य वह है जो शाश्वत है, कभी नहीं बदलता है, अविनाशी है। अविनाशी है निज स्वरूप। अतः अविनाशी निज स्वरूप के प्रति रुचि रखना, उसका अच्छा लगना, आज्ञा रुचि है। दूसरे शब्दों में, अविनाशी व मुक्तिरूपी ध्येय के प्रति रुचि होना आज्ञा रुचि है अथवा वीतराग मार्ग में रुचि होना आज्ञा रुचि है।

(२) **निसर्ग रुचि**—सत्य व आज्ञा वही है जो कृत्रिम नहीं है प्रत्युत नैसर्गिक है। निसर्ग का अर्थ है जो किसी के द्वारा सृजित नहीं है, प्राकृतिक है। अतः प्रकृति से जो भी हमारे साथ घटित हो रहा है उसमें अपना हित समझना निसर्ग रुचि है। कारण कि जो भी घटित हो रहा है वह कर्मोदय का परिणाम है। इस प्रकार प्रकृति कर्मोदय कर कर्मों की निर्जरा करने का कार्य कर रही है, कर्म की निर्जरा हमारा हित ही है। यदि प्राकृतिक या नैसर्गिक रूप से हमारे कर्मों की निर्जरा स्वतः सतत न होती रहती तो प्राणी जड़ कर्मों के भार व संग्रह से जड़वत् हो गया होता।

प्रकृति के विपरीत कार्य करना विकृति या विकार पैदा करना है। विकृति या विकार दोष है। दोष का परिणाम दुख है। अतः दोष व दुख से बचने के निसर्ग का सहारा लेना अनिवार्य है। इस दृष्टि से निसर्ग का अत्यन्त महत्व है। निसर्ग का विरोध कर कोई भी सफलता व सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। ध्यान-साधक इस रहस्य को समझता है। अतः उसकी निसर्ग के प्रति रुचि होना स्वाभाविक है। निसर्ग से

धर्म-ध्यान : एक अनुचिन्तन : कन्हैयालाल लोढ़ा | ३७१



जो भी घटित हो रहा है उसमें सदैव प्रसन्न रहना उसके प्रति राग-द्वेष रूप प्रतिक्रिया नहीं करना, समभाव से रहना निसर्ग रुचि है ।

(३) सूत्र रुचि—निसर्ग के नियम सूत्र हैं । निसर्ग के नियम कारण-कार्य का अनुगमन करने वाले होने से सत्य है, स्वतः सिद्ध हैं, तर्कातीत हैं, जैसे (जो क्रोध करेगा उसका हृदय जलेगा, जो कामना करेगा उसके चित्त में अशांति होगी ।) जे गुणे ते मुलट्ठाणे—अर्थात् भोग ही संसार का मूलस्थान है, कम्मबीज—राग द्वेष कर्मबीज हैं । 'अप्पा कत्ता विकत्ता मुहाण य दुहाण य—आत्मा स्वयं ही सुख-दुख का कर्ता अकर्ता है । ये नैसर्गिक नियम हैं—सूत्र हैं । इन सूत्रों के प्रति रुचि होना सूत्र रुचि है । वीतराग वाणीरूप आगम में भी इन्हीं नैसर्गिक सूत्रों का संकलन है अतः वीतरागवाणी के प्रति रुचि होना सूत्र रुचि है ।

(४) अवगाढ़ रुचि—अवगाहन करना-गहरा उतरना अवगाढ़ कहा जाता है । आज्ञा, निसर्ग एवं सूत्र की गहराई में पैठने की रुचि अवगाढ़ रुचि है । साधक द्वारा अपने ही अन्तर्लोक में प्रवेश कर आत्म-निरीक्षण करते हुए आज्ञा (सत्य), निसर्ग एवं सूत्र का साक्षात्कार करने के लिए रुचि रखना अवगाढ़ रुचि है । सत्य, निसर्ग एवं सूत्र की यथार्थता का अनुभव अपने अन्तर्जगत में गहरे पैठने से ही होता है, अतः अवगाढ़ रुचि अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इन चार लक्षणों से धर्मध्यान पहचाना जाता है ।

धर्म-ध्यान के आलम्बन अर्थात् सहयोगी अंग चार हैं—

- |                  |               |
|------------------|---------------|
| (१) वांचना,      | (२) पृच्छना,  |
| (३) परिवर्तना और | (४) धर्मकथा । |

वांचना—नैसर्गिक सत्य पर आधारित जो सूत्र (नियम) हैं उनका ज्ञान होना वांचना है ।

पृच्छना—पृच्छना जिज्ञासा को कहते हैं, उन सूत्रों (नियमों) के मर्म-रहस्य को जानने की जिज्ञासा पृच्छना है ।

परिवर्तना—उन सूत्रों को हृदयगम करने के लिए बार-बार चिन्तन-मनन करना परिवर्तना है ।

धर्मकथा—उन सूत्रों में निहित सत्य कथन का साक्षात्कार करने का पुरुषार्थ करना धर्म-कथा है ।

स्मरण रहे कि जिस वस्तु का जो आलम्बन होता है वह उससे भिन्न होता है । आलम्बन वस्तु नहीं होता है । इसी प्रकार उपर्युक्त चारों आलम्बन धर्म-ध्यान की प्राप्ति में सहायक हैं, परन्तु धर्म-ध्यान नहीं है । कारण कि इनमें चिन्तन-चर्चा चलती है और जब तक चिन्तन व चर्चा चलती है तब तक चित्त एकाग्र नहीं होता है, अन्तर्मुखी नहीं होता है, आत्म-साक्षात्कार नहीं होता । धर्म-ध्यान है—आत्म-साक्षात्कार करना । अतः ये आलम्बन धर्म-ध्यान के साधन हैं, धर्म-ध्यान नहीं हैं ।

वस्तुतः ये चारों आलम्बन स्वाध्याय तप के अंग हैं जो ध्यान की पूर्ववर्ती अवस्था है । स्वाध्याय तप के बिना ध्यान में प्रवेश सम्भव नहीं है । स्वाध्याय तप का वांचना भेद अनुप्रेक्षा है । अनुप्रेक्षा के दो रूप हैं चिन्तन और साक्षात्कार (अनुभव, बोध) । अनुप्रेक्षा का चिन्तन रूप का समावेश स्वाध्याय तप में हो जाता है और उसका बोध, साक्षात्कार (अनुभव) रूप धर्म-ध्यान में प्रकट होता है । अतः अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय और ध्यान दोनों में स्थान दिया गया है । ध्यान में अनुप्रेक्षा अनुभव रूप में है और स्वाध्याय में चिन्तन रूप में ।

(स्वरूप का अध्ययन करना स्वाध्याय है—अध्ययन में वाचना, जिज्ञासा, पृच्छना, परिवर्तना, चिन्तन-मनन-कथन समाहित है।)

धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा,

(२) अनित्यानुप्रेक्षा,

(३) अशरणानुप्रेक्षा,

(४) संसारानुप्रेक्षा।

**एकत्वानुप्रेक्षा**—एकत्व का अर्थ एकता व अकेलापन है। साधक ध्यान की गहराई में अपने को संसार और परिवार से ही नहीं अपितु अपने को अपने तन से भी भिन्न 'अकेला' पाता है। वह संयोग में वियोग का अनुभव कर अकेलेपन का साक्षात्कार करता है साथ ही ध्यान-साधक ध्यान में आत्म-साक्षात्कार करता है तो उसे अविनाशीपन, ध्रुवत्व का बोध होता है। वह अनुभव करता है कि उसकी अविनाशी (सिद्ध) से एकता है। अविनाशी और वह एक ही जाति के हैं, केवल दोनों में गुणों की अभिव्यक्ति की भिन्नता है। कहा भी है 'सिद्धों जैसा जीव है जीव सोई सिद्ध होय,' यह भिन्नता मिटने पर वह सदैव के लिए अविनाशी अवस्था को प्राप्त हो सकता है। साथ ही वह आत्म-निरीक्षण से यह भी देखता है कि अन्तर्लोक में शरीर, मन और संवेदनाओं में निरन्तर परिवर्तन (पर्याय-प्रवाह) चल रहा है अतः ये सब विनाशी जाति के हैं। इन सबमें जातीय एकता है। अविनाशी जाति का होने से मेरी इन विनाशी जाति वाले पदार्थों से भी भिन्नता है, ये पर हैं। इस प्रकार पर से अपनी भिन्नता का अनुभव कर अपने स्वरूप में स्थित हो अविनाशी से एकता (एकरूपता) का अनुभवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है, यही आचारांग सूत्र में कथित ध्रुवचारी बनने की साधना है।

**अनित्यानुप्रेक्षा**—साधक ध्यान में अन्तर्लोक में प्रवेश कर आत्म-निरीक्षण करता है तो अनुभव करता है कि जैसे बाह्य लोक में सब पदार्थ बदल रहे हैं उसी प्रकार भीतर के लोक में भी शरीर का अणु-अणु और संवेदना सबके सब प्रति पल बड़ी तीव्र गति से बदल रहे हैं। सर्वत्र उत्पाद-व्यय का प्रवाह सतत चल रहा है। देखते ही देखते संवेदना उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। संसार में दृश्यमान व प्रतीयमान कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो नित्य हो, सब अनित्य हैं, विनाशी हैं। सुख, दुःख, परिस्थिति, अवस्था, तन, मन, धन, स्वजन, परिजन, मित्र, भूमि, भवन, सब अनित्य हैं। राजा, राणा, सम्राट, चक्रवर्ती, शहशाह, सेठ, साहूकार, विद्वान, धनवान, सत्तावान, शक्तिमान, सब अंत में मरकर मिट्टी में मिल जाते हैं। पानी के पताशा जैसा तन का तमाशा है। संसार के सब पदार्थ क्षण-क्षण क्षीण होकर नाश हो रहे हैं, क्षणिक हैं। हाथी के कान के समान, संध्या के सूर्य के समान, ओस की बूंद के समान, पीपल के पात के समान, अस्थिर हैं। अनित्य का मिलना भी न मिलने के समान है अर्थात् मिलना न मिलना दोनों एक समान हैं, अतः अनित्य पदार्थों को चाहना, उनका भोग भोगना सब व्यर्थ है। ऐसी प्रज्ञा से प्रत्यक्ष अनुभव कर समता में स्थित रहना, उनके प्रति राग-द्वेषात्मक प्रतिक्रिया न करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

**अशरणानुप्रेक्षा**—ध्यान में साधक अन्तर्जगत में शरीर व संवेदनाओं की अनित्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इस अनुभूति से वह जानता है कि अनित्य पदार्थों का शरण लेना आश्रय लेना, उनके सहारे से जीवन मानना, भूल है। कारण कि जो पदार्थ स्वयं ही अनित्य हैं उनका सहारा या शरण कैसे नित्य हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। अतः अनित्य पदार्थ का सहारा, आश्रय, शरण लेना धोखा खाना है। ध्यानमग्न साधक देखता-अनुभव करता है कि तन ही प्रति क्षण बदल रहा है अतः यह आश्रय शरण लेने योग्य नहीं है, शरणभूत नहीं है। जब तन ही शरणभूत नहीं है, आश्रय योग्य नहीं है तब धन,

धर्म-ध्यान : एक अनुचिन्तन : कन्हैयालाल लोढ़ा | ३७३



परिजन, स्त्री, मित्र आदि आश्रय लेने योग्य हो ही नहीं सकते। ऐसा अनुभूति के स्तर पर बांधकर अनित्य पदार्थों का आश्रय त्याग कर देना, अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाना अशरणानुप्रेक्षा है।

**संसारानुप्रेक्षा**—साधक जब ध्यान की गहराई में प्रवेश करता है तो अनुभव करता है कि संवेदनाएँ उसे अज्ञान्त बना रही हैं, जला रही हैं, सारा अन्तर् और बाह्य लोक प्रकंपन की आग में जल रहा है। संसार में एक क्षण भी लेश मात्र भी सुख नहीं हैं। जो बाहर से साता व सुख का वेदन हो रहा है वह भी भीतरी जगत में दुख रूप ही अनुभव हो रहा है, आकुलता, उत्तेजना पैदा कर रहा है। संवेदना चाहे वह सुखद ही हो वस्तुतः वह वेदना ही है अर्थात् दुख रूप ही है। दुख से मुक्ति पाने के लिए इस संसार से, शरीर से अतीत होने में ही कल्याण है अर्थात् लोकातीत, देहातीत, इन्द्रियातीत होने में ही अक्षय, अव्यावाध, अनन्त मुक्त की उपलब्धि सम्भव है।

इन चारों अनुप्रेक्षाओं में से एकत्वानुप्रेक्षा से ध्रुवता—अमरत्व का अनुभव, अनित्यानुप्रेक्षा से वैराग्य, अशरणानुप्रेक्षा से पराश्रय (परिग्रह) का त्याग, संसारानुप्रेक्षा से संसार से अतीत के जगत में प्रवेश होता है। इसे ही आगम की भाषा में व्युत्सर्ग कायोत्सर्ग कहा है। व्युत्सर्ग अर्थात् लोकातीत होना, कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत होना ध्यान से उत्तरवर्ती स्थिति है।

**उपसंहार**—मानव वही है जो साधक है। साधक वह है जो साधना करता है। साधना है बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का क्रियात्मक रूप व प्रक्रिया धर्म-ध्यान है। धर्म-ध्यान से ग्रन्थियों का वेधन व दमन होकर पर का तादात्म्य टूटता है। तादात्म्य टूटने से कर्म कटते हैं। कर्म का कटना ही बन्धन से छूटना है, मुक्त होना है। अतः धर्म-ध्यान साधना का आधार है, सार है। यही कारण है कि जब कोई भी व्यक्ति श्रमण के दर्शनार्थ आता है तो श्रमण उसे आज भी “धर्म-ध्यान करो” इन शब्दों से सम्बोधित करता है। जो धर्म-ध्यान की महत्ता का सूचक है।

धर्मध्यान रहित जीवन साधक का जीवन नहीं है। भोगी जीवन है। भोगी जीवन पशु-जीवन है, मानव-जीवन नहीं। अतः मानव जीवन की सार्थकता तथा सफलता इसी में है कि धर्म-ध्यान को धारण कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हों।



## स्मृति-सन्दर्भ-संकेत

[ प्रस्तुत ग्रन्थ में पठित महत्त्वपूर्ण स्थलों के आवश्यक संकेत इन पृष्ठों पर अंकित कर अपने अधीत विषय को अधिकाधिक उपयोगी बना सकते हैं । ]

---



